वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला पुष्प २३

श्री प्रभाचन्द्राचार्य प्रणीत

प्रमेयकमल मार्त्तण्ड

*

अनुवादिका :—

पू० विदुषी १०५ श्री आर्यिका जिनमतीजी

प्रकाशक:—

श्री लाला मुसद्दीलाल जैन चेरीटेबल ट्रस्ट

२/४ अन्सारी रोड, दरियागंज

देहली-११०००६

*

प्रथम संस्करण ५००

वी० नि० सं० २५०४

मूल्य : स्वाध्याय

भगवान महावीर स्वामी के २५ सौ वें निर्वाण महोत्सव के मंगल अवसर पर
पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से संस्थापित
दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत

वीरज्ञानोदय-ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला मे दि० जैन आर्ष मार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत,
कन्नड़, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त,
अध्यात्म, भूगोल, खगोल व्याकरण, इतिहास आदि विषयों पर
लघु एवं वृहद् ग्रन्थों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन
होगा। समय-समय पर धार्मिक-लोकोपयोगी
लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित
होती रहेंगी।

※ ग्रन्थमाला-सम्पादक ※

मोतीचन्द जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ

रवीन्द्रकुमार जैन
शास्त्री, बी. ए.

स्थापनाब्द
कार्तिक कृष्णा अमावस्या
वीर निर्वाण सं० २४९८
वि० सं० २०२९
ई० सन् १९७२

प्रकाशन कार्यालय
दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

मुद्रक:—पाँचूलाल जैन, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान)

परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्यप्रवर

१०८ श्री शांतिसागरजी महाराज

पंचेन्द्रियसुनिर्दान्त, पंचससारभीरुकम् ।
शांतिसागरनामानं, सूरि वदेऽघनाशकम् ॥

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
ज्येष्ठ कृष्णा ६	ज्येष्ठ शुक्ला १३	फाल्गुन शुक्ला १४	द्वितीय भाद्रपद
वि० सं० १९२९	वि० सं० १९७०	वि० सं० १९७४	वि० सं० २०१२
	उत्तूर ग्राम (कर्नाटक)	यरनाल ग्राम (कर्नाटक)	कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र

प्रकाशकीय

श्रीमत्सकल तार्किक चूडामणि माणिक्यनंदी आचार्यने परीक्षामुख ग्रंथकी सूत्ररूप रचना की थी। यह ग्रंथ यथानाम तथा गुणकी उक्तिको चरितार्थ करता है क्योंकि परीक्ष्यपदार्थोंकी परीक्षाका यह मुख्य कारण है, अथवा जिसके द्वारा हेयोपादेयरूप सम्पूर्ण पदार्थों की परीक्षा होती है उस प्रमाणका लक्षण स्वरूप फल आदि को दिखानेके लिये यह ग्रन्थ दर्पण के समान है।

इन सूत्रोंपर अनंतवीर्य आचार्यने प्रमेयरत्नमाला नामा संक्षिप्त संस्कृत टीका रची, जिसका हिन्दी अनुवाद जयपुर निवासी पंडितप्रवर जयचंदजी छाबड़ा ने किया था। इसके पश्चात् पंडित हीरालालजी साढूमल निवासीने भी उसका अनुवाद किया, ये दोनों अनुवाद प्रकाशित हो चुके है। इसी परीक्षा मुख ग्रन्थपर सुविस्तृत टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामा है जो कि प्रमेय रत्नमाला टीकाके पहलेकी है, इसका मूल संस्कृत मात्रका प्रकाशन पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा संपादित होकर हुआ था किन्तु अभी तक इस विशाल संस्कृत टीकाका हिंदी अनुवाद नहीं हुआ था, इस कारण साधारण स्वाध्यायशील व्यक्ति इसके ज्ञानसे वंचित थे।

प्रसन्नता है कि अब इसका अनुवाद आर्यिका जिनमती माताजी ने किया है और उसका प्रकाशन हो रहा है। न्याय विषयक इस ग्रन्थके परिशीलनसे कार्य कारण भाव आदिका सत्य ज्ञान होता है, जिससे वर्त्तमानके ऐकान्तिक कथनोंका निर्मूलन होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थका संशोधन पंडित मूलचंद शास्त्री महावीरजीने किया अतः आप धन्यवादके पात्र हैं।

प्रकाशन—इसका प्रकाशन श्री लाला मुसद्दीलाल ट्रस्ट के ट्रस्टी श्री शांतिलालजी जैन कागजी सुपुत्र ब्र० मुसद्दीलालजी जैन फुगाना (मुजफ्फरनगर) निवासी के आर्थिक सहयोगसे हुआ है। श्री शांतिलालजीका व्यवसाय चावड़ी बाजार देहली में है एवं निवास स्थान २/४ दरियागंज देहलीमें है। आप बहुत स्वाध्याय प्रिय एवं उदारचित्त हैं। बालाश्रम दरियागंजके जिनचैत्यालयका कुशल प्रबन्ध आपके द्वारा ही होता है। परमपूज्य १०८ श्री धर्मसागरजी आचार्य महाराजजीके संघका सन् १९७४ का चातुर्मास [पच्चीसवें निर्वाण महोत्सव कालीन] बालाश्रम दरियागज देहली में हुआ था उसकी व्यवस्था व प्रबन्धमें आपका मुख्य सहयोग था। दि० जैन ग्रन्थोंके प्रकाशनमें आप अभिरुचि रखते हैं, ज्ञानोपार्जन एवं धर्म प्रभावना हेतु आप प्रायः विद्वानोंको आमंत्रित करते रहते हैं अतः आप धन्यवादके पात्र हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थका मुद्रण करना सरल कार्य नहीं था, श्री पांचूलालजी जैन कमल प्रिन्टर्स मदनगंजने अपने अथक परिश्रमसे इस ग्रन्थका मुद्रण कराया अतः आप धन्यवाद के पात्र हैं।

— पं. रतनचंद जैन मुख्तार

अनुवादके पूर्व

द्वादशांगवाणीमें दृष्टिवाद नामक जो अंतिम अंग है उससे न्याय शास्त्र प्रसृत हुआ है, न्याय शास्त्रकी आधारशिला स्याद्वाद अनेकान्त है। न्याय शास्त्र सिद्धांतों को सिद्ध करनेके लिये साधन है। प्रस्तुत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ इसी न्याय शास्त्रका अवयव है, इसग्रन्थका मूलस्रोत माणिक्यनंदी आचार्य द्वारा विरचित परीक्षा मुख नामा सूत्र बद्ध लघुकाय शास्त्र है, मुख शब्दका अर्थ द्वार होता है प्रमाणादिकी परीक्षा करने रूप प्रासाद में प्रवेश पानेकेलिये यह द्वार स्वरूप है अतः इसका सार्थक नाम परीक्षामुख है, इसी पर प्रभाचन्द्राचार्यने विशाल काय [करीब १२ हजार श्लोक प्रमाण] टीका स्वरूप प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ की रचना की है जो भव्य जीवोंके नाना प्रकारके मिथ्याभिनिवेश रूपी अंधकारको नष्ट करनेके लिये "मार्त्तण्ड" (सूर्य) सदृश है।

प्रमेय कमल मार्त्तण्ड के अनुवादका बीजारोपण—

राजस्थान में विशिष्ट नगरी टोंक है, यहांपर शहर के बाहर एक मनोरम नसियां (निषिद्धिका) बनी हुई है जिसमें भूगर्भ से प्राप्त जिनबिंब विराजमान हैं, आचार्य धर्मसागर महाराजके शिष्य पूज्य श्री शीतलसागरजी मुनिराजने अपने भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना द्वारा इस नसियां की सार्थक नाम [निषिद्धिका शब्दका अपभ्रंश नसियाँ है निषिद्धिका शब्दके अनेक अर्थोंमें एक अर्थ यह है कि जहांपर किसी साधुका सन्यास पूर्वक मरण हो उस स्थानको निषिद्या कहते हैं] वाली बना दिया है। इस स्थान पर आचार्य श्री का विशाल संघके साथ चातुर्मास हो रहा था संघकी प्रमुख आर्यिका रत्न विदुषी ज्ञानमति माताजीके पाद मूलमें अनेक बाल ब्रह्मचारी बाल ब्रह्मचारिणियां अध्ययन कर रही थीं, पूज्य माताजीरूपी हिमाचलसे प्रसृत ज्ञान गंगामें अवगाहन करके अपने अनादि कालीन अविद्या मैल को धो रही थीं, अध्ययन एकांगीण न होकर सर्वांगीण होता था जिसमें सिद्धांत, साहित्य, व्याकरण, न्याय आदि विषय अन्तर्निहित थे, न्यायके अध्ययन ग्रन्थोंमें प्रमेय कमल मार्त्तण्ड ग्रन्थ भी था, यह सिर्फ संस्कृत भाषामें होने के कारण हम लोगोंको समझनेमें कठिन हो रहा था, पूज्या माताजीकी शिष्या आर्यिका जिनमति माताजीसे मैंने प्रार्थना करी कि इस ग्रन्थकी हिन्दी भाषा नहीं होनेसे शास्त्री परीक्षामें कठिनता होगी अतः इसका सारांश हिन्दी में लिखिये जिससे सुविधा हो आपको बार बार विषय पूछना न पड़े [मेरा विशेष अध्ययन जिनमति माताजी के पास चलता था] जिनमति माताजीने मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर भाषानुवाद प्रारम्भ कर दिया।

अनुवाद करते समय यह लक्ष्य नही था कि इसको मुद्रित कराना है; लक्ष्य सिर्फ इतना ही था कि भाषानुवाद होनेसे विषयका स्पष्टीकरण हो जायगा। अनुवाद का प्रारम्भ होकर अष्ट मासमें

उसी नगरीमें वह पूर्ण भी हो गया। तीन वर्षोंके अनंतर २५००-वें वीर निर्वाण महोत्सव पर आचार्य संघका पदार्पण भारत की राजधानी देहलीमें हुआ, तब परम पूज्या आर्यिकारत्न विदुषी ज्ञानमति माताजी, श्वेतांबर साधु सुशीलकुमारजी आदिके साग्रह अभिप्राय हुए कि प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भाषानुवाद मुद्रित होना चाहिये, क्योंकि दि० जैन माणिकचंद परीक्षालय आदिमें शास्त्री परीक्षा में यह ग्रन्थ नियुक्त है, श्वेताम्बर जैन के यहां भी न्याय परीक्षा के पाठ्य पुस्तकोंमें है इत्यादि । इस बातपर विचार करके जिनमति माताजीने भाषानुवादका संशोधन चालू किया, बीचमें दो मास स्वास्थ्य खराब होनेसे कार्य रुक गया। देहलीके अनंतर संघका चातुर्मास सहारनपुर [उत्तर प्रदेश] हुआ, वहांपर सिद्धांतभूषण पंडित रतनचंदजी मुख्तार, पंडित अरहदासजी आदिने अनुवादके विषयमें सुझाव दिये, अध्यात्मप्रिय पंडित नेमिचंदजीने प्रत्येक विषयका परमतानुसार पूर्वपक्ष लिखनेका आग्रह किया, इसतरह पूर्वोक्त अनुवादमें संवर्धन करते हुए दुबारा अनुवाद करनेके समानही हो गया।

माताजीने जिन जैनेतर ग्रन्थोंका उद्धरण लेकर पूर्व पक्ष लिखा है उनका परिचय इसप्रकार है:-

(१) न्यायमंजरी—यह ग्रन्थ गौतम सूत्रकी तात्पर्य विवृत्ति सहित है, श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमालाका १०६ पुष्प है, इसके कर्त्ता जयन्तभट्ट हैं। प्रकाशक चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।

(२) न्यायबिन्दु टीका—आचार्यधर्मोत्तर रचित है, समीक्षात्मक भूमिका, भाषानुवाद, व्याख्यात्मक टिप्पणीसे युक्त है डा० श्रीनिवास शास्त्री द्वारा संपादित है । प्रकाशक—साहित्य-भडार, मेरठ, प्रथम संस्करण।

(३) सांख्यकारिका—हिन्दी अनुवाद सहित, सांख्यीय साधन मार्ग, तत्त्व परिचय एवं तुलनात्मक सामग्रीसे संबलित, प्रणेता श्री राम शकर भट्टाचार्य।

(४) वाक्यपदीयम्—ब्रह्मकाण्ड युक्त है, संस्कृत आंग्ल हिन्दी भाषा सहित, भर्तृहरि विरचित है। अनुवाद एवं टीकाकार-वाचस्पति सत्यकाम वर्मा प्राध्यापक देहली विश्वविद्यालय।

(५) तर्क भाषा—केशव मिश्र प्रणीत समीक्षात्मक भूमिका, भाषानुवाद, व्याख्या एवं टिप्पणी सहित है। डॉ० श्री निवास शास्त्री द्वारा संपादित । प्रकाशक रतिराम शास्त्री, साहित्य भडार, सुभाष बजार, मेरठ।

(६) वेदान्त सार:—विवृत्तिसहित सदानंद भोगीन्द्र द्वारा विरचित है । संपादक डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी। प्रकाशक-रतिराम शास्त्री, साहित्य भंडार सुभाष बजार, मेरठ।

(७) न्याय वार्त्तिकम्—न्याय दर्शन वात्स्यायन के भाष्य से युक्त, परमर्षि भारद्वाज उद्योतकर द्वारा विरचित है। यह पुस्तक पुरानी है, ई० सन् १९१५ का संस्करण है । फतेहपुर (सीकर) राजस्थानके श्री सरस्वती पुस्तकालयमें यह ग्रन्थ है।

(८) मीमांसा श्लोक वार्त्तिकम्—न्यायरत्नाकराख्य व्याख्या सहित, श्रीमत् कुमारिल भट्ट पाद विरचित मूल मात्र ग्रन्थ है। चौखबा सीरीज ग्रन्थमाला का मात्र तीन नंबरका पुष्प है, अति प्राचीन है, ई० सन् १८६८ का प्रकाशन, फतेहपुर (सीकर) राजस्थानके पुस्तकालयमें है।

अस्तु।

इसप्रकार अनुवादका संवर्द्धनादि कार्य संपन्न होनेपर इसको—मुद्रित कहां पर कराना, द्रव्य प्रदाता आदिका भार सि० भू० पंडित रतनचंद जैन मुख्तारजी ने लिया। ग्रन्थ विशाल होने से इसको तीन भागों में विभक्त किया। राजस्थानमें मदनगंज-किशनगढ़ में ग्रन्थका मुद्रण कराना उचित समझा, संघ उत्तर प्रदेशमें और प्रेस राजस्थान में होनेके कारण पहले तो मुद्रण मदगति से चला किन्तु अचानक ही संघ राजस्थान में आया और चातुर्मास भी मदनगंज-किशनगढ़ में हुआ, इससे मुद्रण कार्य शीघ्रगतिसे होकर मार्त्तण्ड का यह प्रथम भाग पाठकोंके हाथमें पहुंच रहा है, मेरे को इस कार्य पूर्ति पर असीम हर्ष है, मेरी प्रार्थना पर इस अनुवादका शुभारंभ हुआ था जैसाकि वीर मार्त्तण्ड चामुण्ड राय की प्रार्थना पर सिद्धांत चक्रवर्त्ती श्री नेमिचन्द्राचार्यने गोम्मटसारादि पंचसंग्रह की रचना की थी।

पूज्या जिनमति माताजी के विषय में कौनसे स्तुति सुमन संजोएं ? माताजीके विषयमे कुछ लिखना सूर्यको दीपक दिखाने सदृश है मेरे को उनके चरण सानिध्यमें रहते नौ वर्ष हुए हैं उनके गुणों का वर्णन करनेको मेरे पास बुद्धि नहीं। माताजीमें विनयादि गुण सुशोभित होते हैं इसी गुण रूपी वृक्ष पर यह अनुवादरूपी फल लगा है।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करानेका श्रेय सिद्धांत भूषण पंडित रतनचंद जैन मुख्तारजी को है, यदि आप इसके प्रकाशनमें रुचि नहीं रखते तो क्या मालूम यह ग्रन्थ कितने समय तक अप्रकाशित ही रहता। यह भाषानुवाद स्वाध्याय प्रिय जनोंमें एवं विद्यार्थी वर्ग में बड़ा ही उपयोगी होगा, न्याय विषयक ग्रन्थ पढनेसे यह समझमें आजाता है कि जैनेतर दार्शनिकों के सिद्धांतोंका मूल स्रोत सर्वज्ञ से संबंद्ध नहीं होनेसे एवं एकांत पक्षीय कथन होनेसे वे सिद्धांत अबाधित सिद्ध नहीं हो पाते। इत्यलम्

—आर्यिका शुभमति

परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, आचार्यप्रवर

१०८ श्री वीरसागरजी महाराज
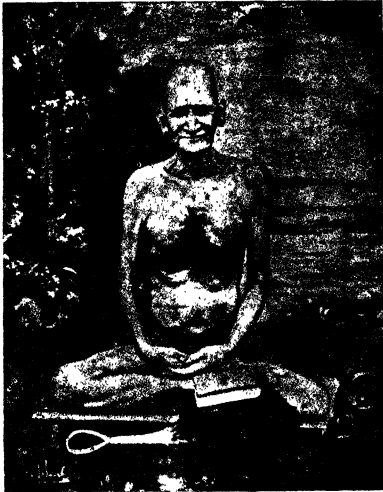
चतुर्विधगणैः पूज्यं, गभीरं सुप्रभावकम् ।
वीरसिन्धुगुरुं स्तौमि, सूरिगुणविभूषितम् ।।

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
आषाढ़ पूर्णिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	आश्विन शुक्ला ११	आश्विन अमावस्या
वि० सं० १९३२	वि० सं० १९८०	वि० सं० १९८१	वि० सं० २०१४
वीर ग्राम (महाराष्ट्र)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपुर (राज०)

प्रस्तावना

परीक्षामुखकर्त्तारं श्री माणिक्य मुनीश्वरम् ।
विद्वांवरं प्रवंदेऽहं जैन न्याय प्रकाशकम् ।।१।।
वृत्ति कारं प्रभाचन्द्रं पाणिपात्र निरम्बरं ।
नभाम्यत्र त्रिधाभक्त्या तर्क शास्त्र प्रणायकम् ।।२।।

"प्रमेय कमल मार्त्तण्ड" जैन न्यायका महान ग्रन्थ है, यद्यपि यह "परीक्षामुख" संज्ञक ग्रन्थ की टीका है किन्तु मौलिकसे कम नहीं है आचार्य श्री प्रभाचंद्र ने दि० जैन दर्शनका जो और जितना मर्म इसमें खुलासा किया है अन्य ग्रन्थोंमें देखनेको नहीं मिलता, जैसे मार्त्तण्ड (सूर्य) कमलोंको खिला देता है वैसे यह ग्रन्थराज प्रमेयोंको अर्थात् प्रमाणके विषयोंको खिला देता है (खुलासा कर देता है)

विभिन्न दर्शनोंमें प्रमाणके स्वरूपमें, उसकी संख्यामें, उसके विषयमें तथा उसके फलमें विप्रतिपत्ति पाई जाती है । इसी प्रसंगको लेकर श्री माणिक्यनंदी आचार्यने मंदबुद्धि वाले न्याय शास्त्रके रसिकोंके लिये परीक्षामुख नामक ग्रन्थकी रचना की ।

यद्यपि आचार्य अकलंक देव कृत लघीयस्त्रय सिद्धिविनिश्चय आदि न्याय विद्याके उच्च कोटि के ग्रन्थ थे किन्तु ये सब मंद बुद्धि वालोंके लिये गहन थे उन मंद बुद्धि भव्योंके ज्ञानका ध्यान कर आचार्य माणिक्यनंदीने छोटा सा गागर में सागर भरने जैसा परीक्षामुख रचा । ग्रन्थ छोटा है किन्तु इसकी गहराई मापना कठिन है । आचार्य प्रभाचन्द्रने इस पर प्रमेय कमल मार्त्तण्ड नामा बृहत् काय टीका रची एव आचार्य अनंतवीर्यने लघुकाय टीका प्रमेय रत्नमाला रची, ये दोनों ग्रन्थ टीका ग्रन्थ हैं किन्तु मौलिकसे कम नहीं हैं । प्रमेय रत्नमालाका हिन्दी भाषानुवाद पंडित हीरालाल शास्त्री न्यायतीर्थ ने किया है, किन्तु प्रमेय कमल मार्त्तण्ड का अनुवाद अभी तक किसीने नहीं किया था, इस स्तुत्य कार्यको १०५ पूज्या विदुषी आर्यिका जिनमति माताजी ने किया । यह ग्रन्थ आचार्य तथा न्यायतीर्थ जैसे उच्च कक्षाओंमें पाठ्य ग्रन्थ रूपसे स्वीकृत है किन्तु हिन्दी टीकाके अभावमें क्लिष्ट पड़ता है । मैंने अपने विद्या एवं शिक्षा गुरु स्व० पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थसे कई बार निवेदन किया कि इस हिन्दी प्रधान युगमें इस महान ग्रन्थको पढ़ने और पढ़ानेवाले विरले रह जावेंगे, किन्तु यदि हिन्दी टीका हो जायगी तो इसकी उपयोगिताके साथ स्वाध्याय प्रेमियोंकी हृदय ग्राहिता भी बढ जायगी । किन्तु वे बहुत कुछ आश्वासनोंके साथही काल कवलित हो गये और उनके आश्वासन पूरे नहीं हो सके ।

उसी चिर वांछित श्रेष्ठ उपक्रमको पूज्या आर्यिका जिनमति माताजी ने किया। मैं उनके इस कार्यकी अत्यन्त सराहना करता हूं तथा पूज्या माताजीके विद्यागुरु आर्यिकारत्न विदुषी ज्ञानमती माताजीको भी कोटिशः धन्यवाद देता हूं जिन्होंने ऐसी शिष्याको तैयार किया।

आचार्य श्री माणिक्यनंदी—

प्रमेय कमल मार्त्तण्डके रचयिता प्रभाचन्द्राचार्य श्री माणिक्यनंदी आचार्यको गुरु मानते थे जैसाकि लिखा है—

गुरुः श्री नंदी माणिक्यो नंदिताशेष सज्जनः।
नन्दिताद् दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णवः ॥१॥

इससे सिद्ध होता है कि माणिक्य नंदी प्रभाचन्द्राचार्यके गुरु थे, इनकी रचना एक मात्र परीक्षामुख है।

यद्यपि उमास्वामी आचार्य द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्रकी रचना सूत्रसाहित्यमें हो चुकी थी, किन्तु न्याय विषयमें सूत्र बद्ध रचना सर्व प्रथम इन्होंने की।

आचार्य माणिक्यनंदी पर "अकलंक न्याय" की छाप है उन्होंने अकलंक देवकी रचनायें लघीयस्त्रय, सिद्धि विनिश्चय आदि का पूर्ण रूपेण मंथन कर परीक्षामुख ग्रन्थ रचा है।

जिस प्रकार रत्नोंमें बहुमूल्य रत्न माणिक्य होता है उसकी क्षमता अन्य रत्न नहीं करते उसी प्रकार माणिक्य नंदीके सूत्र भी बहुमूल्य रत्न राशिके समान हैं उनकी क्षमता अन्य सूत्र नहीं कर सकते, इसकी पुष्टि नीतिकारने भी की है "शैले शैले न माणिक्यम्"। शास्त्रानुसार सूत्रमें जो विशेषतायें होनी चाहिये वे सब परीक्षामुख सूत्रोंमें पायी जाती हैं।

सूत्रका लक्षण—

अल्पाक्षर मसन्दिग्ध सार वद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभ मनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥१॥

इस परिभाषाके अनुसार श्री माणिक्य नंदीके सूत्र अल्पाक्षरी हैं, संदेह रहित हैं, सार से परिपूर्ण हैं विश्वतोमुख निर्दोष हेतुमान् तथा तथ्यपूर्ण हैं।

समय—

श्री माणिक्यनंदीके समय निर्धारणमें प्रमुख तीन प्रमाण दृष्टिगत होते हैं—

क— परीक्षामुखके टीकाकार आचार्य अनंत वीर्यने सूत्रकार माणिक्यनंदीको नमस्कार किया तब अकलंक देवको याद किया—

अकलङ्क वचोऽम्भोधे रुद्धे येन धीमता ।
न्याय विद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥१॥

अर्थात् जिन बुद्धिमानने भट्टाकलंक स्वामीके वचनरूप समुद्रसे न्यायविद्यारूपी अमृतको निकाला उन आचार्य माणिक्य नंदीको मैं (अनंतवीर्य) नमस्कार करता हूं। इससे प्रकट होता है कि श्री माणिक्यनंदी भट्टाकलंकदेवके उत्तरवर्ती हैं, भट्टाकलंक देवका समय ईसाकी आठवीं शताब्दी माना गया है अतः आठवीं शती के पश्चात् माणिक्यनंदीका समय बैठता है । आचार्य प्रभाचंद्र जो कि इनके शिष्य थे परीक्षामुखके टीकाकार हैं इनका समय ईसाकी दसवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है ऐसा विद्वानोंका कहना है। इसतरह श्री माणिक्यनंदीका समय ईसाकी नौवीं शताब्दी सिद्ध होता है।

ख— प्रज्ञाकर गुप्त जो ईसाकी आठवीं शताब्दीके पूर्वार्ध में हुए थे उनके मतका खण्डन परीक्षामुखमें पाया जाता है इससे भी इनका समय ९ शती ठहरता है।

ग— आचार्य माणिक्यनंदीके शिष्य नयनंदीने सुदर्शन चरितको वि० सं० ११०० में पूर्ण किया था अतः उनके गुरुका समय उनसे पहले होना निश्चित है, विक्रम संवत् में और ईसवी सन्में ५७ वर्षका अन्तर है इस हिसाबसे माणिक्यनंदी ईसाकी नौवीं शताब्दीके ठहरते हैं।

कृति—

श्री माणिक्यनंदीकी एक मात्र कृति परीक्षामुख उपलब्ध होता है जो अपनी सानीका जैन न्यायमें एक मात्र सूत्र ग्रन्थ है।

ग्रन्थ का परिचय—

जैनागममें संस्कृत भाषामें सूत्र बद्ध रचनाका प्रारम्भ भगवत उमास्वामीने किया। न्यायमें प्रस्तुत ग्रन्थ (परीक्षामुख) आद्य सूत्र ग्रन्थ माना जाता है।

विषय—परीक्षामुख ग्रन्थ का नाम निर्देश "परीक्षा" शब्दसे प्रारम्भ होता है, प्रसिद्ध धर्म-भूषण यति की रचना न्यायदीपिका में परीक्षाका लक्षण इसप्रकार दिया है—

"विरुद्ध नाना युक्ति प्राबल्य दौर्बल्याव धारणाय प्रवर्त्तमानो विचारः परीक्षा"। अर्थात् विरुद्ध नाना युक्तियोंकी प्रबलता और दुर्बलताके अवधारण करनेके लिये प्रवर्त्तमान विचार को परीक्षा कहते हैं। इस लक्षणके अनुसार इस ग्रन्थ में प्रमाण और प्रमाणाभासोंका नाना युक्तियोंसे प्रकाश डालकर उनकी सही परीक्षा की है इसी कारण इस ग्रन्थ की सार्थकता है । मुख शब्द अग्रणी वाचक है अतः यह ग्रन्थ प्रमाण और प्रमाणाभासको कहनेमें अग्रणी है। अथवा परीक्षा का अर्थ न्याय है और मुख शब्दका प्रवेशद्वार है, न्याय जैसे जटिल विषयमें प्रवेश पानेके लिये यह द्वार सदृश

होनेसे सार्थक नाम परीक्षामुख है । ग्रन्थ छह समुद्देशोंमें विभक्त है, प्रथममें १३ द्वितीयमें १२ तृतीयमें ६६ (प्रत्यभिज्ञान के दृष्टांतों के पाँचों भेदोंके पृथक पृथक सूत्र गिनने पर एवं तर्क ज्ञान प्ररूपक सूत्रको पृथक् गिनने पर १०१ सूत्र संख्या भी होती है) चतुर्थमें ६ पंचममें ३ और षष्ठमें ७४ सूत्र हैं, कुल मिलाकर २०७ सूत्र हैं (दूसरी अपेक्षा से २१२ हैं) प्रमाणका स्वरूप, भेद और भेदोंका स्वरूप उनके उदाहरण चार समुद्देशोंमें कहा गया है एवं प्रमाणका विषय कहा गया है । पंचम समुद्देशमें प्रमाणका फल बतलाकर षष्ठमें प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभासका वर्णन किया है ।

भाषा और शैली—

भाषा परिमार्जित संस्कृत है । संस्कृत पौढ होकर भी सुबोध है, पाठकोंको अधिक बौद्धिक बल बिना लगाये समझमें आजाती है । शैली सूत्र शैली है । संक्षिप्त में सारको समझानेका जैसा सूत्रका कार्य होता है वैसा यहां भी है । सूत्रकार गागर में सागर भरने की शैली अपनाते हैं, आचार्य माणिक्यनंदीने भी वही अपनाई है ।

टीकायें और टीकाकार

परीक्षामुखकी टीका कहनेमें चार और वास्तवमें तीन हैं सर्वप्रथम की टीका रचनामें प्रस्तुत अपना ग्रन्थ प्रमेय कमल मार्त्तण्ड है इसके टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य हैं । दूसरी टीका आचार्य अनंतवीर्य कृत प्रमेयरत्नमाला है । तीसरी टीका प्रमेयरत्नालंकार है जो भट्टारक चारुकीर्ति द्वारा रचित है । चौथी टीका प्रमेय कण्ठिका है जो मात्र प्रथम सूत्रकी विस्तृत व्याख्या है इसके निर्माता श्री शान्ति वर्णी हैं ।

प्रमेय कमल मार्त्तण्ड

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमेय कमल मार्त्तण्ड परीक्षामुख सूत्रकी टीका है, जैसा इसका नाम है वैसा ही विषय प्रतिपादन है । जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है वैसे समस्त प्रमेयोंको प्रदर्शित करने वाला यह ग्रन्थ है । टीकाकारने टीका करते समय अपनी बुद्धिका पूर्ण परिचय दिया है, ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ टीका ग्रन्थ नहीं मौलिक ग्रन्थ है । युगके अनुरूप टीकामें जो विशेषता होनी चाहिये वह सब प्रस्तुत ग्रन्थ में मौजूद है । सम सामयिक न्याय ग्रन्थोंके जितने भी सूक्ष्म विवेचन हैं वे सब इस ग्रन्थमें मिलेंगे । जहांतक विषय प्रतिपादनका प्रश्न है मूल ग्रन्थ कर्त्ताके सूत्रोंपर उठनेवाले वादविवादों का सम्पूर्ण हल इसमें मिलेगा । प्रमाणतत्वका विवेचन करना मुख्य रूपसे इस ग्रन्थका विषय है ।

भाषा एवं शैली—

प्रमेय कमल मार्त्तण्डकी भाषा शुद्ध संस्कृत और शैली हेतु परक न्याय संमत है । इतने उच्च कोटिके उदाहरणोंके साथ खण्डन मण्डन किया है कि न्यायको समझनेवाला व्यक्ति अपनी जिज्ञासाको

शीघ्र ही शांत कर लेता है। जितने भी विकल्प उठने चाहिये सभी को उठाकर उन सभी का विवेक पूर्वक समाधान किया गया है। उदाहरण के लिये दिये गये श्लोक टीकाकारके तत् तत् ग्रन्थ सम्बन्धी अगाध ज्ञानको दर्शा रहे हैं।

उपादेयता—

इस ग्रन्थको उपादेयता जैन न्याय में सर्वोपरि है। न्यायके जितने भी ग्रन्थ हैं उनमें प्रमेय कमल मार्त्तण्ड बहुचर्चित है। शास्त्री, न्यायतीर्थ, आचार्य जैसी उच्च कक्षाओं का पाठ्य ग्रन्थ होनेसे इसकी उपादेयता स्पष्ट रीत्या समझ में आ जाती है।

बिना न्यायके कसौटीपर कसे वस्तु तत्व समझ में नहीं आता। आचार्य ने प्रमाणका स्वरूप भली भांति समझाकर जैनागममें अपना प्रमुख स्थान बनाया है। न्यायको जाने बिना वस्तुका तल-स्पर्शी ज्ञान नहीं हो सकता, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ न्याय विषयक होनेसे विशेष उपादेय माना जायगा।

ग्रन्थ रचयिता—

स्थान, गुरु परंपरा और कार्य क्षेत्र—

इस प्रमेयकमल मार्त्तण्ड के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं, ये धारानगरी के शासक राजा भोज द्वारा सम्मानित एवं पूजित हुए थे। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख के अनुसार श्री प्रभाचन्द्राचार्य मूल संघान्तर्गत नंदीगणकी आचार्य परम्परा में हुए थे। इनके गुरुका नाम पद्मनन्दी था। इनकी शिक्षा दीक्षा पद्मनंदी द्वारा हुई मानी जाती है, किन्तु परीक्षामुख के कर्ता माणिक्यनंदी को भी इन्होंने गुरु रूपमें स्वीकार किया है। प्रभाचन्द्राचार्य राज मान्य राजर्षि थे, राजा भोज द्वारा नमस्कृत थे, ऐसा निम्न लिखित श्लोक द्वारा सिद्ध होता है—

श्री धाराधिप भोज राज मुकुट प्रोताश्म रश्मिच्छटा-
च्छाया कुंकुम पंक लिप्त चरणांभोजात लक्ष्मी धवः।
न्यायाब्जाकर मण्डने दिनमणिः शब्दाब्ज रोदोमणिः
स्थेयात् पंडित पुण्डरीक तरणिः श्रीमान् प्रभा चन्द्रमाः ॥१॥

श्री चतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डित श्री प्रभाचन्द्रो रुद्र वादि गजांकुशः ॥२॥

उक्त श्लोकोंमें इनको पंडित कहा गया है, इससे यह नहीं समझना कि ये गृहस्थ पंडित होंगे। यह विशेषण तो इनको विद्वान् सिद्ध करने हेतु है। वस्तुतः ये नग्न दिगम्बर जैनाचार्योंकी परम्परामें मान्य आचार्य थे। इनको शब्दाब्ज द्विनमणि की संज्ञा देना इनके द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण पर जैनेन्द्र न्यास–शब्दाम्भोज भास्कर नामक ग्रन्थके कारण है। प्रथित तार्किक कहनेका अभिप्राय भी

महान तार्किक ग्रन्थोंके रचयिता होने के कारण ही है। शिलालेखोंके आधार पर इनके सधर्मा श्री कुलभूषण मुनि माने जाते हैं।

समय—आपका समय आठवीं शताब्दीसे लेकर दसवीं के पूर्वार्ध तक माना जाता है। आचार्य जिनसेनने आदिपुराण में एक श्लोक लिखा है, इससे भी यही सिद्ध होता है:—

चन्द्रांशु शुभ्रयशसं प्रभाचन्द्र कविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥

उक्त चन्द्रोदयका अर्थ आचार्य कृत न्याय कुमुदचन्द्र से है। प्रमेयकमल मार्त्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र से हो प्रभाचन्द्राचार्यका सही समय ज्ञात होता है। यह समय "भोजदेवराज्ये या जयसिंह देव राज्ये" इस प्रशस्ति पदसे प्रतीत होता है। राजा भोजकी योग सूत्रपर लिखी गयी टीका राज मार्त्तण्ड है। हो सकता है मार्त्तण्ड शब्द परस्पर प्रभावी हो।

पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, मुख्तार साहब तथा नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानोंने काफी ऊहापोह के साथ आचार्यका समय ईस्वी सन् ९८० से १०६५ तकके बीचमें माना है। यह समय आचार्य द्वारा रचित रचनाओं तथा उत्तरवर्ती रचनाओंके आधारपर निश्चित किया है। विशेष जानकारी के लिये पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा लिखित प्रमेयकमल मार्त्तण्ड [मूल संस्कृत मात्र] की द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना देखनी चाहिये।

प्रभाचन्द्राचार्यकी रचनायें:—

आचार्य प्रभाचन्द्र विशेष क्षयोपशमके धनी थे। जहां तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है आप असाधारण व्युत्पन्न पुरुष थे। आपने अपनी लेखनी न केवल न्याय विषय में ही चलायी अपितु सभी विषयों पर आपका असाधारण अधिकार था। दर्शन विषयक ज्ञानमें आपको सभी दर्शनोंका [भारतीय] ज्ञान था। वेद, उपनिषद, स्मृति, सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसक, बौद्ध, चार्वाक आदि दर्शनोंका आपने अच्छा अध्ययन किया था। साथ ही वैयाकरण भी थे, इन्होंने जैनेन्द्र व्याकरणपर जैनेन्द्र न्यास लिखा है। इसी प्रकार साहित्य, पुराण, वेद, स्मृति, उपनिषद आदिपर पूरा अधिकार था। इनकी रचनाओंमें उक्त ग्रन्थोंका कुछ ना कुछ अंश अवश्य मिलेगा। पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने अपनी प्रस्तावनामें इस विषयका सुविस्तृत विवेचन किया है उसी प्रस्तावनाके आधार पर इस प्रस्तावनाके कई स्थल लिखे हैं, श्रवण बेलगोलाके लेखमें पद्मनंदी सैद्धांतिक का नाम आया है, कुलभूषण उनके शिष्य थे, तथा प्रभाचन्द्राचार्य कुल भूषण यति के सधर्मा थे। इस लेख में प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोज भास्कर और प्रथित तर्क ग्रन्थकार लिखा है—

अविद्ध कर्णादिक पद्मनंदि सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके-
कौमारदेव व्रतिता प्रसिद्धिर्जीया त्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः।
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्य यतिपश्चारित्रवारां निधिः।
सिद्धांताम्बुधि पारगो नतविनेयस्तत् सधर्मो महान्।

शब्दाम्भोरुह भास्करः प्रथित तर्क ग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराज पण्डितवरः श्री कुण्डकुन्दान्वयः ।।

ग्रा० प्रभाचन्द्रको इस लेखमें जो विशेषण दिये हैं, उपयुक्त हैं। वास्तवमें वे शब्दरूपी कमलों-को [शब्दांभोज भास्कर नामक ग्रन्थ] खिलाने के लिये सूर्यके समान और प्रसिद्ध तर्क ग्रन्थ प्रमेय कमल मार्त्तण्ड के कर्त्ता हैं। जैन न्यायमें तार्किक दृष्टि जितनी इस ग्रन्थमें पायी जाती है अन्यत्र नहीं है। प्रमेयकमल मार्त्तण्ड, न्याय कुमुद चंद्र, शब्दाम्भोज भास्कर, प्रवचनसार सरोज भास्कर, तत्त्वार्थ-वृत्ति पदविवरण, ये इतने ग्रन्थ प्रभाचंद्राचार्य द्वारा रचित निर्विवाद रूपसे सिद्ध हुए हैं।

१. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड—यह आचार्य माणिक्यनंदीके परीक्षामुख सूत्रों-टीका स्वरूप ग्रन्थ है। मत मतांतरोंका तर्क वितर्कोंके साथ एवं पूर्वपक्षके साथ निरसन किया है। जैन न्यायका यह अद्वितीय ग्रन्थ है। अपना प्रस्तुत ग्रन्थ यही है, जैन दर्शनमें इस कृतिका बड़ा भारी सम्मान है।

२ न्यायकुमुदचन्द्र—जैसे प्रमेयरूपी कमलों को विकसित करनेवाला मार्त्तण्ड सदृश प्रमेय कमल मार्त्तण्ड है वैसे ही न्यायरूपी कुमुदोंको प्रस्फुटित करनेके लिये चन्द्रमा सदृश न्याय कुमुदचन्द्र है।

३ तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण—यह ग्रन्थ उमा स्वामी आचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थ सूत्र पर रची गयी पूज्यपाद आचार्यकी कृति सर्वार्थ सिद्धिकी वृत्ति है। वैसे तो पूज्य पादाचार्यने बहुत विशद रीत्या सूत्रोंका विवेचन किया, किन्तु प्रभाचन्द्राचार्यने सर्वार्थसिद्धिस्थ पदोंका विवेचन किया है।

४. शब्दाम्भोजभास्कर—यह शब्दसिद्धि परक ग्रन्थ है। शब्दरूपी कमलोंको विकसित करने हेतु यह ग्रन्थ भास्कर वत् है। ये स्वयं पूज्यपाद आचार्यके समान वैयाकरणी थे, इसी कारण पूज्यपाद द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण पर शब्दाम्भोज भास्कर वृत्ति रची।

५ प्रवचनसारसरोजभास्कर-जैसे अन्य ग्रन्थोंको कमल और कुमुद संज्ञा देकर अपनी कृतिको मार्त्तण्ड, चन्द्र बतलाया है, वैसे प्रवचनसार नामक कुंदकुंद आचार्यके अध्यात्म ग्रन्थको सरोज संज्ञा देकर अपनी वृत्तिको भास्कर बतलाया। आपका ज्ञान न्याय और शब्दमें ही सीमित नहीं था, अपितु आत्मानुभवकी ओर भी अग्रसर था। जिन गाथाओंकी वृत्ति अमृतचन्द्राचार्य ने नहीं की उन पर भी प्रभाचन्द्राचार्यने वृत्ति की है।

समाधितन्त्र टीका आदि अन्य ग्रन्थ भी आपके द्वारा रचित माने जाते हैं किन्तु इनके विषयमें विद्वानोंका एक मत नहीं है। इसप्रकार प्रभाचन्द्राचार्य मार्मिक विद्वान्, तार्किक, वैयाकरण आदि पदोंसे सुशोभित श्रेष्ठतम दि० आचार्य हुए, उन्होंने अपने गुणोंद्वारा जैन जगतको अनुरंजित किया, साथ ही अपनी कृतियां एवं महाव्रतादि आचरणद्वारा स्वपरका कल्याण किया। हमें आचार्यका उप-कार मानकर उनके चरणोंमें नतमस्तक होते हुए याचना करनी है कि हे गुरुदेव! आपके ग्रन्थोंमें गति हो एवं हमारी आत्मकल्याणकारी प्रवृत्ति हो।

हिन्दी टीकाकर्त्री १०५ पूज्या विदुषीरत्न आर्यिका जिनमति माताजी—

हिन्दी भाषा प्रधान इस युगमें प्रायः सभी संस्कृत, प्राकृत भाषा ग्रन्थों का हिन्दीमें अनुवाद हुआ है तदनुसार पूज्या माताजीने प्रस्तुत ग्रन्थको अभी तक भाषान्तरित नहीं हुआ देखकर एवं न्याय विषयके विद्यार्थियोंके लिये उपयोगी समझकर इसका अनुवाद किया है, आपका हम सभी पर महान उपकार है। विद्यार्थी तो आपकी इस कृतिसे लाभान्वित होंगे ही किन्तु स्वाध्याय प्रेमी भी अब इसका आस्वादन [स्वाध्याय] ले सकेंगे। माताजीने जिस शैली को अपनाया है वह अत्यंत सरल एवं सुबोध है। दुरूह ग्रन्थकी सरलभाषामें टीका अनुपलब्ध है, प्रथम तो न्यायके ग्रन्थोंमें जन साधारणकी रुचि ही नहीं, दूसरे भाषाकी कठिनता "मघवा शब्द बिडौजा टीका" की कहावत चरितार्थ कर देती है। माताजीने इस ग्रन्थमें जितनी सरलता बरतनी चाहिये बरती है। कई स्थानोंपर बोल चाल के शब्द एव प्रान्तीय शब्द आ गये हैं ये सब उनकी सरल एवं सरस प्रकृतिके द्योतक हैं।

अनुवाद विषयक विवरण—

इस मूल ग्रन्थ में जो प्रकरण हैं उनको पृथक पृथक शीर्षक देकर विभाजित किया है, वादी प्रतिवादीके कथनको विभाजित किया है। प्रत्येक प्रकरणके प्रारंभमें तद तद मत संबंधी ग्रन्थका उद्धरण लेकर "पूर्वपक्ष" रखा है जिससे परवादीके मतव्य का अच्छा परिचय हो जाता है।

प्रत्येक प्रकरणके अन्तमें तत्तद् प्रकरण का "सारांश" दिया है जो विद्यार्थियोंको परीक्षामें अत्युपयोगी होगा।

साहित्यिक ग्रन्थ, कथा परक ग्रन्थका अनुवाद सहजरूपसे किया जा सकता है किन्तु न्याय परक ग्रन्थों का अनुवाद सहज नहीं होता। यद्यपि टीकामें रूपान्तरकी मुख्यता है, आधुनिक युगके अनुसार टीका ग्रन्थों जैसा निर्वाह नहीं मिलता किन्तु यह प्रयास श्रेष्ठ है, प्रथम प्रयास है।

मेरी माताजीसे विनम्र प्रार्थना है कि अनुवाद तो संपूर्ण ग्रन्थका हो चुका ही है अतः शेष दो खण्डोंका मुद्रण भी शीघ्र हो जिससे अल्पज्ञोंको आपके ज्ञानका समुचित लाभ मिल सके।

सि० भू० पंडित रतनचंद जैन मुख्तार को मैं बहुत बहुत धन्यवाद देता हूं जिन्होंने इस ग्रन्थको प्रकाशित करवानेमें पूर्ण सहायता दी।

पंडित मूलचंद जैन शास्त्री (महावीरजी) ने संशोधन कार्य को करके जिनवाणी की सेवा की अतः वे बहुत अधिक धन्यवादके पात्र हैं।

गुलाबचन्द जैन
आचार्य
दिगंबर जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर [राजस्थान]

ग्रन्थमाला सम्पादक की कलम से

जैन वाङ्मय में न्याय ग्रन्थों का पठन–पाठन वर्तमान में बहुत ही अल्प मात्रा में है। जिसका प्रमुख कारण यह भी है कि न्याय ग्रन्थों के हिन्दी सरल भाषा में भाषान्तर कम ग्रन्थों के हुए हैं। जिस प्रकार से श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री आदि न्यायसार के महान ग्रन्थ हैं। उसी प्रकार से प्रमेय कमल मार्त्तण्ड का नाम भी विशिष्ट ग्रन्थों में आता है। सन् १९६९–७० की बात है, पूज्य आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमती माता जी अष्टसहस्री ग्रन्थ का अनुवाद कर रही थीं, उसी समय कई बार आपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के अनुवाद के लिए अपनी ज्येष्ठ सुशिष्या श्री जिनमती जी को प्रेरित किया और उसी प्रेरणा के फलस्वरूप आज प्रमेय कमल मार्त्तण्ड का हिन्दी भाषानुवाद पाठकों के हाथ में पहुँच रहा है।

आर्यिका श्री जिनमती माता जी के ज्ञान का इतना विकास किस प्रेरणा का स्रोत है, कि एक न्याय आगम के इतने विशिष्ट ग्रन्थ का भाषानुवाद करने की क्षमता प्राप्त करके साध्वी जगत में अपना नाम विश्रुत कर लिया है। इस सन्दर्भ में पूज्य आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमती माताजी के उपकार को नहीं भुलाया जा सकता।

सन् १९५५ की बात है आर्यिका ज्ञानमती माता जी क्षुल्लिका श्री वीर मती माता जी के पद में थीं–उस समय आप चारित्र चक्रवर्ती आचार्यवर्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की सल्लेखना के समय आचार्य श्री के दर्शनार्थ क्षु० विशाल मती जी के साथ दक्षिण भारत में विहार कर रही थीं, वहीं पर सोलापुर के निकट म्हसवड़ ग्राम जिला सातारा में आपने चातुर्मास किया। चातुर्मास के मध्य अनेक लड़कियाँ पूज्य माता जी से कातंत्र व्याकरण, द्रव्य संग्रह, तत्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर रही थीं। लड़कियों में एक 'प्रभावती' नाम की २० वर्षीया लड़की थीं। जो विवाह नहीं करना चाहती थी। माता जी ने अपने वात्सल्य के प्रभाव से प्रभावती को आकर्षित किया और सन् १९५५ की दीपावली के शुभ दिन वीर प्रभु के निर्वाण दिवस में १० वीं प्रतिमा के व्रत दे दिए।

वहाँ से विहार कर पूज्य माता जी ने प्रभावती को एवं एक और सौभाग्यवती महिला सोनुबाई को साथ लेकर आ० श्री वीर सागर जी के संघ में प्रवेश किया, और स्वयं आर्यिका दीक्षा लेकर ज्ञानमती नाम प्राप्त किया तथा ब्र० प्रभावती को क्षुल्लिका दीक्षा दिलाकर जिनमती नाम करण किया। पूज्य माताजी ने क्षुल्लिका जिनमती को छहढाला, द्रव्य संग्रह से लेकर जिनेन्द्र प्रक्रिया, जैनेन्द्रमहावृत्ति, गोम्मटसार, लब्धिसार, मूलाचार, अनगार धर्मामृत, प्रमेय कमल मार्त्तण्ड, न्याय कुमुद चन्द्र राजवार्तिक आदि प्रारम्भ से लेकर अनेक उच्चतम ग्रन्थों का मूल से अध्ययन कराके निष्णात बना दिया।

संघ में यद्यपि न्याय, व्याकरण आदि ग्रन्थों का पठन–पाठन बहुत ही अल्प मात्रा में होता था। फिर भी न्याय ग्रन्थों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये पूज्य आर्यिका रत्न

श्री ज्ञानमती माता जी को न्याय ग्रन्थों के पठन-पाठन से बड़ा ही प्रेम रहा है, वे अपनी सभी शिष्याओं को न्याय के परीक्षामुख से लेकर अष्टसहस्री आदि उच्चतम ग्रन्थों तक तथा व्याकरण कातंत्र, जैनेन्द्र प्रक्रिया आदि का अध्ययन अवश्य कराती हैं।

सन् १९६१ में सीकर चातुर्मास के मध्य आ० श्री शिवसागरजी के करकमलों से क्षु० जिनमती जी की आर्यिका दीक्षा सोल्लास सम्पन्न हुई। आर्यिका जिनमती जी प्रारम्भ से ही निरन्तर आर्यिका ज्ञानमती माता जी के सान्निध्य में ही ज्ञानार्जन करती रही हैं। सन् १९६२ में पूज्य ज्ञानमती माताजी ने सम्मेद शिखर यात्रा के लिए संघ से अलग प्रस्थान किया, तब आ० पद्मावतीजी आ० जिनमतीजी, आ० आदिमतीजी, क्षु० श्रेयासमतीजी, उनके साथ थीं। यात्रा के प्रवास में भी आपने अपनी शिष्याओं को सदैव अध्ययन में ही व्यस्त रखा है।

१९७० में जिस समय पूज्य आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमती माताजी अष्टसहस्री का अनुवाद कर रही थीं। उस समय जिनमती माताजी ने भी प्रमेय कमल मार्त्तण्ड का अनुवाद प्रारम्भ करके पूर्ण कर दिया था। इस प्रकार आ० जिनमतीजी ने १६ वर्ष तक निरन्तर आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमती माताजी की छत्र छाया में रहकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी निधि को प्राप्त किया है।

वास्तव में कोई माता तो केवल जन्म ही प्रदान करती है लेकिन आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने अपनी सभी शिष्याओं को घर से निकालकर उनको केवल चारित्र पथ पर ही नहीं आरूढ किया है बल्कि उनके ज्ञान का पूर्ण विकास करके निष्णात बनाया है। कई वर्षों से मुझे भी पूज्य माताजी की छत्र छाया में रहने का एवं उनसे कुछ ज्ञानार्जन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कई बार जिनमतीजी ने स्वयं भी कहा है कि गर्भाधान क्रिया से न्यून में ज्ञानमती माताजी ही हमारी सच्ची माता हैं। इनका मेरे ऊपर बहुत उपकार है। स्वामी समंतभद्र ने भगवान को भी माता की उपमा दी है। "मातेव बालस्य हितानुशास्ता" भगवन् आप माता के समान बालकों के लिये हित का अनुशासन करने वाले हैं, वास्तव में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में हाथ पकड़ कर लगाने वाले गुरु ही सच्ची माता हैं।

आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि विद्वद्वर्ग ही नहीं, वरन् समस्त जन समुदाय हिन्दी अनुवाद के द्वारा इस महान ग्रन्थ के विषय को सुगमता से समझ कर अपने ज्ञान को सम्यक् बनाकर भव-भव के दुखों से छूट कर अव्याबाध सुख को प्राप्त करेगा।

इन्हीं शब्दों के साथ परम उपकारी, महान विदुषी, न्याय प्रभाकर आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग रूप महत् गुणों की प्राप्ति हेतु उन्हें अनंत अभिनन्दन करते हैं।

सम्पादक :
मोतीचन्द जैन
रवीन्द्रकुमार जैन

परम पूज्य तपस्वी आचार्यप्रवर

१०८ श्री शिवसागरजी महाराज

तपस्तपति यो नित्य, कृशाङ्गो गुणपीनक: ।
शिवसिन्धुगुरुं वंदे, भव्यजीवहितकरम् ।।

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
वि० सं० १९५८	वि० स० २००१	वि० म० २००६	फाल्गुन अमावस्या
अडग्राम	सिद्धवरकूट	नागौर (राज०)	वि० स० २०२५
(महाराष्ट्र)			श्री महावीरजी

विषय परिचय

प्रथम ही संबंधाभिधेय 'इष्टप्रयोजन, शक्यानुष्ठानादि की तथा मंगलाचरण की चर्चा है अनंतर जरन्नैयायिक प्रमाण के विषय में अपना पक्ष स्थापित करता है। इस ग्रन्थ में प्रमाण तत्वका मुख्यतया विवेचन है। प्रमाण अर्थात् पदार्थों को जानने वाली चीज, इस प्रमाण के विषयमें विभिन्न मतों में विभिन्न ही लक्षण पाया जाता है। नैयायिक कारक साकल्यको प्रमाण मानता है। वैशेषिक सन्निकर्ष को, सांख्य इन्द्रिय वृत्ति को, प्रभाकर (मीमांसक) ज्ञातृ व्यापार को प्रमाण मानते हैं। अतः इन कारक साकल्यादि का आचार्य ने क्रमशः पूर्व पक्ष सहित कथन करके खण्डन किया है। और ज्ञान ही प्रमाण है यह सिद्ध किया है। बौद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्प रूप स्वीकार करता है इसका भी निरसन किया है। शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि आदि प्रमाण को ही नहीं अपितु सारे विश्व को ही शब्दमय मानते हैं इस मत का निरसन करते ही प्रमाण के स्वरूप के समान उसके द्वारा ग्राह्य विषय में विवाद खड़ा होता है। जैन प्रमाण का विषय कथंचित अपूर्व तथा सामान्य विशेषात्मक मानते हैं जो सर्वथा निर्बाध सत्य है। किन्तु एकान्त पक्ष से दूषित बुद्धि वाले मीमांसकादि प्रमाण को सर्वथा अपूर्वार्थका ग्राहक मानते हैं उनको समझाया गया है कि प्रमाण को सर्वथा अपूर्व ग्राहक मानने में क्या २ बाधायें आती हैं। प्रमाण संशय, विपर्यय अनध्यवसाय रहित होता है। विपर्यय ज्ञान के विषय में भी विविध मान्यता है। चार्वाक विपर्यय का अख्याति रूप (अभाव रूप) मानता है। बौद्ध असत् ख्याति रूप, सांख्य प्रसिद्धार्थ ख्याति को, शून्यवादी आत्म ख्याति को तथा ब्रह्मवादी अनिर्वचनीयार्थ ख्याति को विपर्यय ज्ञान कहते हैं। प्रभाकर स्मृति प्रमोष को (याद नहीं रहना) विपर्यय बतलाते हैं । इन सबका निराकरण करके आचार्य ने विपर्यय का विषय विपरीत पदार्थ सिद्ध किया है। जब प्रमाण का विषय कथंचित अपूर्व ऐसा बहिरंग अन्तरंग पदार्थ रूप सिद्ध हुआ तब अद्वैतवादी उसमें सहमत नही हुए, ब्रह्मवादी संपूर्ण विश्व-को ब्रह्ममय, बौद्ध के चार भेदों मे से योगाचार, विज्ञानमय, चित्ररूप और माध्यमिक सर्वथा शून्य रूप मानता है। इनका क्रमशः खण्डन किया है। पुन: ज्ञानको जड़ का धर्म मानने वाले सांख्य और चार्वाक अपना पक्ष रखते हैं। अर्थात् सांख्य ज्ञान को जड़ प्रकृति का गुण मानता है। और चार्वाक पृथिवी आदि भूतों का, अतः इनका खण्डन किया है, तथा ज्ञान को साकार मानने वाले बौद्ध का खण्डन किया है। मीमांसक (भाट्ट) ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानता है। प्रभाकर ज्ञान और आत्मा दोनों को परोक्ष मानता है। नैयायिक ज्ञान को जानने वाला दूसरा ज्ञान होता है। ऐसा मानता है। इस प्रकार ये क्रमशः परोक्ष ज्ञानवादी, आत्म परोक्ष वादी ज्ञानान्तर वेद्य ज्ञानवादी कहलाते हैं। इनका निराकरण करके इस अध्याय के अन्त में मीमांसक के स्वतः प्रमाणवाद का सुविस्तृत विवेचन

सहित खण्डन पाया जाता है । इस प्रकार प्रथम अध्याय में कारक साकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, इन्द्रियवृत्ति, ज्ञातृव्यापार, निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, शब्दाद्वैतवाद, विपर्ययविवाद, स्मृति प्रमोष अपूर्वार्थवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, चित्राद्वैत, शून्याद्वैत, अचेतनज्ञानवाद, साकारज्ञानवाद, भूतचैतन्यवाद, ज्ञानपरोक्षवाद, आत्मपरोक्षवाद, ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवाद, प्रमाण्यवाद इतने प्रकरणों का समावेश है ।

दूसरे अध्याय में प्रत्यक्षैक प्रमाणवाद, प्रमेयद्वैविध्यवाद, नैयायिक, मीमांसक के द्वारा बौद्ध के प्रमाणसख्या का निरसन, मीमांसक के द्वारा उपमा, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण का समर्थन, शक्ति स्वरूप विचार, अभाव प्रमाणका प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अंतर्भाव, मीमांसक के प्रागभाव आदि अभावोंका विस्तृत निरसन, विशद ज्ञानका स्वरूप, चक्षु सन्निकर्षवाद, सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष इन प्रकरणों का समावेश है । अब यहाँ पर इन ३० प्रकरणों का शब्दार्थ और संक्षिप्त भावार्थ बताया जाता है—

कारक साकल्यवाद—कारक-ज्ञानों को करने वाले अर्थात् ज्ञान जिन कारणों से उत्पन्न होता है वे कारक कहलाते हैं । उनका साकल्य अर्थात पूर्णता होना कारक साकल्य है उसको मानना कारकसाकल्यवाद है । इसका प्रतिपादन करने वाले नैयायिक हैं । इनका कहना है कि पदार्थोंको जानने के लिये ज्ञान और अज्ञानरूप दोनों ही सामग्री चाहिये, कर्ता आत्मा तथा ज्ञान बोधरूप सामग्री और प्रकाश आदि अज्ञान-अबोधरूप सामग्री है यही प्रमाण है भावार्थ यह हुआ कि वस्तु का ज्ञान जिन चेतन अचेतन की सहायता से होता है वह सब प्रमाण है ।

सन्निकर्षवाद – स्पर्शनादि इन्द्रियां तथा मन इन छहों द्वारा छूकर ही ज्ञान होता है, सन्निकर्ष अर्थात् स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियां तथा मन भी पदार्थोंका स्पर्श करते हैं । तभी उनका ज्ञान होता है । जो छूना है वह तो प्रमाण है । और पदार्थका जो ज्ञान हुआ वह उस प्रमाण का फल है ऐसा वैशेषिक का कहना है ।

इन्द्रियवृत्ति—"इन्द्रियाणां वृत्तिः, इन्द्रिय वृत्तिः" अर्थात् स्पर्शन आदि इन्द्रियों का पदार्थों को जाननेके लिये जो प्रयत्न होता है, वही प्रमाण है जैसे नेत्र खोलना आदि क्रिया है वह प्रमाण है ।

ज्ञातृ व्यापार—ज्ञाताका पदार्थ को जानने में जो व्यापार [प्रवृति] होता है । वह प्रमाण है । मतलब पदार्थ को जानने के लिये जो हमारी आत्मा में क्रिया होती है उसे प्रमाण कहना चाहिये इस प्रकार मीमांसक (प्रभाकर) कहते हैं ।

निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद—प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वथा कल्पना से रहित निर्विकल्प रहता है अर्थात् यह घट है इत्यादि वस्तु विवेचनसे रहित जो कुछ ज्ञान है जिसमें शब्द योजना नहीं है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । ऐसी बौद्धों की धारणा है ।

शब्दाद्वैतवाद—शब्द-अद्वैत-वाद शब्द मात्र जगत है शब्द से अन्य दूसरा कुछ नहीं ऐसा मानना शब्दाद्वैतवाद है। इस मतके प्रतिष्ठापक भर्तृहरि का कहना है कि जगत के दृश्यमान और अदृश्यमान सभी पदार्थ शब्दमय हैं। ज्ञान, ज्ञेय या प्रमाण प्रमेय आदि सब कुछ शब्दरूप ही तत्व हैं।

विपर्यय ज्ञान विचार—किसी वस्तु का सदृशता आदि कारणों से विपरीत ज्ञान होना विपर्यय ज्ञान है। इस ज्ञान के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं।

स्मृति प्रमोष—विपर्यय ज्ञान को ही प्रभाकर स्मृतिप्रमोषरूप अर्थात् स्मृति नष्ट होना रूप मानते हैं।

अपूर्वार्थवाद—प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्व किसी भी प्रमाण के द्वारा नहीं जाना हुआ ऐसा नवीन ही हुआ करता है। ऐसा मीमांसक का मत है। उसको खंडित करके प्रमाण कथंचित अपूर्व विषयवाला होता है। इस प्रकार सिद्ध किया है।

ब्रह्माद्वैतवाद—ब्रह्ममय (चेतनमय) जगत है, एक ब्रह्म को छोड़कर दूसरा पदार्थ ही संसार में नहीं है, परम ब्रह्म सर्वत्र व्यापक अत्यन्त सूक्ष्म है, और उसी के ये सभी दृश्य पदार्थ विवर्त हैं। जड़ कहलाने वाले पदार्थ भी ब्रह्ममय हैं। ऐसा ब्रह्मवादी का कहना है।

विज्ञानाद्वैत—बौद्ध का एक भेद योगाचार का कहना है कि एक ज्ञान मात्र तत्त्व है और कुछ भी नहीं, यह दिखाई देने वाले नाना पदार्थ मात्र कल्पना जाल है। अनादि अविद्याके कारण यह सब पदार्थ मालूम पड़ते हैं, किन्तु वास्तविक तो विज्ञान ही एक मात्र वस्तु है। उसी का ज्ञेयाकार रूप से ग्रहण हुआ करता है।

चित्राद्वैत—ज्ञान में अनेक आकार हैं। वही सब कुछ है, अन्य नहीं ऐसा बौद्ध के कुछ भाई प्रतिपादन करते हैं।

शून्याद्वैत—बौद्ध का चौथा भेद माध्यमिक शून्यवादी है, वह तो अपने अन्य बौद्ध भाई से आगे बढ़ कर कहता है कि विज्ञानरूप तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो पाता अतः सर्वशून्यता माननी चाहिये।

अचेतनज्ञानवाद—ज्ञान अचेतन है, क्योंकि वह प्रकृति का धर्म है। ऐसा सांख्य प्रतिपादन करते हैं। आत्मा मात्र चेतन है निराकार है। अतः उसमें यह घट आदि का आकार रूप ज्ञान रह नहीं सकता आत्मा अमूर्तिक है इसलिये भी आत्मा में ज्ञान नहीं रहता ऐसा इनका हठाग्रह है।

साकारज्ञानवाद—ज्ञान में नील, पीत आदि आकार होते हैं। ज्ञान घट आदि पदार्थ से उत्पन्न होकर उसका आकार ग्रहण करता है ऐसा बौद्धका कहना है।

भूतचैतन्यवाद—भूतचतुष्टय (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) से जीव पैदा होता है और उसमें ज्ञान रहता है । अर्थात् ज्ञान पृथ्वी आदि जड़ तत्वों का ही कार्य है। उन्हीं से जीव सहित शरीरादिक उत्पन्न हुआ करते हैं ऐसा चार्वाकका कहना है ।

ज्ञानपरोक्षवाद—ज्ञान सर्वथा परोक्ष रहता है । सिर्फ उसके द्वारा जाने हुए पदार्थ साक्षात् होते हैं । इस प्रकार भाट्ट मीमांसक कहते हैं ।

आत्मपरोक्षवाद—प्रभाकर नामा मीमांसक ज्ञान के साथ-साथ आत्मा को भी अर्थात् करणस्वरूपज्ञान और कर्तारूप आत्मा इन दोनों को सर्वथा परोक्ष मानते हैं अत: ये आत्मपरोक्षवादी कहलाते हैं ।

ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवाद—नैयायिक ज्ञानको अन्यज्ञानके द्वारा जानने योग्य बतलाते हैं । पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान है और उसको जाननेवाला दूसराज्ञान है । क्योंकि अपने आपमें क्रिया नहीं होती एवं एक ज्ञान एकही वस्तुको जान सकता है ऐसा इनका हटाग्रह है ।

प्रामाण्यवाद—प्रमाणमें प्रामाण्य (सचाई) एकांत से स्वत: ही आती है ऐसा मीमांसक प्रतिपादन करते हैं । इसका सुविस्तृत पूर्व पक्ष सहित विवेचन विंशतितम प्रकरण में होकर प्रथम परिच्छेद समाप्त होता है ।

प्रत्यक्षैक प्रमाणवाद – चार्वाक के प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानने का खंडन इस प्रकरण में है।

प्रमेय द्वैविध्यवाद – स्वलक्षण और सामान्य इस प्रकार दो प्रकार का प्रमेय है । अत: उनको जानने वाले प्रमाण में भेद हुआ है । स्वलक्षण को प्रत्यक्ष और सामान्य को अनुमान विषय करता है ऐसा बौद्ध कहते हैं ।

प्रमाणसंख्याविवाद—जब बौद्ध ने दो प्रमाणों का प्रतिपादन किया तब नैयायिक मीमांसक अपने उपमान आदि प्रमाणों का विवेचन करते हैं और बौद्ध के प्रत्यक्ष और अनुमान इस प्रकार की प्रमाण संख्या का विघटन कर डालते हैं ।

अर्थापत्ति आदि का वर्णन—इस प्रकरण में मीमांसक ने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक ग्रन्थ के आधार से अर्थापत्ति, उपमा और अभाव प्रमाण का वर्णन करके इनको पृथक प्रमाण सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है ।

शक्तिस्वरूपविचार—नैयायिक पदार्थों में अतीन्द्रियशक्तिको नहीं मानते अतः इसका पूर्व पक्ष सहित कथन करके द्रव्य शक्ति और पर्याय शक्ति का बहुत ही अधिक महत्वशाली वर्णन इस प्रकरण में पाया जाता है ।

अभावप्रमाणका प्रत्यक्षादि में अन्तर्भाव—मीमांसक के अभाव प्रमाण का यथा योग्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में किस प्रकार समावेश होता है। इसका प्रतिपादन कर आचार्य ने सभी प्रवादी के प्रमाण संख्या का खण्डन करके प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार दो ही प्रमुख प्रमाण हैं। यह सिद्ध किया है, परोक्ष प्रमाण में अनुमान, आगम आदि प्रमाणों का भली प्रकार से समावेश होता है। तथा मीमांसक के अर्थापत्ति का अनुमान में और उपमान का प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव करके प्रमाण संख्या का निर्णय किया है।

प्रागभावादि का विवेचन—मीमांसक के प्रागभाव आदि चारों अभावों का लक्षण सदोष बतलाकर जैन सिद्धांतानुसार इनके लक्षणका प्रणयन इस प्रकरणमें पाया जाता है।

विशदत्वविचार—बौद्ध विशद और अविशद धर्मों को पदार्थ का स्वभाव बतलाते हैं सो उसका निरसन कर ज्ञान में विशदत्व और अविशदत्व स्वभाव होता है ऐसा सिद्ध किया है।

चक्षु: सन्निकर्षवाद—स्पर्शन आदि इन्द्रियों की तरह नेत्र भी पदार्थ को छूकर ही बोध कराते हैं। ऐसा नैयायिकादि का कहना है सो इसका खण्डन किया है।

सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष—इन्द्रियां और मन से होने वाले एक देश विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसका कथन करते हुए योग के "पृथ्वी" आदि एक-एक भूत से एक घ्राणादि इन्द्रियां बनती है ऐसे मत का निरसन किया है और बतलाया है कि "स्पर्शनादि इन्द्रियां पुद्गल द्रव्य से निर्मित हैं।" पृथ्वी आदि चारों पदार्थों में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण चारों ही गुण मौजूद हैं। इस प्रकार "श्री माणिक्यनंदी विरचित परीक्षा मुख ग्रन्थ की बृहत् काय टीका स्वरूप प्रमेय कमल मार्त्तण्ड में प्रमाण का वर्णन बहुत ही विस्तृत किया गया है। इसके प्रथम भाग में परीक्षा मुख के प्रथम अध्याय के १३ और द्वितीय अध्याय के ५ कुल १८ सूत्रों का विवेचन है। श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमाण के लक्षण में जो विविध मान्यता है उसका अस्खलित रूप से खण्डन किया है। और स्याद्वादवाणीसे उसका निर्दोष लक्षण तथा भेद, आदि अन्य विषयों का वर्णन किया है।

प्रथम खंड में आगत–परीक्षामुख के सूत्र

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥१॥

१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।

२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।

३ तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ।

४ अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ।

५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।

६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ।

७ अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।

८ घटमहमात्मना वेद्मि ।

९ कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ।

१० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।

११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थ मध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ।

१२ प्रदीपवत् ।

१३ तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।

॥ द्वितीयः परिच्छेदः ॥

१ तद् द्वेधा

२ प्रत्यक्षेतरभेदात् ।

३ विशदं प्रत्यक्षम् ।

४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।

५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ।

विषयानुक्रमणिका

स्वसंवेदन ज्ञानवाद [मीमांसक] ३२२–३३९

आत्माप्रत्यक्षत्ववाद (मीमांसक) ३४१-३५४

परमपूज्या, विदुषी, न्याय प्रभाकर, आर्यिका रत्न, १०५ श्री ज्ञानमती माताजी
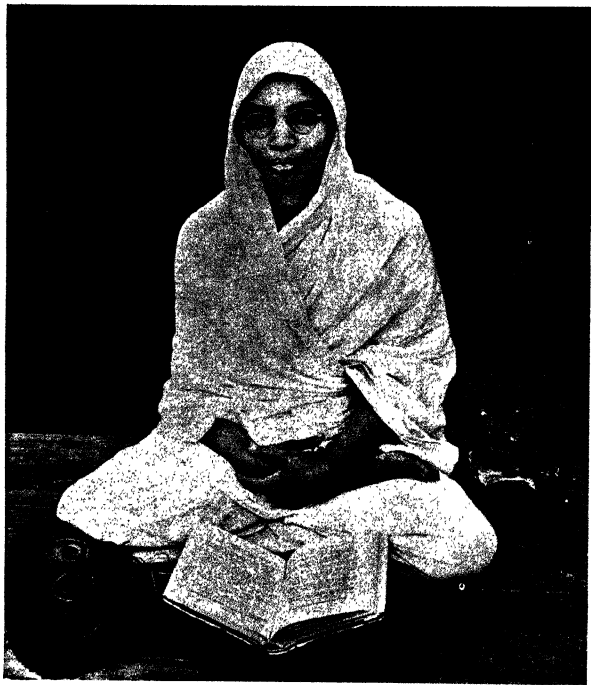
भव्य जीव हितंकारीं, विदुषी मातृवत्सलाम् । वन्दे ज्ञानमती मार्यां, प्रमुखां सुप्रभाविकाम् ।।

जन्म :	क्षुल्लिका दीक्षा :	आर्यिका दीक्षा :
शरद् पूर्णिमा	चैत्र कृष्णा १	वैसाख कृष्णा २
वि० सं० १९९१	वि० सं० २००९	वि० स० २०१३

समर्पण

जिन्होंने अज्ञान और मोहरूपी अंधकार में पड़े हुए मुझको सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्व स्वरूप प्रकाश पुंज दिया एवं चारित्र युक्त कराया, जो मेरी गर्भाधान क्रिया विहीन जननी हैं, गुरु हैं, जो स्वयं रत्नत्रय से अलंकृत हैं और जिन्होंने अनेकानेक बालक बालिकाओंको कौमार व्रतसे तथा रत्नत्रयसे अलंकृत किया है, जिनकी बुद्धि, विद्या, प्रतिभा और जिनशासन प्रभावक कार्योंका माप दंड लगाना अशक्य है उन आर्यिका रत्न, महान विदुषी, न्याय प्रभाकर परम पूज्या १०५ ज्ञानमती माताजी के पुनीत कर कमलोंमें अनन्य श्रद्धा, भक्ति और वंदामिके साथ यह ग्रन्थ सादर समर्पित है।

—आर्यिका जिनमती

* मंगलस्तवः *

वर्द्धमानं जिनं नौमि घाति कर्मक्षयंकरम् ।
वर्द्धमानं वर्त्तमाने तीर्थं यस्य सुखंकरम् ॥१॥
श्री सर्वज्ञमुखोत्पन्ने ! भव्य जीव हित प्रदे ।
श्री शारदे ! नमस्तुभ्य माद्यंत परिवर्जिते ॥२॥
मूलोत्तर गुणाढ्या ये जैनशासन वर्द्धकाः ।
निर्ग्रन्थाः पाणि पात्रास्ते पुष्यन्तु नः समीहितम् ॥३॥
माणिक्यनन्दि नामानं गुण माणिक्य मण्डितम् ।
वन्दे ग्रन्थः कृतो येन परीक्षामुख संज्ञकः ॥४॥
प्रभाचन्द्र मुनिस्तस्य टीकां चक्रे सुविस्तृताम् ।
मयाभिवन्द्यते सोऽद्य विघ्ननाशन हेतवे ॥५॥
पञ्चेन्द्रिय सुनिर्दान्तं पञ्चसंसार भीरुकम् ।
शान्तिसागर नामानं सूरिं वन्देऽघनाशकम् ॥६॥
वीर सिन्धु गुरुं स्तौमि सूरि गुण विभूषितम् ।
यस्य पादयोर्लब्धं मे क्षुल्लिका व्रत निश्चलम् ॥७॥
तपस्तपति यो नित्यं कृशांगो गुण पीनकः ।
शिवसिन्धु गुरुं वन्दे महाव्रतप्रदायिनम् ॥८॥
धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने ।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशुद्धितः ॥९॥
नाम्नीं ज्ञानमती मार्यां जगन्मान्यां प्रभाविकाम् ।
भव्य जीव हितंकारीं विदुषीं मातृवत्सलां ॥१०॥
अस्मिन्नपार संसारे मज्जन्तीं मां सुनिर्भरम् ।
ययावलंबनं दत्तं मातरं तां नमाम्यहम् ॥११॥
पार्श्वे ज्ञानमती मातुः पठित्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
संप्राप्तं यन्मया ज्ञानं कोटि जन्म सुदुर्लभम् ॥१२॥
तत्प्रसादादहो कुर्वे, देशभाषानुवादनम् ।
नाम्नः प्रमेय कमल, मार्त्तण्डस्य सुविस्तृतम् ॥१३॥

श्रीमाणिक्यनन्द्याचार्यविरचित-परीक्षामुखसूत्रस्य व्याख्यारूपः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

प्रमेयकमलमार्त्तण्डः

श्रीस्याद्वादविद्यायै नमः ।

सिद्धेर्धाम महारिमोहहननं कीर्त्तेः परं मन्दिरम्,
मिथ्यात्वप्रतिपक्षमक्षयमुखं सशीतिविध्वसनम् ।
सर्वप्राणिहितं प्रभेन्दुभवनं सिद्धं प्रमालक्षणम्,
संतश्चेतसि चिन्तयंतु सुधियः श्रीवर्द्धमान जिनम् ।। १ ।।

---

* मंगलाचरण *

श्री माणिक्यनंदी आचार्य द्वारा विरचित परीक्षामुखनामा सूत्रग्रन्थ की टीका करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य सर्व प्रथम जिनेन्द्रस्तोत्रस्वरूप मंगलश्लोक कहते हैं— कि जो सिद्धिमोक्ष के स्थानस्वरूप हैं, मोहरूपी महाशत्रु का नाश करने वाले हैं, कीर्तिदेवी के निवास मंदिर हैं अर्थात् कीर्तिसंयुक्त हैं, मिथ्यात्व के प्रतिपक्षी हैं, अक्षय सुख के भोक्ता हैं, संशय का नाश करने वाले हैं, सभी जीवों के लिये हितकारक हैं, कान्ति के स्थान हैं, अष्ट कर्मों का नाश करने से सिद्ध हैं तथा ज्ञान ही जिनका लक्षण है अर्थात् केवलज्ञान के धारक हैं ऐसे श्री वर्द्धमान भगवान् का बुद्धिमान् सज्जन निज मन में ध्यान करें-चिन्तवन करें ।

टिप्पणी के आधार से इस मंगलाचरण का अन्य दो प्रकार से भी अर्थ हो सकता है अर्थात् यह मंगलश्लोक अर्हन्तदेव, शास्त्र तथा गुरु इन तीनों की स्तुति स्वरूप है, इनमें से प्रथम अर्थ श्री अर्हन्तपरमेष्ठी वर्द्धमान स्वामी को विशेष्य करके संपन्न हुआ अब शास्त्र (अथवा यह प्रमेयकमल मार्तण्ड) की स्तुतिरूप दूसरा अर्थ

शास्त्रं करोमि वरमल्पतरावबोधो
माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात् ।
अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीयां-
ल्लोकस्य भानुकरविस्फुरिताद्गवाक्षः ॥ २ ॥

बताते हैं—विद्वान् सज्जन पुरुष जिन शास्त्र का अपने हृदय में मनन करें, कैसा है शास्त्र—सिद्धिका स्थान है अर्थात् भव्यजीवों को मुक्ति के लिये हेतुभूत है, मोहरूपी शत्रु का कषायों का हनन करने वाला है, कीर्तिप्राप्ति का एक अद्वितीय स्थान है, मिथ्यात्व का प्रतिपक्षी-अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में निमित्तभूत है, अक्षयसुख का मार्गदर्शक होने से अक्षयसुखस्वरूप है, समस्त शंकाओं को दूर करने वाला है, समस्त प्राणिगण का हितकारी है, प्रभाव-तेज के करने में निमित्त एवं प्रमा-ज्ञान-प्राप्ति में कारण है ऐसा शास्त्र होता है।

गुरुस्तुतिरूप तीसरा अर्थ—एकदेश जिन अर्थात् गुरु जो कि सिद्धि का धाम बतलाने वाले या उस मार्ग पर चलने वाले होने से सिद्धिधाम है, अथवा जीवों के मनोवांछित कार्य की सिद्धि कराने वाले होने से सिद्धि के स्थान स्वरूप हैं, मोह शत्रु का नाश अर्थात् अनतानुबंधी आदि १२ कषायों का उपशमन आदि करनेवाले, कीर्ति के स्थान अर्थात् जिनका यश सर्वत्र फैल रहा है, मिथ्यात्व के प्रतिपक्षी मतलब अपनी वाणी तथा लेखनी के द्वारा मतांतररूप मिथ्यात्व का विध्वंस करने वाले, तथा स्वयं सम्यग्दर्शन संयुक्त, तेजयुक्त, प्रमालक्षण अर्थात् प्रमाण का लक्षण करने में निपुण और प्राणियों के हितचिंतक ऐसे श्री गुरुदेव होते हैं, उनका सब लोग चिन्तवन करें। १॥

अब श्री प्रभाचन्द्राचार्य अपनी गुरुभक्ति प्रकट करते हैं तथा सज्जन दुर्जन के विषय में प्रतिपादन करते हैं—

श्लोकार्थ—अल्पबुद्धिवाला मैं प्रभाचन्द्राचार्य श्री माणिक्यनंदी गुरु के चरण-कमल के प्रसाद से श्रेष्ठ इस प्रमेय अर्थात् विश्व के पदार्थ वे ही हुए कमल उन्हें विकसित करने में मार्तण्ड-सूर्यस्वरूप ऐसे इस शास्त्र को करता हूं, ठीक ही है, देखो जगत में छोटा सा झरोखा भी सूर्यकिरणों से दृष्टिगोचर पदार्थों को स्पष्ट नहीं करता है क्या? अर्थात् करता ही है, वैसे ही मैं कमबुद्धिवाला होकर भी गुरुप्रसाद से शास्त्र की रचना करने में समर्थ होऊंगा ॥२॥

ये नूनं प्रथयन्ति नोऽसमगुणा मोहादवज्ञां जनाः,
ते तिष्ठन्तु न तान्प्रति प्रयतितः प्रारभ्यते प्रक्रमः ।
संतः सन्ति गुणानुरागमनसो ये धीधनास्तान्प्रति,
प्रायः शास्त्रकृतो यदत्र हृदये वृत्तं तदाख्यायते ।। ३ ।।

त्यजति न विदधानः कार्यमुद्विज्य धीमान्
खलजनपरिवृत्तेः स्पर्धते किन्तु तेन ।
किमु न वितनुतेऽर्कः पद्मबोधं प्रबुद्ध-
स्तदपहृतिविधायी शीतरश्मिर्यदीह ।। ४ ।।

अजडमदोषं दृष्ट्वा मित्रं सुश्रीकमुद्यतमतुष्यत् ।
विपरीतबन्धुसङ्गतिमुद्गिरति हि कुवलयं किं न ।। ५ ।।

इस संसार में यद्यपि बहुत से पुरुष मोहबहुलता के कारण ईर्ष्यालु-गुणों को सहन नहीं करने वाले अथवा वक्रबुद्धिवाले हैं। वे इस ग्रंथ की अवज्ञा करेंगे; सो वे रहे आवें, हमने यह रचना उनके लिए प्रारम्भ नहीं की है, किन्तु जो बुद्धिमान् गुणानुरागी हैं उनके लिये यह माणिक्यनंदी के परीक्षामुख ग्रंथकी टीका प्रवृत्त हुई है ।।३।।

जो बुद्धिमान् होते हैं वे प्रारब्ध कार्य को दुष्ट पुरुषों की दुष्टता से घबड़ाकर नहीं छोड़ते हैं, किन्तु और भी अच्छी तरह से कार्य करने की स्पर्द्धा करते हैं, देखिए— चन्द्र कमलों को मुरझा देता है तो भी क्या सूर्य पुनः कमलों को विकसित नहीं करता अर्थात् करता ही है ।।४।।

अजड़, निर्दोष, शोभायुक्त ऐसे मित्र को देखकर क्या जगत् के जीव विपरीत संगति को नहीं छोड़ते हैं ? अर्थात् छोड़ते ही हैं, अथवा सूर्य के पक्ष में-जो अजल-जल से नहीं हुआ, निर्दोष–रात्रि से युक्त नहीं, तेजयुक्त है ऐसे सूर्य के उदय को देखकर भी कुवलय–रात्रिविकासी कमल अपनी विपरीतबन्धु संगति को अर्थात् चन्द्रमा की संगति को नहीं बतलाता है क्या ? अर्थात् सूर्य उदित होने पर भी कुमुद संतुष्ट नहीं हुआ तो मालूम पड़ता है कि इस कुमुद ने सूर्य के विपक्षी चन्द्र की संगति की है, इसी प्रकार सज्जन के साथ कोई व्यक्ति दुष्टता या ईर्ष्या करे तो मालूम होता है कि इसने दुष्ट की संगति की है ।।५।।

श्रीमदकलङ्कार्थोऽव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतलामलकवत् तदर्थमुद्धृत्य प्रतिपादयितुकामस्तत्परिज्ञानानुग्रहेच्छाप्रेरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रवणं प्रकरणमिदमाचार्यः प्राह। तत्र प्रकरणस्य सम्बन्धाभिधेयरहितत्वाशङ्कापनोदार्थं तदभिधेयस्य चाऽप्रयोजनवत्त्वपरिहारानभिमतप्रयोजनवत्त्वव्युदासाशक्यानुष्ठानत्वनिराकरणदक्षमक्षुण्णसकलशास्त्रार्थसग्रहसमर्थं 'प्रमाण' इत्यादिश्लोकमाह—

भावार्थ—यहां पर प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रसिद्ध कवि परंपरा के अनुसार परीक्षामुख सूत्र की टीका स्वरूप प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ की रचना के शुरुआत में सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निंदा का वर्णन श्लोक नं० ३-४-५ मे किया है, इन श्लोकों का सारांश यह है कि इस जगत मे मोहनीय कर्म के उदय के वशवर्ती-जीव दूसरों के गुणों को सहन नहीं करते हैं, गुणों में भी दोषों का आरोप करते हैं, किन्तु बुद्धिमान अपने प्रारब्ध किये हुए सत्कार्य को नहीं छोड़ते हैं, रात्रि में कमल मुरझाते हैं इसलिए सूर्य कमलों को विकसित न करे सो बात नहीं है। सज्जनों का कार्य निर्दोष विवेकपूर्ण तथा सुन्दर होता है तो भी दुर्जन उनकी उपेक्षा करके उल्टे निंदा ही करते हैं, किन्तु ऐसा करने से इन्हीं दुर्जनों की दुर्जनता प्रकट होती है, जैसे कि निर्दोष प्रकाशमान श्रीयुक्त सूर्य उदित होते हुए भी यदि कुमुद (रात्रिविकासी कमल) खिलते नहीं हैं तो इसीसे उन कुमुदों की सदोषता अर्थात् रात्रि में खिलना सिद्ध होता है।

श्री अकलंक आचार्य द्वारा कहे हुए जो ग्रन्थ हैं वे अति गहन गंभीर अर्थवाले हैं, उन्हें अल्पबुद्धिवाले व्यक्ति समझ नहीं सकते, अतः उन्हें वे समझ में आजावें इसलिये तथा उनकी बुद्धि विकसित होने के लिये हाथ में रखे हुए आंवले के समान स्पष्टरूप से उन्हीं अकलंक के अर्थ को लेकर प्रतिपादन करने की इच्छा को रखने वाले, आचार्य अकलंकदेव के न्यायग्रन्थ का विशेषज्ञान तथा शिष्योंका अनुग्रह करने की इच्छा से प्रेरित होकर उस न्याय ग्रंथ के अर्थ का प्रतिपादन करने में दक्ष ऐसे इस प्रकरण को अर्थात् परीक्षा मुख सूत्रको माणिक्यनंदी आचार्य कहते हैं।

शास्त्र की शुरुवात करते समय संबंधाभिधेय रहित की शंका को दूर करने के लिये अर्थात् शास्त्र में संबंधाभिधेय है इस बात को कहते हुए तथा अप्रयोजन का परिहार और अनभिमत प्रयोजनव्युदास-यह शास्त्र अप्रयोजनभूत हो या अनिष्ट प्रयोजनवाला हो ऐसी शका को दूर करते हुए और अशक्यानुष्ठान का निराकरण करने में चतुर संपूर्ण शास्त्र के अर्थ को संग्रह करने में समर्थ ऐसे प्रथम श्लोक को माणिक्यनदी आचार्य कहते है।

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥१॥

सम्बन्धाभिधेयशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति हि शास्त्राणि प्रेक्षावद्भिरादिृयन्ते नेतराणि-सम्बधाभिधेयरहितस्योन्मत्तादिवाक्यवत्; तद्वतोऽप्यप्रयोजनवत: काकदन्तपरीक्षावत्; अनभिमतप्रयोजनवतो

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥१॥

प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है और प्रमाणाभास से विपर्यय-अर्थ की सिद्धि नहीं होती है, इसलिये उन दोनों का याने प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण जो कि पूर्वाचार्य प्रणीत है तथा जिसमें अल्प अक्षर हैं ऐसे लक्षण को अल्पबुद्धिवाले भव्यजीवों के लिये कहूंगा—

भावार्थ—श्री माणिक्यनंदी आचार्य ने परीक्षामुख नामक ग्रन्थ को सूत्र बद्ध रचा है, इस ग्रन्थ के प्रारंभ में मंगल स्वरूप मंगलाचरण श्लोक कहा है, उसमें अपने ग्रन्थ रचना के विषय में दो विशेषण दिये हैं, एक अल्पम् और दूसरा सिद्धम्, यह ग्रन्थ सूत्र-रूप है और सूत्र का लक्षण श्लोक—अल्पाक्षरमसंदिग्धं, सारवद्विश्वतो मुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदु: ॥१॥ जिसमें अक्षर थोड़े हों जो संशय रहित हो, सारभूत हो, जगत्प्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से युक्त हो अर्थात् जिसमें जगत् प्रसिद्ध पदों का प्रयोग हो, विस्तृत न हो और निर्दोष हो ऐसी ग्रन्थ रचना या शब्द रचना को सूत्रों के जानने वालों ने सूत्र कहा है । इस प्रकार का सूत्र का लक्षण इस परीक्षामुख ग्रन्थ में पूर्णरूप से मौजूद है, अत: श्री माणिक्यनंदी आचार्य ने अपने इस मंगलाचरणरूप प्रथम श्लोक में कहा है कि मैं अल्प में—अल्पाक्षररूप में ही इस ग्रन्थ की रचना करूंगा । दूसरा विशेषण "सिद्धम्" है, यह विशेषण ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सिद्ध करता है, अर्थात् श्री माणिक्यनंदी आचार्य कहते हैं कि मैं जो भी ग्रन्थ रचना करूंगा उसमें सभी प्रकरण पूर्वाचार्य प्रसिद्ध ही रहेंगे मैं अपनी तरफ से नहीं लिखूंगा, इस प्रकार आचार्य ने अपनी लघुता और ग्रन्थ की प्रामाणिकता बतलाई है ।

शास्त्र संबंधाभिधेय, शक्यानुष्ठान, और इष्ट प्रयोजन से युक्त हुआ करते हैं उन्हीं का बुद्धिमान् आदर करते हैं, अन्य का नहीं, जैसे उन्मत्त पुरुष के संबध रहित

वा मातृविवाहोपदेशवत्; अशक्यानुष्ठानस्य वा सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत् तैरनादरणीयत्वात्। तदुक्तम्—

> सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोता श्रोतुं प्रवर्तते।
> शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥ १ ॥
> [मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १७]
>
> सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
> यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यताम् ॥ २ ॥
> [मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १२]

वाक्य का आदर नहीं होता है। तथा संबंध युक्त भी अप्रयोजनी भूत वाक्य काकके दांत की परीक्षा करने वाले वचन के समान बेकार—अनादरणीय होते हैं, अनभिमत प्रयोजन को करने वाले वाक्य तो मातृ विवाहोपदेश के समान अयोग्य होते हैं। तथा सर्व प्रकार के बुखार को दूर करने वाला नागफणास्थित मणिके द्वारा रचे हुए अलंकार के वचन समान अशक्यानुष्ठानरूप वचन सज्जनों के आदर योग्य नहीं होते हैं। मतलब यह हुआ कि संबंध रहित वाक्य से कुछ प्रयोजन नहीं निकलता जैसे-दश अनार, छः पूए इत्यादि संबंध युक्त होकर भी यदि वह प्रयोजन रहित हो तो वह भी उपयोगी नहीं है-जैसे-कौवा के कितने दांत हैं इत्यादि कथन कुछ उपयोगी नहीं रहता है। प्रयोजन भी इष्ट हो किन्तु उसका करना शक्य न हो तो वह अशक्यानुष्ठान कहलाता है जैसे—नाग के फणा का मणि सब प्रकार के ज्वरको दूर करने वाला होने से इष्ट तो है किन्तु उसे प्राप्त करना अशक्य है सो इस चार प्रकार के संबंधाभिधेय रहित, अनिष्ट, प्रयोजनरहित तथा अशक्यानुष्ठान स्वरूप जो वाक्य रचना होती है उसका बुद्धिमान लोग आदर नहीं करते हैं, अतः ग्रन्थ इन दोषों से रहित होना चाहिये। अब यहां उन्हीं संबंधादिक के विषय का वर्णन मीमांसक के मीमांसा श्लोकवार्तिक का उद्धरण देकर करते हैं—

जिसका अर्थ प्रमाण से सिद्ध है ऐसे संबंधवाले वाक्यों को सुनने के लिये श्रोतागण प्रवृत्त होते हैं, अतः शास्त्र की आदि में ही प्रयोजन सहित संबंध को कहना चाहिये ॥ १ ॥

शास्त्र हो चाहे कोई क्रियानुष्ठान हो जब तक उसका प्रयोजन नही बताया है तब तक उसे ग्रहण कौन करेगा ॥२॥

अनिर्दिष्टफलं सर्वं न प्रेक्षापूर्वकारिभिः ।
शास्त्रमाद्रियते तेन वाच्यमग्रे प्रयोजनम् ॥ ३ ॥
[ ]
शास्त्रस्य तु फले ज्ञाते तत्प्राप्त्याशावशीकृताः ।
प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते तेन वाच्यं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥
[ ]
यावत् प्रयोजनेनास्यसम्बन्धो नाभिधीयते ।
असम्बद्धप्रलापित्वाद्भवेत्तावदसङ्गतिः ॥५॥
[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० २०]
तस्माद् व्याख्याङ्गमिच्छद्भिः सहेतुः सप्रयोजनः ।
शास्त्रावतारसम्बन्धोवाच्यो नान्योऽस्ति निष्फलः ॥६॥इति ।
[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० २५]

तत्रास्य प्रकरणस्य प्रमाणतदाभासयोर्लक्षणमभिधेयम् । अनेन च सहास्य प्रतिपाद्यप्रतिपादक-भावलक्षणः सम्बन्धः । शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनं तु साक्षात्तल्लक्षणव्युत्पत्तिरेव-'इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म'

जिसका फल नही बताया है ऐसे सब प्रकार के ही शास्त्रों का बुद्धिमान् आदर नहीं करते हैं, इसलिए शुरु में ही प्रयोजन बताना चाहिए ॥३॥

शास्त्र का प्रयोजन जब मालूम पड़ता है तब उस फल की प्राप्ति की आशा से युक्त हुए विद्वद्गण उस शास्त्र को पढ़ने–ग्रहण करने में प्रवृत्त होते हैं, अतः प्रयोजन अवश्य कहना होगा ॥४॥

जब तक इस वाक्य का यह वाच्य–पदार्थ है और यह फल है ऐसा संबंध नहीं जोड़ा जाता है तब तक वह वाक्य असंबद्ध प्रलाप स्वरूप होने से अयोग्य ही कहलाता है ॥५॥

इसलिए जो ग्रन्थकर्ता शास्त्रव्याख्यान करना चाहते हैं उनको उस शास्त्र का कारण, प्रयोजन–फल तथा शक्यानुष्ठानादि सभी कहने होगे, अन्यथा वह ग्रन्थ निष्फल हो जावेगा ॥६॥

इन संबंधादिके विषयों में से इस प्रकरण अर्थात् परीक्षामुख ग्रन्थ का प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण कहना यही अभिधेय है, इसका इसके साथ प्रतिपाद्य

इत्यनेनाऽभिधीयते । 'प्रमाणादर्थसंसिद्धिः' इत्यादिकं तु परम्परयेति समुदायार्थः। अथेदानीं व्युत्पत्तिद्वारेणाऽवयवार्थोऽभिधीयते । अत्र प्रमाणशब्दः कर्तृकरणभावसाधनः-द्रव्यपर्याययोर्भेदाऽभेदात्मकत्वात् स्वातन्त्र्यसाधकतमत्वादिविवक्षापेक्षयात्र्द्भावाऽविरोधात् । तत्र क्षयोपशमविशेषवशात्-'स्वपरप्रमेयस्वरूपं प्रमिमीते यथावज्जानाति' इति प्रमाणमात्मा, स्वपरग्रहणपरिण तस्यापरतन्त्रस्याऽऽत्मन एव हि कर्तृसाधनप्रमाणशब्देनाभिधानं,स्वातन्त्र्येण विवक्षितत्वात्-स्वपरप्रकाशात्मकस्य प्रदीपादेः प्रकाशाभिधानवत् । साधकतमत्वादिविवक्षायां तु—प्रमीयते येन तत्प्रमाणं प्रमितिमात्रं वा-प्रतिबन्धापाये प्रादुर्भूतविज्ञानपर्यायस्य प्राधान्येनाश्रयणात् प्रदीपादेः प्रभाभारात्मकप्रकाशवत् ।

प्रतिपादकभाववाला संबंध है, इसमें शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजन तो यही है कि प्रमाण और तदाभास के जानने में निपुणता प्राप्त होना इस बात को "वक्ष्ये" कहूंगा इस पद के द्वारा प्रकट किया है इसका साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति होना है, प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है इत्यादि पदों से तो इस ग्रन्थका परंपरा फल दिखाया गया है, इस प्रकार प्रथम श्लोक का समुदाय अर्थ हुआ, अब एक एक पदों का अवयवरूप से उनकी व्याकरण से व्युत्पत्ति दिखलाते हैं, इस श्लोक में जो प्रमाणपद है वह कर्तृ साधन, करणसाधन, भावसाधन इन तीन प्रकारों से निष्पन्न है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय दोनों ही आपस में कथंचित् भेदा-भेदात्मक होते हैं। स्वातन्त्र्य विवक्षा, साधकतमविवक्षा और भावविवक्षा होने से तीनों प्रकार से प्रमाण शब्द बनने में कोई विरोध नहीं आता है। कर्तृसाधन स्वातन्त्र्य विवक्षा से प्रमाण शब्द की निष्पत्ति कहते हैं—क्षयोपशम के विशेष होने से अपने को और पर रूप प्रमेय को जैसा का तैसा जो जानता है वह प्रमाण है, "प्रमिमीते अर्थात् जानाति इति प्रमाणं" कर्तृसाधन है, मायने आत्मा अर्थात् अपने और पर के ग्रहण करने में परिणत हुआ जो जीव है वही प्रमाण है, यह कर्तृसाधन प्रमाण शब्द के द्वारा कहा जाता है। क्योंकि स्वातन्त्र्य विवक्षा है, जैसे अपने और पर को प्रकाशित करने वाला दीपक स्वपर को प्रकाशित करता है ऐसा कहा जाता है। साधकतमादि विवक्षा होने पर "प्रमीयते अनेन इति प्रमाणं करण साधनं" अथवा प्रमितिमात्रं वा प्रमाणं भावसाधन प्रमाण पद हो जाता है, इन विवक्षाओं में जाना जाय जिसके द्वारा वह प्रमाण है अथवा जानना मात्र प्रमाण है ऐसा प्रमाण शब्द का अर्थ होता है, इस कथन में मुख्यता से प्रतिबंधक-ज्ञानावरणादि कर्मों का अपाय अथवा क्षयोपशम होने से उत्पन्न हुई जो ज्ञानपर्याय है उसका आश्रय है—जैसे दीप की कांति युक्त जो शिखा—लौ है वही प्रदीप है। इस

भेदाभेदयोः परस्परपरिहारेणावस्थानादन्यतरस्यैव वास्तवत्वादुभयात्मकत्वमयुक्तम्; इत्यसमीक्षिताभिधानम्; बाधकप्रमाणाभावात् । अनुपलम्भो हि बाधकं प्रमाणम्, न चात्र सोऽस्तिसकलभावेषूभयात्मकत्वग्राहकत्वेनैवाखिलाऽस्खलत्प्रत्ययप्रतीतेः । विरोधो बाधकः; इत्यप्यसमीचीनम्; उपलम्भसम्भवात् । विरोधो ह्यनुपलम्भसाध्यो यथा-तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गस्य, अन्यथा स्वरूपेणापि तद्वतो विरोधः स्यात् । न चानयोरेकत्र वस्तुन्यनुपलम्भोस्तिअभेदमात्रस्य भेदमात्रस्य वेतरनिरपेक्षस्य वस्तुन्यप्रतीतेः । कल्पयताप्यभेदमात्रं भेदमात्रं वा प्रतीतिरवश्याऽभ्युपगमनीया-तन्निबन्धनत्वाद्वस्तु-

---

प्रकार प्रमाण इस पद का व्याकरण के अनुसार निरुक्ति अर्थ हुआ । इसका सरलभाषा में यह सार हुआ कि प्रमाण मायने ज्ञान या आत्मा है ।

शंका—भेद और अभेद तो परस्पर का परिहार करके रहते हैं अतः या तो भेद रहेगा या अभेद ही रहेगा। ये सब एक सा। एक में कैसे रह सकते हैं, अर्थात् कर्तृ साधन आदि में से एक साधन प्रमाण में रहेगा सब नहीं । इसलिये एक को भेदाभेदरूप कहना अयुक्त है ।

समाधान—ऐसा यह कहना ठीक नहीं क्योंकि एक जगह भेदाभेद मानने में कोई बाधा नहीं आती है, देखिये—यदि भेदाभेद रूप वस्तु दिखाई नहीं देती तो, या भेदाभेद को एकत्र मानने में कोई बाधा आती तो हम आपकी बात मान लेते किन्तु ऐसा बाधक यहां प्रमाण के विषय में कोई है ही नहीं, क्योंकि संपूर्ण पदार्थ उभयात्मक भेदाभेदात्मक-द्रव्यपर्यायात्मक ही निर्दोषज्ञान में प्रतीत होते हैं ।

शंका—भेद और अभेद में विरोध है—एक का दूसरे में अभाव है—यही बाधक प्रमाण है ।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि एक दूसरे में वे भेदाभेद रहते ही हैं । अतः जब वैसा उपलब्ध ही होता है तब क्यों विरोध होगा, विरोध तो जब वस्तु वैसी उपलब्ध नहीं होती तब होता है, जैसे घोड़े के सींग उपलब्ध नहीं है अतः सींग का घोड़े में विरोध या अभाव कहा जाता है, किन्तु ऐसा यहां नहीं है, यदि वैसे उपलब्ध होते हुए भी विरोध बताया जाय तो स्वरूप का स्वरूपवान से विरोध होने लगेगा । भावाभाव का एक वस्तु में अनुपलंभ भी नहीं है, उल्टे भेदरहित अकेला अभेद या भेद ही वस्तु में दिखायी नहीं देता है, तथा भेद या अभेदमात्र की मनचाही कल्पना ही भले कर लो किन्तु प्रतीति को मानना होगा, क्योंकि प्रतीति-अनुभव से ही वस्तु व्यवस्था होती है, ऐसी प्रतीति तो सर्वत्र भेदाभेदरूप ही हो रही है तो फिर व्यर्थ का

व्यवस्थायाः। सा चेदुभयात्मन्यप्यस्ति किं तत्र स्वसिद्धान्तविषमग्रहनिबन्धनप्रद्वेषेण-अप्रामाणिकत्व-प्रसङ्गादित्यलमतिप्रसङ्गेन, अनेकान्तसिद्धिप्रक्रमे विस्तरेणोपक्रमात्।

वक्ष्यमाणलक्षणलक्षितप्रमाणभेदमनभिप्रेत्यानन्तरसकलप्रमाणविशेषसाधारणप्रमाणलक्षण-पुरःसरः 'प्रमाणाद्' इत्येकवचननिर्देशः कृतः। का हेतौ। अर्थ्यतेऽभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च। उपेक्षणीयस्यापि परित्यजनीयत्वाद्धेयत्वम्; उपादानक्रियां प्रत्यकर्मभावान्नोपादेयत्वम्, हानक्रियां प्रति विपर्ययात्तत्त्वम्। तथा च लोको वदति 'अहमनेनोपेक्षणीयत्वेन परित्यक्तः' इति। सिद्धिरसतः प्रादुर्भावोऽभिलषितप्राप्तिर्भावज्ञप्तिश्चोच्यते। तत्र ज्ञापकप्रकरणाद् असतः प्रादुर्भावलक्षणा सिद्धिर्नेह गृह्यते। समीचीना सिद्धिः ससिद्धिरर्थस्य संसिद्धि 'अर्थसंसिद्धिः' इति। अनेन कारणान्त-

---

अपना सिद्धान्त रूप बड़ा भारी आग्रह या पिशाच जिसका निमित्त है ऐसा जो भेदाभेद में द्वेष रखना है वह ठीक नहीं है, यदि द्वेष रखोगे तो अप्रमाणिक कहलाओगे, इस प्रकरण पर अब बस हो, अर्थात् इस प्रकरण पर अब और अधिक यहां कहने से क्या लाभ आगे अनेकान्त सिद्धिके प्रकरण में इसका विस्तार से कथन करेंगे।

आगे कहे जाने वाले लक्षण से युक्त जो प्रमाण है उसके भेदों को नही करते हुए अर्थात् उनकी विवक्षा नहीं रखते हुए यहां सूत्रकारने संपूर्ण प्रमाणों के विशेष तथा सामान्य लक्षण वाले ऐसे प्रमाण का "प्रमाणात्" इस एकवचन से निर्देश किया है "प्रमाणात्" यह हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति हुई है, प्रयोजनवाले व्यक्ति जिसे चाहते हैं उसे अर्थ कहते है। वह उपादेय तथा हेयरूप होता है, उपेक्षणीय का हेय में अन्तर्भाव किया है, क्योंकि उपादान क्रिया के प्रति तो वह उपेक्षणीय पदार्थ कर्म नही होता है, और हेय क्रिया का कर्म बन जाता है, अतः हेय में उपेक्षणीय सामिल हो जाता है जगत् में भी कहा जाता है कि इसके द्वारा मैं उपेक्षणीय होने से छोड़ा गया हूं।

असत् की उत्पत्ति होना अथवा इच्छित वस्तु की प्राप्ति होना अथवा पदार्थ ज्ञान होना इसका नाम सिद्धि है, इन तीन अर्थों में अर्थात् उत्पत्ति, प्राप्ति, ज्ञप्ति अर्थों में से यहां पर ज्ञापक का प्रकरण होने से असत् का उत्पाद होना रूप उत्पत्ति अर्थ नही लिया गया है (प्राप्ति और ज्ञप्ति रूप अर्थ लिया गया है) समीचीन अर्थ सिद्धि को अर्थसंसिद्धि कहते हैं, इस पद के द्वारा अन्य कारण जो कि विपरीतज्ञान कराने वाले हैं उनसे अर्थसिद्धि नहीं होती ऐसा कह दिया समझना चाहिए। जाति, प्रकृति आदि के भेद से होने वाले उपकारक पदार्थ की सिद्धि का भी यहां ग्रहण हो गया है, इसी को बताते हैं —अकेले अकेले निम्ब, लवण आदि रसवाले पदार्थों में हम

राहितविपर्यासादिज्ञाननिबन्धनाऽर्थसिद्धिर्निरस्ता। जातिप्रकृत्यादिभेदेनोपकारकार्थसिद्धिस्तु सगृहीता; तथाहि-केवलनिम्बलवणरसादावस्मदादीनां द्वेषबुद्धिविषये निम्बकीटोष्ट्रादीनां जात्याऽभिलाषबुद्धि-रुपजायते अस्मदाद्यभिलाषविषये चन्दनादौ तु तेषां द्वेषः; तथा पित्तप्रकृतेरुष्णस्पर्शे द्वेषो-वातप्रकृतेर-भिलाषः—शीतस्पर्शे तु वातप्रकृतेर्द्वेषो न पित्तप्रकृतेरिति। न चैतज्ज्ञानमसत्यमेव-हिताऽहितप्राप्ति-परिहारसमर्थत्वात् प्रसिद्धसत्यज्ञानवत्। हिताऽहितव्यवस्था चोपकारकत्वापकारकत्वाभ्यां प्रसिद्धेति। तदिव स्वपरप्रमेयस्वरूपप्रतिभासिप्रमाणमिवाभासत इति तदाभासम्—सकलमतसम्मताऽवबुद्धच-क्षणिकाद्येकान्ततत्त्वज्ञानं सन्निकर्षाऽविकल्पक-ज्ञानाऽप्रत्यक्षज्ञानज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानाऽनाप्तप्रणीताऽऽ-

---

लोगों को द्वेषबुद्धि होती है, परन्तु उन्हीं विषयों में निम्ब के कीड़े तथा ऊंट आदि को जाति के कारण ही अभिलाषा बुद्धि पैदा होती है, मतलब—नीम में हमको हेयज्ञान होता है और ऊंट आदि को उपादेय ज्ञान होता है, सो ऐसा विपर्यय होकर भी दोनों ही ज्ञान जाति की अपेक्षा सत्य ही कहलावेंगे, ऐसे ही हम जिसे चाहते हैं ऐसे चन्दन आदि वस्तु में उन ऊंट आदि को द्वेष बुद्धि होती है-हेयबुद्धि होती है, पित्तप्रकृतिवाले पुरुष को उष्णस्पर्श में द्वेष और वात प्रकृतिवाले पुरुष को उसी में अभिलाषा होती है और इसके उल्टे शीतस्पर्श में पित्तवाले को राग-स्नेह और वात प्रकृतिवाले को द्वेष पैदा होता है, किन्तु इन दोनो के ज्ञानों को असत्य नहीं कहना, क्योंकि यह हेय का परिहार और उपादान की प्राप्ति कराने में समर्थ है, जैसे प्रसिद्ध सत्यज्ञान समर्थ है। दूसरी बात यह भी है कि हित और अहित की व्यवस्था या व्याख्या—लक्षण तो उपकारक और अपकारक की अपेक्षा से होता है, जो उपकारक हो वह हित और जो अपकारक हो वह अहित कहलाता है, उसके समान अर्थात् स्व पर प्रमेय का स्वरूप प्रतिभासित करने वाले प्रमाण के समान जो भासे—मालूम पड़े वह तदाभास कहलाता है, वह तदाभास मायने प्रमाणाभास अनेक प्रकार का है, सभीके मत को माननेवाली है बुद्धि जिनकी ऐसे विनय वादी, सर्वथानित्य, सर्वथा क्षणिक इत्यादि एकान्तमती का तत्त्वज्ञान, आप्तलक्षण से रहित पुरुषों के द्वारा हुआ आगम, सन्निकर्ष, निर्विकल्पज्ञान, अप्रत्यक्षज्ञान, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञान, अविनाभावरहित अनुमानज्ञान, उपमादिज्ञान, संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय ये सबके सब ही ज्ञान तदाभास—प्रमाणाभास कहलाते हैं, क्योंकि इन ज्ञानों से विपर्यय होता है—अपने इच्छित स्वर्ग, मोक्ष का निर्दोष बोध नहीं होता है, तथा इस लोक में सुख दुःख के साधन भूत पदार्थों का सत्यज्ञान प्राप्ति आदि सिद्धियां भी नहीं होती हैं, श्लोक में प्रमाण पद पहिले ग्रहण हुआ है क्योंकि

गमाऽविनाभावविकललिङ्गनिबन्धनाऽभिनिबोधादिकं संशयविपर्यासानध्यवसायज्ञानं च, तस्माद् विपर्ययोऽभिलषितार्थस्य स्वर्गापवर्गादेरनवद्यतत्साधनस्य वैहिकसुखदुःखादिसाधनस्य वा सम्प्राप्तिज्ञप्तिलक्षणसमीचीनसिद्धयभावः। प्रमाणस्य प्रथमतोऽभिधानं प्रधानत्वात्। न चैतदसिद्धम्; सम्यग्ज्ञानस्य निश्श्रेयसप्राप्तेः सकलपुरुषार्थोपयोगित्वात्, निखिलप्रयासस्य प्रेक्षावता तदर्थत्वात्, प्रमाणेतरविवेकस्यापि तत्प्रसाध्यत्वाच्च। तदाभासस्य तूक्तप्रकाराऽसम्भवादप्राधान्यम्। इति' हेत्वर्थे। पुरुषार्थसिद्धयसिद्धिनिबन्धनत्वादिति हेतोः 'तयोः' प्रमाणतदाभासयो 'लक्ष्म' असाधारणस्वरूपं व्यक्तिभेदेन तज्ज्ञप्तिनिमित्तं लक्षणं 'वक्ष्ये' व्युत्पादनार्हत्वात्तल्लक्षणस्य यथावत्तत्स्वरूपं प्रस्पष्टं कथयिष्ये। अनेन ग्रन्थकारस्य तद्व्युत्पादने स्वातन्त्र्यव्यापारोऽवसीयते-निखिललक्ष्यलक्षणभावावबोधाऽन्योपकारनियतचेतोवृत्तित्वात्तस्य।

ननु चेद वक्ष्यमाणं प्रमाणेतरलक्षणं पूर्वशास्त्राप्रसिद्धम्, तद्विपरीतं वा? यदि पूर्वशास्त्राऽप्रसिद्धम्-तर्हि तद्व्युत्पादनप्रयासो नारम्भणीयः-स्वरुचिविरचितत्वेन सतामनादरणीयत्वात्, तत्प्रसिद्धं

वह मुख्य है, उसमें प्रधानता असिद्ध भी नहीं है, सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण होने से सभी पुरुषार्थों में उपयोगी है, तथा बुद्धिमान् इसी सम्यग्ज्ञान के लिये प्रयत्न करते हैं और प्रमाण तथा अप्रमाण का विवेक–भेद भी प्रमाणज्ञान से ही होता है, तदाभास से मोक्षसाधन का ज्ञान इत्यादि कार्य नहीं होते हैं, अतः वह गौण है। "इति" यह अव्यय पद हेतु अर्थ में प्रयुक्त किया है, पुरुषार्थ की सिद्धि और असिद्धि में कारण होने से इस प्रकार "इति" का अर्थ है। "तयोः" अर्थात् प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण–असाधारण स्वरूप व्यक्तिभेद से जो उनका ज्ञान कराने में समर्थ है ऐसा लक्षण कहूंगा लक्षण तो व्युत्पत्ति-सिद्धि करने योग्य होता ही है अतः उसका स्पष्टरूप यथार्थलक्षण कहूंगा, इस "वक्ष्ये" पद से ग्रन्थकार आचार्य संपूर्ण लक्ष्य और लक्षण भाव को अच्छी तरह जाननेवाले होते हैं, तथा पर का उपकार करने में इनका मन लगा रहता है, ऐसा समझना चाहिये।

शंका—यह आगे कहा जानेवाला प्रमाण और तदाभास का लक्षण पूर्व के शास्त्रों में प्रसिद्ध है या नहीं, यदि नहीं है तो उसका लक्षण करने में प्रयास करना व्यर्थ है क्योंकि वह तो अपने मनके अनुसार रचा गया होने से सज्जनों के द्वारा आदरणीय नहीं होगा, और यदि पूर्व शास्त्र प्रसिद्ध है तब तो बिलकुल कहना नहीं, क्योंकि पिष्ट पेषण होगा।

समाधान—इसका समाधान होने के लिए ही सिद्ध और अल्प ऐसे दो पद दिये हैं। "सिद्ध" इस विशेषण से व्युत्पादन के समान लक्षण करने में स्वतन्त्रता का

तु नितरामेतन्न व्युत्पादनीयं-विशेषणप्रम ङ्गादित्याह- सिद्धमल्पम्' । प्रथमविशेषणेन व्युत्पादनवत्तल्लक्षणप्रणयने स्वातन्त्र्यं परिहृतम् । तदेव अाकलङ्कमिदं पूर्वशास्त्रपरम्पराप्रमाणप्रसिद्धं लघूपायेन प्रतिपाद्य प्रज्ञापरिपाकार्थं व्युत्पाद्यते-न स्वरुचिविरचितं-नापिप्रमाणानुपपन्नं-परोपकारनियतचेतसो ग्रन्थकृतो विनेयविसंवादने प्रयोजनाभावात् । तथाभूतं हि वदन् विसंवादकः स्यात् । 'अल्पम्' इति विशेषणेन यदन्यत्र अकलङ्कदेवैर्विस्तरेणोक्तं प्रमाणेतरलक्षणतदेवात्र सक्षेपेण विनेयव्युत्पादनार्थमभिधीयत इति पुनरुक्तत्वनिरास । विस्तरेणान्यत्राभिहितस्यात्र संक्षेपाभिधाने विस्तररुचि विनेयविदुषां नितरामनादरणीयत्वम् । को हि नाम विशेषव्युत्पत्त्यर्थी प्रेक्षावास्तत्साधनाऽन्यसद्भावे सत्यन्यत्राऽतत्साधने कृतादरो भवेदित्याह–'लघीयसः' । अतिशयेन लघवो हि लघीयांसः संक्षेपरुचय इत्यर्थः । कालशरीरपरिमाणकृत तु लाघवं नेह गृह्यतेतस्य व्युत्पाद्यत्वव्यभिचारात्, क्वचित्तथाविधे व्युत्पाद-

---

निरसन किया है, अर्थात्—अकलंक देव से रचित जो कुछ लक्षण है जो पूर्वाचार्य प्रणीत शास्त्रपरम्परा से आया है उसीको थोड़े उपायों से शिष्यों की बुद्धि का विकास होने के लिए कहा जाता है, अतः स्वरुचि से नहीं बनाया है, और न प्रमाण से असिद्ध ही है, क्योंकि परोपकार करनेवाले ग्रन्थकार शिष्य को ठगने में कुछ भी प्रयोजन नहीं रखते हैं। यदि मन चाहा पूर्व शास्त्र से अप्रसिद्ध बाधित ऐसा लक्षण करते तो वे विसंवादक कहलाते । "अल्पम्" इस विशेषण से जो अन्य ग्रन्थ में अकलंकादि के द्वारा विस्तार से कहा है उन्हीके उस प्रमाण तदाभास लक्षण को संक्षेप से विनेय-शिष्य-को समझाने के लिये कहा जाता है, अतः पुनरुक्त दोष भी नही आता है ।

शंका—जो लक्षण अन्यग्रन्थों में विस्तारपूर्वक कहा है उसीको यहां संक्षेप से कहेंगे तो विस्तार रुचिवाले शिष्य उस लक्षण का आदर नही करेंगे । जो पुरुष विशेष को जानना चाहता है वह उस विशेष ज्ञान के उपायभूत अन्य ग्रन्थ मौजूद होते हुए इस संक्षेपवाले ग्रन्थ में क्या आदर करेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं है. हम ग्रन्थकार तो अल्प बुद्धिवाले शिष्यों के लिये कहते हैं अर्थात् संक्षेप से जो तत्त्व समझना चाहते हैं उनके लिये कहते हैं। यहां पर लघुता जो है वह काल की या शरीर की नहीं लेना क्योंकि जो काल से अल्प न हों अर्थात् ज्यादा उम्रवाले हों या अल्प उम्र वाले हों और शरीर से छोटे हों या बड़े हों उनको तो कम बुद्धिवाले होने से समझायेंगे, मतलब-जो शिष्य संक्षेप से व्युत्पत्ति करना चाहते हैं उन शिष्यों के लिये यह ग्रन्थ रचना का प्रयास है, प्रतिपादक तो प्रतिपाद्य के

कस्याऽप्युपलम्भात् । तस्मादभिप्रायकृतमिह लाघवं गृह्यते । येषां संक्षेपेण व्युत्पत्त्यभिप्रायो विनेयानां तान् प्रतीदमभिधीयते-प्रतिपादकस्य प्रतिपाद्याशयवशवर्तित्वात् । 'अकथितम्' [पाणिनि सू० १।४।५१] इत्यनेन कर्मसंज्ञायां सत्यांकर्मणीप् ।

ननु चेष्टदेवतानमस्कारकरणमन्तरेणैवोक्तप्रकाराऽऽदिश्लोकाभिधानमाचार्यस्याऽयुक्तम् । अविघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं हि फलमुद्दिश्येष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणाः शास्त्रकृतः शास्त्रादौ प्रतीयन्ते; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; वाङ्नमस्काराऽकरणेपि कायमनोनमस्कारकरणात् । त्रिविधो हि नमस्कारो-मनोवाक्कायकारणभेदात् । दृश्यते चातिलघूपायेन विनेयव्युत्पादनमनसां धर्मकीर्त्यादीनामप्येवंविधा प्रवृत्तिः-वाङ्नमस्कारकरणमन्तरेणैव "सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः" [न्यायबि० १।१] इत्यादि वाक्योपन्यासात् । यद्वा वाङ्नमस्कारोऽप्यनेनैवादिश्लोकेन कृतो ग्रन्थकृता; तथाहि-मा अन्तरङ्गबहिरङ्गानन्तज्ञानप्रातिहार्यादिश्रीः, अण्यते शब्द्यते येनार्थोऽसावाणः शब्दः, मा चाणश्च

आशय के अनुसार कथन किया ही करते हैं । पाणिनिव्याकरण के "अकथितं" इस सूत्र से कर्म अर्थ में "अल्प सिद्धं लक्ष्म" इन पदों में द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है ।

शंका— इष्टदेव को नमस्कार किये बिना ही शास्त्रकारने जो शास्त्र की शुरुआत में श्लोक कहा है वह अयुक्त है, क्योंकि निर्विघ्न शास्त्र रचना पूर्ण हो इत्यादि फलों का उद्देश्य लेकर नमस्कार करके शास्त्रकार शास्त्र रचते हैं ऐसा देखा गया है ।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, यद्यपि वाचनिक नमस्कार न किया हो, किन्तु कायिक तथा मानसिक नमस्कार तो किया ही है, मन, वचन, काय के भेद से नमस्कार तीन प्रकार का होता है । देखा भी गया है कि अन्यमती धर्मकीर्ति आदि ने जल्दी से शिष्यों को ज्ञान हो इस बुद्धि से वाचनिक नमस्कार किये बिना ही "सम्यग्ज्ञान पूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः" ऐसा प्रारम्भिक सूत्र बनाया है, अथवा ग्रन्थकार माणिक्यनंदी ने इस परीक्षामुख ग्रन्थ की शुरुआत मे वाचनिक नमस्कार भी किया है, देखिये— अन्तरंग लक्ष्मी अनंतचतुष्टय और बहिरंग लक्ष्मी अष्ट प्रातिहार्यादिक हैं, उनको "मा" कहते हैं । "अण्यते अर्थः येन असौ अणः माच अणश्च माणो, प्रकृष्टौ माणौ यस्य असौ प्रमाणः" अर्थात् अण कहते हैं शब्द या दिव्यध्वनि को, मा अर्थात् समवसरण आदि विभूति और अण मायने दिव्यध्वनि, ये दोनों गुण असाधारण हैं, अन्य हरि, हर, ब्रह्मा में नहीं पाये जाते हैं, अतः उत्कृष्ट गुणोंके धारक भगवान् सर्वज्ञ ही "प्रमाण" इस नाम के धारक हुए उनसे अर्थात् अर्हंत सर्वज्ञ से अर्थ संसिद्धि होती है और तदा-

माणौ, प्रकृष्टौ महेश्वराद्यसम्भविनौ माणौ यस्याऽसौ प्रमाणो भगवान् सर्वज्ञो दृष्टेष्टाऽविरुद्धवाक् च, तस्मादुक्तप्रकारार्थसंसिद्धिर्भवति तदभासात्तु महेश्वरादेर्विपर्ययस्तत्संसिद्ध्यभावः । इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म 'सामग्रीविशेषविश्लेषिताऽखिलावरणमतीन्द्रियम्' इत्याद्यसाधारणस्वरूपं प्रमाणस्य । किंविशिष्टम् ? सिद्धं वक्ष्यमाणप्रमाणप्रसिद्धम्, तद्विपरीतं तु तदाभासस्य; तच्चाऽल्पं संक्षिप्तं यथा भवति तथा, लघीयस. प्रति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्मेति । शास्त्रारम्भे चाऽपरिमितगुणोदधेर्भगवतो गुणलवव्यावर्णनमेव वाक्स्तुतिरित्यलमतिप्रसङ्गेन ।।

प्रमाणविशेषलक्षणोपलक्षणाकाङ्क्षायास्तत्सामान्यलक्षणोपलक्षणपूर्वकत्वात् प्रमाणस्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेणाऽबाधतत्सामान्यलक्षणोपलक्षणायेदमभिधीयते—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।। १ ।।

भास से अर्थात् महेश्वरादि से विपर्यय—अर्थसिद्धि का अभाव होता है, इस कारण मैं उन उन प्रमाण और तदाभास का लक्षण कहूंगा, अर्थात् अर्हतादि का लक्षण "सामग्री विशेष विश्लेषिताखिलावरण मतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्" इत्यादि सूत्र से कहूंगा, यह लक्षण कैसा है ? सिद्ध है अर्थात् प्रमाण का लक्षण तो प्रसिद्ध है और तदाभास की समीचीनता सिद्ध नही है, ऐसा वह लक्षण संक्षिप्तरूप से अल्पबुद्धि वालों के लिये कहूंगा । इस प्रकार शास्त्र की आदि में अपरिमित गुणों के धारक भगवान् के थोड़े से गुणों का वर्णन करना ही वाचनिक नमस्कार है । अतः नमस्कार के विषय में ज्यादा कहने से अब वस रहो । प्रमाण का सामान्य लक्षण पूर्वक ही विशेष लक्षण होता है, अतः प्रमाण के स्वरूप के बारे मे जो विवाद है उसे दूर करते हुए अबाधित ऐसा सामान्य लक्षण कहते हैं ।

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।।१।।

स्व का और अन्य घटादि पदार्थों का संशयादि से रहित निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है ।

इस सूत्र में "प्रमाण की अन्यथानुपपत्ति" ऐसा हेतु है, विशेष्य को अन्य से पृथक् करना विशेषण का फल है । अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इस प्रकार लक्षण के तीनों दोषों से रहित तथा अन्यमतों के प्रमाणों के लक्षण का निरसनकरने वाला यह प्रमाणका लक्षण श्री माणिक्यनंदी आचार्य के द्वारा लक्षित किया गया है, इस प्रमाण के पांच विशेषण हैं—स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान, इनमें से

प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेरित्ययमत्र हेतुर्द्रष्टव्यः । विशेषणं हि व्यवच्छेदफलं भवति ।

"स्व" विशेषण द्वारा ज्ञानको सर्वथा परोक्ष मानने वाले मीमांसक का तथा दूसरे ज्ञान से उसे ग्राहक मानने वाले नैयायिक का खंडन होता है, अर्थात् ज्ञान स्व को जानने वाला है, अपूर्व विशेषण से धारावाहिक ज्ञान का निरसन किया है, तथा सर्वथा ही अपूर्व वस्तु का ग्राहक प्रमाण होता है ऐसा माननेवाले भाट्ट का निरसन किया है, अर्थात् प्रमाण कथंचित् अपूर्व अर्थ का ग्राहक है, अर्थ–इस विशेषण से बौद्ध के प्रमाण का खंडन होता है, क्योंकि विज्ञानाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी ज्ञान के द्वारा ज्ञान का ही मात्र ग्रहण होता है, क्योंकि ज्ञानमात्र ही तत्त्व है ऐसा वे मानते हैं, उन्हें समझाने के लिए कहा है कि ज्ञान अर्थ को–पदार्थ को जानने वाला है। बौद्ध ही ज्ञान को निर्विकल्प–अनिश्चायक मानते हैं सो उसका खंडन करने के लिये प्रमाण के लक्षण में "व्यवसायात्मकं" यह विशेषण प्रस्तुत किया है, ज्ञान विशेषण तो सन्निकर्ष, कारक साकल्य इन्द्रियवृत्ति, ज्ञातृव्यापार आदि अज्ञानरूप वस्तु को ही प्रमाण माननेवाले वैशेषिक आदि का निरसन करने के लिये उपस्थित किया है। इस प्रकार इन पांचों विशेषणों से विशिष्ट जो है वही प्रमाण है ऐसा अक्षुण्ण तथा निर्दोष लक्षण का यहां पर प्रणयन किया है।

कारक साकल्यवाद-पूर्वपक्ष

नैयायिक कारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं, प्रमाणों की संख्या उनके यहां चार मानी गई है। १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ आगम। इन प्रमाणों को जो उत्पन्न करता है वह कारक साकल्य कहलाता है। पदार्थ को जानना एक कार्य है। और कार्य जो होता है वह अनेक कारणों से निष्पन्न होता है, एक से नहीं। वे जो कारण हैं उन्हें ही कारक साकल्य कहते हैं।

"अत्रेदं तावद् विचार्यते कि प्रमाणं नाम किमस्य स्वरूपं किं वा लक्षणमिति, ततः तत्र सूत्रं योजयिष्यते, तदुच्यते-अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धि विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। बोधाबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपं, अव्यभिचारादि-विशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्" (न्याय मंजरी पृ० १२)

अर्थः—यहां पर यह विचारारूढ है कि प्रमाण किसका नाम है, क्या उसका स्वरूप और लक्षण है? सो उसका उत्तर देते हैं—अव्यभिचारी तथा संशय रहित पदार्थ की उपलब्धि होना है ऐसे स्वरूप को जो धारण करती है वह बोध तथा अबोध अर्थात् ज्ञान और अज्ञान लक्षण वाली सामग्री ही प्रमाण कहलाती है, इस सामग्री में ज्ञान को उत्पन्न करने वाले अनेक कारक या कारण हैं। अतः इसको कारक साकल्य कहते हैं, यही प्रमाण है, क्योंकि पदार्थ के जानने में यह साधकतम है। बोध और अबोध तो प्रमाण का स्वरूप है, और अव्यभिचारी तथा संशयरहित पदार्थ की उपलब्धि कराना उसका लक्षण है, यहां पर कोई शंका करे कि प्रमाण शब्द करण साधन है "प्रमीयते अनेनेति प्रमाणं" साधकतम को करण कहते हैं, साधकतम यह शब्द अतिशय को सूचित करता है, अर्थात् "अतिशयेन साधकं साधकतमं" जो अतिशयपने से साधक हो उसे साधकतम कहते हैं, सो यहां सामग्री को प्रमाण माना है तो कौन किससे साधक होगा। क्योंकि सामग्री तो एकरूप है। अब इस प्रकार की शंका का समाधान करते हैं- जिस कारण से करणसाधन प्रमाण शब्द है उसी कारण से सामग्री को—कारक साकल्य को—प्रमाण माना है, क्योंकि अनेक कारकों के होने पर कार्य होता है और नहीं होने पर नहीं होता है, अतः कारकसाकल्य ही प्रमाण है, उन

अनेक कारकों में से किसी एक को विशेष नहीं मान सकते, क्योंकि सभी के होने पर तो कार्य होता है, और उनमें से एक के भी नहीं होने पर कार्य नहीं होता है, यही बात कही है कि—"अनेक कारकसन्निधाने कार्यं घटमानमन्यतरव्यपगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत्। न चातिशयः कार्यजन्मनि कस्यचिदवधार्यते सर्वेषां तत्र व्याप्रियमाणत्वात्" [न्याय मंजरी पृ० १३] अर्थात्—अनेक कारकों के निकट होने पर तो कार्य होता है और उनमें से एक के नहीं होने पर कार्य नहीं हो पाता है, अतः किसी एक को अतिशय युक्त नहीं कह सकते। यहां तो सभी कारकों का उपयोग होता है और इसीलिए तो इस सामग्री का नाम कारक साकल्य है, इस कारक साकल्य या सामग्री के अंदर कोई कारक बोधरूप है और कोई अबोधस्वरूप है, अतः "बोधाबोधस्वभावा तस्य स्वरूपम्" ऐसा कहा है, अर्थात् प्रकाश, इन्द्रियादि अबोध स्वभाववाले कारक हैं और ज्ञान बोधस्वभाववाला है। बस! इन्हीं का समूह कारकसाकल्य है, यही प्रमा का साधकतमकरण है, अतः यही प्रमाण है।

*** पूर्वपक्ष समाप्त ***

कारकसाकल्यवाद:

तत्र प्रमाणस्य ज्ञानमिति विशेषणेन 'अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनकं कारकसाकल्यं साधकतमत्वात् प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम्; तस्याऽज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत् स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावत: प्रमाणत्वायोगात्-तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्याऽज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात्। छिदौ परश्वादिना साधकतमेन व्यभिचार इत्ययुक्तम्; तत्परिच्छित्तावितिविशेषणात्, न खलु सर्वत्र साधकतमत्वं ज्ञानेन व्याप्तं-परश्वादेरपि ज्ञानरूपताप्रसङ्गात्। अज्ञानरूपस्यापि प्रदीपादे: स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वोपलम्भात्तेन तस्याऽव्याप्तिरित्यप्ययुक्तम्; तस्योपचारात्तत्र साधकतमत्वव्यवहारात्।

प्रमाण के लक्षण में "ज्ञान" यह जो विशेषण दिया है सो इस विशेषण से जरन्नैयायिक के द्वारा माना गया जो कारकसाकल्यवाद है जिसका खंडन हो जाता है, अर्थात् नैयायिक कहते हैं कि व्यभिचारादिदोषों से रहित विशिष्ट अर्थ का ज्ञान कराने वाला कारकसाकल्य है, अत: यह प्रमाण है, सो इस कथन का "ज्ञान" विशेषण से खंडन हो जाता है, क्योंकि कारकसाकल्य अज्ञानरूप है, वह प्रमेय–पदार्थ के समान अपना और पर का ज्ञान कराने में साधकतम हो ही नहीं सकता है, अत: प्रमाण नहीं होगा, पदार्थ की परिच्छित्ति–जानकारी के लिये अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही साधकतम होगा, क्योंकि परिच्छित्ति की तो ज्ञान के साथ ही व्याप्ति है।

प्रश्न—छेदनक्रिया में तो परशु-कुठार-आदि अज्ञानी ही साधक हो जाते हैं।

उत्तर—नहीं, यहां परिच्छित्ति का प्रकरण है, सर्वत्र साधकतम ज्ञान ही हो यह नहीं कहा है, क्योंकि साधकतम और ज्ञान की व्याप्ति करेंगे, तब तो कुठारादि भी ज्ञानरूप बन जायेंगे।

शंका—स्व और पर की परिच्छित्ति में अज्ञानरूप भी दीपक में साधकतमा देखी जाती है, अत: अतिव्याप्ति दोष आता है।

साकल्यस्याप्युपचारेण साधकतमत्वोपगमे न किंचिदनिष्टम् मुख्यरूपतया हि स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमस्य ज्ञानस्योत्पादकत्वात् तस्यापि साधकतमत्वम्; तस्माच्च प्रमाण-कारणे कार्योपचारात्-अन्नं वै प्राणा इत्यादिवत्। प्रदीपेन मया दृष्टं चक्षुषाऽवगतं धूमेन प्रतिपन्नमिति लोकव्यवहारोऽप्युपचारतः; यथा ममाऽयं पुरुषश्चक्षुरिति-तेषां प्रमितिं प्रति बोधेन व्यवधानात्, तस्य त्वपरेणाव्यवधानात्तन्मुख्यम्। न च व्यपदेशमात्रात्पारमार्थिकवस्तुव्यवस्था 'नड्वलोदक पादरोगः, इत्यादिवत्। ततो यद्बोधाऽबोधरूपस्य प्रमाणत्वाभिधानकम्—

'लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्' [　　] इति तत्प्रत्याख्यातम्; ज्ञानस्यैवाऽनुपचरितप्रमाणव्यपदेशार्हत्वात्। तथाहि-यद्यत्राऽपरेण व्यवहितं न तत्तत्र मुख्यरूपतया साधक-

---

समाधान—यह शंका अयुक्त है, दीपक में तो उपचार से साधकतमपना माना है, ऐसा ही कारकसाकल्य को उपचार से साधकतमपना मानो तो हम जैन को कुछ अनिष्ट नही है, मुख्य रूप से स्वपर की परिच्छित्ति में तो ज्ञान साधकतम है, और उसको उत्पन्न कराने में कारण होने से कारकसाकल्य को भी साधकतमपना हो सकता है, इस तरह प्रमाण के–ज्ञान के कारण में कार्य का उपचार करके अन्न ही प्राण है, इत्यादि के समान कहा जाता है, अर्थात् प्रमाण का जो कारण है उसको भी प्रमाण कहना यह उपचारमात्र है, आंख के द्वारा जाना, दीप से जाना, धूम से जाना इत्यादि लोक व्यवहार भी मात्र औपचारिक है, "यह पुरुष मेरी आंखे हैं" इत्यादि कहना भी उपचार है, क्योंकि इनके द्वारा होने वाली जानकारी के प्रति ज्ञान का व्यवधान पड़ता ही है, ज्ञान में तो ऐसा नहीं है, वह तो अव्यवधान से वस्तु को जानता है, उपचारसे कोई पारमार्थिक वस्तुव्यवस्था नहीं होती है, जैसे "नड्वलोदकं पादरोगः" नड्वलोदक पादरोग है, घास से युक्त जो जल होता है उसे नड्वलोदक कहते हैं, उससे पैर में रोग होता है, [तालाब आदि में गंदा पानी होता है, उसमें बार बार पैर देने से पैर में "नारू" नामका रोग हो जाता है, उसमें घुटने के नीचे भाग में धागे के समान आकारवाले लंबे २ दो इन्द्रिय कीड़े निकलते हैं, पैर में छेद भी हो जाते हैं, सो पैर में रोग होने का कारण होने से उस पानी को भी रोग कहना उपचार मात्र है] सो नड्वलोदक पादरोग है ऐसे कहने मात्र से कोई साक्षात् जल ही रोग नहीं बन जाता है, इस प्रकार वास्तविक वस्तु को जानने के लिए ज्ञान ही साधकतम है, और उपचार से कारक साकल्यादि भी साधकतम है; यह सिद्ध हुआ। कोई ज्ञान और अज्ञान को समानरूप से प्रमाण बताते हैं, "लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं

तमव्यपदेशार्हम्, यथा हि च्छिदिक्रियायां कुठारेण व्यवहितोऽयस्कारः, स्वपरपरिच्छित्तौ विज्ञानेन व्यवहितं च परपरिकल्पितं साकल्यादिकमिति। तस्मात् कारकसाकल्यादिक साधकतमव्यपदेशार्ह न भवति।

किंच; स्वरूपेण प्रसिद्धस्य प्रमाणत्वादिव्यवस्था स्यान्नान्यथाप्रतिप्रसङ्गात्-न च साकल्यं स्वरूपेण प्रसिद्धम्। तत्स्वरूपं हि सकलान्येव कारकाणि, तद्धर्मो वा स्यात्, तत्कार्यं वा, पदार्थान्तरं

स्मृतम्", नैयायिक वैशेषिक तो लिखित आदि को प्रमाण मानते हैं, अर्थात् राज-शासनादि के जो कानून लिखे रहते हैं वही प्रमाण है ऐसा कहते हैं, जिसमें साक्षी देनेवाले पुरुष हों वे पुरुष भी प्रमाण हैं (अथवा साक्षी देनेवाला पुरुष भी प्रमाण है) तथा-भुक्तिः—उपभोग करनेवाला या जिसका जिस वस्तु पर कब्जा हो वह पुरुष प्रमाण है, ऐसा तीन प्रकार का प्रमाण मानने वाले का भी ज्ञान पद से खंडन हो जाता है, क्योंकि वह भी अज्ञानरूप है, वास्तविक प्रमाण तो ज्ञान ही होगा, इसी को और भी सिद्ध करते हैं—जो अन्य से व्यवहित होकर जानता है वह साधकतम नहीं होता, जैसे बढई कुल्हाड़ी से व्यवहित होकर लकड़ी को काटता है। पर के द्वारा माना गया कारकसाकल्यादिक भी स्व पर की परिच्छित्ति में ज्ञान से व्यवहित होते हैं, अत. वे साधकतम नहीं होते हैं।

भावार्थ—नैयायिक आदि वेदवादियों का मान्यग्रन्थ "याज्ञवल्क्य स्मृति" नामका है, उसमें लिखित आदि प्रमाणों के विषय में श्लोक है कि—

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥२॥

— अध्याय २

अर्थ—लिखितप्रमाण, भुक्ति प्रमाण, साक्षीप्रमाण, इस प्रकार मानुष प्रमाण के ३ भेद हैं, राज्यशासन के अनुसार लिखे हुए जो पत्र हैं, वे लिखित प्रमाण हैं, उपभोग करनेवाला अर्थात् जिसका जिस वस्तु पर कब्जा है वह व्यक्ति या उसका कथन भुक्ति प्रमाण है, जिस वस्तु के विषय में विवाद होने पर उसके निर्णय के लिए जो साक्षीदार होते हैं उन पुरुषों को ही साक्षी प्रमाण कहते हैं, साक्षी पुरुषों के विषय में लिखा है कि—

वा गत्यन्तराभावात् ? न तावत्सकलान्येव तानि साकल्यस्वरूपम्; कर्तृकर्मभावे तेषां करणत्वानुपपत्तेः। तद्भावे वा—अन्येषां कर्तृकर्मरूपता, तेषामेव वा ? नतावदन्येषाम्, सकलकारकव्यतिरेकेणान्येषामभावात्, भावे वा न कारकसाकल्यम्। नापि तेषामेव कर्तृकर्म्मरूपता; करणत्वाभ्युपगमात्। न चैतेषां कर्तृकर्मरूपाणामपि करणत्वं-परस्परविरोधात्। कर्तृता हि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्ना-

---

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
धर्मप्रधानाः ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥६८॥

—अध्याय २

अर्थ—जो पुरुष तपस्वी हैं, दानशील, कुलीन, सत्यभाषी, धर्मपुरुषार्थी, सरल-परिणामी, पुत्रवाला तथा धनिक है वह किसी विषय में साक्षी दे सकता है अन्य नहीं, और भी इस विषय में उस ग्रन्थ में बहुत लिखा है, जैनाचार्य ने इस प्रकार के प्रमाण के लक्षण का निरसन किया है कि ऐसे प्रमाण तो सभी ही अज्ञानरूप हैं, क्योंकि वस्तुतत्त्व को जानने के लिए एक ज्ञान ही अव्यवहितरूप से साधकतम-करण है, अन्य कोई भी वस्तु नहीं।

दूसरी बात यह है कि जो स्वरूप से प्रसिद्ध ज्ञात होता है उसी में प्रमाणपने की व्यवस्था सिद्ध हो सकती है, अप्रसिद्ध में प्रमाणपने की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती अर्थात् प्रमाणपने की व्यवस्था नहीं बन सकती है, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। अर्थात् जो स्वरूप से रहित है—स्वरूप से प्रसिद्ध नहीं है ऐसे कारकसाकल्य को स्वीकार करते हो तो खरविषाण को भी स्वीकार करना चाहिए, कारकसाकल्य का स्वरूप तो प्रसिद्ध है नहीं। कारक साकल्य का स्वरूप अच्छा बताइये क्या है—क्या सकल कारक ही कारक साकल्य का स्वरूप है ? या कारकों का धर्म कारक साकल्य का स्वरूप है ? या कारकों का कार्य, या अन्य कोई पदार्थ कारक साकल्य का स्वरूप है ? अन्य तो कोई कारक साकल्य का अर्थ होता नहीं है, यदि सकलकारकों को कारक-साकल्य कहते हैं, ऐसा प्रथम पक्ष लो तो कर्त्ता कर्म आदि में करणपना नहीं होने से वह बनता नहीं, जब कर्त्ता कर्म को भी करण मानोगे तो सकलकारकों में सभी करण-रूप होने से अन्य किसी को कर्त्ताकर्म बनाओगे या उन्हीं को ? अन्य को तो कहना नही क्योंकि सकलकारकों को छोड़कर अन्य कोई है ही नही यदि है तो वह सकल-कारक ही कारक साकल्य है, यह कहना असत्य ठहरता है, यदि कहो कि उन्हीं को

धारता स्वातन्त्र्यं वा, निर्वर्त्यत्वादिधर्मयोगित्वं कर्मत्वम्, करणत्वं तु प्रधानक्रियाऽनाधारत्वमित्येतेषां कथमेकत्र सम्भवः तन्न सकलकारकाणि साकल्यम् ।

नापि तद्धर्मः-स हि संयोगः, अन्यो वा ? संयोगश्चेन्न; अस्याऽनन्तरं-विस्तरतो निषेधात् । अन्यश्चेत्; नास्य साकल्यरूपता अतिप्रसङ्गात्-व्यस्तार्थानामपि तत्सम्भवात् । किं चाऽसौ कारकेभ्यो-

---

अर्थात् जो कर्म कर्त्ता आदि हैं वे करणरूप होकर भी पुनः कर्त्ता आदि रूप बन जाते हैं ऐसा कहना हो तो वह बेकार है, क्योंकि वे तो करणरूप बन चुके हैं, उन्हीं को कर्त्ता और कर्म करना पुनः करणरूप करना ऐसा तो परस्पर में विरोध है । ज्ञान, चिकीर्षा, प्रयत्न की आधारता जहां है वही कर्तृता है । निर्वर्त्य आदि धर्म को कर्म कहते हैं, प्रधान क्रिया का जो आधार नहीं वह करण है, मीमांसक मतमें निम्न प्रकार से कर्त्ता, कर्म और करण कारकों के लक्षण माने गये हैं—ज्ञान का आधार अर्थात् जिसमें ज्ञान हो वह कर्त्ता है, तथा चिकीर्षा अर्थात् करने की जिसकी इच्छा है वह कर्त्ता है और प्रयत्न के आधार को कर्त्ताकारक कहते हैं । अथवा स्वतन्त्र को कर्त्ता कहते हैं । कर्मकारक के ३ भेद हैं, निर्वर्त्य, प्राप्य, विकार्य, जिसमें नयी अवस्था उत्पन्न होती है वह निर्वर्त्य कर्म है, सिद्ध वस्तु ग्रहण करना प्राप्य है और वस्तु की अवस्था में विकार करना विकार्य है, करण कारक-जानने रूप या छेदनादि प्रधानरूप जो क्रियाएं हैं उनका जो आधार नहीं है वह करणकारक कहलाता है इस प्रकार आप लोग कर्त्ता आदि का लक्षण मानते हैं, सो यह सब भिन्न २ लक्षण वाले होने से एक जगह एक को ही सब कर्त्ता आदि रूप आप कैसे बना सकते हैं, अर्थात् नहीं बना सकते, अतः सकल कारकोंको कारकसाकल्य कहना सिद्ध नहीं हुआ ।

कारकों के धर्म को कारकसाकल्य कहना भी नहीं बनता, धर्म क्या है, क्या वह संयोग रूप है, या अन्य प्रमेयता आदि रूप है । संयोग रूप धर्म को कारकसाकल्य कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि हम संयोग का आगे निषेध करनेवाले हैं, अन्य कहो तो सकल रूपता नहीं रहेगी । अतिप्रसंग होगा, व्यस्त—एक एक—भी कारक साकल्य कहलावेंगे । तथा वह धर्म कारकों से अभिन्न है ऐसा कहो तो दोनों अभिन्न होने से एकमेक हो जावेंगे, अतः या तो धर्म ही रहेगा या मात्र कारक ही रहेंगे । यदि धर्म भिन्न है तो संबन्ध होना मुश्किल है, तथा संबंध मान भी लिया जावे तो एक धर्म का सभी कारकों में एक साथ रहना संभव नहीं, क्योंकि अनवस्थादि दोष आते हैं,

ऽव्यतिरिक्तः, व्यतिरिक्तो वा ? यद्यव्यतिरिक्तः, तदा धर्ममात्रं कारकमात्रं वा स्यात् । व्यतिरिक्तश्चेत्सम्बन्धाऽसिद्धिः । सम्बन्धेऽपि वा सकलकारकेषु युगपत्तस्य सम्बन्धेऽनेकदोषदुष्टसामान्यादिरूपतापत्तिः । क्रमेण सम्बन्धे सकलकारकधर्मता साकल्यस्य न स्यात्-यदैव हि तस्यैकेन हि सम्बन्धो न तदैवाऽन्येनेति ।

नापि तत्कार्यं साकल्यम्—नित्यानां तज्जननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तिः, एकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिश्च स्यात् । तथाहि-यदा यज्जनकमस्ति-तत्तदोत्पत्तिमत्प्रसिद्धम्,

---

तथा कारकों के धर्म को सामान्यरूप होने का भी प्रसंग आता है, क्योंकि सामान्य ही ऐसा होता है, युगपत् अनेक व्यक्तियों में वही रहता है और कारक धर्म भी यदि ऐसा मानने में आता है तो वह सामान्य के समान ही होगा, और वह सामान्य के समान ही अनेक दोषों से दूषित माना जायगा, सामान्य एक और नित्यरूप आपने माना है, इसी प्रकार इस धर्म को भी एक और नित्यरूप आपको मानना पड़ेगा, तथा नित्य और एक रूप मानने पर ही उस धर्म की अनेक कारकों में युगपत् वृत्ति होगी और ऐसी ही बात आप कह रहे हो, यदि कारकों का धर्म कारकों में क्रम से रहता है ऐसा कहो तो सकल कारकों का धर्म साकल्य है ऐसा फिर नहीं कह सकते, क्योंकि जब वह एक में है तब वह उतने ही में ही है, अन्य कारक तो फिर उस धर्म से रहित हो जावेंगे । कारकों के कार्य को साकल्य कहो तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कारक तो नित्य हैं, यदि वे कार्य करेंगे तो सर्वदा करते ही रहेंगे, इसी प्रकार दूसरा दोष यह भी होगा कि एक प्रमाण के उत्पन्न होते समय ही उन कारकों के द्वारा उत्पादन करने योग्य सभी प्रमाणों की उत्पत्ति हो जावेगी, यही बताया जाता है—जब जिसका पैदा करने वाला रहता है तब उसकी होना प्रसिद्ध ही बात है, जैसे कि उसी काल का माना गया एक प्रमाण उत्पन्न हो जाता है, पूर्वोत्तरकाल में होने वाले सभी प्रमाणों का कारण तो उस विवक्षित समय में मौजूद ही रहता है; क्योंकि आत्मादि कारण नित्य हैं, यदि इन आत्मादि कारणों के होते हुए भी सभी प्रमाणों की उत्पत्ति नहीं होती है तो फिर वह कभी नहीं होनी चाहिए, इस तरह से तो बस सारा संसार ही प्रमाण से रहित हो जावेगा, आत्मादिकारण सतत् मौजूद रहते हुए भी वे प्रमाण भूत कार्य तो अपने योग्य काल में ही होते हैं ऐसा कहो तो उन आत्मादिक का कार्य प्रमाण है ऐसा कह ही नहीं सकते हो, विरोध आता है, देखो—वे आत्मादिक कारण तो हैं, पर फिर भी वह प्रमाणभूत कार्य नहीं हुआ और पीछे अपने आप यों ही वह

यथा तत्कालाभिमतं प्रमाणम्, अस्ति च पूर्वोत्तरकालभाविनां सर्वप्रमाणानां तदा नित्याभिमत जनकमात्मादिकं कारणमिति । आत्मादिकारणे सत्यपि तेषामनुत्पत्तौ ततः कदाचनाप्युत्पत्तिर्न स्यादिति सकलं जगत् प्रमाणविकलमापद्येत । आत्मादौ तत्करणसमर्थे सत्यपि स्वयमेव तेषां यथाकालं भावे तत्कार्यताविरोध -तस्मिन् सत्यप्यभावात्-स्वयमेवान्यदा भावात् । न च स्वकालेपि तत्सद्भावे भावात्तत्कार्यता; गगनादिकार्यताप्रसक्तेः । न च तस्यापि तत्प्रति कारणत्वस्येष्टेरदोषोयमिति वक्तव्यम्; आत्माऽनात्मविभागाभावप्रसङ्गात् । यत्र प्रमितिः समवेता सोत्रात्मा नान्य इत्यप्यनालोचितवचनम्; समवायाऽसिद्धौ समवेतत्वाऽसिद्धेः । यदा यत्र यथा यद्भवति तदा तत्र तथाऽऽत्मादेस्त-

---

हो गया, यदि तुम कहो कि जब अपने कालमें प्रमाण कार्य उत्पन्न होता है तब आत्मादि पदार्थ तो मौजूद ही रहते हैं अतः उनके सद्भाव में कार्य हुआ ऐसा माना जाता है तो ऐसी मान्यता में आकाशादिक को भी कारण मानना होगा, क्योंकि ये भी प्रमाण की उत्पत्ति के समय मौजूद ही रहते हैं, ये कही इधर उधर जाते नहीं और नष्ट भी होते नहीं हैं।

नैयायिक—आकाश को भी प्रमाण का कारण मानना (अर्थात् कारक साकल्य के अन्दर आकाश को भी लेना) हमें इष्ट ही है, अतः हमारे ऊपर कोई दोष नहीं दे सकते।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह से तो आत्मा एवं अनात्मा में जो भेद या विभाग है वह नष्ट हो जाता है, मतलब—जो प्रमाण का कारण है वह आत्मा है, और जो प्रमाण का कारण नही है वह अनात्मा है इस प्रकार का भेद नहीं रहेगा, क्योंकि आपने जड़ आत्मा को भी प्रमाण का कारण मान लिया है। जहां पर प्रमिति-ज्ञान-रहता है वह तो आत्मा है और जिसमें प्रमिति-ज्ञान-समवेत नहीं होता वह आकाश है, ऐसा आत्मा और अनात्मा के विभाग का कारण तो मौजूद ही है।

जैन—यह कथन भी बिना विचारे किया है, क्योंकि अभीतक जब समवाय नामक पदार्थ ही सिद्ध नहीं है तो फिर समवेत कैसे सिद्ध हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता।

नैयायिक—जो जब जहां जैसा होता है तब तहां वैसे ही आत्मादि कारण उस कार्य को करने में समर्थ होते हैं, इसलिए एक साथ सब प्रमाण उत्पन्न नहीं होते हैं।

त्करणसमर्थत्वान्न कदा सकलप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिरित्यप्यसम्भाव्यम्; तत्स्वभावभूतसामर्थ्यभेदमन्तरेण कार्यस्य कालादिभेदायोगात्, अन्यथा दृष्टस्य पृथिव्यादिकार्यनानात्वस्याऽदृष्टपार्थिवादिपरमाण्वादिकारणचातुर्विध्यं किमर्थं समर्थ्यते? नित्यस्वभावमेकमेव हि किञ्चित्समर्थनीयम्। यथा च कारणजातिभेदमन्तरेण कार्यभेदोनोपपद्यते तथा तच्छक्तिभेदमन्तरेणापि। न च ययैकयाशक्त्यैकमनेकाः शक्तीर्बिभर्ति तत्राप्यनेकशक्तिपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, तयैव तदनेकं कार्यं करिष्यतीति वाच्यम्; यतो न भिन्नाः शक्तीः कयाचिच्छक्त्या कश्चिद्धारयतीति जैनो मन्यते-स्वकारणकलापात्तदात्मकस्यैवाऽस्योत्पादात्।

जैन— यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि आत्मादि में भिन्न स्वभाव माने बिना कार्य में भेद नहीं बनता, यदि स्वभाव भेद के बिना ही कार्य में देश भेद और काल भेद होता तो फिर पृथिवी आदि अनेक प्रकार के कार्यों को देखकर उन कार्यभेदों के द्वारा कारणरूप परमाणुओं में भेद काहे को माना जाय, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों के परमाणु पृथक् पृथक् क्यों मानते हो, आपको तो ब्रह्मवादी के समान एक ही नित्य स्वभाववाला कोई कारण मान लेना चाहिये, इस प्रकार कारण की जाति में भेद हुए बिना कार्य में भेद नहीं होता है यह सिद्ध हुआ, उसी प्रकार शक्ति-भेद के बिना भी कार्य में भेद नहीं पड़ सकता है, यह भी सिद्ध हो जाता है।

शंका—आत्मादिक कारणरूप पदार्थ जिस एक शक्ति के द्वारा अनेकों शक्तियों को धारण करता है, उन अनेकों शक्तियों को धारण करने में भी तो अनेक शक्तियों की उसे जरूरत पड़ेगी तो इस तरह से तो अनवस्था आती है, अतः कारण-रूप वस्तु एक शक्ति के द्वारा ही अनेकों कार्य करती है ऐसा मानना चाहिए।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं-हम जैन किसी भी वस्तु को उसकी शक्ति से भिन्न नहीं मानते हैं, अर्थात् आत्मा किसी एक ही शक्ति के द्वारा सर्वथा भिन्न ऐसी अनेक शक्तियों का धारक है इस प्रकार से नहीं मानते हैं, आत्मा आदिक पदार्थ जब किसी अन्य अवस्था-पर्यायरूप-से उत्पन्न होते हैं तब वे नाना शक्ति स्वरूप ही उत्पन्न होते हैं ऐसा हमने स्वीकार किया है।

नैयायिक—सहकारी की अपेक्षा लेकर आत्मादि कारण कार्य को करते हैं और सहकारी कारण अनेक प्रकार के होते ही हैं, अतः कार्य में नानापना पाया जाता है।

सहकारिसव्यपेक्षाणां जनकत्वाद्देशकालस्वभावभेदः कार्ये न विरुध्यतइत्यपि वार्तम्; नित्यस्यानुपकार्यतया सहकार्यऽपेक्षाया अयोगात्। सहकारिणो हि भावाः किं विशेषाधायित्वेन, एकार्थकारित्वेन वाभिधीयन्ते ? प्रथमपक्षे किमसौ विशेषस्तेभ्यो भिन्नः अभिन्नो वा तैर्विधीयते ? भेदे सम्बन्धासिद्धेस्तदवस्थमेवाकारकत्वमेतेषां पूर्वावस्थायामिव पश्चादप्यनुषज्यते। तदसिद्धिश्च समवायादिसम्बन्धस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् सुप्रसिद्धा। विभिन्नातिशयात् कार्योत्पत्तौ चात्र कारकव्यपदेशोऽपि कल्पनाशिल्पिकल्पित एव-अतिशयस्यैव कारकत्वात्। द्वितीयपक्षे तु कथमेतेषा नित्यता उत्पादविनाशात्मकातिशयादभिन्नत्वात्तत्स्वरूपवत् ? एकार्थकारित्वेन त्वेषां सहकारित्वं नास्माभिः प्रतिक्षिप्यते, किंत्वपरिणामित्वे तेषां प्राक् पश्चात् पृथग्भावावस्थायामपि-कार्यकारित्वप्रसङ्गतः 'सहैव कुर्वन्ति' इति नियमो न घटते। न खलु साहित्येऽपि भावाः पररूपेण कार्यकारिणः। स्वयमकार-

---

जैन—यह जवाब भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा आदि पदार्थ तो नित्य हैं, उन्हे सहकारी की अपेक्षा ही कहां है, यदि जबरन मान भी लिया जावे तो सहकारी पदार्थ आत्मादि में विशेष अतिशयपना लाते हैं ? या कि आत्मा के साथ एकरूप होकर कार्य करते हैं ? प्रथम पक्ष लिया जाय तो वे सहकारी हैं, उनके द्वारा विशेषता जो आवेगी वह भिन्न रहेगी अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उसे कौन जोड़ेगा, और बिना सम्बन्ध जुड़े सहकारी की उपेक्षा से रहित जैसे वे कार्य नहीं करते थे वैसे ही उनके मिलने पर भी नही करेंगे, क्योंकि उनकी अतिशयरूप विशेषता तो भिन्न ही पड़ी है, समवायादि संबंध भी उस विशेषता को आत्मादि के साथ जुड़ा नहीं सकते, क्योंकि समवाय का खण्डन आगे होने वाला ही है, और यदि नैयायिक उस भिन्न अतिशय से ही कार्य की उत्पत्ति मान लेंगे तब तो उनका कारकसाकल्य कल्पनारूपी शिल्पी के द्वारा बनाया हुआ काल्पनिक हो जायेगा क्योंकि अतिशय ने ही सब कार्य किया है, दूसरा पक्ष माना जाय कि सहकारी की विशेषता आत्मादिक से अभिन्न है सो ऐसा मानने से आत्मादि पदार्थ नित्य कैसे रहेगे, क्योकि वे आत्मादि पदार्थ उत्पाद विनाशात्मक सहकारीके अतिशय से अभिन्न होने के कारण उत्पाद विनाशातम हो जायेंगे, जैसा कि अतिशय का स्वरूप उत्पाद विनाशात्मक है। एकार्थ होकर आत्मा और सहकारी कारण कार्य करते हैं यह पक्ष तो हम मानते हैं, किन्तु आत्मादि तो अपरिणामी हैं, अतः सहकारी कारणों के संयोग के पहिले और पीछे उनके संयोग से रहित अवस्था में भी वे कार्य करते रहेंगे तो ऐसी हालत में सहकारी कारणों के मिलने पर साथ ही वे कार्य करते हैं यह नियम नहीं बनेगा, तथा कोई भी पदार्थ

काणामन्यसन्निधानेऽपि तत्कारित्वासम्भवात्, सम्भवे वा पर एव परमार्थतः कार्यकारको भवेत् स्वात्मनि तु कारकव्यपदेशो विकल्पकल्पितो भवेत्। तथा चान्यस्यानुपकारिणो भावमनपेक्ष्यैव कार्यं तद्विकलेभ्य एव सहकारिभ्यः समुत्पद्येत। तेभ्योऽपि वा न भवेत्, स्वयं तेषामप्यकारकत्वात् पररूपेणैव कारकत्वात्। अतः सर्वेषां स्वयमकारकत्वे पररूपेणाप्यकारकत्वात् तद्वार्तोच्छेदतो न कुतश्चित् किञ्चिदुत्पद्येत। ततः स्वरूपेणैव भावाः कार्यस्य कर्तार इति न कदाचित्तत्क्रियोपरतिः स्यात्।

सहकारी कारण मिलने के बाद भी पररूप से कार्य नहीं करते हैं अर्थात् सहकारीरूप से कार्य नहीं करते हैं, अपनेरूप से ही कार्य करते हैं। दूसरी बात यह है कि जो स्वतः अकारक है वे सहकारी के मिलने पर भी कार्यों के कारक नहीं हो सकते, यदि वे कार्यों के कारक होते हैं तो सहकारी ने ही कार्य किया यही माना जायगा, तो ऐसी हालत में आत्मा में कारकपना मानना काल्पनिक ही ठहरता है, अतः अनुपकारी उस बेकार आत्मादिक की अपेक्षा के बिना ही वे अकेले सहकारी ही कार्य उत्पन्न करने लगेंगे, अथवा उनसे भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे सहकारी भी तो स्वतः अकारक ही हैं। आत्मादिक की सहायता से ही वे कार्य करने में योग्य माने गये हैं, अन्त में तो सारे के सारे (आत्मा सहकारी आदि ये सब) स्वयं जब कार्य करने में असमर्थ हैं तब एक दूसरे की सहायता से भी इनमें कार्य करने की क्षमता नहीं आ सकने से कारक की बात ही समाप्त हो जाती है, अर्थात् ऐसी हालत में किसी से भी कुछ कार्य नहीं उत्पन्न हो सकेगा, इसलिये इस आपत्ति को दूर करने के लिये प्रत्येक पदार्थ स्वतः ही कार्य करते हैं ऐसा माना जावे तो कार्य का होना कभी नहीं रुकेगा— हमेशा ही कार्य होता रहेगा।

नैयायिक—कार्य सामग्री से उत्पन्न होते हैं, और सामग्री जो होती है वह दूसरे २ अनेक कारणरूप होती है, इसलिये नित्य आत्मादि एक एक पदार्थ से कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं, भले ही उन आत्मादिक में कार्य करने का स्वभाव है।

जैन—नैयायिक का यह कथन गलत है, क्योंकि ये आत्मादिक अकेले क्रम से कार्य कर लेते हैं तो फिर उन कार्यों की अनेक तरह की भिन्न भिन्न काल में होने वाली दूसरी दूसरी सामग्री की क्या जरूरत है, उन कार्यकर्त्ता आत्मादिक नित्य पदार्थों को जो कि कार्य करने की सामर्थ्य धारण कर रहे हैं उनको खुद ही सारे कार्य कर डालना चाहिये, यदि वे नहीं करेंगे तो उनमें ऐसी सामर्थ्य काहे को मानना, वस्तु में

ननु कार्याणां सामग्रीप्रभवस्वभावत्वात् तस्याश्चापरापरप्रत्यययोगरूपत्वात्प्रत्येकं नित्याना तत्क्रियास्वभावत्वेऽप्यनुत्पत्तिस्तेषामिति, तदप्यसाम्प्रतम्; यतोऽयमेकोऽपि भावः क्रमभाविकार्योत्पादने समर्थोऽतः कथमेषां भिन्नकालापरापरप्रत्यययोगलक्षणाऽनेकसामग्रीप्रभवस्वभावता स्यात्? एकेनापि हि तेन तज्जननसामर्थ्यं बिभ्राणेन तान्युत्पादयितव्यानि, कथमन्यथा केवलस्य तज्जननस्वभावता सिद्धयेत्? तस्याःकार्यप्रादुर्भावानुमीयमानस्वरूपत्वात् प्रयोगः-यो यन्न जनयति नासौ तज्जननस्वभावः यथा गोधूमो यवाङ्कुरमजनयन्न तज्जननस्वभावः, न जनयति चाय केवलः कदाचिदप्युत्तरोत्तरकालभावीनि प्रत्ययान्तरापेक्षाणि कार्याणीति। ननु प्रत्ययान्तरमपेक्ष्य कार्यजननस्वभावत्वान्नासौ केवलस्तज्जनयति, न च सहकारिसहितासहितावस्थयोरस्य स्वभावभेदः; प्रत्ययान्तरापेक्षस्व-

---

कार्य को उत्पन्न करने का स्वभावकार्य की उत्पत्ति के बाद अनुमान से सिद्ध होता है, देखो अनुमान से यह बात सिद्ध है कि आत्मादि पदार्थ अकेले समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वे कार्य के अजनक हैं, जो जिसको पैदा नहीं करते वे उसके उत्पादक नहीं माने हैं, जैसे गेहूं जौ के अकुर को पैदा नहीं करते सो वे उसके उत्पादक नहीं माने गये हैं। आत्मा आकाश आदि अकेले रहकर कभी भी उत्तरोत्तर काल में होनेवाले तथा कारणान्तर की अपेक्षा रखनेवाले कार्यों को नहीं करते हैं, अतः वे आत्मादिक उन कार्यों के जनक नहीं हैं।

नैयायिक—कारणान्तर की अपेक्षा लेकर कार्य को करना ऐसा ही आत्मादिक का स्वभाव है, अतः वे अकेले कार्य नहीं करते, सहकारी सहित अवस्था और उस से रहित अवस्था इन दोनों में स्वभाव भेद भी नहीं है, वे तो हमेशा कारणान्तर की अपेक्षा लेकर कार्य करने के जातिस्वभाव को नही छोड़ते हैं।

जैन—नैयायिक की ऊपर कही हुई यह युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि कारणान्तर की निकटता होते हुए भी वे आत्मादि तो स्वरूप से कार्य करते हैं और स्वरूप तो सहकारी के मिलने से पहिले भी था, अतः उन्हें तो पहिले भी कार्य करना ही चाहिये, यदि सहकारी के द्वारा उन आत्मादि कारकों में अतिशय आता है और उस अतिशय के कारण ही कार्य होता है तो फिर उस उपकारक अतिशय से कार्योत्पत्ति हुई, आत्मादि तो व्यर्थ हुए। यदि अनुपकारक बेकार उस आत्मादि में जबर्दस्ती कारकपना स्वीकार किया जाय तो फिर चाहे जो वस्तु चाहे जिसकी उत्पत्ति में बिना कारण ही कर्त्तारूप मानी जानी चाहिये, जैसे कि वस्त्र बनाने में जुलाहा कारण है तो वह मिट्टी से घड़े के बनाने में भी कारण मान लेना चाहिए; इस प्रकार का इस

कार्यजननस्वभावतायाः सर्वदा भावात्, तदप्यपेशलम्; यतः प्रत्ययान्तरसन्निधानेऽपि स्वरूपेणैवास्य कार्यकारिता, तच्च प्रागप्यस्तीति प्रागेवातः कार्योत्पत्तिः स्यात्। प्रत्ययान्तरेभ्यश्चास्यातिशयसम्भवे तदपेक्षा स्यादुपकारकेष्वेवास्याः सम्भवात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तत्सन्निधानस्यासन्निधानतुल्यत्वाच्च केवल एवासौ कार्यं कुर्यात्, अकुर्वंश्च केवलः सहितावस्थायां च कुर्वन् कथमेकस्वभावो भवेद्विरुद्धधर्माध्यासतः स्वभावभेदानुषङ्गात्?

किञ्च सकलानि कारकाणि साकल्योत्पादने प्रवर्तन्ते, असकलानि वा? न तावत्सकलानि साकल्यासिद्धौ तत्सकलत्वासिद्धेः। अन्योऽन्याश्रयश्च-सिद्धे हि साकल्ये तेषां सकलरूपतासिद्धिः,

---

मान्यता में अतिप्रसंग आता है, नित्य आत्मादिक पदार्थ में सहकारी की निकटता हो तो भी वह नहीं के बराबर है, आत्मादिक पदार्थों को तो अकेले रहकर ही कार्य कर लेना चाहिए, यदि वे आत्मादिक अकेले कार्य को नहीं करते और सहकारी सहित होकर करते हैं तो फिर उनमें एक स्वभावता कहां रही, अर्थात् सहकारी हो तो कार्य करना और न हो तो नहीं करना ऐसे उनमें दो स्वभाव तो हो ही गये, इस तरह अनेक विरुद्ध धर्मस्वरूप हो जाये उनमें स्वभावभेद मानना ही पड़ेगा। अच्छा आप हमको यह बताओ कि सभी कारक साकल्य को उत्पन्न करने में प्रवृत्ति करते हैं या कुछ थोड़े से कारक? सभी तो कर नहीं सकते, क्योंकि सभी साकल्य ही सिद्ध नहीं हो पा रहा है तो सकल कैसे सिद्ध होगा। तथा ऐसी मान्यता में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है अर्थात् साकल्य सिद्ध होने पर कारकों में सकलरूपता की सिद्धि होगी और उसकी सकलरूपता की सिद्धि होने पर साकल्य की सिद्धि होगी, इस तरह दोनों ही सिद्ध नहीं पायेंगे, यदि द्वितीय पक्ष की अपेक्षा लेकर "कुछ थोड़े से-असकल कारक-साकल्य को उत्पन्न करेंगे" ऐसा कहा जाय तो अतिप्रसंग दोष आवेगा, अर्थात् फिर कारक साकल्य यह नाम ही विरुद्ध हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि जिस स्वभाव की निकटता से यह कारक समूह साकल्य को उत्पन्न करता है, उसी स्वभाव के द्वारा वह प्रमा-ज्ञान-को ही क्यों नहीं पैदा करेगा, अर्थात् करेगा ही, तो फिर उस साकल्य को व्यर्थ में मानने की क्या जरूरत है, अर्थात् कारक समूह से साकल्य और साकल्य से ज्ञान का पैदा होना ऐसा क्यों मानना, सीधा कारक समूह ही ज्ञान को पैदा करे, यदि कहो कि कारण के बिना प्रमा-ज्ञान उत्पन्न नहीं होती तो साकल्य में भी एक भिन्न करण मानना चाहिए और इस तरह मानने से अनवस्था दोष आयेगा, यदि कहा जाय कि साकल्य तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, अतः उसमें

तत्सिद्धौ च साकल्यसिद्धिरिति । नाप्यसकलान्यतिप्रसक्तेः । किञ्च यया प्रत्यासत्त्या तथाविधान्येतानि साकल्यमुत्पादयन्ति तयैव प्रमामप्युत्पादयिष्यन्तीति व्यर्था साकल्यकल्पना । करणमन्तरेण प्रमोत्पत्त्यभावे साकल्येऽप्यन्यत् करणं कल्पनीयमित्यनवस्था । न चाध्यक्षसिद्धत्वात्साकल्यस्यादोषोऽयम्; आत्मान्तःकरणसंयोगादेरतीन्द्रियस्याध्यक्षाऽविषयत्वात् । केवल विशिष्टार्थोपलब्धिलक्षणकार्यस्याऽध्यक्षसिद्धस्य करणमन्तरेणानुपपत्तेस्तत्परिकल्पना, तच्च मनोलक्षणकरणसद्भावे साकल्यमेवेत्यवधारयितुं न शक्यम् । तन्न सकलकारककार्यं साकल्यम् ।

कोई दोष नही है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा मन आदिका संयोग तो अतीन्द्रिय है वह तो इन्द्रियों के प्रत्यक्ष है नहीं, सिर्फ विशिष्ट पदार्थ का जानने रूप जो कार्य है कि जो अध्यक्ष से सिद्ध है वह करण के बिना नहीं हो सकता सो इतने मात्र से यदि करण को मानते हो तो वह करण अन्तरंग मन रूप भी होता है, ऐसी हालत में साकल्य ज्ञानरूप कार्य को करता है ऐसा निश्चय तो नहीं रह सकता, इसलिये प्रारंभ में जो चार पक्ष रखे थे उनमें से तीसरा पक्ष—सकलकारकों के कार्य को साकल्य कहते हैं— ऐसा जो है वह भी ठीक नहीं रहा ।

इसी प्रकार पदार्थान्तर भी साकल्यरूप नही हो सकता है, क्योंकि जगत् के समस्त पदार्थों में साकल्यरूपता का प्रसङ्ग प्राप्त हो जावेगा, अर्थात् संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब साकल्यपने को प्राप्त हो जावेंगे, और पदार्थ तो हमेशा ही उपलब्ध होते रहते हैं, अतः सभी को हमेशा अर्थ की उपलब्धिरूप प्रमाण होने से सभी व्यक्ति सर्वज्ञ बन जावेंगे, इस प्रकार कारक साकल्य का स्वरूप ही असिद्ध है, यदि सिद्ध है तो भी वह ज्ञान से व्यवहित होकर काम करता है, अतः उसमें सत्यता नहीं है ।

विशेषार्थ—कारक साकल्य को प्रमाण मानने वाले जरन्नैयायिक हैं, उनके यहां कारक साकल्य का लक्षण इस प्रकार है—अव्यभिचारस्वरूप तथा नियम से ही जो पदार्थों की उपलब्धि—जानकारी करा दे ऐसी बोध और अबोध से मिली हुई जो सामग्री है वह प्रमाण है, इस प्रकार कारक साकल्य कहिये या सामग्री कहिये दोनों ही प्रमाण के नामान्तर हैं । प्रमाण शब्द करण साधन से निष्पन्न है और करण साधकतमरूप होता है, प्रमाण की उत्पत्ति के लिये सामग्री साधकतम है, अतः वह प्रमाण अनेक कारकों की सन्निकटता से होता है, उन कारणों में से एक भी न हो तो कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, उन कारकों में से किसी एक को मुख्य या अतिशयवान नहीं कर सकते, क्योंकि कार्यों के उत्पाद में किसी एक कारक या उसका अतिशय काम नहीं

नापि पदार्थान्तरं सर्वस्य पदार्थान्तरस्य साकल्यरूपताप्रसङ्गात् । तथा च तत्सद्भावे सर्वत्र सर्वदा सर्वस्यार्थोपलब्धिरिति सर्वः सर्वदर्शी स्यात् । ततः कारकसाकल्यस्य स्वरूपेणाऽसिद्धेः सिद्धौ वा ज्ञानेन व्यवधानान्न प्रामाण्यम् ।।

करता, किन्तु सभी के सभी कारक ही उस कार्योत्पादन में अग्रेसर होकर काम करते हैं। इस सामग्रीप्रमाणवाद या कारकसाकल्यवाद का दूसरी तरह से भी लक्षण हो सकता है।

कर्त्ता और कर्म से विलक्षण, संशय और विपर्यय से रहित पदार्थों के ज्ञान को पैदा करनेवाली जो बोध और अबोध स्वभाव भूत सामग्री है वही प्रमाण है। इस प्रकार की नैयायिक की मान्यता है, किन्तु यह सब मान्यता असत्य है, क्योंकि पदार्थों को जानने के लिये अबोध अर्थात् अज्ञानरूप सामग्री किस प्रकार उपयोगी हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकतो है। क्या अंधा रूप को देख सकता है ? या पंगु चल सकता है ? नहीं। उसी प्रकार अबोधरूप सामग्री प्रमाण नहीं हो सकती, यदि उपचार मात्र से सामग्री को प्रमाण मानते हो तो हम जैनों को कोई बाधा नहीं है। उपचार से तो प्रकाश, शास्त्र, गुरु आदि को भी प्रमाण का कारण होने से कारण में कार्य का उपचार करके प्रमाण मान सकते हैं। जैसे कि "अन्नं वै प्राणाः" अन्न ही प्राण हैं ऐसा मानना उपचार मात्र है न कि मुख्यरूप है।

*

कारक साकल्यवाद का सारांश

नैयायिक (जरन्नैयायिक, जयंत भट्ट) लोग कारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि प्रमाण, प्रमेय, आकाश, दिशा आदि सभी की सकलता होना ही प्रमाण है, इसीको कारक साकल्य कहते हैं, कारक अर्थात् प्रमाण को पैदा करने वाले पदार्थ उनकी सकलता या पूर्णता यह साकल्य है, इस प्रकार कारक साकल्य का अर्थ किया जाता है, इसी के द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है, देखो—आँख के द्वारा मैंने जाना, दीपक द्वारा मैंने जाना ये सब ज्ञान करणरूप दीपकादिक से ही तो होते हैं।

नैयायिक के पक्ष का आचार्य ने सुन्दर रीति से खंडन किया है, प्रथम यह कहा है कि वस्तु को जानने के लिए अज्ञान का विरोधी ज्ञानरूप करण होना चाहिए, जो साधकतम हो वही ज्ञान है ऐसा नहीं हो सकता, यदि हो जाय तो लकड़ी को काटने वाला होने से कुठार साधकतम है, वह भी ज्ञानरूप करण बन जायगा, दीपकादिकों को तो उपचार से करण माना गया है, मुख्यता से नहीं, कारक के साकल्य का स्वरूप भी असिद्ध है, सकलताको ही साकल्य कहना अथवा उसका धर्म या कार्य अथवा कोई भिन्न ? इस तरह साकल्य के चार स्वरूप हो सकते हैं और किसी रूप से उसका स्वरूप नहीं बनता, इन चारों पक्षों का अच्छी तरह से खंडन किया गया है, सकल कारकों को साकल्य मानें तो कर्त्ता कर्म को भी साकल्य मानना पड़ेगा, फिर साधकतमरूप करण को ही प्रमाण क्यों मानना, सकल कारकों के धर्म को साकल्य मानने में भी अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, क्या वह धर्म उनसे भिन्न है या अभिन्न है, भिन्न है तो उनके साथ संबंध कैसे हैं, अभिन्न है तो या तो कारक ही रहेंगे या धर्म ही रहेगा, सकल कारकों में कार्य को साकल्य कहें तो भी बनता नहीं, क्योंकि सकल कारकों में नित्य आत्मा आदि पदार्थ भी समाविष्ट हैं और उन नित्य आत्मा आदि से कोई उत्पन्न नहीं हो सकता, यदि होगा तो उसे हमेशा ही होते रहना चाहिए, सहकारी कारण कभी २ मिलते हैं अतः सतत कार्य नहीं होता इस प्रकार की नैयायिक की दलील बेकार है, क्योंकि सहकारी की सहायता से वे आत्मादिक कार्य करते हैं तो नित्य में परिवर्तन मानना पड़ेगा और उससे वे अनित्य सिद्ध हो जावेंगे, सकल कारकों को छोड़कर यदि भिन्न पदार्थ को साकल्य कहें तो वे पदार्थान्तर सर्वत्र हमेशा ही मौजूद रहते हैं इसलिए फिर तो सभी को सर्वज्ञ बन जाने का प्रसंग आता है, इसलिये कारक साकल्य को प्रमाण मानना श्रेयस्कर नहीं है।

*** कारक साकल्यवाद का सारांश समाप्त ***

सन्निकर्ष प्रमाणवाद पूर्वपक्ष

*

अब यहां पर वैशेषिक मतानुसार सन्निकर्ष प्रमाण का वर्णन किया जाता है— प्रमाण का लक्षण—"प्रमाकरणं प्रमाणं" प्रमा का जो करण है वही प्रमाण है ऐसा कहा है, "अत्र च प्रमाणं लक्ष्यं, प्रमाकरणं लक्षणम्" यहां "प्रमाणं" पद से तो लक्ष्य का निर्देश किया गया है और "प्रमाकरणं" पद से लक्षण का निर्देश किया है, प्रमा किसे कहते हैं ? तो उत्तर में कहा है—"यथार्थानुभवः प्रमा" कि यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं, "यथार्थ इत्ययथार्थानां–संशय-विपर्यय-तर्कज्ञानानां निरासः, अनुभव इति स्मृतेर्निरासः। ज्ञानविषय ज्ञानं स्मृतिः। अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्" प्रमा के लक्षण में यथार्थ और अनुभव ये दो विशेषण हैं सो यथार्थ विशेषण से अयथार्थ जो संशय-विपर्यय और तर्करूप ज्ञान हैं उनका निराकरण हो जाता है, अर्थात् जो प्रमा संशयादिरूप नही है, उसी प्रमा का यहां ग्रहण हुआ है, एव अनुभवविशेषण से स्मृतिरूप ज्ञान का निरसन हुआ है, क्योंकि पहिले से जिसका विषय जाना हुआ है वह स्मृति कहलाती है, और इससे पृथक् ही ज्ञान अनुभव कहलाता है, जब प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है तो करण क्या है यह शंका मनमें हो ही जाती है, अत. करण का लक्षण कहते है कि–"साधकतमं करणम्" प्रमा का जो साधकतम कारण हो वह करण है, "सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रिय संयोगादौ सति अविलंबेन प्रमोत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादेरेव करणं, प्रमायाः साधकत्वाविशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रादिभ्योऽति शयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणं अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात्प्रमाणं न प्रमात्रादि" अब प्रमा का अर्थात् ज्ञान का साधकतम करण कौन हो सकता है इस पर विचार करते हैं—देखा जाता है कि प्रमाता और प्रमेय के रहते हुए भी प्रमा उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु इन्द्रियसंयोगादि के होने पर शीघ्र ही प्रमा की उत्पत्ति होती है अतः इन्द्रिय संयोगादि को प्रमा का करण माना है, प्रमा में प्रमाता आदि भले ही साधक हों, किन्तु इस इन्द्रियसंयोगरूप सन्निकर्ष से प्रमा उत्पन्न होती है, इसलिये प्रकृष्ट साधक-अतिशयपने से साधक तो सन्निकर्ष ही है, प्रमाता आदि साधकतम नही है यह निश्चित हुआ, इस प्रकार प्रमाण

का लक्षण सिद्ध हो जाने पर अब उसके भेद बताते हैं—"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, शब्द (आगम) ये प्रमाण के चार भेद हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण—'साक्षात्कारि प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्" साक्षात्कार करने वाली प्रमा का जो करण है वह प्रत्यक्ष है, "साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा, सा च द्विधा सविकल्पक निर्विकल्पक भेदात्। तस्याः करणं त्रिविधं—कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्"।

साक्षात्कार करने वाली प्रमा इन्द्रिय से उत्पन्न होती है, उसके दो भेद हैं— (१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक। उस प्रमा के करण के तीन भेद हैं—कभी तो उस प्रमा का करण इन्द्रियां होती है, कभी इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होता है और कभी ज्ञान करण होता है।

"कदा पुनरिन्द्रियकरणं ? यदा निर्विकल्परूपा प्रमा फलम्—तथाहि–आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां वस्तु प्राप्य प्रकाशकारित्वं नियमात्। ततो ऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं जात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते। तस्य ज्ञानस्येन्द्रियकरणं, छिदया इव परशुः। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षो ऽवान्तर व्यापारः छिदा करणस्य परशोरिवदारुसंयोगः। निर्विकल्पं ज्ञानं फलं परशोरिव छिदा।

इस प्रकार प्रत्यक्ष के तीन तरह के करण (इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, ज्ञान) होने पर कौनसा करण कब कार्यकारी होता है, सो बताते हैं—

जब निर्विकल्परूप प्रमा फल कहलाती है, तब इन्द्रियां करण होती हैं जैसे कि (पहले) आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, फिर मन का इन्द्रियों के साथ और फिर इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग होता है, क्योंकि इन्द्रियां वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित करती हैं, यह नियम है, इसके पश्चात् अर्थ से सन्निकृष्ट (संबद्ध) हुई इन्द्रिय के द्वारा नाम जाति आदि की योजना से रहित, केवल वस्तु का ग्रहण करने वाला "यह कुछ है" इस प्रकार का निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का करण इन्द्रिय होती है, जिस प्रकार छिदी क्रिया का (काटने रूप क्रिया का) करण परशु (कुठार) होता है, इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार

होता है, जिस प्रकार काटने का साधन परशु का काष्ठ के साथ संयोग (अवान्तर व्यापार) होता है, निर्विकल्पक ज्ञान फल है जैसे परशु का फल काटना होता है।

विशेष—ऊपर कहे गये प्रत्यक्ष प्रमा का करण तीन प्रकार का है—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और ज्ञान, इनमें से इन्द्रिय उस अवस्था में करण होता है जब वस्तु का केवल निर्विकल्प प्रत्यक्ष हुआ करता है, जब आत्मा का मनसे संयोग होता है और मन किसी एक इन्द्रिय से संबद्ध होता है—मान लीजिये मन नेत्र से संबद्ध है और नेत्र इन्द्रिय का घट–अर्थ के साथ सन्निकर्ष हो जाता है—तब हमें यह "कुछ है" ऐसा ज्ञान होता है, यही ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहलाता है। यह निर्विकल्पप्रमा प्रत्यक्षप्रमाण का फल है।

"कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम यदा निर्विकल्पानंतरं सविकल्पकं नाम जात्यादि योजनात्मकं डित्थो ऽयं, ब्राह्मणो ऽयं, श्यामो ऽयमिति विशेषण विशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्"।

इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कब करण होता है ? सो अब बताते हैं—जब निर्विकल्पज्ञान के बाद नाम जाति आदि से विशिष्ट यह डित्थ (ठूंठ) है, यह ब्राह्मण है, यह श्यामरंगवाला है इस प्रकार का विशेषण तथा विशेष्य ग्राहक जो सविकल्पक ज्ञान होता, तब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है।

"कदा पुनर्ज्ञानं करणम्" ?

" यदा उक्त सविकल्पकानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः जायन्ते तदा निर्विकल्पज्ञानं करणम्"—अब तीसरा जो ज्ञान है वह करण कब होता—सो बताते हैं—कि जब उस पूर्वोक्त सविकल्पक ज्ञान के बाद हानबुद्धि, उपादानबुद्धि, तथा उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है तब निर्विकल्प ज्ञान करण बनता है, इन तीनों प्रकार के करणों में प्रमा को उत्पन्न करना रूप फल है अर्थात् ज्ञान का जो साधकतम होता है वह करण कहलाता है और उसे ही प्रमाण कहा गया है एवं जानने रूप जो प्रमा या ज्ञान होता है वह प्रमाण का फल है, हां जहां यह तीसरे प्रकार का करण है वह निर्विकल्पक ज्ञान रूप है और त्याग आदि रूप सविकल्पक ज्ञान ही उसका फल है; किन्तु इन सबमें इन्द्रियों और पदार्थों का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, अत सर्वत्र सन्निकर्ष ही प्रमाण होता है, अब यहां सन्निकर्ष का विशेष वर्णन करते हैं—"इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः

साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षडविध एव । तद्यथा—संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः विशेष्यविशेषणभावश्चेति ।"

इन्द्रिय और पदार्थों का जो सन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञानका निमित्त होता है वह ६ प्रकार का है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, और विशेष्यविशेषणभाव ।

इन ६ प्रकार के सन्निकर्षों का कथन क्रमशः इस प्रकार है—संयोग सन्निकर्ष—तत्र यदा चक्षुषा घट विषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः । अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव, अयुतसिद्धयभावात् । एवं मनसान्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यते ऽहमिति, तदा मन इन्द्रियं, आत्मार्थः, अनयोः सन्निकर्षः सन्निकर्षः संयोग एव ॥

जब नेत्र के द्वारा घट आदि विषय का ज्ञान होता है तब चक्षु तो इन्द्रिय है और घट अर्थ है, इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही है, क्योंकि ये दोनों अयुतसिद्ध नहीं है, इसी प्रकार जब अन्तःकरणरूप मन के द्वारा आत्मा के विषय में "मैं हूं" इस प्रकार का जब ज्ञान होता है, तब मन तो इन्द्रिय है और आत्मा अर्थ है, इन दोनों का सन्निकर्ष भी संयोग ही कहलाता है ।

"कदा पुनः संयुक्त समवायः सन्निकर्षः" ?

"यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते–घटे श्यामरूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटरूपमर्थः अनयोः सन्निकर्षः संयुक्त समवाय एव—चक्षुः संयुक्ते घटे रूपस्य समवायात् । दूसरे नम्बर का संयुक्त समवाय नामका सन्निकर्ष कब होता है–सो बताते हैं—

जब चक्षु के द्वारा घट के रूप का ग्रहण होता है कि घड़े में काला रंग है, तब चक्षु तो इन्द्रिय है और अर्थ घट में स्थितरूप है, इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्त समवाय ही है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त जो घट है उसमें रूप का समवाय है ।

"कदा पुनः संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः" ? यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं रूपत्वादिसामान्यमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवाय एव चक्षुः सयुक्ते घटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात् ॥

संयुक्तसमवेत समवाय नामक तीसरा सन्निकर्ष कब होता है ? सो यह बताते हैं—

जब चक्षु के द्वारा घट के रूप के रूपत्वसामान्य का ग्रहण होता है तब चक्षु तो इन्द्रिय है, रूपत्व सामान्य अर्थ है—इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय कहलाता है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है और उसमें रूपत्व सामान्य का समवाय है ।

कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः ?

यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दोऽर्थः अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नमः श्रोत्रं, श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात् ।।

समवाय नामका चौथा सन्निकर्ष का भेद कब होता है ? जब कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द को ग्रहण किया जाता है तब यह समवाय नामका चौथा सन्निकर्ष का भेद होता है, अर्थात् कर्ण तो इन्द्रिय है और शब्द अर्थ है, इन दोनों का सन्निकर्ष समवाय ही है, क्योंकि कर्ण-विवर से अवच्छिन्न (परिमित-घिरा हुआ) आकाश ही कर्ण कहलाता है, अतः कर्ण आकाशरूप होने से और शब्द आकाश का गुण होने से तथा गुणगुणी का समवाय संबंध होने के कारण श्रोत्र और शब्द का समवाय सन्निकर्ष ही कहलाता है ।

कदा पुनः समवेतः सन्निकर्षः ?

"यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दत्वादिसामान्यमर्थः अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवाय एव, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्", समवेतसमवायनामके पांचवे सन्निकर्ष का कथन करते हुए यहां कहा गया है कि जब शब्द में समवेत जो शब्दत्व सामान्य है उसका श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है तब श्रोत्र तो इन्द्रिय है और शब्दत्वादि जाति अर्थ (विषय) है, इन दोनों का सन्निकर्ष समवेत समवाय ही है, क्योंकि श्रोत्र में समवेतशब्द में शब्दत्व सामान्य का समवाय है ।

कदा पुनर्विशेष्य विशेषण भाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति ?

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते "इह भूतले घटो नास्ति, इति

विशेष्य विशेषणभावः संबंधः । तया चक्षुः संयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं, भूतलं विशेष्यम् ।

विशेष्यविशेषणभाव नामक सन्निकर्ष कब होता है-सो ही बताते हैं—जब चक्षु से संयुक्त भूमि पर "यहां भूतल पर घट नहीं है इस प्रकार से घट के अभाव का ग्रहण होता है तब विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष होता है, वहां चक्षु से संयुक्त भूतल में घट का अभाव विशेषण है, तथा भूतल विशेष्य है । इस प्रकार ६ प्रकार का सन्निकर्ष होता है, और यही प्रमाण है, क्योंकि इसके बिना प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती है, इस प्रकार प्रथम प्रमाण जो प्रत्यक्ष है उसका यह संक्षेप वर्णन समझना चाहिये ।

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । येन हि अनुमीयते तदनुमानम् । लिङ्गपरामर्शेण चानुमीयते ऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । तच्च धूमादिज्ञानमनुमिति प्रति करणत्वात्, अग्न्येयादिज्ञानमनुमितिः तत्करणं धूमादिज्ञानम् ।

द्वितीय अनुमान प्रमाण का लक्षण—

लिङ्ग (हेतु) परामर्श ही अनुमान है, जिससे अनुमिति की जाती है वह अनुमान है लिङ्गपरामर्श से अनुमिति की जाती अतः लिंगपरामर्श अनुमान है, और धूम आदि का ज्ञान ही लिंगपरामर्श है, क्योंकि वह अनुमिति के प्रति करण है अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है उसका करण धूम आदि का ज्ञान है ।

तृतीय प्रमाण उपमा का लक्षण—

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञानमुपमानं, यथा गवयमजानन्नपि नागरिको "यथा गौस्तथा गवयः", इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात् पुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरण सहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात् ।

अतिदेशवाक्यके (जैसी गाय होती है वैसा रोझ होता है) अर्थका स्मरण करने के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड (शरीर—आकृति) का ज्ञान ही उपमान प्रमाण है, जैसे—गवय को नहीं जानने वाला भी कोई नागरिक है, वह जब किसी वनवासी से यह वाक्य सुनकर कि जैसी गाय होती है वैसा गवय होता है वन में जाता है और वहां इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुए वह गौ की समानता से

युक्त जब पिण्ड को देखता है, तब वाक्यार्थ के स्मरण के साथ उसे जो गो की समानता से विशिष्ट पिण्ड का ऐसा ज्ञान होता है कि यही रोझ है सो ऐसा ज्ञान ही उपमान प्रमाण कहलाता है, क्योंकि वह उपमितिरूप प्रमा के प्रति करण हुआ है।

चौथे शब्द प्रमाण का लक्षण—

"आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा" पुरुषः। वाक्यं तु आकांक्षा–योग्यता–सन्निधिमतां पदानां समूहः॥

आप्त पुरुष का वाक्य शब्द प्रमाण कहलाता है, जैसा पदार्थ है वैसा ही उसका उपदेश देने वाला पुरुष आप्त माना गया है, आकांक्षा योग्यता और सन्निधि—निकटतावाले-पदोंके समूहको वाक्य कहा गया है, इसप्रकार चारों प्रमाणों में "प्रमाकरणं प्रमाणं" यह प्रमाण का लक्षण घटित होता है। जो करण है वह सन्निकर्ष है, अतः सन्निकर्ष ही प्रमाण है; यह सिद्ध हो जाता है। यहां पर अनुमानादि प्रमाणों यह संक्षेप से वर्णन किया है, विशेष जानना हो तो तर्कभाषा आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।　　अत्यलम्

* पूर्वपक्ष समाप्त *

सन्निकर्षवादः

मा भूत् कारकसाकल्यस्यासिद्धस्वरूपत्वात् प्रामाण्य सन्निकर्षादेस्तु सिद्धस्वरूपत्वात्प्रमित्युत्पत्तौ साधकतमत्वाच्च तत्स्यात् । सुप्रसिद्धो हि चक्षुषो घटेन संयोगो रूपादिना (संयुक्तसमवायः रूपत्वादिना) संयुक्तसमवेतसमवायो ज्ञानजनकः । साधकतमत्वं च प्रमाणत्वेन व्याप्तं न पुनर्ज्ञानत्वमज्ञानत्वं वा संशयादिवत्प्रमेयार्थवच्च, इन्यसमीक्षिताभिधानम्; तस्य प्रमित्युत्पत्तौ साधकतमत्वाभावात् । यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमम् ।

वैशेषिक—यहां पर नैयायिक द्वारा मान्य कारक साकल्य का खंडन किया सो ठीक है, पर हमारा सन्निकर्ष तो सिद्ध स्वरूप है, अतः आपको उसे प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि प्रमिति की उत्पत्ति में वह साधकतम होता है । यह बात तो सुप्रसिद्ध ही है कि आंख का घट के साथ संयोग होता है, तथा रूप के साथ संयुक्तसमवाय होता है इसी तरह रूपत्व के साथ उसका संयुक्तसमवेतसमवायादि होता है, तभी जाकर उनके वे ज्ञानजनक-ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले होते हैं— उनके ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, साधकतम के साथ प्रमाण की व्याप्ति है, न कि ज्ञानत्व और अज्ञानत्व के साथ । जैसे कि संशयादिक अथवा प्रमेय आदि के साथ प्रमाण की व्याप्ति नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानत्व और अज्ञानत्व के साथ भी उसकी व्याप्ति नहीं है ।

जैन—यह कथन बिना सोचे समझे किया है । क्योंकि सन्निकर्ष प्रमिति की उत्पत्ति के लिये—प्रमिति क्रिया के प्रति—साधकतम नहीं है । जिसके होनेपर प्रमिति होती है और नहीं होने पर नहीं होती है वह उसके प्रति साधकतम बनता है ।

"भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्"

जिसके होने पर होना और उसके अभाव में नहीं होना वही साधकतम है ऐसा कहा गया है, सो ऐसा साधकतमपना सन्निकर्ष में नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष होने

"भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्" [ ] इत्यभिधानात् ।

न चैतत्सन्निकर्षादौ सम्भवति । तद्भावेऽपि क्वचित्प्रमित्यनुत्पत्तेः; न हि चक्षुषो घटवदाकाशे सयोगो विद्यमानोऽपि प्रमित्युत्पादकः, सयुक्तसमवायो वा रूपादिवच्छब्दरसादौ, संयुक्तसमवेतसमवायो वा रूपत्ववच्छब्दत्वादौ । तदभावेऽपि च विशेषणज्ञानाद्विशेष्यप्रमितेः सद्भावोपगमात् । योग्यताभ्युपगमे सैवास्तु किमनेनान्तर्गडुना ?

योग्यता च शक्तिः, प्रतिपत्तुः प्रतिबन्धापायो वा ? शक्तिश्चेत्; किमतीन्द्रिया सहकारिसान्निध्यलक्षणा वा ? न तावदतीन्द्रिया; अनभ्युपगमात् । नापि सहकारिसान्निध्यलक्षणा, कारकसाकल्यपक्षोक्ताशेषदोषानुषङ्गात् । सहकारिकारणं चात्र द्रव्यम्, गुणः, कर्म वा स्यात् ? द्रव्य चेत्, किं व्यापि द्रव्यम्, अव्यापि द्रव्यं वा ? न तावद् व्यापिद्रव्यम्; तत्सान्निध्यस्याकाशादीन्द्रियसन्निकर्षे-

---

पर भी कहीं आकाशादि में (आकाशादिके विषयमें) प्रमिति नहीं होती है, जिस प्रकार आंख का घट के सयोग है वैसे आकाश के साथ भी उसका संयोग है. किन्तु वह संयोगरूप सन्निकर्ष वहां प्रमिति को पैदा नहीं करता, मतलब—जैसे आंख से घट का ज्ञान होता है वैसे आकाश का ज्ञान नही होता, ऐसे ही संयुक्त समवाय नामक सन्निकर्षरूप संबंध से घट में रूप के समान ही रहे हुए शब्द, रस का भी ज्ञान क्यों नही होता, तथा संयुक्त समवेत समवाय सबध से रहनेवाले रसत्व आदि का ज्ञान भी क्यो नही होता है, सन्निकर्ष के अभाव मे भी विशेषण ज्ञान से विशेष्य की प्रमिति होती है, ऐसा आपने माना है, यदि कहो कि घट की तरह आकाश के साथ भी सन्निकर्ष तो है, फिर भी जहा घटादि में योग्यता है वहां पर ही प्रमितिरूप कार्य पैदा होता है तो फिर इस प्रकार मानने पर योग्यता को ही स्वीकार कर लो अतरंग फोड़े की तरह इस सन्निकर्ष को काहे को मानते हो, योग्यता क्या चीज है ? कहो–क्या शक्ति का नाम योग्यता है ? अथवा प्रतिपत्ता—जाननेवाले ज्ञाता-के प्रतिबन्धक कर्म का अभाव होना यह योग्यता है । शक्ति को योग्यता कहा जावे तो वह अतीन्द्रिय है या सहकारी की निकटता होने रूप है ? अतीन्द्रिय शक्ति तो आपने मानी नहीं है, और सहकारी सान्निध्यरूप शक्ति यदि मानोगे तो कारकसाकल्यवाद की तरह उसमें अनेक दोष आते हैं । अच्छा यह बतलाओ कि सहकारी कारक यहां कौन है–द्रव्य है या गुण या कि कर्म ? द्रव्य मानो तो उसके दो भेद हैं–एक अव्यापिद्रव्य और दूसरा व्यापिद्रव्य । व्यापीद्रव्य तो कह नहीं सकते, क्योंकि उसकी निकटता तो आकाश आदि और इन्द्रिय सन्निकर्ष में है ही, इसमें कोई विशेषता नहीं है । नही तो आपने दिशा, आकाश,

ऽप्यविशेषात् । कथमन्यथा दिक्कालाकाशात्मनां व्यापिद्रव्यता ? अथाऽव्यापि द्रव्यम्; तत्किं मनः, नयनम्, आलोको वा ? त्रितयस्याप्यस्य सान्निध्यं घटादीन्द्रियसन्निकर्षवदाकाशादीन्द्रियसन्निकर्षेऽप्यस्त्येव । गुणोऽपि तत्सहकारी प्रमेयगतः, प्रमातृगतो वा स्यात्, उभयगतो वा । प्रमेयगतश्चेत्; कथं नाकाशस्य प्रत्यक्षता द्रव्यत्वतोऽस्यापि गुणसद्भावाविशेषात् ? अमूर्तत्वान्नास्य प्रत्यक्षतेऽत्यप्ययुक्तम्; सामान्यादेरप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । प्रमातृगतोऽप्यदृष्टोऽन्यो वा गुणो गगनेन्द्रियसन्निकर्षसमयेऽस्त्येव । न खलु तेनास्य विरोधो येनानुत्पत्तिः प्रध्वंसो वा तत्सद्भावेऽस्य स्यात् । उभयगतपक्षेऽप्युभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः । कर्माऽप्यर्थान्तरगतम्, इन्द्रियगतं वा तत्सहकारि स्यात् ? न तावदर्थान्तरगतम्; विज्ञानोत्पत्तौ तस्यानङ्गत्वात् । इन्द्रियगतं तु तत्रास्त्येव, आकाशेन्द्रियसन्निकर्षे नयनोन्मीलनादिकर्मणः सद्भावात् । प्रतिबन्धापायरूपयोग्यतोपगमे तु सर्वं सुस्थम्, यस्य यत्र यथाविधो हि प्रतिबन्धा-

---

आत्मा, काल इन्हे व्यापी क्यों मान रखा है । यदि अव्यापी द्रव्य मानों तो वे कौन हैं ? क्या मन है ? या नेत्र हैं ? या प्रकाश है ? इन तीनों की निकटता घटादि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष की तरह आकाशादि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष में भी है, फिर क्या कारण है कि आकाशादि का ज्ञान नहीं होता, यदि गुण को सहकारी कारण माना जाय तो क्या प्रमेयगत गुण को या प्रमातृगत गुणको या दोनों में रहे हुए गुण को किसको सहकारी माना जाय ? प्रमेयगत—प्रमेय में रहा हुआ—गुण सहकारी है ऐसा कहो तो आकाश की प्रत्यक्षता क्यों नहीं क्योंकि आकाश भी द्रव्य होने के कारण गुणवाला है ही, आकाश अमूर्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता—प्रत्यक्षज्ञान का विषय नही होता—सो यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण कि ऐसा मानने पर तो सामान्यादिक तथा गधादि अनेक वस्तुएं भी अप्रत्यक्ष हो जावेंगी क्योंकि इन सामान्य तथा गंधादि को आपने अमूर्त माना है, अतः वे भी आकाश की तरह जानने में नहीं आवेंगे । प्रमाता में होनेवाला—रहा हुआ—गुण सहकारी होता है ऐसा मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रमाता का अदृष्ट गुण अथवा और कोई भी गुण आकाश और इन्द्रिय सन्निकर्ष के समय है ही । आकाश और इन्द्रिय सन्निकर्ष के साथ सहकारी गुण का कोई विरोध तो है नहीं जिससे कि वह ज्ञान पैदा न करे या उस सहकारी गुण का आकाश और नेत्रेन्द्रिय सन्निकर्ष के समय विनाश हो जाय । प्रमाता और प्रमेय इन दोनों का गुण सहकारी है ऐसा मानो तो दोनों पक्ष में दिये गये दोष यहां आकर पड़ेंगे । कर्म को (क्रिया को) सन्निकर्ष का सहकारी मानो तो भी गलत है, कारण कि कर्म दो प्रकार का हो सकता है—एक प्रमेय का कर्म और दूसरा इन्द्रिय का कर्म ।

पायस्तस्य यत्र तथाविधार्थपरिच्छित्तिरुत्पद्यते। प्रतिबन्धापायश्च प्रतिपत्तु. सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसाधयिष्यते।

न च योग्यताया एवार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वतः प्रमाणत्वानुषङ्गात् 'ज्ञानं प्रमाणम्' इत्यस्य विरोधः; अस्याः स्वार्थग्रहणशक्तिलक्षणभावेन्द्रियस्वभावायाः 'यदसन्निधाने कारकान्तरसन्निधानेऽपि यन्नोत्पद्यते तत्तत्करणकम्, यथा कुठारासन्निधाने कुठार(काष्ठ)च्छेदनमनुत्पद्यमानं कुठारकरणकम्, नोत्पद्यते च भावेन्द्रियासन्निधाने स्वार्थसंवेदनं सन्निकर्षादिसद्भावेऽपीति तद्भावेन्द्रियकरणकम्' इत्यनुमानत. प्रसिद्धस्वभावायाः स्वार्थावभासिज्ञानलक्षणप्रमाणसामग्रीत्वत तदुत्पत्तावेव साधकतमत्वोपपत्तेः। ततोऽन्यनिरपेक्षतया स्वार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाज्ज्ञानमेव प्रमाणम्। तद्धेतुत्वा-

---

प्रमेय का कर्म—अर्थात् रूपप्रमेय का—कर्म—तो उसका सहकारी होता नहीं है क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति में उसे कारण माना ही नहीं गया है, इन्द्रिय का कर्म तो आकाश और इन्द्रियके सन्निकर्ष के समय में है ही, क्योंकि वहां पर भी—आकाश और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के समय में भी—नेत्र का खोलना उसका बन्द करना आदि क्रिया रूप इन्द्रिय कर्म होता ही है, इसलिये शक्तिरूप योग्यता तो बनती नहीं। हां, प्रतिबन्धक का अभाव होना यह योग्यता है ऐसा द्वितीय पक्ष मानो तो सब बात बन जाती है, अर्थात्-जहा जिसके जैसा प्रतिबन्धक का अभाव (ज्ञानावरणादि कर्मो का अभाव या क्षयोपशम) हो जाता है वहां उसके वैसी ही प्रमिति उत्पन्न होती है। प्रमाता—आत्मा के प्रतिबन्धक कर्म का अभाव कैसे होता है इस बात को हम सर्वज्ञ-सिद्धि के प्रकरण में कहने वाले हैं।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि जब अर्थ के जानने में योग्यता ही साधकतम होती है, तो फिर वही योग्यता प्रमाण हो जायगी, फिर ज्ञान प्रमाण है यह बात रहेगी नहीं सो यह आशंका गलत है, क्योंकि स्व और पर को जानने की है शक्ति जिसकी ऐसी भावेन्द्रिय स्वभाव वाली जो योग्यता है, वह ज्ञानरूप ही है, जिसके न होने पर और कारकान्तर के होने पर भी जो उत्पन्न नहीं होता वह उसके प्रति करण माना जाता है, जैसे कुठार के न होने पर काठ का छेदन नहीं होता इसलिये कुठार को काठ छेदन के प्रति करण माना जाता है। उसी प्रकार भावेन्द्रिय के न होने पर स्व पर का ज्ञान नहीं होता भले ही सन्निकर्षादि मौजूद रहें, अतः उसके प्रति भावेन्द्रिय को ही करण माना जाता है, इस प्रकार स्व पर का जानना है लक्षण जिसका ऐसी प्रसिद्ध स्वभाववाली योग्यता से प्रमिति उत्पन्न होती है अतः वही उसके

त्सन्निकर्षादेरपि प्रामाण्यम्, इत्यप्यसमीचीनम्; छिदिक्रियाया करणभूतकुठारस्य हेतुत्वादयस्कारादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । उपचारमात्रेणाऽस्य प्रामाण्ये च आत्मादेरपि तत्प्रसङ्गस्तद्धेतुत्वाविशेषात् ।

ननु चात्मनः प्रमातृत्वाद् घटादेश्च प्रमेयत्वान्न प्रमाणत्वं प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरस्य प्रमाणत्वाभ्युपगमात् इत्यप्यसङ्गतम्, न्यायप्राप्तस्याभ्युपगममात्रेण प्रतिषेधायोगात्, अन्यथा 'अचेतनादर्थान्तरं प्रमाणम्' इत्यभ्युपगमात्सन्निकर्षादेरपि तन्न स्यात् । किञ्च प्रमेयत्वेन सह प्रमाणत्वस्य विरोधेप्रमाणमप्रमेयमेव स्यात्, तथा चासत्त्वप्रसङ्गः संविन्निष्ठत्वाद्भावव्यवस्थितेः, इत्ययुक्तमेतत्—

प्रति साधकतम है, स्व पर को जानने में किसी दूसरे की अपेक्षा न करके आप (स्वयं) अकेला ही ज्ञान साधकतम है, अतः वही प्रमाण है, उस प्रमाण का सहायक सन्निकर्ष है, इसलिये उसे भी प्रमाण मान लेना चाहिये सो ऐसा कहना भी असत्य है क्योंकि यदि इस प्रकार मान लिया जावे तो छेदने में साधकतम तो कुठार है, वहां बढई को भी प्रमाण मानना चाहिये, यदि सन्निकर्षादि को उपचार से प्रमाण मानो तो आत्मादिक को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि वे भी सन्निकर्षादि की तरह ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु हैं ।

वैशेषिक—आत्मा प्रमाता है, घटादि वस्तु प्रमेय है, इसलिये आत्मादि वस्तुएं प्रमाण नहीं हो सकतीं ? प्रमातृ और प्रमेय से भिन्न में प्रमाणता होती है, अर्थात् प्रमातृ और प्रमेय से बिलकुल भिन्न ऐसा प्रमाण होता है ।

जैन वैशेषिक का यह कथन असंगत है, क्योंकि जो युक्ति आदि से सिद्ध है उसे अपने घर की मान्यतामात्र से निषेध नहीं किया जा सकता है, यदि अपनी मान्यता ही चलानी है तो हम जैनों ने माना है कि अचेतन से भिन्न चेतन प्रमाण होता है अतः अचेतन होने से सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है यह बात भी सिद्ध हुई मान लेवी चाहिए, किञ्च— दूसरी बात यह है कि यदि ऐसा ही माना जाय कि प्रमेय से सर्वथा प्रमाण भिन्न ही है–अर्थात् प्रमेयत्व के साथ प्रमाणता का विरोध है, तो प्रमाण अप्रमेय ही हो जावेगा–ऐसा होने से उसमें असत्त्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा– अर्थात् अप्रमेय होने से वह असत्त्वरूप हो जायगा, क्योंकि वस्तु की व्यवस्था ज्ञान के आधार पर ही होती है, अर्थात् जो ज्ञान का विषय होगा वही सत्रूप–पदार्थरूप–माना जायगा अर्थात्—जो ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं उन्हीं घट पट आदि पदार्थों की व्यवस्था

"प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति चतसृष्वेवंविधासु तत्त्वं परिसमाप्यत इति" [ ]। कथं वा सर्वज्ञज्ञानेनाप्यस्याप्रमेयत्वे तस्य सर्वज्ञत्वम्? किञ्च प्रमाणवत् प्रमातुरपि प्रमेयत्वधर्माधारत्वं न स्यात्तस्य तद्विरोधाविशेषात्। तथा चाश्वविषाणस्येवास्यासत्त्वानुषङ्गः। तद्धर्माधारत्वे वा प्रमात्रा ततोऽर्थान्तरभूतेन भवितव्यं प्रमाणवत्। तस्यापि प्रमेयत्वे ततोऽप्यर्थान्तरभूतेनेत्येकत्रात्मनि-प्रमेयेऽनन्तप्रमातृमालाप्रसक्तिः। यदि धर्मभेदादेकत्रात्मनि प्रमातृत्वं प्रमेयत्वं चाविरुद्धं तर्हि प्रमाणत्वमप्यविरुद्धमनुमन्यताम्। ततो निराकृतमेतत्-"प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमाणम्" इति।

चक्षुषश्चाप्राप्यकारित्वेनाग्रे समर्थनात्कथं घटेन सयोगस्तदभावात्कथं रूपादिना संयुक्तसमवायादिः? इत्यव्याप्तिः सन्निकर्षप्रमाणवादिनाम्। सर्वज्ञाभावश्चेन्द्रियाणां परमाण्वादिभि साक्षात्सम्बन्धाभावात्; तथाहि-नेन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः सम्बध्यते इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत्।

होती है, वैशेषिक जब प्रमाण को प्रमेय नहीं मानेंगे उसे अप्रमेय ही मानेंगे तो प्रमाण अप्रमेय–जानने योग नहीं हो सकने से उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रमाण को अप्रमेय मानने से उसका अभाव हो जाने पर सारे ही तत्त्व समाप्त हो जाते हैं, तो फिर आप वैशेषिकों के यहां चारों वस्तुतत्त्वों की व्यवस्था कैसे हो सकेगी, "प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता इन चारों में तत्त्व–परमार्थ तत्त्व–समाप्त होता है–अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थ इन चारों में अन्तर्भूत हैं, जिसे छोड़ने और ग्रहण करने की इच्छा होती है ऐसे आत्मा की जो प्रवृत्ति है—अर्थात् हेय और उपादेय पदार्थ को ग्रहण करने की और छोड़ने की जिसे इच्छा होती है एवं उन्हे ग्रहण करने और छोड़ने की तरफ जो प्रवृत्ति करता है उसे प्रमाता कहते हैं। जिसके द्वारा प्रमाता अर्थ को जानता है वह प्रमाण है, जो अर्थ प्रमाता के द्वारा जाना जाता है–या जाना गया है वह प्रमेय है, और जो ज्ञप्ति–ज्ञान–जानने रूप क्रिया होती है वह प्रमिति है, ऐसा आपका कहना है सो वह समाप्त हो जाता है।

अच्छा आप यह तो बताओ–कि प्रमाणतत्त्व सर्वज्ञ के ज्ञानके द्वारा जाना जाता है या नहीं? यदि वह उनके द्वारा नहीं जाना जायेगा तो उसमें सर्वज्ञता–सर्वज्ञपना–नहीं रहेगो क्योंकि उसने प्रमाणतत्त्व को जाना नहीं और पूर्णतत्वको जाने बिना वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है, तथा–जैसे प्रमाण प्रमेय धर्म का आधार नहीं है, वैसे प्रमाता में भी प्रमेयधर्म नहीं रहेगा, क्योंकि इन चारों का आपस में विरोध तो समानरूप से है ही, इस तरह फिर प्रमाण भी घोड़े के सींगकी तरह असत् हो जावेगा, यदि प्रमाता प्रमेय धर्म का आधार होता है तो उसे जानने के लिये दूसरा एक और

योगजधर्मानुग्रहात्तस्य तैः साक्षात्सम्बन्धश्चेत्; कोऽयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम। स्वविषये प्रवर्त्तमानस्यातिशयाधानम्, सहकारित्वमात्रं वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावाद्, भावे तदनुग्रहवैयर्थ्यम्। तत एवास्य तत्र प्रवृत्तौ परस्पराश्रय —सिद्धे हि योगजधर्मानुग्रहे तत्र तस्य प्रवृत्तिः, तस्यां च योगजधर्मानुग्रह इति। द्वितीयपक्षोप्यसम्भाव्यः;

प्रमाता होना चाहिये, क्योंकि वह पहिला प्रमाता प्रमेय का आधार होने से प्रमेय हो जावेगा, इसलिये जैसे प्रमाण प्रमेय से भिन्न है वैसे प्रमाता भी मानना पड़ेगा, दूसरा आया हुआ प्रमाता भी जब प्रमेय हो जावेगा तब तीसरा और एक प्रमाता चाहिए, फिर एक प्रमेयरूप आत्मा में अनंत प्रमाता की माला जैसी बन जावेगी, इन दोषों को हटाने के लिये यदि कहा जाये कि एक ही आत्मा में प्रमातृपना और प्रमेयपना होने में कोई विरोध नही है, तो फिर उसी प्रमाता में प्रमाणपना भी मान लो फिर "प्रमाता और प्रमेय से भिन्न प्रमाण होता है" यह सूत्र सदोष हो जाने से खंडित हो जाता है।

वैशेषिक को हम आगे अच्छी तरह से सिद्ध करके बताने वाले हैं कि चक्षु अप्राप्यकारी है, इसलिये घट का आंख के साथ संयोग होना, रूपादिक के साथ उसका संयुक्त समवायादि होना इत्यादिरूप से सन्निकर्ष का लक्षण जो किया है वह अव्याप्ति दोष युक्त हो जाता है और सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ का अभाव भी होता है, क्योंकि इन्द्रियों का परमाणु आदि बहुत से पदार्थो के साथ साक्षात् सबंध होता ही नही है। इन्द्रियां सूक्ष्म परमाणु आदि पदार्थो के साथ साक्षात् सबंध नहीं कर सकती, क्योंकि वे हम लोगों की इन्द्रियों के समान इन्द्रियां हैं। इस प्रकार के इस अनुमान से इन्द्रियों का परमाणु आदि के साथ संबंध होना असिद्ध सिद्ध होता है।

शंका—यदि वैशेषिक ऐसा कहे कि इन्द्रियों का योगजधर्म के बड़े भारी अनुग्रह से उन परमाणु आदि के साथ साक्षात् सबध हो जायगा अर्थात्–इन्द्रियों में योगज धर्मका बड़ाभारी अनुग्रह होता है अतः सर्वज्ञ की इन्द्रियां सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार कर लेती हैं।

भावार्थ—वैशेषिक के मत में–सिद्धान्त में–योगजधर्म के अनुग्रह का कथन इस प्रकार है कि हम जैसे सामान्य व्यक्तियों से अन्य विशिष्ट जो योगीजन हैं वे विशेष योग (ध्यान या समाधि) से सहित होते हैं, उन योगियों के जो मन होता है वह योगज धर्म से प्रभावित रहता है सो उस मन के द्वारा अपना खुद का तथा

स्वविषयातिक्रमेणास्य योगजधर्मसहकारित्वेनाप्यनुग्रहायोगात्, अन्यथैकस्यैवेन्द्रियस्याशेषरसादिविषयेषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गः स्यात् । अथैकमेवान्तःकरणं (योगजधर्मानु)गृहीतं युगपत्सूक्ष्माद्यशेषार्थविषयज्ञानजनकमिष्यते तन्न; अणुमनसोऽशेषार्थे. सकृत्सम्बन्धाभावतस्तज्ज्ञानजनकत्वासम्भवात्, अन्यथा दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ सकृच्चक्षुरादिभिस्तत्सम्बन्धप्रसक्ते रूपादिज्ञानपञ्चकस्य सकृदुत्पत्तिप्रसङ्गात्—

अन्य जीव, आकाश, दिशा, काल, परमाणु, वायु, मन, तथा इन्हीं में रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य और विशेष समवाय इन सभी वस्तुओं का उन्हे ज्ञान पैदा हो जाता है, जो योग से सहित हैं उनको योगज धर्मानुग्रह की शक्ति से युक्त चार प्रकार के सन्निकर्षों से ज्ञान होता है । यह ज्ञान इतना तीक्ष्ण होता है कि सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरवर्ती पदार्थों का भी साक्षात्कार कर लेता है, इस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्मादिक वस्तुओं का ज्ञान होने से इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही वे सर्वज्ञ बन जाते हैं, ऐसी वैशेषिक ने शंका की है, इस का समाधान जैन इस प्रकार कर रहे है—

समाधान—हम जैन आपसे यह पूछते हैं कि इन्द्रियों के जो योगजधर्म का अनुग्रह है वह क्या चीज है ? इन्द्रियां अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं सो उनमें अतिशय पैदा कर देना क्या यह योगजधर्म का अनुग्रह है ? या उनको सहकारी मात्र होना यह योगजधर्मानुग्रह है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं—क्योंकि स्वयं इन्द्रियां परमाणु आदि में प्रवृत्त ही नही होती हैं, फिर वह उनमें क्या अतिशय लावेगा, यदि कहो कि वे वहां प्रवृत्ति करती है तो फिर योगजधर्म के अनुग्रह की उन्हें क्या आवश्यकता है । योगजधर्म से युक्त होकर वे परमाणु आदि में प्रवृत्ति करती हैं ऐसा कहो तो परस्पराश्रय नामका दोष आवेगा, अर्थात् योगजधर्म का अनुग्रह सिद्ध हो तो परमाणु आदिकों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति होगी और उनमें उनकी प्रवृत्ति के सिद्ध होने पर उनमें योगजधर्म का अनुग्रह सिद्ध होगा, इस तरह दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे । अपने २ विषयों में प्रवृत्त होते समय इन्द्रियों के लिए योगजधर्म सहकारी बनता है ऐसा यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियां अपने २ विषय को उल्लंघन नहीं करके ही उसमें प्रवृत्ति करती हैं, योगजधर्म की सहायता मिलने पर भी उनमें विषयान्तर में प्रवृत्ति करने की शक्ति नहीं है । यदि वे विषयान्तर में—अपने अविषयमें—दूसरे विषय में—प्रवृत्त होंगी तो एक ही स्पर्शन इन्द्रिय रूप रसादि को ग्रहण कर लेगी और उसी पर योगज धर्म भी अनुग्रह करेगा ।

"युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [न्यायसू० १।१।१६] इति विरुध्येत। क्रमशोऽन्यत्र तद्दर्शनादत्रापि क्रमकल्पनायां योगिन: सर्वार्थेषु सम्बन्धस्य क्रमकल्पनास्तु तथादर्शनाविशेषात्। तदनुग्रहसामर्थ्याद् दृष्टातिक्रमेष्टौ च आत्मैव समाधिविशेषोत्थधर्म माहात्म्यादन्त:करणनिरपेक्षोऽशेषार्थग्राहकोऽस्तु किमदृष्टपरिकल्पनया ? तन्नाणुमनसोऽशेषार्थै: साक्षात्सकृत्सम्बन्धो घटते।

वैशेषिक:—हां, ठीक तो है देखो—एक अंत:करणरूप जो मन है वह अकेला ही योगज धर्म की सहायता से विश्व के सूक्ष्मादिपदार्थों के ज्ञान का जनक हमने माना ही है।

जैन—यह कथन आपका सही नहीं है क्योंकि मन तो विचारा अणु जैसा छोटा है वह एक साथ सारे अनंत पदार्थों के साथ संबन्ध कैसे कर लेगा ? और संबंध (सन्निकर्ष) के बिना ज्ञान भी नहीं होगा यदि वह मन उनके साथ एक साथ सम्बन्ध करता है तो दीर्घशष्कुली— बड़ी २ कड़क-कड़क पुड़ी, आदि के खाते समय मन का चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ युगपत् संबंध होकर रूपादि पांचों ज्ञानों की एक ही समय में उत्पत्ति होने लगेगी तो फिर आपका यह न्यायसूत्र गलत ठहरेगा—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्" अर्थात् आपके यहां लिखा है कि एक साथ रूप रस आदि पांचों विषयों का ज्ञान जो नहीं होता है सो यही हेतु मन को अणुरूप सिद्ध करता है।

वैशेषिक—घटादि पदार्थों में क्रम क्रम से मन का संबंध देखा जाता है अत: रूपादि पांचों विषयों में भी वह क्रमसे होता है ऐसा मानना पड़ता है।

जैन—तो फिर योगी के अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञान में भी इसी तरह क्रमिकपना मानो, क्रम से मन का संबंध तो सर्वज्ञ में है ही।

वैशेषिक—योगज धर्म के अनुग्रह से मन एक साथ सबसे संबंध कर लेता है; इसलिये हम लोग दृष्ट का अतिक्रम कर लेते हैं। अर्थात् यद्यपि प्रत्यक्ष से तो मन क्रम क्रम से संबंध करने वाला है यह बात सिद्ध है फिर भी योगज धर्मके कारण उस प्रत्यक्षसिद्ध बात का भी उल्लंघन हो जाता है।

जैन—ऐसी हालत में तो फिर आपको समाधि धर्म के माहात्म्य से अकेला आत्मा ही मन की अपेक्षा न करके सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है ऐसा मानना चाहिये

अथ परम्परया, तथा हि—मनो महेश्वरेण सम्बद्धं तेन च घटादयोऽर्थास्तेषु रूपादय इति, अत्राप्यशेषार्थज्ञानासम्भवः। सम्बन्धसम्बन्धोऽपि हि तस्याशेषार्थैर्वर्तमानैरेव नानुत्पन्नविनष्टैः। तत्काले तैरपि सह सोऽस्तीति चेन्न; तदा वर्तमानार्थसम्बन्धसम्बन्धस्यासम्भवात्। ततोऽयमन्य एवेति चेत्, तर्हि तज्जनितज्ञानमपि अनुत्पन्नविनष्टार्थकालीनसम्बन्धसम्बन्धजनितज्ञानादन्यदिति एकज्ञानेना-

---

फिर इस अदृष्ट अर्थात् अत्यन्त परोक्ष या असिद्ध ऐसे सन्निकर्ष की कल्पना करना भी जरूरी नहीं होगा अतः यह सिद्ध हुआ कि अणुरूप मनका सम्पूर्ण पदार्थों के साथ एक ही समय में साक्षात् संबंध जुड़ता नहीं है।

वैशेषिक—अणु मन का पदार्थों के साथ क्रम २ से संबंध होता है—अर्थात् परम्परा से अणु मन का सम्बन्ध अशेष पदार्थों के साथ जुड़ता है, वह इस प्रकार से है—कि पहिले मनका सम्बन्ध महेश्वर से होता है, और व्यापक होने के नाते ईश्वर का सम्बन्ध घटपटादि पदार्थों के साथ है ही तथा घटादिकों में रूपादिक सम्बन्धित हैं। इस तरह अणु मन का सम्बन्ध परम्परा से अशेष पदार्थों के साथ जुड़ जाता है।

जैन—ऐसा मानने पर भी संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान तो होगा ही नहीं क्योंकि परम्परा संबंध—संबंध से सम्बन्ध—मानने पर भी उस मन का वर्तमान के पदार्थों के साथ ही सम्बन्ध रहेगा जो नष्ट हो चुके हैं तथा जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुए हैं उनके साथ उसका संबंध नहीं रहेगा तो फिर उनके साथ संबंध नहीं होने से उनका ज्ञान कैसे होगा।

वैशेषिक—अजी! ईश्वर तो सदा रहता है ना, अतः नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थों के साथ भी वह रहता ही है।

जैन—सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब वह अनुत्पन्न और नष्ट पदार्थों से संबंध करेगा तो उसी को जानो। उसी समय वर्तमान पदार्थ का संबंध और ज्ञान तो होगा ही नहीं।

वैशेषिक—इन अनुत्पन्न और नष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से ईश्वर भिन्न ही है।

जैन—तो फिर उस भिन्न ईश्वर से उत्पन्न हुआ वर्तमान ज्ञान, अनुत्पन्न पदार्थों और नष्ट पदार्थों के समय में परम्परा सम्बन्ध से जनित ज्ञान से अन्य ही

शेषार्थज्ञत्वासम्भवः । बहुभिरेव ज्ञानैस्तदिति चेत्, तेषां किं क्रमेण भावः, अक्रमेण वा ? क्रमभावे; नानन्तेनापि कालेनानन्तता संसारस्य प्रतीयेत–य एव हि सम्बन्धसम्बन्धवशाज् ज्ञानजनकोऽर्थः स एव तज्जनितज्ञानेन गृह्यते नान्य इति । अक्रमभावस्तु नोपपद्यते विनष्टानुत्पन्नार्थज्ञानानां वर्तमानार्थज्ञान-कालेऽसम्भवात् । न हि कारणाभावे कार्यं नामातिप्रसङ्गात् । न च बौद्धानामिव यौगानां विनष्टानु-

---

रहेगा–तो ऐसी हालत में एक ज्ञान के द्वारा अशेष पदार्थों का ज्ञान होना असम्भव हो जायेगा ।

भावार्थ—वैशेषिक सन्निकर्ष से महेश्वर को संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान होता है ऐसा मानते हैं, किन्तु पदार्थ तो अतीत अनागत रूप भी हैं, जब वह महेश्वर अतीत अनागत पदार्थों के साथ सन्निकर्ष करेगा तब वर्तमान के पदार्थों के साथ सन्निकर्ष नहीं बन सकेगा, अतः महेश्वर को एक साथ एक ज्ञान से त्रैकालिक वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकने से महेश्वर सर्वज्ञ नहीं बन सकता है ।

वैशेषिक—बहुत से ज्ञानों के द्वारा वह ईश्वर पदार्थों को जान लेगा ।

जैन—तो क्या वह उन ज्ञानों द्वारा क्रम से जानेगा या अक्रम से जानेगा । क्रम से जानने बैठेगा तो अनंत काल तक भी वह संपूर्ण पदार्थों को नहीं जान पायेगा, जिसका जिससे संबंध हुआ है उसी का ज्ञान होकर उसी को वह जानेगा अन्य को नहीं अक्रम से जानना बनता नहीं, क्योंकि नष्ट हुए और अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं ऐसे पदार्थों का सम्बन्ध वर्तमान काल में नहीं है । उनका ज्ञान भी नहीं है । कारण के अभाव में कार्य होता नहीं है, माना जावे तो अति प्रसङ्ग होगा । आप यौग हो । आपके यहां बौद्ध की तरह नष्ट हुए तथा अनुत्पन्न ऐसे पदार्थों को ज्ञान का कारण नहीं माना है, अन्यथा आपका सिद्धान्त गलत ठहरेगा ।

बौद्धों के यहां क्षणिकवाद होने से नष्ट हुए कारणों से कार्य होना माना है, वैसे यौगों के यहां नहीं माना है ।

वैशेषिक—ईश्वर का ज्ञान नित्य है, अतः आप जैन के द्वारा दिये गये कोई भी दोष हम पर लागू नहीं होते हैं ।

जैन—ऐसा भी कहना ठीक नहीं, कारण कि आपके द्वारा मान्य नित्य ईश्वर का हम आगे खण्डन करने वाले हैं । इस प्रकार वैशेषिक द्वारा माना हुआ सन्निकर्ष प्रमाण भूत सिद्ध नहीं होता है ।

स्पर्शस्य कारणत्वं सिद्धान्तविरोधात् । नित्यत्वादीश्वरज्ञानस्योक्तदोषानवकाश इत्यप्यवाच्यम्; तन्नित्यत्वस्येश्वरनिराकरणप्रघट्टके निराकरिष्यमाणत्वात् । तन्न सन्निकर्षोऽप्यनुपचरितप्रमाणव्यपदेशभाक् ।

विशेषार्थ—वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं, किन्तु इसमें प्रमाण का लक्षण सिद्ध नहीं होता है, सन्निकर्षरूप प्रमाण के द्वारा संपूर्ण वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता है, वैशेषिक सर्वज्ञ को तो मानते ही हैं, परन्तु सन्निकर्ष से अशेष पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकने से उनके यहां सर्वज्ञ का अभाव हो जाता है। क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान यदि छूकर जानता है तो वह मात्र वर्तमान के और उनमें से भी निकटवर्ती मात्र पदार्थों को जान सकता है, अतीत अनागत के पदार्थों को वह जान नहीं सकता है, क्योंकि पदार्थों के साथ उसका ज्ञान संबद्ध नहीं है, कदाचित् संबद्ध मान लिया जावे तो भी वह जब अतीतानागत पदार्थों से सम्बन्धित रहेगा तो वर्तमान कालिक पदार्थों के साथ वह असंबद्ध होगा, इसलिये एक ही ज्ञान त्रैकालिक वस्तुओं की परिच्छित्ति नहीं कर सकता है, यदि सर्वज्ञ-ईश्वर में बहुत से ज्ञान माने जायेंगे तो भी वे ज्ञान क्रम से जानेंगे या अक्रम से ऐसे प्रश्न होते हैं। और इन प्रश्नों का हल होता नहीं है, अतः सन्निकर्ष में प्रमाणता खंडित होती है, इस विषय पर आगे चक्षु सन्निकर्षवाद में लिखा जाने वाला है। अलं विस्तरेण।

* सन्निकर्षवाद समाप्त *

सन्निकर्ष प्रमाणवाद के खंडन का सारांश

*

वैशेषिक लोग सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं अर्थात् ज्ञान का जो कारण है वह प्रमाण है ऐसा उन्होंने माना है, उनका कहना है कि ज्ञान तो प्रमाण का फल है, उसे प्रमाण स्वरूप कैसे मानें। स्पर्शनादि इन्द्रियों का पदार्थ के साथ प्रथम तो संयोग होता है, फिर उन पदार्थों में रहने वाले रूप रस आदि गुणों के साथ संयुक्त समवाय होता है, पुनः उन रूपादि गुण के रूपत्व रसत्व आदि के साथ संयुक्त समवेत समवाय

होता है, इस प्रकार यह प्रक्रिया जल्दी से होकर उससे प्रमितिरूप अर्थात् जाननारूप फल उत्पन्न होता है। हर पदार्थ को इन्द्रियां छूकर ही जानती हैं। जो छूना है वह सन्निकर्ष है, उसके बिना कोई भी ज्ञान पैदा नहीं होता है, अतः सन्निकर्ष प्रमाण है। वही प्रमिति की उत्पत्ति में साधकतम है, इसलिये ईश्वर हो चाहे हम लोग हों सभी को सन्निकर्ष से ज्ञान होता है।

इस वैशेषिक के मन्तव्य का आचार्य ने बड़े ही अच्छे ढंग से निरसन किया है, सन्निकर्ष का ज्ञान के साथ साधकतमपना सिद्ध नहीं होता है। यदि सर्वत्र सन्निकर्ष से ही ज्ञान पैदा होता तो भले ही उसे साधकतम मानते किन्तु ऐसा नहीं है। देखिये—चक्षु और मन तो बिना सन्निकर्ष के ही प्रमिति पैदा कर लेते हैं।

आंखें पदार्थ को बिना छुए ही उसके रूप को जान लेती हैं, इस विषय का वर्णन इसी ग्रन्थ में सयुक्तिक हुआ है, सन्निकर्ष यदि सब जगह प्रमिति पैदा करता है तो वह आकाश में भी प्रमिति क्यों नहीं करता, क्योंकि जैसे इन्द्रियों का घट और उसके रूप, रस, तथा रूपत्व, रसत्व के साथ संबंध है वैसे ही आकाश और उसका शब्द तथा शब्दत्व के साथ भी इन्द्रियों का संबध है, फिर क्या बात है कि हम आकाश को नहीं जानते। अमूर्तिकपने की दलील भी गलत है। जिसको जानने की योग्यता है उसी में सन्निकर्ष प्रमिति को पैदा करता है, सब में नहीं, ऐसा वैशेषिक का कथन भी विशेष लक्ष देने योग्य नहीं है क्योंकि योग्यता क्या बला है, यह पहले बताना चाहिये यदि शक्ति को योग्यतारूप कहोगे तो यह बात बनने की नहीं, क्योंकि आपने शक्ति को अतीन्द्रिय नहीं माना है, यदि सहकारी कारणों की निकटता को योग्यता रूप कहोगे तो वह सारी निकटता घट की तरह आकाश में भी है। हां, यदि प्रमाता के प्रतिबंधक कर्म के अभाव को योग्यता मानकर उस योग्यता को ही साधकतम मानो तो बात ठीक है, उसी का प्रमिति में उपयोग है, सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में एक बड़ा भारी दोष यह आता है कि सर्वज्ञ का अभाव हो जाता है। सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रिय के द्वारा छूकर होगा तो उसे तीन काल में भी सारे पदार्थों का ज्ञान होगा नहीं, क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं। योगज धर्म भी इन्द्रियों को अतिशय युक्त नहीं कर सकता।

"यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात्" इन्द्रियों में कितना भी अतिशय आ जावे तो भी वह तो अपने ही विषय को ग्रहण करेगी। क्या आंखें रस

को चखेंगी; कान देखने लग जायेंगे ? समझ में नहीं आता कैसा अतिशय है, तथा च-इन्द्रियां वर्तमान काल के पदार्थों को ही जानती हैं फिर उनके द्वारा तीन काल में होने वाले पदार्थों का ज्ञान कैसे होगा, बिना त्रिकालवर्ती पदार्थ को जाने सर्वज्ञता बनती नहीं, इस प्रकार सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में सर्वज्ञता का अभाव होता है नेत्र और मन में भी सन्निकर्ष की अव्याप्ति है। अतः सन्निकर्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता है।

*** सन्निकर्षवाद का सारांश समाप्त ***

इन्द्रियवृत्ति प्रमाण पूर्वपक्ष

सांख्य और योगदर्शन में इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण माना है—

"इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधानवृत्तिः प्रत्यक्षम्"— —योगदर्शन व्यास भा० पृ० २७

अत्रेयंप्रक्रिया—इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण
लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारावृत्तिः जायते।
—सांख्य प्र भा. पृ• ४७

इन्द्रियरूपी प्रणाली के द्वारा बाह्यवस्तु के संबंध से सामान्य विशेषात्मक पदार्थ का विशेष अवधारण स्वरूप जो वृत्ति होती है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। उस वृत्ति का तरीका यह है कि पहिले इन्द्रिय का पदार्थ से सन्निकर्ष होता है अथवा लिङ्गज्ञानादि (अर्थात् अनुमान में धूम आदि हेतु का ज्ञान होना) के द्वारा बुद्धि की अर्थाकार वृत्ति हो जाती है अर्थात् बुद्धीन्द्रियां जो चक्षु आदि हैं उनका अर्थाकार होना या अर्थों को जानने के लिये उनकी प्रवृत्ति होना प्रमाण कहलाता है, इस प्रकार चित्त-मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का पदार्थ से संबंध होने में जो प्रवृत्ति है वह प्रमाण है। यही बात अग्रिम श्लोक में कही है—

विषयैश्चित्तसंयोगाद् बुद्धीन्द्रियप्रणालिकात्।
प्रत्यक्षं सांप्रतं ज्ञानं विशेषस्यावधारकम् ॥ २३ ॥
—योग कारिका

चित्त संयोग से बुद्धि इन्द्रिय के द्वारा विषयों के साथ संबंध होने पर विशेष का अवधारण करने वाला वर्तमान प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा होता है, यहां जो इन्द्रियों की वृत्ति हुई है वह तो प्रमाण है और विषयों का जो अवधारण निश्चय होना है वह फल है, हम सांख्य योग ३ प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) इनमें से उपर्युक्त प्रमाण तो प्रत्यक्ष है। अनुमान में भी लिङ्ग (हेतु) ज्ञान आदि के द्वारा बुद्धीन्द्रिय का अर्थाकार होना और फिर साध्य का ज्ञान होना है अतः वहां भी प्रमाण का लक्षण घटित होता है शब्द प्रमाण में भी यही बात है। इसलिये इन्द्रिय वृत्ति प्रमाण का लक्षण स्वीकार किया है।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

इन्द्रियवृत्तिविचारः

एतेनेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणमित्यभिदधानः साङ्ख्यः प्रत्याख्यातः। ज्ञानस्वभावमुख्यप्रमाणकरणत्वात् तत्राप्युपचारतः प्रमाणव्यवहाराभ्युपगमात्। न चेन्द्रियेभ्यो वृत्तिर्व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता वा घटते। तेभ्योहि यद्यव्यतिरिक्तासौ; तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासौ, तच्च सुप्ताद्यवस्थायामप्यस्तीति तदाप्यर्थपरिच्छित्तिप्रसक्तेः सुप्तादिव्यवहारोच्छेदः। अथ व्यतिरिक्ता; तदाप्यसौ किं तेषां धर्मः, अर्थान्तरं वा? प्रथमपक्षे वृत्तेः श्रोत्रादिभिः सह सम्बन्धो वक्तव्यः—स हि तादात्म्यम्, समवायादिर्वा स्यात्? यदि तादात्म्यम्; तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासाविति पूर्वोक्त एव दोषोऽनुषज्यते। अथ समवायः; तदास्य व्यापिनः सम्भवे व्यापिश्रोत्रादिसद्भावे च।

सांख्य मतवाले इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानते हैं, सो उसका खंडन भी उसी सन्निकर्ष के खंडन से हो जाता है। क्योंकि ज्ञान स्वभाव वाली वस्तु ही मुख्य प्रमाण है। हां, उपचार से भले ही इसे भी प्रमाण कह दो, अच्छा—आप सांख्य यह बतावें कि इन्द्रियों की वृत्ति इन्द्रियों से भिन्न है या अभिन्न है? दोनों तरह से वह बनती नहीं, क्योंकि वह वृत्ति यदि इन्द्रिय से अभिन्न है तो वह इन्द्रियरूप ही हो गई, सो ये इन्द्रियां तो निद्रादिरूप अवस्था में भी रहती हैं, तो फिर वहां भी ज्ञान होता रहेगा, ऐसी हालत में यह निद्रित है यह जाग्रत है यह लोकव्यवहार ही नहीं बनेगा, यदि इन्द्रियों से उनकी वृत्ति पृथक है तो क्या वह उनका धर्म है या और कोई चीज है? यदि धर्म है, तो उस धर्म रूप वृत्ति का इन्द्रियों के साथ कौनसा संबंध है? तादात्म्य संबंध है या समवाय सम्बन्ध है? यदि तादात्म्य है तो वृत्ति और इन्द्रियां एक ही हो गईं सो उसमें वही सुप्तादि का अभाव होना रूप दोष आता है, यदि इन्द्रिय और वृत्ति का समवाय संबंध है सो श्रोत्रादिक इन्द्रिय और समवाय इन दोनों के व्यापक होने से आपका सिद्धान्त सदोष बन जाता है, क्योंकि आपके यहां लिखा है—

"प्रतिनियतदेशावृत्तिरभिव्यज्येत्" [ ] इति प्लवते । अथ संयोगः, तदा द्रव्यान्तरत्व-प्रसक्तेर्न तद्धर्मो वृत्तिर्भवेत् । अर्थान्तरमसौ; तदा नासौ वृत्तिरर्थान्तरत्वात् पदार्थान्तरवत् । अर्थान्तरत्वेपि प्रतिनियतविशेषसद्भावात्तेषामसौ वृत्ति ; नन्वसौ विशेषो यदि तेषां विषयप्राप्तिरूपः; तदेन्द्रियादिसन्निकर्ष एव नामान्तरेणोक्त स्यात् । स चानन्तरमेव प्रतिव्यूढ । अथाऽर्थाकारपरिणतिः;

"प्रतिनियतदेशावृत्तिरभिव्यज्येत्"

प्रतिनियत देश में से प्रकट करे, इत्यादि ।

यदि कहा जाये कि इन्द्रिय और वृत्ति-प्रवृत्ति का संयोग संबंध है सो वृत्ति में इन्द्रिय धर्मता नहीं आती, क्योंकि संयोग पृथक् पृथक् दो द्रव्यों में होता है, इसलिये इन्द्रिय और वृत्ति ये दो द्रव्य हो जायेंगे, फिर इन्द्रिय का धर्म वृत्ति है यह बात नहीं बनती यदि इन्द्रिय से वृत्ति कोई भिन्न ही वस्तु है तब तो उसे "इन्द्रिय की वृत्ति" ऐसा नहीं कह सकोगे जैसे कि दूसरे भिन्न पदार्थों को नहीं कहते ।

सांख्य—यद्यपि वृत्ति इन्द्रियों से अर्थातर रूप है फिर भी प्रतिनियत विशेष रूप होने से यह वृत्ति इन्द्रियों की है, इस प्रकार कहा जाता है ।

जैन—अच्छा तो यह बतलाइए कि वह प्रतिनियत विशेष क्या विषय प्राप्ति रूप है अर्थात् इन्द्रिय का विषय के निकट होना यह प्रतिनियत विशेष है, तो इससे तो आपने सन्निकर्ष को ही नामान्तर से कह दिया है, सो उसका तो अभी खंडन ही कर दिया गया है । यदि अर्थाकार परिणति को प्रतिनियत विशेष तुम कहो सो वह भी ठीक नही है, क्योंकि अर्थाकार होना सिर्फ बुद्धि में ही आपके यहां माना गया है, और कहीं अन्यत्र नहीं, तथा वह अर्थाकार परिणति प्रत्येक इन्द्रिय आदि के स्वभाव वाली नहीं है, और न वह इन्द्रियों की वृत्ति स्वरूप है, न किसी अन्य स्वरूप ही है, क्योंकि उनमें वे पूर्वोक्त दोष आते हैं । तथा सांख्य के यहां परिणामी से परिणाम भिन्न है कि अभिन्न है यह कुछ भी नहीं सिद्ध होता है इस विषय का विचार हम आगे करनेवाले हैं ।

विशेषार्थ—इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानने वाले सांख्य के यहां इन्द्रियवृत्ति का लक्षण इस प्रकार पाया जाता है—

"इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तुपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्"—अर्थात् इन्द्रियप्रणाली के द्वारा बाह्य पदार्थ के साथ

न; अस्या बुद्धावेवाभ्युपगमात् । न च श्रोत्रादिस्वभावा तद्धर्मरूपा अर्थान्तरस्वभावा वा तत्परिणतिर्घटते; प्रतिपादितदोषानुषङ्गात् । न च परपक्षे परिणामः परिणामिनो भिन्नोऽभिन्नो वा घटते इत्यग्रे विचारयिष्यते ।।

संबंध होता है, और उस सम्बन्ध के होने पर जो सामान्य विशेषात्मक पदार्थ का विशेष रूप से अवधारण होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, तात्पर्य इसका यही है कि इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर अथवा हेतु के ज्ञान से जो शुरु में बुद्धि (इन्द्रिय) का पदार्थ के आकार रूप होने पर उस पदार्थ का अवधारण होता है वह प्रमाण है, सांख्यमत का यह प्रमाण का लक्षण असमीचीन है, क्योंकि ये सांख्यादि मतवाले ज्ञान को तो प्रमाण का फल मानते है और ज्ञान के प्रमाण के जो कारण हैं, जो कि ज्ञान के साथ व्यभिचरित भी होते हैं—अर्थात् निश्चित रूप से जो ज्ञान को पैदा कर ही देते हों ऐसे जो नहीं हैं उन उन कारणोंको प्रमाण मानते हैं, अतः यह इन्द्रियवृत्ति सन्निकर्ष और कारक साकल्य के समान प्रमाण नही है, वास्तविक प्रमाण तो ज्ञान ही है अन्य नही है ।

* इन्द्रियवृत्ति का विचार समाप्त *

ज्ञातृव्यापार विचार पूर्वपक्ष

प्रमाणलक्षण के प्रणयन करने में प्रभाकर का ऐसा कहना है कि वस्तु को जानने के लिये जो ज्ञाता रूप आत्मा का व्यापार या प्रवृत्ति होती है वह प्रमाण है। कहा भी है—

"तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः" ।। ६१ ।।

—मीमांसकश्लोकवार्तिक

विषयों में ज्ञान की उत्पत्ति होना ज्ञाता का व्यापार है, वही प्रमा है, और वही करण है। यद्यपि यह ज्ञातृव्यापार प्रत्यक्ष नहीं है तो भी पदार्थों का प्रकाशित होना रूप कार्य को देखकर उसकी सिद्धि कर सकते हैं—

व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ।। ६१ ।।

—मी० श्लो० वा०

जब आत्मा में वह व्यापार नहीं रहता तब जानना रूप फल भी उत्पन्न नहीं हो पाता, कारण के अभाव में कार्य होता नही देखा जाता है, ऐसा नहीं है कि वस्तु निकट में मौजूद है, हमारी इन्द्रियां भी ठीक हैं, किन्तु उस वस्तु का बोध नहीं हो। अतः निश्चित होता है कि आत्मा में--ज्ञाता में व्यापार-क्रिया नहीं है, इसीलिये पदार्थ का ग्रहण नहीं हुआ, इस प्रकार हमारा कथन सिद्ध होता है कि पदार्थ को जानने का जो ज्ञाता का व्यापार है वह प्रमाण है और पदार्थ का बोध होना--उसे जानना यह प्रमाण का फल है।

* पूर्व पक्ष समाप्त *

ज्ञातृव्यापारविचारः

एतेन प्रभाकरोपि अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि प्रमाणम्' इति प्रतिपादयन् प्रतिव्यूढः प्रतिपत्तव्यः; सर्वत्राज्ञानस्योपचारादेव प्रसिद्धेः। न च ज्ञातृव्यापारस्वरूपस्य किञ्चित्प्रमाणं ग्राहकम्-तद्धि प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अन्यद्वा ? यदि प्रत्यक्षम्, तत्किं स्वसंवेदनम्, बाह्येन्द्रियजम्, मनःप्रभवं वा ? न तावत्स्वसंवेदनम्; तस्याज्ञाने विरोधादनभ्युपगमाच्च। नापि बाह्येन्द्रियजम्; इन्द्रियाणां स्वसम्बद्धेऽर्थे ज्ञानजनकत्वोपगमात्। न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां सम्बन्धः; प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात्। नापि मनोजन्यम्; तथाप्रतीत्यभावादनभ्युपगमादतिप्रसङ्गाच्च। नाप्यनुमानम्;

प्रभाकर का कथन है कि पदार्थ को जैसा का तैसा जानने रूप जो ज्ञाता का व्यापार है भले ही वह अज्ञान रूप हो प्रमाण है। सो प्रभाकर को इस मान्यता (प्रमाणता) का भी निराकरण उपर्युक्त सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति आदि के खंडन से हो जाता है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि इन सब मान्यताओं में अज्ञान को प्रमाण मान लिया है। ऐसों को तो प्रमाण उपचार से ही कह सकते हैं अन्यथा नहीं।

प्रभाकर के ज्ञाता के व्यापार रूप प्रमाण को ग्रहण करने वाला प्रमाण तो कोई है नहीं, यदि है तो वह कौनसा है ? प्रत्यक्ष या अनुमान, अथवा और कोई तीसरा ? यदि प्रत्यक्ष है तो वह कौनसा प्रत्यक्ष है—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष या बाह्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा मन: प्रत्यक्ष ? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अज्ञानरूप ज्ञातृव्यापार में प्रवृत्ति नहीं करता है, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है तथा आपने ऐसा माना भी नहीं है। बाह्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञाता के व्यापार को कैसे जानेगा—क्योंकि इन्द्रियां तो अपने से संबंधित पदार्थ में ज्ञान को पैदा करती हैं। ज्ञाता के व्यापार के साथ इन्द्रियों का संबंध हो नहीं सकता क्योंकि उनका तो अपना प्रतिनियत रूपादि विषयों में संबंध

"ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः" [शाबरभा० १।१।५] इत्येवंलक्षणत्वात्तस्य । सम्बन्धश्च कार्यकारणभावादिनिराकरणेन नियमलक्षणोऽभ्युपगम्यते । तदुक्तम्—
कार्यकारणभावादिसम्बन्धानां द्वयी गतिः । नियमानियमाभ्यां स्यादनियमादनङ्गता ।।१।।
सर्वेऽप्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम् । नियमात्केवलादेव न किञ्चिन्नानुमीयते ।।२।।
एवं परोक्तसम्बन्धप्रत्याख्याने कृते सति । नियमो नाम सम्बन्धः स्वमतेनोच्यतेऽधुना ।।३।। [ ]
इत्यादि ।

होता है। मनोजन्य प्रत्यक्ष भी उस ज्ञातृव्यापार को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि न तो वैसी प्रतीति आती है और न आपने ऐसा माना है, तथा ऐसा मानने में अति प्रसंग दोष भी आता है। अनुमान के द्वारा ज्ञातृव्यापार को सिद्ध करो तो भी नहीं बनता, क्योंकि अनुमान का लक्षण—"ज्ञातसंबंधस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टे ऽर्थेबुद्धिः— जिसने सबंध को जाना है ऐसे व्यक्ति को जब उसी विषय के एक देश का दर्शन होकर जो दूरवर्ती पदार्थ का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं" ऐसा शाबर भाष्य में लिखा है। आप प्रभाकर के द्वारा अनुमान में कार्यकारण संबंध और तादात्म्यादि संबंध माना नहीं गया है। केवल नियम अर्थात् अविनाभाव संबंध माना है। कहा भी है—

"कार्य कारण आदि जो संबंध होते हैं—वे दो प्रकार के होते हैं-एक नियमरूप और एक अनियमरूप, जो नियमरूप संबंध होता है वही अनुमान में कार्यकारी है, दूसरा नही ।। १ ।।

अविनाभाव संबंध रहित हेतु अनुमान की उत्पत्ति में उपयोगी नहीं है, तथा नियम एक ही ऐसा है कि उससे ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं जिसको कि इसके द्वारा न जाना जाय।

इस प्रकार सौगत आदि के द्वारा माना गया संबंध खंडित किया जाने पर अब अपने (प्रभाकर) मत के अनुसार नियम संबंध बताया जाता है ।। ३ ।। इत्यादि। इस प्रकार आपके मत में अनुमान में नियम संबंध को ही सही माना है यह बात सिद्ध हुई। अब यह देखना है कि ऐसा संबंध अर्थात् ज्ञाता के व्यापार के साथ अर्थ-प्रकाशन का अविनाभाव है इस बात का निर्णय अन्वय निश्चय के द्वारा होता है या व्यतिरेक निश्चय के द्वारा होता है? यदि अन्वयनिश्चय के द्वारा होता है अर्थात्

स च सम्बन्धः किमन्वयनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण वा ? प्रथमपक्षे किं प्रत्यक्षेण, अनुमानेन वा तन्निश्चयः ? न तावत्प्रत्यक्षेण; उभयरूपग्रहणे ह्यन्वयनिश्चयः, न च ज्ञातृव्यापारस्वरूपं प्रत्यक्षेण निश्चीयते इत्युक्तम् । तदभावे च-न तत्प्रतिबद्धत्वेनार्थप्रकाशनलक्षणहेतुरूपमिति । नाप्यनुमानेन; अस्य निश्चितान्वयहेतुप्रभवत्वाभ्युपगमात् । न च तस्यान्वयनिश्चयः प्रत्यक्षसमधिगम्यः पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् । नाप्यनुमानगम्यः; तदनन्तरप्रथमानुमानाभ्यां तन्निश्चयेऽनवस्थेतरेतराश्रयानुषङ्गात् । नापि व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण; व्यतिरेको हि साध्याभावे हेतोरभावः । न च

जहां जहां ज्ञातृव्यापार है वहां वहां अर्थ प्रकाशन है ऐसे अन्वय का निश्चय कौन करता है, क्या प्रत्यक्ष करता है या अनुमान करता है, प्रत्यक्ष ऐसे अन्वय का निश्चय नहीं कर पाता क्योंकि वह साध्य साधन दोनों को ग्रहण करे तब उसके द्वारा उनके अन्वय का निश्चय हो, परन्तु ज्ञाता का व्यापार प्रत्यक्ष है नही-अर्थात् ज्ञाता का व्यापार प्रत्यक्षसे ग्रहीत नहीं होता—इस बात को पहिले ही बता दिया है, और उसके प्रत्यक्ष हुए बिना वह उसके साथ अविनाभाव संबंध रखने वाले अर्थ प्रकाशन को कैसे जान सकता है। अनुमान से भी दोनों के अन्वय का निश्चय होता नहीं, क्योंकि यह अनुमान निश्चित अन्वय रूप हेतु से—साध्यके साथ जिसका अविनाभाव संबंध निश्चित है ऐसे हेतु से—उत्पन्न होगा, अब वह अन्वय जानने के लिये आया हुआ जो अनुमान है वह भी तो अन्वय सहित है, अतः उसके लिये—उसके अन्वय को निश्चय करने के लिये—वे ही प्रथम कहे गये प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं और वे ही दोष आते हैं, अर्थात् वह अन्वय प्रत्यक्ष से जाना नही जाता, अनुमान के द्वारा जानना मानो तो कौन से अनुमान से-प्रकृत अनुमान से या अनुमानान्तर से ? अनुमानान्तर से मानने पर अनवस्था और प्रकृत अनुमान से-प्रथम अनुमान से मानने पर इतरेतराश्रय दोष आता है।

भावार्थ—अनवस्था दोष तो इस प्रकार से आता है कि ज्ञाता का व्यापार और अर्थतथात्व का प्रकाशन इन दोनों के अन्वय को जानने के लिए एक अनुमान आया सो उस अनुमान में भी साध्यसाधन का अन्वय है इस बात को जानने के लिये तीसरा अनुमान चाहिए इस प्रकार अनुमान आते रहेंगे और ज्ञाता का व्यापार अज्ञात ही रहेगा, इस तरह ज्ञाता का व्यापार जानने के लिये अनुमान की परम्परा चलती जायेगी सो यही अनवस्था दोष है। अन्योन्याश्रय दोष इस प्रकार से होगा—ज्ञाता का व्यापार है क्योंकि अर्थतथात्व का प्रकाशन हो रहा है, यह अनुमान है इसमें

प्रकृतसाध्याभावः प्रत्यक्षाधिगम्यः, तस्य ज्ञातृव्यापाराविषयत्वेन तद्भाववत्तदभावेऽपि प्रवृत्तिविरोधात्। समर्थितं चास्य तदविषयत्वं प्रागिति। नाप्यनुमानाधिगम्यः, अत एव।

अथानुपलम्भनिश्चयः अत्रापि किं दृश्यानुपलम्भोऽभिप्रेत, अदृश्यानुपलम्भो वा? यद्यदृश्यानुपलम्भः; नासौ गमकोऽतिप्रसङ्गात्। दृश्यानुपलम्भोऽपि चतुर्द्धा भिद्यते स्वभाव-कारण-व्यापकानुपलम्भविरुद्धोपलम्भभेदात्। तत्र न तावदाद्यो युक्तः; स्वभावानुपलम्भस्यैवंविधे विषये व्यापारा-

---

ज्ञाता का व्यापार साध्य है और अर्थतथात्व का प्रकाशन हेतु है। इन दोनों का अविनाभाव जानने के लिये दूसरा अनुमान चाहिये, तथा उस दूसरे अनुमान में जो साध्य साधन का अन्वयरूप अविनाभाव होगा उसे वह पहिला अनुमान जानेगा, इस प्रकार एक दूसरे के आश्रय होने से एक की भी सिद्धि नहीं होती है। ऐसे ही सर्वत्र अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोष का मतलब समझना चाहिये।

ज्ञाता का व्यापार और अर्थतथात्व प्रकाशन इनका अविनाभाव संबंध व्यतिरेक निश्चय के द्वारा भी नहीं होता है, व्यतिरेक उसे कहते हैं कि जहां साध्य के अभाव में हेतु का अभाव दिखाया जाय, किन्तु यहां ज्ञाता का व्यापार रूप जो साध्य है वह प्रत्यक्षगम्य है नहीं, क्योंकि ज्ञाता का व्यापार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अतः ज्ञाता का व्यापार होने पर तथा न होने पर भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का विरोध ही है, प्रत्यक्ष का विषय ज्ञाता का व्यापार नहीं है इस बात को पहिले ही बता दिया गया है। अनुमान से व्यतिरेक का निश्चय नही होता क्योंकि उसको भी (ज्ञाता का व्यापार होवे अथवा न होवे) प्रवृत्ति नहीं होती।

प्रभाकर—ज्ञाता के व्यापार का अभाव अनुपलम्भ हेतु के द्वारा किया जाता है, अर्थात्—ऐसी आत्मा में ज्ञाता का व्यापार नहीं है क्योंकि उसके कार्य की उपलब्धि नहीं है, जैसे कि गधे के सींग।

जैन—इस प्रकार मानने पर भी हम पूछते हैं कि आपने अनुपलम्भ कौन सा माना है—दृश्यानुपलम्भ कि अदृश्यानुपलम्भ, अदृश्यानुपलम्भ साध्य का गमक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अति प्रसंग दोष आता है, अर्थात् अदृश्य उसे कहते हैं जो देखने योग्य नहीं है, ऐसी अदृश्य वस्तु का अनुपलम्भ कैसे जान सकते हैं। क्योंकि अदृश्य पदार्थ तो मौजूद होते हैं फिर भी वे उपलब्ध नहीं होते और मौजूद न हों तो भी वे उपलब्ध नहीं होते, जैसे कि पिशाच परमाणु आदि हों चाहे मत

भावात्, एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भरूपत्वात्तस्य । न च ज्ञातृव्यापारेण सह कस्यचिदेकज्ञान-संसर्गित्वं सम्भवतीति । नापि द्वितीयः; सिद्धे हि कार्यकारणभावे कारणानुपलम्भः कार्याभाव-निश्चायकः । न च ज्ञातृव्यापारस्य केनचित् सह कार्यत्वं निश्चितम्; तस्यादृश्यत्वात् । प्रत्यक्षानु-पलम्भनिबन्धनश्च कार्यकारणभावः । तत एव केनचित्सह व्याप्यव्यापकभावस्यासिद्धेर्न व्यापकानु-पलम्भोऽपितन्निश्चायकः । विरुद्धोपलम्भोपि द्विधा भिद्यते विरोधस्य द्विविधत्वात्; तथा हि-को (एको) विरोधोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात्सहानवस्थालक्षणः शीतोष्णयोरिव, विशिष्टा-

---

हों हम उन्हें जानते नहीं, फिर उनका अनुपलम्भ कैसे समझें, दृश्यानुपलम्भ चार प्रकार का है—स्वभावानुपलम्भ, कारणानुपलंभ, व्यापकानुपलभ और विरुद्धोपलभ, इनमें स्वभावानुपलंभ तो यहां ठीक नहीं है—यहां वह उपयुक्त नहीं है—क्योंकि ऐसे अत्यन्त परोक्ष रूप ज्ञाता के व्यापार में स्वभावानुपलंभ की प्रवृत्ति ही नहीं होती है, स्वभावानुपलम्भ तो एकज्ञानसंसर्गी ऐसे पदार्थान्तर की उपलब्धि रूप होता है, मतलब — जैसे पहिले एक जगह पर किसी ने घट देखा फिर उसी ने दूसरी बार खाली भूतल देखा तब उसे वहां घट का अभाव है ऐसा ज्ञान होता है, ऐसा एकज्ञान-संसर्गीपना ज्ञाता के व्यापार के साथ किसी के संभवता नही है । दूसरा पक्ष जो कारणानुपलंभ है वह भी नही बनता है, क्योंकि कार्यकारणभाव सिद्ध हो तब कारण का अभाव कार्य के अभाव का निश्चायक होगा, किन्तु ज्ञाता के व्यापार का किसी भी कारण के साथ कार्यपना सिद्ध तो है नही, क्योंकि वह तो अदृश्य है । कार्यकारण भाव तो अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा जाना जाता है और ज्ञातृव्यापार के साथ किसी का अन्वय व्यतिरेक बनता नहीं है, इस प्रकार कारणानुपलंभ से ज्ञातृव्यापार की सिद्धि नही होती है। तीसरा पक्ष जो व्यापकानुपलंभ है वह भी ज्ञातृव्यापार के अदृश्य होने से बनता नही है । क्योंकि किसी के साथ ज्ञातृव्यापार का व्याप्यव्यापक-भाव सिद्ध हो तो व्यापक के अभाव में व्याप्य के अभाव की सिद्धि मानी जाय, परन्तु व्यापक ही जब असिद्धि है तो वह ज्ञाता के व्यापार के अभाव का निश्चायक कैसे होगा । चौथा पक्ष विरुद्धोपलंभ है, सो प्रथम तो विरुद्ध के दो भेद है अतः उसके उपलम्भ के भी दो भेद हो जाते हैं, इनमें एक विरोध सहानवस्थारूप है, यह विरोध अपने संपूर्ण कारणों के होते हुए अन्य के सद्भाव में अभावरूप होता है जैसा कि शीत और उष्ण का होता है, वह तो विशिष्ट प्रत्यक्ष से जाना जाता है । प्रकृत में ज्ञाता का व्यापाररूप साध्य किसी विरोधी कारण के होने पर अभावरूप होते हुए

त्प्रत्यक्षाभिश्रीयते । न च प्रकृतं साध्येमविकलकारणं कस्यचिद्भावे निवर्तमानमुपलभ्यते; तस्या-दृश्यत्वात् । द्वितीयस्तु परस्परपरिहारस्थितिलक्षणः । सोप्युपलभ्यस्वभावभावनिष्ठत्वात्प्रकृतविषये न सम्भवति ।

किञ्चानुपलम्भोऽभावप्रमाणं प्रमाणपञ्चकविनिवृत्तिरूपम् । तच्च ज्ञातमेवाभावसाधकम्; कृत-यत्नस्यैव प्रमाणपञ्चकविनिवृत्ते रभावसाधकत्वोपगमात् । तदुक्तम्—

गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते ।
तदान्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ॥

—मीमांसाश्लो० वा० अर्था० श्लो० ३८

प्रतीति में नहीं आता है—अर्थात् ज्ञाता के व्यापार के विरोधी कारण होने पर वह निवर्तमान हो ऐसा देखने में नहीं आता है—क्योंकि वह अदृश्य है दूसरा विरोध परस्पर परिहार स्थिति रूप होता है, यह विरोध उपलब्ध होने योग्य पदार्थ में ही रहता है, किन्तु ज्ञाता का व्यापार तो अनुपलम्भ स्वभाववाला—उपलब्ध होने के स्वभाववाला नहीं—है, अतः इस विरोध के होने की वहां सम्भावना ही नहीं है ?

दूसरी बात यह है कि वस्तु का अनुपलम्भ स्वभाव अभाव प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, तथा अभाव प्रमाण सद्भाव रूप के आवेदक पांचों प्रमाणों की विनिवृत्तिरूप होता है—अर्थात् पांचों प्रमाणों के निवृत्त होने पर प्रवृत्त होता है और वह अभाव प्रमाण जाने हुए देखे हुए पदार्थ का ही अभाव सिद्ध करता है, जहां पांचों प्रमाण प्रयत्न करके थक गये हैं ऐसे विषयों का अभाव सिद्ध करने के लिये अभाव प्रमाण आ जाता है । कहा भी है—

गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते ।
तदान्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ॥

—मीमांसाश्लोकवा० अर्था० श्लो० ३८

अर्थ—उन उन स्थानों पर जाकर भी यदि पदार्थ उपलब्ध नहीं होता है—और अन्य कोई कारण है नहीं कि जिससे पदार्थ प्राप्त न हो तो वहां वह पदार्थ नहीं है इस तरह से उस पदार्थ का असत्व निश्चित किया जाता है, ऐसा मीमांसा श्लोक वार्तिक में कहा है, पांचों प्रमाणों का अभाव कोई अन्य अभाव प्रमाण से जाना जायगा कि प्रमेय के अभाव द्वारा जाना जायगा ? यदि अन्य अभाव प्रमाण से जाना

तज्ज्ञानं चान्यस्मादभावप्रमाणात्, प्रमेयाभावाद्वा ? तत्राद्यपक्षेऽनवस्थाप्रसङ्गः—तस्याप्यन्यस्मादभावप्रमाणात्परिज्ञानात् । प्रमेयाभावात्तज्ज्ञाने च–इतरेतराश्रयत्वम् ।

किञ्चासौ ज्ञातृव्यापारः कारकैर्जन्यः, अजन्यो वा ? यद्यजन्यः, तदासावभावरूपः, भावरूपो वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; तस्याभावरूपत्वेऽर्थप्रकाशनलक्षणफलजनकत्वविरोधात् । विरोधे वा फलार्थिनः कारकान्वेषणं व्यर्थम्, तत एवाभिमतफलसिद्धेर्विश्वमदरिद्रं च स्यात् । अथ भावरूपोऽसौ; तत्रापि किं नित्यः, अनित्यो वा ? न तावन्नित्यः; अन्धादीनामप्यर्थदर्शनप्रसङ्गात् सुप्तादिव्यवहारा-

---

जायगा ऐसा कहो तो अनवस्था आती है–अर्थात् प्रथम प्रमाण पंचक का अभाव सिद्ध करनेके लिये अभाव प्रमाण आया वह प्रमाण पंचकके निवृत्त होने पर आया है ऐसा जानने के लिये दूसरा अभाव प्रमाण आवेगा और उस दूसरे के लिये तीसरा आयेगा ऐसे चलते चलते कहीं ठहरना होगा नहीं, अतः अनवस्था दोष स्पष्ट है । यदि प्रमेय के अभाव से प्रमाण पंचक के अभाव का निर्णय किया जायेगा–तो अन्योन्याश्रय दोष होगा अर्थात् प्रमेयाभाव सिद्धि होने पर प्रमाण पंचकाभाव की सिद्धि और फिर उससे प्रमेयाभाव की सिद्धि होगी ।

अच्छा आप प्रभाकर यह तो कहिये कि ज्ञाता का व्यापार कारकों के द्वारा उत्पन्न होता है या नहीं ? यदि नहीं होता तो वह अभाव स्वरूप है या भावस्वरूप है ? यदि वह अभाव रूप है तो बड़ा भारी दोष आता है और वह ऐसा है कि ज्ञाता का व्यापार अभावरूप है तो वह अर्थप्रकाशन रूप फल को पैदा नहीं करेगा, यदि अभावरूप होकर भी वह कार्य करेगा तो फलार्थीजन कारकों का अन्वेषण क्यों करेंगे, अभावरूप व्यापार से अर्थ प्रकाशन होनेसे सारा जगत् धनी हो जायेगा, मतलब–बिना प्रयत्न के किसी भी कार्य की सिद्धि होने से धनादि कार्य भी ऐसे ही अपने आप होने लग जायेंगे । ज्ञाता का व्यापार कारक से पैदा न होकर भी वह भावरूप है ऐसा कहो तो प्रश्न होता है कि वह नित्य है कि अनित्य है ? यदि नित्य है ऐसा माना जाय तो अंधे आदि जीवों को भी ज्ञान होने लग जायगा, तथा यह सोया है यह मूर्च्छित है, इत्यादि व्यवहार भी समाप्त हो जायेगा, सभी व्यक्ति सर्वज्ञ बन जायेंगे, कारकों का अन्वेषण व्यर्थ होगा, इतने सारे दोष आ पड़ेंगे, क्योंकि ज्ञाता का व्यापार तो नित्य है इसलिये । तथा प्रत्येक को प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान भी प्रत्येक अवस्था में होगा ही होगा ।

भावः सर्वसर्वज्ञताप्रसङ्गः। कारकान्वेषणवैयर्थ्यं च स्यात्। अथानित्यः; तदयुक्तम्; अजन्यस्वभावभावस्यानित्यत्वेन केनचिदप्यनभ्युपगमात्। भवतु वाऽनित्यः; तथाप्यसौ कालान्तरस्थायी, क्षणिको वा? न तावत्कालान्तरस्थायी;

"क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते" [शाबर भा०] इति वचसो विरोधप्रसङ्गात्। कारकान्वेषणं चापार्थकम्-तत्कालं यावत्तत्फलस्यापि निष्पत्तेः। क्षणिकत्वे; विश्वं निखिलार्थप्रतिभासरहितं स्यात् क्षणानन्तरं तस्यासत्त्वेनार्थप्रतिभासाभावात्। द्वितीयादिक्षणेषु स्वत एवात्मनो व्यापारान्तरोत्पत्तेर्नायं दोषः; इत्यप्यसङ्गतम्; कारकानायत्तस्य देशकालस्वरूपप्रतिनियमायोगात्। किञ्च; अनवरतव्यापाराभ्युपगमे तज्जन्यार्थप्रतिभासस्यापि तथा भावात् तदवस्थः सुप्ताद्यभावदोषानुषङ्गः। तन्नाऽजन्योऽसौ।

भावार्थ—सभी को समान ज्ञान होगा कोई भी पण्डित, मूर्ख इस तरह से विषम ज्ञान वाले नहीं हो सकेंगे। विद्यालयों में सभी विद्यार्थी समान श्रेणी में उत्तीर्ण होंगे, तथा कोई छद्मस्थ–अल्पज्ञानी नहीं रहेगा, क्योंकि सभी जीवों में ज्ञातृव्यापार समान रूप से है। अतः आप प्रभाकर ज्ञातृव्यापार नित्य है ऐसा नहीं कह सकते॥ यदि ज्ञाता का व्यापार अनित्य है ऐसा कहा जावे तो भी ठीक नहीं क्योंकि जो अजन्य–किसीसे पैदा नहीं होता है वह अनित्य है ऐसा किसी ने भी नहीं माना है अच्छा यदि उसे जबर्दस्ती अनित्य भी मान लिया जावे तो भी यह बताओ कि वह कुछ काल तक रहता है या नहीं? वह कालान्तर स्थायी हो नहीं सकता, क्योंकि "क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते" ज्ञाता की व्यापार रूप क्रिया क्षणिक है, द्वितीयादि समय में वह रहती नहीं ऐसा "शाबरभाष्य में" लिखा है, सो कालान्तर स्थायी मानने पर इस शाबरभाष्य के कथन से विरोध आवेगा–तथा कारकों का अन्वेषण करना भी व्यर्थ हो जायगा–क्योंकि कालान्तर स्थायी उस ज्ञातृव्यापार से ही पदार्थ के जानने रूप फल की निष्पत्ति होजावेगी, ज्ञाता के व्यापार को क्षणिक मानने पर सम्पूर्ण विश्व प्रतिभास–(ज्ञान) से रहित हो जावेगा क्योंकि वह ज्ञाता का व्यापार एकक्षण में ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जावेगा और उसका असत्त्व हो जायगा, अतः पदार्थ का प्रतिभास नहीं होगा।

प्रभाकर—दूसरे आदि क्षणों में अपने आपही व्यापारान्तर होते रहते हैं अतः यह उपरोक्त दोष नहीं आवेगा।

नापि जन्यः; यतोऽसौ क्रियात्मकः, अक्रियात्मको वा ? प्रथमपक्षे किं क्रिया परिस्पन्दात्मिका, तद्विपरीता वा ? तत्राद्य पक्षोऽयुक्तः; निश्चलस्यात्मनः परिस्पन्दात्मकक्रियाया अयोगात् । नापि द्वितीयः; तथाविधक्रियायाः परिस्पन्दाभावरूपतया फलजनकत्वायोगात्, अभावस्य फलजनकत्वविरोधात् । न चासौ परिस्पन्दस्वभावा तद्विपरीता वा-कारकफलान्तरालवर्त्तिनी प्रमाणतः प्रतीयते । तन्न क्रियात्मको व्यापारः । नापि तद्विपरीतः; अक्रियात्मको हि व्यापारो बोधरूपः, अबोधरूपो वा ? बोधरूपत्वे; प्रमातृवत्प्रमाणान्तरगम्यता न स्यात् । अबोधरूपता तु व्यापारस्यायुक्ता, चिद्रूपस्य ज्ञातुरचिद्रूपव्यापारायोगात् । 'जानाति' इति च क्रिया ज्ञातृव्यापारो भवताभिधीयते, स च बोधात्मक एव युक्तः ।

जैन—ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो कारकों के आधीन नहीं तो उसमें देश काल स्वरूप आदिका नियम ही बनता नहीं–तब हमेशा ही ज्ञाता का व्यापार होगा और हमेशा ही अर्थ प्रकाशनरूप कार्य भी होगा, इससे वही निद्रित मूर्छित आदि रूप व्यवहार के समाप्त होनेका दोष आयेगा, इसलिये ज्ञाता का व्यापार कारकों से अजन्य है यह पक्ष गलत होजाता है ।

ज्ञाता का व्यापार कारकों से जन्य है यदि ऐसा पक्ष माना जाय तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि वह जन्य है तो क्या वह क्रियात्मक है या अक्रियात्मक है ? यदि क्रियात्मक है, तो वह क्रिया परिस्पन्दवाली है या अपरिस्पन्दवाली है ? परिस्पन्दवाली क्रिया उसे मान नहीं सकते, क्योंकि निश्चल आत्मा में ऐसी क्रिया होती नहीं है, ऐसा आपने भी माना है । यदि वह अपरिस्पन्दरूप है तो ऐसी क्रियासे परिस्पन्दरूपवाला कार्य हो नहीं सकता, क्योंकि अभाव कोई फल पैदा नहीं करता, दूसरी बात यह है कि ज्ञातृव्यापार रूप क्रिया चाहे परिस्पन्दरूप हो चाहे अपरिस्पन्द रूप हो कारक और फल अर्थात्–प्रमाता और अर्थ प्रकाशन के बीचमें वह किसी भी प्रमाण से प्रतीति में नहीं आती है, इसलिए ज्ञाता के व्यापार को क्रियात्मक नहीं मान सकते, यदि ऐसा कहा जाय कि वह ज्ञातृव्यापार अक्रियात्मक है सो हम पूछते हैं कि वह अक्रियात्मक व्यापार बोधरूप है या अबोधरूप है ? यदि वह बोधरूप है तो प्रमाता की तरह वह दूसरे प्रमाण द्वारा काहे को जाना जायगा वह तो अपने आप से जाना जायगा, ज्ञातृव्यापार अबोध रूप तो बिलकुल होता नही क्योंकि ज्ञाता तो चैतन्यरूप है उसका व्यापार अचेतनरूप कैसे होगा, आपने स्वतः ही "जानता है" इस प्रकार की

किञ्चासौ धर्मिस्वभावः, धर्मस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे-ज्ञातृवन्न प्रमाणान्तरगम्यता । द्वितीयेपि पक्षे-धर्मिणो ज्ञातुर्व्यतिरिक्तो व्यापारः, अव्यतिरिक्तो वा, उभयम्, अनुभयं वा ? व्यतिरिक्तत्वेसम्बन्धाभावः । अव्यतिरेके-ज्ञातैव तत्स्वरूपवत् । उभयपक्षे तुविरोधः । अनुभयपक्षोऽप्ययुक्तः; अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां सकृत् प्रतिषेधायोगात् एकनिषेधेनापरविधानात् ।

किञ्च, व्यापारस्य कारकजन्यत्वोपगमे तज्जनने प्रवर्तमानानि कारकाणि किमपरव्यापारसापेक्षाणि, न वा ? तत्राद्यपक्षे अनवस्था; व्यापारान्तरस्याप्यपरव्यापारान्तरसापेक्षैस्तैर्जननात् । व्यापारनिरपेक्षाणां तज्जनकत्वे-फलजनकत्वमेवास्तु किमदृष्टव्यापारकल्पनाप्रयासेन ? अस्तु वा व्यापारः;

क्रिया को ज्ञातृव्यापार कहा है, अतः वह ज्ञातृव्यापार बोधस्वरूप मानना ही युक्त है ।

प्रभाकर अब यह बतावें कि वह व्यापार धर्मिस्वभावरूप है कि धर्मस्वभाव रूप है ? यदि वह धर्मिस्वभावरूप है तो ज्ञाता और उसका व्यापार एक रूप ही हो गये फिर ज्ञाता की तरह उसके व्यापार को जो भिन्न प्रमाण से वह जाना जाता है ऐसी बात क्यों कहते हो, द्वितीयपक्ष को लेकर यदि उसे धर्मस्वभाव रूप माना जाय तो हम पूछते हैं कि वह व्यापार ज्ञाता से भिन्न है, या अभिन्न है, या उभयरूप है, अथवा कि अनुभय रूप है ? यदि वह ज्ञाता से भिन्न है तो ज्ञाता और व्यापार का संबंध नहीं रहेगा, अभिन्न है तो व्यापार ज्ञातारूप ही हो जायगा जैसा कि ज्ञाता का निजस्वरूप होता है, यदि उभयरूप है अर्थात् अभिन्न और भिन्न दोनों रूप वह है ऐसा माना जाय तो विरोध होता है, अनुभयपक्ष तो बिलकुल बनता ही नहीं है क्योंकि जो एक दूसरे के व्यवच्छेदरूप से रहते हैं उनका एक साथ सभी का प्रतिषेध नहीं किया जाता, उनमें एक का निषेध होने पर तो दूसरे की विधि अवश्य हो जाती है । क्योंकि एक का निषेध ही दूसरे की विधि है ।। तथा ज्ञाता के व्यापार को कारकों के द्वारा उत्पन्न किया जाता है ऐसा माना जाये तो यह बताईये कि ज्ञाता के व्यापार को उत्पन्न करने के लिये जो कारक प्रयुक्त हुए हैं वे अन्य व्यापार की अपेक्षा रखते हैं या नहीं ? यदि रखते हैं तो अनवस्था दोष आता है, क्योंकि व्यापार के लिये अन्यव्यापार और अन्य व्यापार के लिये अन्यव्यापार की अपेक्षा रहेगी इस प्रकार मानना पड़ेगा । यदि विना अन्यव्यापार के कारक प्रवृत्त होते हुए माने जायें तो वे कारक ही अर्थ प्रकाशन रूप फल को उत्पन्न कर देंगे, काहे को अदृष्ट व्यापार की कल्पना करते बैठना ? अच्छा

तथाप्यसौ प्रकृतकार्ये व्यापारान्तरसापेक्षः, निरपेक्षो वा ? न तावत्सापेक्ष ; अपरापरव्यापारान्तरापेक्षायामेवोपक्षीणशक्तिकत्वेन प्रकृतकार्यजनकत्वाभावप्रसङ्गात् । व्यापारान्तरनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वे कारकाणामपि तथा तदस्तु विशेषाभावात् । अथैवं पर्यनुयोगः सर्वभावस्वभावव्यावर्तकः; तथाहि-वह्नेर्दाहकस्वभावत्वे गगनस्यापि तत्स्यात् इतरथा वह्नेरपि न स्यात्, तदसमीक्षिताभिधानम्; प्रत्यक्षसिद्धत्वेनात्र पर्यनुयोगस्यानवकाशात्, व्यापारस्य तु प्रत्यक्षसिद्धत्वाभावान्न तथास्वभावावलम्बनं युक्तम् ।

अर्थप्राकट्यं व्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानं तं कल्पयतीत्यर्थापत्तितस्तत्सिद्धिरित्यपि फल्गु-

---

ज्ञातृव्यापार मान भी लिया जावे, तो भी वह ज्ञातृव्यापार अपना कार्य जो अर्थ प्रकाशन है उसमें व्यापारान्तर की अपेक्षा रखता है या नहीं ? यदि वह दूसरे व्यापार की अपेक्षा रखता है ऐसा माना जाय तो उस ज्ञातृव्यापार की दूसरे दूसरे व्यापार की अपेक्षा रखने में ही शक्ति समाप्त हो जायगी फिर उसके द्वारा जो अर्थ प्रकाशनरूप कार्य होता है वह कभी नहीं हो सकेगा यदि ज्ञातृव्यापार अर्थ प्रकाशनरूप अपने कार्य में व्यापारान्तर की अपेक्षा नहीं रखता ऐसा माना जाय तो कारक भी व्यापार की तरह अर्थप्रकाशनरूप कार्य करने लग जावेंगे कोई विशेषता नहीं रहेगी ।

प्रभाकर—जैन की यह प्रश्नमाला सारी ही गलत है, क्योंकि ऐसे कुतर्क करोगे तो सारे ही पदार्थ निःस्वभाववाले हो जावेंगे । फिर तो ऐसा भी प्रश्न होगा कि अग्नि में जलाने का स्वभाव है तो आकाश में भी वह होना चाहिये, यदि आकाश में वह नहीं है तो अग्नि में भी वह मत होओ ?

जैन—यह विना सोचे तुमने कहा–देखो जो प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है उसमें प्रश्न नहीं उठा करता है, किन्तु आपका ज्ञातृव्यापार तो ऐसा है नहीं–अर्थात् प्रत्यक्ष है नहीं, अतः उसमें व्यापारान्तर निरपेक्ष होकर कार्य करने का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है, इसप्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों से ज्ञाता का व्यापार सिद्ध नहीं होता ।।

प्रभाकर—हम तृतीय विकल्प को आश्रित करके ऐसा कहेंगे कि अर्थप्रकाशन ज्ञाता के व्यापार के विना नहीं होता सो इस अर्थपत्ति से वह सिद्ध होगा ।

जैन—सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह अर्थप्रकटता व्यापार से भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि वह उससे अभिन्न है अर्थात् व्यापार और अर्थप्रकटता

प्रायम्; अर्थप्राकट्यं हि ततो भिन्नम्, अभिन्नं वा ? यद्यभिन्नम्; तदाऽर्थ एवेति यावदर्थं तत्सद्भावात्सुप्ताद्यभावः। भेदे-सम्बन्धासिद्धिरनुपकारात्। उपकारेऽनवस्था। किञ्च, एतदन्यथानुपपद्यमानत्वेनानिश्चितं तं कल्पयति, निश्चितं वा ? न तावदनिश्चितम्; अतिप्रसङ्गात्-तथाभूतं हि तद्यथा तं कल्पयति तथा येन विनाप्युपपद्यते तदपि किं न कल्पयत्यविशेषात् ? निश्चितं चेत्; क्व तस्यान्यथानुपपन्नत्वनिश्चयः-दृष्टान्ते, साध्यधर्मिणि वा ? दृष्टान्ते चेत्; लिङ्गस्यापि तत्र साध्यनियतत्वनिश्चयोऽस्तीत्यनुमानमेवार्थापत्तिरिति प्रमाणसंख्याव्याघातः। साध्यधर्मिण्यपि कुतः प्रमाणात्तस्य तन्निश्चयः?

एकरूप है तब तो अर्थ हमेशा ही बना रहता है इससे उसकी सदा प्रकटता होती रहने से सुप्तादि व्यवहार ही समाप्त हो जायगा। यदि व्यापार से अर्थप्रकटता भिन्न है तो ऐसी स्थिति में इनमें संबंध न होने से कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि इससे उसका कुछ उपकार तो होगा नहीं, यदि कुछ उपकार होगा भी तो अनवस्था आती है, अर्थात् उपकार का उपकार करने में सम्बन्ध नहीं जाना जाता है। अतः फिर दूसरे उपकार की, फिर तीसरे उपकार की अपेक्षा आती जावेगी, तथा हम जैनों का एक यह प्रश्न है कि वह अर्थप्राकटच अन्यथानुपपत्तिरूप से निश्चित होकर उस ज्ञातृव्यापार का निर्णय कराता है–सद्भाव बनाता है, या अन्यथानुपपत्तिरूप से अनिश्चित होकर उसका निर्णय कराता है–सद्भाव बनाता है अर्थात् ज्ञाता के व्यापार बिना अर्थकी प्रकटता नहीं होती ऐसा निश्चित होकर वह ज्ञातृव्यापार की मान्यता कराता है अथवा यों ही ? यदि यों ही–विना अन्यथानुपपन्नत्व के निश्चय के-उसकी कल्पना कराता है तो अतिप्रसंग होगा, ज्ञाता के व्यापार के साथ अर्थ प्राकटच की अन्यथानुपपत्ति निश्चित नहीं होने पर भी जैसे वह अर्थप्राकटच व्यापार को बताता है–उसका सद्भाव स्थापित करता है–उसी प्रकार वह जिसके बिना उत्पन्न होता है ऐसे फालतू स्तम्भ कुंभादि पदार्थ भी उस व्यापार को बतलाने वाले हो जावें, क्योंकि जैसे अर्थ प्राकटच का ज्ञातृ व्यापार से संबंध नहीं है वैसे ही स्तम्भादिक के साथ भी व्यापार का संबंध नहीं है-सो यह बड़ा भारी दोष आवेगा, यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञाता के व्यापार के साथ अर्थ प्राकटच की अन्यथानुपपत्ति निश्चित है तो हम पूछते हैं कि अर्थ प्राकटच में अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय कहां पर हुआ–अर्थात् साध्य के अभाव में–(ज्ञातृ व्यापार के अभाव में) अर्थ प्राकटच अनुपपन्न है इस प्रकार के अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय आपने कहां पर किया है ? क्या दृष्टान्त में किया है या साध्यधर्मी में किया है ? यदि ज्ञाता का व्यापार और अर्थप्राकटच इनकी अन्यथानुपपत्ति का निश्चय दृष्टान्त में किया है तो वहीं पर हेतु

विपक्षेऽनुपलम्भाच्चेत्; न; तस्य सर्वात्मसम्बंधिनोऽसिद्धानैकान्तिकत्वादित्युक्तम् । ततः प्रमाणतोऽचेतनस्वभावज्ञातृव्यापारस्याप्रतीतेः कथमर्थतथात्वप्रकाशकोऽसौ यतः प्रमाणं स्यात् ।।

ज्ञानस्वभावस्य ज्ञातृव्यापारस्यार्थतथात्वप्रकाशकतया प्रमाणताभ्युपगमान्न भट्टस्यानन्तरोक्ताशेषदोषानुषङ्गः, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; सर्वथा परोक्षज्ञानस्वभावस्यास्यासत्त्वेन प्रतिपादयिष्य-

---

अपने साध्यके साथ अविनाभाव संबध वाला है ऐसा निश्चय हो ही जायगा, इस तरह निश्चय होने से तो वह अनुमान ही हुआ अर्थापत्ति कहां रही, अर्थात् अनुमान ही अर्थापत्ति रूप हो गया अतः आपकी मान्य प्रमाणसंख्या का व्याघात हो जाता है,

भावार्थ—प्रभाकर ने सद्भाव ग्राहक पांच प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमा और अर्थापत्ति, अतः यहां पर अनुमान और अर्थापत्ति को एक रूप ही मानने पर प्रमाण संख्या का व्याघात हो जाता है ।

दूसरा पक्ष—ज्ञाता का व्यापार और अर्थ प्राकट्य इनकी अन्यथानुपपत्ति का निश्चय साध्य धर्मी में किया है, ऐसा माना जाय तो ऐसा निश्चय कौन से प्रमाण से किया है, यदि कहो कि विपक्ष में अनुपलम्भ से किया है अर्थात् स्तम्भादि में व्यापार का अभाव होने से अर्थ की प्रकटता का अनुपलम्भ है सो ऐसा भी नहीं कह सकते—क्योंकि विपक्ष में अनुपलम्भ किसको है ? सभी को या सिर्फ तुम्हें ही ? सभी को ऐसा अनुपलम्भ हो नहीं सकता, यदि तुम्हें अकेले को ऐसा अनुपलम्भ है तो भी किसी को उपलम्भ होता ही है, अतः हेतु अनैकान्तिक होगा, इसलिये किसी भी प्रमाण के द्वारा अचेतन रूप ज्ञातृ व्यापार है ऐसा जाना नहीं जाता है, फिर उससे अर्थ तथा स्व का प्रकाशनरूप कार्य कैसे होगा जिससे कि वह प्रमाण माना जाय ।

प्रभाकर—हम ज्ञातृव्यापार को ज्ञान स्वभाव वाला मानकर उससे अर्थ प्रकाशन होता है ऐसा मान लेवें तब तो हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं आता ।

जैन—ऐसा कथन भी बिना विचारे किया जा रहा है, क्योंकि आपने ज्ञान को सर्वथा परोक्ष माना है, ऐसे ज्ञान का हम आगे निरसन करने वाले हैं । कोई भी ज्ञान ही, वह स्व पर को जानने वाला होता है, यह बात सिद्ध हो चुकी है, अब विशेष कथन से बस ।

विशेषार्थ—प्रभाकर भट्ट ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानते हैं । ज्ञाता अर्थात् जानने वाला जो आत्मा उस आत्मा का जो व्यापार याने प्रवृत्ति है वही

माणत्वात् । सकलज्ञानानां स्वपरव्यवसायात्मकत्वेन व्यवस्थितेः इत्यलं प्रपञ्चेन ।

प्रमाण है, इससे बुद्धि जानने योग्य विषयों में—पदार्थों में—प्रवृत्त होती है, मतलब—जब बुद्धि विषयों की तरफ सन्मुख होती है वह प्रमाण है, तथा वह विषयोन्मुख बुद्धि ही करण है । जब इस प्रकार का व्यापार आत्मा में नहीं होता तब जाननारूप कार्य भी नहीं होता, आत्मा और कर्मरूप जो पदार्थ हैं इनका—इन दोनोंका—संबंध है जो कि मानस प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है, ऐसा संबंध ज्ञान को पैदा कर देता है, इसलिये ज्ञाता का व्यापार प्रमाणभूत स्वीकार किया गया है । इस प्रकार के प्रभाकर मान्य प्रमाण के लक्षण का जब हम जैन विचार करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा का जो पदार्थो को जानने के लिये पदार्थोंकी तरफ झुकाव होता है जिसे हम जैन सामान्यावलोकन या दर्शन कहते हैं, उस दर्शन को ही ये अन्यमती प्रमाण स्वरूप मान बैठे हैं क्या ?

वास्तविक देखा जाय तो इन सब मतान्तरों में मिथ्यात्व के कारण ऐसी विपरीतता हो गई है कि जिससे ये लोग प्रमाण ही क्या अन्य किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानते नहीं हैं । इस प्रकार के अप्रमाणभूत ज्ञातृव्यापार का आचार्य ने विविध प्रकार से यह खडन किया है ।

ज्ञातृव्यापार के खंडन का सारांश

प्रभाकर भट्ट की मान्यता है कि पदार्थ को जैसे का तैसा जानने रूप जो ज्ञाता का व्यापार है वही प्रमाण है, किन्तु उनकी यह मान्यता गलत है, क्योंकि वह व्यापार अज्ञान रूप है, तथा उसे जानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, यदि प्रत्यक्ष जानेगा तो कौनसा प्रत्यक्ष जानेगा—स्वसंवेदन या बाह्येन्द्रियज, या कि मनः प्रत्यक्ष ? इन तीनों प्रत्यक्षों में से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अज्ञानरूप उस ज्ञातृव्यापार में कैसे प्रवृत्ति करेगा, अर्थात् नहीं करेगा, इन्द्रियां बेचारी अपने संबंधित विषय में ही दौड़ती हैं तथा ज्ञाता के व्यापार के साथ उन इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध भी नहीं है । मानस प्रत्यक्ष ज्ञान, ज्ञाता के व्यापार को जानता है ऐसा आप मानते नहीं हो, अनुमान ज्ञान व्यापार को कैसे जाने ? क्योंकि वह तो साध्य साधन के अविनाभावरूप संबंध को जानने के बाद होगा, किन्तु यहां जो ज्ञाता का व्यापार साध्य है और अर्थ तथा-

त्व प्रकाशन हेतु है । इनका आपस में अविनाभाव है कि नहीं ऐसा हम जान नहीं सकते क्योंकि ज्ञाता का व्यापार अदृश्य है । अनुमान से ज्ञाता का व्यापार जानना और उसका अन्वय जानने के लिये फिर अनुमान लाना ऐसे तरीके से अनवस्था एवं अन्योन्याश्रय दोष आते हैं । अनुपलम्भ हेतु से सिद्ध करो तो वह बनता ही नहीं है, क्योंकि दृश्य–देखने योग्य पदार्थ का अभाव सिद्ध कर सकते हैं, जो स्वयं ही अदृश्य हैं दिखते ही नही, उनका क्या तो अभाव और क्या सद्भाव, अभाव प्रमाण ज्ञातृ व्यापार का ग्राहक तब हो जब कि कहीं पर वह उपलब्ध हो, जैसे कि घर को पहिले कहीं देखा और पुनः वह उस स्थान पर नहीं दिखा तब उसका अभाव सिद्ध करते हैं, अच्छा–यह ज्ञातृव्यापार किसी कारक (कारण) से उत्पन्न होता है या नहीं, सो वहां पर भी बड़ी भारी प्रश्न माला खड़ी होती है–वह क्या सद्भाव रूप है या अभाव रूप है ? नित्य है या अनित्य है ? यदि सद्भावरूप नित्य व्यापार है तो हर एक व्यक्ति को हर समय हर एक पदार्थ का ज्ञान होने से सभी सर्वज्ञ बन जावेंगे, फिर जगत में यह अंधा है यह सोया है यह मूर्च्छित हुआ है इत्यादि जो व्यवहार होता है वह सब समाप्त हो जावेगा, ज्ञाता का व्यापार यदि अनित्य है तो उससे कोई कार्य होगा नहीं अर्थात् ज्ञातृव्यापार क्षणिक है तो उससे अर्थ प्रकाशन कैसे होगा, दूसरे समय व्यापारान्तर आता है तो फिर वही अनवस्था आवेगी, तथा ज्ञातृव्यापार यदि कारक से उत्पन्न होगा तो वे कारक क्या अन्य व्यापार की अपेक्षा रखते हैं या नहीं ? यदि रखते हैं तो अनवस्था तैयार है और यदि नहीं रखते है तो वे कारक ही स्वतः अर्थ प्रकाशन कर लेगे, क्योंकि जैसे उन्हे व्यापार को उत्पन्न करने में किसी की अपेक्षा नहीं रही है वैसे ही अर्थ प्रकाशन करने में–अर्थ प्रकाशन को पैदा करने में भी ज्ञातृ व्यापार की उन्हें अपेक्षा नही रहेगी, अर्थापत्ति से ज्ञातृ व्यापार की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि अनुमान की तरह वहां अन्यथानुपपद्यमानत्व चाहिये ।

इतना कहने पर भी यदि भाट्ट यों कहें कि अजी हम तो ज्ञातृ व्यापार को ज्ञान स्वरूप मानते हैं, बस अब तो वह प्रमाण ही हो जायगा, सो ऐसी बात भी नहीं बनती, क्योंकि आप लोगों ने ज्ञान को अत्यन्त परोक्ष माना है, और ऐसा ज्ञान तो खपुष्प के समान असत् है, इस प्रकार ज्ञातृ व्यापार किसी भी तरीके से प्रमाण रूप सिद्ध होता नहीं है ।

*** ज्ञातृव्यापार के खंडन का सारांश समाप्त ***

प्राप्तिपरिहारविचारः

'तन्नाज्ञानं प्रमाणमन्यत्रोपचारात्' इत्यभिप्रायवान् प्रमाणस्य ज्ञानविशेषणत्व समर्थयमानः प्राह—

हिताऽहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।। २ ।।

हितं सुख तत्साधनं च, तद्विपरीतमहितम्, तयोः प्राप्तिपरिहारौ । प्राप्ति. खलूपादेयभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्थप्रदर्शकत्वम् । अर्थक्रियार्थी हि पुरुषस्तन्निष्पादनसमर्थं प्राप्तुकामस्तत्प्रदर्शकमेव प्रमाणमन्वेषत इत्यस्य प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् । न हि तेन प्रदर्शितेऽर्थे प्राप्त्यभावः । न च क्षणिकस्य ज्ञानस्यार्थप्राप्तिकालं यावदवस्थानाभावात्कथ प्रापकतेति वाच्यम् ? प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्तत्रा-

---

इस प्रकार अज्ञानरूप वस्तु प्रमाण नहीं होती है यह सिद्ध हुआ, उपचार से चाहे जिसे प्रमाण कह लो, अब माणिक्यनदी आचार्य इसी अभिप्राय को मन में रखते हुए प्रमाण के ज्ञान विशेषण का अग्रिम सूत्र द्वारा समर्थन करते हैं—

सूत्र—हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।। २ ।।

हित की प्राप्ति और अहित के परिहार कराने में प्रमाण समर्थ है अतः वह ज्ञान ही होना चाहिये ।

सुख और सुख के साधनों को हित कहते हैं, दुःख और दुःख के साधनों को अहित कहते हैं, हित की प्राप्ति और अहित का परिहार प्रमाण के द्वारा होता है, उपादेयभूत स्नानपानादि जो क्रियाएँ हैं उन क्रियाओं के योग्य पदार्थों का ज्ञान कराना प्राप्ति कहलाती है । अर्थ क्रिया को चाहने वाले व्यक्ति अपना कार्य जिससे हो ऐसे समर्थ पदार्थ को प्राप्त करना चाहते हैं ऐसे पदार्थ का ज्ञान जिससे हो उस प्रमाण को वे अर्थ क्रियार्थी ढूंढते हैं, इसलिये प्रमाण का जो अर्थ को बतलाना है उसी को यहां प्राप्तिपना—(प्रापकपना) माना है, प्रमाण के द्वारा बतलाये गये पदार्थों

सम्भवात् । न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्यार्थप्राप्तौ सन्निकृष्टत्वात्तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम्; यतो यद्यप्यनेकस्माज्ज्ञानक्षणात्प्रवृत्तावर्थप्राप्तिस्तथापि पर्यालोच्यमानमर्थप्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वम्-नान्यत् । तच्च प्रथमत एव ज्ञानक्षणे सम्पन्नमिति नोत्तरोत्तरज्ञानानां तदुपयोगि (त्वम्), तद्विशेषांश-प्रदर्शकत्वेन तु तत् तेषामुपपन्नमेव । प्रवृत्तिमूला तूपादेयार्थप्राप्तिर्न प्रमाणाधीना-तस्याः पुरुषेच्छा-धीनप्रवृत्तिप्रभवत्वात् । न च प्रवृत्त्यभावे प्रमाणस्यार्थप्रदर्शकत्वलक्षणव्यापाराभावो वाच्यः, प्रतीतिविरोधात् । न खलु चन्द्रार्कादिविषयं प्रत्यक्षमप्रवर्तकत्वान्न तत्प्रदर्शकमिति लोके प्रतीतिः । कथं

में प्राप्ति का अभाव तो होता नहीं । बौद्ध के यहां माना गया क्षणिक ज्ञान अर्थ की प्राप्ति काल तक ठहरता तो है नही फिर वह प्रापक कैसे बने सो इस प्रकार की शंका नहीं करना, क्योंकि प्रमाण में तो प्रदर्शक रूप ही प्राप्ति है और कोई प्राप्ति यहां सम्भव नहीं है । अर्थ प्राप्ति के समय दूसरा ज्ञान आता ही है, उस समीपवर्ती ज्ञान को अर्थप्रापक माना जाय सो ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि यद्यपि अनेक ज्ञानों के प्रवृत्त होने पर ही अर्थ की प्राप्ति होती है तो भी विचार में प्राप्त जो पदार्थ है उसकी प्रदर्शकता ही ज्ञान की प्रापकता है अन्य नहीं, ऐसी प्रापकता तो ज्ञान के क्षण में ही हो जाती है, उसके लिये आगे २ के ज्ञान उपयोगी नहीं हैं । हां, उसी पदार्थ में विशेष २ अंशों का प्रदर्शकपना आगे के ज्ञान के द्वारा हो जाय तो इसमें कोई बाधा नहीं है । पदार्थ में प्रवृत्त होने रूप प्राप्ति तो ज्ञान के आधीन नहीं है वह तो पुरुष की इच्छा के आधीन है, यदि ऐसा कहा जाय कि प्रवृत्ति रूप प्राप्ति प्रमाण में न होने के कारण उसमें अर्थ प्रदर्शन रूप प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी सो ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है, देखो—चन्द्र सूर्य आदि का प्रत्यक्ष जो ज्ञान होता है वह उनमें प्रवृत्ति कराने वाला नहीं होता है अर्थात् उससे इन चन्द्रादि पदार्थों का ग्रहण तो होता नहीं है परन्तु फिर भी वह उनका प्रदर्शक तो होता ही है—और इतने ही मात्र से लोक में वह प्रमाण माना जाता है, मतलब—[प्रमाण पदार्थों की हेयोपादेयता मात्र बतलाता है न कि वह उसमें प्रवृत्ति कराता है, या निवृत्ति कराता है, प्रवृत्ति आदि कराना तो उस ज्ञाता व्यक्ति की इच्छा के आधीन है, यदि प्रमाण पदार्थों में प्रवृत्ति या उनसे निवृत्ति कराता होता तो जगत् में अन्याय, विषभक्षण, अनर्गल प्रवृत्ति एव चोरी आदि कुछ भी अनर्थ होते ही नहीं, क्योंकि इनमें हानि है ऐसा ज्ञान तो हो चुका होता है, इसलिये वस्तु में प्रवृत्ति कराना या उससे निवृत्ति कराना यह प्रमाण का कार्य नहीं है, वह तो ज्ञाता व्यक्ति की इच्छा

चैवंवादिनः सुगतज्ञानं प्रमाणं स्यात् ? न हि हेयोपादेयतत्त्वज्ञानं क्वचित् तस्य प्रवर्तकं कृतार्थत्वात्, अन्यथा कृतार्थता न स्यादितरजनवत् । सुखादिस्वसंवेदनं वा; न हि क्वचित्तत्पुरुषं प्रवर्तयति फलात्मकत्वात्, अन्यथा प्रवृत्त्यनवस्था । व्याप्तिज्ञानं वा न खलु स्वविषयेऽर्थिन तत्प्रवर्त्तयति अनुमानवैफल्यप्रसङ्गात् । ततः प्रवृत्त्यभावेपि प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् ।

ननु प्रवृत्तेविषयो भावी, वर्तमानो वार्थः ? भावी चेत्; नासौ प्रत्यक्षेण प्रवर्तयितुं शक्यस्तत्र तस्याप्रवृत्तेः । वर्तमानश्चेत्; न; अर्थिनोऽत्राऽप्रवृत्तेः,न हि कश्चिदनुभूयमान एव प्रवर्ततेऽनवस्थापत्तेः; इत्यसाम्प्रतम्; अर्थक्रियासमर्थार्थस्य अर्थक्रियायाश्च प्रवृत्तिविषयत्वात् । तत्रार्थक्रियासमर्थार्थोऽध्यक्षेण प्रदर्शयितुं शक्यः । न ह्यर्थक्रियावत्सोप्यनागतः । न चास्याध्यक्षत्वे प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गः; अर्थक्रियार्थ-

---

पर निर्भर है] दूसरी बात यह है कि इस प्रकार से प्रमाण में प्रापकता मानी जावे तो बौद्ध के सुगतज्ञान में प्रमाणता ही नहीं रहेगी, क्योंकि सुगत का हेयोपादेयरूप तत्त्वज्ञान किसी विषय में सुगत की प्रवृत्ति तो कराता नहीं है, क्योंकि वे तो कृतार्थ हो चुके हैं, अन्यथा इतर जन की तरह– (साधारण मानव की तरह) उनमें कृतार्थता नही रहेगी, इसी तरह सुखादि संवेदन में भी प्रमाणता नहीं आ सकेगी, क्योंकि वे भी किसी भी विषय में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं कराते हैं, वे तो फलरूप हैं, यदि ये प्रवृत्ति कराने लग जावेंगे तो ये कारणरूप मानना पड़ेगे और फिर इनका फल मानना पड़ेगा सो इस प्रकार से अनवस्था आवेगी, सुखसवेदन की तरह व्याप्ति ज्ञान भी प्रवृत्ति नही कराता, क्योंकि वह यदि अपने विषय में प्रवृत्ति करावें तो अनुमान काहे को मानना, क्योंकि साध्य साधन का ज्ञान तो व्याप्ति से ही संपन्न हो गया, इसलिये यही निर्णय मानना चाहिये कि ज्ञान में प्रवृत्तिरूप प्राप्ति कराने का अभाव होने पर भी मात्र उस प्रवृत्ति के योग्य पदार्थ की प्रदर्शकता है, सो यही उसकी प्रमाणता है ।

शंका—प्रवृत्ति का विषय रूप पदार्थ भावी है या वर्तमान ? अर्थात् प्रवृत्ति का विषय भावी पदार्थ होता है या वर्तमान पदार्थ होता है ? भावी कहो तो वह प्रत्यक्ष से प्रवृत्त होने योग्य नहीं है, क्योंकि भावी पदार्थ में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है । वर्तमान कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ क्रिया के इच्छुक अनुभूयमान में ही प्रवृत्ति नहीं करता है, यदि ऐसा माना जाय तो व्यवस्था हो नहीं बनेगी, अर्थात् अर्थ प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति हुई थी और वह अर्थ प्राप्ति तो प्रत्यक्ष ही हो गई, फिर क्यों प्रवृत्ति की जाय ?

त्वात्तस्याः । कार्यादृष्टौ कथम् 'एतत्तत्र समर्थम्' इत्यवगमो यतः प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्; आस्तां तावदेतत्–कार्यकारणभावविचारप्रस्तावे विस्तरेणाभिधानात् । प्रतीयते च 'इदमभिमतार्थक्रियाकारि न त्विदम्' इत्यर्थमात्रप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिः पशूनामपि । तस्मादर्थक्रियासमर्थार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रमाणस्य हितप्रापणम् । अहितपरिहारोपि 'अनभिप्रेतप्रयोजनप्रसाधनमेतत्' इत्युपदर्शनमेव । तयोः समर्थमव्यवधानेनार्थतथाभावप्रकाशकं हि यस्मात्प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् । न चाज्ञानस्यैवंविधं तत्प्राप्तिपरिहारयोः सामर्थ्यं ज्ञानकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ क्रिया में समर्थ जो पदार्थ और अर्थ क्रिया ये दोनों प्रवृत्ति का विषय हुआ करते हैं । उनमें यह पदार्थ अर्थक्रिया में समर्थ है यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा दिखाई जा सकती है, अर्थ क्रिया के समान वह पदार्थ तो अनागत नहीं है, अर्थात् जैसे जल देखा तो वह स्नान पान आदि के योग्य है यह ज्ञान तो हो ही जाता है, हां; उसकी वह स्नानादिक क्रिया तो पीछे ही होगी और इस तरह अर्थ में क्रिया का बोध हो जाने से फिर प्रवृत्ति का अभाव होगा सो ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि अर्थ क्रिया करने के लिये ही तो प्रवृत्ति होती है ।

शंका—उस विवक्षित जलादि पदार्थों की क्रिया देखे बिना यह कैसे जाना जावे कि यह पदार्थ इस कार्य को करता है कि जिससे उसमें प्रवृत्ति हो ?

समाधान—यह बात पीछे बताई जावेगी, क्योंकि कार्य कारण भाव का वर्णन करते समय इसे विस्तार से हम कहने वाले हैं । देखो– यह बात है कि किसी भी पदार्थ को देखते ही यह अपने इष्ट कार्य का करने वाला है और यह नहीं इस प्रकार के अर्थ को जानने में प्रवृत्ति तो पशुओं की भी होती है । इसलिये अर्थ क्रिया में समर्थ ऐसे पदार्थ को बतलाना यही प्रमाण की हित प्रापकता है । अहित परिहार भी अनिष्टकारी पदार्थ का दिखा देना रूप ही है । इस प्रकार प्राप्ति और परिहार में समर्थ बिना व्यवधान के पदार्थ का जैसा का तैसा प्रकाशित होना जिसके द्वारा होवे वह प्रमाण है, अतः वह ज्ञान ही है । अज्ञान रूप सन्निकर्ष आदि इस प्रकार के प्राप्ति परिहार कराने में समर्थ नहीं हैं, यदि वे ऐसे होते तो जगत में ज्ञान की कल्पना ही नहीं होती ।

प्रमाण के प्राप्ति-परिहार का सारांश

प्रमाण ज्ञानरूप होता है, वह हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराता है, माला, चन्दन, वनिता आदि पदार्थ हितरूप माने गये हैं, और शत्रु, कंटक,

विष आदि पदार्थ अहितरूप माने गये हैं। हेयोपादेयरूप से इन्हें बतला देना यही प्राप्ति है, कोई कहे कि ग्रहण करना तथा हट जाना इस रूप जो प्राप्ति परिहार है उन्हें यहां मानना चाहिए सो उसे आचार्य ने बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है, देखो-वे कहते हैं कि पदार्थ को जानना मात्र ही प्रमाण का काम है, प्रमाण से पदार्थ को जान कर उसमें प्रवृत्त होना यह तो पुरुष की इच्छा के आधीन है, यदि प्रमाण ही प्रवृत्ति करावेगा तो जगत में चोरी अन्याय क्यों हो ? क्योंकि यह ज्ञान तो सभी को होता है कि इन कार्यों के करने में हानि है। तथा चन्द्र आदि का ज्ञान क्या उसमें प्रवृत्ति करायेगा ? नहीं तो वह तुम्हारी दृष्टि में प्रमाण नहीं ठहरेगा, लेकिन चन्द्र सूर्यादि के ज्ञान को सभी ने सत्यरूप से स्वीकार किया है। इसलिये हेय तथा उपादेय पदार्थ को बतला देना इतना ही प्रमाण का कार्य है, यही उसकी प्राप्ति और परिहार है ऐसा निश्चय हो जाता है।

निर्विकल्पप्रत्यक्ष का पूर्व पक्ष

प्रत्यक्ष प्रमाण या ज्ञान के विषय में विभिन्न मतों में विभिन्न लक्षण पाये जाते हैं, उनमें से यहां पर बौद्ध संमत प्रत्यक्ष का कथन किया जाता है, "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" ।।४।। (न्याय बिन्दु टीका पृ० ३२) जो ज्ञान कल्पना और भ्रान्ति से विहीन होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है । हम सब जीवों को जो वस्तुओं का साक्षात्कारी ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है,

"कल्पनाया अपोढं अपेतं कल्पनापोढं, कल्पनास्वभावरहितमित्यर्थः । अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपेऽविपर्यस्तमुच्यते । अर्थक्रियाक्षमंच वस्तुरूपं सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकम् । तत्र यन्न भ्राम्यति तद् अभ्रान्तम्" (न्याय वि० टीका ३४ पृ०)

कल्पना से जो रहित होता है उसे कल्पनापोढ कहते हैं, अर्थात् कल्पनास्वभाव से रहित होना यही ज्ञानमें कल्पनापोढता है । अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु के स्वरूप में जो ज्ञान अभ्रान्त—विपरीतता-से रहित होता है वही ज्ञान की अभ्रान्तता है, वस्तुका स्वरूप अर्थक्रिया समर्थरूप सन्निवेशविशिष्टवर्णात्मक ही होता है, ऐसे उस वस्तु स्वरूप में जो ज्ञान भ्रान्त नहीं होता है वही अभ्रान्त कहा जाता है, कल्पना का लक्षण—"अभिलापसंसर्गयोग्य प्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना" ।।५।।

—(न्यायविन्दु पृ० ४२)

जिसके द्वारा अर्थ का अभिधान किया जाता है वह अभिलाप कहलाता है, ऐसा वह अभिलाप वाचक-शब्द होता है, एक ज्ञान में वाच्य अर्थ के आकार का वाचक शब्द के आकार के साथ ग्राह्यरूप में मिल जाना इसका नाम संसर्ग है, इस प्रकार जब एक ज्ञान में वाच्य और वाचक दोनों के आकार भासित होने लगते हैं तब वाच्य तथा वाचक संपृक्त हो जाते हैं, जिस प्रतीति में वाच्यार्थ के आकार का आभास वाचक शब्द के संसर्ग के योग्य होता है वह वैसी अर्थात् अभिलापसंसर्गयोग्य प्रतिभासा कही गई है, मतलब यह हुआ कि जिस ज्ञान में, नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि की कल्पना नहीं है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसमें केवल नील आदि वस्तुओं का भास होता है, वह भास "इदं नीलं" इस रूप से नहीं होता, अपितु नीलवस्तु के

सामने आने पर अर्थात् उसे विषय करने पर उसी के आकार का—नीलाकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, यही प्रत्यक्ष—नील विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान है, और इसी कारण इस ज्ञान को नाम जात्यादिक कल्पना से विहीन होने के कारण निर्विकल्प कहा जाता है, इस ज्ञान के बाद फिर यही विकल्प के द्वारा जाना जाता है कि यह नील का ज्ञान है, इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के कल्पनापोढ पद का—विशेषण का विवेचन करके अब अभ्रान्त पद का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि "तया रहितं तिमिराशुभ्रमण नौयान संक्षोभाद्यनाहित विभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ॥ ६ ॥ (न्याय बि० पृ० ५१) जो ज्ञान पूर्वोक्त कल्पना से रहित है, तथा जिसमें तिमिर-रतोंधी-शीघ्रता से घूमना, नाव से जाना एवं वात आदि के प्रकोप के कारण भ्रम उत्पन्न होना ये सब नहीं हैं, वह प्रत्यक्ष है, इस प्रकार प्रत्यक्ष का लक्षण कल्पनापोढ और अभ्रान्त इन दो विशेषणों से विशिष्ट होता है, जिसमें केवल एक एक ही विशेषण होगा वह प्रत्यक्ष नहीं कहा जावेगा।

प्रत्यक्ष के सभी भेदों में यह लक्षण व्याप्त होकर रहता है। हम बौद्धों ने उन प्रत्यक्षादि प्रमाणों को स्वसंवित्ति स्वरूप भी माना है—जैसा कि कहा गया है —

"अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिद्धयति।
तन्न ग्राह्यस्य संवित्तिर्ग्राहिकानुभवादृते ॥" (तत्त्वसंग्रह)

जिसकी स्वयं उपलब्धि असिद्ध है—अर्थात् जो अर्थज्ञान अपने आपको नहीं जानता है—वह अर्थज्ञान किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये हम लोगों ने ग्राह्य-अर्थ के ज्ञान को ग्राहक के अनुभव के बिना वह नहीं होता ऐसा माना है।

इस प्रकार अपने आपका अनुभव करता हुआ भी जो ज्ञान निर्विकल्पक होता है वही प्रत्यक्ष है यह बात सिद्ध हो जाती है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष चार प्रकार का होता है—

"तच्च चतुर्विधं ॥ ७ ॥" (न्या० पृ० ५५)

जैसे—(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मनो विज्ञान प्र० (३) आत्म संवेदन

प्र० और (४) योगिप्रत्यक्ष, यही बात इन सूत्रों द्वारा प्रकट की गई है– "इन्द्रिय-ज्ञानम्" ॥ ८ ॥ (न्याय बि० पृ० ५५)

स्वविषयान्तर विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तर प्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ॥ ९ ॥ (पृ० ५६) सर्वचित्त चैत्यानामात्मसंवेदनं ॥ १० ॥ (पृ० ६२) भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तं योगिज्ञानं चेति ॥ ११ ॥ (न्या० बि० पृ० ६५)

इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार से है– इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, (१) इन्द्रिय ज्ञान का जो विषय है उस विषय के अनन्तर होने वाला- अर्थात् जिसका सहकारी इन्द्रिय ज्ञान है उस इन्द्रिय ज्ञानरूप सहकारी कारण द्वारा उत्पन्न होने वाला जो मनोजन्य ज्ञान है वह मानस प्रत्यक्ष है, सर्व प्रथम इन्द्रिय ज्ञान होता है, वह जिस वस्तु से उत्पन्न हुआ है उसका समान जातीय जो द्वितीय क्षण है, उससे तथा इन्द्रिय ज्ञान से जायमान जो ज्ञान है वह मानस प्रत्यक्ष है, इस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान का विषय और मानस प्रत्यक्ष का विषय पृथक् पृथक् है, यह द्वितीय प्रत्यक्ष है, समस्त चित्त और चैत्त पदार्थों का आत्म संवेदन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, यह तीसरा प्रत्यक्ष है, वस्तु का ग्राहक चित्त अर्थात् विज्ञान है। ज्ञान की विशेष अवस्था को ग्रहण करने वाले सुख आदि चैत्त कहलाते हैं। मतलब सुख आदिक तो ज्ञान के ही अवस्था विशेष हैं, उनका संवेदन होना यह तीसरा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, चौथा योगी प्रत्यक्ष है, इसका स्वरूप ऐसा है कि यथार्थवस्तु की भावना जब परम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाती है तो उस समय जो योगिजनों को प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है वह योगि प्रत्यक्ष है, भूतार्थ भावना का मतलब है कि सत्यपदार्थ का बार बार चिंतवन इस भावना के बल से चित्त में स्थित हुए पदार्थ का जो स्पष्टाकाररूप में झलकना होता है वही भूतार्थ भावना का प्रकर्ष कहा गया है, इस तरह भूतार्थभावना की चरम सीमा से उत्पन्न हुआ योगिज्ञान ही योगिप्रत्यक्ष कहा जाता है, इन चारों प्रत्यक्ष प्रमाणों का इस तरह से लक्षण प्रदर्शित कर अब इनका "तस्य विषयः स्वलक्षणम्" (१२) विषय स्वलक्षण है यह वहां इस सूत्र द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, स्वलक्षण का वाच्यार्थ स्पष्ट करने के लिये कहा गया है कि— 'यस्यार्थस्य सन्निधाना संनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्" ॥ १३ ॥ (पृ० ७४) जिस वस्तु के निकट अथवा दूर होने से ज्ञान के प्रतिभास में स्फुटता या अस्फुटता का भेद होता है वह वस्तु स्वलक्षण है, अर्थात् वस्तु जब दूर देश में होती है तब ज्ञान में उस

वस्तु का आकार अस्पष्ट रहता है– उस वस्तु विषयक ज्ञान अस्पष्टाकार वाला होता है, और जब वही वस्तु निकट देशस्थ हो जाती है तो उस वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान स्पष्टाकारता को धारण कर लेता है, इस तरह जिस कारण से ज्ञान में स्फुटता और अस्फुटता– स्पष्टता और अस्पष्टता होती है वही वस्तु स्वलक्षण है, इसे यों भी कह सकते हैं कि वस्तु का जो असाधारण रूप है वही स्वलक्षण है, "तदेव परमार्थ सत्" (न्याय बि० पृ० ७६) जो अपने सन्निधान और असन्निधान से प्रतिभास में भेद कराने वाली वस्तु है वही परमार्थ सत् है, यही अर्थ क्रिया में समर्थ होती है, इस प्रकार से यह निश्चय होता है कि ज्ञान में स्पष्टता और अस्पष्टता को लाने वाली जो वस्तु है वह स्वलक्षण कहलाती है, और वही वस्तु का असाधारण या विशेष रूप कहलाता है, तथा वही वस्तु का सत्य स्वरूप है। यही स्वलक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है, चूंकि हम बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मान्य किये हैं, अतः प्रत्यक्ष के विषय की मान्यता का स्पष्टीकरण करके अब उन्हीं की मान्यता के अनुसार अनुमान के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया जाता है– "अन्यत् सामान्यलक्षणम् १६ (न्याय बि० पृ० ७९, सोऽनुमानस्य विषयः" न्या० बि० १७ पृ० ८०) वस्तु के स्वलक्षण या असाधारण रूप से जो अन्य कुछ है वह सामान्य लक्षण है और वह अनुमान का विषय है।

प्रत्यक्ष निर्विकल्प–नाम, जाति, आकार आदि की कल्पना से रहित है इस बात की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही होती है क्योंकि ऐसा कहा है कि–

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः"॥

—प्रमाणवार्तिक ३/१२३

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः॥

—प्रमाण वा. ३/१२४

प्रत्यक्ष प्रमाण कल्पना से रहित है यह तो साक्षात् ही प्रत्येक आत्मा में अनुभव में आ रहा है, इससे विपरीत शब्द, नाम, जाति आदि जिसमें होते हैं वह प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प है, सबसे पहिले तो निर्विकल्प ज्ञान ही होता है, सम्पूर्ण

चिन्ताओं को सब ओर से हटाकर–रोककर अन्तरंग में स्थित हो जाने से चक्षु आदि द्वारा जो रूप दिखाई देता है वह प्रथम क्षण का प्रतिभास है, बस ! वही प्रत्यक्ष प्रमाण है, अब यह प्रश्न होता है कि जब इस प्रकार ज्ञान निर्विकल्प है तो हम सब जीवों को वैसा प्रतीत क्यों नहीं होता ? अर्थात् नाम आकार आदि से युक्त सविकल्प ज्ञान ही प्रतीत होता है, निर्विकल्प ज्ञान प्रतीत नहीं होता, तो उसका उत्तर ऐसा है कि—

"मनसो युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः ।
विमूढ. सप्रवृत्तेर्वा (लघुवृत्तेर्वा) तयोरैक्यं व्यवस्यति ।।

—प्रमाण वा॰ ३/१३३

सविकल्प और अविकल्प मन की एक साथ प्रवृत्ति होती है अथवा वह क्रम से होती हुई भी अतिशीघ्रता से होने के कारण उसमें क्रमता प्रतीत नहीं होती है, इसलिये मूढ प्राणी उन निर्विकल्प और विकल्पज्ञानों में एकपना मान लेता है, मतलब यह है कि सर्व प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान ही उत्पन्न होता है, वही भ्रान्ति रहित, अविसंवादी, तथा अज्ञात वस्तु का बोध कराने वाला है, किन्तु उसी के साथ अथवा अतिशीघ्र विकल्प पैदा होने के कारण निर्विकल्प प्रत्यक्ष की स्पष्टता विकल्प में प्रतीत होने लगती है, वस्तुतः और पूर्णतः तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानरूप विकल्प ज्ञान में भी प्रत्यक्ष के समान अविसंवादीपना, निर्भ्रान्तिपना और अज्ञात का ज्ञापकपना पाया जाता है अतः सम्यग्ज्ञान का लक्षण उसमें घटित होने से अनुमानरूप विकल्प प्रमाण माना गया है अन्य विसंवादीरूप विकल्प प्रमाण नहीं माने गये हैं, क्योंकि विकल्पज्ञान संकेतकालीन वस्तु को ही विषय करता है, पर वह वस्तु वर्तमान में है नहीं, तथा वह शब्द संसर्गयुक्त है, अवद्यिमान का ग्राहक होने से वह अस्पष्ट है, इसलिये विकल्पों को हम अप्रमाण मानते हैं, निर्विकल्प स्पष्ट प्रतिभास वाला है और विकल्प अस्पष्ट प्रतिभास वाले हैं फिर भी हम जैसों को विकल्प ही स्पष्ट प्रतिभास वाला प्रतीत जो होने लगता है उसका कारण ऊपर में बतला ही दिया है । अब प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण यदि निर्विकल्पक है तो उसके द्वारा व्यवहार की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? तो इस प्रश्न का उत्तर तत्त्वसंग्रहकार ने इस प्रकार से दिया है—

"अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिकम् ।
निःशेषव्यवहारांगं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥१३०६॥

यद्यपि प्रत्यक्षज्ञान स्वयं निर्विकल्प है किन्तु उसमें विकल्प को उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है अतः वह विकल्पज्ञान को उत्पन्न कर देता है, सो जगत् का सविकल्परूप व्यवहार चलता है, इसीलिये निर्विकल्प प्रत्यक्ष से उत्पन्न हुए विकल्प ज्ञान में प्रमाणता मानी गई है, सब विकल्पों में नहीं ।

*** निर्विकल्प प्रत्यक्ष का पूर्व पक्ष समाप्त ***

बौद्धाभिमत-निर्विकल्प प्रमाण का खंडन

ननु साधूक्तं प्रमाणस्याज्ञानरूपतापनोदार्थं ज्ञानविशेषणमस्माकमपीष्टत्वात्, तद्धि समर्थयमानैः साहाय्यमनुष्ठितम् । तत्तु किञ्चिन्निर्विकल्पकं किञ्चित्सविकल्पकमिति मन्यमानंप्रति अशेषस्यापि प्रमाणस्याविशेषेण विकल्पात्मकत्वविधानार्थं व्यवसायात्मकत्वविशेषणसमर्थनपरं तन्निश्चयात्मकमित्याद्याह । यत्प्राक्प्रबन्धेन समर्थितं ज्ञानरूपं प्रमाणम्—

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ।। ३ ।।

संशयविपर्यासानध्यवसायात्मको हि समारोपः, तद्विरुद्धत्वं वस्तुतथाभावग्राहकत्वं निश्चयात्मकत्वेनानुमाने व्याप्तं सुप्रसिद्धम् अन्यत्रापि ज्ञाने तद् दृश्यमानं निश्चयात्मकत्वं निश्चाययति, समारोप-

---

बौद्ध—आप जैनों ने प्रमाण का जो ज्ञान विशेषण दिया है वह अज्ञानरूपता को हटाने के लिए दिया है यह आपकी बात हम मानते हैं क्योंकि आप हमारे—"ज्ञान ही प्रमाण है"—इस समर्थन में सहायक बन जाते हैं, परन्तु आपको इतना और मानना चाहिये कि वह प्रमाण कोई तो निर्विकल्पक होता है और कोई सविकल्पक होता है ।

जैन—यह मान्यता हमें स्वीकार नहीं है । हम तो हर प्रमाण को विकल्पात्मक ही मानते हैं । इसलिए व्यवसायात्मक रूप प्रमाण का निश्चय कराते हैं—जो पहले ज्ञानरूप से सिद्ध किया हुआ प्रमाण है वह— "तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्" प्रमाण, पदार्थ का निश्चायक है, समारोपसंशयादि का विरोधी होने से अनुमान की तरह । संशय विपर्यय, अनध्यवसाय को समारोप कहते हैं । उसके विरुद्ध अर्थात् वस्तु जैसी है वैसे ग्रहण करना निश्चायकपना कहलाता है । यह निश्चायकपना अनुमान में है । यह बात तो तुम बौद्ध आदि के यहां प्रसिद्ध ही है । अतः

विरोधिग्रहणस्य निश्चयस्वरूपत्वात् । प्रमाणत्वाद्वा तत्तदात्मकमनुमानवदेव । परनिरपेक्षतया वस्तुतथाभावप्रकाशकं हि प्रमाणम्, न चाविकल्पकम् तथा-नीलादौ विकल्पस्य क्षणक्षयेऽनुमानस्यापेक्षणात् । ततोऽप्रमाणं तत् वस्तुव्यवस्थायामपेक्षितपरव्यापारत्वात् सन्निकर्षादिवत् । नचेदमनुभूयते-अक्षव्यापारानन्तरं स्वार्थव्यवसायात्मनो नीलादिविकल्पस्यैव वैशद्येनानुभवात् ।

नच विकल्पाविकल्पयोर्युगपद्वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा एकत्वाध्यवसायाद्विकल्पे वैशद्यप्रतीतिः, तद्व्यतिरेकेणापरस्याप्रतीतेः । भेदेन प्रतीतौ ह्यन्यत्रान्यस्यारोपो युक्तो मित्रे चैत्रवत् । न चाऽस्पष्टाभो विकल्पो निर्विकल्पकं च स्पष्टाभं प्रत्यक्षतः प्रतीतम् । तथाप्यनुभूयमानस्वरूपं वैशद्यं परित्यज्याननुभूयमान-

---

और सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों में वह निश्चायकपना सिद्ध किया जाता है । समारोप के विरुद्ध रूप से ग्रहण करना यही तो निश्चायकत्व है । प्रमाणत्व हेतु के द्वारा भी उसका निश्चायकपना सिद्ध होगा । अनुमान के समान अर्थात् प्रमाण व्यवसायात्मक होता है सम्यग्ज्ञान होने से, अविसंवादी होने से, अथवा निर्णयात्मक होने से इत्यादि हेतुओं के द्वारा भी प्रमाण में व्यवसायात्मकत्व सिद्ध है । किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए वस्तु को यथार्थ रूप से जानना, यही प्रमाण है । निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नही है क्योंकि निर्विकल्पक के विषय जो नीलादि हैं उनमें क्षणिकपने को सिद्ध करने के लिये अनुमान की अपेक्षा होती है । अतः अनुमान से सिद्ध किया जाता है कि वह निर्विकल्पक अप्रमाण है क्योंकि वस्तु व्यवस्था के लिए उसे तो दूसरे की अपेक्षा करनी पड़ती है जैसे कि सन्निकर्षादि को ज्ञान की अपेक्षा करनी पड़ती है । दूसरी बात यह है कि यह निर्विकल्पक अनुभव में तो आता नहीं, इन्द्रियों की प्रवृत्ति के बाद अपने और पर के निश्चय रूप नीलादि विकल्प का ही स्पष्ट रूप से अनुभवन होता है ।

बौद्ध—विकल्प और निर्विकल्प एक साथ होते हैं इसलिए, अथवा वे क्रम-क्रम से होकर भी अतिशीघ्र होते हैं इसलिये एक रूप में प्रतीति में आकर अकेले विकल्प में ही स्पष्टता प्रतीत होती है ।

विशेषार्थ—सविकल्पक ज्ञान और निर्विकल्पक ज्ञान दोनों में एक साथ मन की प्रवृत्ति होती है अतः अज्ञानी जन उन दोनों को एक रूप ही मानने लग जाते हैं । कभी-कभी उन सविकल्पक और निर्विकल्पक में अति शीघ्रता से भी मन की प्रवृत्ति

स्वरूपं वै (पमवैशद्य) परिकल्पयन् कथं परीक्षको नाम ? अनवस्थाप्रसङ्गात्–ततोप्यपरस्वरूपं तदिति परिकल्पनप्रसङ्गात् । युगपद्वृत्तेश्चाभेदाध्यवसाये दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपञ्चकस्यापि सहोत्पत्तेरभेदाध्यवसायः किन्न स्यात् ? भिन्नविषयत्वात्तेषां तदभावे–अत एव स प्रकृतयोरपि न स्यात् क्षणसन्तानविषयत्वेनानयोरप्यस्याविशेषात् । लघुवृत्तेश्चाऽभेदाध्यवसाये-खररटित-

---

हुआ करती है सो वह भी दोनों ज्ञानों में एकत्व का आरोप करा देती है और इसी के निमित्त से पीछे होने वाले विकल्प में वैशद्य मालूम पड़ता है जैसे कि शीघ्रता से बोले गये वाक्यों में, अंतिम वाक्य में, ही वैशद्य प्रतीत होता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि एक मात्र विकल्प को छोड़कर दूसरे की प्रतीति ही नही है । जब वे भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होते, तब उन दोनों में से एक का दूसरे में आरोप होता जैसे कि मित्र में चैत्र का । विकल्प अस्पष्ट है और निर्विकल्प स्पष्ट है यह प्रत्यक्ष से तो प्रतीत होता नहीं फिर भी जिसमें विशदता दिखाई देती है उसे तो छोड़ देवे और जिसमें वह नहीं दिखती वहां उसकी कल्पना करे तो वह परीक्षक कैसे कहलायेगा ? तथा–ऐसी स्थिति में कोई स्वरूप व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी क्योंकि सविकल्पक ज्ञान जैसे विशद धर्म रहित है वैसे अविशद धर्म से भी वह पृथक् है ऐसी कल्पना भी की जा सकती है । "एक साथ होने से विकल्प-निर्विकल्प में अभेद मालूम पड़ता है" ऐमा कहना भी ठीक नहीं है । बड़ी तथा कड़ी पूड़ी खाते समय रूपादि पाचों ज्ञानों की प्रवृत्ति भी साथ-साथ होती है अत. उनमें भी अभेद का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् बड़ी पूड़ी खाते समय उसका रूप, रस, गन्ध, कड़-कड़ शब्द तथा स्पर्श ये पांचों ज्ञान एक साथ होते हुए के समान मालूम पड़ते हैं परन्तु फिर भी उनमें भिन्नता ही मानी गयी है । यदि कहा जाय कि उन पांचों का विषय पृथक-पृथक है उन्हें एक कैसे माना जा सकता है तो फिर इन विकल्प-निर्विकल्प में भी भिन्न भिन्न विषयता है । देखो-विकल्प का विषय सामान्य अर्थात् संतान है और निर्विकल्प का विषय क्षण अर्थात् स्वलक्षण है । यदि कहा जावे कि विकल्प और निर्विकल्प भिन्न भिन्न तो हैं किन्तु बहुत शीघ्र ही होने से उनमें अभेद मालूम पड़ता है सो यह कथन भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि गर्दभ की रेकने आदि रूप क्रिया में भी लघुवृत्ति होने से अभेद मानना पड़ेगा तथा कपिल के यहां बुद्धि और चैतन्य में भेद की उपलब्धि नहीं होने पर भी जैसे भेद माना गया है वह भी स्वीकार कैसे नहीं करना होगा ? क्योंकि तुमने भी विकल्प मात्र एक ही ज्ञान में सविकल्प और

मित्यादावप्यभेदाध्यवसायप्रसङ्गः । कथं चैवं कापिलानां बुद्धिचैतन्ययोर्भेदोऽनुपलभ्यमानोपि न स्यात् ?

अथानयोः सादृश्याद्भेदेनानुपलम्भः, अभिभवाद्वाभिधीयते ? ननु किंकृतमनयोः सादृश्यम्-विषयाभेदकृतम्, ज्ञानरूपताकृतं वा ? न तावद्विषयाभेदकृतम्; सन्तानेतरविषयत्वेनानयोर्विषयाभेदाऽसिद्धेः ज्ञानरूपतासादृश्येन त्वभेदाध्यवसाये—नीलपीतादिज्ञानानामपि भेदेनोपलम्भो न स्यात् । अथाभिभवात्; केन कस्याभिभवः ? विकल्पेनाविकल्पस्य भानुना तारानिकरस्येवेति चेत्; विकल्पस्याप्यविकल्पेनाभिभवः कुतो न भवति ? बलीयस्त्वादस्येति चेत्; कुतोस्य बलीयस्त्वम्-बहुविषयात्,

---

निर्विकल्प रूप दो असत्य भेद मान लिये हैं । पुनः हम आपसे पूछते हैं कि उन विकल्प और निर्विकल्प में सादृश्य होने से भेद का उपलंभ नहीं होता है, ऐसा मानते हैं कि एक दूसरे के द्वारा दब जाने से भेद दिखाई नहीं देता । यदि सदृशता के कारण भेद का अनुपलंभ है ऐसा कहा जावे तो वह सादृश्य उन सविकल्पक, निर्विकल्पक ज्ञानों में किस बात को लेकर आया ? विषय के अभेद को लेकर आया या ज्ञानपने की समानता को लेकर आया ? यदि प्रथम पक्ष को लेकर समानता कही जावे तो ठीक नहीं क्योंकि दोनों का विषय पृथक-पृथक है । एक का विषय है संतान तो दूसरे का क्षण । द्वितीय पक्ष की अपेक्षा यदि सदृशता मानी जाती है तो जगत में जितने भी भिन्न-भिन्न नील पीतादि विषयक ज्ञान हैं वे सब एकमेक हो जायेंगे । यदि दब जाने से अभेद मालूम होता है ऐसा कहा जाय तो कौन किससे दबता है ? विकल्प के द्वारा निर्विकल्प दब जाता है, जैसे सूर्य से नक्षत्र, तारे आदि दब जाते हैं, ऐसा कहो तो हम पूछेंगे कि विकल्प का निर्विकल्प से तिरस्कार क्यों नहीं होता ? बलवान होने के कारण विकल्प को निर्विकल्प नहीं दबा सकता तो यह बताओ कि विकल्प बलवान कैसे हुआ ? अधिक विषय वाला होने से कि निश्चयात्मक होनेसे ? प्रथम पक्ष तो बनता नहीं क्योंकि तुम्हारी मान्यतानुसार वह निर्विकल्प के विषय में ही प्रवृत्त होना कहा गया है अधिक में नहीं, अन्यथा अग्रहीत ग्राही होने से विकल्प को प्रमाण मानना पड़ेगा । दूसरा पक्ष लेवें तो वह निश्चयात्मकत्व किसमें है अपने स्वरूप में या अर्थ में ? स्वरूप में हो नहीं सकता क्योंकि "सर्व चित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का लक्षण, आपके "न्यायबिन्दु" नाम के ग्रन्थ में लिखा है । अर्थात् पदार्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को "चित्त" कहते हैं तथा उसी चित्त की अवस्था सुख दुःख आदि अनेक प्रकार की होती है उन अवस्था विशेषों को "चैत्त"

निश्चयात्मकत्वाद्वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, निर्विकल्पविषय एव तत्प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, अन्यथा अगृहीतार्थग्राहित्वेन प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षेपि स्वरूपे निश्चयात्मकत्वं तस्य, अर्थरूपे वा ? न तावत्स्वरूपे—

"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" [न्यायबि॰ पृ॰ १६] इत्यस्य विरोधात्। नाप्यर्थविकल्पस्यैकस्य निश्चयानिश्चयस्वभावद्वयप्रसङ्गात्। तच्च परस्परं तद्वतश्चैकान्ततोभिन्नं चेत्; समवायाद्यनभ्युपगमात् सम्बन्धासिद्धेः 'बलवान्विकल्पो निश्चयात्मकत्वात्' इत्यस्यासिद्धेः। अभेदैकान्तेपि-तद्वयं तद्वानेव वा भवेत्। कथंचित्तादात्म्ये-निश्चयानिश्चयस्वरूपसाधारणमात्मानं प्रतिपद्यते

कहते हैं। इन चित्त और चैत्तों का संवेदन होना–अनुभव में आना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है। ये ज्ञान अपने स्वरूप में निर्विकल्प होते हैं, ऐसा इस वाक्य से सिद्ध होता है। अतः निश्चायक होने से विकल्प बलवान है ऐसा कहना सिद्ध नहीं हुआ। यदि दूसरा पक्ष कहो तो वह विकल्प ज्ञान अर्थ में निश्चयात्मक है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि फिर उस विकल्प में निश्चय और अनिश्चय, यह दो स्वभाव मानने पड़ेंगे, अर्थात् विकल्प, स्वरूप का तो अनिश्चायक है और अर्थ का निश्चायक है ऐसे दो स्वभाव उसमें मानने होंगे। तथा वे दोनों स्वभाव और खुद विकल्प, इनका परस्पर में भेद रहेगा या अभेद ? भिन्न-पना मानें तो आपके यहां समवायादि सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है, अतः उन भिन्न स्वभावों का सम्बन्ध उसके साथ किससे होगा ? फिर "विकल्प बलवान है निश्चय स्वरूप होने से" इस अनुमान की बात कहां रही ? यदि उन निश्चय और अनिश्चय स्वभावों का विकल्प में अभेद माना जाय तो या तो वे दो स्वभाव ही रहेंगे या वह विकल्प ही रहेगा। विकल्प का स्वभावों के साथ तादात्म्य है अर्थात् विकल्प निश्चय और अनिश्चय स्वरूप को समान रूप से अपने में धारण करता है ऐसा कहो तो वह विकल्प स्वरूप में भी विकल्पात्मक हो गया सो ऐसी बात सिद्धांत के विरुद्ध पड़ती है क्योंकि बौद्धों ने विकल्प को स्वरूप की अपेक्षा निर्विकल्प माना है। अन्यथा निश्चय स्वरूप के साथ विकल्प का तादात्म्य नहीं बनता है। तथा यह बात भी है कि स्वरूप का निश्चय किये बिना वह विकल्प अर्थ का निश्चय भी नहीं करा सकता है, नहीं तो फिर अपने स्वरूप को ग्रहण किये बिना भी ज्ञान, पदार्थ को ग्रहण करने लगेगा। अप्रत्यक्ष अर्थात् अत्यन्त परोक्ष ज्ञान के द्वारा अर्थ का ग्रहण नहीं होता ऐसा आपके यहां भी माना है, उसमें विरोध आयेगा क्योंकि यहां विकल्प को उस रूप मान रहे हो।

वेद्विकल्पः-स्वरूपेपि सविकल्पकः स्यात्, अन्यथा निश्चयस्वरूपतादात्म्यविरोधः। न च स्वरूपम-निश्चिन्वन्विकल्पोऽर्थनिश्चायकः, अन्यथाऽगृहीतस्वरूपमपि ज्ञानमर्थग्राहकं भवेत् तथाच—

"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य" [ ] इत्यादिविरोधः; तत्स्वरूपस्यानुभूतस्याप्यनिश्चितस्य क्षणिकत्वादिवन्नान्यनिश्चायकत्वम्। विकल्पान्तरेण तन्निश्चयेऽनवस्था।

कश्चानयोरेकत्वाध्यवसायः-किमेकविषयत्वम्, अन्यतरेणान्यतरस्य विषयीकरणं वा, परत्रेतर-स्याध्यारोपो वा? न तावदेकविषयत्वम्, सामान्यविशेषविषयत्वेनानयोर्भिन्नविषयत्वात्। दृश्य-

---

भावार्थ—बौद्ध मत में ज्ञान को परोक्ष नहीं माना है, अर्थात् वे भी जैन के समान ज्ञान को स्वसंवेद्य मानते हैं। उनके यहां पर कहा है कि जिस ज्ञान की खुद को ही उपलब्धि नहीं है वह ज्ञान अर्थ की उपलब्धि में भी कारण नहीं बन सकता। ग्राह्य पदार्थ की संवित्ति ग्राहक ज्ञान के अनुभव के बिना कैसे हो? अर्थात् नहीं हो सकती। अतः यहां जैनाचार्य बौद्ध को समझा रहे हैं कि आपका वह विकल्प अपने स्वरूप का निश्चय किये बिना अर्थ का ग्राहक नहीं बन सकता है। विकल्प का स्व-रूप अनुभूत होते हुए भी वह अनिश्चित सा रहता है जैसे कि क्षणिकत्व आदि का अनुभव होते हुए भी उसका निश्चय तो उस विकल्प से नहीं होता है। इस तरह से विकल्प को मानो तो अर्थ का निश्चय कराने के लिये एक दूसरा विकल्प लाना पड़ेगा इस तरह तो अनवस्था आयेगी॥ एक प्रश्न यह भी है कि सविकल्प और निर्विकल्प में एक रूप से प्रतीति क्यों आती है? दोनों का एक विषय होने से अथवा दोनों में से कोई भी एक दूसरे का विषय करते हैं इसलिये अथवा पर में अन्य का अध्यारोप होने से? एक विषयपना तो है नहीं, क्योंकि अविकल्प का विषय विशेष है और सविकल्प का सामान्य। अतः दोनों सविकल्प और निर्विकल्पक भिन्न-भिन्न विषय वाले ही हैं।

बौद्ध—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय तो दृश्य है और सविकल्प का विषय विकल्प्य है, ये दोनों एक से हो जाते हैं। अतः दोनों ज्ञान अभिन्न विषय वाले मालूम पड़ते हैं।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योंकि—एकत्वाध्यवसाय तो वह है कि, दृश्य में विकल्प्य का आरोप करना। अब वह आरोप दोनों के ग्रहण करने के बाद होगा या बिना ग्रहण किये ही? ग्रहण करके हो नहीं सकता क्योंकि जो भिन्न स्वरूप से

विकल्प(ल्प्य)योरेकत्वाध्यवसायादभिन्नविषयत्वम्; इत्यप्ययुक्तम्; एकत्वाध्यवसायो हि दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपः। स च गृहीतयोः, अगृहीतयोर्वा तयोर्भवेत् ? न तावद्गृहीतयोः; भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोर्घटपटयोरिवैकत्वाध्यवसायायोगात्। न चानयोर्ग्रहणं दर्शनेन, अस्य विकल्प्यागोचरत्वात्। नापि विकल्पेन; अस्यापि दृश्यागोचरत्वात्। नापि ज्ञानान्तरेण; अस्यापि निर्विकल्पकत्वे विकल्पात्मकत्वे चोक्तदोषानतिक्रमात्। नाप्यगृहीतयोः स सम्भवति अतिप्रसङ्गात्। सादृश्यनिबन्धनश्चारोपो दृष्टः, वस्त्ववस्तुनोश्च नीलखरविषाणयोरिव सादृश्याभावान्नाध्यारोपो युक्तः। तन्नैकविषयत्वम्।

अन्यतरस्यान्यतरेण विषयीकरणमपि–समानकालभाविनोरपारतन्त्र्यादनुपपन्नम्। अविषयीकृतस्यान्यस्यान्यत्राध्यारोपोप्यसम्भवी। किञ्च, विकल्पे निर्विकल्पकस्याध्यारोपः, निर्विकल्पके

प्रतिभासित होते हैं उनमें घट-पट आदि की तरह एकत्व अध्यवसाय हो ही नही सकता। अच्छा यह तो बताओ कि दृश्य और विकल्प्य इन दोनों का ग्रहण कौन करेगा ? निर्विकल्प दर्शन के द्वारा तो होता नहीं क्योंकि निर्विकल्प का विकल्प्य विषय ही नही है। सविकल्प भी दोनों को नहीं जानेगा, क्योंकि यह स्वलक्षण को नहीं जानता। तीसरा ज्ञान आयेगा तो वह भी निर्विकल्प या सविकल्प हो रहेगा। उसमें वही पहले के दोष आते हैं। बिना दोनों को ग्रहण किये उनमें एकत्वपने का ज्ञान भी कैसे हो ? माने तो अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् फिर तो गधा और उसके सीग आदि पदार्थ में भी एकत्व का आरोप करते रहेंगे। अच्छा, आरोप भी होता है तो वह सादृश्य के निमित्त से होता है, किन्तु आपके यहां दृश्य को तो वस्तु रूप और विकल्प्य को अवस्तुरूप माना है, फिर उनमें आरोप कैसे होगा ? अतः नील और गधे के सींग की तरह सदृशता का अभाव होने से अध्यारोप नहीं हो सकता है और इसीलिए सविकल्प और निर्विकल्प में एक विषयपना भी नहीं है।

दूसरा पक्ष—विकल्प और निर्विकल्प में से अन्य का अन्य के द्वारा विषय किया जाता है अतः उन दोनों में एक-पने का बोध होता है ऐसा मानना भी बनता नहीं। वे दोनों एक साथ होते हैं अतः स्वतन्त्र होने से एक दूसरे के विषय को कैसे ग्रहण करेंगे ? बिना विषय किये अन्य का अन्य स्थान पर आरोप भी काहे का। अंत में आपके मनः समाधान के लिये मान लिया जाय कि आरोप होता है तो यह बताओ कि विकल्प में निर्विकल्प का आरोप है कि निर्विकल्प में विकल्प का आरोप है ? विकल्प में निर्विकल्प का आरोप होता है ऐसा कहो तो सभी ज्ञान निर्विकल्प

विकल्पस्य वा ? प्रथमपक्षे-विकल्पव्यवहारोच्छेदः निखिलज्ञानानां निर्विकल्पकत्वप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षेपि-निर्विकल्पकवार्तोच्छेदः– सकलज्ञानानां सविकल्पकत्वानुषङ्गात् ।

किंच, विकल्पे निर्विकल्पकधर्मारोपाद्वैशद्यव्यवहारवत् निर्विकल्पके विकल्पधर्मारोपादवैशद्यव्यवहारः किन्न स्यात् ? निर्विकल्पकधर्मेणाभिभूतत्वाद्विकल्पधर्मस्य इत्यन्यत्रापि समानम् । भवतु वा तेनैवाभिभवः; तथाप्यसौ सहभावमात्रात्, अभिन्नविषयत्वात्, अभिन्नसामग्रीजन्यत्वाद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षे गोदर्शनसमयेऽश्वविकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासो भवेत्सहभावाविशेषात् । अथानयोर्भिन्नविषयत्वात् न अस्पष्टप्रतिभासमभिभूयाश्वविकल्पे स्पष्टतया प्रतिभासः; तर्हि शब्दस्वलक्षणमध्यक्षेणानुभवता तत्र क्षणक्षयानुमानं स्पष्टमनुभूयतामभिन्नविषयत्वान्नीलादिविकल्पवत् । भिन्नसामग्रीजन्यत्वादनुमान-

---

हो जायेगे तथा विकल्प रूप जगत का व्यवहार समाप्त हो जायेगा। दूसरे पक्ष में निर्विकल्प का अस्तित्व नहीं रहता, सभी ज्ञान सविकल्प ही रह जायेंगे। दूसरी बात यह है कि जैसे विकल्पमें निर्विकल्प का अध्यारोप होने से वह विकल्प विशद हो जाता है तो वैसे ही निर्विकल्प में विकल्प का आरोप होने से वह भी अविशद क्यों नहीं होगा ? यदि कहो कि निर्विकल्प के धर्म द्वारा विकल्प का धर्म दब जाता है अतः उसमें विशदता ही रहती है तो हम भी कहेगे कि विकल्प धर्म के द्वारा निर्विकल्प का स्वभाव दब जाता है अतः वह अविशद होता है ऐसा भी क्यों न मानें ? अच्छा मान लिया कि निर्विकल्प से विकल्प तिरस्कृत होता है तो भी हम उसका कारण पूछेंगे कि वह अभिभव क्यों हुआ ? साथ होने से हुआ कि अभिन्न विषय के कारण, अथवा अभिन्न सामग्री से उत्पन्न होने के कारण ? साथ होने से कहो तो गाय के दर्शन (देखने) के समय अश्व का विकल्प स्पष्ट प्रतिभास वाला हो जायेगा, क्योंकि साथ तो दोनों हैं ही । यदि कहो कि इनमें तो गौ और अश्व इस प्रकार भिन्न भिन्न विषय हैं अतः अस्पष्ट प्रतिभास का तिरस्कार करके अश्व विकल्प में स्पष्टता नहीं आ पाती है तो फिर श्रोतेन्द्रिय से पैदा हुये निर्विकल्प प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा शब्द रूप स्वलक्षण जानते हुए व्यक्ति को उसी शब्द के क्षणिकत्व की सिद्धि के लिए होने वाला अनुमान स्पष्ट हो जाय। अभिन्न विषय तो है ही जैसे कि नीलादि विकल्प अभिन्न विषय वाला है ।

बौद्ध – अनुमान की सामग्री हेतु रूप है, और प्रत्यक्ष दर्शन की श्रोत्रादि इन्द्रिय रूप है, अतः भिन्न सामग्री जन्य विकल्प रूप अनुमान का प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा अभिभव नहीं होता, अर्थात् अनुमान स्पष्ट रूप नहीं हो पाता है ?

विकल्पस्याध्यक्षेण तद्धर्माभिभवाभावे सकलविकल्पानां विशदावभासिस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणाभिन्नसामग्री-जन्येनाभिभवप्रसङ्गः। अथ तत्राभिन्नसामग्रीजन्यत्वं नेष्यते-तेषां विकल्पवासनाजन्यत्वात्, संवेदनमात्रप्रभवत्वाच्च स्वसंवेदनस्य इत्यसत्; नीलादिविकल्पस्याप्यध्यक्षेणाभिभवाभावप्रसङ्गात्तत्रापि तदविशेषात्।

किंच, अनयोरेकत्वं निर्विकल्पकमध्यवस्यति, विकल्पो वा, ज्ञानान्तरं वा ? न तावन्निर्विकल्पकम्; अध्यवसायविकलत्वात्तस्य, अन्यथा भ्रान्तताप्रसङ्गः। नापि विकल्पः; तेनाविकल्पस्याविषयीकरणात्, अन्यथा स्वलक्षणगोचरताप्राप्तेः "विकल्पोऽवस्तुनिर्भासः" [ ] इत्यस्य विरोधः।

जैन—इस तरह कहो तो सभी सविकल्प ज्ञानों का विशद प्रतिभास युक्त स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप निर्विकल्प ज्ञान से अभिभव होने लगेगा ? क्योंकि उन सबकी अभिन्न ही सामग्री है, अर्थात् वे ज्ञान अभिन्न सामग्री जन्य हैं।

बौद्ध—सविकल्प ज्ञान और स्वसवेदन ज्ञान इन दोनों की सामग्री को हम लोग समान नहीं मानते, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान तो विकल्पवासनाओं से जन्य हैं, और स्वसंवेदन ज्ञान संवेदन मात्र से जन्य हैं।

जैन—यह बौद्ध का कथन बुद्ध जैसे लगता है, ऐसा माने तो नीलादि विकल्प भी प्रत्यक्ष से अभिभूत न हो सकेंगे क्योंकि वहां भी भिन्न सामग्री मौजूद है।

भावार्थ—बौद्ध, निर्विकल्प ज्ञान को प्रमाण मानते हैं और सविकल्प को अप्रमाण। जब जैन के द्वारा उनको पूछा गया कि यदि निर्विकल्प ही वास्तविक प्रमाण है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं आती ? इस प्रश्न पर सबसे पहले तो उसने जवाब दिया कि निर्विकल्प और विकल्प दोनों अति शीघ्र पैदा होते हैं अर्थात् निर्विकल्प के पैदा होने के साथ ही विकल्प भी पैदा होता है अतः निर्विकल्प तो दब जाता है और विकल्प ही विकल्प मालूम पड़ता है। इस असंगत उत्तर का खण्डन करते हुए आचार्य ने कहा कि इस तरह से तो रूप रस आदि पांचों ज्ञानों में अभेद मानना होगा क्योंकि वहां भी शीघ्रवृत्ति है। विकल्प और निर्विकल्प का विषय अभिन्न है अतः निर्विकल्प की प्रतीति नहीं है यह भी सिद्ध नहीं हुआ। निर्विकल्प का विकल्प में आरोप होना भी नही बनता है क्योंकि जब तक दोनों को जानते नहीं तब तक एक का दूसरे में आरोप भी नही हो पाता। निर्विकल्प बेचारा सत्यज्ञान होकर भी

न चाविषयीकृतस्यान्यत्रारोपः। न ह्यप्रतिपन्नरजतः शुक्तिकायां रजतमारोपयति । ज्ञानान्तरं तु निर्विकल्पकम्, सविकल्पकं वा ? उभयत्राप्युभयदोषानुषङ्गस्तदुभयविषयत्वायोगः । तदन्यतर-विषयेणानयोरेकत्वाध्यवसाये–अतिप्रसङ्गः–अक्षज्ञानेन त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्येकत्वाध्यवसायप्रसङ्गात् । तन्न तयोरेकत्वाध्यवसायाद्विकल्पे वैशद्यप्रतीतिः, अविकल्पकस्यानेनैवैकत्वाध्यवसायस्य चोक्तन्यायेना-प्रसिद्धत्वात् ।

यच्चोच्यते–संहृतसकलविकल्पावस्थायां रूपादिदर्शनं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षतोऽनुभूयते । तदुक्तम्—

उस असत्य विकल्प के द्वारा दब जाता है तो यह बहुत आश्चर्यकारी बात हो जाती है । इसी प्रकार बौद्ध यह भी नहीं बता पा रहे कि विकल्प के द्वारा निर्विकल्प ही क्यों दब जाता है । दोनों ज्ञान साथ है, इसलिए कि अभिन्न विषय वाले हैं अथवा अभिन्न सामग्री से पैदा हुए है इसलिए इन तीनों में से किसी भी हेतु के द्वारा निर्वि-कल्प का अभिभव होना सिद्ध नहीं होता है ।। अब यह बात बताओ कि इन विकल्प और निर्विकल्पों के एकत्व को निर्विकल्पक जानता है कि सविकल्पक ? अथवा तीसरा कोई ज्ञानान्तर ? निर्विकल्पक तो अध्यवसाय करता नही वह तो उससे बिल्कुल रहित है अन्यथा आपके उस निर्विकल्पक ज्ञान को भ्रांतपने का प्रसंग आता है जैसे कि नीलादि विकल्पों को आपने भ्रांतरूप माना है । विकल्प ज्ञान भी दोनों में एकत्वा-ध्यवसाय का निर्णय नहीं देता क्योंकि वह भी निर्विकल्प को जानता नहीं, यदि जानेगा तो उसे भी स्वलक्षण को जानने वाला मानना पड़ेगा । तथा च विकल्प अवस्तु में ज्ञान को उत्पन्न करता है ऐसा जो कहा है वह विरुद्ध होगा । बिना जाने अन्य का अन्य में आरोप भी कैसे करे । देखो—रजत को बिना जाने सीप में उसका आरोप कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं ? तीसरा पक्ष अर्थात् एक अन्य ही ज्ञान दोनों के सविकल्पक निर्विकल्पकों के एकत्व को जानता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह ज्ञानान्तर भी सविकल्प या निर्विकल्प ही होगा । अतः दोनों पक्ष में पहले के वही दोष आवेंगे, क्योंकि वे दोनों ही आपस में एक दूसरे के विषयों को जानते ही नहीं हैं । बिना जाने एक किसी को विषय करके ही एकत्वाध्यवसाय करेंगे तो अति-प्रसङ्ग दोष आता है अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान, दूर देश, दूर काल, दूर स्वभाव, वाले मेरु आदि पदार्थ में तथा निकटवर्ती घटादि पदार्थ में एकत्व का ज्ञान करने लगेंगे । क्योंकि जानने की जरूरत तो रही नहीं । इसलिए यह बात नहीं बनती कि उन विकल्प अवि-

"संहृत्य सर्वतश्चिन्तांस्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः" ।। १ ।।
[प्रमाणवा० ३।१२४]

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति ।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः" ।। २ ।।
[प्रमाणवा० ३।१२३] इति ।

न चात्रावस्थायां नामसंश्रयतयाऽननुभूयमानानामपि विकल्पानां सम्भवः-अतिप्रसङ्गादित्यप्युक्तिमात्रम्; अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनलक्षणायां संहृतसकलविकल्पावस्थायां स्थिरस्थूलादिस्वभावा-

---

कल्प दोनों में एकत्व का अध्यवसाय होने से निर्विकल्प की विशदता विकल्प में प्रतीत होती है । निर्विकल्प भी एकत्वाध्यवसाय करने में समर्थ नहीं है क्योंकि उसमें वही दोनों को विषय न करने की बात है ।

बौद्ध—हमारी मान्यता है कि सम्पूर्ण विकल्पों से रहित अवस्था में रूपादि का निर्विकल्प दर्शन होता है यह बात प्रत्यक्ष से अनुभव मे आती है । कहा भी है—

चारों ओर से सम्पूर्ण चिन्ताओं को हटाकर निश्चल ऐसे आत्म चक्षु के द्वारा रूप का दर्शन होना इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है ।।१।। प्रत्यक्ष प्रमाण कल्पना से रहित है वह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है, प्रत्येक आत्मा के द्वारा वह जाना जाता है अर्थात् सभी को स्वसंवेदन से अनुभव मे आता है । तथा विकल्प प्रमाण तो शब्द का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है ।।२।। सारे विकल्प जहां नष्ट हो गये हैं उस अवस्था में शब्द के आश्रय से होने वाले विकल्प अनुभव में नहीं आते हैं फिर भी यदि मानें तो अति प्रसङ्ग आता है अर्थात् सुप्त मूर्च्छित आदि अवस्था में भी विकल्प मानने पड़ेगे ।

जैन—यह सुगत वादी का कथन सुसंगत नही है, कोई पुरुष है वह अश्व का विकल्प कर रहा है उसके उसी समय गो दर्शन हो रहा है जो कि अपने में सम्पूर्ण विकल्प से रहित है, उस अवस्था में स्थिर, स्थूलादि रूप से पदार्थ की प्रतीति कराने वाले तथा विपरीत जो क्षणिक आदि हैं उनके आरोप से जो विरुद्ध है ऐसे प्रत्यक्ष में अनिश्चय का अभाव होगा, अर्थात् प्रत्यक्ष को निश्चायक मानना पड़ेगा, जो आपको इष्ट नहीं है । यदि वह प्रत्यक्ष अनिश्चायक होता तो उस अश्व विकल्प के हटते

र्थसाक्षात्कारिणो विपरीतारोपविरुद्धस्याध्यक्षस्यानिश्चयात्मकत्वायोगात् । तत्त्वे वा प्रश्वविकल्पाद्व्युत्थितचित्तस्य गवि स्मृतिर्न स्यात् क्षणिकत्वादिवत् । नामसंश्रयात्मनो विकल्पस्यात्र निषेधे तु न किञ्चिदनिष्टम् । न चाशेषविकल्पानां नामसंश्रयत्वैव स्वरूपम्; समारोपविरोधिग्रहणलक्षणत्वात्तेषामित्यग्रे व्यासतो वक्ष्यामः । न चानिश्चयात्मनः प्रामाण्यम्; गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनस्यापि तत्प्रसङ्गात् । निश्चयहेतुत्वात्तस्य प्रामाण्यमित्ययुक्तम्; संशयादिविकल्पजनकस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

ही उस व्यक्ति को गाय में स्मृति न होती जैसे कि क्षणिकादि की नहीं होती है। हां इस प्रत्यक्ष में शब्द के आश्रय से होने वाले विकल्प का निषेध करें तो हम जैन को कुछ अनिष्ट नहीं है। यह एकांत तो है नहीं कि सारे विकल्प शब्दाश्रित ही हैं, क्योंकि विकल्प समारोप के विरोधी ज्ञान स्वरूप हुआ करते हैं। इस बात को हम शब्दाद्वैत के प्रकरण में विस्तार से कहने वाले हैं। जो अनिश्चयात्मक होता है उसमें प्रमाणता नहीं होती है। यदि अनिश्चयात्मक ज्ञान भी प्रमाण हो तो चलते हुए व्यक्ति को तृणादि का जो अनध्यवसाय रूप ज्ञान होता है उसे भी प्रमाण मानना पड़ेगा।

बौद्ध—निर्विकल्प ज्ञान निश्चय कराने में कारण भूत जो विकल्प है उसकी उत्पत्ति में निमित्त पड़ता है अतः निर्विकल्प ज्ञान को प्रमाण माना गया है।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं, ऐसा माने तो जो निर्विकल्प ज्ञान संशयादि रूप विकल्पों को पैदा करते हैं उन्हें भी प्रमाण मानना होगा।

बौद्ध—देखिये संशयादि रूप विकल्प पैदा करने वाले निर्विकल्प ज्ञान स्वलक्षण को तो जानते नहीं अतः उनसे होने वाले संशयादि रूप विकल्प भी अप्रमाण होते हैं इसलिये जो स्वलक्षण का अध्यवसाय करते हैं ऐसे विशिष्ट निर्विकल्प से जो विकल्प होंगे वे तो सच्चे ही रहेंगे।

जैन—यह बात तो विकल्प के पक्ष में भी समान ही है क्योंकि नीलादि विकल्प भी स्वलक्षण को जानते नहीं क्योंकि वे स्वलक्षण के आलम्बन से हुए ही नहीं हैं, बिना उसके आलम्बन के उसको जानने में विरोध आता है। इस प्रकार नीलादि विकल्प जैसे स्वलक्षण के ग्राहक न होकर भी प्रमाणिक माने हैं वैसे बौद्ध को संशयादि विकल्पों को भी प्रमाणिक मानना ही होगा।

स्वलक्षणानध्यवसायित्वात्तद्विकल्पस्यादोषोऽयम्, इत्यन्यत्रापि समानम् । न हि नीलादिविकल्पोपि स्वलक्षणाध्यवसायी; तदनालम्बनस्य तदध्यवसायित्वविरोधात् । 'मनोराज्यादिविकल्पः कथं तदध्यवसायी' ? इत्यप्यस्यैव दूषणं यस्यासौ राज्याद्यग्राहकस्वभावो नास्माकम्, सत्यराज्यादिविषयस्य तद्ग्राहकस्वभावत्वाभ्युपगमात् ।

न चास्य विकल्पोत्पादकत्वं घटते स्वयमविकल्पकत्वात् स्वलक्षणवत्, विकल्पोत्पादनसामर्थ्या-

---

बौद्ध—मनोराज्यादि रूप (मन के मनोरथ रूप) विकल्प भी स्वलक्षण से नही हुए हैं फिर वे उनका निश्चय जैसे करते है वैसे ही नीलादि विकल्प भी स्वलक्षण से उत्पन्न न होकर उनका अध्यवसाय करेंगे ।

जैन—यह दोष तो तुमको ही आवेगा, क्योंकि तुमने मनोराज्यादि विकल्प को राज्यादिक पदार्थ का ग्राहक नही माना है, हमको क्या दोष ? हम तो मनोराज्यादि विकल्प का विषय भी सत्य राज्य रूप पदार्थ ही मानते हैं ।

भावार्थ— बौद्ध के यहां निर्विकल्प प्रमाण का विषय स्वलक्षण माना है और सविकल्पक प्रमाण जो कि मात्र संवृति से प्रमाणभूत है उसका विषय क्षण या विकल्प्य रूप पदार्थ माना है । उनका कहना है कि निर्विकल्प ज्ञान ही वास्तविक प्रमाण है क्योंकि वह वास्तविक वस्तु को जानता है । स्वलक्षण वस्तु का स्वरूप है और उसको निर्विकल्प ज्ञान जानता है तथा सामान्य और विशेष में से विशेष को जानता है । सविकल्प ज्ञान सामान्य को जानता है । निर्विकल्प प्रमाण को लक्षण करते हुए कहा है कि "कल्पना पोढमभ्रातं प्रत्यक्षम्" कल्पना अर्थात् नाम जात्यादि रूप कल्पना को जो हटाता है तथा जो भ्रात नही है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । जैनाचार्य ने कहा कि जब निर्विकल्पक प्रमाण वस्तु का निश्चय ही नहीं कराता तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं । इस पर बौद्ध ने कहा कि स्वयं निश्चय नहीं कराता है, किन्तु निश्चय का कारण है, अतः प्रमाण है । तब आचार्य ने समझाया कि निश्चय का निमित्त होने मात्र से यदि निर्विकल्प प्रमाण भूत है तब संशयादि विकल्पों का कारण भूत जो निर्विकल्प है उसको भी सत्य मानना पड़ेगा । इस पर बौद्ध ने कहा कि संशयादि रूप विकल्प को पैदा करने वाला निर्विकल्प प्रमाण स्वलक्षण का अवलम्बन लेकर नहीं हुआ है अतः सत्य नहीं है । तब जैन ने उत्तर दिया कि नीलादि विकल्प भी स्वलक्षण का अध्यवसाय नहीं करते हैं फिर उनको सत्य विकल्प रूप

विकल्पकत्वयोः परस्परं विरोधात् । विकल्पवासनापेक्षस्याविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षस्य विकल्पोत्पादनसामर्थ्यानि(वि)रोधे-अर्थस्यैव तथाविधस्य सोस्तु किमन्तर्गडुना निर्विकल्पकेन ? अथाज्ञातोर्थः कथं तज्जनकोऽतिप्रसङ्गात् ? दर्शनं कथमनिश्चयात्मकमित्यपि समानम् ? तस्यानुभूतिमात्रेण जनकत्वे-क्षणक्षयादौ विकल्पोत्पत्तिप्रसङ्गः । यत्रार्थे दर्शनं विकल्पवासनायाः प्रबोधकं तत्रैव तज्जनकमि-

---

क्यों कहते हो ? यदि कहो कि मनोराज्य अथवा स्वप्न में देखे या मिले हुए साम्राज्य आदि के ज्ञान जैसे स्वलक्षण अर्थात् वस्तु से उत्पन्न नहीं होकर भी वस्तुभूत राज्य का अध्यवसाय करते है अर्थात् मानो सच्चा ही राज्य है ऐसा स्वप्न मे भान हो जाया करता है वैसे ही नीलादि विकल्प स्वलक्षण से पैदा नहीं होकर भी उसका बोध कराते हैं तो यह बौद्ध का कहना भी गलत है क्योंकि ऐसा दोष तो इन्ही बौद्ध पर लागु है जो कि मनोराज्यादि के ज्ञान का कारण सत्य राज्य स्वरूप नही मानते । हम जैन तो स्वप्न का राज्य हो चाहे मनोराज्य हो उसका कारण सत्य राज्य ही बताते हैं, क्योंकि जागृत दशा का वास्तविक राज्य न हो तो स्वप्न राज्य भी कहां से दिखायी दे सकता है ? मतलब, स्वप्न तो जागृत दशा का अवलम्बन लेकर हुआ करते हैं । इस प्रकार बौद्ध के निर्विकल्प की सिद्धि नही होती है ।।

तथा दूसरी बात यह है कि यह निर्विकल्प दर्शन विकल्प को पैदा नहीं कर सकता है क्योंकि वह स्वय अविकल्पक है जैसा कि स्वलक्षण है । वह अविकल्पक भी रहे और विकल्प उत्पन्न करने की शक्ति भी रखे ऐसी परस्पर विरुद्ध बात बनती नहीं ।

बौद्ध – विकल्प की वासना का सहारा लेकर निर्विकल्प, विकल्प को पैदा करने की सामर्थ्य रखता है उसमें कोई विरोध की बात नही है ।

जैन—यदि ऐसा मानें तो फिर पदार्थ स्वतः ही विकल्प वासना के बल से विकल्प उत्पन्न कर देंगे फिर काहे को अन्तरंग फोड़े की तरह दुःखदायी इस निर्विकल्प को माना जाय जो किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है ।

बौद्ध—पदार्थ तो अज्ञात रहता है वह विकल्प को कैसे उत्पन्न करेगा ?

जैन—तो फिर निर्विकल्प दर्शन स्वतः अनिश्चयात्मक अर्थात् अज्ञात होकर विकल्प को कैसे उत्पन्न करेगा ? दोनों जगह समान बात है ।

बौद्ध—अनुभूति मात्र से वह विकल्प को उत्पन्न करता है ।

त्यप्यसाम्प्रतम्; तस्यानुभवमात्रेण तत्प्रबोधकत्वे नीलादाविव क्षणक्षयादावपि तत्प्रबोधकत्वप्रसङ्गात्।

तत्राभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्वाभावान्न तत्तस्याः प्रबोधकमिति चेत्; अथ कोयमभ्यासो नाम-भूयोदर्शनम्, बहुशो विकल्पोत्पत्तिर्वा ? न तावद्भूयो दर्शनम्; तस्य नीलादाविव क्षणक्षयादावप्यविशेषात्। अथ बहुशो विकल्पोत्पत्तिरभ्यासः; तस्य क्षणक्षयादिदर्शने कुतोऽभावः ? तस्य

जैन—तो हम कहेंगे कि वह निर्विकल्प क्षण-क्षयादि में भी विकल्प पैदा करेगा ? जिस प्रकार कि वह निर्विकल्प प्रमाण यह नीला है ऐसा विकल्प उत्पन्न करता है वैसे ही यह क्षणिक है ऐसा विकल्प भी उत्पन्न कर देगा।

बौद्ध—क्षणिक में विकल्प इसलिए नहीं करता कि जहां पर ही दर्शन अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान विकल्प वासना का प्रबोधक है वहीं पर विकल्प को पैदा करेगा न कि सब जगह।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योंकि स्वसंवेदन रूप दर्शन अनुभव मात्र रूप होकर जिस तरह नीलादि में विकल्प उत्पन्न करता है वैसे ही क्षण-क्षयादि में करेगा, अनुभूति तो समान ही है। सारांश यह है कि बौद्ध लोग, निर्विकल्प दर्शन से नीलादि पदार्थ का विकल्प होता है ऐसा मानते है इसलिए फिर उसी दर्शन के द्वारा उसी नीलादि में होने वाला क्षणभंगुरपना आदि का ज्ञान रूप विकल्प क्यों नहीं पैदा करेगा अर्थात् अवश्य करेगा, ऐसा तर्क से सिद्ध होता है किन्तु ऐसा मानना बौद्ध के सिद्धांत विरुद्ध पड़ता है क्योंकि ऐसी मान्यता में अनुमान निरर्थक हो जाता है।

बौद्ध—क्षण क्षयादि में निर्विकल्प का अभ्यास आदि नहीं है अर्थात् अभ्यास, प्रकरण, बुद्धि पाटव, अर्थित्व इनका अभाव होने से उन क्षण क्षयादि में दर्शन विकल्प को पैदा नहीं करता है।

भावार्थ—वस्तु को बार बार देखना तथा चिन्तवन करना अभ्यास है, प्रसङ्ग या प्रस्ताव को प्रकरण कहते हैं। बुद्धि पाटव अर्थात् बुद्धि की तीक्ष्णता या चतुराई बुद्धि पाटव कहलाता है। वस्तुओं की अभिलाषा करना अर्थित्व है। यहां बौद्ध का कहना है कि नीलादि विकल्पों को पैदा करने वाला जो दर्शन है उसमें तो अभ्यासादि चारों ही रहते हैं किन्तु क्षणिक आदि का विकल्प ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए निर्विकल्प दर्शन के पास ये अभ्यासादि नहीं रहते हैं।

विकल्पवासनाप्रबोधकत्वाभावाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि क्षणक्षयादौ दर्शनस्य विकल्पवासना-प्रबोधकत्वाभावे तल्लक्षणाभ्यासाभावसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्य सिद्धिरिति । क्षणिकाक्षणिक-विचारणायां क्षणिकप्रकरणमप्यस्त्येव । पाटवं तु नीलादौ दर्शनस्य विकल्पोत्पादकत्वम्, स्फुटतरा-नुभवो वा स्यात्, अविद्यावासनाविनाशादात्मलाभो वा ? प्रथमपक्षे-अन्योन्याश्रयात् । द्वितीयपक्षे तु-क्षणक्षयादावपि तत्प्रसङ्गः स्फुटतरानुभवस्यात्राप्यविशेषात् । तृतीयपक्षोप्ययुक्तः; तुच्छस्वभावा-

---

जैन—अच्छा, तो यह बताइये कि अभ्यास किसे कहते हैं ? भूयो दर्शन को अर्थात् बार-बार देखने को कहो तो कह नहीं सकते, क्योंकि वह तो नीलादि की तरह क्षण क्षयादि में भी समान ही है । यदि बहुत बार विकल्प पैदा करने को अभ्यास कहें तो वह क्षण-क्षयादि में क्यों नहीं—यह बताना होगा ।

बौद्ध—विकल्प वासना का वह वहां प्रबोधक नहीं होता है अतः क्षण क्षयादि में अभ्यास का अभाव है ।

जैन—ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय दोष आता है । देखिये-जब क्षण क्षयादि में दर्शन के विकल्प वासना के प्रबोधकपने का अभाव सिद्ध होगा तब इस दर्शन को क्षण-क्षयादिक में विकल्प उत्पन्न न करने की सिद्धि होगी, और जब विकल्प उत्पन्न न करने की सिद्धि होगी तब विकल्प वासना के प्रबोधकपने का अभाव सिद्ध होगा । इस प्रकार अभ्यास के अभाव के कारण क्षण-क्षयादि में विकल्प उत्पन्न नहीं करता है-यह बात समाप्त हो गई । प्रकरण भी क्षण-क्षयादि में है ही क्योंकि क्षणिक और अक्षणिक के विषय का विचार चलता ही है ।

तीसरा पक्ष—जो पाटव हैं वह क्या है ? क्या निर्विकल्प दर्शन का नीलादि में विकल्प को उत्पन्न करना यह दर्शन का पाटव है, अथवा उनका स्पष्ट अनुभव होना उसका पाटव है, या अविद्या वासना के नाश होने से आत्म लाभ होना यह पाटव है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है । क्षणिकादि में दर्शन के विकल्प वासना के प्रबोधक का अभाव सिद्ध होने पर विकल्पोत्पादक लक्षण वाला पाटव का अभाव सिद्ध हो और उसके सिद्ध होने पर क्षण क्षयादि में विकल्प वासना के प्रबोधक का अभाव हो । दूसरे पक्ष में अर्थात् स्पष्ट अनुभव को पाटव कहते हैं, ऐसा मानने पर भी हम पूछेंगे कि वह दर्शन क्षण-क्षयादि में विकल्प को क्यों नहीं उत्पन्न करता ? क्योंकि स्पष्ट अनुभव तो वहां है ही । तीसरा पक्ष अर्थात् अविद्यावासना के

भावानभ्युपगमात् । अन्योत्पादककारणस्वभावस्योपगमे क्षणक्षयादौ तत्प्रसङ्गः, अन्यथा दर्शनभेदः स्याद्विरुद्धधर्माध्यासात् । योगिन एव च तथाभूत तत्सम्भाव्येत, ततोऽस्यापि विकल्पोत्पत्तिप्रसङ्गात् "विधूतकल्पनाजाल" [ ] इत्यादिविरोध. । अर्थित्व चाभिलषितत्वम्, जिज्ञासितत्वं वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; क्वचिदनभिलषितेपि वस्तुनि तस्याः प्रबोधदर्शनात् । चक्रकप्रसङ्गश्च-अभिलषितत्वस्य वस्तुनिश्चयपूर्वकत्वात् । द्वितीयपक्षेतु-क्षणक्षयादौ तद्वासनाप्रबोधप्रसङ्गो नीलादाविवात्रापि जिज्ञासितत्वाविशेषात् ।

न चैवं सविकला(ल्प)कप्रत्यक्षवादिनामपि प्रतिवाद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादीनां स्वोच्छ्वासादिसंख्यायाश्चाविशेषेण स्मृतिः प्रसज्यते; सर्वथैकस्वभावस्यान्तर्बहिर्वा वस्तुनोऽनभ्युपगमात् । तन्मते

नाश होने को पाटव कहते है सो यह भी बनता नहीं, क्योंकि तुच्छ स्वभाव वाला अभाव तुमने माना नहीं है, तथा निर्विकल्प बुद्धि में इस तरह अन्य को उत्पन्न करने रूप स्वभाव मानोगे तो क्षण-क्षयादि में भी विकल्प पैदा करने रूप स्वभाव मानना होगा । नहीं तो तुम्हारे निर्विकल्प दर्शन में भेद मानने होंगे । क्योंकि उसमें विरुद्ध दो धर्म अर्थात् नीलादि में विकल्प उत्पन्न करना और क्षण क्षयादि में नहीं करना ऐसे दो विरुद्ध स्वभाव है, वे एकमें ही कैसे रहेगे ? और एक दोष यह भी आवेगा कि योगीजन भी ऐसे पाटव को धारण करते ही है अतः उनसे भी विकल्प पैदा होने लग जायेंगे । फिर तुम्हारा सिद्धान्त गलत सिद्ध होगा कि "योगियों का ज्ञान विकल्पों की कल्पना जाल से रहित है" । अर्थित्व-पना माने (चौथा पक्ष) तो वह क्या है ? अभिलाषपना या जानने की इच्छा ? अभिलाष रूप अर्थित्व तो बनता नही, क्योंकि अभिलाषा रहित वस्तु में भी विकल्प वासना का प्रबोध देखा जाता है, तथा इस मान्यता में चक्रकनामा दोष भी आता है, क्योंकि अभिलाषपना भी वस्तु के निश्चय पूर्वक ही होगा । चक्रक दोष इस प्रकार आयेगा कि अभिलाप से विकल्प वासना प्रबोध की सिद्धि होगी पुनः विकल्प वासना प्रबोध से विकल्प की सिद्धि होगी । फिर विकल्प से अभिलाषित रूप अर्थित्व सिद्ध होगा । इस प्रकार तीन के चक्कर में चक्कर लगाते जाना चक्रक दोष है । जानने की इच्छा को अर्थित्व कहते हैं तो उसमें वही आपत्ति है कि नीलादि की तरह क्षण-क्षयादि में विकल्प वासना प्रबोध करानेका प्रसंग आता है क्योंकि जानने की इच्छा तो नीलादि की तरह क्षण-क्षयादि में भी है ।

बौद्ध—इस प्रकार अनिश्चय रूप निर्विकल्प से विकल्प उत्पन्न होना नहीं मानो तो सविकल्पक ज्ञानवादी जैन के ऊपर भी सौगत प्रतिवादी के द्वारा दिया गया

हि अवग्रहेहावायज्ञानादनभ्यासात्मकाद् अन्यदेवाभ्यासात्मकं धारणाज्ञानं प्रत्यक्षम् । तदभावे परोपन्यस्तसकलवर्णादिषु अवग्रहादित्रयसद्भावेपि स्मृत्यनुत्पत्तिः तत्सद्भावे तु स्यादेव-सर्वत्र यथा-संस्कारं स्मृत्युत्पत्त्यभ्युपगमात् । न च परेषामप्ययं युक्तः-दर्शनभेदाभावात्, एकस्यैव क्वचिदभ्यासादीनामितरेषां वानभ्युपगमात् । न च तदन्यव्यावृत्त्या तत्र तद्योगः; स्वयमतत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिसम्भवे पावकस्याऽशीतत्वादिव्यावृत्तिप्रसङ्गात् । तत्स्वभावस्य तु तदन्यव्यावृत्तिकल्पने-फलाभावात्-प्रतिनियततत्स्वभावस्यैवान्यव्यावृत्तिरूपत्वात् ।

स्यान्मतम् अभ्यासादिसापेक्षं निरपेक्षं वा दर्शनं विकल्पस्य नोत्पादकम् शब्दार्थविकल्प-

---

दोष आवेगा, उनके यहां भी वर्ण, पद आदि का तथा उच्छ्वास, लव, स्तोक आदि संख्या का समान रूप से ही स्मृति के आने का प्रसंग आता है ।

जैन—हमारे यहां ऐसा प्रसग नहीं आवेगा क्योंकि हमने आत्मादि अंतरंग पदार्थ तथा जड़ पुद्गल आदि बहिरग पदार्थ इन सभी को सर्वथा एक स्वभाव वाले नही माने हैं । तथा हमारे यहां तो अवग्रह, ईहा, अवाय ज्ञानों को अनभ्यासरूप माना है, इनसे भिन्न अभ्यास स्वभाव वाला धारणा नामक प्रत्यक्ष ज्ञान है । जब वह धारणा ज्ञान नहीं होता तब सकल वर्ण पदादिका तोनों अवग्रहादि होने पर भी उनकी स्मृति नहीं होती है । हां यदि धारणा ज्ञान है तो सभी पदार्थों में यथा सस्कार स्मरण होता ही है । लेकिन ऐसी व्यवस्था तुम बौद्ध के यहां नहीं बनती है, अर्थात् निर्विकल्प दर्शन, नीलादि में तो विकल्प उत्पन्न करे और क्षण-क्षयादि में नहीं—ऐसा सिद्ध नहीं होता, क्योंकि तुम्हारे यहां निर्विकल्प दर्शन में भेद नहीं माने है, जैसे कि हमारे यहां अवग्रह, ईहा आदि में भेद माने हैं । एक में ही कहीं नीलादि में तो अभ्यास हो और कहीं क्षण-क्षयादि में न हो ऐसा भेद आप मानते नहीं । उस निर्विकल्प दर्शन में उस अभ्यास को अन्य से हटा करके उस नीलादि में ही अभ्यास का योग करा देना ऐसी विशेषता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं अभ्यास और अनभ्यास स्वभाव से रहित है, इस तरह अतत् स्वभावी होकर भी उनमें अन्य की व्यावृत्ति रूप विशेषता माने तो अग्नि में अशीतत्व (उष्णत्व) की व्यावृत्ति माननी पड़ेगी । हां यदि आप बौद्ध उस दर्शन में अभ्यास, अनभ्यास रूप स्वभाव स्वरूप से ही है ऐसा स्वीकार करते हो तो फिर उसको अन्य व्यावृत्ति की क्या आवश्यकता है ? हर वस्तु के प्रति नियत स्वभाव, खुद ही अन्य वस्तुओं से व्यावृत्ति रूप ही होते हैं ।

वासनाप्रभवत्वात्तस्य । तद्वासनाविकल्पस्यापि पूर्वतद्वासनाप्रभवत्वादित्यनादित्वाद्विकल्पसन्तानस्य प्रत्यक्षसन्तानादन्यत्वात्, विजातीयाद्विजातीयस्योदयानिष्टेर्नोक्तदोषानुषङ्गः; इत्यप्यसङ्गतम्; तस्य विकल्पाजनकत्वे "यत्रैव जनयेदेना तत्रैवास्यप्रमाणता" [ ] इत्यस्य विरोधानुषङ्गात् । कथं वा वासनाविशेषप्रभवत्(वात् त)तोऽन्यक्षस्य रूपादिविषयत्वनियमः मनोराज्यादिविकल्पादपि तत्प्रसङ्गात् ? प्रत्यक्षसहकारिणो वासनाविशेषादुत्पन्नाद्रूपादिविकल्पात्तस्य तन्नियमे स्वलक्षण-विषयत्वनियमोप्यत एवोच्यताम्, अन्यथा रूपादिविषयत्वनियमोप्यतो मा भूदविशेषात् । तथाच–

बौद्ध—हम दर्शन को विकल्प का उत्पादक मानते हैं सो वह दर्शन अभ्यासादि की अपेक्षा रखता है अथवा नहीं रखता है ऐसा नहीं मानते क्योंकि विकल्प तो शब्द तथा अर्थ की विकल्प वासना से उत्पन्न होता है, और वह विकल्प वासना अपनी पूर्व वासना से उत्पन्न होती है, इस प्रकार वे वासनाएं अनादि प्रवाह रूप हैं और वे प्रत्यक्ष की संतान से पृथक् रूप है । इसी कारण से विजातीय दर्शन से विजातीय रूप विकल्प होना माना नहीं। ऐसा मानना हमें भी अनिष्ट है । अतः पूर्वोक्त जैन के द्वारा दिये गये दोष हमारे पर नही आते है ।

जैन—यह कथन असंगत है, इस प्रकार यदि आप दर्शन को विकल्प पैदा करने वाला नहीं मानोगे तो अपसिद्धांत का प्रसंग आयेगा । "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" अर्थात् जहां ही यह दर्शन सविकल्प बुद्धि को पैदा करता है वहीं पर उसको प्रमाण माना है । यहां दर्शन को विकल्पोत्पादक माना ही है । दूसरी बात यह है कि विकल्प तो वासना विशेष से पैदा हुआ है फिर उससे प्रत्यक्ष के रूपादि विषय का प्रतिनियम कैसे बनेगा ? यदि बनना है तो मनोराज्यादि विकल्प के द्वारा भी प्रत्यक्ष के विषय का नियम बनना चाहिए ।

बौद्ध— प्रत्यक्षकी सहकारी ऐसी विशिष्ट वासना के कारण प्रति-नियत रूपादि में विकल्प पैदा होने का नियम बनता है ।

जैन—ठीक है फिर दर्शन को क्षण-क्षयादि विषय का नियम भी करना होगा नहीं करता है तो रूपादि में भी मत करे । कोई विशेषता तो है नहीं । फिर तो हम अनुमान प्रयोग करते हैं कि विकल्प स्वलक्षण को विषय करता है । (साध्य) प्रत्यक्ष के विषय में प्रतिनियम करनेवाला होने से (हेतु) जैसे कि रूपादि निर्विकल्प के विषय में प्रति नियम बनाता है ।

स्वलक्षणगोचरोऽसौ प्रत्यक्षस्य तन्नियमहेतुत्वाद्रूपादिवत्। रूपाद्युल्लेखित्वाद्विकल्पस्य तद्बलात्तन्नियमस्यैवाभ्युपगमे-प्रत्यक्षस्याभिलापसंसर्गोपि तद्वदनुमीयेत-विकल्पस्याभिलपनाभिलप्यमानजात्याद्युल्लेखिततयोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः। तथाविधदर्शनस्याप्रमाणसिद्धत्वाच्च आत्मैवाहम्प्रत्ययप्रसिद्धः प्रतिबन्धकापायेऽभ्यासाद्यपेक्षो विकल्पोत्पादकोऽस्तु किमदृष्टपरिकल्पनया? ततो विकल्पः प्रमाणम् संवादकत्वात्, अर्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वात्, अनिश्चितार्थनिश्चायकत्वात्, प्रतिपत्त्रपेक्षणीयत्वाच्च अनुमानवत्, नतु निर्विकल्पक तद्विपरीतत्वात्सन्निकर्षादिवत्।

भावार्थ—जब बौद्धाभिमत विकल्प ज्ञान निर्विकल्प प्रमाण का विषय जो रूपादिक हैं उनको ग्रहण करता है तब उसी निर्विकल्प का अन्य विषय जो स्वलक्षण है उसका भी प्रतिनियम करेगा ही अर्थात् स्वलक्षण को भी ग्रहण करेगा, इस प्रकार का दोष आता है अतः प्रत्यक्ष के सहकारी वासना से विकल्प उत्पन्न हुआ है और इसलिए रूपादिका प्रतिनियम करता है, ऐसा क्षणिकवादी कह रहे हैं, वह असत्य ठहरता है।

बौद्ध—विकल्प में यह नीला है, यह पीला है इस प्रकार रूपादि का उल्लेख देखा जाता है अतः निश्चय होता है कि निर्विकल्प के विषयों में से सिर्फ रूपादि को जानने वाले विकल्प उत्पन्न हुआ करते हैं। यह नीला है, इत्यादि उल्लेख के समान "यह स्वलक्षण है" ऐसा उल्लेख विकल्प करता नहीं इसलिए मात्र रूपादि का ही उल्लेख करने का नियम बन जाता है।

जैन—ऐसा स्वीकार करे तो फिर हम भी अनुमान के द्वारा उसी प्रत्यक्ष में शब्द संसर्ग भी सिद्ध कर देंगे। देखिये-प्रत्यक्ष ज्ञान शब्द संसर्गी है क्योंकि उससे होने वाले विकल्प में अभिलपन=शब्द और अभिलप्य=वाच्य रूप जाति आदि के उल्लेख की अन्यथानुपपत्ति है। इस प्रकार विकल्प में शब्द का संसर्ग देख कर प्रत्यक्ष में भी शब्द का संसर्ग मानना पड़ेगा जो बौद्ध मत के विरुद्ध पड़ता है।

तथा दूसरी बात यह है कि तुम जैसा निर्विकल्प दर्शन का वर्णन करते हो वैसा प्रमाण रूप सिद्ध होता नहीं। हां जो आत्मा है उस रूप दर्शन को मानो तो वह अहं प्रत्यय से सिद्ध हो रहा है, उसीके जब प्रतिबंधक ज्ञानावरणादि कर्मका क्षयोपशम होता है तब वही अभ्यासादि के कारण विकल्प को उत्पन्न करता है यही बात सत्य है फिर काहे को उस निर्विकल्पक दर्शन की कल्पना करते हो। अतः यह सिद्ध हुआ कि

तस्याप्रामाण्यं पुनः स्पष्टाकारविकलत्वात्, अगृहीतग्राहित्वात्, असति प्रवर्तनात्, हिताहित-प्राप्तिपरिहारासमर्थत्वात्, कदाचिद्विसंवादात्, समारोपानिषेधकत्वात्, व्यवहारानुपयोगात्, स्वलक्षणागोचरत्वात्, शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वात्, शब्दप्रभवत्वात्, (ग्राह्यार्थं विना तन्मात्रप्रभवत्वाद्वा) गत्यन्तराभावात् ? न तावत्स्पष्टाकारविकलत्वात्तस्याऽप्रामाण्यम्; काचाभ्रकादिव्यवहितार्थ-दूरपादपादिप्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैतद्युक्तम्, अज्ञातवस्तुप्रकाशनसंवादलक्षणस्य प्रमाणलक्षणस्य सद्भावात् । प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गो वा; अस्पष्टत्वालिङ्गजत्वाभ्यां प्रमाणद्वयानन्त-र्भूतत्वात् । नापि गृहीतग्राहित्वात्; अनुमानस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गात्, व्याप्तिज्ञानयोगिसवेदन-

---

विकल्प प्रमाण है, संवादक होने से तथा पदार्थ के जानने में साधकतम होने से अनिश्चित (अपूर्वार्थ) पदार्थ का निश्चय कराने वाला होने से तथा प्रमाता की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होता है इसलिए । जैसे अनुमान पदार्थ का निश्चायक है । इस प्रकार चार हेतुओं के द्वारा विकल्प को प्रमाण रूप से सिद्ध किया है, लेकिन निर्विकल्प प्रमाण सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि वह इससे विपरीत है अर्थात् संवादक नहीं, साधक-तम नहीं, निश्चायक नहीं, और प्रमाता के द्वारा अपेक्षणीय भी नहीं है, जैसे कि सन्निकर्षादि अप्रमाण हैं ।

आप बौद्ध विकल्प को प्रमाण नहीं मानते हो सो क्यों ? क्या वह स्पष्ट आकार से रहित है इसलिए, अथवा गृहीत ग्राही है, पदार्थ के असत् होने पर प्रवृत्ति करता है, हित प्राप्ति तथा अहित परिहार करने में असमर्थ है कदाचित् विसंवादी होने से, समारोप का निषेधक न होने से व्यवहार में उपयोगी न होने से स्वलक्षण को जानता नहीं इसलिये शब्द संसर्ग से प्रतिभास कराता है इसलिये शब्द से उत्पन्न होने से ग्राह्यार्थ के बिना उत्पन्न होने से, इस प्रकार इन ग्यारह कारणों से आपने उस विकल्प को अप्रमाण माना है क्या ? इनसे और तो कोई कारण हो नहीं सकता ?

प्रथम पक्ष—स्पष्टाकार रूप विकल्प नहीं होने से उसे अप्रमाण नहीं कह सकते, अन्यथा काच, अभ्रकादि से ढके हुए या दूरवर्ती वृक्ष पर्वतादि का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे भी अप्रमाण मानना पड़ेगा ? क्योंकि वह स्पष्टाकार से विकल है, किन्तु उसे अप्रमाण तो कहते नहीं, क्योंकि वह अज्ञात वस्तु का प्रकाशन करना रूप प्रमाणके लक्षण से युक्त है । अथवा ऐसे ज्ञान को कोई तीसरा प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि वह अस्पष्ट है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं रहा और हेतु से उत्पन्न हुआ नहीं, अतः वह अनुमान भी नहीं हुआ । अतः वह विकल्प दोनों में ही शामिल नहीं हुआ ।

गृहीतार्थग्राहित्वात् । कथं वा क्षणक्षयानुमानस्य प्रामाण्यम्-शब्दरूपावभास्यध्यक्षावगतक्षणक्षयविषयत्वात् ? नच अध्यक्षेण धर्मिस्वरूपग्राहिणा शब्दग्रहणेपि न क्षणक्षयग्रहणम्; विरुद्धधर्माध्यासतस्तद्भेदप्रसक्तेः। नाप्यसतिप्रवर्तनात्; अतीतानागतयोर्विकल्पकाले असत्त्वेपि स्वकाले सत्त्वात्। तथाप्यस्याप्रामाण्ये-प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गः तद्विषयस्यापि तत्कालेऽसत्त्वाविशेषात्। हिताऽहितप्राप्तिपरिहारासमर्थत्वादित्यसम्भाव्यम्; विकल्पादेवेष्टार्थप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिदर्शनात् अनिष्टार्थाच्च

दूसरा पक्षः—विकल्प गृहीत ग्राही है अतः अप्रमाण है। यह पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा मानें तो अनुमान भी अप्रमाण होगा तथा व्याप्ति ज्ञान और योगि प्रत्यक्ष आदि भी गृहीत ग्राही होने से अप्रमाण होवेंगे। क्षण क्षयादि को विषय करने वाला अनुमान भी असत् होगा, क्योंकि वह शब्द ग्राहक श्रावण प्रत्यक्ष के द्वारा जाने हुए विषय में ही प्रवृत्ति करता है।

भावार्थ— निर्विकल्प के प्रवृत्त होने पर उसी में विकल्प प्रवृत्ति करता है। अतः गृहीत ग्राही ग्रहण किए हुए को ही ग्रहण करने वाला है इसलिए विकल्प अप्रमाण है—ऐसा बौद्ध कहेंगे तो उन बौद्ध को अनुमान को अप्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्ष के विषय में ही प्रवृत्ति करता है अर्थात् यह घट है ऐसा कर्ण प्रत्यक्ष के द्वारा सुना, अब वह शब्द तो ग्रहण हो चुका फिर उसीमें अनुमान आया कि यह शब्द क्षणिक है क्योंकि नष्ट होता है अथवा सद्रूप है। इस प्रकार का अनुमान गृहीत- ग्राही होने से अप्रमाण बन जायेगा।

बौद्ध—धर्मी के स्वरूप को ग्रहण करने वाला जो प्रत्यक्ष है उस प्रत्यक्ष के (श्रावण) द्वारा शब्द भले ही ग्रहण हुआ है किन्तु उसका धर्म जो क्षण क्षय है वह तो ग्रहण हुआ ही नही।

जैन—ऐसा मानें तो शब्द धर्मी में दो विरुद्ध धर्म होने से उसके भेद मानने पड़ेंगे अर्थात् शब्द में शब्दत्व तो ग्राह्य और क्षणिकत्व अग्राह्य ऐसे विरुद्ध दो धर्म हो जायेंगे (जो कि आपको इष्ट नहीं होगा क्योंकि हम जैन को छोड़कर अन्य किसी भी मतवालों ने एक ही वस्तु में विरुद्ध धर्मों का सद्भाव नहीं माना है)।

तीसरा पक्ष—पदार्थ के न होने पर भी विकल्प प्रवृत्ति करता है अतः विकल्प अप्रमाण है ऐसा कहें तो भी ठीक नही, यद्यपि विकल्प का विषय वर्तमान में नहीं

निवृत्तिप्रतीतेः । कदाचिदर्थप्रापकत्वाभावस्तु-प्रत्यक्षेपि समानोऽनर्थित्वादप्रवृत्तस्याद्यप्रत्यक्षवत् । कदाचिद्विसंवादादित्यप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यक्षेप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्, तिमिराद्युपहतचक्षुषोऽर्थाभावेपि प्रत्यक्षप्रवृत्तिदर्शनात् । भ्रान्तादभ्रान्तस्य भेदोऽन्यत्रापि समानः । समारोपानिषेधकत्वादित्यप्यसङ्गतम्; विकल्पविषये समारोपासम्भवात् । नापि व्यवहारायोग्यत्वात्; सकलव्यवहाराणां विकल्पमूलत्वात् । स्वलक्षणाऽगोचरत्वादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; अनुमानेपि तत्प्रसक्तेः तद्वत्तस्यापि सामान्यगोचरत्वात् । न च तद्ग्राह्यस्य सामान्यरूपत्वेप्यध्यवसेयस्य स्वलक्षणरूपत्वाद् दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य

होता किन्तु अतीत अनागत काल में तो है, ऐसे होते हुए भी अप्रमाण कहो तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण होगा क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय भी प्रत्यक्ष के समय में नहीं होता है ।

चौथा पक्ष—हिताहित प्राप्ति परिहार करने में विकल्प ज्ञान असमर्थ है ऐसा कहना तो असंभव है क्योंकि विकल्प से ही इष्टार्थ की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार होता है । यदि कभी-कभी विकल्प के द्वारा अर्थ प्रापकता नहीं होती है अतः उसको अप्रमाण मानते हैं ऐसा कहो तो कभी-कभी अर्थ प्रापकता का अभाव प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है । देखिये "इदं जलं" यह जल है, इस प्रकार किसी को पहली बार जल का ज्ञान हुआ, वह व्यक्ति जल का इच्छुक नहीं है तो वह उस ज्ञान से अर्थ में अर्थात् जल में प्रवृत्ति नही करता है तब क्या वह जल ज्ञान मात्र अर्थ प्रापक न होने से अप्रमाण कहलायेगा ? अर्थात् नहीं । अतः कदाचित् अर्थ प्रापक न होने से विकल्प अप्रमाण है यह बात सिद्ध नही होती है ।

पांचवा पक्ष—विकल्प में कभी-कभी विसंवाद रहता है यह पक्ष भी गलत है, कभी-कभी विसवाद तो प्रत्यक्ष में भी होता है । देखो-तिमिर रोगादिसे युक्त नेत्र पदार्थ के अभाव में भी उस पदार्थ को दिखाने में प्रवृत्त होते हैं । क्या वह नेत्र ज्ञान संवादक है ? कहो कि वह भ्रांत प्रत्यक्ष है, अभ्रांत में ऐसा नहीं होता तो विकल्प में भी यही बात है । वहां भ्रांत विकल्प और अभ्रांत विकल्प ऐसा भेद तो है ही ।

छठा पक्ष—विकल्प समारोप का निषेध नहीं करता यह कथन भी विकल्प में असंभव है, उल्टे विकल्प में तो समारोप आता ही नहीं ।

सातवां पक्ष—विकल्प व्यवहार के उपयोगी नहीं ऐसा पक्ष बनेगा ही नहीं क्योंकि विकल्प ही सारे व्यवहारों का मूल है ।

ततः प्रवृत्तेरनुमानस्य प्रामाण्यम्; प्रकृतविकल्पेऽप्यस्य समानत्वात्। शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वादित्यप्यसमीचीनम्; अनुमानेपि समानत्वात्। शब्दप्रभवत्वादित्यप्यसाम्प्रतम्; शब्दाध्यक्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। ग्राह्यार्थं विना तन्मात्रप्रभवत्वं चासिद्धम्; नीलादिविकल्पानां सर्वदार्थे सत्येव भावात्। कस्यचित्तु तमन्तरेणापि भावोऽध्यक्षेपि समानः द्विचन्द्रादिप्रत्यक्षस्यार्थाभावेपि भावात्। भ्रान्तादभ्रान्तस्यान्यत्वमत्रापि समानम्।

आठवां पक्ष—स्वलक्षण को विकल्प विषय नहीं करता अतः उसमें प्रमाणता नहीं है यह कहना भी बिना विचारे है क्योंकि ऐसे तो अनुमान भी अप्रमाण ठहरेगा—कारण—वह भी स्वलक्षण को विषय नहीं करता वह तो सामान्य को विषय करता है।

बौद्ध—यद्यपि अनुमान सामान्य को ग्रहण करता है, तो भी जानने योग्य चीज तो स्वलक्षण ही है अतः दृश्य और विकल्प अर्थात् स्वलक्षण और विकल्प के विषय भूत पदार्थों को वह अनुमान एकत्रित मानकर उस स्थूल रूप हुए पदार्थ में प्रवृत्ति करता है इसलिए हम लोग अनुमान को प्रमाण भूत स्वीकार कर लेते हैं।

जैन—ऐसी बात विकल्प में भी घटित हो सकती है। मतलब जो बात आपने अनुमान के विषय में घटित करके बताई वैसी विकल्प के विषय में भी कही जा सकती है। देखिये यद्यपि विकल्प का विषय स्वलक्षण नहीं है, तो भी जो विकल्प आदि है उसको और दृश्य इन दोनों अर्थों को एकत्रित करके उनमें विकल्प करने वाले व्यक्ति की प्रवृति होती है। इसलिये अनुमान के समान विकल्प भी प्रमाण हैं।

नवमा पक्ष—विकल्प शब्द संसर्ग के योग्य पदार्थ का प्रतिभासन करता है अतः वह अप्रमाण है ऐसा कहो तो अनुमान में भी शब्द संसर्गता है, उसे भी विकल्प की तरह अप्रमाण मानना होगा।

दसवां पक्ष—विकल्प शब्द के द्वारा होता है अतः अप्रमाण है ऐसा मानें तो श्रावण प्रत्यक्ष को अप्रमाण मानना होगा।

ग्यारहवां पक्ष—विकल्प्य ज्ञान ग्राह्य अर्थ के बिना ही शब्द मात्र से उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी असिद्ध है, क्योंकि सभी नीलादि विकल्प हमेशा पदार्थ के होने पर ही उत्पन्न होते हैं। यदि कहो कि कोई-कोई विकल्प बिना पदार्थ के भी होता है तो प्रत्यक्ष भी कभी-कभी पदार्थ के अभाव में होता है, जैसे दो चन्द्रादि का ज्ञान, दो

किञ्च, विकल्पाभिधानयोः कार्यकारणत्वनियमकल्पनायाम् किञ्चित्पश्यतः पूर्वानुभूततत्सदृशस्मृतिर्न स्यात् तन्नामविशेषास्मरणात्, तदस्मरणे तदभिधानाप्रतिपत्तिः, तदप्रतिपत्तौ तेन तद्योजनम् तदयोजनात्तदनध्यवसाय इत्यविकल्पाभिधानं जगदापद्येत ।

किञ्च, पदस्य वर्णानां च नामान्तरस्मृतावसत्यामध्यवसायः, सत्यां वा ? तत्राद्यपक्षे-नाम्नो

चन्द्र नहीं हैं फिर भी वैसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । वह प्रत्यक्ष भ्रांत है ऐसा कहो तो वैसे ही जो विकल्प पदार्थ के बिना होता है उसे ही भ्रांत मानना चाहिए? सबको नहीं इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान अप्रमाण क्यों है इस बात का निश्चय करने के लिए बौद्ध से जैन ने ११ प्रश्न पूछे किन्तु बौद्ध किसी भी प्रकार से विकल्प को असत्य नहीं ठहरा सका, उल्टे उसको यहां बड़ी भारी मुंह की खानी पड़ी है । हम जैन बौद्ध से पूछते हैं कि आप यदि विकल्प और शब्द में कार्यकारण का अविनाभाव मानते हैं तो किसी नीलादि को देखते हुये पुरुष को उसी के समान पहले देखे हुये पदार्थ का स्मरण नहीं आयेगा, क्योंकि उस वस्तु के नाम का स्मरण तो उसे होगा नहीं, नाम स्मृति बिना उसे वह जानेगा नहीं और जाने बिना यह शब्द इसका वाचक है, यह वस्तु इस शब्द के द्वारा वाच्य है—इत्यादि संबंध की योजना नहीं होगी, योजना के बिना उसका निश्चय नहीं होगा अर्थात् दृश्यमान नीलादि में विकल्प न होगा और इस प्रकार सारा संसार विकल्प तथा अभिधान (शब्द) से रहित हो जायेगा ।

भावार्थ—यदि शब्द और विकल्प इन दोनों में कारण कार्य भाव मानते हैं अर्थात् शब्द (नाम) कारण है और विकल्प उसका कार्य है ऐसा सर्वथा नियम बनाया जाय तो बहुत दोष आते हैं। देखो–किसी नील या पीत आदि वस्तु को कोई पुरुष देख रहा है उस समय उस पुरुष को पहले कभी देखे हुए सदृश नीलादि वस्तु स्मरण न हो सकेगी । क्योंकि उस पूर्वानुभूत वस्तु का नाम नहीं लिया है और न उस नाम का स्मरण ही है, इस प्रकार पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण न होने से इस वस्तु का यह नील आदिक नाम है ऐसा वाच्य वाचक संबंध रहेगा नहीं उस संबंध के अभाव में उसका निर्णय नहीं होगा और इस तरह तो सारा संसार ही अविकल्प-विकल्प ज्ञान रहित हो जायेगा जो कि इष्ट नहीं है क्योंकि सभी को विकल्प ज्ञान अनुभव में आता है ।

अच्छा यह बताओ कि पद (गौ इत्यादि) और वर्णों का (ग् औः) का ज्ञान उसी पद और वर्णों के दूसरे नामांतर याद होने पर होता है कि बिना याद हुए

नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थाध्यवसायः किन्न स्यात् ? 'स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयैर्निश्चीयन्ते' इत्येकान्तत्यागात् । द्वितीयपक्षे तु-अनवस्था-वर्णपदाध्यवसायेप्यपरनामान्तरस्यावश्यं स्मरणात् ।।

होता है ? यदि कहा जाय कि नामान्तर के बिना भी नाम की स्मृति होती है तो वैसे ही नाम के बिना पदार्थ का निश्चय क्यों न होगा ? क्योंकि यह एकान्त तो रहा नहीं कि अपने नाम की अपेक्षा लेकर ही विकल्प के द्वारा पदार्थ का निश्चय होता है। दूसरा पक्ष कहो कि उन पदादि का दूसरा नामांतर का स्मरण होने पर ही निश्चय होता है तो अनवस्था दोष आता है अर्थात् एक पदादि की जानकारी के लिए दूसरे पदादि और उनके लिए तीसरे पदादि का स्मरण होना आवश्यक है। इस प्रकार बौद्ध का माना हुआ निर्विकल्प प्रमाण सिद्ध नही होता है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के खंडन का सारांश

बौद्ध निर्विकल्प प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। उनके यहां दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। इनमें से अनुमान को तो पदार्थ का निश्चायक माना है किन्तु प्रत्यक्ष को नहीं, निर्विकल्प दर्शन के बाद यह नील है अथवा पीत है इस प्रकार का विकल्प पैदा होता है वह अप्रमाण है। [अनुमान को लोक व्यवहार में प्रमाण माना है प्रत्यक्ष ही सर्वथा परमार्थ प्रमाण है] जैनाचार्य ने इसका विस्तृत खंडन किया है। सबसे प्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि निर्विकल्प दर्शन कोई प्रमाण है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? एक साथ अर्थात् निर्विकल्प के साथ ही विकल्प पैदा होता है, अतः दोनों में एकत्व दिखाई देता है यह कथन ठीक नहीं क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न मालूम पड़ें तो एक का दूसरे में आरोप होकर एकत्व होता है ऐसा माना जाय किन्तु निर्विकल्प प्रतीत नहीं होता है। बौद्ध यह कहें कि निर्विकल्प के बाद ही अतिशीघ्र विकल्प उत्पन्न होता है अतः वह पहला प्रतीति में नहीं आता मात्र एकत्व का प्रतिभास होता है ? तो यह भी ठीक नहीं, ऐसे तो गधे के रेंकना, चिल्लाना (गधा जो आवाज करता है, बोलता है) इनमें भी लघुवृत्ति—शीघ्रता होती है फिर उसमें एकत्व का प्रतिभास क्यों नहीं होगा ? मतलब गधा जो

शब्द करता है उसमें अव्यक्त शब्द रहते हैं और वह देरी तक चिल्लाता है वे शब्द क्रम से सुनाई भी नहीं देते, अतः उन शब्दों में एकत्व मानना होगा, किन्तु एकत्व किसी ने माना नहीं। सदृशता कौन सी है, विषय एक होना रूप या ज्ञान रूप ? विषय एक हो नहीं सकता, क्योंकि निर्विकल्प का विषय स्वलक्षण और विकल्प विषय सामान्य है अर्थात् दोनों का विषय एक नहीं ज्ञानपने की अपेक्षा एकता माने तो सारे ही नील पीतादि ज्ञान एक रूप मानो। अभिभव पक्ष भी बनता नहीं, क्या निर्विकल्प से विकल्प का अभिभव होता है या विकल्प से निर्विकल्प का। दोनों के द्वारा भी अभिभव हो नहीं सकता। अच्छा बौद्ध, यह बताओ कि निर्विकल्प और विकल्प में एकता है—यह कौन निर्णय करता है ? निर्विकल्प निर्णय रहित है वह क्या निर्णय करेगा ? विकल्प भी निर्विकल्प के विषय को नहीं जानने से निर्णय कर नहीं सकता। बिना जाने कैसा निर्णय हो ? इसलिए दोनों में एकता है इस बात को कोई भी जानने वाला न होनेसे उसका अभाव ही है अर्थात् "निर्विकल्प का अभाव सिद्ध होता है क्योंकि वह प्रतीति में नहीं आता है, विकल्प को प्रतीति आती है अतः वह प्रमाण है। बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्प के द्वारा विकल्प उत्पन्न होता है किन्तु यह बात घटित नहीं होती क्योंकि जो स्वतः विकल्प रहित है वह विकल्प को कैसे उत्पन्न करेगा ? जबरदस्ती मान भी लेवे तो फिर उनको सभी विषयों में विकल्प उत्पन्न करने पड़ेंगे, किन्तु आपने तो केवल नीलादि विषय में ही उसे विकल्पोत्पादक माना है, क्षणादि विषय में नहीं। इस पर सौगत अपनी सुष्टु दलील पेश करते हैं कि जहां पर विकल्प वासना का प्रबोधक है वही पर वह निर्विकल्प दर्शन विकल्प को उत्पन्न करता है, किन्तु यह कोई बात में बात है ? विकल्प वासना तो नीलादि की तरह क्षण-क्षयादि में मौजूद है। तब भुंझलाकर वादी ने जवाब दिया कि क्षण-क्षयादि विषय में निर्विकल्प का अभ्यास नही, प्रकरण (प्रस्ताव) पाटव अर्थित्व ये भी नहीं। अतः उसमें कैसे विकल्प उत्पन्न करे ? इस पक्ष में विचार करने पर कोई सार नहीं निकलता है। अभ्यास नीलादि में तो है और क्षणादि में नहीं ऐसा सिद्ध नहीं होता। प्रकरण दोनों नील और क्षणादि का चल ही रहा है। पाटव नीलादि में क्यों हैं और क्षण में क्यों नही—यह आप सिद्ध नहीं कर पाते। इस प्रकार खंडित होने पर बौद्ध दूसरी प्रकार से कहते हैं—दर्शन को हमने अभ्यास आदि के होने अथवा न होने के कारण विकल्पोत्पादक नहीं माना अर्थात् विकल्प तो शब्द और अर्थ की वासना (संस्कार) के कारण

उत्पन्न होता है न कि निर्विकल्प से ? इस कथन से तो बौद्ध का शास्त्र गलत ठहरता है । वहां तो लिखा है—

"यत्रैव जनये देनां तत्रैवास्य प्रमाणता"

जिस विषय में निर्विकल्प के द्वारा विकल्प बुद्धि उत्पन्न की जाती है उसी विषय में उस निर्विकल्प को प्रमाण माना है (सब जगह नहीं) इस प्रकार बौद्ध निर्विकल्प को विकल्पोत्पादक भी नहीं कह सकते और न विकल्प का अनुत्पादक ही । सबसे बड़ी आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसकी प्रतीति नहीं, झलक नहीं, कुछ भी नहीं उस निर्विकल्प को तो प्रमाण माना, और जिसकी प्रतीति आती है उस विकल्प को अप्रमाण कहते हो । आचार्य ने, "विकल्प में प्रमाणता क्यों नहीं" इस बारे में ग्यारह प्रश्न-माला उठा कर अच्छी तरह यह सिद्ध किया है कि सब प्रकार से विकल्प ही प्रमाण है निर्विकल्प नहीं । विकल्प का स्वरूप यही है कि प्रतिबंधक कर्म का अभाव अर्थात् क्षयोपशम होना मतलब आत्मा में ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो जाने से सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है और वह पदार्थ का निश्चय कराता है ऐसा बौद्ध को मानना चाहिए । निर्विकल्प के द्वारा न लौकिक कार्य की सिद्धि है और न पारमार्थिक कार्य की सिद्धि है क्योंकि वह कुछ पदार्थ का निर्णय या दिग्दर्शन, प्रतीति कराता ही नहीं । इसलिए लोक व्यवहार तथा मोक्षादि पुरुषार्थ की सिद्धि जिस ज्ञान के द्वारा हो उसी ज्ञान को स्वीकार करना चाहिए । व्यर्थ ही निर्विकल्प सविकल्प आदि की कल्पना से मात्र तुम बौद्ध निर्विकल्प हो जाओ ।

*** निर्विकल्प प्रत्यक्ष का सारांश समाप्त ***

शब्दाद्वैतवाद–पूर्वपक्ष

श्री भर्तृहरि आदि वेदान्तवादियों ने समस्त विश्व को शब्दरूप माना है, उनका मन्तव्य उत्तर पक्ष के पहिले यहां पूर्वपक्ष के रूप में प्रदर्शित किया जाता है— इसी पूर्वपक्ष का विचार आचार्य प्रभाचन्द्रजी ने इस प्रकरण में किया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो मता ।। १ ।।

—वाक्यपदी प्र० १

आदि-अन्त रहित यह ब्रह्म—(जगत्) शब्द रूप है, उसमें किसी प्रकार का क्षरण नही होता, इसलिये वह अक्षर है, वही शब्द तत्त्व बाह्य-घट पट आदि रूप से दिखाई देने वाले पदार्थ रूप में परिवर्तित होता है, इसी से जगत का व्यवहार चलता है, इस प्रकार एक, अखंड और व्यापक तथा सूक्ष्म ऐसे शब्द ब्रह्म से ही इस सृष्टि का सृजन हुआ है, यह शब्द ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय आदि रूप से परिणमन करता है—ऐसा ही कहा है—

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तर कारणम् ।
तद्वच्छब्दो ऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ।। ४६ ।।

—वाक्यप० पृ० ३६

जिस प्रकार अरणि में स्थित अव्यक्त अग्नि अन्यत्र प्रकाश का कारण हुआ करती है, उसी प्रकार बुद्धि में स्थित जो शब्द ब्रह्म है–अर्थात् शब्दमय ज्ञान है–वही सुनने योग्य शब्द रचना रूप होकर पृथक् २ रूप से सुनाई देता है, मतलब कहने का यह है कि जैसे काष्ठ में अग्नि अव्यक्त रहती है और मंथन करने से प्रकट होकर अन्य दीपक आदि रूप प्रकाश का हेतु बनती है, उसी प्रकार शब्दमय बुद्धि या ज्ञान में स्थित जो शब्द है वही वर्ण स्वरूप को धारण कर श्रोता के कर्ण प्रदेश में प्रविष्ट होता है—श्रोतागण के ज्ञान का कारण होता है ।

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च विद्यते ।
अर्थरूपे तथा शब्दे स्वरूप च प्रतीयते ।। ५० ।।

टीका—"यथा ज्ञानरूपेण ज्ञेयरूपेण चाभिन्नमेकमेव वस्तु द्वाभ्यां रूपाभ्यां विभक्तमिवाभाति विषयरूपेण तयोरभिन्ना स्थितिश्च नैव हीयते ज्ञेयस्य ज्ञानाश्रितत्वात्, तथैवाभिन्ने चैकात्मके शब्दे श्रुतिरूपतया, अर्थप्रतीतिरूपतया च शब्दस्य स्वरूपं तस्यैवार्थरूपादभिन्नमिवाभाति । अनयोः पृथक्ता प्रकाशनव्यापारे ह्येव प्रतीयते । अन्यथा बुद्धिस्थरूपेण तु शब्द एकात्मा ह्येव । अर्थरूपं तु स्वाश्रितम् ।" — टीका–वाक्य प० पृ० ४४ जिस प्रकार अद्वैतवादी वेदान्ती ज्ञान और ज्ञेय को एक ही वस्तु के भेदरूप मानते हैं अर्थात् एक ब्रह्मरूप वस्तु ही ज्ञान और ज्ञेय इन दो रूपों में विभक्त होती है ऐसा मानते हैं क्योंकि ज्ञेय तो ज्ञान के आश्रित है, उसी प्रकार शब्द तत्त्व भी एक ही है, किन्तु उसीके श्रुतिरूप और अर्थप्रतीति रूप दो भेद हो जाते हैं, शब्द में अर्थरूपता और स्वरूपता दोनों ही छिपी रहती हैं, पदार्थ का बोध करते कराते समय ज्ञान में स्थित जो शब्द तत्त्व है वही वर्णरूप, श्रोता के कानमें ध्वनिरूप और घटादि पदार्थ रूप हो जाता है, अन्य समयों में अर्थात् शब्दोच्चारण काल के अतिरिक्त समय में वह शब्दतत्त्व मात्र बुद्धि रूप ही रहता है, विभक्त नहीं होता, अर्थ की सत्ता शब्द के विना संभव न हो सकने के कारण शब्द की उपयोगिता अर्थ के बिना शून्य हो जाने के कारण दोनों रूपों को भिन्न या पृथक् कहना अपनी ही भ्रान्ति का परिचय देना है ।

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ।। ११२ ।।

—वाक्यपदीः पृ० ११०

शब्द तत्त्व एक और अखंड है, उसी का मन और वचन रूप से विभाजन होता है, सूक्ष्मवाक्स्वरूप में ज्ञाता (या मन) स्थित है, इसीको अन्दर में रहने के कारण "आन्तर" कहा गया है, वही ज्ञाता या मनरूप शब्द ब्रह्म अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये शब्द–वचनरूप विवर्त–पर्याय को धारण करता है, इस प्रकार यहां तक यह प्रकट किया कि ज्ञेय और ज्ञाता आदि रूप अवस्था तो शब्द ब्रह्म की है। अब यह प्रकट किया जाता है कि विश्व में जितने भी ज्ञान हैं, वे भी शब्दब्रह्मरूप हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। १२३ ।।

—वाक्यपदी पृ०–१२०

इस जगत् में ऐसा कोई प्रत्यय-ज्ञान नहीं है जो शब्दानुगम के बिना हो जावे, समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध है—शब्दरूप से ही प्रतीति में आता है। वक्ता की बुद्धि में स्थित-जो बुद्धिरूप शब्द है वही मुख से प्रकट होता है वही श्रोतागण के कानों में प्रविष्ट होता है तथा वही शब्दब्रह्म श्रोताओं के मन में जाकर ज्ञानरूप बन जाता है। जागृत अवस्था में वचनव्यापार प्रकट ही है और निद्रित अवस्था में वह रहते हुए भी सूक्ष्म होने के कारण अप्रकट बना रहता है, कहा भी है—

"न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः।"

तथा—"वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ १२४ ॥

—वाक्यपदी-पृ० १२१

ज्ञान की जो सदा की रहने वाली वचनरूपता है यदि उसका उल्लंघन हो गया तो प्रकाश किसी को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। क्योंकि उसी के द्वारा ही हर प्रकार का विचार विमर्श होता है। वचनात्मक अवस्था हो चाहे स्मृति काल हो, चाहे अन्य कोई अवस्था या समय हो शब्दपने का अतिक्रम नहीं हो सकता समस्त व्यवहार का माध्यम तो शब्दरूपता ही है।

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसञ्ज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥ १२७ ॥

—वाक्यपदी—पृ० १२४

वाक्रूप ग्रहण किया गया चैतन्य ही सब प्राणियों को सभी प्रकार की सार्थक क्रियाओं में प्रवृत्त कराता है, यदि वह वाक्रूप चैतन्य न रहे तो प्राणी काष्ठ अथवा दीवार की भांति चैतन्य हीन और निष्प्राण रह आये, वाक् उसकी सचेतना का सचोट प्रमाण है।

ग्राह्य ग्राहक भाव के संबंधमें इस प्रकार से कथन है—

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥ ५५ ॥

—वाक्यपदी पृ ५१

जिस प्रकार प्रकाशमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व ऐसी दो शक्तियां रहती हैं उसी प्रकार शब्दों में ग्राह्य और ग्राहकत्व शक्तियां अन्तर्निहित होती हैं। ग्राह्य का अभिप्राय यहां ज्ञेय से है और ग्राहक का अभिप्राय ज्ञानसे है, इस श्लोक द्वारा ग्राह्यग्राहकपना शब्द रूप ही है यह विवेचित किया गया है। अर्थात् ग्राह्य-पदार्थ और ग्राहक-ज्ञान ये दोनों शब्दरूप ही हैं, ऐसा यहां बतलाया गया है।

> नित्याः शब्दार्थ संबन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
> सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥ २३ ॥
>
> —वाक्यप पृ० २१

शब्द और अर्थ का सार्वकालिक 'संबंध' है, अर्थात् जहां शब्द है वहां उसका पदार्थ-वाच्य है, और जहां पदार्थ है वहां शब्द भी अवश्य है। ऐसा सूत्रकारों ने, महर्षियों ने तथा भाष्यकारों ने कहा है। इस प्रकार ज्ञान ज्ञेय, वाच्यवाचक, ग्राह्यग्राहक इत्यादि रूप संपूर्ण विश्व को शब्दमय सिद्ध करके अब शब्दब्रह्म में लीन होनेरूप जो मोक्ष है उसका उपाय बताया जाता है—

> आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
> प्रथमं छंदसामंगं प्राहुर्व्याकरण बुधाः ॥ १ ॥
>
> —वा प. पृ० ११

यदि उस परमब्रह्म का निकटवर्ती कोई है तो वह व्याकरण ही है, वही तपों में उत्तम तप है और वही वेदों का प्रथम अंग है। ऐसा बुद्धिमान पुरुष पुंगवों ने प्रतिपादन किया है।

> तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
> पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥ १४ ॥
>
> —वा.प. पृ० १४

वह व्याकरण मोक्ष का द्वार अर्थात् उपाय है, उसी से वचन दोष दूर होते हैं, व्याकरण सर्वविद्याओंमें प्रमुख और पवित्र है। सारांश इसका यही है कि व्याकरण तप है, वेदज्ञान का अंग है, विद्याओं में प्रमुख है और इसी से मोक्षप्राप्ति होती है। शब्दब्रह्म में लीन हो जाना इसीका नाम मोक्ष है,

जितने भी प्रमाणभूत ज्ञान हैं वे सब शब्दात्मक हैं—शब्दरूप उपादान से निर्मित हैं। शब्द-वाक्के चार भेद हैं—वैखरी वाक्, मध्यमा वाक्, पश्यन्ती वाक्, और सूक्ष्मा वाक्, इनके लक्षण इस प्रकार से हैं—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिः मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥ १ ॥

—कुमार स टीका २/१७

वक्ता के मुख से तालु आदि स्थानों पर जो शब्द बनते हैं—निष्पन्न होते हैं—ककारादि वर्णों की निष्पत्ति होती है, उसे वैखरीवाक् कहा गया है। कर्णपुट में प्रविष्ट होने के बाद जिसमें वर्णक्रम समाप्त हो गया है वह मध्यमा वाक् है, तथा अन्तरंग में संकल्प विकल्परूप या अन्तःजल्पस्वरूप वाग् भी मध्यमा वाक् है, केवल बुद्धि या ज्ञानरूप पश्यन्ती वाक् है, सूक्ष्मावाक् तो सर्वत्र है वह अत्यन्त दुर्लक्ष्य है, उसी सूक्ष्म-वाक् से विश्व व्याप्त हो रहा है। इस प्रकार समस्त विश्व, मन वचन ज्ञान आदि सब शब्दमय हैं। शब्द के बिना कोई भी ज्ञान नही हो सकता, शब्द सर्वथा नित्य है, हमें जो वह कार्यकारण रूप या उत्पत्ति विनाश आदि रूप प्रतीत होता है वह केवल अविद्या के कारण होता है, अविद्या के अभाव में जगत् शब्दमय तथा नित्य ही प्रतिभासित होता है।

शब्दाद्वैतविचारः

येपि शब्दाद्वैतवादिनो निखिलप्रत्ययानां शब्दानुविद्धत्वेनैव सविकल्पकत्व मन्यन्ते-तत्स्पर्शवैकल्ये हि तेषां प्रकाशरूपताया एवाभावप्रसङ्गः। वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च। तदभावे प्रत्ययानां नापरं रूपमवशिष्यते। सकल चेद वाच्यवाचकतत्त्वं शब्दब्रह्मण एव विवर्तो नान्यविवर्तो नापि स्वतन्त्रमिति। तदुक्तम्–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
[वाक्यप० १।१२४]

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ २ ॥
[वाक्यप० १।१२५]

शब्दाद्वैत वादी जो भर्तृहरि आदि हैं उनका ऐसा मन्तव्य है–कि जितने भी ज्ञान हैं उनका शब्दके साथ तादात्म्य संबंध है, इसीलिये वे सविकल्प हैं, यदि इनमें शब्दानुविद्धता न हो–शब्द संस्पर्श से ये विकल हों–तो ज्ञानों में प्रकाशरूपता का–वस्तुस्वरूप के प्रकाशन करने का- अभाव होगा, वचन सदा से ज्ञान के कारण होते चले आ रहे हैं, यदि ज्ञान में शब्द संस्पर्शित्व न माना जावे तो ज्ञान का अपना निजरूप कुछ बचता ही नहीं है, जितना भी यह वाच्यवाचकतत्व है वह सब शब्दरूप ब्रह्म की ही पर्याय है और किसी की नहीं, न यह कोई स्वतन्त्र पदार्थ है। कहा भी है—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके"–इत्यादि वाक्य प० १/१२४ ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द के अनुगम के बिना हो, सारा यह जगत् शब्द के द्वारा अनुविद्ध सा हो रहा है, समस्त विश्व शब्द ब्रह्म में प्रतिष्ठित है" ॥१॥

ज्ञान में अव्यभिचरित रूप से रहनेवाली शाश्वती वाग्रूपता का यदि ज्ञान में से उल्लंघन हो जाता है तो ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रह सकता, क्योंकि वह वाग्रूपता–शब्दब्रह्म ज्ञान से संबंधित होकर रहती है ॥ २ ॥

अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। ३ ।।
[वाक्यप० १|१]

अनादिनिधनं हि शब्दब्रह्म उत्पादविनाशाभावात्, अक्षरं च अकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वात्, अनेन वाचकरूपता 'अर्थभावेन' इत्यनेन तु वाच्यरूपतास्य सूचिता । प्रक्रियेति भेदाः । शब्दब्रह्मेति नामसङ्कीर्तनमिति;

तेऽप्यतत्त्वज्ञाः; शब्दानुविद्धत्वस्य ज्ञानेष्वप्रतिभासनात् । तद्धि प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानेन वा ? प्रत्यक्षेण चेत्किमैन्द्रियेण, स्वसंवेदनेन वा ? न तावदैन्द्रियेण; इन्द्रियाणां रूपादिनियतत्वेन ज्ञानाविषयत्वात् । नापि स्वसंवेदनेन; अस्य शब्दागोचरत्वात् । अथार्थस्य तदनुविद्धत्वात् तदनुभवे ज्ञाने तदप्यनुभूयते इत्युच्यते; ननु किमिदं शब्दानुविद्धत्वं नाम-अर्थस्याभिन्नदेशे प्रतिभासः, तादात्म्य

शब्दब्रह्म रूप तत्त्व तो अनादिनिधन—आदिअन्तरहित है क्योंकि वह अविनश्वर है, वही शब्दब्रह्म घटपटादिरूप से परिणमता है, अतः जगत्में जितने पदार्थ हैं वे सब उसी शब्दब्रह्म के भेद प्रभेद हैं ।। ३ ।। यह शब्दब्रह्म अनादिनिधन इसलिये है कि उसमें उत्पाद विनाश नहीं होता, अकारादि अक्षरोंका वह निमित्त है, अतः अक्षर रूप भी उसे कहा गया है, इससे यह प्रकट किया गया है कि वह वाचक रूप है तथा वही अर्थरूप से परिणमन करता है, अतः वही वाच्यरूप है, यही जगत् की प्रक्रिया है अर्थात् प्रभेद भेद रूप जो ये जगत् है वह शब्दब्रह्ममय है ।

जैन—इस प्रकार से यह शब्दब्रह्म का प्रतिपादन तात्त्विक विवेक वालों के द्वारा नहीं हुआ है; किन्तु अतत्त्वज्ञों के द्वारा ही हुआ जानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान शब्दानुविद्ध हैं यह बात बुद्धि में उतरती नहीं है, ज्ञानों में शब्दानुविद्धता है" यह बात किस प्रमाण से आप प्रमाणित करते हैं ? क्या प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? यदि कहा जाय कि 'ज्ञानों में शब्दानुविद्धता प्रत्यक्ष से हम साबित करते हैं–तो पुनः प्रश्न होता है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से या स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ? इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो ज्ञानों में शब्दानुविद्धता को जान नहीं सकता, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति रूपादि नियत विषयों में होती है, ज्ञान में नहीं, रहा स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-सो यह शब्द के अगोचर है, अर्थात् अचेतनशब्द में स्वसंवेदनता का अभाव है ।

शब्दाद्वैतवादी—ठीक है प्रत्यक्ष "ज्ञान शब्द से अनुविद्ध है" इस बात को साक्षात् रूप से नहीं जानता है तो मत जावो-परन्तु पदार्थ में शब्दानुविद्धता है सो जब

वा ? तत्राद्यविकल्पोऽसमीचीनः; तद्रहितस्यैवार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात् । न हि तत्र यथा पुरोवस्थितो नीलादिः प्रतिभासते तथा तद्देशे शब्दोपि-श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे तत्प्रतिभासात् न चान्यदेशतयोपलभ्यमानोप्यन्यदेशोसौ युक्तः, अतिप्रसङ्गात् । नापि तादात्म्यम्; विभिन्नेन्द्रियजनितज्ञानग्राह्यत्वात् ।

ज्ञान पदार्थ को जानता है तब उसके अनुभव होने पर ज्ञान में भी शब्दानुविद्धता का प्रतिभास होता है ।

जैन—अच्छा हम आपसे अब यह पूछते हैं कि यह शब्दानुविद्धता क्या है ? क्या अर्थ-पदार्थ-का जो देश है-उसी देश में शब्द का प्रतिभास होना-अर्थात् जहां पदार्थ है वहीं पर शब्द है ऐसा प्रतिभास होना यह शब्दानुविद्धत्व है ? अथवा अर्थ और शब्द का तादात्म्य होना यह शब्दानुविद्धत्व है ? प्रथम पक्ष की अपेक्षा यदि शब्दानुविद्धत्व स्वीकार किया जावे तो वह संगत नहीं बैठता, क्योंकि प्रत्यक्ष से यही प्रतीति में आता है कि पदार्थ शब्द से अनुविद्ध नहीं है, अर्थात्-शब्द से रहित पदार्थ ही प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है, ऐसा कभी भी प्रतीत नहीं होता कि जिस स्थान पर नीलादि पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हों उसी स्थान पर तद्वाचक शब्द भी प्रतीति में आ रहा हो, शब्द की प्रतीति तो श्रोता के कर्ण कुहरप्रदेश में होती है, अतः ऐसा कहना कि अर्थदेश में शब्द की प्रतीति-प्रतिभास-होना शब्दानुविद्धता है सो न्यायानुकूल नहीं है-क्योंकि वाच्य और वाचक का देश भिन्न २ है, इसलिये वाच्यवाचक का देश अभिन्न मानना कथमपि संगत नहीं हो सकता; अन्यथा अतिप्रसंग दोष का सामना करना पड़ेगा। शब्द और अर्थ—तद्वाच्यपदार्थ—का तादात्म्य शब्दानुविद्धत्व है यदि ऐसा कहा जाये तो यह भी कहना युक्तिशून्य है, क्योंकि शब्द और अर्थ विभिन्न इन्द्रियों के विषय हैं, शब्द सिर्फ कर्णेन्द्रिय का विषय है। और अर्थ किसी भी अन्य इन्द्रिय ज्ञान का विषय हो सकता है, अतः भिन्न २ इन्द्रिय जनित ज्ञानों के द्वारा ग्राह्य होने से उस शब्द और अर्थ में भिन्नता ही सिद्ध होती है । अनुमान भी इसी बात की पुष्टि करता हुआ कहता है कि जिनका भिन्न २ इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है उनमें एकता नहीं होती, जैसे-कि रूप और रस में, ये दोनों भिन्न २ इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं अतः इनमें एकता नहीं है, इसी प्रकार नीलादि पदार्थ और शब्द हैं अतः इनमें भी एकता नहीं है। शब्दाकार से रहित नीलादि अर्थ का रूप चाक्षुष प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है और नीलादि अर्थ से रहित अकेला शब्द कर्णजन्यज्ञान से प्रतीत होता है, अतः इनमें एकता किस प्रकार से संभावित हो सकती है ?

यथोर्विभिन्नेन्द्रियजनितज्ञानग्राह्यत्वं न तयोरैक्यम् यथा रूपरसयो तथात्वं च नीलादिरूपशब्दयो-रिति । शब्दाकाररहितं हि नीलादिरूपं लोचनज्ञाने प्रतिभाति, तद्रहितस्तु शब्दः श्रोत्रज्ञाने इति कथं तयोरैक्यम् ? रूपमिदमित्यभिधानविशेषणरूपप्रतीतेस्तयोरैक्यम्; इत्यसत्; रूपमिदमिति ज्ञानेन हि

भावार्थ—शब्दाद्वैतवादी का कहना है कि जगत के संपूर्ण पदार्थ शब्दब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं यहां तक कि ज्ञान भी बिना शब्द के होता नहीं है, किन्तु जब इस उनकी मान्यता का तर्क संगत विचार किया जाता है तो उसका यथार्थ समाधान प्राप्त नहीं हो पाता, शब्द के साथ यदि ज्ञान का अविनाभाव या तादात्म्य सबंध माना जावे तो रूप रस आदि के ज्ञान जो बिना शब्द के प्रतीत होते रहते हैं वे कैसे प्रतीत हो सकेंगे, इसी तरह अर्थ का और शब्द का तादात्म्य मानना भी बुद्धि की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि शब्द के साथ जब उसका अर्थ रहता है तो अग्नि शब्द के उच्चारण करते ही जिह्वा का अग्नि द्वारा दाह हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा, और भोजन शब्द का उच्चारण करने पर क्षुधा की निवृत्ति हो जाने की बात माननी पड़ेगी, तथा शब्द कर्णेन्द्रिय के गोचर है और पदार्थ अन्यान्य इन्द्रियों के गोचर होता है, इसलिये पदार्थ और शब्द का तादात्म्य मानना कथमपि घटित नही होता है, इसी तरह ज्ञान भी शब्दमय नही बनता है ।

शब्दाद्वैतवादी—"यह रूप है" इस प्रकार के शब्दरूप विशेषण से ही रूपादि पदार्थ का ज्ञान होता है, इसलिये इनमें शब्द और रूपवाले पदार्थ में हम एकता मानते हैं, क्योंकि वह रूपवाला पदार्थ अपने वाचक शब्द से अभिन्न है जैसा कि रूप विशेषण से घट अभिन्न रहता है ।

जैन—यह कथन असत् है, "यह रूप है" इस प्रकार जो ज्ञान होता है वह ज्ञान ये पदार्थ वचनरूपता को धारण किये हुए हैं इस प्रकार से रूपादि पदार्थों को जानता है ? किं वा पदार्थ से भिन्न वाग्रूपता है इस प्रकार के विशेषण से समन्वित करके उन्हें जानता है ? मतलब–जब रूप को नेत्रजन्यज्ञान जानता है उसी समय शब्दरूप पदार्थ है ऐसा ज्ञान होता है ? या पदार्थ से शब्दरूप विशेषण भिन्न है इस रूप से ज्ञान होता है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है क्योंकि चाक्षुषज्ञान शब्द में प्रवृत्ति ही नहीं करता, कारण कि नेत्र का विषय शब्द नही है, जैसा कि उसका विषय रसादि नहीं है, यदि भिन्न विषयों में नेत्र इन्द्रिय की प्रवृत्ति होने लगे–तो फिर और अनेक इन्द्रियों को मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, एक ही कोई इन्द्रिय समस्त

वाग्रूपताप्रतिपन्नाः पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते, भिन्नवाग्रूपताविशेषणविशिष्टा वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; न हि लोचनविज्ञानं वाग्रूपतायां प्रवर्तते तस्यास्तदविषयत्वाद्रसादिवत्, अन्यथेन्द्रियान्तरपरिकल्पनावैयर्थ्यम् तस्यैवाशेषार्थग्राहकत्वप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षेपि अभिधानेऽप्रवर्तमानं शुद्धरूपमात्रविषयं

विषयों की ग्राहक बन जावेगी, दूसरा पक्ष—भी ठीक नहीं है, क्योंकि रूप को ग्रहण करनेवाला नेत्र ज्ञान यह पदार्थ शब्दरूप विशेषण वाला है यह नहीं जान सकता, कारण कि शब्द में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, वह केवल शुद्ध रूप मात्र को ही विषय करता है, रूप पदार्थ शब्द विशिष्ट है यह वह कैसे बता सकता है ? नेत्रजन्य ज्ञान से यदि ऐसा जाना जाता है कि पदार्थ शब्दरूप विशेषण से भिन्न है तो ऐसी मान्यता में पदार्थ के रूप का भी ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि उसने पदार्थ के विशेषणरूप शब्द को जाना नहीं है, जैसे कि दण्ड को नहीं जानने पर यह दण्ड वाला है यह कैसे जाना जा सकता है, यदि कहा जाय कि दूसरे ज्ञान में (कर्ण ज्ञान में) तो वह शब्द रूप के विशेषण रूप से प्रतीत होता है, अतः शब्द पदार्थ का विशेषण बन जाता है, सो ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि ऐसा मानने में तो उस शब्द और अर्थ में भेद ही सिद्ध होता है, यह अभी २ कहा ही जा चुका है कि जिनका भिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है वे पृथक् ही होते हैं, एक रूप नहीं होते ।

भावार्थ—शब्दाद्वैतवादी शब्द और उसके वाच्य अर्थों को परस्पर में अभिन्न मानता है, समस्त पदार्थ शब्दविशेषण से विशिष्ट ही हुआ करते हैं, क्योंकि इसी प्रकार से उनकी ज्ञान द्वारा प्रतीति होती है । तब प्रश्न होता है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष से उस शब्द विशेषण का ग्रहण क्यों नहीं होता ? जब नेत्र से पदार्थ के रूप-नीले पीले आदि वर्णों-का ग्रहण होता है उस समय उसी पदार्थ से अभिन्न रहने वाले शब्द का ग्रहण भी नेत्र ज्ञान द्वारा होना चाहिये, यदि नहीं होता है तब रूप का ज्ञान भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि विशेषण को जाने बिना विशेष्य का ज्ञान नहीं होता है, जैसे कि दण्ड विशेषण को जाने विना दण्डेवाला देवदत्त नहीं जाना जाता है, इत्यादि, मतलब इसका यही है कि विशेषण को यदि हम जानते हैं तब तो उस विशेषण वाले विशेष्य को समझ सकते हैं अन्यथा नहीं, अतः पदार्थ शब्दविशेषण से विशिष्ट ही होते हैं यह बात सिद्ध नहीं होती ।

शब्दाद्वैतवादी— शब्द से मिला हुआ पदार्थ स्मरण में आता है अतः हम उसे शब्द रूप मानते हैं ?

लोचनविज्ञानं कथं तद्विशिष्टतया स्वविषयमुद्योतयेत् ? न ह्यगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धि: दण्डाग्रहणे दण्डिवत् । न च ज्ञानान्तरे तस्य प्रतिभासाद्विशेषणत्वम्; तथा सति अनयोर्भेदसिद्धि: स्यादित्युक्तम् । अभिधानानुषक्तार्थस्मरणात्तथाविधार्थदर्शनसिद्धि:; इत्यप्यसारम्; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-तथाविधार्थदर्शनसिद्धौ वचनपरिकरितार्थस्मरणसिद्धि:, ततश्च तथाविधार्थदर्शनसिद्धिरिति ।

का चेयमर्थस्याभिधानानुषक्तता नाम-अर्थज्ञाने तत्प्रतिभास:, अर्थदेशे तद्वेदनं वा, तत्काले तत्प्रतिभासो वा ? न तावदाद्यो विकल्प:; लोचनाध्यक्षे शब्दस्याप्रतिभासनात् । नापि द्वितीय:; शब्दस्य श्रोत्रप्रदेशे निरस्तशब्दसन्निधीनां च रूपादीनां स्वप्रदेशे स्वविज्ञानेनानुभवात् । नापि तृतीय:; तुल्यकालस्याप्यभिधानस्य लोचनज्ञाने प्रतिभासाभावात्, भिन्नज्ञानवेद्यत्वे च भेदप्रसङ्ग इत्युक्तम् ।

जैन—यह कथन असार है, क्योंकि इस मान्यता में अन्योन्याश्रय दोष आता है, कारण कि शब्दरूप पदार्थ की प्रतीति होने पर वचन सहित पदार्थ है यह स्मरण में आवेगा और उसमें सिद्ध होने पर शब्दरूप पदार्थ का दर्शन होता है यह सिद्ध होगा ।

अच्छा— यह बताईये कि पदार्थ में अभिधानानुषक्तता क्या है ? अर्थज्ञान में उसका प्रतीत होना ? या अर्थ के स्थान पर ही उसका वेदन (अनुभवन) होना ? या अर्थज्ञान के समय ही शब्द का प्रतिभास होना ? इस प्रकार के इन तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प आंख के द्वारा होने वाले ज्ञान में शब्द प्रतीत नहीं होता है इसलिये सिद्ध नहीं होता । दूसरा विकल्प शब्द तो कान से सुनाई देता है और जिसमें शब्द बिलकुल नहीं है ऐसे रूपादिस्वरूप पदार्थ का अपने प्रदेश में चाक्षुषादि ज्ञान के द्वारा अनुभव होता है इसलिये संगत नहीं होता है, पदार्थ के साथ शब्द का प्रतिभास होता है ऐसा तीसरा पक्ष भी युक्तियुक्त नही है, क्योंकि नाम-(शब्द) और अर्थ तुल्यकाल में भले ही हों, किन्तु उस शब्द का नेत्रजज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है । अत: शब्द और रूपादिस्वरूप पदार्थ भिन्न २ हैं और वे भिन्न २ ज्ञानों के द्वारा जाने जाते हैं ।

दूसरी बात यह है कि यदि सर्वथा शब्द सहित पदार्थ ही प्रत्यक्षज्ञान में झलकते हैं ऐसा स्वीकार किया जावे तो बालक और मूकादिव्यक्ति को पदार्थदर्शन कैसे हो सकेगा क्योंकि वे तो शब्द नामादि को जानते नहीं हैं । तथा मन में घोड़े आदि का विचार करते हुए व्यक्ति को गौदर्शन भी कैसे संभव हो सकेगा, क्योंकि उस समय उस व्यक्ति के गोशब्द का उल्लेख तो पाया नही जाता, कारण उस समय उसके ज्ञान में तो वह झलक नहीं रहा है, वह तो घोड़े का विचार कर रहा है, यदि

कथं चैवंवादिनो । बालकादेरर्थदर्शनसिद्धिः, तत्राभिधानाप्रतीतेः, अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनं वा ? न हि तदा गोशब्दोल्लेखस्तज्ज्ञानस्यानुभूयते युगपद्वृत्तिद्वयानुत्पत्तेरिति । कथं वा वाग्रूपताऽवबोधस्य शाश्वती यतो 'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेत्' इत्याद्यवतिष्ठेत लोचनाध्यक्षे तत्संस्पर्शाभावात् ? न खलु श्रोत्रग्राह्यां वैखरीं वाचं तत् संस्पृशति तस्यास्तदविषयत्वात् । अन्तर्जल्परूपां मध्यमां वा; तामन्तरेणापि शुद्धसंविदोभावात् । संहृताशेषवर्णादिविभागानु(तु)पश्यन्ती,सूक्ष्मा चान्तर्ज्योतीरूपा वागेव न भवति; अनयोरर्थात्मदर्शनलक्षणत्वात् वाचस्तु वर्णपदाद्यनुक्रमलक्षणत्वात् । ततोऽयुक्तमेतत्तल्लक्षणप्रणयनम्—

"स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ।। १ ।।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ।
अविभागाऽनु(गा तु) पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ।। २ ।।

कहा जाय कि एक साथ दोनों-अश्व विकल्प और गोदर्शन हो रहे हैं तो ऐसी मान्यता में दोनों की असिद्धि होने की प्रसक्ति होवेगी, क्योंकि एक ही काल में दो वृत्तियां छद्मस्थ के हो नहीं सकती तथा— आपने जो ऐसा कहा है कि ज्ञान में वचनरूपता शाश्वती है, यदि इसका उल्लंघन किया जावेगा तो ज्ञानरूप प्रकाश हो नहीं सकेगा इत्यादि, सो ऐसा कथन सत्य कैसे हो सकता है क्योंकि नेत्रजन्य ज्ञान में तो शब्द का संसर्ग होता ही नहीं है, कर्ण के द्वारा ग्रहण योग्य वचन रूप वैखरी वाक् लोचन ज्ञान का स्पर्श करती ही नहीं है, क्योंकि वह उसका विषय नहीं है । अन्तर्जल्पवाली मध्यमा वाक् का भी उस नेत्र ज्ञान द्वारा स्पर्शित होना संभव नही, उस मध्यमावाक् के विना भी शुद्ध रूपादि का ज्ञान होता ही है, सपूर्ण वर्ण पद आदि विभागों से रहित पश्यन्ती वाक् तथा अन्तर्ज्योति रूप सूक्ष्मा वाक् तो वाणीरूप होती ही नहीं, क्योंकि उन दोनों–पश्यन्ती तथा सूक्ष्मा को आप शब्दाद्वैतवादी ने अर्थों एवं आत्मा का साक्षात् कराने वाली माना है, यदि उन सूक्ष्मा और पश्यन्ती वाक् में शब्द नहीं है तो वह वाक् नहीं कहलावेगी, क्योंकि वाक् तो पद, वाक्य रूप हुआ करती है, इसलिये आप शब्दाद्वैतवादी के यहां जो वैखरी आदि वाक् का लक्षण कहा गया है वह सब असत्य ठहरता है, तालु आदि स्थानों में वायु के फैलने पर वर्ण पद आदि रूप को जिसने ग्रहण किया है ऐसी वैखरी वाक् बोलने वाले के हृदयस्थ वायु से बनती है ।।१।। प्राणवायु को छोड़कर अन्तर्जल्परूप मध्यमा वाक्, और वर्णादि क्रम से रहित अविभाग रूप पश्यन्ती वाक् है ।।२।।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ।
तया व्याप्तं जगत्सर्वं ततः शब्दात्मकं जगत् ।। ३ ।।"
[ ] इत्यादि ।

अन्तरंग ज्योतिस्वरूप सूक्ष्मा वाक् है और यह शाश्वती है, उसी सूक्ष्म वाक् से सारा जगत् व्याप्त है, इसलिये विश्व शब्दमय कहा गया है ।। ३ ।।

इन उपर्युक्त तीन श्लोको द्वारा शब्दाद्वैतवादी ने जगत् को शब्दमय सिद्ध करने का प्रयास किया है सो यह प्रयास उसका इसलिये सफल नहीं होता है कि नेत्रज प्रत्यक्ष यह साक्षी नही देता है कि पदार्थ शब्द से अनुविद्ध है ।

भावार्थ—शब्दाद्वैतवादी के शब्द-वाग्-के चार भेद किये गये हैं–वैखरी १, मध्यमा २, पश्यन्ती ३, और सूक्ष्मा ४, वैखरी आदि चारों ही वाक् के सामान्य लक्षण उनकी मान्यता के अनुसार इस प्रकार से हैं—

वैखरी शब्दनिष्पत्ती मध्यमा श्रुतिगोचरा ।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ।।
—कुमार सं० टी० २ । १७

ककारादिवर्णरूप या अन्य ध्वनिरूप जो शब्दमात्र है, वह वैखरी वाक् है । कर्ण में प्रविष्ट होकर उसका विषय हुई वाक् मध्यमा वाक् है, केवल जो अर्थ को प्रकट करती है वह पश्यन्ती वाक् है, तथा शाश्वत रहने वाली अति सूक्ष्म वाक् सूक्ष्मावाक् है, इन चारों वाग् का विस्तृत विवेचन वाक्यपदी नामक शब्दाद्वैत ग्रन्थ में लिखा है । वर्ण, पद, वाक्य आदि जिसमें व्यवस्थित हैं, उच्चारण करने में जो आती है तथा दुंदुभी, वीणा, वांसुरी आदि वाद्यों की ध्वनि रूप जो हैं ऐसी अपरिमित भेद रूप वाणी वैखरी वाक् है, जो अन्तरंग में संकल्परूप से रहती है, तथा कर्ण के द्वारा ग्रहण करने योग्य व्यक्तवर्ण पद जिसमें समाप्त हो गये हैं ऐसी वह वाग् मध्यमावाक् है । यह वैखरी और पश्यन्ती के मध्य में रहती है इसलिये यह सार्थक नाम वाली मध्यमावाग् है । जो स्वप्रकाशरूप संवित् है कि जिसमें ग्राह्य पदार्थ का भेदक्रम नहीं है वह पश्यन्तीवाक् है । इसमें वाच्य वाचक का विभाग अवभासित नहीं होता है, इसके परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास, संसृष्टार्थप्रत्यवभास, और प्रशान्त-सर्वार्थप्रत्यवभास इत्यादि अनेक भेद हैं । अन्त.ज्योतिस्वरूप सूक्ष्मा वाक् दुर्लक्ष्य और काल के भेद के स्पर्श से रहित होने के कारण कभी नष्ट नही होती, जैन मान्यता

अनुमानात्तेषां तदनुविद्धत्वप्रतीतिरित्यपि मनोरथमात्रम्; तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । तत्सम्भवे वाऽध्यक्षादिबाधितपक्षनिर्देशानतरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वाच्च । अथ जगतः शब्दमयत्वात्तदुदरवर्तिनां प्रत्ययानां तन्मयत्वात्तदनुविद्धत्वं सिद्धमेवेत्यभिधीयते; तदप्यनुपपन्नमेव; तत्तन्मयत्वस्याध्यक्षादिबाधितत्वात्, पदवाक्यादितोऽन्यस्य गिरितरुपुरलतादेस्तदाकारपराङ्मुखेणैव सविकल्पकाध्यक्षेणात्यन्तं विशदतयोपलम्भात् । 'ये यदाकारपराङ्मुखास्ते परमार्थतोऽतन्मयाः यथा

के अनुसार भी शब्द के अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक तथा भाषात्मक और अभाषात्मक आदि अनेक भेद किये गये हैं। अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प ऐसे भी शब्द के दो भेद हुए हैं। उपर्युक्त शब्दाद्वैतवादी मान्य भेद कितनेक तो इसमें अन्तर्भूत हो सकते हैं। बाकी के भेद मात्र काल्पनिक सिद्ध होते है।

शब्दाद्वैत वादी का यह कथन तो सर्वथा असत्य है कि समस्त विश्व शब्दमय है, इसी शब्दाद्वैत का मार्तण्डकार अनेक सबल युक्तियों द्वारा निरसन करते हुए कह रहे हैं कि शब्दमय पदार्थ हैं तो नेत्र द्वारा उन पदार्थों को ग्रहण करते समय शब्द प्रतीति में क्यों नहीं आता है, तथा ऐसी मान्यता में बाल, मूकादि व्यक्ति को किस प्रकार वस्तुबोध हो सकेगा। "शब्दमय जगत् है" यदि ऐसी तुम्हारी बात मान भी ली जावे तो इस बात को सिद्ध करने के लिये प्रमाण भी तो चाहिये, प्रत्यक्षादि प्रमाण तो इस बात को सिद्ध करने वाले हैं नहीं, क्योंकि बिचारे प्रत्यक्ष की इतनी सामर्थ्य नहीं है जो वह शब्दमय जगत् की सिद्धि कर सके, यदि उनकी तरफ से ऐसा कहा जावे कि प्रत्यक्ष जगत् को शब्दमय सिद्ध नही कर सकता है, तो क्या अनुमान भी नहीं कर सकता है? अनुमान तो इस बात का साधक है सो इस पर मार्तण्डकार ने विशद विचार किया है।

तथा–ज्ञानों में जो अनुमान प्रमाण द्वारा शब्दानुविद्धत्व सिद्ध करने का प्रयास किया गया है वह सब केवल मनोरथरूप ही है, क्योंकि अविनाभावी हेतु के बिना अनुमान अपने साध्यका साधक नहीं होता है, यदि कोई हेतु संभव भी हो तो वह हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष से दूषित ही रहेगा, क्योंकि जिसका पक्ष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित होता है उसमें प्रयुक्त हुआ हेतु कालात्ययापदिष्ट दोषवाला कहा जाता है, जब नेत्रादि से होने वाले रूपादिज्ञान शब्दानुविद्ध नहीं हैं, फिर भी यदि सभी ज्ञानों को शब्दानुविद्ध ही सिद्ध किया जाता है तो वह प्रत्यक्षबाधित होगा ही।

शब्दाद्वैतवादी—समस्त विश्व शब्दमय ही है, अतः उस विश्व के भीतर रहने वाले ज्ञान भी शब्द स्वरूप ही होंगे, इस प्रकार से ज्ञानों में शब्दानुविद्धता सिद्ध हो जावेगी।

जलाकारविकलाः स्थासकोशकुशूलादयस्तस्त्वतो न तन्मयाः, परमार्थतस्तदाकारपराङ्मुखाश्च पद-वाक्यादितो व्यतिरिक्ता गिरितरुपुरलतादयः पदार्थाः' इत्यनुमानतोऽस्य तद्विधुर्यसिद्धेश्च ।

किंच, शब्दपरिणामरूपत्वाज्जगतः शब्दमयत्वं साध्यते, शब्दादुत्पत्तेर्वा ? न तावदाद्यः पक्षः; परिणामस्यैवात्रासम्भवात् । शब्दात्मकं हि ब्रह्म नीलादिरूपतां प्रतिपद्यमानं स्वाभाविकं शब्दरूपं परित्यज्य प्रतिपद्येत, अपरित्यज्य वा ? प्रथमपक्षे-अस्याऽनादिनिधनत्वविरोधः पौरस्त्यस्वभाव-विनाशात् । द्वितीय पक्षे तु-नीलादिसंवेदनकाले बधिरस्यापि शब्दसंवेदनप्रसङ्गो नीलादिवत्तदव्य-तिरेकात् । यत्खलु यदव्यतिरिक्तं तत्तस्मिन्संवेद्यमाने संवेद्यते यथा नीलादिसंवेदनावस्थायां तस्यैव नीलादेरात्मा, नीलाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्द इति । शब्दस्यासंवेदने वा नीलादेरप्यसंवेदनप्रसङ्गः तादा-

---

जैन—यह कथन तो आपका तब सिद्ध माना जावे कि जब विश्व में शब्द-मयता सिद्ध हो, विश्व में शब्दमयता तो प्रत्यक्ष से ही बाधित होती है, क्योंकि पद, वाक्य आदि से भिन्न ही गिरि, वृक्ष, पुर आदि जो पदार्थ हैं, वे शब्दाकार रहित हुए ही सविकल्पप्रत्यक्ष द्वारा अत्यन्त स्पष्ट रूपसे प्रतीति में आते हैं, देखो—जो जिस आकार से पराङ्मुख—पृथक—रूप में प्रतीत होते हैं वे यथार्थ में उनसे भिन्न ही होते हैं । जैसे जलाकार से रहित स्थास, कोश, कुशूलादि आदि पदार्थ, ये जलाकार से रहित होते हैं इसलिये जल से भिन्न होते हैं । तन्मय नहीं होते, इसी तरह गिरि आदि पदार्थ भी पद वाक्य आदि के आकार से पराङ्मुख हैं. अतः वे भी उनसे भिन्न हैं,—तन्मय नहीं हैं । ऐसे इस अनुमान के द्वारा पदार्थ शब्दानुविद्ध नहीं हैं—शब्दमय नहीं हैं—ये सिद्ध हो जाता है ।। तथा आप जो जगत् में शब्दमयता सिद्ध करते हो सो हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि जगत् शब्दका परिणाम है इसलिये उसमें शब्दमयता है ? या वह शब्द से उत्पन्न होता है इसलिये उसमें शब्दमयता है ? प्रथम पक्ष इसलिये मनो-रंजक नहीं हो सकता—अर्थात् वह इसलिये ठीक-न्याय संगत-नहीं माना जा सकता है कि शब्दब्रह्म में परिणाम होने की संगति साबित नहीं होती, अर्थात् सर्वथा नित्य उस शब्दब्रह्म में परिणाम-परिणमन-होना ही असंभव है । यदि आपके कहे अनुसार हम शब्दब्रह्म में इस प्रकार का परिणाम होना मान भी लें तो वहां यह जिज्ञासा जगती है कि वह शब्दब्रह्म जब जल नील आदि पदार्थरूप परिणमित होता है, उस समय वह अपने स्वाभाविक शब्दरूप का परित्याग कर उस रूप परिणमित होता है ? या बिना छोड़े ही वह उस रूप परिणमित होता है ? यदि वह अपने पूर्वस्वरूप को छोड़कर जलादिरूप परिणमित होता है तो उसमें अनादिनिधनता का अभाव प्रसक्त होता है,

त्स्याविशेषात्, अन्यथा विरुद्धधर्माध्यासात्तस्य ततो भेदप्रसङ्गः । न ह्येकस्यैकदा एकप्रतिपत्त्रपेक्षया ग्रहणमग्रहणं च युक्तम् । विरुद्धधर्माध्यासेप्यत्र भेदासंभवे हिमवद्विन्ध्यादिभेदानामप्यभेदानुषङ्गः । किंच, असौ शब्दात्मा परिणामं गच्छन्प्रतिपदार्थभेदं प्रतिपद्येत, न वा ? तत्राद्यविकल्पे-शब्दब्रह्मणो-ऽनेकत्वप्रसङ्गः, विभिन्नानेकार्थस्वभावात्मकत्वात्तत्स्वरूपवत् । द्वितीयविकल्पे तु-सर्वेषां नीलादीनां

क्योंकि इस स्थिति में उसके पूर्व स्वभाव का अभाव आता है । यदि इस दोष से बचने के लिये द्वितीय पक्ष का आश्रय लिया जाय तो नीलादिक पदार्थ के संवेदन कालमें वधिर पुरुष को भी उस नीलपदार्थगत शब्द का श्रवण होना चाहिये, क्योंकि वह नील पदार्थ शब्दमय है । यह नियम है कि जो जिससे अभिन्न होता है वह उसके संवेदन होते ही संविदित हो जाता है, जैसे कि वस्तुगत नीले रंग को जानते समय तदभिन्न नील पदार्थ भी जान लिया जाता है, नीलादिपदार्थ से आपके सिद्धान्तानुसार शब्द अभिन्न ही है, अतः वधिर पुरुष को नील पदार्थ जानते समय शब्द संवेदन अवश्य होना चाहिये । यदि शब्द का संवेदन नीलादिपदार्थ के संवेदन काल में वधिर को नहीं होता है तो नीलादि वर्ण का भी उसे संवेदन नहीं होना चाहिये । क्योंकि नील वस्तु के साथ नीलवर्ण के समान शब्द का भी तादात्म्य है, अन्यथा विरुद्ध दो धर्मों से युक्त होने से उस शब्दब्रह्म को उस नीलपदार्थ से भिन्न मानना पड़ेगा, कारण— नीलादिपदार्थ के संवेदन कालमें उसका तो संवेदन होता है और शब्द का नहीं, इस तरह एक ही वस्तु का एक ही काल में एक ही प्रतिपत्ता की अपेक्षा ग्रहण और अग्रहण मानना उसमें विरुद्ध धर्मों की अध्यासता का साधक होता है, अतः नीलादि पदार्थ शब्दमय हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता है, विरुद्ध दो धर्मों से युक्त हुए भी नील पदार्थ और "नील" इस प्रकार के तद्वाचक दो अक्षरवाले नीलशब्द में भेद नहीं माना जावे तो फिर हिमाचल और विंध्याचल आदि भिन्न पदार्थों में भी अभेद मानने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा ।

किंच—हम आपसे यह और पूछते हैं कि शब्दब्रह्म उत्पत्ति और विनाशरूप परिणमन करता हुआ क्या प्रत्येक पदार्थरूप भेद को प्राप्त करता है या कि नहीं करता है ? यदि वह शब्दब्रह्म जितने भी पदार्थ हैं उतने रूप वह होता है तो शब्द ब्रह्म में अनेकता का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि इस स्थिति में वह नील पीत आदि भिन्न २ अनेक स्वभावरूप परिणमित हुआ माना जायगा, जैसे कि विभिन्न अर्थों के स्वरूप अनेक माने जाते हैं । यदि द्वितीय पक्ष की अपेक्षा लेकर ऐसा कहा जावे कि

देशकालस्वभावव्यापारावस्थादिभेदाभावः प्रतिभासभेदाभावश्चानुषज्येत-एकस्वभावाच्छब्दब्रह्मणोऽभिन्नत्वात्तत्स्वरूपवत् । तन्नशब्दपरिणामरूपत्वाज्जगतः शब्दमयत्वम् ।

नापि शब्दादुत्पत्तेः, तस्य नित्यत्वेनाविकारित्वात्, क्रमेण कार्योत्पादविरोधात् सकलकार्याणां युगपदेवोत्पत्तिः स्यात् । कारणवैकल्याद्धि कार्याणि विलम्बन्ते नान्यथा । तच्चेदविकलकिमपरं तैरपेक्ष्यं येन युगपन्न भवेयुः ? किंच, अपरापरकार्यग्रामोऽतोऽर्थान्तरम्, अनर्थान्तरं वोत्पद्येत ? तत्रा-

---

"एक ब्रह्म जब अनेक पदार्थरूप परिणमित होता है तब वह प्रत्येक पदार्थके रूपसे भेदपने को प्राप्त नहीं होता है," सो ऐसा मानना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि नील, पीत, जड़, चेतन आदि जितने भी पदार्थ है, इस मान्यता के अनुसार उनमें सबमें अभेद आ जाने के कारण देशभेद, कालभेद, स्वभावभेद, क्रियाभेद और अवस्था भेद नहीं रहेंगे ।

भावार्थ—सारा विश्व शब्दब्रह्म से निर्मित है, शब्दब्रह्म ही पदार्थ रूप परिणमन कर जाता है ऐसा माना जाय तो प्रश्न होता है कि एक अखंड शब्द ब्रह्म घट, पट, देवदत्त आदिरूप परिणमन करता है सो प्रत्येक पदार्थ रूप भिन्न भिन्न होता है या नहीं ? होता है तो एक शब्द ब्रह्म कहां रहा ? वह तो अनेक हो गया ? यदि नाना पदार्थ रूप नहीं होता तो यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला देशादिभेद समाप्त होगा । किन्तु देश भेद आदिसे वस्तुओंमें विभिन्नता उपलब्ध हो रही है—यह वस्त्र कौशांबीका है और यह उज्जैनका इत्यादि देशनिमित्तक वस्तु भेद, यह बालक दो वर्षीय है और यह दस वर्षीय इत्यादि काल निमित्तक वस्तु भेद, यह शीतल जल है और यह उष्ण अग्नि है इत्यादि स्वभावनिमित्तक वस्तुभेद, देवदत्त ग्राम जाता है, गोपाल गाय को दुहता है इत्यादि क्रिया निमित्तक भेद तथा यह वस्त्र जीर्ण हुआ और यह नया है इत्यादि अवस्था निमित्तक वस्तु भेद साक्षात् दिखायी दे रहा है अतः शब्द ब्रह्म विश्वरूप परिणमता हुआ भी प्रत्येक पदार्थ रूप नहीं होता है ऐसा कहना असत्य ठहरता है । तथा प्रतिभासों में भिन्नता का अभाव भी प्रसक्त होता है, जैसा कि शब्दब्रह्म का स्वरूप शब्दब्रह्म से अभिन्न होने के कारण उसमें भेद का अभाव माना गया है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म से अभिन्न हुए नीलादिपदार्थों में भिन्नता-अनेकता-कथमपि नहीं आ सकती, अतः ऐसा मानना कि शब्दब्रह्म का परिणाम होनेसे जगत् शब्दमय है सर्वथा असत्य-न्यायसंगत नहीं है । द्वितीय पक्ष जो ऐसा कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति शब्दब्रह्म से होती है, अतः वह शब्दमय है-सो ऐसा कहना भी न्याय की

र्थान्तरस्योत्पत्तौ–कथं 'शब्दब्रह्मविवर्तमर्थरूपेण इति घटते। न ह्यर्थान्तरस्योत्पादे अन्यस्य तत्स्वभावमनाश्रयतः ताद्रूप्येण विवर्तो युक्तः। तदनर्थान्तरस्य तूत्पत्तौ-तस्यानादिनिधनत्वविरोधः।

ननु परमार्थतोऽनादिनिधनेऽभिन्नस्वभावेपि शब्दब्रह्मणि अविद्यातिमिरोपहतो जनः प्रादुर्भावविनाशवत् कार्यभेदेन विचित्रमिव मन्यते। तदुक्तम्–

कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। क्योंकि शब्दब्रह्म नित्य है, जो सर्वथा नित्य होता है उसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं हो सकता।

तथा इस प्रकार की मान्यता में ऐसी भी जिज्ञासा हो सकती है कि नित्य-वस्तु के द्वारा जो कार्य उत्पन्न होता है वह क्रम २ से उत्पन्न नहीं होगा, प्रत्युत उसके द्वारा तो समस्त ही कार्य एक साथ ही उत्पन्न हो जावेंगे, क्योंकि समर्थ कारण के न होने से ही कार्यों की उत्पत्ति में विलंब हुआ करता है, उसके सद्भाव में नहीं, जब समर्थ कारण स्वरूप शब्दब्रह्म मौजूद है तो फिर कार्यों को अपनी उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा क्यों करनी पड़ेगी कि जिससे वे सब के सब एक साथ उत्पन्न न होंगे, अर्थात् अपना समर्थ–अविकल कारण मिलने पर एक साथ समस्त कार्य उत्पन्न हो ही जाते हैं।

किञ्च—जगत् में जो पृथक् २ घट पट आदि कार्योंका समूह दिखाई देता है वह शब्दब्रह्म से भिन्न स्वरूपवाला होकर उत्पन्न होता है? या अभिन्न स्वरूपवाला होकर उत्पन्न होता है? यदि घट पटादि पदार्थ उससे भिन्न रूप में होकर उत्पन्न होते हैं तो फिर जो ऐसा कहा गया है कि—"शब्दब्रह्मविवर्तमर्थरूपेण" शब्दब्रह्म की ही यह अर्थरूप पर्याय है—यह कैसे घटित होगा, अर्थात् नहीं होगा। शब्दब्रह्म से जब घट पटादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और वे जब उसके स्वभाव का आश्रय नहीं लेते हैं तो उनकी उत्पत्ति शब्दब्रह्म से हुई है, अतः वे शब्दब्रह्म की पर्याय हैं यह कैसे युक्तियुक्त हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहो कि घट पटादि जो पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं वे उससे अभिन्नस्वरूप वाले होकर ही उससे उत्पन्न होते हैं, तो इस प्रकार के कथन में सबसे बड़ी आपत्ति का आपको सामना करना पड़ेगा, क्योंकि शब्द ब्रह्म में अनादि निधनता समाप्त हो जावेगी, और वह इस प्रकार से—कि जो पदार्थ उससे उत्पन्न हुए हैं वे तो उत्पाद विनाश स्वभाव वाले होते हैं उनसे शब्दब्रह्म अभिन्न है, अतः उत्पाद विनाश धर्मवाले पदार्थों से उसकी एकतानता हो जाने के कारण उसकी अनादि निधनता सुरक्षित नहीं रह सकती, वह समाप्त हो जाती है।

"यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ।।

[बृहदा० भा० वा० ३।५।४३]

तथेदममलं ब्रह्मनिर्विकारमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति" ।।

[बृहदा० भा० वा० ३।५।४४] इति ।

तदप्यसाम्प्रतम्; अत्रार्थे प्रमाणाभावात् । न खलु यथोपवर्णितस्वरूपं शब्दब्रह्म प्रत्यक्षतः प्रतीयते, सर्वदा प्रतिनियतार्थस्वरूपग्राहकत्वेनैवास्य प्रतीतेः । यच्च-अभ्युदयनिश्रेयसफलधर्मानुगृहीतान्तःकरणा

शब्दाद्वैतवादी—यथार्थतः शब्दब्रह्म तो अनादि निधन ही है, उसके स्वभावमें किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है फिर भी अविद्यारूपी अंधकार से युक्त प्राणी उस शब्द रूप ब्रह्म को उत्पत्ति और विनाश की तरह कार्यों के भेद से नानारूप वाला मानता है, कहा भी है–"यथा विशुद्धमप्याकाशं इत्यादि" जैसे विशुद्ध आकाश को आंख का रोगी अनेक वर्णवाली रेखाओं से धूसर देखता है ।। १ ।। उसी प्रकार निर्मल, निर्विकार शब्दब्रह्म को अविद्या के कारण जन अनेक भेदरूप देखता है, ऐसा बृहदारण्यकभाष्य में कहा है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि ऐसे कथन में प्रमाण का अभाव है, जैसा आपके सिद्धान्तमें वर्णित ब्रह्म का स्वरूप है वह किसी भी प्रमाण से प्रतीत नहीं होता है, इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण की जो प्रवृत्ति होती है वह तो समक्ष उपस्थित हुए अपने नियत विषय में ही होती है, शब्दब्रह्म ऐसा है नहीं, फिर उसमें उसकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, यदि ऐसा कहा जावे कि भले ही हम अल्पज्ञजनों के प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति शब्दब्रह्म के साक्षात्कार करने में न हो तो कोई बात नहीं, पर जिनका अन्तःकरण अभ्युदय एवं निःश्रेयस फल वाले धर्म से अनुगृहीत है ऐसे वे योगीजन तो उसे साक्षात् देखते हैं, सो ऐसा कथन भी सदोष है–कहना मात्र ही है–कारण कि शब्दब्रह्म के सिवाय और कोई उससे भिन्न योगिजन वास्तविकरूप से हैं ही नहीं; कि जिससे वे उसे साक्षात् देखते हैं ऐसा आपका मन्तव्य मान्य हो सके । तथा वे योगी उसे देखें भी तब जब कि उनके ज्ञान में शब्दब्रह्म का व्यापार हो, परन्तु पूर्वोक्तप्रकार से कार्य में शब्दब्रह्म का व्यापार ही घटित नहीं होता, तथा ऐसा जो कहा गया है कि

योगिन एव तत्पश्यन्तीत्युक्तम्; तदप्युक्तिमात्रम्; न हि तद्व्यतिरेकेणान्ये योगिनो वस्तुभूताः सन्ति येन 'ते पश्यन्ति' इत्युच्येत। यदि च तज्ज्ञाने तस्य व्यापारः स्यात्तदा 'योगिनस्तस्य रूपं पश्यन्ति' इति स्यात्। यावतोक्तप्रकारेण कार्ये व्यापार एवास्य न संगच्छते। अविद्यायाश्च तद्व्यतिरेकेणासंभवात्कथं भेदप्रतिभासहेतुत्वम्? आकाशे च वितथप्रतिभासहेतुभूतं वास्तवमेवास्ति तिमिरम् इति न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः (साम्यम्)।

नाप्यनुमानतस्तत्प्रतिपत्तिः; अनुमानं हि कार्यलिङ्गं वा भवेत्, स्वभावादिलिङ्गं वा? अनुपलब्धेर्विधिसाधिकत्वेनानभ्युपगमात्। तत्र न तावत्कार्यलिङ्गम्; नित्यैकस्वभावात्ततः कार्योत्पत्तिप्रति-

---

अविद्या के कारण जन उस शब्दब्रह्म को भेद रूपवाला देखता है—सो शब्दब्रह्म के सिवाय अविद्या का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, तो फिर वह भेद प्रतीति का कारण कैसे बन सकती है, आकाश दृष्टान्त भी यहां जचता नहीं, क्योंकि आकाश में असत् प्रतिभास का कारण जो तिमिर है वह तो वास्तविक वस्तु है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में—तिमिर और अविद्या में—समानता नहीं है।

अनुमान के द्वारा भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि जिस अनुमान से आप शब्दब्रह्म की सिद्धि करना चाहते हो वह कार्यलिङ्ग वाला अनुमान है? या स्वभाव आदि लिङ्गवाला अनुमान है, अर्थात् जिस अनुमान से आप शब्दब्रह्म की सिद्धि करोगे उसमें हेतु कार्यरूप होगा? या स्वभावादिरूप होगा? अनुपलब्धिरूप हेतु तो हो नहीं सकता, क्योंकि आपके यहां उसे विधि साधक माना नहीं गया है, अब यहां यदि ऐसा कहा जावे कि कार्य हेतुवाला अनुमान शब्दब्रह्म का साधक हो जावेगा- तो वह यहां बनता नहीं है, क्योंकि नित्य एक स्वभाव वाले उस शब्दब्रह्म से घट-पटादि कार्यों की उत्पत्ति होनेका प्रतिषेध ही कर दिया है, अतः जब उसका कोई कार्य ही नहीं है तो हेतुकोटि में उसे कैसे रखा जावे-हां उसका कोई कार्य होता तो उसे हेतुकोटि में रखा जा सकता और कार्यलिङ्गक उस अनुमान से शब्दब्रह्म की सिद्धि करते, मतलब इसका यह है कि नित्य शब्दब्रह्म के द्वारा क्रम से या एक साथ अक्रम से—दोनों प्रकार से अर्थक्रिया-कार्यकी निष्पत्ति हो नहीं सकती है, स्वभाव हेतुवाला अनुमान भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं करता है, क्योंकि अभी तो धर्मी रूप शब्दब्रह्म ही असिद्ध है, धर्मी के असिद्ध होनेपर उसका स्वभावभूत धर्म स्वतंत्र रूप से सिद्ध नहीं हो सकता।

षेधात्, क्रमयौगपद्याभ्यां तस्यार्थक्रियारोधात्। नापि स्वभावलिङ्गम्; शब्दब्रह्माख्यधर्मिण एवासिद्धेः। न ह्यसिद्धे धर्मिणि तत्स्वभावभूतो धर्मः स्वातन्त्र्येण सिद्धयेत्।

यच्चोच्यते-"ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मया यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्विकारा मृदाकारानुगता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धाः, शब्दाकारानुस्यूताश्च सर्व भावा इति'; तदप्युक्तिमात्रम्; शब्दाकारान्वितत्वस्यासिद्धेः। प्रत्यक्षेण हि नीलादिकं प्रतिपद्यमानोऽनाविष्टाभिलापमेव प्रतिपत्ता प्रतिपद्यते। कल्पितत्वा-

---

तथा-आपका जो ऐसा आनुमानिक कथन है कि-'ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मया यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्विकारा मृदाकारानुगता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धाः, शब्दाकारानुस्यूताश्च सर्वे भावा इति'' जो जिस आकार से अनुस्यूत रहते हैं वे तन्मय होते हैं-उसी स्वरूप होते हैं-जैसे मिट्टी के विकाररूप घट, सकोरा, उदंचन आदि मिट्टी के आकार के अनुगत होते हैं अतः वे तन्मय-मिट्टी रूप ही होते हैं। वैसे ही शब्दाकार से अनुगत सभी पदार्थ हैं अतः वे शब्दमय हैं। सो ऐसा यह आनुमानिक कथन भी सदोष है, क्योंकि यहां "शब्दाकारान्वित" हेतु असिद्ध है-अर्थात् पदार्थ शब्दाकार से अन्वित हैं ऐसा कथन सिद्ध नहीं होता है, नीलादिक पदार्थ को जानने की इच्छा वाला व्यक्ति जब प्रत्यक्ष के द्वारा उन्हें जानता है तो वे शब्द रहित ही उसके द्वारा जाने जाते हैं-शब्द सहित नहीं। तथा पदार्थों में शब्दान्वितपना पदार्थों में है यह मान्यता केवल स्वकपोलकल्पित होने से भी असिद्ध है, यह कल्पित इसलिये है कि पदार्थो का स्वरूप शब्दों से अन्वित नहीं है, परन्तु फिर भी तुमने वे शब्दों से अन्वित हैं इस रूपसे उन्हें कल्पित किया है, इसलिये कल्पित इस शब्दान्वितत्वरूप हेतु के द्वारा शब्दब्रह्म कैसे सिद्ध हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता, तथा-घटादिरूप जो दृष्टान्त दिया है वह भी साध्य और साधन से विकल है, क्योंकि उनमें सर्वथा एकमयत्व और एकान्वितत्व की असिद्धि है, जितने भी पदार्थ हैं वे सब समान और असमान दोनों ही रूप से परिणत होनेके कारण परमार्थतः एक रूपता से अन्वित नहीं हैं। तथा पदार्थ यदि शब्दमय ही होते तो घट इसप्रकार का शब्द सुनते ही उस व्यक्ति को संकेत के बिना ही घट का ग्रहण हो जाना चाहिये था और उसमें उसे संदेह भी नहीं रहना चाहिये था, क्योंकि शब्द के सुनने मात्र से ही नीलादि पदार्थ उसे प्रतीत ही हो जायेंगे, यदि वे उसके उच्चारण करने पर प्रतीत नहीं होते तो फिर दोनों में शब्द और अर्थ में तादात्म्य कहां रहा, तथा-एक बात यह भी होगी-कि शब्दमय पदार्थ मानने पर अग्नि शब्द सुनते ही कानों को जल जानेका और पाषाण शब्द सुनते ही

न्वास्याऽसिद्धिः। शब्दान्वितरूपाधारार्थासत्त्वेपि हि ते तदन्वितत्वेन त्वया कल्प्यन्ते । तथाभूताच्च हेतोः कथं पारमार्थिकं शब्दब्रह्म सिद्धयेत् ? साध्यसाधनविकलश्च दृष्टान्तो घटादीनामपि सर्वथैकमयत्वस्यैकान्वितत्वस्य चासिद्धेः। न खलु भावानां परमार्थेनैकरूपानुगमोस्ति, सर्वार्थानां समानाऽसमानपरिणामात्मकत्वात् किंच, शब्दात्मकत्वेऽर्थानाम् शब्दप्रतीतौ सङ्केताग्राहिणोप्यर्थे सन्देहो न स्यात्तद्वत्तस्यापि प्रतीतत्वात्, अन्यथा तादात्म्यविरोधः । अग्निपाषाणादिशब्दश्रवणाच्च श्रोत्रस्य दाहाभिघातादिप्रसङ्गः। तन्नानुमानतोपि तत्प्रतीतिः ।

कानों में चोट लगजाने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि उन शब्दों से पदार्थ अभिन्न है, यदि ऐसा नहीं होता तो मानना चाहिये कि शब्द और अर्थ का तादात्म्य नहीं है, इसलिये अनुमान से भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती और न उसकी प्रतीति ही होती है।

भावार्थ—शब्दाद्वैतवादी का यह हठाग्रह है कि समस्त पदार्थ शब्दमय ही हैं, जैसे कि मिट्टी से बने हुए घटादि पदार्थ मिट्टीमय ही होते है, परन्तु ऐसा यह कथन इनका न्याय संगत सिद्ध नहीं होता, प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जब विश्व के पदार्थ शब्दमय प्रतीत नहीं होते तो फिर उन्हें शब्दमय अनुमान के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करना केवल यह दुस्साहस जैसा ही है, यदि शब्दमय पदार्थ होते तो जिस व्यक्ति को 'घट शब्द का वाच्य कंबुग्रीवादिमान् पदार्थ होता है" ऐसा संकेत नहीं मालूम है उसे भी घट शब्द के सुनते ही उसका बोध होजाना चाहिये, परन्तु संकेत ग्रहण किये बिना शब्द श्रवण मात्र से तद्वाच्यार्थ की प्रतीति नहीं होती, जब किसी अन्य देशका व्यक्ति किसी दूसरे देश में पहुँचता है तो उसको उस देश के नामों के साथ उस पदार्थ का संकेत नहीं होने से उस उस शब्द के सुनने पर भी उन उन शब्दों के वाच्यार्थ का बोध नहीं होता है, जैसे उत्तरीय पुरुष जब दक्षिण देश में पहुंचता है तो उसे यह पता नहीं चलता है कि "हालु मोसरू, मजिगे" ये शब्द किन २ वाच्यार्थ के कथक हैं, तथा यदि ऐसा ही माना जावे कि शब्दमय ही पदार्थ है तो मुखसे जब "अग्नि" इस प्रकार का शब्द निकलता है तो उसके निकलने से मुख और सुनने वाले के कानों को दग्ध हो जाने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । और क्षुरा शब्द उच्चरित होने पर मुख के कट जाने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । इसी तरह मोदक शब्द के सुनने वाले के उदर की पूर्ति हो जानेका प्रसङ्ग प्राप्त होता है । किन्तु ये सब कार्य उन २ शब्दों के उच्चरित होने पर

माप्यागमात्, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [मैत्र्यु०] इत्याद्यागमस्य ब्रह्मणोऽर्थान्तरभावे-द्वैतप्रसङ्गात्, अनर्थान्तरभावे तु-तद्वदागमस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गः । तदेवं शब्दब्रह्मणोऽसिद्धेर्न शब्दानुविद्धत्वं सविकल्पकलक्षणं किन्तु समारोपविरोधिग्रहणमिति प्रतिपत्तव्यम् ।

होते हुए जगत में देखे नहीं जाते अतः इससे यही निश्चय होता है कि शब्दमय संसार नहीं है, संसार तो भिन्न भिन्न चेतन अचेतन स्वभाव वाला है ।

आगम के द्वारा भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि जो आगम वाक्य हैं वे यदि उस शब्दब्रह्म से अर्थान्तरभूत हैं तो द्वैतकी प्रसक्ति आती है और यदि वे शब्दब्रह्म से अनर्थान्तरभूत हैं-अभिन्न हैं तो इस पक्षमें शब्दब्रह्म की तरह उन आगम वाक्यों की भी सिद्धि नहीं होती है । अतः शब्दब्रह्म की सिद्धि के अभाव में ज्ञानमें शब्दानुविद्धत्व होना यही उसमें सविकल्पकता है यह कथन सर्वथा गलत ठहरता है । ज्ञानमें यही सविकल्पकता है कि समारोप से रहित होकर उसके द्वारा वस्तु का ग्रहण होना इस प्रकार सविकल्प प्रमाण की सिद्धि में प्रसंगवश आये हुए शब्दाद्वैत का निरसन टीकाकार ने किया है ।

* शब्दाद्वैत का निरसन समाप्त *

*

शब्दाद्वैत के निरसन का सारांश

शब्दाद्वैत को स्वीकार करने वाले अद्वैतवादियों में भर्तृहरिजी हैं । इनका ऐसा कहना है कि ज्ञान को जैन आदिकों ने जो सविकल्प माना है उसका अर्थ यही निकलता है कि ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही अपने ग्राह्यपदार्थ का निश्चय कराता है, तात्पर्य कहने का यही है कि जितने भी ज्ञान हैं वे सब शब्द के बिना नहीं होते, शब्दानुविद्ध होकर ही होते हैं । पदार्थ भी शब्दब्रह्म की ही पर्याय हैं । शब्द-वाग्-के चार भेद इनके यहां माने गये हैं । जो इस प्रकार से हैं—(१) वैखरी वाक्, (२) मध्यमा वाक्, (३) पश्यन्ती वाक् और (४) सूक्ष्मा वाक् । कहा भी है—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिः मध्यमा श्रुतिगोचरा ।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥१॥

वक्ता के कण्ठ, तालु आदि स्थानों में प्राणवायु की सहायता से जो ककारादि वर्ण या स्वर उत्पन्न होते हैं—व्यक्त होते हैं वह वैखरीवाक् है, अन्तरङ्ग में जो जल्परूपवाक् है वह मध्यमावाक् है। यह वैखरी और पश्यन्ती के बीच में होती है, अतः उसे मध्यमा कहा गया है, जिसमें ग्राह्य भेद का क्रम नहीं होता अर्थात् ककारादि के क्रम से जो रहित होती है—केवल ज्ञानरूप जो है—ग्राह्यग्राहक, वाच्य वाचक का विभाग जिसमें प्रतीत नहीं होता वह पश्यन्ती वाक् है, सूक्ष्मावाक् ज्योतिः स्वरूप है, इसमें अत्यन्त दुर्लक्ष्य कालादि का भेद नहीं होता, इसी सूक्ष्मावाक् से समस्त विश्व व्याप्त है, यदि ज्ञान में वाक्रूपता की अनुविद्धता न हो तो वह अपना प्रकाश ही नहीं कर सकता, शब्द ब्रह्म तो अनादिनिधन है और अक्षरादि सब उसके विवर्त्त हैं, विश्व के समस्त पदार्थ उसी शब्द ब्रह्म की पर्यायें हैं।

इस प्रकार का मन्तव्य शब्दाद्वैतवादी का है, इस पर युक्तिपूर्वक गहरा विचार करते हुए मार्तण्डकार श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है कि शब्दानुविद्ध होकर ही यदि ज्ञान हो तो नेत्रादि के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें शब्दानुविद्धता होनी चाहिये, क्यों नहीं होती ? कर्णजन्यज्ञान को छोड़कर शब्दानुविद्धता और किसी ज्ञान में नहीं पाई जाती है, ऐसा ही प्रतीति में आता है।

हम आपसे यह पूछते हैं कि ज्ञानकी यह शब्दानुविद्धता किस प्रमाण से जानी जाती है ? क्या प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? यदि प्रत्यक्ष से जानी जाती है ऐसा आप कहो तो वह कौनसा प्रत्यक्ष है—इन्द्रियप्रत्यक्ष है या स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष की तो यह ज्ञानगत शब्दानुविद्धता विषय होती नहीं है, क्योंकि नेत्र से जो नीलादिपदार्थ का प्रतिभास होता है वह शब्दानुविद्ध नहीं होता, वह तो शब्दरहित ही होता है स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय शब्द है नही अतः इससे भी वह वहां सिद्ध नहीं होती है, अतः जब ज्ञान में शब्दानुविद्धता सिद्ध नहीं हुई तब शब्दाद्वैतवादी उसे अर्थगत मानने लग जाते हैं, किन्तु वह भी सिद्ध नहीं होती, इसकी सिद्धि तो तब ही हो सकती है कि जब पदार्थ का देश और शब्द का देश एक हो, किन्तु ऐसा अभिन्नपना है नहीं, यदि ऐसा होता तो अग्नि आदि शब्द का उच्चारण करते ही उच्चारणकर्त्ता का मुख और श्रवणकर्त्ता के कान जलने लग जाते, क्योंकि वह अग्निशब्द अग्निपदार्थ रूप जो अपना वाच्य है उसके साथ ही अविनाभावी है, वह उस सहित ही है, ऐसा आपका सिद्धान्त है, जब कि पदार्थ और शब्द भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा विषयभूत किये जाते हैं, तब शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध ही नहीं होता है, इसी तरह जगत् शब्दमय है यह कथन भी प्रत्यक्ष से बाधित होता है,

यदि शब्दब्रह्म का परिणाम जगत् माना जावेगा तब तो ऐसी आशंका होना स्वाभाविक हो जाता है, कि शब्दब्रह्म जब जगतरूप परिणमित होता है तब वह अपने स्वरूप को छोड़कर जगतरूप में परिणमित होता है या नहीं छोड़कर परिणमित होता है ? यदि अपने स्वरूप को छोड़कर वह जगत् रूपसे परिणमित होता है तो सोचो फिर उसमें अनादि निधनता कहां रही, यदि स्वरूपको नहीं छोड़कर वह जगतरूपमें परिणमित होता है तो पदार्थ शब्दब्रह्ममय होनेसे बहिरे को भी शब्दश्रवण–शब्द का सुनना होना चाहिये, क्योंकि वह शब्द से तन्मय हुए पदार्थ को देखता जानता तो है ही ।

इसी तरह जगत को जब शब्दब्रह्म का विवर्त माना जाता है—तब वह जगत रूप विवर्त–पर्याय यदि उससे भिन्न हुई मानी जावेगी तो द्वैतापत्ति आनेसे अद्वैत की समाप्ति हो जावेगी, यदि इस आपत्ति से बचनेके लिये शब्दाद्वैतवादी ऐसा कहें कि है तो वास्तव में अद्वैत ही; परन्तु जो शब्दब्रह्म से भिन्न नानारूप पदार्थ दिखते हैं उसमें अविद्या कारण है, अविद्या के प्रभाव से ही ये नानारूपता पदार्थ माला में दिखती है, यदि ऐसा न होता तो जो योगी जन हैं उन्हें भी यह नानारूपता पदार्थों में दिखनी चाहिये–पर वे तो एक शब्दब्रह्म का ही दर्शन करते हैं सो ऐसा कहना स्वयं के सिद्धान्त का घातक बनता है, क्योंकि ऐसा यह कथन द्वैत का ही साधक बनता है, क्योंकि वहां भी तो यही प्रश्न हो सकता है कि क्या वह अविद्या ब्रह्म से भिन्न है ? यदि है तो द्वैत सिद्ध होता है, एक शब्दब्रह्म और दूसरी अविद्या द्वैत का अर्थ भी तो यही है कि "द्वाभ्यामितंद्वैतं"— । शब्दमय पदार्थ के मानने पर आपको यह सोचना होगा कि गिरि जैसा छोटा शब्द पहाड़ जैसे विशाल का वाचक कैसे हो सकेगा, और उस पहाड़ में अपनी विशालता को छोड़ "गिरि शब्द" जैसी अल्पता के आ जाने की भी आपत्ति क्यों नहीं आवेगी ।

यदि शब्दमय पदार्थ होता तो विचारिये–नारिकेल द्वीप निवासी व्यक्तिको शब्दसंकेत ग्रहण किये बिना ही "घट" शब्द कम्बुग्रीवादिमान् घट का वाचक होता है ऐसा अर्थ बोध क्यों नहीं हो जावेगा, फिर सङ्केत ग्रहण के वश से ही शब्दादिक वस्तु की प्रतिपत्ति में हेतुभूत होते हैं यह सर्वमान्य सिद्धान्त अपरमार्थभूत हो जावेगा, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित होने के कारण यह आपका शब्दाद्वैत सिद्धान्त प्रमाण भूत सिद्ध नही होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि न तो जगत् शब्दमय है और न ज्ञान ही शब्दमय है ।

* शब्दाद्वैत के निरसन का सारांश समाप्त *

संशयस्वरूपसिद्धिः

ननु व्यवसायात्मकविज्ञानस्य प्रामाण्ये निखिलं तदात्मकं ज्ञानं प्रमाणं स्यात्, तथा च विपर्यय-ज्ञानस्य धारावाहिविज्ञानस्य च प्रमाणताप्रसङ्गात् प्रतीतिसिद्धप्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः स्यात्, इत्याशङ्क्याऽतिप्रसङ्गापनोदार्थम् अपूर्वार्थविशेषणमाह । अतोऽनयोरनर्थविषयत्वाविशेषग्राहित्वाभ्यां व्यवच्छेदः सिद्धः । यद्वानेनाऽपूर्वार्थविशेषणेन धारावाहिविज्ञानमेव निरस्यते । विपर्ययज्ञानस्य तु व्यवसायात्मकत्वविशेषणेनैव निरस्तत्वात् संशयादिस्वभावसमारोपविरोधिग्रहणत्वात्तस्य ।

शंका—प्रमाणका लक्षण करते समय श्री माणिक्यनंदी आचार्यने जो व्यवसायात्मक विशेषण दिया है वह ठीक नहीं, क्योंकि जो व्यवसायात्मक ज्ञान है वह प्रमाण है ऐसा कहेंगे तो जितने भी व्यवसायात्मक ज्ञान हैं वे सबके सब प्रमाण स्वरूप बन जायेंगे, इस तरहसे तो विपर्ययज्ञान, तथा धारावाहिक ज्ञान इत्यादि ज्ञानमें भी प्रामाण्य मानना होगा, फिर प्रतीति सिद्ध प्रमाणज्ञान और अप्रमाणज्ञान इस तरह ज्ञानोंमें व्यवस्था नहीं रह सकेगी ?

समाधान—इस अति प्रसंग को दूर करनेके लिये ही सूत्र में अपूर्वार्थ विशेषण दिया है, इस विशेषणसे विपर्यय ज्ञान तथा धारावाहिक ज्ञान इन दोनोंका निरसन हो जाता है, क्योंकि विपर्यय ज्ञानका विषय वास्तविक नहीं है और धारावाहिक ज्ञानका विषय अविशेष मात्र है । अथवा अपूर्वार्थ विशेषण द्वारा धारावाहिक ज्ञानका प्रमाणपना खण्डित होता है और व्यवसायात्मक विशेषण द्वारा विपर्यय ज्ञानका प्रमाणपना निरस्त होता है । क्योंकि व्यवसायात्मक ज्ञान तो संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित ही वस्तुको ग्रहण करता है [जानता है] ।

यहां पर कोई तत्वोपप्लववादी कहता है कि संशयादि ज्ञान तो कोई है नहीं फिर आप जैन व्यवसायात्मक विशेषण द्वारा किसका खंडन करेंगे ? आप यह

ननु संशयादिज्ञानस्यासिद्धस्वरूपत्वात्क य व्यवसायात्मकत्वविशेषणत्वेन निरासः? संशयज्ञाने हि धर्मी, धर्मो वा प्रतिभाति ? धर्मी चेत्; स तात्त्विकः, अतात्त्विकोवा? तात्त्विकश्चेत्; कथं तद्बुद्धेः संशयरूपता तात्त्विकार्थगृहीतिरूपत्वात्करतलादिनिर्ण(र्ण)यवत् ? अथातात्त्विकः; तथाप्यतात्त्विकार्थविषयत्वात् केशोण्डुकादिज्ञानवद् भ्रान्तिरेव संशयः। अथ धर्मः–स स्थाणुत्वलक्षणः; पुरुषत्वलक्षणः, उभयं वा ? यदि स्थाणुत्वलक्षणः; तत्र तात्त्विकाऽतात्त्विकयोः पूर्ववद्दोषः। अथ पुरुषत्वलक्षणः; तत्राप्ययमेव दोषः। अथोभयम्; तथाप्युभयस्य तात्त्विकत्वाऽतात्त्विकत्वयोः स एव दोषः। अथैकस्य तात्त्विकत्वमन्यस्यातात्त्विकत्वम्; तथापि तद्विषयं ज्ञानं तदेव भ्रान्तमभ्रान्त चेति प्राप्तम्। अथ सन्दिग्धोर्थस्तत्र प्रतिभासते; सोपि विद्यते न वेत्यादिविकल्पे तदेव दूषणम्। तन्न सशयो घटते। नापि विपर्ययस्तस्यापि स्मृतिप्रमोषाद्यभ्युपगमेनाव्यवस्थितेः।

बताइये कि संशय ज्ञानमें क्या झलकता है धर्म या धर्मी ? यदि धर्मी झलकता है तो वह सत्य है कि असत्य है ? सत्य है ऐसा कहो तो उस सत्य धर्मी को ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें संशयपना कैसे ? उसने तो सत्य वस्तुको जाना है ? जैसे कि हाथमें रखी हुई वस्तुका ज्ञान सत्य होता है।

यदि उस धर्मीको असत्य मानो तो असत् को जानने वाले केशोण्डुक ज्ञानकी तरह संशय तो भ्रांतिरूप हुआ ? यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि संशयज्ञानमें धर्म झलकता है, तब प्रश्न होता है कि वह धर्म क्या पुरुषत्वरूप है, अथवा स्थाणुत्वरूप है, अथवा उभयरूप है ? यदि स्थाणुत्वरूप है तो पुनः प्रश्न उठेगा कि सत है अथवा असत है ? दोनोंमें पूर्वोक्त दोष आवेंगे। पुरुषत्व धर्म में तथा उभयरूप धर्ममें भी वही दोष आते हैं, अर्थात् संशयज्ञान में स्थाणुत्व, पुरुषत्व अथवा उभयरूपत्व झलके, उनमें हम वही बात पूछेगे कि वह स्थाणुत्वादि सत है या असत ? सत है तो सत वस्तु बतलाने वाला ज्ञान झूठ कैसे ? और यदि वह स्थाणुत्व धर्म असत है तो वह ज्ञान भ्रांतिरूप ही रहा ? यदि कहा जाय कि एक धर्म [स्थाणुत्व] सत है और एक [पुरुषत्व] असत है, तब वह एक ही ज्ञान भ्रान्त तथा अभ्रान्त दोरूप हुआ ? यदि कहा जाय कि संशयमें सन्दिग्ध पदार्थ ही झलकता है तो उस पक्षमें भी वह है या नहीं इत्यादि प्रश्न और वही दोष आते हैं इसलिये संशय नामका कोई ज्ञान नहीं है। विपर्यय नामका भी कोई ज्ञान नहीं है क्योंकि विपर्ययको स्मृति प्रमोषादि रूप माना है अतः उसकी कोई स्थिति नहीं है।

जैन—यह तत्वोपप्लव वादीका कथन असमीचीन है, क्योंकि संशय तो प्रत्येक प्राणीको चलित प्रतिभास रूपसे अपने आपमें ही झलकता है। संशयका विषय

इत्यप्यसमीचीनम्; यतः संशयः सर्वप्राणिनां चलितप्रतिपत्त्यात्मकत्वेन स्वात्मसवेद्य । स धर्मिविषयो वास्तु धर्मविषयो वा तात्त्विकातात्त्विकार्थविषयो वा किमेभिर्विकल्पैरस्य वालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते ? प्रत्यक्षसिद्धस्याप्यर्थस्वरूपस्यापह्नवे सुखदुःखादेरप्यपह्नवः स्यात् । कथं च 'धर्मिविषयो धर्मविषयो वा' इत्यादि प्रश्नहेतुकसंशयादि(धि)रूढएवाय संशयं निराकुर्यात् न चेदस्वस्थः ? किंच, उत्पादककारणाभावात्संशयस्य निरासः, असाधारणस्वरूपाभावात्, विषयाभावाद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; तदुत्पादककारणस्य सद्भावात्, स ह्याहितसंस्कारस्य प्रतिपत्तुः समानाऽसमानधर्मोपलम्भानुपलम्भतो मिथ्यात्वकर्मोदये सत्युत्पद्यते । असाधारणस्वरूपाभावोप्यसिद्धः; चलितप्रतिपत्तिलक्षणस्यासाधारणस्वरूपस्य तत्र सत्त्वात् । विषयाभावस्तु दूरोत्सारित एव; स्थाणुत्वविशिष्टतया पुरुषत्वविशिष्टतया वाऽनवधारितस्य उद्‌र्ध्वतासामान्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात् ।

चाहे धर्म हो चाहे धर्मी, सत हो चाहे असत, इतने विकल्पोंसे संशयका बालाग्र भी खण्डित नही कर सकते, क्योंकि इस प्रकार आप प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुका भी अभाव करने लगोगे तो सुख दुःखादिका भी अभाव करना चाहिये ? आश्चर्य की बात है कि आप प्रभाकर स्वयं ही इस संशयका विषय धर्म है कि धर्मी, सत है कि असत ? इस प्रकार के संशयरूपी झूलेमें झूल रहे हो और फिर भी उसीका निराकरण करते हो ? सो अस्वस्थ हो क्या ? किं च आप उत्पादक कारणका अभाव होनेसे संशयको नहीं मानते हैं या उसमें असाधारण रूपका अभाव होनेसे, अथवा विषयका अभाव होनेसे संशयको नहीं मानते हैं ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, देखो ! संशयका उत्पादक कारण मौजूद है । किस कारणसे संशय पैदा होता है सो बताते हैं—प्राप्त किया है स्थाणुत्व और पुरुषत्वके संस्कारको जिसने ऐसा व्यक्ति जब असमान विशेष धर्म जो मस्तक, हस्तादिक है तथा वक्र, कोटरत्वादि है उसका प्रत्यक्ष तो नहीं कर रहा और समान धर्म जो ऊर्ध्वता (ऊंचाई) है उसको देख रहा है तब उस व्यक्तिको अंतरंगमें मिथ्यात्वके उदय होनेपर संशय ज्ञान पैदा होता है । संशयमें असाधारण स्वरूपका अभाव भी नहीं है, देखो ! चलित प्रतिभास होना यही संशयका असाधारण स्वरूप है । विषयका अभाव भी दूरसे ही समाप्त होता है स्थाणुत्व विशिष्टसे अथवा पुरुष विशिष्टसे जिसका अवधारण नहीं हुआ है ऐसा ऊर्ध्वता सामान्य ही संशयका विषय माना गया है, और वह मौजूद ही है । संशयकी सिद्धिसे विपर्ययकी भी सिद्धि होती है, क्योंकि उसको उत्पादक सामग्री भी मौजूद है ।

*** संशयस्वरूपसिद्धि प्रकरण समाप्त ***

विपर्ययज्ञाने अख्यात्यादिविचारः

एतेन विपर्ययनिरासोपि निराकृतः । तत्राप्युत्पादककारणादेः सद्भावाविशेषात् । किंच, अयं विपर्ययोऽख्यातिम्, असत्ख्यातिम्, प्रसिद्धार्थख्यातिम्, आत्मख्यातिम्, सदसत्त्वाद्यनिर्वचनीयार्थख्यातिम्, विपरीतार्थख्यातिम्, स्मृतिप्रमोषं वाभिप्रेत्यनिराक्रियेत प्रकारान्तराऽसम्भवात् ?

अख्याति चेत्; तथा हि-जलावभासिनि ज्ञाने तावन्न जलसत्तालम्बनीभूतास्ति अभ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । जलाभावस्त्वत्र न प्रतिभात्येव; तद्विधिपरत्वेनास्य प्रवृत्तेः । अत एव मरीचयोऽपि नालम्बनम्; तत्त्वे वा तद्ग्रहणस्याभ्रान्तत्वप्रसङ्गः । तोयाकारेण मरीचिग्रहणमित्यप्ययुक्तम्; तदन्यत्वात् । न खलु घटाकारेण तदन्यस्य पटादेर्ग्रहणं दृष्टम् । ततो निरालम्बनं जलादिविपर्ययज्ञानम्; इत्यप्यविचा-

---

अब हम जैन विपर्यय ज्ञानको अनेक तरहसे विपरीत मानने वाले चार्वाक, सौत्रान्तिक आदिसे विपर्ययका स्वरूप पूछते हैं कि क्या विपर्यय ज्ञान अख्याति रूप है [चार्वाक के प्रति] अथवा असतख्यातिरूप है [सौत्रान्तिक माध्यमिकके प्रति] या प्रसिद्धार्थख्यातिरूप है [सांख्य, वेदान्ती, भास्करीयके प्रति] या आत्मख्यातिरूप है [विज्ञानाद्वैतवादी-योगाचारके प्रति] या सत् असत् रूपसे अनिर्वचनीय होनेसे अनिर्वचनीयार्थख्यातिरूप है [शांकर, ब्रह्माद्वैत, मायावादीके प्रति] या विपरीतार्थ ख्याति रूप है [नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट, वैभाषिक के प्रति] या स्मृति प्रमोष रूप है ? [प्रभाकरके प्रति] इतनी मान्यताओंको लेकर विपर्यय ज्ञानका खण्डन किया जा सकता है, अन्य कोई खण्डनका प्रकार नहीं है । प्रथम पक्ष अख्यातिरूप है, इस संबंधमें चार्वाक कहता है कि मरीचिकामें जायमान जल ज्ञानमें जलकी सत्ताका तो अवलंबन है नहीं, यदि होता तो वह ज्ञान सत्य कहलाता, इसी तरह जलाभाव भी नहीं है, क्योंकि ऐसा प्रतीत कहां है ? वहां तो "जल है" ऐसी विधिरूपसे उस ज्ञानकी प्रवृत्ति हो रही है, तथा इसी कारणसे मरीचिका भी उस ज्ञानका विषय नहीं है, यदि

रितरमणीयम्; विशेषतो व्यपदेशाभावप्रसङ्गात् । यत्र हि न किञ्चिदपि प्रतिभाति तत्केन विशेषेण जलज्ञानं रजतज्ञानमिति वा व्यपदिश्येत ? भ्रान्तिसुषुप्तावस्थयोरविशेषप्रसङ्गश्च । न ह्यत्र प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेणान्योऽस्ति विशेषः । प्रतिभासमानश्च तज्ज्ञानस्यालम्बनमित्युच्यते । तन्नाख्यातिरेव विपर्ययः ।

सत्यमेतत्; तथापि प्रतिभासमानोऽर्थः सद्रूपो विचार्यमाणो नास्तीत्यसत्ख्यातिरेवासौ । शुक्तिकाशकले हि न शुक्तिकादिप्रतिभासः, किं तर्हि ? रजतप्रतिभासः । स च रजताकारस्तत्र नास्तीति;

उस ज्ञानका विषय वह होती तो सत्य विषयको ग्रहण करनेके कारण विपर्ययज्ञान सत्य हो जाता । यदि कहो कि जलाकाररूपसे अर्थात् जलरूपसे मरीचिका ग्रहण होता है इसलिये वह ज्ञान सत्य नहीं है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जलसे वह मरीचि भिन्न है, अर्थात् जलाकार रूपसे परिणत ज्ञान मरीचिका से भिन्न है। ऐसा नहीं देखा जाता है कि घटाकार परिणत ज्ञान अन्य पट आदि का ग्रहण करने वाला होता हो। अंतमें यही निष्कर्ष निकलता है कि यह विपर्यय ज्ञान बिल्कुल निरालंब है [विषय रहित है] ।

जैन—यह कथन अविचार रूप है, क्योंकि यदि विपर्यय ज्ञान निरालंब होता तो उसमें "यह विपर्यय ज्ञान है" ऐसा विशेष व्यपदेश (नाम) होता है वह नहीं होता। जिस ज्ञानमें कुछ भी नहीं झलकता है तो फिर किस विशेषण द्वारा यह रजत ज्ञान है या जल ज्ञान है इत्यादि रूपसे उसका कथन कैसे हो सकता है ? तथा भ्रांत और निद्रित इन दोनों अवस्थाओंमें, विपर्यय ज्ञानके निरालंब मानने पर कुछ भेद नहीं रहेगा। जैसे—भ्रांत ज्ञानमें प्रतिभासमान अर्थको छोड़कर और कोई विशेषता नहीं है, उसी प्रकार विपर्यय ज्ञानमें प्रतिभासमान जो अर्थ है वही उसका अवलंबन माना गया है, अतः विपर्यय ज्ञानको अख्याति रूप [कुछ भी नहीं कह सकना रूप] नहीं मानना चाहिये ।

भावार्थ—चार्वाक विपर्यय ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं है ऐसा कहता है, इस पर आचार्य समझाते हैं कि विपर्ययका विषय अख्याति अर्थात् मात्र अभाव स्वरूप है तो उस विपरीत ज्ञानके रजतज्ञान, जलज्ञान, इत्यादि भेद कैसे हो सकते ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। विपर्यय ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं है ऐसा माननेसे दूसरा दोष यह भी आता है कि भ्रान्त और सुप्तावस्थामें कोई अन्तर नहीं रह जाता

तदयुक्तम्; इत्यपरः। कस्मात्? असतः खपुष्पादिवत्प्रतिभासासम्भवात्। भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसङ्गश्च; न ह्यसत्ख्यातिवादिनोऽर्थगतं ज्ञानगतं वा वैचित्र्यमस्ति येनानेकप्रकारा भ्रान्तिः स्यात्। तस्मात्प्रमाणप्रसिद्ध एवार्थो विचित्रस्तत्र प्रतिभाति। न चास्य विचार्यमाणस्यासत्त्वम्; विचारस्य प्रतीतिव्यतिरेकेणाऽन्यस्यासम्भवात्। प्रतीत्यबाधितत्वाच; करतलादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्वम्, स च प्रतिभासोऽन्यत्राप्यस्ति। यद्यप्युत्तरकाल तथा सोऽर्थो नास्ति, तथापि यदा प्रतिभाति तदा तावद-

---

है क्योंकि स्वप्नावस्थाके ज्ञानमें झलके हुए पदार्थ जिस प्रकार अवास्तविक हैं, इसी प्रकार विपर्यय ज्ञानमें झलका हुआ पदार्थ भी आपकी मान्यतानुसार अवास्तविक है, अतः इन दोनों अवस्थाओंमें अंतरका अभाव नहीं हो इसके लिये ऐसा मानना चाहिये कि भ्रान्तज्ञानभी निर्विषय नहीं है।

माध्यमिक—आप जैनने ठीक कहा है किन्तु एक बात यह है कि विपर्यय ज्ञानमें प्रतिभासमान अर्थका जब विचार किया जाता है तब वह सद्रूप नहीं है किन्तु असद्रूप है ऐसा ही दिखायी देता है। अतः विपर्यय ज्ञानका विषय असत ख्यातिरूप—नास्तिरूप ही मानना चाहिये। सीपके टुकड़ेमें सीप आदिका प्रतिभास तो होता नहीं, प्रतिभास तो रजतका होता है किन्तु रजत (चांदी) वहां सत रूपसे है नहीं।

सांख्य—माध्यमिकका यह कथन अयुक्त है, क्योंकि विपर्यय ज्ञानका विषय असत होता तो आकाशके फूल के समान उसे प्रतिभासित नहीं होना चाहिये, तथा भ्रान्तिकी विचित्रता अर्थात् अनेक तरहका भ्रम भी नहीं होना चाहिये, कारण कि असत ख्यातिको माननेवाले आपके यहां पदार्थोंकी विभिन्नता तथा ज्ञानोंकी विचित्रता मानी नहीं गई है कि जिससे अनेक प्रकारकी भ्रान्ति हो सके। इसीलिए तो प्रमाण प्रसिद्ध ही पदार्थ विचित्र रूपसे अर्थात् विपर्यय रूपसे भ्रान्त ज्ञानमें प्रतीत होता है ऐसा हम मानते हैं। इस ज्ञानके विषय जो सीप आदि हैं उनका विचार करे तो उनमें असत्व भी नहीं मालुम होता है, क्योंकि प्रतीति रूप ही विचार होता है, प्रतीतिसे न्यारा कोई विचार है नहीं, अतः इस ज्ञानका विषय प्रतीतिसे अबाधित होनेके कारण असत्वरूप नहीं है। हाथमें रखी हुई वस्तुका भी प्रतिभासके बलसे ही सत्व जाना जाता है, वह प्रतिभास विपर्यय ज्ञानमें है ही। यद्यपि उत्तर कालमें वह प्रतिभासित पदार्थ वैसा दिखाई नहीं देता अर्थात जैसा प्रतिभासित हुआ वैसा प्रतीत नहीं होता तो भी जब तक प्रतिभासित होता है तब तक तो वह है ही। यदि ऐसा नहीं माने तो बिजली

स्त्येव, अन्यथा विद्युदादेरपि सत्त्वसिद्धिर्न स्यात् । तस्मात्प्रसिद्धार्थख्यातिरेव युक्ता;

इत्यप्यसाम्प्रतम्; यथावस्थितार्थगृहीतित्वाविशेषे हि भ्रान्ताऽभ्रान्तव्यवहाराभावः स्यात् । अपि चोत्तरकालमुदकादेरभावेऽपि तच्चिह्नस्य भूस्निग्धतादेरुपलम्भः स्यात् । न खलु विद्युदादिवदुदकादेरप्याशुभावी निरन्वयो विनाशः क्वचिदुपलभ्यते । सर्वतद्देशद्रष्टॄणामविसंवादेनोपलम्भश्च विद्युदादिवदेव स्यात् । बाध्यबाधकभावश्च न प्राप्नोति, सर्वज्ञानानामवितथार्थविषयत्वाविशेषात् ।

आदिका भी असत्व मानना होगा, क्योंकि वह भी उत्तर कालमें प्रतीत नहीं होती है, इसलिये विपर्यय ज्ञानका मतलब प्रसिद्धार्थ ख्याति ही करना चाहिये ! अर्थात् विपर्यय ज्ञानका जो विषय है वह प्रतिभासमान होनेसे सत्यभूत है ऐसा मानना चाहिये ।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, यदि ऐसा माना जाय अर्थात् सभी ज्ञानोंको यथावस्थित पदार्थका ग्राहक माना जाय तब तो भ्रान्त और अभ्रान्त ज्ञानका जो व्यवहार देखा जाता है वह समाप्त हो जायगा । दूसरी बात यह है कि तुमने कहा कि जब तक वह ज्ञान [सीपमें चांदीका प्रतिभासरूप विपरीत ज्ञान] उत्तर कालमें बाधित नहीं होता तब तक उस विपर्ययका विषय सत्य ही है ? सो यदि ऐसी बात है तो मरीचिकामें जलका ज्ञान होने पर पीछे उत्तर कालमें जलका अभाव भले ही हो जाय किन्तु उसके चिह्न स्वरूप जमीनका गीला रहना आदि कुछ तो दिखायी देना चाहिये ? जलका स्वभाव बिजलीके समान तत्काल समूल नष्ट होनेका तो है नहीं, तथा सभी व्यक्तियोंको उस मरीचिकामें बिना विवादके जलकी उपलब्धि होनी चाहिये ? जैसे कि बिजली सबको दिखती है ? तथा उस मरीचि ज्ञानमें पीछे जो बाध्य–बाधकपना आता है वह भी नहीं आना चाहिये ? क्योंकि आपकी मान्यतानुसार सभी ज्ञान समान रूपसे सत्य विषयको ही जानने वाले माने गये हैं । भावार्थ–विपर्यय ज्ञानका विषय क्या है ? इस पर विचार चल रहा है, माध्यमिक बौद्धने विपर्यय ज्ञानका विषय नास्तिरूप सिद्ध करना चाहा तब बीचमें ही सांख्यने अपना मन्तव्य प्रदर्शित करते हुए कहा कि विपर्यय ज्ञानका विषय बिल्कुल सत्य–मौजूद पदार्थ ही है, जैसे कि सत्य ज्ञानोंका विषय वर्त्तमानमें मौजूद रहता है अन्तर इतना ही है कि उत्तर कालमें वह प्रतीत नही होता [तिरोभाव होनेसे] है । आचार्यने समझाया है कि विपर्यय ज्ञानका विषय असत् ख्याति की तरह प्रसिद्धार्थ ख्यातिरूप भी नहो है अर्थात् इस ज्ञानका विषय सद्रूप भी नहीं है । यदि कहा जाय कि इस ज्ञानका

यदप्युच्यते–ज्ञानस्यैवायमाकारोऽनाद्यविद्योपप्लवसामर्थ्याद्बहिरिव प्रतिभासते । अनादिविचित्रवासनाश्च क्रमविपाकवत्यः पुंसां सन्ति तेनानेकाकाराणि ज्ञानानि स्वाकारमात्रसंवेद्यानि क्रमेण भवन्तीत्यात्मख्यातिरेवेति; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः स्वात्ममात्रसंवित्तिनिष्ठत्वे अर्थाकारत्वे च ज्ञानस्यात्मख्यातिः सिद्धयेत । न च तत्सिद्धम्, उत्तरत्रोभयस्यापि प्रतिषेधात् । सर्वज्ञानानां स्वाकारग्राहित्वे च भ्रान्ताऽभ्रान्तविवेको बाध्यबाधकभावश्च न प्राप्नोति, तत्र व्यभिचाराभावाविशेषात् । स्वात्म-

---

विषय तो बिजली की तरह उत्तर कालमें नष्ट होता है सो यह कथन गलत है, सभी पदार्थ बिजली की तरह तत्काल विलीन नहीं होते है। अतः सांख्यने विपर्यय ज्ञानका विषय सत्यभूत माना है वह ठीक नहीं है।

विज्ञानाद्वैतवादी—सीपादिमें रजतादिका जो प्रतिभासरूप विपर्यय ज्ञान है वह मात्र ज्ञानका ही आकार है, किन्तु अनादि कालीन अविद्याके कारण ज्ञानसे बाहर हुए के समान प्रतीत होता है। अनादि अविद्याकी जो वासनायें हैं वे पुरुषोंमें क्रम–क्रमसे प्रगट होती हैं, इस कारण स्वाकार मात्रसे जिनका संवेदन होता है वे ज्ञान क्रमशः अनेक आकारवाले होते हैं अर्थात् ग्राह्य–ग्राहक रूपमें उद्भूत होते हैं। अतः विपर्ययमें आत्मख्याति अर्थात् ज्ञानका ही आकार है, बाह्य वस्तुका नहीं क्योंकि ज्ञानके सिवाय बाह्य वस्तु है नही ?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, ज्ञान अपनेमें ही निष्ठ है और वही अर्थाकार होता है यह बात सिद्ध होनेपर ही इस विपर्यय ज्ञानकी आत्मख्याति रूपसे सिद्धि होगी. किन्तु ये दोनों अर्थात् ज्ञानमें अपना ही आकार है तथा वह खुद ही बाह्य पदार्थोंके आकारोंको धारण करता है ये दोनों बाते ही सिद्ध नहीं हैं, क्योंकि आगे इन दोनों बातोंका खण्डन होनेवाला है। यदि सारे ही ज्ञान अपना आकार मात्र ग्रहण करते हैं तो समस्त ज्ञानोंका यह भ्रान्त ज्ञान है, और यह अभ्रान्त है, ऐसा विवेक और बाध्य–बाधकभाव बनेगा ही नहीं, क्योंकि ज्ञानोंका अपने स्वरूप मात्रमें तो कोई व्यभिचार होता नहीं, अर्थात् आत्मस्वरूपको जाननेकी अपेक्षा समस्त ज्ञान प्रमाण भूत ही माने गये हैं। आकार सिर्फ ज्ञानमें ही निष्ठ है बाहरमें रजतादि नामकी कोई वस्तु नहीं है, तो फिर रजत संवेदन द्वारा वह रजत रूप आकार सुख संवेदनके समान अन्दर ही प्रतीतिमें आयेगा, बाहरमें स्थित होने रूपसे प्रतीतिमें नहीं आयेगा। तथा जाननेवाला व्यक्ति भी उस पदार्थको ग्रहण करने के लिये प्रवृत्ति क्यों

स्थितत्वेन रजताद्याकारस्य संवेदनेन च सुखाद्याकारवद्बहिष्ठतया प्रतीतिर्न स्यात्। प्रतिपत्ता च तदुपादानार्थं न प्रवर्त्तेत, अबहिष्ठाऽस्थिरत्वेन प्रवृत्त्यविषयत्वात्। अथाविद्योपप्लववशादबहिष्ठ-स्थिरत्वेनाध्यवसायः; कथमेवं विपरीतख्यातिरेव नेष्टा, ज्ञानादभिन्नस्यास्थिरस्य चार्थाकारस्यान्यथाध्यवसायाभ्युपगमादिति ?

यच्चोच्यते–न ज्ञानस्य विषय उपदेशगम्योऽनुमानसाध्यो वा येन विपरीतोऽर्थः कल्प्येत। किं तर्हि ? यो यस्मिन् ज्ञाने प्रतिभाति स तस्य विषय इत्युच्यते। जलादिज्ञाने च जलाद्यर्थ एव प्रतिभाति न तद्विपरीतः, जलादिज्ञानव्यपदेशाभावप्रसङ्गात् स च जलाद्यर्थः सन्न भवति; तद्बुद्धेरभ्रान्तत्व-प्रसङ्गात्। नाप्यसन्; खपुष्पादिवत्प्रतिभासप्रवृत्त्योरविषयत्वानुषङ्गात्। नापि सदसद्रूपः; उभय-दोषानुषङ्गात्, सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च। तस्मादयं बुद्धिसन्दर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनान्येन वा धर्मा-

---

करेगा ? क्योंकि ज्ञानके अन्दर ही तो वह आकार (वस्तु) है ? तथा वह आकार ज्ञानके अस्थिर होनेसे अस्थिर है, अतः उसमें उठाना, रखना आदिरूप ज्ञाता मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है वह कैसे होगी ? अर्थात् नही हो सकती। तुम कहो कि अनादि अविद्याके कारण उस ज्ञानाकारकी बाहरी वस्तुरूपसे एवं स्थिर रूपसे अनुभव होता है, सो ऐसा माननेसे तो विपरीतार्थ ख्याति ही तुम्हारे द्वारा मान्य हुई ? क्योंकि ज्ञानसे अभिन्न अस्थिर (क्षणिक) और बाहरमें स्थित रूपसे अध्यवसाय हुआ, सो ऐसा अध्यवसाय ही तो विपरीतार्थ ख्याति है और इसे आपने मान लिया है ?

शंकर मतवाले कहते हैं कि इस विपर्यय ज्ञानका जो विषय है वह उपदेश गम्य या अनुमान गम्य तो है नहीं, जिससे कि उसको जैन लोग विपरीत मानते हैं, बात तो यह है कि जो जिस ज्ञानमें झलकता है वह उसीका विषय माना जाता है। जलादिके ज्ञानमें जलादिक ही प्रतीत होते हैं इससे विपरीत और कोई नहीं। यदि दूसरा विषय होता तो "जलका ज्ञान" यह नाम कैसे आता ? वह जलादि विषय सत तो है नहीं यदि होता तो उसको जाननेवाला ज्ञान सत्य हो जाता, तथा उस विपर्ययज्ञानका विषय असत भी नहीं है, क्योंकि असत होता तो वह आकाशके पुष्प की तरह प्रति-भासित नहीं होता। सत–असत दोनों रूप मानों तो दोनों पक्षके प्रदत्त दूषण आयेंगे। तथा सत असतका तादात्म्य भी नहीं है। इसलिए यह बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया गया जो विषय है वह सत–असत आदि किसी भी स्वभावसे कहा नहीं जा सकता, अतः यह ज्ञान तो अनिर्वचनीयार्थ ख्याति रूप है ऐसा मानना चाहिये ?

न्तरेण निर्वक्तुं न शक्यत इत्यनिर्वचनीयार्थख्यातिः सिद्धा; इत्यपि मनोरथमात्रम्; अद्वैतसिद्धौ ह्येतत्सिद्धयेत्, तच्चाद्वैतं निराकरिष्यामः। यच्चोक्तम्-न ज्ञानस्य विषय उपदेशगम्य इत्यादि; तद्भवतामेव प्राप्तम्, तथा हि—जलादिभ्रान्तौ नियतदेशकालस्वभावः सदात्मकत्वेनैव जलाद्यर्थः प्रतिभाति तद्ग्रहणेप्सोस्तत्रैव प्रवृत्तिदर्शनात् तत्कथमसावनिर्वचनीयः स्यात्? न ह्येवंभूते प्रतिभासप्रवृत्ती अनिर्वचनीयेऽर्थे सम्भवतः। अथ विचार्यमाण एवासौ सदसत्त्वादिभिरनिर्वचनीयः सम्पद्यते न तु भ्रान्तिकाले तथा प्रतिभातीति; नन्वेवमन्यथाप्रतिभासाद्विपरीतख्यातिरेव स्यात्।

जैन— यह वर्णन भी मनोरथ मात्र है, जब अद्वैतपना सिद्ध हो तब यह कथन भी ठीक हो किन्तु हम तो उस अद्वैतका आगे निराकरण करनेवाले हैं। आपने कहा कि ज्ञानका विषय उपदेशगम्य नहीं इत्यादि, सो यह दोष तो आपको ही लगेगा, देखिये! जलके भ्रान्त ज्ञानमें जलादि पदार्थ झलकता है वह नियत देश, काल, स्वभाववाला है, अर्थात् सामने एक निश्चित् स्थान पर और वर्त्तमान समयवाला है तथा सत रूपसे प्रतीतिमें आता है, उसको ग्रहण करनेके इच्छुक व्यक्तिकी वहीं पर प्रवृत्ति भी देखी जाती है, ऐसी हालतमें उसे अनिर्वचनीय कैसे माने? अनिर्वचनीयतामें इसतरहका प्रतिभास तथा प्रवृत्ति नहीं होती। तुम कहो कि इसकी सत–असत रूपसे विचार करने पर तत्तद्रूपसे प्रतीति नहीं होती है, इसलिये हम लोग इसे अनिर्वचनीय कहते हैं, न कि भ्रान्ति के समय अनिर्वचनीय कहते हैं, क्योंकि भ्रांति कालमें वह वैसा झलकता है? सो ऐसा मानते हो तब तो उस ज्ञानको अन्यथा प्रतिभासरूप होनेसे विपरीतख्याति रूप ही क्यों नहीं कहते हो?

शंका—"यह विपरीत है" ऐसा प्रतिभास न होनेके कारण इसे विपरीतार्थ ख्याति रूप भी नहीं मान सकते?

समाधान—हम जैन भी ऐसा नहीं कहते हैं कि "यह विपरीत पदार्थ है" इस तरहके कथनको विपरीतार्थ कहते हैं। तुम पूछो कि विपरीतार्थ ख्याति किसे कहना? सो बताते हैं—पुरुषसे विपरीत जो पदार्थ स्थाणु है उसमें "यह पुरुष है" ऐसी ख्याति ही विपरीतार्थ ख्याति कहलाती है।

शंका—पुरुषको झलकानेवाला जो ज्ञान है उसमें स्थाणुका प्रतिभास तो है नहीं अतः उसको पुरुषको झलकानेवाले ज्ञानका विषय मानना अयुक्त है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायगी अर्थात् घट–पट आदि पदार्थोंको प्रतिभासित करनेवालि ज्ञानोंमें नहीं प्रतिभासित हुए पुरुषका विपर्यय मानना पड़ेगा?

ननु विपरीतख्यातिरपि प्रतिभासविरोधान्न युक्तेति । क एवमाह–'विपरीतोऽयमर्थः' इति ख्यातिः ? किं तर्हि ? पुरुषविपरीते स्थाणौ 'पुरुषोऽयम्' इति ख्यातिर्विपरीतख्यातिः । ननु पुरुषावभासिनि ज्ञाने स्थाणोरप्रतिभासमानस्य विषयत्वमयुक्तं सर्वत्राप्यव्यवस्थाप्रसङ्गात्; तदयुक्तम्; यतः स्थाणुरेवात्र ज्ञाने तद्रूपस्यानवधारणादधर्मादिवशाच्च पुरुषाद्याकारेणाध्यवसीयते । बाधोत्तरकाल हि प्रतिसन्धत्ते स्थाणुरयं मे 'पुरुष.' इत्येवं प्रतिभात इति, कथमेव विपर्ययनिरास. तस्या एव तद्रूप-

---

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि स्थाणु ही उस विपर्यय ज्ञानमें उसके स्वरूपका अवधारण न होनेसे काच कामलादि दोषके प्रभावसे पुरुषाकार रूप प्रतीत होता है, पीछे उत्तर कालमें बाधित होता है कि यह तो स्थाणु [ठूंट] है मेरे को पुरुष रूपसे मालुम पडा था इत्यादि । इसलिये इस ज्ञानको विपरीतपना कैसे नहीं? है ही, यही तो विपरीतार्थ ख्याति है । मतलब जैन दार्शनिकोंने विपर्यय ज्ञानको विपरीत विषय वाला माना है, विपर्यय ज्ञानका लक्षण यही है कि दूरवर्त्ती होने आदि के कारण स्थाणु और पुरुषके कुछ समान धर्मोको लेकर स्थाणुमें पुरुषाकारका प्रतिभास होना । इसीतरह सीपमें चांदीका भान, मरीचिकामें जलकी प्रतीति, रस्सीमें सर्पका ज्ञान ये सभी विपर्यय ज्ञान है । प्रभाकर मतमें माना गया जो स्मृति प्रमोष है उसके द्वारा इस विपर्यय ज्ञानका खण्डन होना अशक्य है, क्योंकि स्मृति प्रमोष ही असिद्ध है ।

भावार्थः–शंकर मतवाले विपर्यय ज्ञानको सदसत्–अनिर्वचनीयार्थ ख्याति रूप मानते हैं, उनका कहना है कि विपर्यय ज्ञानके विषयको असत नहीं कह सकते, क्योंकि उसका प्रतिभास होता है, तथा सत भी नहीं कह सकते क्योंकि उस ज्ञानमें आगे जाकर बाधा आती है । शंकर मतवालेको विज्ञानाद्वैतवादी ने कहा था कि विपर्यय ज्ञानका विषय आत्म ख्याति है अर्थात् ज्ञानका ही आकार है । विपर्यय हो चाहे और कोई ज्ञान हो, सभी ज्ञानोंमें अपना ही आकार रहता है, क्योंकि ज्ञानको छोड़कर दूसरा पदार्थ ही नहीं है । अनादि अविद्याके कारण बाहरमें अनेक आकार या पदार्थ दिखायी देते हैं ? जैनाचार्यने विज्ञानाद्वैतवादीको इतना ही कहकर छोड़ दिया है कि अभी आपका विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं है, और आगे हम उसका भली प्रकारसे निरसन करेंगे, अतः आत्मख्यातिको विपर्यय ज्ञान मानना असिद्ध है । अनिर्वचवीयार्थ ख्याति भी असत्य है, क्योंकि यदि विपर्यय ज्ञानका विषय अनिर्वचनीय [वचन के द्वारा नहीं कह सकना] होता तो "इदं जलं" यह जल है, इत्यादि प्रतिभास तथा तदनु-

स्वादिति ? स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमेन तु विपर्ययप्रत्याख्यानमयुक्तम्; तस्यासिद्धरूपत्वात् ।

सार प्रवृत्ति नहीं होती, अतः अनिर्वचनीयार्थ ख्याति भी असत्य है। विपर्यय ज्ञानका विषय विपरीत ख्याति ही है, अर्थात् पुरुषसे विपरीत जो स्थाणु है उसमें "यह पुरुष है" ऐसी झलक आना विपर्यय ज्ञान है, इस ज्ञानका विषय स्थाणु ही है किन्तु उसका अवधारण नहीं होनेसे पुरुषका आकार प्रतीत होता है।

*** विपर्ययज्ञान अख्यात्यादिविचार समाप्त ***

स्मृतिप्रमोषविचारः

ननु शुक्तिकायाम् 'इद रजतम्' इति प्रतिभासो विपर्ययः, न चासौ विचार्यमाणो घटते । नहि 'इदं रजतम्' इत्येकमेवेद ज्ञानं कारणाभावात्; तथाहि–न दोषैश्चक्षुरादीनां शक्तेः प्रतिबन्ध. क्रियते, कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न हि दुष्टा यवा विपरीतं कार्यमाविर्भावयन्ति । अत एव प्रध्वंसोऽपि । किञ्च, "सम्बद्ध वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना" । [मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ८४] रजतस्य चासम्बद्ध-

---

प्रभाकर—सीपमें "यह रजत है" इसप्रकारका प्रतिभास होना विपर्यय ज्ञान कहलाता है, किन्तु इसपर विचार करे तो घटित नहीं होता, "यह रजत है" इस प्रकारका जो ज्ञान है वह एक नहीं है क्योंकि ऐसा एकत्वरूपसे प्रतिभास होनेमें कोई कारण नहीं दिखता है । चक्षु आदि इन्द्रियोंकी शक्तिका [काच कामलादि] दोषों द्वारा प्रतिबन्ध होता नहीं, यदि होता तो उनसे देखने आदि रूप कार्य जो "यह चांदी है" इत्यादिरूप उत्पन्न नहीं हो पाते, क्या जौ नामा धान्य खराब होनेपर भी विपरीत कार्य जो गेहूं आदिके अंकुरोंको उत्पन्न करेंगे ? अर्थात् नहीं करेंगे । विशेषार्थ—जैन दार्शनिक विपर्यय ज्ञान होना मानते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें विपरीतता का कोई भी कारण दिखायी नहीं देता है । चक्षु आदि इन्द्रियोंके सदोष होनेसे ज्ञान विपरीत हो जाय सो भी बात बनती नहीं, दोष तो कारणोंकी [इन्द्रियोंकी] शक्ति नष्ट करते हैं न कि विपरीत ज्ञानको पैदा करते हैं । देखो ! जौ का बीज पुराणा हुआ तो क्या वह गेहूंके अंकुरको पैदा करेगा ? अर्थात् नहीं करेगा, उसीप्रकार इन्द्रियके दोष विपरीत ज्ञानको पैदा नहीं कर सकते हैं ।

तथा वे बीज नष्ट होनेपर भी अंकुररूप कार्य उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि कारणका अभाव हुआ है । तथा यह भी बात है कि चक्षु आदि इन्द्रियां सम्बन्धित एवं वर्त्तमान पदार्थोंको ग्रहण करती हैं, यहां जो सीपमें रजतका प्रतिभास हो रहा

त्वादवर्तमानत्वाच्च चक्षुषा कथं वर्तमानरजताकारावभासः स्यात् ? ज्ञाने च कस्यायमाकारः प्रथते ? न तावद्रजतस्य; अवर्त्तमानत्वात्। नापि ज्ञानस्यैव; स्वसिद्धान्तविरोधात्। किञ्च, अगृहीतरजतस्येद विज्ञानं नोपजायते, अतिप्रसङ्गात्। गृहीतरजतस्य च 'तद्रजतमिदम्' इति स्यात्, इन्द्रियसंस्कारसादृश्यदोषैर्जन्यमानत्वात्। किञ्च, शुक्तिकायां रजतसंसर्गो न तावदसन् प्रतिभासते, खे खपुष्पससर्गवत् असत्ख्यातित्वप्रसङ्गात्। नापि सन्; रजतस्य तत्रासत्वात्। ततो ज्ञानद्वयमेतत् 'इदम्' इति हि

है वह रजत न वर्त्तमानमें मौजूद है न सीपसे सम्बन्धित है, फिर चक्षु द्वारा वर्त्तमानमें मौजूद सीपमें रजतका आकार कैसे प्रतिभासित हो रहा है ? यह जो ज्ञाव हुआ है उसमें किसका आकार झलकता है ? यदि कहा जाय कि चांदीका आकार झलकता है, तो यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि वह वर्त्तमानमें है ही नही। यदि कहा जावे कि ज्ञानका ही आकार प्रतिभासित होता है तो यह भी युक्तियुक्त नही, क्योंकि जैन सिद्धान्तसे यह कथन विरुद्ध पड़ता है। ज्ञानमें ज्ञानका ही आकार झलकता है ऐसा जैन मत में माना ही नही। और एक बात यह है कि यदि बिना रजतके ग्रहण किये यह विपर्यय ज्ञान होता है ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि ऐसा कहने पर अतिप्रसंग दोष आता है, अर्थात् फिर तो तलघर आदिमें पले हुए व्यक्तिको भी बाहर आते ही "यह चांदी है" ऐसा ज्ञान होना चाहिये। यदि कहो कि रजतको जाननेवाले व्यक्तिको "यह रजत है" ऐसा ज्ञान होता है तो फिर उसको "वह रजत यह है" ऐसी झलक आनी चाहिये ? हम प्रभाकर तो इन्द्रिय संस्कार, सादृश्य, दोष इत्यादि कारणोंसे "यह रजत है" ऐसा ज्ञान होता है, इसप्रकार मानते हैं। विपर्यय ज्ञानके बारेमें हम प्रभाकरका कहना है कि सीपमें रजतका संसर्ग असत होकर प्रतिभासित नहीं होता यदि होता तो वह आकाशमें आकाश पुष्पके संसर्गकी तरह असत ख्याति रूप होता ! अर्थात् फिर इस विपर्यय ज्ञानको असत ख्याति रूप मानते किन्तु यह मान्यता हम प्रभाकरको इष्ट नहीं है। तथा वह रजतका संसर्ग सत होकर भी प्रतिभासित नहीं होता, क्योंकि वहां रजतका अभाव है अतः "इदं रजतं" इस ज्ञानको दो रूप मानना चाहिये "इदं" यह एक ज्ञान है, और "रजतं" यह दूसरा ज्ञान है, इनमें जो इदं अंश है वह तो सामने रखे हुए अर्थका प्रतिभासरूप प्रत्यक्ष ज्ञान है, और "रजतं" ऐसी जो झलक है वह पहले देखे गये रजतका स्मरण रूप ज्ञान है। सो ऐसा यह प्रतिभास सादृश्य आदि किसी दोषके निमित्तसे होता है। अतः "इदं रजत" ऐसा ज्ञान स्मरण रूपसे वहां झलकता नहीं है बस ! इसीलिये हम प्रभाकर

पुरोऽवस्थितार्थप्रतिभासनम् 'रजतम्' इति च पूर्वाविगतरजतस्मरणं सादृश्यादेः कुतश्चिन्निमित्तात् । तच्च स्मरणमपि स्वरूपेण नावभासत इति स्मृतिप्रमोषोऽभिधीयते । यत्र हि 'स्मरामि' इति प्रत्ययस्तत्र स्मृतेरप्रमोषः, न पुनर्यत्रस्मृतित्वेऽपि स्मरामि' इति रूपाप्रवेदनम् । प्रवृत्तिश्च भेदाऽग्रहणादेवोपपन्ना । ननु कोऽयं तदग्रहो नाम ? न तावदेकत्वग्रहः; तस्यैव विपर्ययरूपत्वात् । नापि तद्ग्रहणप्रागभावः; तस्याऽप्रवृत्तिहेतुत्वात्, प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रमाणफलत्वादिति चेत्; न; भेदाऽग्रहणसचिवस्य रजतज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वोपपत्तेरिति ।

उसे स्मृति प्रमोष कहते हैं। जहां "स्मरण करता हूं" ऐसी झलक हो वहां तो स्मृति प्रमोष नहीं है, किन्तु जहां स्मृतिरूपता होते हुए भी "स्मरण करता हूं" ऐसी झलक न हो वह तो स्मृतिका प्रमोष ही है "यह रजत है" ऐसे ज्ञानके होनेपर जो प्रवृत्ति होती है वह तो भेदको न जाननेसे अर्थात् भेदके अग्रहणसे होती है। अब भेदका अग्रहण क्या है ? इसपर सोचें—एक रूपसे दोनोंका ग्रहण होना यह भेद अग्रहण है, सो ऐसा मानना इसलिये ठीक नहीं कि वह विपरीत ख्याति रूप कहलायेगा। भेद ग्रहणके प्रागभावको भेदका अग्रहण कहना भी संगत नहीं बैठता क्योंकि प्रागभाव प्रवृत्तिका कारण नहीं हुआ करता। कोई कहे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति कराना तो प्रमाणका फल है प्रागभावका यह फल नहीं है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं कारण कि भेदका अग्रहण है सहायक जिसका ऐसा रजत ज्ञान ही प्रवृत्तिका हेतु होता है। इस प्रकार भेदके अग्रहणमें कारण जो स्मृति प्रमोष है उसके निमित्तसे हुआ रजत प्रतिभास ही प्रवृत्तिका अर्थात् "यह चांदी है" ऐसा भान होते ही उसमें ग्रहणकी जो प्रवृत्ति होती है उसका कारण है। इसप्रकार "इदं रजतं" इत्यादि ज्ञान स्मृति प्रमोष लक्षण वाले हैं।

विशेषार्थ—"इदं रजतं" यह प्रतिभास दो ज्ञानरूप है, "इदं" यह प्रत्यक्षरूप है, और "रजतं" यह स्मरणरूप है। यह स्मरण अपने स्वरूपसे प्रतीत नहीं होता है, अर्थात् रजतका स्मरण करता हूं ऐसी प्रतीति नहीं आनेसे वह स्मृति प्रमोष कहलाता है। इस ज्ञानमें वस्तुको ग्रहण करनेकी जो प्रवृत्ति होती है वह तो विवेक नहीं होनेसे अर्थात् सीप और चांदी का सम्यग्बोध न होने से होती है "इदं रजतं" यह ज्ञान यद्यपि सत्य रजत ज्ञानसे भिन्न है, तथापि दोनोंका भेद मालूम न होनेसे ऐसा होने लग जाता है। "इदं रजतं" "इदं जलं" अर्थात् सीपमें यह चांदी है ऐसा प्रतिभास होना, मरीचिमें यह जल है ऐसा प्रतीत होना विपर्यय ज्ञान है, और इसका दो वस्तुओंकी समानता, पदार्थका दूरवर्ती रहना, कुछ इन्द्रियोंकी सदोषता आदि है ऐसा जैन कहते

अत्र प्रतिविधीयते–न दोषैः शक्तेः प्रतिबन्धः प्रध्वंसो वा विधीयते, किन्तु दोषसमवधाने चक्षुरादिभिरिदं विज्ञानं विधीयते। दोषाणां चेदमेव सामर्थ्यं यत्तत्सन्निधानेऽविद्यमानेप्यर्थे ज्ञानमुत्पादयन्ति चक्षुरादीनि। न चैवमसत्ख्यातिः स्यात्; सादृश्यस्यापि तद्धेतुत्वात्। असत्ख्यातिस्तु न तद्धेतुका, खपुष्पज्ञानवत्। रजताकारश्च प्रतिभासमानो न ज्ञानस्य; संस्कारस्यापि तद्धेतुत्वात्। दोषाद्धि संस्कारसहायादनुभूतस्यैव रजतस्यायमाकारः पुरोवर्तिन्यर्थे प्रतिभासते। न चैवं 'तद्रजतम्' इति

हैं, किन्तु हम प्रभाकर मतवाले तो इस ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप मानते हैं। इस ज्ञानका कारण दो ज्ञानोंका एकत्रित होना है, अर्थात् "इद" वर्त्तमान ज्ञान है, और "रजतं" यह भूतकालीन ज्ञान है, किन्तु उसमें "स्मरण करता हूं" ऐसा प्रतिभास नहीं होता बस! इसीलिये इसका नाम स्मृति प्रमोष रखा गया है।

जैन—यहां पर प्रभाकरके उपर्युक्त कथनका खण्डन किया जाता है शुरूमें उन्होंने पूछा था कि दोषोंके द्वारा इन्द्रिय शक्तिका प्रतिबन्ध होता है या नाश होता है। इत्यादि सो इसका जवाब हम देते हैं कि काच कामलादि दोषों द्वारा नेत्रादिकी शक्तिका प्रतिबंध नहीं होता है और न उसका नाश होता है, किन्तु दोषके कारण चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा ऐसा ज्ञान होने लग जाता है। दोषोंका यही सामर्थ्य है कि उनके निमित्तसे पदार्थके न होनेपर भी उस विषयका वे चक्षुरादि इन्द्रियां ज्ञान पैदा करा देती हैं। ऐसी मान्यता से असतख्यातिका प्रसंग भी नहीं आता है, अर्थात् अविद्यमान वस्तुको जाने तो असतवाद आवे सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस ज्ञानमें पहले देखे गये रजतादिकी सदृशता भी कारण है. असत ख्यातिमें ऐसा सादृश्य हेतु नहीं है वह तो सर्वथा आकाश पुष्पके ज्ञान सदृश है। तथा सीपमें रजताकार जो प्रतिभास हो रहा है वह ज्ञानका आकार नहीं है किन्तु संस्कारके निमित्तसे ऐसा प्रतिभास होता है, मतलब काच कामला आदि दोष और बार बार सफेद चीजका देखना रूप संस्कार ये सब ऐसे प्रतिभासके हेतु हैं, पूर्वमें जाना गया रजतका आकार सामनेमें स्थित सीपमें झलकता है, ऐसा माननेपर "वह रजत है" इस तरह झलक आनेका प्रसंग जो आपने कहा था वह भी नहीं आयेगा, क्योंकि दोषके कारण सामने स्थित सीपमें रजतका आकार झलकता है अन्यथा आपको भी "वह रजत है" ऐसी झलक होनेका प्रसंग क्यों नहीं प्राप्त होगा? इसलिये जैसे तुम्हारी मान्यताके अनुसार यहां स्मृतिका प्रमोष है वैसे ही दोषोंके कारण समानता का अर्थात् सफेदीका अधिकरण होनेसे सामने स्थित सीपमें रजताकारका अवभास होता है ऐसा क्यों नहीं मानते? इस कथनसे आपके-

स्यात्; दोषवशात्पुरोऽवस्थितार्थे रजताकारस्य प्रतिभासनात्। कथमन्यथा भवतोऽपि तद्रजतमिति प्रतिभासो न स्यात् ? ततो यथा तव स्मृतिप्रमोषस्तथा दोषेभ्यः सामानाधिकरण्येन पुरोवर्त्तिन्यवर्तमानरजताकारावभासः किन्न स्यात् ? अनेन 'तत्संसर्गः सन्नसन्वा प्रतिभासते' इत्यपि निरस्तम्। न च विवेकाऽख्यातिसहायाद्रजतज्ञानात् प्रवृत्तिर्घटते; 'घटोयम्' इत्याद्यभेदज्ञानात्प्रवृत्तिप्रतीतेः। विवेकाख्यातिश्च भेदे सिद्धे सिद्ध्येत्। न चात्र ज्ञानभेदः कुतश्चित् सिद्धः, तथापि तत्कल्पने 'घटोयम्'

द्वारा किये गये सत प्रतिभासित होता है या असत प्रतिभासित होता है ? इत्यादि पूर्व प्रश्नोंका निरसन स्वयमेव हो जाता है। प्रभाकर ने कहा था कि विवेक का ग्रहण न होनेसे अर्थात् "यह रजत है" इसतरह की झलकमें दो ज्ञान हैं किन्तु उसका भेद मालूम न पड़नेसे जो ज्ञान होता है कि "यह रजत है" सो इस ज्ञानके कारण सीपमें चांदी समझकर उसे ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है। सो प्रभाकर का यह कहना गलत है. देखो ! "यह घट है" इत्यादि जो ज्ञान हैं वे भी अभेद को लिए हुए हैं उन ज्ञानोंसे घटादि को ग्रहण करने के लिए मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ ही करती है, आप प्रभाकरकी यह विवेक अख्याति–अर्थात् भेदोंका अग्रहण तब सिद्ध होगा जब यह रजत है, इस ज्ञानमें भेद सिद्ध हो ! मतलब "यह" इसप्रकारका प्रत्यक्षज्ञान, और "रजत है" इस प्रकारका स्मरण ज्ञान ऐसे ये दो भेद यहां सिद्ध होते हों तब तो भेदोंका यहां अग्रहण है, इस प्रकार कह सकते हैं, किन्तु किसी भी प्रमाण से "यह रजत है" इस ज्ञानमें दो ज्ञानोंकी झलक सिद्ध नहीं होती है यदि ज्ञानोंमें भेद सिद्ध नहीं होनेपर भी जबरदस्ती भेदकी कल्पना करो तो "यह घट है" इस ज्ञानमें भी भेद मानना पड़ेगा ? क्योंकि पूर्व मान्यता में और इस मान्यतामें कोई विशेषता नहीं है, जिससे कि "यह घट है" इस ज्ञानमें तो भेद न माना जाय और "यह चांदी है" इस ज्ञानमें भेद न माना जाय।

प्रभाकर—"यह घट है" इस ज्ञानमें तो सत्य घटका ग्रहण होता है अतः यहांपर ज्ञानमें भेद नहीं माना गया है ?

जैन—तो फिर अन्य जगह भी अर्थात् "यह रजत है" इस ज्ञानमें भी असत्य वस्तुका [चांदीका] ग्रहण हुआ है इसलिये यहांपर भी ज्ञानके भेदकी कल्पना नहीं होनी चाहिये। एक बात यह सिद्ध करना है कि आप प्रभाकर निर्मलता आदि गुणोंसे युक्त नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा वर्त्तमान वस्तुमें एक ज्ञान पैदा होता है ऐसा मानते हैं,

इत्यादावपि ज्ञानभेदः कल्प्यतामविशेषात् । अथात्र सतो घटस्य ग्रहणान्नासौ कल्प्यते; तर्हि अन्यत्राप्यसतो ग्रहणात्तत्कल्पना माभूत् । यथैव हि गुणान्वितैश्चक्षुरादिभिः सति वस्तुन्येकं ज्ञानं जन्यते, तथा दोषान्वितैः सादृश्यवशादसत्येकं ज्ञानं जन्यते । गुणदोषाणां च सद्भावं ज्ञानजनकत्वं च स्वतःप्रामाण्यप्रतिषेधप्रस्तावे प्रतिपादयिष्यामः । न च प्रभाकरमते विवेकाख्यातिः सम्भवति, तत्र हि 'इदम्' इति प्रत्यक्षं 'रजतम्' इति च स्मरणमिति संवित्तिद्वयं प्रसिद्धम्, तच्चाऽऽत्मप्राकट्येनैवोत्पद्यते । आत्मप्राकट्यं चान्योन्यभेदग्रहणेनैव संवेद्यते घटपटादिसंवित्तिवत् । किञ्च, विवेकख्यातेः प्रागभावो विवेकाख्यातिः । न चाभावः प्रभाकरमतेऽस्ति ।

उसीप्रकार काच कामलादि दोष युक्त नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा वस्तुओंमें समानता होनेके कारण अविद्यमान वस्तुमें भी एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

गुण और दोष दोनोंका ही सद्भाव है, दोनों ही ज्ञानको उत्पन्न करनेमें [या नहीं करनेमें] समर्थ हैं, इस बातको हम स्वतः प्रामाण्यवाद–का खण्डन करते समय कहनेवाले हैं। आप प्रभाकरके मतमें विवेक अख्याति संभव नहीं है आप लोग "इदं" इस झलक को प्रत्यक्ष और "रजतं" इस झलकको स्मृति नाम देते हैं तथा यह भी कहते हैं कि वे दोनों ही अपने स्वरूपकी प्रगटतासे ही उत्पन्न होते हैं, यह स्वरूप प्रगटता तो आपसमें एक दूसरेके भेदोंके ग्रहणके बाद ही अनुभवमें आती है, जैसे घट पट आदिके ज्ञानोंमें अपना अपना भिन्न भिन्न रूप एक दूसरेके भेदकी विशेषताको जाननेके बाद ही अनुभवमें आता है। तथा विवेकके ख्यातिका प्रागभाव [अभाव] होना विवेक अख्याति कहलाती है किन्तु प्रभाकर मतमें अभावको नहीं माननेसे यह अख्याति सिद्ध नहीं होती। प्रभाकर यह बतानेका कष्ट करे कि स्मृतिप्रमोष कहते किसे हैं? स्मृतिके अभावको, या अन्यमें अन्यके प्रतिभासको, या विपरीताकार रूपसे जाननेको, या अतीत कालका वर्त्तमान रूपसे ग्रहण होनेको, या प्रत्यक्षके साथ दूध पानीके समान स्मृतिका अभेद रूपसे उत्पाद होनेको? इन पांच विकल्पोंको छोड़कर अन्य कोई विकल्पसे तो स्मृति प्रमोषका लक्षण हो नहीं सकता।

प्रथम विकल्प-स्मृतिके अभावको स्मृति प्रमोष कहते हैं तो वह है नहीं, क्योंकि यदि स्मृतिका अभाव होता तो पहले देखे हुए रजतकी प्रतीति सीपमें कैसे होती? अर्थात् नहीं होती। तथा स्मृतिके अभाव को यदि स्मृति प्रमोष कहा जायगा तो मूर्च्छित आदि अवस्थामें जो भी ज्ञान होते हैं उनको भी स्मृति प्रमोषताका प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि वहां भी स्मृतिका अभाव है? यदि कहा जाय कि स्वप्न मूर्च्छा आदि अवस्थामें तो "इदं" यह

कश्चायं स्मृतेः प्रमोषः-किं स्मृतेरभावः, अन्यावभासो वा स्यात्, विपरीताकारवेदित्वं वा, अतीतकालस्य वर्तमानतया ग्रहणं वा, अनुभवेन सह क्षीरोदकवदविवेकेनोत्पादो वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः; स्मृतेरभावे हि कथं पूर्वदृष्टरजतप्रतीतिः स्यात् ? मूर्च्छाद्यवस्थायां च स्मृतिप्रमोषव्यपदेशः स्यात् तदभावाविशेषात् । अथात्र 'इदम्' इति भासाभावान्नासौ; ननु 'इदम्' इत्यत्रापि किं प्रतिभातीति वक्तव्यम् ? पुरोव्यवस्थितं शुक्तिकाशकलमिति चेत्; ननु स्वधर्मविशिष्टत्वेन तत्तत्र प्रतिभाति, रजतसन्निहितत्वेन वा ? प्रथमपक्षे कुतः स्मृतिप्रमोषः ? शुक्तिकाशकले हि स्वगतधर्मविशिष्टे प्रतिभासमाने कुतो रजतस्मरणसम्भवो यतोऽस्य प्रमोषः स्यात् ? न खलु घटे गृहीते पटस्मरणसम्भवः । अथ शुक्तिकारजतयोः सादृश्याच्छुक्तिकाप्रतिभासे रजतस्मरणम्;

झलकता ही नहीं अतः वहां स्मृति प्रमोषताका प्रसंग प्राप्त नहीं होता है । तो प्रश्न होता है कि "इदं" इसमें क्या झलकता है ? यदि सामने रखा हुआ सीपका टुकड़ा झलकता है ऐसा कहो तो वह भी अपने धर्मसे युक्त हुआ प्रतीत होता है कि रजतसे संबद्ध होकर प्रतीत होता है ? यदि वह अपने धर्मसे युक्त-त्रिकोण आदि रूपसे झलकेगा तो स्मृति प्रमोष कहां रहा ? अर्थात् नहीं रहा, क्योंकि सीपके टुकड़ेमें उसीके धर्मकी प्रतीति आ रही है । इसप्रकार सीपमें सीपका धर्म झलका है तो रजतका स्मरण क्यों होगा और क्यों उसका प्रमोष होगा ? ऐसा तो होता नहीं कि घटके ग्रहण करनेपर पटका स्मरण होता हो ?

प्रभाकर—सीप और चांदीमें सदृशता है इस कारण सीपके प्रतिभास होनेपर रजतका स्मरण हो जाता है ।

जैन—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सादृश्यको हेतु बताना बेकार है, देखो ! यदि अपने असाधारण धर्मसे सहित सीपका स्वरूप प्रतीत हो रहा है तो वहां सदृश वस्तुके स्मरणकी क्या आवश्यकता है ? हां ऐसा हो सकता है कि जब वस्तुका सामान्य रूपसे ग्रहण होता है तब कदाचित स्मरण भी हो जाय किन्तु असाधारण धर्मसे युक्त वस्तु जब ग्रहण हो जाती है तब तो सदृश वस्तुका स्मरण नहीं होता । जन्मसे जो नेत्र रोगी है उस व्यक्तिको एक ही चन्द्र में जो दो चन्द्रोंका प्रतिभास होता है उसमें सदृश वस्तुका प्रतिभास तो है नहीं फिर उस बिचारेको वहां स्मृति कैसे होगी, और उसका प्रमोष भी वहां कैसे कहलायेगा ?

भावार्थ—प्रभाकरने विपर्यय ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप माना है उसका कहना है कि इस ज्ञानमें दो रूप झलकते हैं एक वर्तमान रूप और दूसरा अतीत रूप, अतीत

न; अस्याऽकिञ्चित्करत्वात् । यदा ह्यसाधारणधर्माध्यासितं शुक्तिकास्वरूपं प्रतिभाति तदा कथं सदृशवस्तुस्मरणम् ? अन्यथा सर्वत्र स्यात् । सामान्यमात्रग्रहणे हि तत् कदाचित्स्यादपि नाऽसाधारणस्वरूपप्रतिभासे । द्विचन्द्रादिषु च जातितैमिरिकप्रतिभासविषये सदृशवस्तुप्रतिभासाभावात् कथं स्मृतेरुत्पत्तिर्यतः प्रमोषः स्यात् ? नापि तत्सन्निहितत्वेन प्रतिभासः; रजतस्य तत्रासत्त्वेन तत्सन्निधानायोगात् । इन्द्रियसम्बद्धानां च तद्देशवर्तिनां परमाण्वादीनामपि प्रतिभासः स्यात् तदविशेषात् । नाप्यन्यावभासोऽसौ; स हि किं तत्कालभावी, उत्तरकालभावी वा स्यात् ? तत्कालभावी चेत्; तर्हि

वस्तुका स्मरण सदृशताको लेकर होता है–सो इस मान्यतामें प्रभाचन्द्राचार्य दूषण दे रहे हैं कि विपरीत ज्ञानका कारण यदि अतीत वस्तुकी सदृशताको माना जावे तो जन्म जात नेत्र रोगसे युक्त व्यक्तिको आकाशमें एक ही चन्द्रमामें दो चन्द्रमाओंका प्रतिभास होता है वह विपर्यय ज्ञान है सो इस ज्ञानमें आपके कथनानुसार वर्त्तमानमें प्रत्यक्ष और अतीतका स्मरण होना चाहिये ? किन्तु वह संभव नहीं है, क्योंकि उस तिमिर रोगी को सदृश वस्तुका प्रतिभास ही नहीं है तो स्मृति कैसे आयेगी ? अर्थात् नहीं आ सकती अतः विपर्यय ज्ञानका लक्षण स्मृति प्रमोष करना व्यभिचरित है ।

स्मृति प्रमोषके लक्षणमें दूसरा पक्ष यह था कि "इदं" इस ज्ञानमें रजतसे संबद्ध सीपका टुकड़ा प्रतीत होता है सो यह कथन भी जमता नहीं, कारण कि वहां रजतका ही जब अभाव है तो उसकी सन्निधि कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती । दूसरी बात यह भी होगी कि रजत नहीं है तो भी उसकी सन्निधि मानी जाय तो इन्द्रियसे संबद्ध उस सीपके देशमें जो परमाणु आदि रहते हैं उनका भी प्रतिभास होने लग जायगा ? क्योंकि निकटता तो उनकी भी है, इसप्रकार स्मृतिके अभावको स्मृति प्रमोष कहते हैं ऐसा पांच प्रश्नोंमेंसे प्रथम प्रश्न का कथन समाप्त हुआ । अब दूसरा प्रश्न या पक्ष देखिये ! अन्यका अवभास होना स्मृति प्रमोष है ऐसा माने तो भी ठीक नहीं है, यह अन्यावभास कब होता है तत्कालमें या उत्तर कालमें ? अर्थात् रजत के स्मरण कालमें अथवा अग्रिम कालमें ? तत्कालमें होता है ऐसा कहो तो घट आदि का ज्ञान भी तत्काल भावी अर्थात् रजत स्मरणके समयमें हो सकता है अतः उसे भी स्मृति प्रमोष रूप मानना होगा । उत्तरकाल भावी अन्यावभासको भी स्मृति प्रमोष कह नहीं सकते, अतिप्रसंग आयेगा, उसी अति प्रसंगको बताते हैं कि यदि उत्तरकालमें अन्यावभास प्रगट हो गया अर्थात् सीपमें चांदीका प्रतिभास होनेके बाद सीपकी प्रतीति आगई तो वह पूर्व ज्ञान [रजत ज्ञान] स्मृति प्रमोष रूप नहीं कहलायेगा ? नहीं तो

घटादिज्ञानं तत्कालभावि तस्याः प्रमोषः स्यात् । नाप्युत्तरकालभाव्यन्यावभासोऽस्याः प्रमोषः; अतिप्रसङ्गात् । यदि हि उत्तरकालभाव्यन्यावभासः समुत्पन्नस्तर्हि पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वेनासौ नाभ्युपगमनीयः, अन्यथा सकलपूर्वज्ञानानां स्मृतिप्रमोषत्वेनाभ्युपगमनीयः स्यात् । किञ्च, अन्यावभासस्य सद्भावे परिस्फुटवपुः स एव प्रतिभातीति कथं रजते स्मृतिप्रमोषः ? निखिलान्यावभासानां स्मृतिप्रमोषतापत्तेः । अथ विपरीताकारवेदित्वं तस्याः प्रमोषः; तर्हि विपरीतख्यातिरेव कश्चासौ विपरीत आकारः ? परिस्फुटार्थावभासित्वं चेत्; कथं तस्य स्मृतिसम्बन्धित्वं प्रत्यक्षाकारत्वात् ? तत्सम्बन्धित्वे वा प्रत्यक्षरूपतैवास्याः स्यान्न स्मृतिरूपता । नाप्यतीतकालस्य वर्तमानतया ग्रहणं तस्याः प्रमोषः; अन्यस्मृतिवत्तस्याः स्पष्टवेदनाभावानुषङ्गात्, न चैवम् । अतीतकालस्य स्पाष्ट्येनाधिकस्य

जितने भी पूर्वके ज्ञान हैं वे सब स्मृति प्रमोषरूप मानने पडेंगे । तथा अन्यावभासका मतलब सीपका प्रतिभास है तो वह सीप मौजूद ही है, वही स्पष्ट झलकेगी तो फिर रजतमें स्मृतिप्रमोष काहेका हुआ ? नहीं तो आपको सारे अन्य-अन्य प्रत्येक वस्तुओं के अवभासोंको स्मृति प्रमोषरूप स्वीकार करना होगा ? तीसरा पक्ष विपरीत आकार से झलकना स्मृति प्रमोष है तब तो साक्षात ही हम जैनकी विपरीत ख्याति हो जाती है । यह बताना भी जरूरी है कि विपरीत आकार क्या चीज है ? स्पष्ट रूपसे अर्थका झलकना है ऐसा कहो तो वह ज्ञान स्मृति संबंधी नहीं रहा, क्योंकि स्पष्टाकारका अवभास होनेसे वह प्रत्यक्ष ही बन जायगा, यदि उस स्पष्टाकारकी झलकको स्मृतिका संबंधी माना जाय तो उस स्मृतिमें प्रत्यक्ष रूपता ही होगी, फिर उस विपरीताकारमें स्मृति रूपता नहीं रह सकती है ।

चौथा पक्ष—अतीत कालका वर्त्तमान रूपसे ग्रहण होना स्मृति प्रमोष है ऐसा मानते हो तो भी ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर यहांपर "यह रजत है" इस ज्ञानमें जो स्पष्टपना झलकता है वह नहीं रहेगा, जैसे कि अन्य देवदत्त आदिके स्मरण रूप ज्ञानोंमें स्पष्टता नहीं रहती है, किन्तु यहां रजत ज्ञानमें स्पष्टता है ।

प्रभाकर—अतीत कालकी स्पष्टताके साथ अधिक रूपसे संवेदन होना स्मृति प्रमोष है ?

जैन—ऐसा कहना आपको इष्ट नहीं रहेगा क्योंकि यदि रजत स्मृतिमें वास्तविक स्पष्टता है तो आप सर्वज्ञका निषेध नहीं कर सकेंगे, जैसे यहां रजतके स्मृति ज्ञानमें बिना इन्द्रियोंके स्पष्टता आयी है, वैसे ही अन्य सर्वज्ञ आदिके ज्ञानोंमें भी बिना इन्द्रियोंके स्पष्टता संभव है ऐसा सिद्ध हो सकता है ।

संवेदनं स इति चेत्; न; तत्र परमार्थत स्पाष्टयसद्भावे अतीन्द्रियार्थवेदिनो निषेधो न स्यात्, तत्स्मृतिवत् अन्यस्यापीन्द्रियमन्तरेण वैशद्यसम्भवात् । अथात्र पारम्पर्येणेन्द्रियादेव वैशद्यम्; न; तदविशेषात्सर्वस्यास्तत्प्रसङ्गात् । अथानुभवेन सह क्षीरोदकवदविवेकेनोत्पादोऽस्याः प्रमोषः; ननु कोयमविवेको नाम-भिन्नयोः सतोरभेदेन ग्रहणम् संश्लेषो वा, आनन्तर्येण उत्पादो वा ? प्रथमपक्षे विपरीतख्यातिरेव । संश्लेषस्तु ज्ञानयोर्न सम्भवत्येव, अस्य मूर्त्तद्रव्येष्वेव प्रतीतेः । आनन्तर्येणोत्पादस्य स्मृतिप्रमोषरूपत्वे अनुमेयशब्दार्थेषु देवदत्तादिज्ञानानां स्मरणानन्तरभाविनां स्मृतिप्रमोषताप्रसङ्गः स्यात् ।

भावार्थ—प्रभाकर मतवाले अतीन्द्रिय ज्ञानीको नहीं मानते हैं, उनके लिये आचार्य कहते हैं कि "यह रजत है" इस प्रकारके ज्ञानमें आप लोग अतीतकालका अधिक स्पष्ट रूपसे ग्रहण मानते हो सो जैसे बिना इन्द्रियके इस ज्ञानमें स्पष्टता आयी ऐसा कहते हो वैसे ही सर्वज्ञके ज्ञानमें इन्द्रियों बिना स्पष्टता होनेमें क्या बाधा है ? अर्थात् कुछ भी नही ।

प्रभाकर कहे कि इस रजत की स्मृतिमें परंपरा से इन्द्रियके द्वारा ही विशदता आती है किन्तु इन्द्रियोंके अभावमें सर्वज्ञके ज्ञानमें विशदता नहीं आ सकती, सो ऐसा नहीं कह सकते । ऐसी इन्द्रिय परंपरा सभी ज्ञानोंमें मौजूद होनेसे सभी ज्ञानोंको विशद माननेका प्रसंग प्राप्त होगा ।

पांचवा पक्ष—अनुभव [प्रत्यक्ष] के साथ दूध पानीकी तरह स्मृतिका अभेद रूपसे उत्पन्न होना स्मृति–प्रमोष है ऐसा कहो तो वह क्या है ? दो भिन्न वस्तुओंका अभेद रूपसे ग्रहण होना, कि संश्लेष होना, अथवा अनंतर रूपसे उत्पन्न होना ?

प्रथम पक्षमें वही विपरीत ख्याति हुयी । संश्लेष तो ज्ञानोंमें होता ही नहीं वह तो मूर्त्तिक द्रव्योंमें होता है । अनंतर रूपसे ज्ञान उत्पन्न होनेको स्मृति प्रमोष माने तो अनुमेय आदि पदार्थोंमें तथा शब्द–आगम विषयक, अथवा अन्य उपमेयादि विषयोंमें जो देवदत्तादि व्यक्तियोंको ज्ञान होते हैं वे ज्ञान भी तो स्मरणके बाद ही उत्पन्न होते हैं, अतः उनको भी स्मृति प्रमोष रूप मानना पड़ेगा ।

भावार्थ—प्रभाकर मतवाले पांचवे पक्षके अनुसार स्मृतिप्रमोषका इस प्रकारसे लक्षण करते हैं कि दूध और पानीकी तरह अविवेक–अभेद रूपसे ज्ञान पैदा होना स्मृति प्रमोष है, इस कथन पर प्रश्न होता है कि अविवेक किसको कहना ?

यदि च द्विचन्द्रादिवेदनं स्मरणम्, तर्हीन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि न स्यात्, अन्यत्र स्मरणे तददृष्टेः। तदनुविधायि चेदम्, अन्यथा न किञ्चित्तदनुविधायि स्यात् । तद्विकारविकारित्वं चात एव दुर्लभ स्यात् । किञ्च, स्मृतिप्रमोषपक्षे बाधकप्रत्ययो न स्यात्, स हि पुरोवर्त्तिन्यर्थे तत्प्रतिभासस्यासद्विषयतामादर्शयन् 'नेद रजतम्' इत्युल्लेखेन प्रवर्त्तते, न तु 'रजतप्रतिभासः स्मृतिः' इत्युल्लेखेन । स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमे च स्वतःप्रामाण्यव्याघातः, सम्यग्रजतप्रतिभासेऽपि ह्याशङ्कोत्पद्यते 'किमेष स्मृतावपि स्मृतिप्रमोषः, किं वा

भिन्न दो वस्तुओंका अभेद से ग्रहण करने को अविवेक कहते हैं तब तो जैन की विपरीत ख्याति ही स्मृति प्रमोष कहलाया । संश्लेषको स्मृति प्रमोष इसलिये नहीं कहते कि ज्ञानोंमें सश्लेष होता नही सश्लेष तो मूर्त्त द्रव्योंमें पाया जाता है । अनन्तर अर्थात् प्रत्यक्षके बाद होना अविवेक है ऐसा कहो तो अनुमान आदि आगेके सभी ज्ञान स्मृति-प्रमोष बन जायेंगे, क्योंकि अनुमान आदि ज्ञान प्रत्यक्षादि पूर्व-पूर्व ज्ञानोंके प्रवृत्त होनेपर पैदा होते है । प्रत्यक्षसे अग्नि और धूमका संबंध जानकर फिर पर्वतादिमें धूमको देखकर अग्निका ज्ञान होता है आगमोक्त शब्दोंको श्रावण प्रत्यक्षसे ग्रहण कर आगमज्ञान पैदा होता है, इत्यादि, इसलिये प्रत्यक्षके बाद होना अविवेक है और उससे स्मृति प्रमोष होता है ऐसा मानना असत्य है ।

प्रभाकर की मान्यतानुसार यदि "यह रजत है" इस विपरीत ज्ञानको स्मरण रूप माना जाय तो एक चन्द्रमें तिमिर रोगीको जो द्वि चन्द्र का ज्ञान होता है वह स्मरण रूप हो जायगा, तथा जितने भी विपरीत ज्ञान हैं वे सब स्मरण रूप बन जायेंगे, जैसे मरीचिकामें जल का ज्ञान, रस्सीमें सर्पका प्रतिभास, आदि ज्ञान स्मृति-ज्ञान कहलाने लगेंगे, फिर इन द्वि चन्द्रादि ज्ञानोंका इन्द्रियोंके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं बनेगा, किन्तु इन ज्ञानोंमें बराबर इन्द्रियोंके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है अर्थात् यदि नेत्रेन्द्रिय है तो ये द्वि चन्द्रादि ज्ञान होते हैं और नेत्र नहीं होते तो ये ज्ञान भी उत्पन्न नहीं होते हैं, इस प्रकार इनका इन्द्रियोंके साथ अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है । स्मरणमें तो ऐसा अन्वयव्यतिरेक घटित नहीं होता है । द्वि चन्द्रादि ज्ञानों में इन्द्रियोंका अन्वय व्यतिरेक होते हुए भी नहीं मानों तो कोई भी ज्ञान इन्द्रियोंके साथ अन्वय व्यतिरेक वाला नहीं रहेगा, तथा इन्द्रियोके विकृत हो जानेसे ज्ञानोंमें जो विकारता पायी जाती है वह भी नहीं रहेगी, क्योंकि ज्ञान इन्द्रियोंसे हुए ही नहीं हैं ।

दूसरी बात यह है कि यदि विपरीत ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप माना जाय तो उस ज्ञानमें पीछेसे जो बाधा देनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह नहीं हो सकेगा,

सत्यप्रतिभासे' इति, बाधकाभावापेक्षणात्–यत्र हि स्मृतिप्रमोषस्तत्रोत्तरकालमवश्यं बाधकप्रत्ययो यत्र तु तद्भावस्तत्र स्मृतेः प्रमोषासम्भवः। बाधकाभावापेक्षायां चानवस्था। तस्मात् 'इदं रजतम्' इत्यत्र ज्ञानद्वयकल्पनाऽसम्भवात्स्मृतिप्रमोषाभावः। तत. सूक्तम्–विपर्ययज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वविशेषणेनैव निरास इति।

किन्तु वह इस प्रकारसे जरूर उत्पन्न होता है कि सामने रखे हुए सीपमें जो रजत ज्ञान हुआ है वह असत है अर्थात् यह रजत–चांदी नहीं है सीप है, इस प्रकारसे पूर्वके विपरीत ज्ञानमें बाधा देनेवाला ज्ञान आता है। "रजत प्रतिभास स्मृति है" ऐसा उल्लेख तो वह ज्ञान करता नही, और एक बात यह होगी कि विपर्यय ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप मानेंगे तो प्रभाकरके स्वतः प्रामाण्यवादका सिद्धांत समाप्त हो जायगा अर्थात् प्रभाकर जितने भी प्रमाण है उन सबको स्वतः प्रमाण भूत मानते हैं, यहां पर जो उन्होंने इस विपरीत ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप माना है सो उससे सिद्ध होता है कि प्रमाणोंमें प्रामाण्यको लानेके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता पड़ती है, देखिये– सत्य भूत चांदीके प्रतिभासित होनेपर भी "यह जो प्रतिभास हो रहा है" वह क्या स्मृति प्रमोष रूप है अथवा सत्य चांदीका ही प्रतिभास है ? इस प्रकार की शंकाके आ जानेसे वहांपर बाधकके अभाव की खोज करनी पड़ेगी कि जहां स्मृति प्रमोष है वहां उत्तरकालमें अवश्य ही बाधक ज्ञान आ जाता है और जहां बाधा देने वाला ज्ञान नहीं रहता वहां पर स्मृति प्रमोष संभव नहीं है। इस प्रकार ज्ञानोंमें बाधकके अभावकी अपेक्षा रखनेसे प्रमाणोंमें प्रामाण्य तो परसे ही आया तथा बाधकके अभाव की अपेक्षा होनेपर भी अनवस्था दोष नही आया ! इसलिये "इदं रजतं" इस प्रतिभासमें दो ज्ञानोंकी कल्पना करना बेकार है। जब विपर्यय ज्ञान दो रूप नहीं है तो उसको स्मृति प्रमोष रूप कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् नही, अंतमें यह सिद्ध हुआ कि आचार्य ने जो प्रमाणका लक्षण करते हुए [स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्] व्यवसायात्मक विशेषण द्वारा विपर्यय ज्ञानका निरसन किया है वह निर्दोष है।

*** विपर्ययज्ञानके स्वरूपके विवादका प्रकरण समाप्त ***

*

विपर्ययज्ञानके विवादका सारांश

विपर्यय ज्ञानका क्या स्वरूप है इस पर चार्वाक आदि वादियोंका विवाद है, चार्वाक अख्याति–अर्थात् विपर्यय ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं मानते। बौद्ध के चार भेदोंमें से जो माध्यमिक और सौत्रांतिक हैं वे असत् ख्याति अर्थात् आकाश कुसुम सदृश प्रतिभासका अभाव होना इसीको विपर्यय कहते हैं। सांख्यादिक प्रसिद्धार्थ ख्याति–अर्थात् सत्य पदार्थकी झलकको विपर्यय ज्ञान कहते हैं। योगाचार विज्ञानाद्वैत वादी आदि आत्म ख्यातिको अर्थात ज्ञानके आकार को विपर्यय मानते हैं। अनिर्वचनीयार्थख्याति–अर्थात् सत असत कुछ कहनेमें न आना विपर्यय है ऐसा वेदान्ति आदि मानते हैं। स्मृतिप्रमोषको विपर्यय प्रभाकर (मीमांसक) मानते हैं। अब यहां पर सर्व प्रथम चार्वाककी अख्यातिका विचार करते हैं–उनका कहना है कि जलादिका जो विपरीत ज्ञान होता है उसका विषय न जल है और न जलका अभाव है तथा मरीचि ही है, इसलिये यह ज्ञान निर्विषय निरालंब है। मतलब इस ज्ञानका विषय जल है ऐसा माने तो वह है नहीं, जलका अभाव विषय है ऐसा माने तो वह प्रतीतिमें क्यों नहीं आता ? यदि कोई कहे कि जलाकारसे मरीचिका ग्रहण होना यही इस विपर्ययका विषय है, सो यह गलत है। जलसे तो मरीचि भिन्न है, उसके द्वारा मरीचिका का ग्रहण कैसे होगा ? यदि होगा तो घटाकारसे पटका ग्रहण हो जाना चाहिये ? आचार्यने चार्वाक के इस मतका एक ही बात कहकर खण्डन कर दिया है कि यदि विपर्यय ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं होता तो "जल ज्ञान" इत्यादि विशेष व्यपदेश नहीं होता भ्रान्त और निद्रित इन दोनों अवस्थाओंमें समानताका प्रसंग भी आता है।

बौद्ध—इस विपर्यय ज्ञानमें प्रतिभासित अर्थ विचार करनेपर सत रूप नहीं दिखता, अतः यह असत् ख्याति ही है। सीपमें सीपका प्रतिभास होता नहीं और रजतका प्रतिभास होता है किन्तु वह है नहीं बस ! यही असत् ख्याति हुयी ?

सांख्य—यह असत ख्याति ही असत है, यदि विपर्यय ज्ञानका विषय असत होता तो आकाश पुष्प की तरह उसका प्रतिभास ही नहीं होता, बौद्धके यहां अद्वैत-वाद मान्य होनेसे इस विपर्यय को अनेकाकार रूप भ्रान्त ज्ञान भी नहीं मान सकते। इस प्रकार सांख्यने बीचमें ही बौद्धका खण्डन किया है, और अपनी प्रसिद्धार्थ ख्याति

का समर्थन किया है। आचार्यने कहा है कि बौद्ध के समान सांख्यके अभिमतकी भी सिद्धि नहीं होती, सांख्यमतके अनुसार विपर्यय के विषयको यदि सत्य मानते हैं तो भ्रान्त ज्ञान और अभ्रान्त ज्ञान ऐसा जगत प्रसिद्ध व्यवहार समाप्त होता है। बिजली के समान जलका स्वभाव तत्काल निरन्वय नष्ट होनेका नहीं है, जिससे कि विपर्यय ज्ञानमें जल प्रतीत होकर नष्ट होता है ऐसा कहना सिद्ध होवे ?

विज्ञानाद्वैतवादीका कहना है कि विपरीत ज्ञानमें ज्ञानका ही आकार है, अविद्या के कारण वह बाह्य देशमें प्रतीत होता है, अतः इस ज्ञानको आत्मख्याति रूप माना है। किन्तु यह कथन तब सिद्ध हो जब अद्वैतवादीके यहां ज्ञानका आकार सिद्ध हो। आकार वाला ज्ञान किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही है, तथा प्रत्येक ज्ञानमें अपना निजी आकार है तो सभी ज्ञान सत्यभूत कहलायेंगे। ज्ञानमें ज्ञानका ही आकार है तो वह बाहर क्यों प्रतीत होता है ? और यदि अविद्याके कारण होता है तो यह भी एक विपरीत ख्याति हुयी कि जो अंदर प्रतीत होना था वह बाहरमें प्रतीत होने लगता है।

वेदांती इस विपरीत ज्ञानको अनिर्वचनीयार्थ ख्याति रूप मानते हैं, उनका कहना है कि इस ज्ञानको सत कहे तो वैसा पदार्थ है नहीं और असत कहे तो झलक किसकी होगी ? अतः इसको वचनसे नहीं कह सकने रूप अनिर्वचनीयार्थ ख्याति कहते हैं। यह वेदांतीका कथन भी असत है, इस विपर्यय ज्ञानमें वर्त्तमानमें तो जलादि पदार्थ सत रूप ही झलकते हैं तथा इस ज्ञानसे वस्तुको ग्रहण करने आदिकी प्रवृत्ति भी होती है, अतः यह ज्ञान अनिर्वचनीयार्थ रूप भी नहीं है। विपर्यय ज्ञान तो वस्तुका विपरीत—उलटा प्रतिभास करता है, उसका विषय तो मौजूद है किन्तु वह झलकता विपरीत है, अतः स्याद्वादीकी विपरीत ख्याति ही सिद्ध होती है।

*

स्मृति प्रमोषवाद के खण्डनका सारांश

स्मृति प्रमोषवादी प्रभाकर ने अपना लंबा चौड़ा पक्ष रखकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि स्मरण का प्रमोष—अभाव होना ही विपर्यय ज्ञान है, इसमें दो झलक हैं एक तो "इदं" यह प्रत्यक्ष ज्ञान है, "रजतं" यह ज्ञान स्मरण

रूप है, इन्द्रिय संस्कार आदिके कारण ऐसा ज्ञान पैदा होता है ? जैनाचार्यने इस मंतव्य का खण्डन इस प्रकार किया है कि सर्व प्रथम यह सोचना है कि "स्मृति प्रमोष" इस पदका क्या अर्थ है ? स्मृतिका अभाव अन्य की झलक, विपरीताकार वेदन, अतीतका वर्त्तमानसे ग्रहण, अनुभवके साथ क्षीर नीरवत अविवेक से उत्पाद, क्या ये स्मृतिप्रमोष पदके अर्थ हैं ? स्मृतिका अभाव स्मृतिप्रमोष है ऐसा प्रथम पक्ष का कहना गलत है, क्योंकि रजतकी स्मृति तो विपर्यय ज्ञानी को है ही । अन्यावभासको स्मृति प्रमोष कहे तो सारे ज्ञान स्मृति प्रमोष होंगे । विपरीताकार वेदनको स्मृति प्रमोष कहो तो जैनकी विपरीत ख्याति ही प्रसिद्ध होती है । इसी प्रकार आगेके विषयमें भी समझना चाहिये, प्रभाकर यदि इस ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप मानते हैं तो उनका स्वतः प्रामाण्यवाद खण्डित होता है । अंतमें "इदं रजतं" इत्यादि ज्ञान विपरीत ख्याति रूप ही सिद्ध होते हैं । इन्द्रिय दोष, वस्तुकी सदृशता, कुछ प्रकाशका हलकापन इत्यादि कारणों से विपरीत ज्ञान पैदा होता है । इसी असत्य ज्ञानका व्यवच्छेद करने के लिये प्रमाणके लक्षण में "व्यवसायात्मकं" यह विशेषण दिया गया है ।

*** स्मृतिप्रमोष खण्डनका सारांश समाप्त ***

अपूर्वार्थ-विचार का पूर्वपक्ष

*

मीमांसकों का ऐसा कहना है कि जो सर्वथा अपूर्व वस्तु का ग्राहक होगा वही प्रमाण कोटि में स्थापित होना चाहिये, क्योंकि पिष्टपेषण की तरह जाने हुए पदार्थ का पुनः जानना बेकार है, धारावाहिक ज्ञानको हमने इसीलिये प्रमाण नहीं माना है, धाराप्रवाहरूप से जो अनेक ज्ञान एक ही वस्तु के जानने में प्रवृत्त होते हैं वे अपूर्वार्थ के ग्राहक नहीं हो सकते, अतः वे प्रमाणभूत भी नहीं हो सकते, प्रमाण में प्रमाणता तभी ठीक मानो जाती है कि जब वह किसी भी प्रमाण के द्वारा जाने हुए विषयमें प्रवृत्त न हो, कहा भी है—

तत्रा पूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतम् ।।

जो सर्वथा अपूर्व अर्थका—नवीन वस्तु का ग्राहक हो, निश्चित, बाधारहित और निर्दोष कारण से उत्पन्न हुआ हो और लोकमान्य हो वही प्रमाण होता है, अतः प्रमाणमात्र अपूर्व अर्थ का ग्राहक होता है यह निश्चय हुआ ।

* पूर्वपक्ष—समाप्त *

*

अपूर्वार्थत्वविचारः

तेनापूर्वार्थविशेषणेन धारावाहिविज्ञानं निरस्यते नन्वेवमपि प्रमाणसम्प्लववादिताव्याघातः प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रमाणान्तरा प्रतिपत्तिः; इत्यचोद्यम्; अर्थपरिच्छित्तिविशेषसद्भावे तत्प्रवृत्तेरप्यभ्युपगमात्। प्रथमप्रमाण प्रतिपन्ने हि वस्तुन्याकारविशेषं प्रतिपद्यमान प्रमाणान्तरम् अपूर्वार्थमेव वृक्षो न्यग्रोध इत्यादिवत्। एतदेवाह—

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥

भाट्ट का ऐसा कहना है कि आपने जो अपूर्वार्थ विशेषण के द्वारा धारावाहिक ज्ञान का निरसन किया है सो उससे आपके मान्य प्रमाणसंप्लववाद का व्याघात होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा जाने हुए विषय में दूसरे अनुमान आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति होना इसका नाम प्रमाणसंप्लव है, प्रमाणसंप्लव ग्रहण हुए पदार्थको ही ग्रहण करता है, अपूर्वार्थ को नहीं, अतः इसका आप अब निर्वाह कैसे कर सकेंगे ?

जैन—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहां अर्थ-परिच्छित्ति की विशेषता होती है वहां उसी एक विषय में प्रवृत्त होने पर भी ज्ञान में हमने प्रमाणता मानी है, देखो—प्रथम प्रमाण के द्वारा जाने गये पदार्थ को यदि विशेषाकार रूप से जानने के लिये वहां दूसरा प्रमाण प्रवृत्त होता है तो वह विषय उसके लिये अपूर्वार्थ ही है, जैसे—प्रथम प्रमाण ने इतना ही जाना कि यह वृक्ष है, फिर दूसरे प्रमाण ने उसे यह वृक्ष वट का है ऐसा विशेषरूप से जाना तो वह ज्ञान प्रमाण ही कहा जायगा, क्योंकि द्वितीय ज्ञान के विषय को प्रथम ज्ञान ने नहीं जाना था, अतः वृक्ष सामान्य को जानने वाले ज्ञान की अपेक्षा वट वृक्ष को जानने वाले ज्ञान के लिये वह वट वृक्ष अपूर्वार्थ ही है। यही बात—

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥

स्वरूपेणाकारविशेषरूपतया वानवगतोऽखिलोऽप्यपूर्वार्थः ।

दृष्टोपि समारोपात्तादृक् ॥ ५ ॥

न केवलमप्रतिपन्न एवापूर्वार्थः, अपि तु दृष्टोऽपि प्रतिपन्नोपि समारोपात् संशयादिसद्भावात् तादृगपूर्वार्थोऽधीतानभ्यस्तशास्त्रवत् । एवंविधार्थस्य यन्निश्चयात्मकं विज्ञानं तत्सकलं प्रमाणम् ।

तन्न अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेव प्रमाणस्य लक्षणम् । तद्धि वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वाऽव्यभिचारादिविशिष्टां प्रमां जनयन्नोपालम्भविषयः । न चाधिगतेऽर्थे किं कुर्वत्तत्प्रमाणतां प्राप्नोतीति वक्तव्यम् ? विशिष्टप्रमां जनयतस्तस्य प्रमाणताप्रतिपादनात् । यत्र तु सा नास्ति तन्न प्रमाणम् ।

इस सूत्र द्वारा स्पष्ट की गई है, स्वरूप से अथवा विशेषरूप से जो निश्चित नहीं है वह अखिल पदार्थ अपूर्वार्थ है ।

दृष्टो ऽपि समारोपात्तादृक् ॥ ५ ॥

देखे जाने हुए पदार्थ में भी यदि समारोप आ जाता है तो वह पदार्थ भी अपूर्वार्थ बन जाता है । जैसा कि पढ़ा हुआ भी शास्त्र अभ्यास न करने से नहीं पढ़ा हुआ जैसा हो जाता है, ऐसे अपूर्वार्थ का निश्चय करानेवाले सभी ज्ञान प्रमाण कहे गये हैं । इसलिये प्रभाकर की "अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेवप्रमाणं" यह प्रमाण विषयक मान्यता गलत है, वस्तु चाहे जानी हुई हो चाहे नहीं जानी हुई हो उसमें यदि ज्ञान अव्यभिचार रूप से विशेष प्रमा को उत्पन्न करता है तो वह ज्ञान प्रमाण ही माना जायगा ।

शंका—जाने हुए विषय में यह क्या प्रमाणता लायेगा ?

समाधान—ऐसी शका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उसमें विशिष्ट अंश का ग्रहण करके वह विशेषता लाता है, अतः उसमें प्रमाणता आती है, हां; जहां ज्ञानके द्वारा कुछ भी विशेषरूप से जानना नहीं होता है वहां उसमें प्रमाणता नहीं होती । विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करने पर भी जाने हुए विषय में प्रवृत्ति करने के कारण उस दूसरे प्रमाण को अकिञ्चित्कर नहीं मानना चाहिये, अन्यथा अतिप्रसङ्ग की आपत्ति आती है, अर्थात् विशिष्ट ज्ञानको उत्पन्न करने पर भी यदि उसे प्रमाण भूत नहीं माना जाता है तो सर्वथा नहीं जाने हुए पदार्थ में प्रवृत्त हुए ज्ञान में भी अकिञ्चित्करता-प्रमाणभूतता नहीं आनी चाहिये, अतः जिस प्रकार सर्वथा नहीं जाने हुए

न च विशिष्टप्रमोत्पादकत्वेप्यधिगतविषयेऽस्याऽकिञ्चित्करत्वम्; अतिप्रसङ्गात् । न चैकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे प्रामाण्यं प्रमाणस्यावसातुं शक्यम्; तद्धयर्थतथाभावित्वलक्षणं संवादादवसीयते, स च तदर्थोत्तरज्ञानवृत्तिः । न चानधिगतार्थाधिगन्तुरेव प्रामाण्ये संवादप्रत्ययस्य तद् घटते । न च तेनाप्रमाणभूतेन प्रथमस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम्; अतिप्रसङ्गात् । न च सामान्यविशेषयोस्तादात्म्याभ्युपगमे तस्यैकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं सम्भवति । इदानीतन्नानास्तित्व (इदानीन्तनास्तित्व)स्य पूर्वास्तित्वादभेदात् तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वात् । कथञ्चिदनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे

पदार्थ में विशिष्ट प्रमाजनक होने से ज्ञान में अकिञ्चित्करता नहीं आती है उसी प्रकार अधिगत अर्थ में विशिष्ट प्रमाजनक होने से ज्ञानमें अकिञ्चित्करता नहीं आती है ऐसा स्वीकार करना चाहिये । दूसरी बात यह है कि यदि एकान्ततः अनधिगत अर्थ को ही प्रमाणका विषय माना जावे तो उस प्रमाण में प्रमाणता का निश्चय करना शक्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह प्रमाणता तो वस्तु को जैसी की तैसी जानने से ज्ञान में आतो है, अर्थात् इस ज्ञान का विषयभूत पदार्थ वास्तविक– ऐसा ही है ऐसा निश्चय होनेरूप ही प्रमाणता है; और वह संवादक प्रमाण से जानी जाती है, सवादक ज्ञान उस प्रथम ज्ञान के अनन्तर प्रवृत्त होता है, अब देखिये– सर्वथा अनधिगत पदार्थ ही प्रमाण का विषय है ऐसा ही एकान्तरूप से माना जावे तो संवादकज्ञान में यह बात घटित नहीं होती क्योंकि वह उस प्रथम प्रमाण की सत्यता को बतानेवाला होने से उसी के विषय का ग्राहक होता है । संवादकज्ञान के अप्रमाणभूत होने पर उसके द्वारा प्रथम ज्ञान की प्रमाणता व्यवस्थित नहीं हो सकती । यदि स्वत अप्रमाणभूत ऐसे संवादक से प्रमाणता आवे तो संशयादि अप्रमाण से भी वह आनी चाहिये । तथा–सामान्य और विशेष का जब तादात्म्य सम्बन्ध है—तब किसी वस्तु का सामान्य धर्म जान लेनें पर वह वस्तु विशेष धर्म के लिये भी अपूर्व कहां रही । तात्पर्य कहने का यही है कि जब वस्तु का सामान्य धर्म जान लिया तो विशेष धर्म भी जान लिया गया–अब वह वस्तु उस विशेषकी अपेक्षा अनधिगत कहां रही–वह तो अधिगत ही हो गई । अतः प्रमाण एकान्ततः अनधिगत को ही जानता है यह बात सिद्ध नहीं होती । तथा–इस समय का अस्तित्व पहिले अस्तित्व से तो अभिन्न ही है, और वह अस्तित्व प्रथम ही ग्रहण हो चुका है । मतलब–वृक्ष सामान्यरूप है उसीमें वटत्वादि विशेष हैं, सामान्य वृक्ष को जानते ही अविनाभावरूप से वर्तमान उसके वटत्वादि विशेष

त्वस्मन्मतप्रवेशः। निश्चिते विषये किन्निश्चयान्तरेण अप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्; इत्यप्यवाच्यम्; भूयो निश्चये सुखादिसाधकत्वविशेषप्रतीतेः। प्रथमतो हि वस्तुमात्रं निश्चीयते, पुनः 'सुखसाधनं दुःखसाधनं वा' इति निश्चित्योपादीयते त्यज्यते वा, अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादानत्यागप्रसङ्गः स्यात्। केषाञ्चित्सकृद्दर्शनेपि तन्निश्चयो भवति अभ्यासादिति एकविषयाणामप्यागमानुमानाध्यक्षाणां प्रामाण्यमुपपन्नम् प्रतिपत्तिविशेषसद्भावात्; सामान्याकारेण हि वचनात्प्रतीयते वह्निः, अनुमानाद्देशादिविशेषविशिष्टः, अध्यक्षात्स्वाकारनियत इति। ततोऽयुक्तमुक्तम्—

का ग्रहण हो ही जाता है इस तरह उस वृक्ष की विशेषता को जानने वाले सारे ही ज्ञान अप्रमाणभूत हो जायेंगे। हां; यदि कथंचित् अनधिगतार्थगन्तृत्व में प्रमाणता मानो तो जैन मान्य अनेकान्त मत में आप प्रभाकर का प्रवेश हो जावेगा।

शंका—निश्चित किये हुए विषय में निश्चयान्तर की आवश्यकता क्या है, इस तरह से कहने वाला तो मूर्ख कहलाता है तात्पर्य कहने का यह है कि जो विषय निश्चित हो चुका उसे पुनः निश्चय करने की क्या आवश्यकता है, उससे कोई प्रयोजन तो निकलता नहीं है, पिष्ट को पेषण करना ही तो मूर्खपने की बात है।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिये—क्योंकि बार बार निश्चय करानेवाले ज्ञानमें सुखादिसाधकता विशेष अच्छी तरह से प्रतीति हो जाती है, देखो पहिले तो ज्ञान से सामान्यवस्तु का निश्चय होता है, फिर यह वस्तु सुखसाधनरूप है या दुःखसाधनरूप है ऐसा जानकर ज्ञाताजन सुख साधन को ग्रहण करता है और दुःख साधन को छोड़ देता है। यदि ऐसा निश्चय न हो तो विपरीतरूप से भी ग्रहण करना और छोड़ना हो सकता है, अर्थात् दुःखसाधन का ग्रहण और सुखसाधन का छोड़ना ऐसा उल्टा भी हो सकता है, हां; कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो एकबार के निश्चय से ही वस्तु का निर्णय कर लिया करते हैं क्योंकि उनका ऐसा अभ्यास विशेष होता है, इस तरह विषयवाले भी आगम अनुमानादि अनेक प्रमाणों में प्रमाणता इसीलिये मानी गई है कि वे उसी एक विषय की आगे-आगे विशेष जानकारी कराते रहते हैं। जैसे कि—अग्नि इस वचन के द्वारा सामान्य अग्नि का जानना होता है। फिर वही देशादि विशेष विशिष्टरूप से अनुमान द्वारा जानी जाती है। पुनः उस स्थान पर जाकर प्रत्यक्ष से देखने पर वह और भी विशेषरूप से जान ली जाती है, अतः आपने जो इस श्लोक द्वारा ऐसा कहा है कि—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥" [ ] इति । प्रत्यभिज्ञानस्यानुभूतार्थग्राहिणोऽप्रामाण्यप्रसङ्गात्, तथा च कथमतः शब्दात्मादेर्नित्यत्वसिद्धिः ? न चानुभूतार्थग्राहित्वमस्यासिद्धम्; स्मृतिप्रत्यक्षप्रतिपन्नेऽर्थे तत्प्रवृत्तेः । न ह्यप्रत्यक्षेऽस्मर्यमाणे चार्थे प्रत्यभिज्ञानं नाम; अतिप्रसङ्गात् । पूर्वोत्तरावस्थाव्याप्येकत्वे तस्य प्रवृत्तेरयमदोषः; इति चेत्; किं ताभ्यामेकत्वस्य भेदः; अभेदो वा ? भेदे तत्र तस्याप्रवृत्तिः । न हि पूर्वोत्तरावस्थाभ्यां भिन्ने सर्वथैकत्वे तत्परिच्छेदिज्ञानाभ्यां जन्यमानं प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्त्तते अर्थान्तरैकत्ववत्, मतान्तर-

---

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतम् ॥ १ ॥

जो ज्ञान सर्वथा अपूर्व अर्थ का निश्चायक हो, बाधा रहित हो, निर्दोष कारणों से उत्पन्न हो वही लोक संमत प्रमाण है वह गलत है ।

तथा–प्रमाण सर्वथा अपूर्व अर्थ को ही जानता है वो ऐसी मान्यता में प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण होगा, क्योंकि वह भी अनुभूत विषय को ही जानता है, यदि प्रत्यभिज्ञान अप्रमाणभूत हो जाय तो उस अप्रमाणभूत ज्ञान से जाना गया आत्मादि पदार्थ नित्य सिद्ध कैसे हो सकेगा, प्रत्यभिज्ञान अनुभूत पदार्थ को जानता है यह बात प्रत्यभिज्ञान में असिद्ध तो है नहीं, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष और स्मृति के द्वारा जाने हुए विषय में ही होती है, विस्मृत हुए तथा अप्रत्यक्ष विषय में प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, यदि वह बिना देखी और बिना स्मरण हुई वस्तु में प्रवृत्त होता हो तो फिर जो अतिपरोक्ष मेरु आदि पदार्थ हैं उनमें उसकी उत्पत्ति होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, तात्पर्य इसका यही है कि वर्तमान काल का प्रत्यक्ष और पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण–इन दोनों का जोड़रूप जो ज्ञान होता है वही प्रत्यभिज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान और प्रकार से नहीं होता ।

यदि कहा जावे कि पूर्वोत्तर अवस्था में व्याप्त जो एकत्व है उसमें प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्त होता है, इसलिये वह एकत्व अपूर्व होनेसे प्रत्यभिज्ञान अपूर्वार्थ का ही ग्राहक सिद्ध होता है, तो इस पर हम आप से यह पूछते हैं कि उन पूर्वोत्तर अवस्थाओं में वह एकत्व भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो उसमें प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्त नहीं होगा, क्योंकि पूर्वोत्तर अवस्था से सर्वथा भिन्न ऐसे एकत्व में उन पूर्वोत्तर

प्रवेशश्च । ताभ्यामेकत्वस्य सर्वथाऽभेदे अनुभूतग्राहित्वं प्रत्यभिज्ञानस्य स्यात् । ताभ्यां तस्य कथञ्चिदभेदे सिद्धं तस्य (कथञ्चिद्) अनुभूतार्थग्राहित्वम् । न चैवंवादिनः प्रत्यभिज्ञानप्रतिपन्ने शब्दादिनित्यत्वे प्रवर्त्तमानस्य "दर्शनस्य परार्थत्वात्" [जैमिनिसू० १/१८] इत्यादेः प्रमाणता घटते । सर्वेषां चानुमानानां व्याप्तिज्ञानप्रतिपन्ने विषये प्रवृत्तेरप्रमाणता स्यात् । प्रत्यभिज्ञानान्नित्यशब्दादिसिद्धावपि कुतश्चित्समारोपस्य प्रसूतेस्तद्व्यवच्छेदार्थत्वादस्य प्रामाण्ये च एकान्तत्यागः । स्मृत्यूहादेश्चाभिमतप्रमाणसंख्याव्याघातकृत्प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः स्यात्; प्रत्यभिज्ञानवत्कथंचिदपूर्वार्थत्वसिद्धेः। किञ्च,

---

अवस्था को जानने वाले स्मृति और प्रत्यक्ष से जन्यमान वह प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्त नहीं होता है, जैसे कि और दूसरे नहीं जाने हुए पदार्थों के एकत्व में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, तथा–उन पूर्वोत्तर अवस्थाओं से एकत्व को सर्वथा भिन्न माना जाता है तो ऐसी मान्यता आपका मतान्तर–नैयायिकके मत में प्रवेश होने की सूचना देती है। यदि उन पूर्व और उत्तर कालीन पर्यायों से प्रत्यभिज्ञान का विषय जो एकत्व है वह सर्वथा अभिन्न है ऐसा माना जावे तो वह प्रत्यभिज्ञान जाने हुए को ही जानने वाला हो जाता है। यदि आप पूर्वोत्तर अवस्थाओं से एकत्व का कथंचित् अभेद है ऐसा स्वीकार करते हैं तो वह प्रत्यभिज्ञान कथंचित् ग्रहीतग्राही (अनुभूतग्राही) सिद्ध हो जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि सर्वथा अपूर्वार्थ को प्रमाण विषय करता है अर्थात् प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्वार्थ ही होता है ऐसा मानने वाले आपके यहां प्रत्यभिज्ञान से जाने हुए शब्द आदि का धर्म जो नित्यत्व आदि है उसमें प्रवृत्त हुए ज्ञान में सत्यता कैसे रहेगी ? और कैसे आपका "दर्शनस्य परार्थत्वात्" यह कथन सत्य सिद्ध होगा ?

भावार्थ—शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिये प्रभाकर जैमिनि ने अनेक हेतु दिये हैं, उनमेंसे "नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्" शिष्य को समझाने के लिये बार बार उच्चारण में आने से भी शब्द नित्य है ऐसा कहा गया है, सूत्रस्थ दर्शन शब्द का अर्थ "शब्द" है, सो यदि प्रभाकर प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्व ही मान रहे हैं तो आचार्य कह रहे हैं कि जब शब्द की नित्यता बार २ उच्चारण से सिद्ध होती है तब वह अपूर्व कहां रहा, मतलब कर्णेन्द्रिय से जब वह प्रथम बार ग्रहण किया गया तब तो वह अपूर्व ही है, किन्तु बार २ ग्रहण किये जाने पर उसमें

अपूर्वार्थप्रत्ययस्य प्रामाण्ये द्विचन्द्रादिप्रत्ययोऽपि प्रमाणं स्यात्। निश्चितत्वं तु परोक्षज्ञानवादिनो न सम्भवतीत्यग्रे वक्ष्यामः।

ननु द्विचन्द्रादिप्रत्ययस्य सबाधकत्वान्न प्रमाणता, यत्र हि बाधाविरहस्तत्प्रमाणम्; इत्यप्यसङ्गतम्; बाधाविरहो हि तत्कालभावी, उत्तरकालभावी वा विज्ञानप्रमाणताहेतुः? न तावत्तत्कालभावी; क्वचिन्मिथ्याज्ञानेऽपि तस्य भावात्। अथोत्तरकालभावी; स किं ज्ञातः, अज्ञातो वा? न तावदज्ञातः; अस्य सत्त्वेनाप्यसिद्धेः। ज्ञातश्चेत्-किं पूर्वज्ञानेन, उत्तरज्ञानेन वा? न तावत्पूर्व-

---

अपूर्वता नहीं रहती, और बार २ ग्रहण किये बिना उसमें नित्यता सिद्ध नहीं होती, तथा किसी को ऐसा जोड़रूप ज्ञान होता है कि यह वही देवदत्त है कि जिसे मैंने १० वर्ष पहिले देखा था, ऐसा ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञान है और इस ज्ञानसे वस्तु में नित्यता सिद्ध होती है, तथा-प्रत्यभिज्ञान की सहायता से अर्थापत्ति आदि ज्ञान होते हैं वे सभी ज्ञान पूर्वार्थ को ग्रहण करते हैं, सर्वथा अपूर्वार्थ को नहीं, अतः जो सर्वथा अपूर्व अर्थ हो वही प्रमाण का विषय है ऐसा जो प्रभाकर का मान्य प्रमाण लक्षण है वह घटित नहीं होता है। क्योंकि ऐसा मानने से अर्थापत्तिज्ञान में प्रमाणता नहीं बन सकती। तथा जितने भी अनुमानज्ञान हैं वे सब व्याप्तिज्ञान के द्वारा जाने गये विषय में ही प्रवृत्त होते है, अतः उनमें प्रमाणता का निर्वाह कैसे हो सकेगा? प्रत्यभिज्ञान के द्वारा शब्दादि में नित्यता सिद्ध होने पर भी उसमें यदि किसी को संशयादि हो जाते हैं तब उस समारोप को दूर करने के लिये अनुमानादि प्रमाण माने गये हैं, यदि ऐसा कहा जावे तो फिर यह एकान्त कहां रहा कि अपूर्वार्थ ही प्रमाण का विषय होता है। तथा स्मृति, तर्क आदि और भी प्रमाणों का सद्भाव होने से आपके द्वारा स्वीकृत प्रमाण संख्या का व्याघात होता है, क्योंकि इन स्मृति आदि प्रमाणों के विषयों में भी प्रत्यभिज्ञान की तरह कथंचित् अपूर्वार्थपना मौजूद ही है। किञ्च—यदि अपूर्वार्थ ही प्रमाण का विषय है तो द्विचन्द्रादि ज्ञान भी सत्य होने चाहिये, क्योंकि एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान तो बहुत ही अधिक अपूर्व विषय वाला है। एक बात और है कि आप सर्वथा ज्ञान को परोक्ष मानते हो सो ऐसे ज्ञानों में निश्चायकपना ही नहीं हो सकता, ऐसा हम आगे कहने वाले हैं।

शंका—द्विचन्द्रादिज्ञान बाधायुक्त हैं, अतः उनमें प्रमाणता नहीं है। जिस प्रमाण के विषयमें बाधा नहीं आती है वही प्रमाण होता है।

ज्ञानेनोत्तरकालभावी बाधाविरहो ज्ञातुं शक्यः; तद्धि स्वसमानकालं नीलादिकं प्रतिपद्यमानं कथम् 'उत्तरकालमप्यत्र बाधकं नोदेष्यति' इति प्रतीयात् ? पूर्वमनुत्पन्नबाधकानामप्युत्तरकालं बाध्यमानत्व-दर्शनात् । नाप्युत्तरज्ञानेनासौ ज्ञायते; तदा प्रमाणत्वाभिमतज्ञानस्य नाशात् । नष्टस्य च बाधाविरह-चिन्ता गतसर्पस्य घृष्टिकुट्टनन्यायमनुकरोति । कथं च बाधाविरहस्य ज्ञायमानत्वेपि सत्यत्वम्; ज्ञाय-मानस्यापि केशोण्डुकादेरसत्यत्वदर्शनात् ? तज्ज्ञानस्य सत्यत्वाच्चेत्; तस्यापि कुतः सत्यता ? प्रमेयसत्यत्वाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः । अपरबाधाभावज्ञानाच्चेत्; अनवस्था । अथ संवादादुत्तरकाल-

---

समाधान—यह भी असंगत है, यहां बाधा के अभावको आपने प्रमाण माना है और इस कथन में क्या बाधा आती है सो देखिये—यदि बाधा का अभाव, प्रमाण में प्रमाणता का कारण है तो वह कब होता है ? तत्काल में या उत्तरकाल में ? तत्काल में कहो तो ऐसा बाधा का अभाव तो मिथ्याज्ञान में भी है, अर्थात् ज्ञान सत्य हो या मिथ्या हो सभी ज्ञानों में वस्तु को जानते ही तत्काल जो उसकी झलक होती है उसमें उस समय तो कोई बाधा नहीं रहती । उत्तरकाल में कहो तो क्या वह बाधा का अभाव जाना हुआ रहता है या नहीं ? यदि जाना हुआ नहीं रहता है तो "वह वहां है" ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? यदि बाधा का अभाव ज्ञात है तो उसे किस ज्ञान ने जाना, उस पूर्वज्ञान ने कि उत्तरज्ञान ने ? पूर्वज्ञान ने जाना ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि आगे होनेवाला बाधा का अभाव उससे कैसे जाना जायगा, वह पूर्वकालीन ज्ञान तो अपने समान काल वाले नीलादि वस्तु का ही ग्राहक होगा, वह विचारा यह कैसे कह सकेगा कि आगे इसमें बाधा नहीं आवेगी ? क्योंकि पहिले जिसमें बाधा नहीं आई है ऐसे ज्ञानों में भी आगे के समय में बाधा आती हुई देखी जाती है । यदि कहा जाय कि उत्तरकाल के ज्ञान के द्वारा बाधा का अभाव जाना जाता है तो प्रमाणरूप से माना गया वह पहिला ज्ञान तो अब नष्ट हो चुका, (उत्तर-काल में) नष्ट होने पर उसमें बाधा के अभाव की क्या चिन्ता करना ? सर्प निकल-जाने के बाद उसकी लकीर को पीटने के समान नष्ट हुए ज्ञानमें बाधाविरह की चिन्ता व्यर्थ होगी । तथा—यह ज्ञान बाधारहित है अतः सत्य है यह भी कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि पूर्वकाल में अनुभूत हुआ केशों में मच्छर आदि का ज्ञान असत्य हो जाता है ।

भाट्ट—बाधारहित होने से उस पूर्वज्ञान में सत्यता मानी जाती है ?

जैन—अच्छा, तो यह बताइये कि वह सत्यता किस कारण से आई है ।

भावी बाधाविरहः सत्यत्वेन ज्ञायते; तर्हि संवादस्याप्यपरसंवादात्सत्यत्वसिद्धिस्तस्याप्यपरसंवादादित्यनवस्था । किञ्च, क्वचित्कदाचित्कस्यचिद् बाधाविरहो विज्ञानप्रमाणता हेतुः, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा ? प्रथमपक्षे कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्यापि प्रमाणताप्रसङ्गः, क्वचित्कदाचित्कस्यचिद्बाधाविरहसद्भावात् । सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य बाधाविरहस्तु नासर्वविदां विषयः ।

अदुष्टकारणारब्धत्वमप्यज्ञातम्, ज्ञातं वा तद्धेतुः ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; अज्ञातस्य सत्त्व-

---

भाट्ट—उस ज्ञान का विषय सत्य है—अर्थात् वह पूर्वज्ञान सत्य वस्तु को ग्रहण करता है, अतः वह सत्य कहलाता है ।

जैन—ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष आता है अर्थात् उस पूर्वज्ञान में बाधारहितपने को लेकर सत्य विषय की सिद्धि होगी और विषय की सत्यता को लेकर बाधारहितपना ज्ञान में सिद्ध होगा, इस प्रकार इन ज्ञानों की सिद्धि परस्पर अवलंबित होने से एक की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

भाट्ट—अन्योन्याश्रय दोष नहीं आवेगा, क्योंकि उस पूर्वज्ञान की सत्यता तो दूसरे बाधकाभाववाले प्रमाण के द्वारा जानी जाती है ।

जैन—ऐसा कहोगे तो अनवस्था दोष आवेगा—अर्थात् पूर्वज्ञान में बाधकाभाववाले ज्ञान से सत्यता आई और उस बाधकाभाववाले ज्ञान में सत्यता अन्य तीसरे बाधकाभाववाले ज्ञान से आई, इस प्रकार ऊपर ऊपर बाधा के अभावको सत्यता के लिये ऊपर ऊपर बाधकाभाव वाले ज्ञानों की उपस्थिति होते रहने से कहीं पर भी बाधकाभाव की स्थिति स्वयं सिद्ध नहीं हो सकने से अनवस्था पसर जावेगी ।

भाट्ट—पूर्वकाल भावी ज्ञान के बाद जो बाधकपने का उसमें अभाव होता है उसकी सत्यता तो संवादकप्रमाण से ग्रहण हो जावेगी ।

जैन—इस तरह से भी अनवस्थादूषण से आप छूट नहीं सकते, क्योंकि उस संवादक की सत्यता दूसरे संवादकज्ञान से और दूसरे संवादक की सत्यता तीसरे संवादकज्ञान से—इस प्रकार की कल्पना करते रहने से अनवस्था दोष तो अवस्थित ही रहेगा ।

अच्छा, यह तो बताओ कि किसी एक स्थान पर किसी समय किसी एक व्यक्ति को ज्ञान में बाधारहितपना उस ज्ञान की प्रमाणता में हेतु होता है, कि सभी स्थान पर हमेशा सभी पुरुषों को बाधारहितपना उसी विवक्षित प्रमाण की प्रमाणता

सन्देहात् । नापि ज्ञातम्; करणकुशलादेरतीन्द्रियस्य ज्ञप्तेरसम्भवात् । अस्तु वा तज्ज्ञप्तिः; तथाप्यसौ अदुष्टकारणारब्धः ज्ञानान्तरात्, संवादप्रत्ययाद्वा ? आद्यविकल्पे अनवस्था । द्वितीयविकल्पेपि संवाद-प्रत्ययस्यापि ह्यदुष्टकारणारब्धत्वं तथाविधादन्यतो ज्ञातव्यं तस्याप्यन्यत इति । न चानेकान्त-वादिनामप्युपालम्भः समानोऽयम्; यथावदर्थनिश्चायकप्रत्ययस्याभ्यासदशायां बाधवैधुर्यस्यादुष्ट कारणारब्धत्वस्य च स्वयं संवेदनात्; अनभ्यासदशायां तु परतोऽभ्यस्तविषयात् । न चैवमनवस्था;

का हेतु होता है ? प्रथम पक्ष यदि स्वीकार किया जावे तो ऐसा क्वचित् कदाचित् बाधकाभाव तो मिथ्याज्ञानों में भी रहता है; अतः उन्हें भी प्रमाण मानना पड़ेगा, और दूसरा पक्ष–सर्वत्र सभी व्यक्तियों को उसमें बाधारहितपना हो तब वह प्रामा-णिक होता है ऐसा कहा जावे तो बनता नहीं, क्योंकि हम तुम जैसे अल्पज्ञानी के सर्वत्र सर्वदा सभी को बाधक का अभाव है ऐसा जानना बस की बात नहीं है ।

भाट्ट ने प्रमाण का एक विशेषण यह भी दिया है कि अदुष्ट-निर्दोष-कारणों से उत्पन्न होना प्रमाणता का हेतु है सो यह अदुष्टकारणारब्धत्व भी ज्ञात होकर प्रमाणता का हेतु होता है ? या अज्ञात होकर प्रमाणता का हेतु होता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञात में सत्त्व की शंका ही रहेगी—कि इसमें कैसी कारणता है पता नहीं ? यदि वह अदुष्टकारणारब्धत्व जाना हुआ है–अर्थात् यह प्रमाण निर्दोष हेतु से उत्पन्न हुआ है ऐसा जाना हुआ है—ऐसा कहो तो उसको कैसे जाना ? क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों की निर्मलता तो अतीन्द्रिय है, उसका ज्ञान होना असंभव है ।

भावार्थ—अदुष्टकारणारब्धत्व का अर्थ है कि जिन कारणों से प्रमाण उत्पन्न होता है उन कारणों का निर्दोष होना, प्रमाण ज्ञान इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से अर्थात् ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है जो कि भावेन्द्रिय स्वरूप है, वह क्षयोपशम अतीन्द्रिय होता है, हम जैसों के ज्ञानगम्य नहीं है, अतः यह प्रमाण-ज्ञान निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है ऐसा निश्चय हम लोग नहीं कर सकते हैं ।

अच्छा दुर्जन संतोष न्याय से मान लिया जाय कि यह अदुष्टकारणारब्धत्व जाना हुआ है तो भी उसे किस ज्ञान से जाना ? ज्ञानान्तर से कि संवादक प्रत्यय से ? ज्ञानान्तर से मानो तो अनवस्था आती है और संवादक प्रत्यय से मानो तो वही अनवस्था है, क्योंकि संवादक हो चाहे अन्य ज्ञान हो वह भी एक प्रमाणभूत वस्तु है

क्वचित्कस्यचिदभ्यासोपपत्तेरित्यलं विस्तरेण परतः प्रामाण्यविचारे विचारणात् । लोकसम्मतत्वं च यथावद्वस्तुस्वरूपनिश्चयात्मापरम् ।

और उसे भी अदुष्टकारण से उत्पन्न होना चाहिये, उनका अदुष्टकारणारब्धत्व किसी अन्य ज्ञान और सवादक से और वहां भी वह किसी अन्य ज्ञान और संवादक से जाना जायगा, इस तरह से अनवस्था आवेगी ही, हम अनेकान्तवादी के यहां पर ये दोष नहीं आते हैं, क्योंकि जैसी की तैसी वस्तु को जानने वाले जो ज्ञान हैं उनमें अभ्यासदशा में तो बाधा का अभाव और अदुष्टकारणों से उत्पन्न होना ये दोनों ही अपने आप जाने जाते हैं, सिर्फ-अनभ्यासदशा में तो यह जानकारी दूसरे स्वतः अभ्यस्त ऐसे किसी ज्ञान से ही होती है ऐसा मानने से अनवस्था भी नहीं आती, क्योंकि किसी स्थान में किसी विषय में किसी न किसी ज्ञान का अभ्यास रहता ही है, इस बात का आगे विस्तारसे परतः प्रामाण्य के प्रकरण में विचार करेंगे, प्रमाण का "लोकसंमतं" विशेषण तो वस्तु का जैसा स्वरूप है उसका वैसा ही निश्चय करने रूप है, इसके सिवाय और कुछ नहीं है, इस प्रकार प्रभाकर भाट्ट के द्वारा माना गया सर्वथा अपूर्वार्थ का निरसन किया।

*** अपूर्वार्थ का प्रकरण समाप्त ***

*****

अपूर्वार्थ के खंडन का सारांश

अपना और अपूर्वार्थ का निश्चय करानेवाला जो ज्ञान है वही प्रमाण है, प्रमाण के लक्षण में आगत ज्ञान के स्व, अपूर्वार्थ और व्यवसायात्मक इतने विशेषण हैं, इनमें से व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण होता है इसका स्पष्टीकरण बौद्ध संमत निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमाणता का खंडन करते समय किया जा चुका है, ज्ञान रूप विशेषण की सार्थकता कारक साकल्यादि प्रकरण में की है, अब अपूर्वार्थविशेषण का खुलासा आचार्य करते हैं—किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा जिसका निश्चय नहीं हुआ है वह तथा निश्चय होने के बाद भी उसमें संशयादिरूप समारोप उत्पन्न हो गया है तो वह वस्तु अपूर्वार्थरूप ही है, तथा एक ही वस्तु में जो अनेक सामान्य विशेषात्मक

गुण या धर्म होते हैं उनमें से किसी गुण या धर्म का किसी प्रमाण से निश्चय होने पर भी दूसरे गुण की अपेक्षा वह वस्तु दूसरे प्रमाण के लिये अपूर्वार्थ हो जाती है, जैसे पहिले धूम के द्वारा परोक्षरूप से अग्नि के विषय में दो प्रमाण प्रवृत्त हुए तो भी उनका विषय अपूर्वार्थ ही रहा, ऐसे ही वृक्षत्व सामान्यको जानकर पीछे उसका वटत्वादि विशेष धर्म जाना जाता है और वह वस्तु अपूर्वार्थ–अर्थात् जिसका ग्रहण अभी तक न हुआ हो ऐसी मानी जाती है, "अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेव प्रमाणम्" ऐसी प्रभाकर की मान्यता है, किन्तु यह गलत है, क्योंकि ऐसा एकान्त ग्रहण करने पर प्रमाण में प्रमाणता जो संवाद से आती है वह नहीं रहेगी, क्योंकि प्रमाण के द्वारा ज्ञात हुए विषय में ही संवादप्रत्यय प्रवृत्त होता है, प्रत्यभिज्ञान भी इसके अनुसार प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि वह भी स्मृति और प्रत्यक्ष से जाने हुए विषय में ही प्रवृत्ति करता है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के अप्रमाण ठहरने पर उसी प्रभाकर के यहां पर आत्मा, शब्द आदि में नित्यपना कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि नित्यता सिद्ध करनेवाला प्रत्यभिज्ञान ही है, इस पर प्रभाकरने युक्ति दी है कि पूर्वोत्तर अवस्था में व्यापि ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान का विषय नवीन ही है सो यह युक्ति भी छिन्नभिन्न हो जाती है क्योंकि वह एकत्व उन दो अवस्थाओं से भिन्न तो है नहीं, तथा स्मृति तर्क आदि भी प्रत्यभिज्ञान के समान प्रमाण सिद्ध होने से प्रभाकर की मान्य प्रमाणसंख्या का व्याघात होता है। उनके प्रमाण के विषय में दिये गये अदुष्टकारणारब्धत्व, लोक-संमत आदि विशेषणों का भी विचार किया गया है, अन्त में यही प्रकट किया गया है कि प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्वार्थ न मानकर कथंचित् अपूर्वार्थ मानना चाहिये, प्रमाणसंप्लव भी जैन दर्शन की तरह सबने किसी न किसी रूप से माना ही है, और यदि उसे न माना जावे तो इष्टतत्त्व की सिद्धि नहीं होती है। प्रमाणसंप्लव अनेक विषयों में देखा जाता है, अनुमान के द्वारा जानी हुई अग्नि पुनः प्रत्यक्षज्ञान से जानी जाती है। आगम या गुरु आदि से किसी विषय को समझकर या ज्ञातकर पुनः उसीकी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीति होती है, अतः प्रमाण का विषय कथंचित् अपूर्वार्थ है, यह सिद्ध होता है।

*** सर्वथा अपूर्वार्थ के खण्डन का सारांश समाप्त ***

*

ब्रह्माद्वैतवाद पूर्वपक्ष

आगे आचार्य ब्रह्माद्वैतवाद का खण्डन करेंगे अतः उस ब्रह्माद्वैतवाद का वर्णन उन्हींकी मान्यता के अनुसार किया जाता है जिससे कि पाठकगण ब्रह्माद्वैतवादके मत को सुगमता से समझ सकें।

ब्रह्माद्वैतवाद शब्द का अर्थ—

ब्रह्म-अद्वैत-वाद इस प्रकार ये तीन पद हैं। "ब्रह्म च तत् अद्वैतं च ब्रह्माद्वैतं" यह कर्मधारय समास है। "ब्रह्माद्वैतस्यवादः" "ब्रह्माद्वैतवादः" अद्वैत—अखण्ड एक ब्रह्म ही है, अन्य कुछ भी नहीं है—अर्थात् जगत् के चेतन अचेतन सब ही पदार्थ ब्रह्म स्वरूप ही हैं ऐसी जो मान्यता है वही ब्रह्माद्वैतवाद है, अद्वैत का अर्थ है और दूसरा कोई नहीं—केवल एक वही, इसी तरह विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, शून्याद्वैत, शब्दाद्वैत आदि शब्दों का भी मतलब—अर्थ—सर्वत्र समझना चाहिये, ये सब ही प्रवादीगण एक रूप चेतन या अचेतनरूप या शून्यरूप ही समस्त विश्व को मानते हैं, ये भेदों को—घट, पट, जीव आदि किसी प्रकार के भेद—द्वित्वको स्वीकार नहीं करते हैं, इन्हे अभेदवादी भी कहा जाता है, अस्तु।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन॥१॥

जगत् के दृश्यमान या अदृश्यमान जितने भी पदार्थ हैं वे सब एक मात्र ब्रह्मस्वरूप हैं, संसार में अनेक या नानारूप कुछ भी नहीं है, उस अखण्ड परमब्रह्म को जो कि एक ही है कोई भी नहीं देख सकता है, हाँ; उस ब्रह्म की ये जो चेतन अचेतन पर्यायें हैं उन्हे ही हम देख सकते हैं एवं देख रहे हैं।

अब यहां पर अनेक प्रश्न होते हैं कि जब एक ब्रह्मस्वरूप ही पदार्थ है, अन्य कुछ नहीं है तो यह सारा साक्षात् दिखायी दे रहा पदार्थ समुदाय क्यों प्रतीत होता? (१) जब ये पदार्थ ब्रह्मकी विवर्तरूप हैं तो किस कारण से ये विवर्त या नाना पर्यायें उत्पन्न हुई हैं? (२) ये सब विवर्त या चेतन अचेतन पदार्थ किस क्रम से

उत्पन्न होते हैं ? (३) दृश्यमान या अदृश्यमान इन पदार्थों का कभी पूर्ण रूप से अभाव होता है क्या ? (४) हम जो चेतन जीव हैं सो किस प्रकार दुःखों से मुक्त हो सकते हैं या मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ? (५) मोक्ष का स्वरूप क्या है ? (६)।

इस प्रकार के इन सब प्रश्नों का ब्रह्माद्वैतमतानुसार समाधान किया जाता है—

प्रथम प्रश्न का समाधान—

विश्व में जो अनेकता–विविधता, घट, पट, जीव, पशु, मनुष्य आदि पदार्थ रूप से भिन्नता दिखाई देती है उसका कारण अविद्यावासना है, अर्थात् अविद्यावासना के कारण ही हमको अखंड ब्रह्म में खंड व भेद मालूम पड़ता है, अविद्यावासना के नाश होने पर एक परमब्रह्म ही अनुभव में आता है।

द्वितीय प्रश्न का समाधान—

इन चेतन अचेतन पदार्थों के उत्पन्न होने में कारण स्वभाव ही है, इस जगत् या सृष्टि का उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी ब्रह्म ही है, कहा भी है—

"कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चजगत्, कारणं परमब्रह्म शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं, स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति"—

परमब्रह्म का कार्य जो आकाश, वायु, जल आदि हैं वह सब बहुविस्तार वाला ब्रह्म ही है, और कारण ब्रह्म है ही, अज्ञान की दो शक्तियां हैं—आवरण और विक्षेप, इन दो से जब चैतन्य सहित होता है तब अपनी प्रधानता से उपादान कारण और अपनी उपाधि की प्रधानता से निमित्त कारण बनता है, जैसे—"यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति"। जिस प्रकार मकड़ी रेशम धागे का निमित्त और उपादान दोनों कारणरूप स्वयं है, अपनी प्रधानता से तो निमित्त कारण है और स्वशरीर की प्रधानता से उपादान कारण है, अन्यत्र भी कहा है—

उर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥ १॥

जैसे—मकड़ी धागे का, चन्द्रकान्तमणि जल का, वट वृक्ष जटाओं का कारण है, वैसे ही वह परमब्रह्म सब जीवों का कारण है, अर्थात् मकड़ी से स्वभावतः जैसे धागा निकलता है अथवा—रेशम कीड़ा से जैसे रेशम की निष्पत्ति होती है, चन्द्रकान्त-मणि से जैसे स्वभावतः जल उत्पन्न होता है वैसे ही ब्रह्म से स्वभाव से जगत्-चेतन अचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

तीसरे प्रश्न का उत्तर—

यह परमब्रह्म स्वभाव से ही जब कभी अज्ञानरूप हो जाता है, तब उसके द्वारा सृष्टि की रचना का क्रम प्रारम्भ होता है, "अज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति-शक्तिद्वयम्" सच्चिदानन्द स्वरूपमावृणोत्यावरणशक्तिः, तथा ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुदबुदवत् नामरूपात्मकं विक्षिपति, सृजतीति विक्षेपशक्तिः ॥

अज्ञान की दो शक्तियां हैं—आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति, चिदानन्दस्वरूप को ढकनेवाली आवरणशक्ति है, और व्यक्तब्रह्म से लेकर—अर्थात् व्यक्तब्रह्म, आकाश, वायु आदि से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि की रचना को करनेवाली विक्षेपशक्ति है, "अनयैवावरण शक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःख-मोहात्मकतुच्छ संसार भावनाऽपि संभाव्यते" पूर्वोक्त आवरणशक्ति से युक्त आत्मा के अन्दर कर्तृत्व-बुद्धि, भोक्तृत्व, सुख दुःख मोह आदिक विकारभाव या तुच्छ संसारभावना उत्पन्न होती है, "तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहतचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोर-ग्निरग्नेरापोऽदभ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः इत्यादिश्रुतेः"—तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसे विक्षेपशक्तिवाले अज्ञान से जब यह चैतन्य या ब्रह्म उपहत हो जाता है, तब उससे आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है, श्रुतिग्रन्थ में भी कहा है कि "इस ब्रह्म आत्मा से आकाश हुआ है इत्यादि।

"तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमः प्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्म भूतानि तन्मात्राण्यपञ्ची-कृतानि चोच्यते॥ एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते"॥ उन आकाश आदि पृथिवीपर्यन्त के पदार्थों में जड़ता अधिकरूप से दिखाई देती है, अतः तमोगुण प्रधानविक्षेपशक्तियुक्त चैतन्य उनका कारण है, यह सिद्ध होता है, जब वे आकाश

आदिक उत्पन्न होते हैं, तब उनमें कारणगुण के अनुसार सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पैदा हो जाया करते हैं, इन्हीं आकाश आदि को सूक्ष्मभूत, तन्मात्रा और अपञ्चीकृत इन नामों से कहा जाता है, इन्हीं आकाश, वायु आदि से सूक्ष्मशरीर तथा स्थूलभूत पैदा होते हैं। सूक्ष्मशरीर के १७ भेद हैं। "अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपंचकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपंचकं, वायुपंचकं च" ॥–पांच ज्ञानेन्द्रियां–स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण–, वचन, हाथ, पाद, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां तथा–बुद्धि, मन, पांच वायु–प्राणवायु, अपानवायु, उदानवायु, व्यानवायु और समानवायु–ये १७ अवयव या भेद सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। दिखाई देनेवाले जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं वे स्थूलभूत हैं, इस प्रकार यह समस्त संसार एक ब्रह्म का कार्यरूप है, अर्थात् उसका भेदरूप है, सूक्ष्मशरीर के अवयव स्वरूप जो बुद्धि और मन हैं, वे जीव स्वरूप हैं। ऐसे सूक्ष्म शरीरादि तथा स्थूलभूतादिरूप विश्व की रचना है।

चौथे प्रश्न का समाधान–

इन दृश्यमान पदार्थों का विनाश या अभाव होता है, इसी का नाम प्रलय या लय है, यह प्रलय भी स्वभाव से हुआ करता है, सृष्टि की उत्पत्ति के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि-रचना होने में युगानुयुग-अनगिनतीकाल-व्यतीत हो जाता है, जिस क्रम से सृष्टिकी रचना-उत्पत्ति हुई थी उसी क्रम से उसका प्रलय भी होता है, कहा भी है–"एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति, एतदज्ञानमज्ञानोपहित चैतन्यञ्चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति"–सत्त्वादिगुण जो सूक्ष्म भूतादिक हैं उत्पत्ति के विपरीतक्रम से अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् पृथिवी जल में विलीन हो जाती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अज्ञानरूप चैतन्य में तथा चैतन्य और ईश्वर भी तुरीय ब्रह्म में अन्तर्हित हो जाते है इस तरह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड समाप्त होता है–शून्यरूप होता है।

पांचवें प्रश्न का समाधान–

मोक्ष-अर्थात् दुःखों से छूटने के लिए साधन इस प्रकार से बतलाये गये हैं– "साधनानि–नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रफलभोगविरागशमादिषट्कसंपत्तिमुमुक्षुत्वानि"– नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इस लोक संबंधी तथा परलोक संबंधी भोगों की

इच्छा न होना, शम दम आदि छह कर्त्तव्य, और मोक्ष की इच्छा ये सब मोक्ष प्राप्तिके उपाय हैं। "शमादयस्तु—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः" शम, दम, उपरति, तितिक्षा समाधान और श्रद्धान ये छह शमादिक हैं, इन शमादिरूप कर्त्तव्यों के साथ ध्यान आदि की सिद्धि होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

छठवें प्रश्न का समाधान

"न तस्य प्राणा उत्क्रामंति, अत्रैव समवलीयन्ते" शमादि षट्-संपत्ति से युक्त तथा ध्यान समाधि के अभ्यासक जीवकी जीवन्मुक्त अवस्था होती है, उस अवस्था में अज्ञान क्रिया समाप्त होती है अर्थात् आगामी कर्मका नाश होता है आनंद और कैवल्य की प्राप्ति होती है, अन्त में प्रारब्ध कर्म भोगते २ समाप्त हो जाते हैं तब उस जीवन्मुक्त व्यक्ति के प्राण वहीं विलीन हो जाते हैं—अर्थात् परलोक में-ब्रह्मलोक में-जन्म लेने के लिए गमन नहीं करते हैं। यही मुक्ति कहलाती है अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्ति का चैतन्य परमब्रह्म में लीन हो जाता है, इसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष होने पर उसके प्राण वहीं विलीन होते हैं; क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म है ही, उसीमें उसके प्राण समा जाते हैं। यहां तक जगत् की व्यवस्था, परमब्रह्म, उसकी प्राप्ति आदि का कथन किया, इससे सिद्ध होता है कि सारा विश्व, विश्व के कार्यकारणभेद, मोक्ष, मोक्ष के साधन आदि सब ही ब्रह्मस्वरूप हैं, ये दिखाई पड़ने वाले भिन्न भिन्न देश, या आकार सभी एक ब्रह्म के विवर्त्त हैं, अविद्या के समाप्त होने पर भेदभावना नहीं रहती इस प्रकार अभेद या अद्वैतका ज्ञान होना विद्या है, सृष्टिक्रम, ज्ञानेन्द्रिय आदि पूर्वोक्त १७ अवयव भेदवाले सूक्ष्म शरीरका पृथिवी आदि स्थूलभूतका वास्तविक ज्ञान होना तथा ईश्वर अर्थात् ब्रह्म और आत्मा जिसका कि लक्षण "तत्तद्भासकं नित्यं-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्यस्वभावं प्रत्यक् चैतन्यमेवात्म वस्तु, इति वेदान्तविद्वदनुभवः" ॥ तत्तद्वस्तुओं का प्रकाश करता है, और नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव आन्तरिक चैतन्यस्वरूप है, इन सबके तत्त्वज्ञान से परमब्रह्म प्राप्त होता है। इस प्रकार सारा विश्व ब्रह्ममय है, अतः ब्रह्माद्वैतवाद ही सिद्ध होता है।

*** ब्रह्माद्वैतवादका पूर्वपक्ष समाप्त ***

*

ब्रह्माद्वैतवादः

ननु चोक्तलक्षणाऽपूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणमित्ययुक्तमुक्तम्; अर्थव्यवसायात्मकज्ञानस्य मिथ्यारूपतया प्रमाणत्वायोगात्, परमात्मस्वरूपग्राहकस्यैव ज्ञानस्य सत्यत्वप्रसिद्धेः। अक्षसन्निपातानन्तरोत्थाऽविकल्पकप्रत्यक्षेण हि सर्वत्रैकत्वमेवाऽन्यानपेक्षतया झगिति प्रतीयते इति तदेव वस्तुत्वस्वरूपम्। भेदः पुनरविद्यासंकेतस्मरणजनितविकल्पप्रतीत्याऽन्याऽपेक्षतया प्रतीयते इत्यसौ नार्थस्वरूपम्। तथा, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभासते

ब्रह्माद्वैत—जो जैन के कहे हुए अपूर्वार्थ और व्यवसायात्मक प्रमाण के विशेषण हैं वे अयुक्त हैं, क्योंकि पदार्थ का व्यवसाय करनेवाला ज्ञान मिथ्यारूप होता है, इसलिये उसमें प्रमाणता का योग नहीं बैठता है, जो ज्ञान परमात्मस्वरूप का—परमब्रह्म का ग्राहक-निश्चय करनेवाला होता है उसीमें सत्यता की प्रसिद्धि है, आंख के खोलते ही—अर्थात् दृष्टि विषय पर पड़ते ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है, उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वत्र एकत्व का भान, विना किसी भेदप्रतीति के शीघ्रातिशीघ्र जो होता है वही वस्तुका स्वरूप है, भेद जो प्रतीत होता है वह तो अविद्या, संकेत, स्मरण आदि से उत्पन्न होता है और उससे विकल्प (भेद) उत्पन्न होकर घट पट आदि भिन्न भिन्न पदार्थ मालूम पड़ते हैं, इसलिये भेद वस्तु का स्वरूप नहीं है, इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अखंड परम ब्रह्म सिद्ध होता है. अनुमानप्रमाण के द्वारा भी अखंड ब्रह्म की सिद्धि इस प्रकार से होती है—"जो प्रतिभसित होता है वह प्रतिभास के भीतर सामिल है प्रतिभासित होने से जैसा कि प्रतिभासका स्वरूप प्रतिभासित होता है अतः वह प्रतिभास के भीतर सामिल है, इसीतरह चेतन अचेतन सभी वस्तु प्रतिभासित होती हैं अतः वे सभी प्रतिभास के अन्दर प्रविष्ट हैं। इस अनुमानके द्वारा आत्माद्वैत—ब्रह्माद्वैत सिद्ध होता है। इस अनुमान में प्रयुक्त प्रतिभासमानत्व हेतु असिद्ध

चाशेषं चेतनाचेतनरूप वस्तु' इत्यनुमानादप्यात्माऽद्वैतप्रसिद्धिः । न चात्राऽसिद्धो हेतुः; साक्षादसाक्षाच्चाशेषवस्तुनोऽप्रतिभासमानत्वे सकलशब्दविकल्पगोचरातिक्रान्तया वक्तुमशक्तेः । तथागमोऽप्यस्य प्रतिपादकोऽस्ति ।

"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ।।" [ ] इति । तथा "पुरुष एवैतत्सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं स एव हि सकललोकसर्गस्थितिप्रलयहेतुः ।" [ऋक्सं० मण्ड० १० सू० ९० ऋ० २] उक्तञ्च—

"ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् ।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ।।" [ ] भेददर्शिनो निन्दा च श्रूयते— "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।" [बृहदा० उ० ४/४/१९] इति । न चाभेदप्रतिपादकाम्नायस्याऽध्यक्षबाधा; तस्याप्यभेदग्राहकत्वेनैव प्रवृत्तेः । तदुक्तम्—

भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से या परोक्ष से किसी भी प्रकार से वस्तु को प्रतिभासमान स्वरूप नहीं मानोगे तो संपूर्ण शब्दों के अगोचर हो जाने से वस्तु को कहा ही नहीं जा सकेगा । आगम भी अनुमान की तरह ब्रह्म का प्रतिपादक है । श्लोकार्थ—"यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है, कोई भिन्न भिन्न वस्तु नहीं है, दुनिया के जीव उस ब्रह्म के विवर्त्तों को–पर्यायों को–देखते हैं किन्तु उसे कोई नहीं देख सकता" ।। १ ।।

जगत पुरुषमय है, जो हुआ अथवा होनेवाला है वह सब ब्रह्म ही है, वही सारे संसार की उत्पत्ति स्थिति और विनाश का कारण है, कहा भी है, श्लोकार्थ—

जैसे रेशमी कीड़ा रेशम के धागे को बनाता है, चन्द्रकान्तमणि जैसे जल को झराता है और वटवृक्ष जैसे जटाओं को अपने में से स्वयं निकालता है अतः वह उनका कारण होता है वैसे ही ब्रह्म समस्त जीवों का कारण होता है ।। १ ।।

शास्त्र में भेद-द्वैत माननेवाले की निन्दा भी की गई है–जैसे–जो भेद को देखता है वह यमराज का अतिथि बनता है, अभेद–प्रतिपादक आगममें प्रत्यक्ष से बाधा नहीं आती है, क्योंकि प्रत्यक्ष भी स्वय अभेद का ग्राहक है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—बुद्धिमान् लोक प्रत्यक्ष को विधिरूप ही मानते हैं निषेधरूप नहीं मानते, इसलिये अभेद प्रतिपादक आगम में प्रत्यक्ष के द्वारा बाधा नहीं आती है ।।१।।

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः ।
नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ।।" [ ]

किञ्च, अर्थानां भेदो देशभेदात्, कालभेदात्, आकारभेदाद्वा स्यात् ? न तावद्देशभेदात्; स्वतोऽभिन्नस्याऽन्यभेदेऽपि भेदानुपपत्तेः । नह्यन्यभेदोऽन्यत्र संक्रामति । कथं च देशस्य भेदः ? अन्यदेशभेदाच्चेदनवस्था । स्वतश्चेत्; तर्हि भावभेदोऽपि स्वत एवास्तु किं देशभेदाद्भेदकल्पनया ? तन्न देशभेदाद्वस्तुभेदः । नापि कालभेदात्; तद्भेदस्यैवाध्यक्षतोऽप्रसिद्धेः । तद्धि सन्निहितं वस्तुमात्रमेवाधिगच्छति नातीतादिकालभेदं तदनतार्थभेद वा आकारभेदोऽप्यर्थानां भेदको व्यतिरिक्तप्रमाणात्प्रतिभाति, स्वतो वा ? न तावद् व्यतिरिक्तप्रमाणात्; तस्य नीलसुखादिव्यतिरिक्तस्वरूपस्याप्रतिभासमानत्वाद् ।

भेदवादी–द्वैतवादी पदार्थों में भेद क्यों मानते हैं ? क्या देशभेद होने से या कालभेद होने से या कि आकारभेद होने से ? यदि ऐसा माना जाय कि देशभेद होने से अर्थों में (पदार्थों में) भेद है तो वह बनता नहीं है, क्योंकि जो स्वतः स्वरूप से अभिन्न हैं उनमें अन्य के द्वारा भेद नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य का भेद अन्य में संक्रामित नहीं होता है, तथा–देशभेद भी किससे सिद्ध होगा ? अन्य किसी देशभेद से कहो तो अनवस्था होगी, यदि देशभेद स्वतः ही सिद्ध है ऐसा कहो तो वैसा ही पदार्थों में भी स्वतः भेद मान लेना चाहिये, देशभेद से भेद की कल्पना करने से क्या लाभ–अर्थात् देशभेद से पदार्थों में भेद होता है ऐसा मानने की क्या आवश्यकता है, अतः देशभेद से वस्तुओं में भेद होता है यह बात सिद्ध नहीं होती है ।

यदि कहो कि कालभेद से वस्तुओं में भेद होता है, सो ऐसा कहना भी नहीं बनता, क्योंकि कालभेद ही स्वतः प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, कारण–प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती वस्तुमात्र को ही ग्रहण करता है, वह तो अतीत काल आदि के भेद को और उसके निमित्त से हुए अर्थ भेद को नही जानता है ।

यदि कहो कि भिन्न–भिन्न संस्थानों के भेद से पदार्थों में भेद होता है, सो ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि हम आप (जैन) से पूछते हैं कि आकार भेद किसी भिन्न प्रमाण से प्रतिभासित होता है ? कि स्वतः प्रतिभासित होता है ? यदि कहा जावे कि आकारभेद किसी अन्य प्रमाण से प्रतीत होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि नीलादिरूप बहिरंग वस्तु एवं सुखादिरूप अन्तरंग वस्तु के सिवाय अन्य कोई प्रमाणरूप वस्तु प्रतीति में नहीं आती है । यदि आप (जैन) ऐसा कहें कि

अथाहंप्रत्यये बोधात्मा तद्ग्राहकोऽवसीयते; न; तत्रापि शुद्धबोधस्याप्रतिभासनात् । स खलु 'अहं सुखी दुःखी स्थूलः कृशो वा' इत्यादिरूपतया सुखादि शरीरं चावलम्बमानोऽनुभूयते न पुनस्तद्व्यतिरिक्तं बोधस्वरूपम् । स्वतश्चाकाराणां भेदसंवेदने स्वप्रकाशनियतत्वप्रसङ्गः, तथा चान्योऽन्यासंवेदनात्कुतः स्वतोऽप्याकारभेदसंवित्तिः ।

अथैकरूपब्रह्मणो विद्यास्वभावत्वे तदर्थानां शास्त्राणां प्रवृत्तीनां च वैयर्थ्यं निवर्त्यप्राप्यस्वभावाभावात् । विद्यास्वभावत्वे चासत्यत्वप्रसङ्गः; तथाच "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्त० २/१] इत्यस्य विरोधः; तदप्यसङ्गतम्; विद्यास्वभावत्वेऽप्यस्य शास्त्रादीनां वैयर्थ्यासंभवात् अविद्याव्यापारनिवर्त्तनफलत्वात्तेषाम् । यत एव चाविद्या ब्रह्मणोऽर्थान्तरभूता तत्त्वतो नास्त्यत एवासौ निवर्त्यते,

---

अहं प्रत्यय में आकाररूप भेदग्राहक बोधात्मा प्रतीति में आता है सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अहं प्रत्यय में भी शुद्ध बोध का प्रतिभास नहीं होता, क्योंकि वह अहं प्रत्यय भी "मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं, इत्यादिरूप से सुखादि का या शरीर का अवलम्बनवाला हुआ ही अनुभव में आता है, इससे अतिरिक्त अकेला बोधस्वरूप अनुभव में नहीं आता, यदि कहा जावे कि भले ही किसी भी प्रमाण से आकार–भेद अनुभवित नही होता हो तो मत होओ परन्तु वह आकार भेद स्वतः तो अनुभव में आता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे तो पदार्थ स्वतः प्रकाशमान–अपने आपको जाननेवाले हो जावेंगे, ऐसी दशा में अन्य का अन्य के द्वारा संवेदन न होने से (ज्ञान के द्वारा वस्तु का संवेदन प्रतिभास न होने से) आकारों का भेद ज्ञान में स्वतः प्रतीत होता है" यह बात सिद्ध नहीं होती है। यदि कोई (जैन आदि) इस प्रकार की शंका करे" कि ब्रह्मा तो एक स्वभाव वाला है–अर्थात् विद्या (ज्ञान) स्वभाव वाला है–तो उसके लिये शास्त्रों एवं अनुष्ठान आदिकों का करना व्यर्थ है, क्योंकि त्यागने योग्य अविद्या रूप और प्राप्त करने योग्य विद्यारूप स्वभाव का उस ब्रह्म में अभाव है।

यदि ब्रह्मा को अविद्यास्वरूप माना जाय तो उस ब्रह्ममें असत्यरूपता हो जाने से "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"–इस सूत्र की जो तैत्तरीयोपनिषद में कहा गया है–कि परमब्रह्म सत्यस्वरूप है अन्तरहित है एव ज्ञान (विद्या) स्वभाववाला है"–संगति नहीं बैठती है अर्थात् यह कथन गलत हो जाता है," सो इस प्रकार की यह जैन आदिकों की आक्षेपरूप शंका असंगत है, क्योंकि हम ब्रह्माद्वैतवादी ने ब्रह्म को विद्यास्वभाववाला माना है, ऐसे स्वभाव वाला मानने पर शास्त्रादिक व्यर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि अनुष्ठान आदिक अविद्या के व्यापार को हटाते हैं, यही उनका फल है।

तत्त्वतस्तस्याः सद्भावे हि न कश्चिन्निवर्त्तयितुं शक्नुयाद् ब्रह्मवत् । सर्वैरेव चातात्त्विकानाद्यविद्योच्छेदार्थो मुमुक्षूणां प्रयत्नोऽभ्युपगतः । न चानादित्वेनाविद्योच्छेदासम्भवः; प्रागभावेनाऽनेकान्तात् । तत्त्वज्ञानप्रागभावरूपैव चाविद्या तत्त्वज्ञानलक्षणविद्योत्पत्तौ व्यावर्तत एव घटोत्पत्तौ तत्प्रागभाववत् । भिन्नाऽभिन्नादिविकल्पस्य च वस्तुविषयत्वात् अवस्तुभूताऽविद्यायामप्रवृत्तिरेव सैवेयमविद्या माया मिथ्याप्रतिभास इति ।

न चात्मश्रवणमननध्यानादीनां भेदरूपतयाऽविद्यास्वभावत्वात्कथं विद्याप्राप्तिहेतुत्वमित्यभिधातव्यम् ? यथैव हि रजः संपर्ककलुषोदके द्रव्यविशेषचूर्णं रजःप्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि प्रशमयत्स्वयमपि प्रशम्यमानं स्वच्छां स्वरूपावस्थामुपनयति, यथा वा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, एवमात्मश्रवणादिभिर्भेदाभिनिवेशोच्छेदात्, स्वगतेऽपि भेदे समुच्छिन्ने स्वरूपे संसारी समवतिष्ठते ।

अविद्या ब्रह्म से वास्तविकरूप में पृथक् होती तो उसका हटाना सर्वथा अशक्य हो जाता, जैसा कि ब्रह्म का हटाना सर्वथा अशक्य है, परन्तु देखने में आता है कि मोक्षार्थीजन अतात्त्विक अविद्या को हटाने–विनष्ट करने के लिये ही प्रयत्न करते हैं ऐसी बात चाहे वादी हो चाहे प्रतिवादी हो सभी ने स्वीकार की है । यदि कोई ऐसी आशंका करे कि अविद्या तो अनादि की है अतः उसका विनाश नहीं हो सकेगा–सो ऐसी आशंका ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार का यह कथन प्रागभाव के साथ अनैकान्तिक हो जाता है, प्रागभाव अनादि है फिर भी उसका विनाश होता है, अविद्या, तत्त्वज्ञान का प्रागभाव है वह तत्त्वज्ञानरूप विद्या के उत्पन्न होते ही हट जाती है, जैसे–घट के उत्पन्न होने पर उसका प्रागभाव समाप्त हो जाता है, वह अविद्या भिन्न है या अभिन्न है ? ऐसे प्रश्न तो वस्तुस्वरूप में होते हैं, अवस्तुरूप अविद्या में नहीं, इस प्रकार इस अविद्या को माया एवं मिथ्याप्रतिभास ऐसे नाम से भी अभिमोहित किया गया है ।

यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि आत्मतत्त्व का श्रवण, श्रद्धान, ध्यान आदि ये सब भेदरूप होने से अविद्या स्वभाववाले हैं, अतः इनसे विद्या की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि देखिये–जिस प्रकार धूलि कीचड़ आदि से गंदले हुए पानी में फिटकरी चूर्ण आदिरूप एक तरह की धूलि डालने पर वह उसमें की अन्य मिट्टी आदि रूप एक तरह की धूलि कीचड़ आदि को शान्त करनेवाली होती है और स्वयं भी स्वच्छ अवस्था को प्राप्त हो जाती है, इस तरह जल बिलकुल स्वच्छ हो जाता है, अथवा विष विष को दबा देता है और उसके साथ आप भी स्वयं शमित हो जाता

अवच्छेदक्यविद्याव्यावृत्तौ हि परमात्मैकस्वरूपतावस्थितेः घटाद्यवच्छेदकभेदव्यावृत्तौ व्योम्नः शुद्धाकाशतावत् ।

न चाद्वैते सुखदुःखबन्धमोक्षादिभेदव्यवस्थानुपपन्ना; समारोपितादपि भेदात्तद्भेदव्यवस्थोपपत्तेः; यथा द्वैतिनां 'शिरसि मे वेदना पादे मे वेदना' इत्यात्मन समारोपितभेदनिमित्ता दुःखादिभेदव्यवस्था । पादादीनामेव तद्वेदनाधिकरणत्वात्तेषां च भेदात्तद् व्यवस्था युक्तेत्यप्ययुक्तम्; यतस्तेषामज्ञत्वेन भोक्तृत्वायोगात् । भोक्तृत्वे वा चार्वाकमतानुषङ्गः । तदेवमेकत्वस्य प्रत्यक्षानुमानागमप्रमितरूपत्वात्सिद्धं ब्रह्माऽद्वैतं तत्त्वमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । किं भेदस्य प्रमाणबाधितत्वादभेदः साध्यते, अभेदे साधकप्रमाणसद्भावाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्त ; प्रत्यक्षादेर्भेदानुकूलतया तद्बाधकत्वायोगात् । न खलु भेदमन्तरेण

है–खतम हो जाता है, बिलकुल यही प्रक्रिया अविद्या के बारे में है, अर्थात् श्रवण, श्रद्धान ध्यानादिरूप अविद्या के द्वारा भेद का हठाग्रह नष्ट होकर अपने में होनेवाले भेद भी नष्ट हो जाते हैं । एवं संसारी जीव एकत्व में (ब्रह्म में) स्थिर हो जाते हैं, भेद को करने वाली अविद्या व्यावृत्त होते ही परमात्मरूप एकत्व में जीव की स्थिति हो जाती है, जैसे कि घट आदि के भेदों की व्यावृत्ति होते ही आकाश शुद्धता को प्राप्त हो जाता है । हमारे अद्वैत में सुख दुःख बन्ध मोक्षादि की भेदव्यवस्था नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना, हमारे यहां तो काल्पनिक भेदों से भेदव्यवस्था बन जाती है। जैसे आप द्वैतवादो के यहां अपनी एक ही आत्मा में काल्पनिक भेद करके कहा जाता है, कि मेरे मस्तक में दर्द है, मेरे पैर में पोड़ा है, इत्यादि दुःख के भेद की व्यवस्था होती है या नहीं ? अर्थात् होती ही है, कहो कि उन पैर आदि वेदना के आधारभूत अवयवों में भेद है अतः दुःखों में भेद पड़ जाता है, सो यह ठीक नहीं, क्योंकि वे पैर आदि तो जड़ हैं वे क्या भोक्ता बनेंगे । यदि पैर आदि शरीरावयव भोक्ता होंगे तो चार्वाक मत आवेगा । इस प्रकार एकत्व अद्वैत ही प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान तथा आगम प्रमाणों के द्वारा सिद्ध होता है, अतः ब्रह्माद्वैत मात्र तत्त्व है ऐसा मानना चाहिये ।

जैन–अब यहां पर ऊपर लिखे ब्रह्माद्वैत का निरसन किया जाता है–आप अद्वैतवादी भेद का खण्डन करते हो सो क्यों ? क्या भेद प्रमाण से बाधित है अथवा अभेद को सिद्ध करनेवाला प्रमाण है, इसलिये? प्रथम पक्ष ठीक नहीं–क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण भेद के अनुकूल ही हैं, वे भेदों में बाधा नहीं दे सकते । तथा भेद के बिना

प्रमाणेतरव्यवस्थापि सम्भाव्यते। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; भेदमन्तरेण साध्यसाधकभावस्यैवासम्भवात्। न चाभेदसाधकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति।

यच्चोक्तम्-"अविकल्पकाध्यक्षेणैकत्वमेवावसीयते" तत्र किमेकव्यक्तिगतम्, अनेकव्यक्तिगतम्, व्यक्तिमात्रगतं वा तत्त्वेन प्रतीयते? एकव्यक्तिगत चेत्; तत्किं साधारणम्, असाधारणं वा? न तावत्साधारणम्; 'एकव्यक्तिगतं साधारणं च' इति विप्रतिषेधात्। असाधारणं चेत्; कथं नातो भेदसिद्धिः असाधारणस्वरूपलक्षणत्वाद्भेदस्य। अथानेकव्यक्तिगतं सत्तासामान्यरूपमेकत्वं प्रत्यक्षग्राह्यमित्युच्यते; तत्किं व्यक्त्यधिकरणतया प्रतिभाति, अनधिकरणतया वा? प्रथमपक्षे भेदप्रसङ्गः 'व्यक्तिरधिकरणं तदाधेयं च सत्तासामान्यम्' इति, अयमेव हि भेदः। द्वितीयपक्षे-व्यक्तिग्रहणमन्तरेणाप्यन्तराले तत्प्रति-

---

प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था भी कहाँ रहेगी। दूसरा पक्ष अर्थात् अभेद को सिद्ध करनेवाला प्रमाण है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि भेद के बिना साध्य और साधन का भाव कैसे बन सकता है, अतः अभेद को सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। आप (ब्रह्माद्वैतवादी) ने जो कहा था कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष से एकत्व जाना जाता है सो एक ही व्यक्ति का एकत्व जाना जाता है कि अनेकव्यक्तियों का एकत्व जाना जाता है या कि व्यक्तिमात्र का एकत्व जाना जाता है, यदि एक व्यक्तिगत एकत्व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है ऐसा कहो तो वह साधारण है या असाधारण? साधारण तो उसे कह नहीं सकते क्योंकि वह व्यक्तिगत हो और साधारण हो ऐसा कथन तो आपस में निषिद्ध है अर्थात् जो साधारण होता है वह अनेक व्यक्तिगत होता है एक व्यक्तिगत नहीं होता। असाधारण कहो तो उससे भेद सिद्ध क्यों नही होगा। क्योंकि असाधारणरूपवाला ही भेद होता है। यदि कहो कि अनेकव्यक्तिगत एकत्व सत्ता सामान्य को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष से ग्राह्य होता है, तो प्रश्न होता है कि अनेक व्यक्तियां जिसके आधारभूत हैं उन आधारों के साथ सत्ता सामान्यरूप एकत्व का ग्रहण होता है? कि आधार रहित सत्तासामान्यरूप एकत्व का ग्रहण होता है? यदि कहा जावे कि अपने आधारभूत अनेक व्यक्तियों के साथ सत्ता-सामान्यरूप एकत्व का ग्रहण होता है तो इससे भेद मालूम पड़ता है-अर्थात् भेद का प्रसङ्ग प्राप्त होता है-देखिये-व्यक्ति सत्तासामान्यरूप एकत्व का अधिकरणरूप एक पदार्थ हुआ और आधेयरूप सत्तासामान्य एक पदार्थ हुआ, यही तो भेद है। दूसरे पक्ष में-अर्थात् व्यक्तिभूत आधार के ग्रहण किये बिना सत्तासामान्यरूप एकत्व का ग्रहण होता है ऐसा मानो तो व्यक्ति (विशेष) जहां नहीं ऐसे स्थान पर भी सामान्य की

भासप्रसङ्गः। तथा किमेकव्यक्तिग्रहणद्वारेण तत्प्रतीयते, सकलव्यक्तिग्रहणद्वारेण वा? प्रथमपक्षे विरोधः, एकाकारता ह्यनेकव्यक्तिगतमेकं रूपम्, तच्चैकस्मिन् व्यक्तिस्वरूपे प्रतिभातेऽप्यनेकव्यक्त्यनुयायितया कथं प्रतिभासेत? अथ सकलव्यक्तिप्रतिपत्तिद्वारेण तत्प्रतीयते; तदा तस्याऽप्रतिपत्तिरेवाखिलव्यक्तीनां ग्रहणासम्भवात्। भेदसिद्धिप्रसङ्गश्च-अखिलव्यक्तीनां विशेषणतया एकत्वस्य च विशेष्यत्वेन, एकत्वस्य वा विशेषणतया तासां च विशेष्यत्वेन प्रतिभासनात्। तथा तद्व्यक्तिभ्यस्तद्भिन्नम्, अभिन्नं वा? यद्यभिन्नम्; तर्हि व्यक्तिरूपतानुषङ्गोऽस्य। न च व्यक्तिर्व्यक्त्यन्तरमन्वेतीति कथं सकलव्यक्त्यनुयायित्वमेकत्वस्य। अथार्थान्तरम्; कथं नानात्वाऽप्रसिद्धिः? यथा चानुगतप्रत्ययजनकत्वेनैकत्वं व्यक्तिषु कल्प्यते तथा व्यावृत्तप्रत्ययजनकत्वेनानेकत्वमप्यविशेषात्। तन्नैकत्वं नानात्वमन्तरे-

---

प्रतीति होने लग जायगी, क्योंकि आधार को जानना जरूरी नहीं है, तथा—वह सत्तासामान्यभूत एकत्व एक व्यक्ति के ग्रहण से प्रतीत होता है? या समस्त व्यक्तियों के ग्रहण करने से प्रतीत होता है? पहिले पक्ष में विरोध आता है, एकाकारता उसे कहते हैं कि अनेक व्यक्तियों में पायी जानेवाली समानता-अर्थात् अनेक व्यक्तियों में—विशेषों में जो सदृशता है उसीका नाम एकाकारता है वह यदि एक व्यक्ति के प्रतिभासित होने से प्रतीति में आती है तो उसमें अनेक व्यक्तियों का अनुयायीपना कैसे मालूम होगा अर्थात् नहीं मालूम होगा। सारे व्यक्तियों के ग्रहण होने पर उनका सत्तासामान्यरूप एकत्व जाना जाता है, ऐसा कहो तो उस एकत्व का ज्ञान ही नहीं होगा, क्योंकि अखिल व्यक्तियों का ग्रहण होना असम्भव है। इस प्रकार मानने से भेद का प्रसङ्ग भी आता है—देखिये—अखिल व्यक्तियां विशेषणरूप से और एकत्व विशेष्यरूप से प्रतीत होगा, अथवा—एकत्व विशेषणरूप और सम्पूर्ण व्यक्तियां विशेष्यरूप प्रतीत हुए। यही तो विशेष्य और विशेषणरूप दो भेद हो गये, तथा—यह सत्तासामान्यरूप एकत्व व्यक्तियों से भिन्न है या अभिन्न है? यदि अभिन्न है तो सत्तासामान्यरूप एकत्व व्यक्तिरूप हो ही गया, अब देखो ऐसा होने पर और क्या होता है—सामान्यभूत एकत्व जो कि एक संख्यारूप है वह जब एक व्यक्ति में चला गया तब अन्य अनेक व्यक्तियों में सामान्य कहां से आवेगा, व्यक्ति तो दूसरे व्यक्ति में जाता नहीं, फिर समस्त व्यक्तियों का अनुयायी एकत्व होता है यह बात कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती। यदि कहो कि व्यक्तियों से सत्तासामान्यरूप एकत्व भिन्न है तो उसमें नानापना कैसे सिद्ध नहीं होगा—अवश्य सिद्ध होगा। तथा एक बात और यह है कि जैसे अनुगत प्रत्ययों को करनेवाला एकत्व व्यक्तियों में घटित करते हैं वैसे ही व्यावृत्तप्रत्यय को करने वाला अनेकत्व भी उन्हीं नानाव्यक्तियों में मानने में क्या

णावकाशं लभते। प्रयोगः विवादाध्यासितमेकत्वं परमार्थसन्नानात्वाविनाभावि एकान्तैकत्वरूपतया-ऽनुपलभ्यमानत्वात्, घटादिभेदाविनाभूतमृद्द्रव्यैकत्ववत्। एतेन व्यक्तिमात्रगतमप्येकत्वं प्रत्युक्तम्, एकानेकव्यक्तिव्यतिरेकेण व्यक्तिमात्रस्यानुपपत्तेः।

यच्चोक्तम्-' भेदस्यान्यापेक्षतया कल्पनाविषयत्वम्" तदप्युक्तिमात्रम्; एकत्वस्यैवान्यापेक्षतया कल्पनाविषयत्वसम्भवात्। तद्धचनेकव्यक्त्याश्रितम्, भेदस्तु प्रतिनियतव्यक्तिस्वरूपोऽध्यक्षावसेयः। अथैकत्वं प्रत्यक्षेणैव प्रतिपन्नम्, अन्यापेक्षया तु कल्पनाज्ञानेनानुयायिरूपतया व्यवह्रियते, तर्हि भेदोऽप्यध्यक्षेण प्रतिपन्नोऽन्यापेक्षया विकल्पज्ञानेन व्यावृत्तिरूपतया व्यवह्रियते इत्यप्यस्तु।

का चेयं कल्पना नाम-ज्ञानस्य स्मरणानन्तरभावित्वम्, शब्दाकारानुविद्धत्वं वा स्यात्, जात्याद्युल्लेखो वा, असदर्थविषयत्वं वा, अन्यापेक्षतयाऽर्थस्वरूपावधारणं वा, उपचारमात्रं वा प्रकारान्तरा-

---

बाधा आयेगी ? कुछ भी नहीं, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अनेकत्व के बिना एकत्व नहीं बनता, इसी बातको अनुमान से सिद्ध करके बताते हैं—"विवाद में आया हुआ अद्वैती का एकत्व भी वास्तविक अनेकत्व का अविनाभावी है क्योंकि सर्वथा एकान्तपने से एकत्व की उपलब्धि ही नहीं होती है, जैसे कि घटादि भेदों में अविनाभावी सम्बन्ध से मिट्टी एकत्वरूप से रहती है, इसीप्रकार सामान्य व्यक्तिमात्रगत होता है इसका खण्डन समझ लेना चाहिये, क्योंकि एक और अनेक को छोड़कर और भिन्न कोई व्यक्तिमात्र होता नहीं है।

जो ब्रह्मवादी ने कहा था कि भेद अन्य की अपेक्षा रखता है, इसलिये वह काल्पनिक है सो यह गलत है, उल्टा एकत्व ही भेदरूप अनेकों की अपेक्षा रखता है, अतः वही काल्पनिक है। क्योंकि एकत्व अनेक व्यक्तियों के आश्रित रहता है और भेद तो प्रतिनियत व्यक्तिरूप होता है, जो कि प्रत्यक्ष से जाना जाता है। कहो कि एकत्व प्रत्यक्ष से प्रतीत है उसमें अन्य अपेक्षा जो दिखती है वह काल्पनिक ज्ञान के द्वारा अनुयायीपने से व्यवहार में लाई गई है। तो फिर भेद भी प्रत्यक्ष से जाना हुआ है, किन्तु अन्य की अपेक्षा लेकर विकल्पज्ञान के द्वारा वह व्यावृत्तिरूप से व्यवहार में लाया जाता है ऐसा मानो।

ब्रह्मवादी यह बतावे कि कल्पना कहते किसे हैं ? स्मरण के बाद ज्ञान का होना ? शब्दाकारानुविद्धत्व होना ? जात्याद्युल्लेख का होना ? असत् अर्थ का

ऽसम्भवात् ? न तावदाद्यविकल्पः; अभेदज्ञानस्यापि स्मरणानन्तरमुपलम्भेन कल्पनात्वप्रसङ्गात्। शब्दाकारानुविद्धत्वं च ज्ञाने प्रागेव प्रतिविहितम्। ननु सकलो भेदप्रतिभासोऽभिलापपूर्वकस्तदभावे भेदप्रतिभासस्याप्यभावः स्यात्; तन्न; विकल्पाभिलापयोः कार्यकारणभावस्य कृतोत्तरत्वात्। अस्तु वासौ, तथापि किं शब्दजनितो भेदप्रतिभासः, तज्जनितो वा शब्द ? प्रथमपक्षे किं शब्दादेव भेदप्रतिभासः, ततोऽसौ भवत्येवेति वा ? शब्दादेव भेदप्रतिभासाभ्युपगमे-प्रथमाक्षसन्निपातानन्तरं चित्रपटयादिज्ञानस्य भेदविषयस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः; निर्विकल्पकानुभवानन्तरंसकेतस्मरणविवक्षाप्रयत्नताल्वादिपरिस्पन्दक्रमेणोपजायमानशब्दस्याविकल्पकप्रथमप्रत्ययावस्थायामभावात्। शब्दादनेकत्वप्रतिभासो

जानना ? अथवा अन्य की अपेक्षा से अर्थ के स्वरूप का अवधारण करना ? या कि उपचारमात्र होना ? इतने कल्पना शब्द के अर्थ हो सकते हैं, इनसे अतिरिक्त और कोई कल्पना का अर्थ संभावित नहीं है, ज्ञानका स्मरण के बाद होनाकल्पना कहलाती है तो यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं है—क्योंकि इस प्रकार मानने से अभेदज्ञान भी स्मरण के बाद होता है, अतः उसमें काल्पनिकत्व आयेगा, दूसरा पक्ष जो ज्ञान में शब्दाकारानुविद्धत्व है उसका खंडन तो पहिले ही हम कर चुके हैं।

यदि कोई बीच में ऐसा कहे कि "सारा भेदप्रतिभास तो शब्द पूर्वक होता है फिर उसके अभाव में वह भेदप्रतिभास भी अभावरूप होगा" सो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्प अर्थात् भेद प्रतिभास और शब्द में कार्यकारणभाव का खंडन पहिले कर आये हैं। अच्छा-मान भी लेवें कि शब्द और भेदप्रतिभास में कार्यकारणभाव है तो भी यह बताओ कि शब्द से भेदप्रतिभास उत्पन्न हुआ है ? या भेदप्रतिभास से शब्द उत्पन्न हुआ है ? प्रथम पक्ष में २ प्रश्न हैं—भेदप्रतिभास अकेले शब्द से ही होता है या उससे भेद प्रतिभास होता ही है, (अर्थात् शब्द से ही भेद प्रतिभास होता है यह प्रश्न अन्ययोगव्यवच्छेदकरूप है, तथा उससे भेद प्रतिभास होता ही है यह प्रश्न क्रियासंगत एवकारवाला होने से वह और किसी से भी हो सकता है ऐसा भाव व्यक्त करता है), मात्र शब्द से ही भेद होता है ऐसा माना जावे तो शब्द के अभाव में भी आंख खोलते ही जो चित्रपट आदि अनेक स्थानों पर भेदों का ग्रहण होता है वह नहीं होना चाहिये था ? क्योंकि निर्विकल्प अनुभव के अनन्तर अनेक प्रवृत्तियां हुआ करती हैं—जैसे देखो—संकेत का स्मरण, विवक्षा, प्रयत्न, तालु आदिका परिस्पन्द फिर इनके बाद क्रम से उत्पन्न होनेवाला शब्द होता है सो वह शब्द विचारा उस प्रथम निर्विकल्प अवस्था में होता नहीं। शब्द से अनेकत्व का प्रतिभास होता ही है ऐसा दूसरी तरह

भवत्येवेत्यप्ययुक्तमुक्तम्; 'एकं ब्रह्मणो रूपम्' इत्यादिशब्दस्य भेदप्रत्ययजनकत्वे सति आगमात्तस्यैकत्वप्रतिपत्तेरभावानुषङ्गात्। भेदप्रतिभासाच्छब्दे(ब्दोऽ)स्तीत्यभ्युपगते च-अन्योन्याश्रयत्वम्—शब्दाद्भेदप्रतिभासः, भेदप्रतिभासाच्छब्द इति। 'घटोयं पटोयम्' इत्यादिभेदप्रतिभासस्य जात्याद्युल्लेखित्वात्कल्पनात्वे-अभेदज्ञानस्यापि कल्पनात्वानुषङ्गः; तस्यापि सत्तादिसामान्योल्लेखित्वात्। असदर्थविषयत्वं च भेदप्रतिभासस्यासिद्धम्; अर्थक्रियाकारिणो वस्तुभूतार्थस्य तत्र प्रतिभासनात्। विसंवादित्वं बाध्यमानत्वं च कल्पनालक्षणमेतेन प्रत्युक्तम्; तस्यासदर्थविषयत्वादर्थान्तरत्वाऽसम्भवात्। अन्यापेक्षतयार्थस्वरूपावधारणं चानन्तरमेव प्रत्याख्यातम्; यतो व्यवहार एवान्यापेक्षतया प्रवर्तते न स्वरूपावधारणम्। नापि भेदप्रतिभासस्योपचाररूपं कल्पनात्वम्; मुख्यासम्भवे तस्याप्यदर्शनान्माणवके सिंहाद्युपचारवत्। न चाभेदवादिनो मुख्यं भेदाभ्युपगमोस्त्यपसिद्धान्तप्रसङ्गात्।

से अवधारण करो तो भी अयुक्त है, क्योंकि-"एक ब्रह्मणो रूप" इत्यादि ब्रह्माद्वैत प्रतिपादक जो आपके यहां शब्द है वे भी भेद का प्रतिभास उत्पन्न कराते हैं ऐसा सिद्ध होगा, कारण कि शब्द से भेद होता ही है, ऐसा अवधारण आपने मान लिया है, अतः आगमप्रमाण से जो ब्रह्मा के एकत्व का निश्चय होता था वह सिद्ध नहीं हो सकेगा। भेदप्रतिभास से शब्द होता है, ऐसा मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, शब्द से भेदप्रतिभास की सिद्धि होगी और भेदप्रतिभाससे शब्द की सिद्धि होगी; इसप्रकार दोनों ही सिद्ध न हो सकेंगे। यह घट है, यह पट है इत्यादि भेदों को करने वाले ज्ञानको जात्याद्युल्लेखरूप कल्पना माना जाये तो अभेदज्ञान भी काल्पनिक होगा, क्योंकि वह भी सत्तासामान्यरूप जातिका उल्लेखी है। जो असत् अर्थको विषय करती है वह कल्पना है, ऐसा माना जाये सो भी ठीक नहीं, क्योंकि भेद प्रतिभास असत् वस्तु में होता ही नहीं है, अर्थक्रिया को करनेवाला जो सत्य पदार्थ है, वही भेदज्ञान में झलकता है, इसीप्रकार विसंवादित्व और बाध्यमानत्व कल्पना का लक्षण किया जाय तो उसके—सम्बन्धमें-प्रश्न उत्तर ऊपरके कथन में ही हो गये हैं, क्योंकि असदर्थ से विसंवादित्व और बाध्यमानत्व भिन्न नहीं हैं एक ही हैं, "अन्य की अपेक्षा से अर्थस्वरूप का अवधारण करना कल्पना है" इस पक्षका भी खण्डन अभी ही किया जा चुका है, क्योंकि व्यवहार ही अन्य की अपेक्षा रखता है न कि स्वरूपावधारण, वह स्वरूप तो स्वतः ही प्रतिभासित होता है। उपचारमात्र को यदि कल्पना कहा जावे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि भेद का प्रतिभास उपचारमात्र नहीं है, देखो—मुख्य भेदके बिना उपचार भेद भी नहीं बनता है, जैसे कि बालक में सिंह

यच्चानुमानादप्यात्माद्वैतसिद्धिरित्युक्तम्; तत्र स्वतःप्रतिभासमानत्वं हेतुः, परतो वा। स्वतश्चेत्; असिद्धिः। परतश्चेत्; विरुद्धोऽद्वैते साध्ये द्वैतप्रसाधनात्। 'घटः प्रतिभासते' इत्यादिप्रतिभाससामानाधिकरण्यं तु विषये विषयिधर्मस्योपचारात्, न पुनः प्रतिभासात्मकत्वात्। प्रतिभासनं हि विषयिणो ज्ञानस्य धर्मः स विषये घटादावध्यारोप्यते। तदध्यारोपनिमित्तं च प्रतिभासनक्रियाधिकरणत्वम्। तथा च 'अर्थमहं वेद्मि' इत्यन्तः प्रकाशमानानन्तपर्यायाच्चेतनद्रव्यवद्बहिःप्रकाशमानानन्तपर्यायाच्चेतनद्रव्यमपि प्रतिपत्तव्यम्। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्यागमोपि नाद्वैतप्रसाधकः; अभेदे प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्यैवासम्भवात्। न चागमप्रामाण्यवादिना अर्थवादस्य प्रामाण्यमभिप्रेतमति-

---

का उपचार मुख्य सिंह के बिना नहीं होता है, मतलब-सिंह न हो तो उसका उपचार बालक में नहीं होता है; उसी प्रकार मुख्यभेद न हो तो उपचार भेद भी नहीं रहता है। अभेदवादीके यहां मुख्यभेद तो है ही नहीं यदि वह माना जावे तो अद्वैतसिद्धान्त गलत होगा।

आपने जो अनुमान से अद्वैतवाद की सिद्धि कही थी कि—"यत् प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तः प्रविष्टं प्रतिभासमानत्वात् यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते च चेतनाचेतनारूप वस्तु तस्मात्प्रतिभासान्तः प्रविष्टमिति" जो प्रतिभासित होता है, वह प्रतिभास के अन्दर शामिल है, क्योंकि वह प्रतिभासित हो रहा है जैसा कि प्रतिभास का स्वरूप अशेष चेतन, अचेतन पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, अतः वे प्रतिभास के अन्दर शामिल हैं। सो भी अयुक्त है, इस अनुमान में जो प्रतिभासमानत्व हेतु है वह स्वतः प्रतिभासमानत्व है कि परतः प्रतिभासमानत्व है? स्वतः कहो तो वह हेतु प्रतिवादी की अपेक्षा असिद्ध होगा, क्योंकि वे पदार्थों को स्वतः प्रतिभासमान नहीं मानते हैं, परसे कहो तो विरुद्ध होगा, क्योंकि अद्वैत में साध्य और हेतु ऐसा द्वैत होनेसे वह द्वैत को ही सिद्ध कर देगा, यदि कोई कहे कि घट प्रतिभासित होता है इत्यादि प्रतिभास का समानाधिकरण्य जो वस्तु के साथ देखा जाता है वह कैसे देखा जाता है? तो बताते हैं कि विषय में विषयी जो ज्ञान है उसके धर्मका उपचार करके ऐसा कहा जाता है; न कि वहां स्वतः प्रतिभासमानता है इसलिये कहा जाता है, क्योंकि प्रतिभासनज्ञान का धर्म है उसे घटादि विषयमें आरोपित करते हैं, वह आरोप भी इसलिये है कि प्रतिभासन क्रिया के घटादि पदार्थ अधिकरण हैं, तथा—जिस प्रकार "मैं पदार्थको जानता हूं" इस प्रकार के ज्ञान में जो "मैं" अहं है वह अंतः प्रकाशमान अनन्तपर्याययुक्त चेतन द्रव्य है, उसी प्रकार बहिःप्रकाशमान अनन्त

प्रसङ्गात्। आत्मैव हि सकललोकसर्गस्थितिप्रलयहेतुरित्यप्यसम्भाव्यम्; अद्वैतैकान्ते कार्यकारणभावविरोधात्, तस्य द्वैताविनाभावित्वात्। निराकृत च नित्यस्य कार्यकारित्वं शब्दाद्वैतविचारप्रक्रमे।

किमर्थं चासौ जगद्वैचित्र्य विदधाति? न तावद्व्यसनितया; अप्रेक्षाकारित्वप्रसङ्गात्, प्रेक्षाकारिप्रवृत्तेः प्रयोजनवत्तया व्याप्तत्वात्। कृपया परोपकारार्थं तत् करोतीति चेत्; न; तद्व्यतिरेकेण परस्याऽसत्त्वात्। सत्त्वे वा-नारकादिदुःखितप्राणिविधानं न स्यात्, एकान्तसुखितमेवाखिलं जगज्जनयेत्। किञ्च, सृष्टे प्रागनुकम्प्यप्राण्यभावात् किमालम्ब्य तस्यानुकम्पा प्रवर्त्तते येनानुकम्पावशादयं स्रष्टा कल्प्येत? अनुकम्पावशाच्चास्य प्रवृत्तौ देवमनुष्याणां सदाभ्युदययोगिना प्रलयविधानविरोधः, दुःखितप्राणिनामेव प्रलयविधानानुषङ्गात्। प्राण्यदृष्टापेक्षोऽसौ सुखदुःखसमन्वितं जगत् जनयतीत्य-

---

पर्याययुक्त अचेतन द्रव्य को भी मानना चाहिये। "सर्वं खल्विद" इत्यादिरूप आपका आगम भी अद्वैत सिद्ध नहीं करता है, देखो—अभेदपक्ष में तो प्रतिपाद्य (शिष्य) प्रतिपादक (गुरु) यह भेद ही असम्भव है। आगम प्रमाणवादी को आगमके स्तुतिरूप या प्रशसारूप वचनों को सत्य नहीं मानना चाहिये, अन्यथा अतिप्रसग आवेगा, (पत्थर पानी में तैरता है, अन्धा मणि को पिरोता है इत्यादि अतिशयोक्तिपूर्ण वचनों को सत्य मानने का अतिप्रसंग आता है। ब्रह्मा ही सभी लोगों की—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है यह मानना भी गलत है, क्योंकि अद्वैत में कार्यकारणभाव का विरोध है, वह कार्यकारणभाव तो द्वैत का अविनाभावी है; अर्थात् एक कारण और एक कार्य इस प्रकार दो पदार्थ तो हो ही जाते हैं, तथा नित्य स्वभावी ब्रह्मा कार्य को कर नहीं सकता यह बात शब्दाद्वैत के प्रकरण में बता चुके हैं।

अच्छा—यह बताओ कि यह ब्रह्मा जगत् को विचित्र—नानारूप क्यों रचता है? आदत के कारण वह ऐसा होकर रचता है तो वह अप्रेक्षावान् होगा, क्योंकि बुद्धिमान तो प्रयोजनवश ही कार्य में प्रवृत्ति करते हैं न कि आदत से लाचार होकर करते हैं। कृपा के वश हो परोपकार करने के लिये ब्रह्मा जगत् को रचता है यदि ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मा को छोड़कर और कोई दूसरा है ही नहीं, फिर वह किसका उपकार करे? अच्छा तो ब्रह्मा जगत रचना करता है तो फिर उसे नारक आदि दुःखी प्राणियों को नहीं बनाना चाहिये था सभी सुखी ही जीव बनाना चाहिये था, दूसरी बात यह है कि सृष्टि के पहिले अनुकम्प्य-अनुकम्पा योग्य प्राणी ही नहीं था तो किसकी अपेक्षा लेकर उस ब्रह्मा को अनुकम्पा उत्पन्न हुई? जिससे कि ब्रह्मा दया

प्यसङ्गतम्; स्वातन्त्र्यव्याघातानुषङ्गात् । समर्थस्वभावस्यासमर्थस्वभावस्य वा नित्यैकरूपस्य वस्तुनोऽन्यापेक्षाऽयोगाच्च । अदृष्टवशाच्च जगद्वैचित्र्यसम्भवे-किमनेनान्तर्गडुना पीडाकारिणा ? अदृष्टापेक्षा चास्यानुपपन्ना, किं त्ववधीरणमेवोपपन्नम्, अन्यथा कृपालुत्वव्याघातप्रसङ्गः । न हि कृपालवः परदुःखं तद्धेतुं वाऽन्विच्छन्ति, परदुःखतत्कारणवियोगवाञ्छयैव प्रवृत्तेः ।

ननु यथोर्णनाभो जालादिविधाने स्वभावतः प्रवर्त्तते, तथात्मा जगद्विधाने इत्यप्यसत्; उर्णनाभो हि न स्वभावतः प्रवर्त्तते । किं तर्हि ? प्राणिभक्षणलाम्पट्यात्प्रतिनियतहेतुसम्भूततया कादाचित्कात् । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति निन्दावादोऽप्यनुपपन्नः; सकलप्राणिनां भेदग्राहकत्वेनैवाखिलप्रमाणानां प्रवृत्तिप्रतीतेः ।

के वश होकर जगत की रचना करे । मान लिया जावे कि अनुकम्पा से वह जगत की रचना करता है, तो देव, मनुष्यादि सुखी प्राणी का नाश क्यों करता है ? दुःखी प्राणी का ही उसे नाश करना था, कहो कि प्रत्येक प्राणी के भाग्य की अपेक्षा लेकर सुख और दुःखमय जगत् की वह रचना करता है सो ऐसा कथन भी असगत है, क्योंकि ऐसे तो ब्रह्माजी की स्वतन्त्रता का व्याघात हो जावेगा । व्यक्ति समर्थ हो चाहे असमर्थ हो, जो नित्य एक स्वरूप है वह अन्य की अपेक्षा रखता ही नहीं, यदि रखता है तो वह नित्य और एक रूप नहीं कहलावेगा । तथा यदि अदृष्ट के वशसे ही जगत् में विचित्रता आती है तो फिर यह बीच में दुःखदायी शरीर के भीतर के फोड़े के समान ब्रह्मा को क्यों मानते हो, तथा अदृष्ट की अपेक्षा ब्रह्मा के बन ही नहीं सकती है, क्योंकि यदि ब्रह्मा को किसी का भला करना है और अदृष्ट उसका ठीक नहीं है तो वह उसका भला नहीं कर सकता, इस तरह अदृष्टाधीन ब्रह्मा को कहने पर उसकी अवज्ञा—अपमान करना है, ब्रह्मा यदि स्वतन्त्र होता तो भला करता, स्वतन्त्र रहकर ही यदि वह दया नहीं करे तो उसमें कृपालुता खतम हो जाती है, क्योंकि दयावान् व्यक्ति दूसरों के दुःख अथवा दुःख के कारणों को तो चाहते नहीं, उनकी तो दूसरे के दुःख दूर करने में ही प्रवृत्ति होती है ।

शंका—जैसे मकड़ी स्वभाव से जाल बनाती है वैसे ही ब्रह्मा जगत् की रचना करने में स्वभावतः प्रवृत्त होता है ?

समाधान—यह कथन गलत है, क्योंकि मकड़ी स्वभावतः जाल नहीं बनाती, किन्तु प्रतिनियत भूख आदि के कारण वह कभी कभी प्राणी भक्षण की आसक्तिरूप कारण को लेकर जाल बनाती है ।

यच्चोक्तम्—'आहुर्विधातृप्रत्यक्षम्' इत्यादि; तत्र किमिदं प्रत्यक्षस्य विधातृत्वं नाम-सत्तामात्रावबोधः, असाधारणवस्तुस्वरूपपरिच्छेदो वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, नित्यनिरंशव्यापिनो विशेषनिरपेक्षस्य सत्तामात्रस्य स्वप्नेप्यप्रतीतेः खरविषाणवत्। द्वितीयपक्षे तु-कथं नाद्वैतप्रतिपादकागमस्याध्यक्षबाधा? भावभेदग्राहकत्वेनैवास्य प्रवृत्तेः, अन्यथाऽसाधारणवस्तुस्वरूपपरिच्छेदकत्वविरोधः।

यच्च भेदो देशभेदात्स्यादित्याद्युक्तम्; तदप्यसङ्गतम्; सर्वत्राकारभेदस्यैवार्थभेदकत्वोपपत्तेः। यत्रापि देशकालभेदस्तत्रापि तद्रूपतयाऽऽकारभेद एवोपलक्ष्यते। स चाकारभेदः स्वसामग्रीतो जातोऽहमहमिकया प्रतीयमानेनात्मना प्रतीयते। प्रसाधयिष्यते चात्मा सुखशरीरादिव्यतिरिक्तो जीवसिद्धिप्रघट्टके। कथं चाभेदसिद्धिस्तत्प्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात्; तथाहि—अभेदोऽर्थानां देशाभेदात्,

---

"जो व्यक्ति ब्रह्मा में नाना भेदों को देखता है वह यम से मृत्यु को प्राप्त करता है" ऐसा जो निन्दा वाक्य कहा है वह भी ठीक नही है, क्योंकि समस्त प्राणियों के प्रमाणभूत ज्ञान पदार्थों को भिन्न भिन्न रूप से ही ग्रहण करते है यह बात प्रतीतिसिद्ध है।

ब्रह्मवादी ने कहा था कि प्रत्यक्ष प्रमाण विधिरूप ही होता है इत्यादि-सो उसमें यह बताइये कि प्रत्यक्ष में विधातृत्व है क्या? सत्तामात्र को जानना विधातृत्व है अथवा असाधारण वस्तुस्वरूप को जानना विधातृत्व है? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि नित्य, निरंश व्यापी और विशेष से रहित ऐसा सत्तामात्र तत्त्व स्वप्न में भी दिखायी नहीं देता है, जैसे कि गधे के सींग दिखाई नहीं देते। द्वितीय पक्ष में अद्वैत प्रतिपादक आगम में बाधा आवेगी, क्योंकि असाधारण वस्तुस्वरूप का ग्रहण तो वस्तुओं के भेदों को ग्रहण करके ही प्रवृत्त होता है, नहीं तो उसे असाधारण वस्तुस्वरूप का परिच्छेदक ही नही मानेंगे। पहिले जो अद्वैतवादी ने पूछा था कि "देशभेद से अथवा कालभेद से भेद का ग्रहण होता है इत्यादि" सो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि सभी चेतन अचेतन वस्तुओं में आकारों के भेदों से ही भेद माना गया है। जहां भी देशभेद या कालभेद है, वहां भी उस रूप से आकारभेद ही दिखाई देता है, यह आकारभेद तो अपनी सामग्री के निमित्त से हुआ है, और वह "मैं ऐसा हूं या मेरा यह स्वरूप है" इस प्रकार से प्रतीत होता है, आत्मा शरीर आदि से भिन्न है यह बात हम जीवसिद्धप्रकरण में सिद्ध करने वाले हैं। तथा-अभेदसिद्धि में यही ऊपर के प्रश्न समानरूप से ही आते हैं अर्थात्—हम पूछते हैं कि-आप पदार्थ में अभेद मानते हो सो क्यों? देश का अभेद होने से या काल का अथवा आकार का अभेद होने से? देश अभेद से

कालाभेदात्, आकाराभेदाद्वा स्यात् ? यदि देशाभेदात्; तदा देशस्यापि कुतोऽभेदः ? अन्यदेशाभेदाच्चेदनवस्था । स्वतश्चेदर्थानामपि स्वत एवाभेदोऽस्तु किं देशाभेदादभेदकल्पनया ? इत्यादिसर्वमत्रापि योजनीयम् । तस्मात्सामान्यस्य विशेषस्य वा स्वभावतोऽभेदो भेदो वाभ्युपगन्तव्यः ।

यच्चेदमुक्तम्–'यत एवाविद्या ब्रह्मणोऽर्थान्तरभूता तत्त्वतो नास्त्यत एवासौ निवर्त्यते' इत्यादि; तदप्यसारम्; यतो यद्यवस्तुसत्यविद्या कथमेषा प्रयत्ननिवर्तनीया स्यात् ? न ह्यवस्तुसन्तः शशशृङ्गादयो यत्ननिवर्त्तनीयत्वमनुभवन्तो दृष्टाः । न चास्यास्तत्त्वतः सद्भावे निवृत्त्यसम्भवः; घटादीनां सतामेव निवृत्तिप्रतीतेः । न चाविद्यानिर्मितत्वेन घटग्रामारामादीनामपि तत्त्वतोऽसत्त्वम्; अन्योऽन्याश्रयानुषङ्गात्–अविद्यानिर्मितत्वे हि घटादीनां तत्त्वतोऽसत्त्वम्, तस्माच्चाविद्यानिर्मितत्वमिति । अभेदस्य-

---

कहो तो वह देश अभेद भी कहां से हुआ ? अन्य देश के अभेद से कहो तो अनवस्था दोष आता है, स्वतः अभेद कहो तो पदार्थ में भी स्वतः अभेद मानो, देश अभेद से पदार्थ में अभेद मानने की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि सारे हमें दिये गये दूषण अभेद पक्ष में भी समान हैं, इसलिये सामान्य हो चाहे विशेष–दोनों में भी स्वभाव से ही अभेद अथवा भेद मानना चाहिये ।

ब्रह्मवादी ने जो कहा था–कि "अविद्या ब्रह्म से भिन्न कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, इसलिये वह नष्ट होती है इत्यादि"–सो यह कथन भी असार है, क्योंकि यदि अविद्या अवस्तुरूप असत् है तो उसे प्रयत्न पूर्वक क्यों हटानी पड़ती है ? अवस्तुरूप खरगोशशृङ्ग आदि क्या प्रयत्न पूर्वक हटाये जाते हुए देखे गये हैं ? या देखे जाते हैं ?

शंका—अविद्या वास्तविक होगी तो उसे कैसे समाप्त किया जा सकेगा ?

समाधान—यह कथन–ऐसी शका ठीक नहीं है । देखिये–घटादि सत् होकर भी समाप्त किये जाते हैं कि नहीं ? वैसे हो अविद्या सत् होवे तो भी हटायी जा सकती है, आप ऐसा भी नहीं कहना घट, ग्राम, बगीचादि अविद्या से निर्मित हैं । अतः असत् हैं और इसी कारण से उन्हें भी हटा सकते हैं सो ऐसे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है अर्थात् घटादिकों में अविद्या से निर्मितपना सिद्ध हो तब उनमें असत्व सिद्ध हो और असत्व सिद्ध हो तब उनमें अविद्या से निर्मितपना सिद्ध हो । "अभेद विद्या-निर्मित है, अतः वह वास्तविक है" इस पक्ष में भी वही अन्योन्याश्रय दोष आता है, अर्थात् पहिले विद्या परमार्थभूत है यह बात सिद्ध हो तब अभेद विद्या के द्वारा पैदा है यह कथन सिद्ध हो और अभेद विद्या निर्मित है यह कथन सिद्ध होने पर विद्या में

विद्यानिर्मितत्वेन परमार्थसत्त्वेपि अन्योन्याश्रयो द्रष्टव्यः । न चानाद्यऽविद्योच्छेदे प्रागभावो दृष्टान्तः; वस्तुव्यतिरिक्तस्यानादेस्तुच्छस्वभावस्यास्याऽसिद्धे । ।

यदपि–'तत्त्वज्ञानप्रागभावरूपैवाविद्या' इत्याद्यभिहितम्; तदप्यभिधानमात्रम्; प्रागभावरूपत्वे तस्या भेदज्ञानलक्षणकार्योत्पादकत्वाभावानुषङ्गात्, प्रागभावस्य कार्योत्पत्तौ सामर्थ्यासम्भवात् । न हि घटप्रागभावः कार्यमुत्पादयन्दृष्टः । केवलं घटवत् प्रागभावविनाशमन्तरेण तत्त्वज्ञानलक्षणं कार्यमेव नोत्पद्येत । अथ न भेदज्ञानं तस्याः कार्यम्, किं तर्हि ? भेदज्ञानस्वभावैवासौ, तन्न; एवं सति प्रागभावस्य भावान्तरस्वभावतानुषङ्गात् । न च ज्ञानस्य भेदाभेदग्रहणकृता विद्येतरव्यवस्था,

---

परमार्थता सिद्ध हो, इस तरह अभेद विद्यानिर्मित है यह बात सिद्ध नहीं होती है । अनादि अविद्या का नाश होने में आपने प्रागभाव का दृष्टान्त दिया है सो वह गलत है, क्योंकि वस्तु से भिन्न सर्वथा अनादि तुच्छाभावरूप इस प्रागभाव की असिद्धि है ।

तथा—आपने जो ऐसा कहा है कि "तत्त्वज्ञान का प्रागभाव ही अविद्या है" सो केवल कथन मात्र है, यदि अविद्या को प्रागभावरूप माने तो उससे भेदज्ञान लक्षण कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रागभाव में कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है, प्रागभाव के नाश हुए बिना जैसे घटरूप कार्य नहीं होता वैसे ही अविद्यारूप प्रागभाव का नाश हुए बिना तत्त्वज्ञानरूप कार्य उत्पन्न ही नहीं होता है ।

भावार्थ—जैसे घट का प्रागभाव घटरूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है, उसी प्रकार विद्या का प्रागभावरूप अविद्या विद्यारूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती, मतलब—वस्तु का जो प्रागभाव है उसका नाश हुए बिना आगामी कार्य नहीं होता है, जैसे कि घट का प्रागभाव जो स्थास कोश, कुशूल है उनका नाश हुए बिना घट नहीं बन सकता, उसी प्रकार अविद्या का नाश हुए बिना विद्या उत्पन्न नहीं हो सकती, और एक बात यह है कि घटादि वस्तु का जो प्रागभाव है उसका नाश होने मात्र से आगामी घटादि पर्यायरूप कार्य हो ऐसी भी बात नहीं है, अर्थात् घट का प्रागभाव जो कोशकुशूल है उसे यों ही बिगाड़ कर खतम कर दिया घटाकर नहीं बना ऐसा तो हो सकता है, पर इतना जरूर है कि प्रागभाव के नाश हुए बिना आगामी कार्य नहीं होता है, अतः तत्त्वज्ञान का प्रागभाव अविद्या है ऐसा कहना गलत है ।

आप यदि कहें कि भेदज्ञान अविद्या का कार्य नहीं है, किन्तु भेदज्ञान स्वभावरूप अविद्या है, सो ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि ऐसी मान्यता में आपको

संवादविसंवादकृतत्वात्तस्य सत्येतरत्वव्यवस्थायाः। संवादश्च भेदाभेदज्ञानयोर्वस्तुभूतार्थग्राहकत्वात्तुल्य इत्युक्तम्।

यदप्युक्तम्–'भिन्नाभिन्नादिविचारस्य च वस्तुविषयत्वात्' इत्यादि; तत्राविद्याया। किमवस्तुत्वाद्विचारागोचरत्वम्, विचारागोचरत्वाद्वाऽवस्तुत्वं स्यात्? न तावद्यद्यदवस्तु तत्तद्विचारयितुमशक्यम्; इतरेतराभावादेरवस्तुत्वेऽपि 'इदमित्थम्' इत्यादिशाब्दप्रतिभासलक्षणविचारविषयत्वात्। नापि विचारागोचरत्वेनावस्तुत्वम्; इक्षुक्षीरादिमाधुर्यतारतम्यस्य तज्जनितसुखादितारतम्यस्य वा

हमारे समान प्रागभाव को भावान्तर स्वभावरूप मानना पड़ेगा। तथा ज्ञान में भेदग्रहण और अभेदग्रहण के द्वारा विद्या और अविद्या की व्यवस्था नहीं होती अर्थात् जो ज्ञानभेद को ग्रहण करे वह अविद्यारूप है और जो ज्ञान अभेद का ग्राहक है वह विद्यास्वरूप है ऐसा नियम नहीं है; किन्तु संवाद और विसंवाद के द्वारा ही ज्ञान में सत्यता और असत्यता की व्यवस्था बनती है, मतलब–जिस ज्ञान का समर्थक अन्य ज्ञान है वह सत्य है और जिसमें विसंवाद है वह असत्य है, यह संवादकपना भेदज्ञान और अभेदज्ञान दोनों में भी संभव है, क्योंकि दोनों ज्ञान वास्तविक वस्तु के ग्राहक हैं। जो कहा है कि भिन्न और अभिन्नादि विचार वस्तु में होते हैं, अविद्या अवस्तु है, अत: उसमें भिन्नादि की शंका नही करना इत्यादि–सो उस विषय में–हम प्रश्न करते हैं कि अविद्या अवस्तु होने से विचार के अगोचर है या विचार के अगोचर होने से अविद्या अवस्तु है? अविद्या विचार के अगोचर है क्योंकि वह अवस्तु है ऐसा तो कह नहीं सकते क्योंकि जो जो अवस्तुरूप है वह वह विचार के अगोचर है ऐसा नियम नहीं है, देखिये–इतरेतराभाव आदि अवस्तुरूप हैं तो भी "यह इस प्रकार है" इत्यादिरूप से वे शाब्दिक प्रतिभास रूप विचार के गोचर होते ही हैं, मतलब–इतरेतराभाव का लक्षण तो होता हो है, जैसे-एक में दूसरी वस्तु का अभाव वह इतरेतराभाव है इत्यादिरूप से अभाव का विचार किया ही जाता है। विचार के अगोचर होने से अविद्या अवस्तु है ऐसे दूसरे पक्षवाली बात भी नहीं बनती देखो-गन्ना दूध आदिकी मिठास की तरतमता अथवा उनके चखने से उत्पन्न हुए सुख की तरतमता 'यह इतनी ऐसी है' इस प्रकारसे दूसरे व्यक्ति को नहीं बताई जा सकती है, तब भी वे हैं तो वस्तुरूप ही, वैसे ही वह अविद्या विचार के अगोचर होने मात्र से अवस्तुरूप वहीं हो सकती है। तथा–यह जो भिन्नाभिन्न का विचार किया जाता है वह प्रमाण है कि अप्रमाण है? यदि प्रमाण है तो उस प्रमाणभूत विचार की जो विषय नहीं है ऐसी अविद्या का सत्व कैसे हो सकता है,

'इदमित्थम्' इति परस्मै निर्देष्टुमशक्यत्वेपि वस्तुरूपत्वप्रसिद्धेः। किञ्च, अयं भिन्नाभिन्नादिविचारः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? यदि प्रमाणम्; तेनाविषयीकृतायाः कथमविद्यायाः सत्त्वम् ? तदसत्त्वे च कथं मुमुक्षोस्तदुच्छित्तये प्रयासः फलवान् ? अथाप्रमाणम्; कथं तर्हि तस्य वस्तुविषयत्वम् ? यतो 'भिन्नाभिन्नादिविचारस्य वस्तुविषयत्वात्' इत्यभिधानं शोभेत।

यच्चोक्तम्–'यथा रजोरजोन्तराणि' इत्यादि; तदप्यसमीचीनम्; यतो बाध्यबाधकभावाभावे कथं श्रवणमननादिलक्षणाऽविद्याऽविद्यां प्रशमयेत् ? बाध्यबाधकभावश्च सतोरेव अहिनकुलवत्, न त्वसतोः शशाश्वविषाणवत्। दैवरक्ता हि किंशुकाः केन रज्यन्ते नाम। विद्यमानमेव हि रजो रजोन्तरस्य स्वकार्यं कुर्वतः सामर्थ्यापनयनद्वारेण बाधकं प्रसिद्धम्, विषद्रव्यं वा उपयुक्तविषद्रव्यसामर्थ्या-

---

और वह असत है तो उसका नाश करने के लिये मुमुक्षु जीवों का प्रयत्न सफल कैसे होगा ? यदि भिन्न आदि का विचार अप्रमाण है ऐसा कहो तो स्वतः अप्रमाणभूत विचार वस्तुको विषय करने वाला कैसे हो सकता है, जिससे आपका वह कथन शोभित हो कि भिन्नाभिन्न विचार तो वस्तु विषयक होता है; अविद्या वास्तविक है नहीं, इत्यादि।

आपने अविद्या से अविद्या का नाश होता है इस बात को समझाने के लिये धूलि आदि का दृष्टान्त दिया है सो असत् है, क्योंकि बाध्यबाधकभाव हुए बिना श्रवण-मननादिरूप अविद्या अनादि अविद्या का नाश कैसे करेगी ? अर्थात् श्रवणमननादिरूप अविद्या और अनादि अविद्या इनका आपस में सर्प नौले की तरह बैर है कि जिससे यह उसे खतम करती है, तथा ऐसा बैररूप बाध्य बाधकभाव भी मौजूद वस्तु में ही होता है असत् में नही। क्या खरगोश के सींग और घोड़े के सींग में बाध्य बाधकभाव होता है। दैव से रंगे किंशुकों को कौन रंगाता है अर्थात् कोई नहीं रंगाता है, वैसे ही असत्रूप दोनों अविद्या–एक अनादि की अविद्या और दूसरी तत्त्वश्रवणादिरूप अविद्या के बीच में बाध्य बाधकभाव कौन उपस्थित कर सकता है ? अर्थात् नही कर सकता है। विद्यमान रज ही कलुषता कार्य को करती हुई भिन्न रज के सामर्थ्य को दूर करके बाधकरूप से प्रसिद्ध होती है, एक विष भी दूसरे विष के सामर्थ्य को खतम करने में उपयोगी है, अन्न आदि के सदृश कार्य करने में उपयोगी नहीं है।

किञ्च—भेद का नाश नहीं हो सकता है, क्योंकि अभेद की तरह वह भी वस्तु स्वभाववाला है, अतः उसका नाश करना असम्भव है।

पनयने चरितार्थत्वादभ्रमलादिसदृशतया न कार्यान्तरकरणे तत्प्रभवतीति । न च भेदस्योच्छेदो घटते; वस्तुस्वभावतयाऽभेदवत्तस्योच्छेत्तुमशक्तेः ।

भावार्थ— ब्रह्माद्वैतवादी ने सारा विश्व एक ब्रह्मस्वरूप है इस प्रकार के अद्वैत को सिद्ध करते समय सबसे पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित किया था—कि प्रत्येक व्यक्ति को आंख खोलते ही एक अखण्ड अभेदरूप जो कुछ प्रतीत होता है वह ब्रह्म का स्वरूप है, सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं और प्रतिभास ही ब्रह्म का लक्षण है, अतः अनुमान से भी ब्रह्मतत्त्व सिद्ध होता है। आगम में तो प्रसिद्ध है ही कि –

"सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।
आराम तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से ब्रह्माद्वैत को सिद्ध कर तर्क–युक्तियों के द्वारा भी सिद्ध करना चाहा है, इसमें उन्होंने पदार्थों में दिखाई देने वाले प्रत्यक्ष भेदों का–प्रत्यक्ष प्रमाण से पदार्थों में दिखाई देने वाले भेदों का–असत्य अर्थात् प्रतीति से विरुद्ध तरीके से अभाव किया है। ब्रह्मा जगत् रचना को किस कारण से करता है, इस बात को समझाने के लिये–समर्थन करने के लिये–मकड़ी आदि का उदाहरण दिया है, विद्या और अविद्या की भी चर्चा की है जो कि मनोरंजक है, अन्त में अविद्या से ही अविद्या का नाश कैसे होता है इसके लिये रज और विष का उदाहरण देकर ब्रह्माद्वैत सिद्ध किया है, इन सभी प्रमाण और युक्तियों का जैनाचार्य ने अपनी स्याद्वादवाणी से यथास्थान सुयुक्तिक खण्डन किया है। प्रत्यक्षप्रमाण साक्षात् ही यह घट है यह पट है इत्यादि भेदरूप कथन करता है, न कि अभेदरूप। अनुमान से अभेद सिद्ध करना तो दूर रहा किन्तु उसी अनुमान से ही साध्य और हेतुरूप द्वैत-भेद दिखायी देता है, आगम में जहां कहीं ब्रह्म के एकत्व का वर्णन है वह मात्र अतिशयोक्ति रूप है, वास्तविक नहीं है, ब्रह्म को तर्क से सिद्ध करना तो नितरां असंभव बताया है। जब पदार्थों में भेद स्वतः ही है अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वतः अन्य वस्तु से अपना पृथक् अस्तित्व रखती है तब उनको हम अभेद रूप कैसे कह सकते हैं—सिद्ध कर सकते हैं। मकड़ी आदि प्राणी स्वभाव से जाल नहीं बनाते हैं, किन्तु आहारसंज्ञा के कारण ही उनकी ऐसी प्रवृत्ति होती है, अतः इस उदाहरण से

ननु स्वप्नावस्थायां भेदाभावेऽपि भेदप्रतिभासो दृष्टस्ततो न पारमार्थिको भेदस्तत्प्रतिभासो वा; इत्यभेदेपि समानम् । न खलु तदा विशेषस्यैवाभावो न पुनस्तद्व्यापकसामान्यस्य; अन्यथा कूर्मरोमादीनामसत्त्वेपि तद्व्यापकस्य सामान्यस्य सत्त्वप्रसङ्गः । कथं च स्वप्नावस्थायां भेदस्यासत्त्वम् ? बाध्यमानत्वाच्चेत्; तर्हि जाग्रदवस्थायां तस्याबाध्यमानत्वात् सत्त्वमस्तु । एकत्रास्य बाध्यमानत्वोपलम्भात्सर्वत्रासत्त्वे च, स्थाण्वादौ पुरुषप्रत्ययस्य बाध्यमानत्वेनासत्यतोपलम्भात् आत्मन्यप्यसत्यत्वप्रसङ्गः । ततो जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां वा यत्र बाधकोदयस्तदसत्यम्, यत्र तु तदभावस्तत्सत्यमभ्युपगन्तव्यम् ।

"ब्रह्मा सृष्टि रचना करता है" यह सिद्ध नहीं होता है, अविद्या को अविद्या तभी नाश कर सकती है जब दोनों सद्भावरूप हों, किन्तु अद्वैतवादी अनेक वस्तुओं को मान नही सकते, अतः विष या रज का दृष्टान्त देकर अविद्या का अभाव करना सिद्ध नहीं होता है, इस प्रकार ब्रह्मवादी के अखंड ब्रह्मतत्त्व के स्याद्वादरूपी वज्र के द्वारा सहस्रशः खंड हो जाते हैं ।

शंका—स्वप्न अवस्था में घट पट आदि भिन्न भिन्न वस्तु नहीं रहती है फिर भी भेद दिखाई देता है, इसलिये पदार्थों में भेद और उन भेदों को ग्रहण करने वाला ज्ञान इन दोनों को हम पारमार्थिक नहीं मानते हैं ।

समाधान—इस प्रकार का कथन तो हम अभेद के विषय में भी कर सकते हैं । अर्थात् कहीं स्वप्नावस्था में अभेद दिखाई देता है, अतः अभेद वास्तविक नहीं है, स्वप्नावस्था में विशेष अर्थात्—भेद का ही अभाव है ऐसी तो बात नहीं है, वहां तो उस विशेष रूप भेद–व्याप्य का व्यापक जो सामान्य अभेद है उसका भी अभाव है, यदि विशेष के अभाव में सामान्य का अभाव नहीं माना जायगा तो बड़ा भारी दोष आवेगा, देखिये–कछुवे में रोम (केशों) का अभाव होनेपर भी उसका व्यापक रोमत्व सामान्य वहां है ऐसा कहना पड़ेगा, स्वप्न अवस्था में भेद का अभाव है यह कैसे जाना जाता है यह आप अद्वैतवादी को बताना चाहिये—यदि कहो कि स्वप्न का भेद बाधित होता है अतः उसे अभावरूप मानते हैं, तब तो जाग्रत अवस्था में दिखाई देनेवाला भेद अबाधित होने से सत्य मान लीजिये, मात्र स्वप्नावस्था में भेद बाधित होने से सब जगह उसका अभाव करोगे—तो ठीक नहीं होगा । फिर तो स्व-

ननु बाधकेन ज्ञानमपह्नियते, विषयो वा, फलं वा ? न तावद् ज्ञानस्यापहारो युक्तः; तस्य प्रतिभातत्वात् । नापि विषयस्य; अत एव । विषयापहारश्च राज्ञां धर्मो न ज्ञानानाम् । फलस्यापि स्नानपानावगाहनादेः प्रतिभातत्वान्नापहारः । बाधकमपि ज्ञानम्, अर्थो वा ? ज्ञानं चेत् तत्किं समान-

---

चित् स्थाणु आदि में पुरुषज्ञान बाधित होने से असत्य है तो स्वयं अपने में होने वाला पुरुषत्व का ज्ञान असत्य कहलावेगा । इसलिये निष्कर्ष यह निकला कि जाग्रत अवस्था हो चाहे निद्रित अवस्था हो जिसमें बाधा आती है वह ज्ञान या वस्तु असत्यरूप कहलावेगी तथा जिसमें बाधा उपस्थित नहीं होती है वह वस्तु वास्तविक हो होगी ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

भावार्थ—ब्रह्मवादी का कहना है कि स्वप्न में देखे गये पदार्थ के समान ही ये प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले पदार्थ काल्पनिक हैं किन्तु यह उनका कहना सर्वथा गलत है, निद्रित अवस्था में देखे गये पदार्थ अर्थक्रिया रहित होते हैं, अतः बाधित होने से वे असत्य माने जाते हैं, किन्तु जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाले पदार्थ ऐसे नहीं होते हैं–उनसे अर्थक्रिया भी होती है अर्थात् जाग्रत अवस्था में जल रहता है उससे पिपासा शांत होती है अतः वह जल वास्तविक ही है, इसलिये वस्तुओं को हम अनेक भेद रूप मानते हैं ।

अब आगे कोई परवादी अपना लंबा चौड़ा पक्ष रखता है—कहता है कि जैन ने जो ऐसा कहा है कि जहांपर बाधा आती है उसे सत्य नहीं मानना चाहिये और जहां पर बाधा नहीं आती है उसे सत्य ही मानना चाहिये–सो इस पर प्रश्न होता है कि बाधक प्रमाण के द्वारा किस वस्तु को बाधित किया जाता है–ज्ञान को या विषय को या कि फल को ? अर्थात् प्रथम जो वस्तु का प्रतिभास हुआ है उसमें दूसरे ज्ञान से बाधा आई सो उस द्वितीयज्ञान ने प्रथमज्ञान को असत्य ठहराया या उसके द्वारा जाने गये पदार्थ को अथवा उस ज्ञान के फल को ? प्रथमज्ञानको दूसरे बाधकज्ञान ने बाधित किया सो ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि वह तो प्रतिभासित हो चुका अब उसमें बाधा देना ही व्यर्थ है । उस प्रथम ज्ञान के विषय को बाधित करना भी शक्य नहीं है क्योंकि वह भी ज्ञान में झलक ही चुका है । एक बात यह भी है कि विषय अर्थात् पदार्थ में बाधा देना–उस का अपहार करना ये तो काम

विषयम्, भिन्नविषयं वा ? तत्र समानविषयस्य संवादकत्वमेव न बाधकत्वम् । न खलु प्राक्तनं घट-ज्ञानमुत्तरेण तद्विषयज्ञानेन बाध्यते । भिन्नविषयस्य बाधकत्वे चातिप्रसङ्गः । अर्थोऽपि प्रतिभातः, अप्रतिभातो वा बाधकः स्यात् । तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; प्रतिभातो ह्यर्थः स्वज्ञानस्य सत्यतामेवाव-स्थापयति, यथा पटः पटज्ञानस्य । द्वितीयविकल्पेऽपि 'अप्रतिभातो बाधकश्च' इत्यन्योन्यविरोधः । न हि खरविषाणमप्रतिभातं कस्यचिद् बाधकम् । किञ्च, क्वचित्कदाचित्कस्यचिद्बाध्यबाधकभावाभावाभ्यां

राजा का है, ज्ञानों का ऐसा कार्य नहीं है । प्रथमज्ञान का फल भी बाधित नहीं होगा, वह स्नान, पान, अवगाहन आदि रूप से प्रतिभासित हो चुका है, अच्छा यह भी सोचना होगा कि बाधक कौन है–ज्ञान है अथवा पदार्थ है ? यदि ज्ञान बाधा देने वाला है तो वह कौन सा ज्ञान है ? क्या वह पूर्वज्ञान के समान ही विषय वाला ज्ञान है, अथवा अन्य कोई विषय वाला ज्ञान है ? यदि वह पूर्वज्ञान के समान ही विषय वाला ज्ञान है तो वह अपने पूर्ववर्त्ती ज्ञान का समर्थक ही रहेगा बाधक नहीं, देखा जाता है कि पूर्वज्ञान घट को जानता है तो उत्तरवर्ती ज्ञान उसीको ग्रहण करने से बाधक नहीं होता है । द्वितीय पक्ष यदि स्वीकार करो कि उत्तर ज्ञान विभिन्न विषय वाला है तब तो वह प्रथम ज्ञान को बिलकुल बाधित नहीं कर सकेगा, वरना तो अति-प्रसंग उपस्थित होगा, फिर तो घट विषयक ज्ञान पट विषयक ज्ञान को भी बाधा देने लगेगा । यदि अर्थ बाधक है तो वह प्रतिभासित है या अप्रतिभासित है ? प्रथम विकल्प कहो तो वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतीत हुआ पदार्थ तो अपने ज्ञान की सत्यता को ही बतलावेगा, जैसे पट पटज्ञान की सत्यता को सिद्ध करता है । द्वितीय विकल्प मानो कि बाधा देनेवाला पदार्थ अप्रतिभासित है तो परस्पर विरुद्ध बात होगी, अप्रतिभासित है और फिर बाधक है, ऐसा संभव नहीं है । ज्ञान में नहीं झलका—प्रतिभासित नहीं हुआ खर विषाण किसी ज्ञान में बाधा देता हुआ नहीं देखा जाता है । तथा किसी विवक्षित ज्ञान में बाधक प्रमाण नहीं है अतः वह सत्य है और जिस ज्ञान में बाधा आती है वह असत्य है ऐसा विशिष्ट ज्ञान किसी एक व्यक्ति को किसी एक समय किसी स्थान पर होता है और उतने मात्र से ज्ञान में सत्य और असत्य व्यवस्था हो जाती है, अथवा–ऐसा विशिष्ट ज्ञान सभी व्यक्तियों को सर्वत्र सर्वकाल में होवे तब सत्य असत्य ज्ञान सिद्ध होते हैं ? प्रथम विकल्प को मानेंगे तो सत्य और असत्य ज्ञानों में संकर हो जावेगा अर्थात् सत्य ज्ञान तो असत्य सिद्ध होगा और असत्य ज्ञान सत्य बन बैठेगा, देखिये–किसी को मरीचिका में जल मालूम हुआ उसके

सत्येतरत्वव्यवस्था, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा ? प्रथमपक्षे–सत्येतरत्वव्यवस्थासङ्करः; मरीचिकाचक्रादौ जलादिसंवेदनस्यापि क्वचित्कदाचित्कस्यचिद्बाधकस्यानुत्पत्तेः सत्यसंवेदने तूत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु–सकलदेशकालपुरुषाणां बाधकानुत्पत्त्युत्पत्त्योः कथमसर्वविदा वेदनं तत्प्रतिपत्तुः सर्ववेदित्वप्रसङ्गात् ?

इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्; रजतप्रत्ययस्य शुक्तिकाप्रत्ययेनोत्तरकालभाविनैकविषयतया बाध्यत्वोपलम्भात् । ज्ञानमेव हि विपरीतार्थख्यापकं बाधकमभिधीयते, प्रतिपादितासदर्थख्यापनं तु बाध्यम् । ननु चैतद्गतसर्पस्य घृष्टिं प्रति यष्टयभिहननमिवाभासते, यतो रजतज्ञानं चेदुत्पत्तिमात्रेण चरितार्थं किं तस्याऽतीतस्य मिथ्यात्वापादनलक्षणयापि बाधया ? तदसत्; एतदेव हि मिथ्याज्ञान-

---

कदाचित् किसी जगह बाधा नहीं भी आती है और अन्य व्यक्ति को वास्तविक जल में ही जल की प्रतीति आई तो भी उसमें शका–विवाद पैदा हो जाता है, सभी व्यक्तियों को सर्वत्र बाधा नही हो तब ज्ञान में सत्यता होती है ऐसा माने तो संपूर्ण देश कालों में और सभी पुरुषों को अमुक ज्ञान में बाधा है और अमुक में नहीं है ऐसा ज्ञान छद्मस्थ–अल्पज्ञानियों को नहीं हो सकता है, वैसा बोध होवे तो वह सर्वज्ञ ही कहलावेगा ।

जैन—इस प्रकार से तत्त्वों का उपप्लव करने वाला यह कथन अत्यंत अज्ञानमय है । देखो–सीधी सादी प्रतीतिसिद्ध बात है कि सीप में "यह चांदी है" इस प्रकार का ज्ञान उत्तर समयवर्ती एक विषय वाले ज्ञान के द्वारा बाधित होता है, कि यह चांदी नहीं है सीप है, ज्ञान में ही ऐसी सामर्थ्य है कि वह पूर्वज्ञान के विषय को विपरीत सिद्ध कर देता है और इसीलिये उसे बाधक कहते हैं । तथा असत्य वस्तुको ग्रहण करने वाला पूर्वज्ञान ही बाध्य है, यहां और तो कोई वस्तु है नहीं ।

शंका—यह बाध्य बाधक का कथन तो सर्प के चले जाने पर उसकी लकीर को लकड़ी से पीटने के जैसा मालूम पड़ता है, क्योंकि वह अतीत काल का रजत ज्ञान उत्पन्न होने मात्र का प्रयोजन रखकर समाप्त भी हो चुका है, अब उस अतीत को मिथ्यारूप बताने वाली बाधा क्या करेगी ?

समाधान—यह बात असत्य है, उस बीते हुए मिथ्याज्ञान में बाध्यता यही है कि इस ज्ञान में मिथ्यापन है यह बताना तथा उस ज्ञानके विषय में प्रवृत्ति नहीं होने देना वह बाधक ज्ञान का फल है । यदि उस पूर्ववर्त्ती रजतज्ञान को मिथ्या व

स्यातीतस्यापि बाध्यत्वम्-यदस्मिन् मिथ्यात्वापादनम्; क्वचित्पुनः प्रवृत्तिप्रतिषेधोऽपि फलम्, अन्यथा रजतज्ञानस्य बाध्यत्वासम्भवे शुक्तिकादौ प्रवृत्तिरविरता प्राप्नोति । कथं चैवं वादिनोऽविद्याविद्ययोर्बाध्यबाधकभावः स्यात् तत्राप्युक्तविकल्पजालस्य समानत्वात् ?

यच्च समारोपितादपि भेदादित्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; आत्मनः सांशत्वे सत्येव भेदव्यवस्थोपपत्तेर्निरंशस्यान्तर्बहिर्वा वस्तुनः सर्वथाप्यप्रसिद्धेरित्यात्माद्वैताभिनिवेशं परित्यज्यान्तर्बहिश्चानेकप्रकारं वस्तु वास्तवं प्रमाणप्रसिद्धमुररीकर्त्तव्यम् ।

बताया जावे तो सीप में ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति न रुक सकेगी । अद्वैतवादी इस प्रकार यदि बाध्यबाधकभाव का अभाव करेंगे तो फिर आपके यहां विद्या और अविद्या में भी बाध्य बाधक भाव कैसे बनेगा, क्योंकि वहां पर भी हम ऐसे ही प्रश्न करेंगे कि अविद्या के द्वारा ज्ञान का अपहार होता है कि विषय का या कि फल का इत्यादि, अतः विपरीत आदि ज्ञान बाधक प्रमाण के द्वारा बाधित होते हैं यह कथन अखंडित ही है ।

अद्वैतवादी ने जो ऐसा कहा है कि सुख, दुःख, बध और मोक्ष आदि भेद अद्वैत में भी समारोप भेद से बन जावेंगे इत्यादि—सो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि जब तक आत्मा में सांशता नहीं मानी जाती है तब तक मात्र कल्पना से भेद व्यवस्था होना सर्वथा अशक्य है । वस्तु चाहे चेतन हो चाहे अचेतन हो वह कोई भी निरंश नहीं है, अतः ब्रह्माद्वैतवादी को अपने ब्रह्म द्वैत मनका जो हठाग्रह है उसे छोड़ देना चाहिये और सभी चेतन अचेतन पदार्थों को वे वास्तविक रूप से अनेक प्रकार वाले हैं ऐसी प्रामाणिक बात स्वीकार कर लेना चाहिये ।

*** ब्रह्माद्वैतवाद का खंडन समाप्त ***

*

ब्रह्माद्वैतके खंडनका सारांश

ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि एक अविकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण सभी को एकत्व रूप से सिद्ध करता है, मतलब—सारा विश्व एकमात्र ब्रह्ममय है और वह आंख खोलते ही प्रतीति में आता है, हां पीछे से जो कुछ भेद दिखाई देता है वह तो अविद्या का विलास है, अनुमान से भी एक ब्रह्म सिद्ध होता है, जो प्रतिभासित होता

है वह प्रतिभास के स्वरूप की तरह प्रतिभास के अन्दर शामिल है, सारे जगत के पदार्थ प्रतिभासित तो होते ही हैं, अत: वे प्रतिभास के अन्दर शामिल हैं। प्रतिभास ही तो ब्रह्म है।

आगम में तो जगह जगह पर उस परम ब्रह्म को ही सिद्ध किया गया है, अत: अद्वैत की सर्वत्र सिद्धि है किन्तु जो भेद अर्थात् द्वैत को मानता है उसकी वहां खूब निन्दा की गई है, द्वैतवादी पदार्थ को भिन्न भिन्न मानते हैं सो क्या वे उन्हें देश-भेद से भिन्न मानते हैं? या काल भेद से भिन्न मानते हैं? या कि आकार भेद से भिन्न मानते हैं? देश भेद कैसे मालूम पड़े क्योंकि वस्तु अभिन्न है तो उसका देश की अपेक्षा भेद सच्चा नही रहेगा, काल भेद को कौन जाने, प्रत्यक्ष तो वर्तमान के पदार्थ को जानता है, वह उसके भेद को कैसे ग्रहण करे। ऐसे ही आकार भेद मानना व्यर्थ है, सच बात तो यह है कि भेद तो है ही नहीं, सिर्फ अविद्या के कारण वह झूठमूठ ही मालूम पड़ता है, यह अनादि अविद्या तत्त्वश्रवण मननादिरूप अविद्या के द्वारा प्रलीन हो जाती है, अविद्या से अविद्या कैसे नष्ट हो ऐसी शका भी गलत है, क्योंकि विष विष का मारक देखा गया है?

जैन—उपरोक्त ब्रह्मवादी का कथन उन्मत्त की तरह प्रतीत होता है, प्रत्यक्ष से अभेद न दिखकर उल्टे आंख खोलते ही नील पीत घट पट आदि अनेक विकल्प भेद द्वैतरूप ज्ञान ही पैदा होता है न कि अभेद। अद्वैतरूप, यदि जबर्दस्ती मान लेवें कि अभेद ग्राहक प्रत्यक्ष है तो भी वह अनेकों के अभेद को जानता है या एक के अभेद को जानता है या सामान्यरूप से अभेद को जानता है? यदि अनेकों के अभेद को वह ग्रहण करता है तो अनेक तो उसने जान ही लिया, नहीं तो वह उनके अभेद को कैसे ग्रहण करता? एक व्यक्ति में तो अभेद क्या और भेद क्या कुछ भी नहीं बनता, अद्वैतवादी कहते हैं कि भेद तो कल्पनारूढ़ है वास्तविक नहीं सो कल्पना का क्या स्वरूप है; इस पर विचार करें–स्मरण के बाद ज्ञान का होना कल्पना है, या शब्दाकारानुविद्धत्व कल्पना है, अथवा असत् अर्थ को विषय करना, जात्याद्युल्लेख-रूप होना, अन्य की अपेक्षा लेकर वस्तु को विषय करना या उपचार मात्र होना कल्पना है? स्मरण के बाद होने वाला ज्ञान यदि कल्पनारूप माना जावे तो अभेद ज्ञान भी स्मरणानन्तर होने से कल्पना रूप माना जायगा, ज्ञान में शब्दाकारानुविद्धता तो है ही नहीं, इसका स्पष्टीकरण शब्दाद्वैत के प्रकरण में हो चुका है। जात्याद्यु-

ल्लेखीज्ञान को कल्पना कहा जावे तो अभेदज्ञान में सत्तासामान्यरूप जाति का उल्लेखी होने से कल्पनारूपता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, असत् अर्थ का ग्राहक ज्ञान कल्पना है तो ऐसी कल्पना भेद ज्ञान में है नहीं, अन्य की अपेक्षा ज्ञान में है नहीं वह अपेक्षा व्यवहार में होती है; न कि ज्ञान में। उपचार मात्र कल्पना भी ज्ञान में तभी बने जब कि कहीं मुख्य हो तो, जैसे कि सच्चा सिंह है तभी उसका बालक में उपचार करते हैं, वैसे ही भेद सच्चा हो तो उसका कहीं उपचार होकर कल्पना होगी।

इसी प्रकार अद्वैतग्राहक अनुमानादि प्रमाण भी विचार करने पर गलत ठहरते हैं, क्योंकि अनुमान में दिया गया प्रतिभाससमानत्व हेतु द्वैत को सिद्ध करता है, और कुछ नही तो साध्य और साधन हेतु—या प्रतिपाद्य तथा प्रतिपादक द्वैत तो मानना ही होगा, आगम में जो ब्रह्मा को अद्वैतरूप दिखाया है सो वह एक अतिशयोक्ति या स्तुति है, ऐसे स्तुतिपरक वाक्य को सर्वथा सच मानो तो फिर पत्थर तैरता है, अन्धा माला पिरोता है ऐसे अतिशयपरक वाक्य भी सत्य होंगे, ब्रह्मा जगत रचना काहे को करता है यह तो समझ में आता ही नहीं है, यदि वह दया से करता तो नारकी आदि दुःखी प्राणियों को क्यों बनाता, यदि प्राणी के भाग्य के अनुसार वह बनाता तो स्वतंत्र वह कहां रहा, जगत रचना के पहिले प्राणी ही नहीं थे तो उसे दया किसके ऊपर उत्पन्न हुई, इत्यादि कथन कुछ भी सत्य नहीं जचता, अविद्या भी बड़ी विचित्र बला है, वह ब्रह्मा से पृथक् है तो द्वैत होता है और अपृथक् है तो वह कैसे नष्ट होगी, इसलिये विश्व को ब्रह्मरूप न मान कर वास्तविक चेतन अचेतनादि अनेक रूप मानना चाहिये।

* समाप्त *

विज्ञानाद्वैतवाद-पूर्वपक्ष

बौद्ध के चार भेदों में से एक योगाचार नामका जो बौद्ध है वह बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करता है, वह विज्ञप्तिमात्र तत्त्व मानता है, इसी-लिये इसे विज्ञानाद्वैतवादी भी कहा जाता है, उसी के मत का यहां पूर्वपक्ष उपस्थित किया जा रहा है—

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं तु दृश्यते ।
देहभोग प्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥

—लंकावतार सूत्र ३/१२

ये बाह्य में दिखाई देने वाले पदार्थ वास्तविक नहीं हैं, मात्र काल्पनिक हैं, सिर्फ चित्त अर्थात् ज्ञान ही अनुभव में आता है, जो स्वयं अनेक रूपता को धारण किये हुए है, वही देह और भोगों का आधार है, अर्थात् ज्ञान ही सब कुछ है, इसलिये मैं ज्ञानमात्र तत्त्व का कथन करता हूं। यद्यपि बाह्य में पदार्थों की सत्ता नहीं है तो भी अनादि से चली आई अविद्या की वासना के कारण विज्ञान का बाह्यपदार्थरूप से प्रतिभास होता है, जैसे बाह्य आकाश में दो चन्द्र नहीं होते हुए भी तिमिर रोगी को दो चन्द्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार बाह्य पदार्थ की प्रतीति अविद्या के कारण होती है, अतः वह भ्रान्त असत्य है, ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य और ग्राहक अर्थात् ग्रहण करने वाला ये दोनों ही बुद्धि या ज्ञान रूप ही हैं। कहा भी है—

चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते ।
ग्राह्य-ग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥

—लंकावतार सूत्र ३/६३

ज्ञान मात्र ही तत्व है, अन्य कोई दृश्यमान पदार्थ नही है, ज्ञान ही दो भेदों में प्रतिभासित होने लग जाता है, ग्राह्य और ग्राहक ज्ञान ही है, वही शाश्वत, उच्छेद से रहित है, यद्यपि वह ज्ञान या बुद्धि एक या अविभागी है, फिर भी विपरीत दृष्टि वालों को अर्थात् अल्पबुद्धिवाले संसारी प्राणियों को अनेक ग्राह्य-घट पट-गृह आदि रूप

तथा ग्राहक-ग्रहण करने वाले पुरुष या बुद्धि रूप भेद दिखायी देता है। जैसा कि कहा है –

"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदानिव दृश्यते॥"

—प्रमाणवार्तिक ३/३५४

भाग रहित एक ज्ञानमात्र ही वस्तु है, किन्तु विपर्यासबुद्धिवालों को अनेक अंश–भागरूप जगत् प्रतीत होने लगता है– यह ग्राह्य है यह ग्राहक है इत्यादि भेद प्रतिभासित होते है, इससे सिद्ध होता है कि यह दृश्यमान जगत् मात्र काल्पनिक है, क्योंकि जब ग्राह्य जो ग्रहण करने योग्य पदार्थ है वह ही नहीं है—ज्ञान ही स्वयं ग्राह्य हुआ करता है–तो उसके सिवाय अन्य की बात रहती ही कहां है, ज्ञान के द्वारा कोई जानने योग्य या अनुभव करने योग्य पदार्थ ही नहीं है। यही बात हमारे प्रमाण-वार्तिक नामक ग्रन्थ में ३।३५४ पर लिखा है।

"नान्यो ऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वय सैव प्रकाशते॥ ३५४॥"

बुद्धि-ज्ञान-के द्वारा अनुभव करने योग्य कोई पदार्थ नही है तथा उस बुद्धि को जानने वाला भी कोई अन्य नही है, इस प्रकार ग्राह्य-ग्राहक भाव का अभाव होने से मात्र एक बुद्धि ही स्वय प्रकाशित हो रही है। जब हमारे भाई सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ को प्रत्यक्ष होना नहीं मानते तब उन पदार्थों की सत्ता ही काहे को मानना, जब बाह्य पदार्थों के विषय में विचार करते हैं तब प्रतिभास तो अनुभव में आता है, किन्तु पदार्थ तो उससे सिद्ध नहीं हो पाते हैं, अतः एक ज्ञान ही सब-कुछ है। वास्तव में देखा जाय तो ज्ञानमें ये प्रतीत होनेवाले नील पीत अथवा घट पट आदि आकार हैं, वे सब के सब असत्य हैं, हां; हमारे सगे भाई जो चित्राद्वैतवादी है उन्होंने तो ज्ञान के इन नील आदि आकारों को सत्य माना है, किन्तु–बाह्य पदार्थों को तो हम लोग मानते ही नहीं हैं। ग्राह्य ग्राहक का अभाव होने से घट पट आदि बहिरग पदार्थ तथा ग्राहक-ज्ञाता पुरुष आदि पदार्थों का अभाव हो सिद्ध होता है और अन्त में एक ज्ञानमात्र तत्त्व अबाधितपने से सिद्ध होता है।

बौद्ध का चौथा भेद माध्यमिक है, यह शून्यवादी है, यह अपना मन्तव्य इस प्रकार से प्रकट करता है—

जब हमारे तीनों भाईयों ने–वैभाषिक, सौत्रान्तिक और योगाचार ने–क्रमशः पदार्थों को क्षणिक माना है और आगे उन्हें प्रत्यक्षगम्य अनुमानगम्य कहते हुए योगाचार ने उन दृश्य पदार्थों की सत्ता ही नहीं मानी, तब हमें तो लगता है कि ज्ञान भी पदार्थ नहीं है, जब जानने योग्य वस्तु नहीं है तो जाननेवाले ज्ञानकी भी क्या आवश्यकता है, यही बात हमारे प्रमुख आचार्य नागार्जुन ने कही है।

"न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः" ॥ १ ॥

जो भी कुछ ज्ञान या घटपटादिरूप तत्त्व है वह सत् नहीं है, असत् नहीं है, उभयरूप नहीं है और न अनुभयरूप ही है, वह तो सर्वथा चारों ही विकल्पों से अतीत है, इससे सर्वशून्यरूप वाद ही प्रतीत होता है।

"अपरप्रत्ययं शांतं प्रपंचैरप्रपंचितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥ १८ ॥

तत्त्व अपर प्रत्यय है–एक के द्वारा दूसरे को उसका उपदेश नहीं दे सकते हैं, शान्त है–निःस्वभाव है, शब्दके प्रपंच से रहित है, निर्विकल्प है–चित्त इसे जान नहीं सकता है, तथा यह नाना अर्थों से रहित है।

"अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागमननिर्गमम् ॥ १ ॥

परमार्थतत्त्व अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम और अनिर्गम है। इस प्रकार इन अनिरोध आदि पदों से निश्चित होता है कि तत्त्व के विषयमें कुछ भी नहीं कह सकने से-वह है ही या नहीं है–ऐसा नहीं कह सकने के कारण शून्यवाद सिद्ध होता है।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

विज्ञानाद्वैतवादः

ननु चाविभागबुद्धिस्वरूपव्यतिरेकेणार्थस्याप्रतीतितोऽसत्वाद्विज्ञप्तिमात्रमेव तत्त्वमभ्युपगन्तव्यं तद्ग्राहकं च ज्ञान प्रमाणमिति; तन्न; यतोऽविभागस्वरूपावेदकप्रमाणसद्भावतो विज्ञप्तिमात्र तत्त्व-मभ्युपगम्यते, बहिरर्थसद्भावबाधकप्रमाणावष्टम्भेन वा ? यद्याद्यः पक्षस्तत्रापि तथाभूतविज्ञप्तिमात्रं ग्राहक (मात्रग्राहकं) प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा ? प्रमाणान्तरस्य सौगतैरनभ्युपगमात् । तत्र न ताव-त्प्रत्यक्ष बहिरर्थसंस्पर्शरहितं विज्ञप्तिमात्रमेवेत्यधिगन्तुं समर्थम्; अर्थाभावनिश्चयमन्तरेण विज्ञप्तिमात्र-मेवेत्यवधारणानुपपत्तेः ।

विज्ञानाद्वैतवादी— ऊपर जो जैन ने अद्वैत का निरसन कर अनेक प्रकारके पदार्थों को सिद्ध किया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि विभाग रहित एक मात्र बुद्धि अर्थात् ज्ञान को छोड़कर अन्य वस्तु की प्रतीति नहीं होती है, अतः उन अन्य वस्तुओं का अभाव ही है, आप जैन को तो एक विज्ञानमात्र तत्त्व है और उसे ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमाणभूत है ऐसा मानना चाहिये ।

जैन—यह आपका कथन हमें मान्य नहीं है, क्योंकि आप लोग जो ज्ञानमात्र तत्त्व को मानते हो सो उस अविभागरूप तत्त्व को ग्रहण करनेवाले प्रमाण का सद्भाव है इसलिये मानते हो या बाह्य अनेक प्रकारकी वस्तुओं को बाधा देनेवाला प्रमाण है इसलिये उस ज्ञानाद्वैत को मानते हो ? विज्ञानमात्र एक तत्त्व को जानने वाला प्रमाण है इसलिए विज्ञानमात्र एक तत्त्व मानते हैं सो इस प्रथम पक्ष में प्रश्न है कि विज्ञानाद्वैत को सिद्ध करनेवाला वह प्रमाण कौनसा है ? प्रत्यक्ष प्रमाण है अथवा अनुमान प्रमाण है ? इन दोनों को छोड़कर अन्य प्रमाणों को आप बौद्धोंने माना नहीं है, प्रत्यक्षप्रमाण बाह्य पदार्थोंसे सर्वथा रहित ऐसा एक विज्ञानमात्र ही तत्त्व है ऐसा जानने के लिये तो समर्थ है नहीं, क्योंकि जब तक पदार्थों

"अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः ।
नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमादृते ।।"

[मी॰ श्लो॰ अभावपरि॰ श्लो॰ २०]

इत्यभिधानात् । न चार्थाभावः प्रत्यक्षाधिगम्यः; बाह्यार्थप्रकाशकत्वेनैवास्योत्पत्तेः । न च प्रत्यक्षे प्रतिभासमानस्याप्यर्थस्याभावो विज्ञप्तिमात्रस्याप्यभावानुषङ्गात् । न च तैमिरिकप्रतिभासे प्रतिभासमानेन्दुद्वयवन्निर्मलमनोऽक्षप्रभवप्रतिभासविषयस्याप्यसत्त्वमित्यभिधातव्यम्; यतस्तैमिरिकप्रतिभासविषयस्यार्थस्य बाध्यमानप्रत्ययविषयत्वादसत्त्वं युक्तम्, न पुनः सत्यप्रतिभासविषयस्याऽबाध्य-

---

का अभाव सिद्ध नहीं होता है तब तक विज्ञानाद्वैत ही एक तत्व है ऐसा निश्चय नहीं हो सकता है । अन्यत्र भी लिखा है—

"विज्ञानमात्र ही तत्व है" इस प्रकार का जो निर्णय होता है वह अन्य बाह्य वस्तुओं के अभाव का ज्ञान हुए विना नहीं हो सकता है ।। १ ।। इत्यादि, सो इससे यही मतलब निकलता है कि बाह्य वस्तुतत्त्व का अभाव जाने विना आप विज्ञानाद्वैतवादी का विज्ञानमात्र तत्त्व सिद्ध नही हो सकता ।

विज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थों का जो अभाव करते हैं वह किस प्रमाण के द्वारा करते हैं ? प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा बाह्यपदार्थों का अभाव कर नहीं सकते, क्योंकि वह तो बाह्य पदार्थो को प्रकाशित करता हुआ ही उत्पन्न होता है, प्रत्यक्षज्ञान में बाह्यपदार्थ प्रतीत होते हैं तो उनका अभाव कर नहीं सकते हो, अन्यथा आपके विज्ञानमात्र तत्त्व का भी अभाव हो जायेगा, अर्थात्—प्रत्यक्ष में पदार्थ झलकते हैं तो भी उनको नहीं मानते हो तो आपके प्रत्यक्ष में झलकने वाला विज्ञानमात्र तत्त्व भी अमान्य हो जावेगा, यदि कहा जावे कि नेत्र रोगीको नेत्रज्ञान में एक ही चन्द्रमा में दो चन्द्र का ज्ञान होता है; किन्तु दो चन्द्र तो रहते नहीं, उसी प्रकार नेत्रादि इन्द्रियां और मन इस सभी सामग्री के ठीक रहते हुए भी जो ज्ञान होता है उसके विषय भूत पदार्थ भी अभाव रूप रहते हैं सो ऐसा कहना भी शक्य नहीं है, देखिये—नेत्र रोगी को जो दो चन्द्र का प्रतिभास होता है वह तो बाधित है अर्थात् दो चन्द्र हैं नहीं, अतः द्विचन्द्रज्ञान असत्य कहलाता है, किन्तु; जिसका प्रतिभास सत्य है, जिसमें किसी प्रमाण से बाधा नहीं है वह पदार्थ तो सद्भाव रूप ही है बाध्य क्या है और बाधक क्या है इस बात का निर्णय तो अभी ब्रह्माद्वैत के प्रकरणमें कर ही आये हैं अर्थात् विपरीत पूर्वज्ञान को असत्य बतानेवाला उत्तरज्ञान तो बाधक भाव है और उस

मानप्रत्ययविषयत्वेन सत्त्वसम्भवात् । बाध्यबाधकभावश्चानन्तरमेव ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके प्रपञ्चितः । तन्नार्थाभावोऽध्यक्षेणाधिगम्यः ।

नाप्यनुमानेन; अध्यक्षविरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात् । "प्रत्यक्षनिराकृतो न पक्षः" [ ] इत्यभिधानात् । न च बाह्यार्थविदकाध्यक्षस्य भ्रान्तत्वान्न तेनानुमानबाधेत्यभिधातव्यम्; अन्योऽन्याश्रयात्–सिद्धे ह्यर्थाभावे तद्ग्राह्यध्यक्षं भ्रान्तं सिद्धयेत्, तत्सिद्धौ चार्थाभावानुमानस्य तेनाऽबाधेति । किञ्च, तदनुमानं कार्यलिङ्गप्रभवम्, स्वभावहेतुसमुत्थं वा, अनुपलब्धिप्रसूतं वा ? न तावत्प्रथमद्वितीयविकल्पौ; कार्यस्वभावहेत्वोर्विधिसाधकत्वाभ्युपगमात् । "अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" [न्यायबि० पृ० ३९]

पूर्वज्ञान का जो विषय है वह बाध्यभाव है, इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा पदार्थों का अभाव जाना नही जाता है । अनुमान प्रमाण के द्वारा भी पदार्थों का अभाव सिद्ध करना ठीक नही होगा, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण के विरोधी विषय में अनुमान प्रवृत्त होगा तो वह अनुमानाभास कहलावेगा, सर्वसम्मत और विशेष करके आपके लिये सम्मत यह बात है कि प्रत्यक्ष से जिसका निराकरण होवे वह पक्ष या साध्य नहीं बन सकता है । भावार्थ– 'स्वरूपेणैव स्वयमिष्टो ऽनिराकृतः पक्ष." बौद्ध के न्यायबिन्दु ग्रन्थमें लिखा है कि जो स्वरूप से स्वयं इष्ट हो, प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित न हो वही अनुमान के द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसीको पक्ष बनाते हैं, प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित नही होने पर भो अपने को सिद्ध करना इष्ट हो वही साध्य होता है, प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति और स्ववचन इनके द्वारा जिनका निराकरण न हो सके वही पक्ष है, इस प्रकार का पक्ष के विषय में कथन है, अतः यहां पर प्रत्यक्ष बाधित जो विज्ञानाद्वैत है उसे यदि अनुमानके द्वारा सिद्ध करोगे तो वह अनुमान सत्य नहीं कहलावेगा ।

विज्ञानवादी – बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षज्ञान सत्य नहीं है, अतः उसके द्वारा अद्वैतसिद्ध करने वाला अनुमान बाधित नहीं होता है ।

जैन—यह कथन गलत है, क्योंकि इस तरह से तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा, देखिये—पहिले बाह्य वस्तुओं का अभाव सिद्ध हो तब बाह्यार्थग्राही प्रत्यक्ष में असत्यता सिद्ध होगी, और उस प्रत्यक्ष में असत्यता सिद्ध होने पर बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध करने वाले अनुमान की सिद्धि होगी, इस प्रकार दोनों ही सिद्ध न हो सकेंगे । दूसरी बात यह है कि बाह्यपदार्थोंका अभाव सिद्ध करने वाले अनुमानमें हेतु कौनसा रहेगा–कार्य हेतु या स्वभाव हेतु अथवा अनुपलब्धि हेतु, इनमें जो कार्य हेतु

इत्यभिधानात् । तृतीयविकल्पोप्ययुक्तः; अनुपलब्धेरसिद्धत्वाद्‌बाह्यार्थस्याध्यक्षादिनोपलम्भात् । किञ्च, अदृश्यानुपलब्धिस्तदभावसाधिका स्यात्, दृश्यानुपलब्धिर्वा ? प्रथमपक्षेऽतिप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वथार्थाभावाऽप्रसिद्धिः, प्रतिनियतदेशादावेवास्यास्तदभावसाधकत्वसम्भवात् ।

एतेन बहिरर्थसद्भावबाधकप्रमाणावष्टम्भेन विज्ञप्तिमात्र तत्त्वमभ्युपगम्यत इत्येतन्निरस्तम्; तत्सद्भावबाधकप्रमाणस्योक्तप्रकारेणासम्भवात् ।

वाला एवं स्वभाव हेतु वाला अनुमान होता है, वह आपने विधिसाधक (सद्भाव को सिद्ध करने वाला) होता है, ऐसा माना है, न्यायबिन्दु ग्रन्थ के पृष्ठ ३९ पर लिखा है कि "अत्र द्वौ वस्तु साधनौ" बौद्धाभिमत तीन हेतुओं में से दो हेतु–कार्य हेतु और स्वभाव हेतु विधि–अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, और तीसरा अनुपलब्धि हेतु निषेध–नास्तित्व–अभाव–को सिद्ध करता है, इसलिये कार्य और स्वभाव दोनों हेतु यहां बाह्य-पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकने से अनुमान में अनुपयोगी ठहरते हैं। तीसरा अनुपलब्धि हेतुवाला अनुमान भी अयुक्त है, क्योंकि उनकी अनुपलब्धि ही असिद्ध है, अर्थात् बाह्यपदार्थ प्रत्यक्षप्रमाण से उपलब्ध हो रहे हैं, यह भी देखना चाहिये कि अनु-पलब्धि किस जाति की है अर्थात् अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है, एक अदृश्यानुप-लब्धि और दूसरी दृश्यानुपलब्धि, इनमें से कौन सी अनुपलब्धि बाह्य पदार्थों के अभाव को सिद्ध करती है–यदि अदृश्यानुपलब्धि बाह्यपदार्थों का अभाव सिद्ध करे–तो अति प्रसंग दोष आता है–अर्थात् अदृश्य–जो दिखने योग्य नहीं हैं उनका अभाव है, ऐसा माना जाये तो परमाणु पिशाच आदि बहुत से पदार्थ मौजूद तो हैं, पर वे उपलब्ध नहीं होते- दिखाई नहीं देते हैं तो क्यों इतने मात्र से उनका अभाव माना जा सकता है–अर्थात् नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार अनुपलब्धि हेतु से–अनुपलब्धिजन्य अनुमान से–पदार्थों का अभाव होना तो मान नहीं सकते–अर्थात् अनुपलब्धि हेतुजन्य अनुमान बाह्यपदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकता है, दृश्यानुपलब्धि हेतुजन्य जो अनुमान है उससे यदि बाह्यवस्तुओं का अभाव सिद्ध करना चाहो अर्थात् "न सन्ति बाह्यपदार्थाः दृश्यत्वे सति अप्यनुपलंभात्" बाह्यपदार्थ नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे दिखने योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहे हैं (हेतु) सो इस अनुमान के द्वारा सभी जगह सर्वदा सर्व प्रकार से पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं होगा, किन्तु किसी जगह किसी समय ही उनका अभाव सिद्ध होगा, विज्ञानाद्वैतवादी ने कहा था कि बाह्यपदार्थों का अस्तित्व बाधक प्रमाण से खण्डित होता है अतः विज्ञानमात्र एक तत्त्व हमारे द्वारा स्वीकार

ननु नार्थाभावद्वारेण विज्ञप्तिमात्रं साध्यते, अपितु अर्थसंविदोः सहोपलम्भनियमादभेदो द्विचन्द्रदर्शनवदिति विधिद्वारेणैव साध्यते; तदप्यसारम्; अभेदपक्षस्य प्रत्यक्षेण बाधनाच्छब्दे श्राव-(ब्देऽश्राव)णत्ववत् । दृष्टान्तोपि साध्यविकलः; विज्ञानव्यतिरिक्तबाह्यार्थमन्तरेण द्विचन्द्रदर्शनस्याप्यसम्भवात् । कारणदोषवशात् खलु बहिः स्थितमेकमपीन्दुं द्विरूपतया प्रतिपद्यमानं ज्ञानमुत्पद्यते,

---

किया गया है सो ऐसा यह उसका कथन उपर्युक्त प्रकार से निरस्त हो जाता है, क्योंकि बाह्यपदार्थों के सद्भाव में बाधा देने वाले कोई भी प्रत्यक्षादिक प्रमाण अभी तक सिद्ध नहीं हुए हैं-अर्थात् बाह्यपदार्थ ज्ञानरूप हैं इस बात की सिद्धि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है।

विज्ञानाद्वैत०—हम बाह्य अर्थों का अभाव होने से विज्ञानमात्र तत्त्व को सिद्ध नहीं करते हैं; किन्तु पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध होते हुए दिखाई देते है, अतः उन दोनों में अभेद सिद्ध करते हैं, जैसे–दो चन्द्रो की प्रतीति करने वाले दर्शन में दो चन्द्रों में अभेद रहता है।

भावार्थ—संवेदन जिससे अभिन्न रहता है वह सवेदन रूप ही होता है, जैसे नील का प्रतिभास नील से अभिन्न रहता है, अथवा नेत्ररोगी के ज्ञान में दूसरा चन्द्रमा अभिन्न रहता है, ज्ञान और पदार्थों में अभेदपना सिद्ध करनेवाला–अभिन्नता का साधनेवाला–विधिसाधक अनुमान इस प्रकार है–कि नीलआकार और उसे जाननेवाला ज्ञान इन दोनों में अभिन्नता है, क्योंकि ये एक साथ उपलब्ध होते हैं, इस प्रकार के अनुमान से विज्ञानतत्त्व की सिद्धि हम करते हैं।

जैन— यह अद्वैतवादी का कथन असार है, क्योंकि अभेदपक्ष में प्रत्यक्ष बाधा आती है, जैसे कि शब्दपक्ष में अश्रावणत्व हेतु बाधित है–अर्थात् "शब्द अनित्य है क्योंकि वह कर्णेन्द्रियग्राह्य नहीं है" इस अनुमान में शब्दरूप पक्ष में दिया गया अश्रावणत्व हेतु कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से प्रत्यक्ष बाधित होता है। तथा– अद्वैत साधक अनुमान में आपने जो दो चन्द्रदर्शन का दृष्टान्त दिया है वह भी साध्यविकल है—साध्यधर्म–जो विज्ञानमात्रतत्त्व है उससे रहित है, क्योंकि बाह्यपदार्थों के बिना दो चन्द्र का दर्शन भी नहीं हो सकता है, दो चन्द्र का देखना सदोष नेत्र के होने से होता है, जिससे कि बाह्य में (आकाश में) एक ही चन्द्रमा के होते हुए भी दो रूप से उसे जानने वाला–देखने वाला ज्ञान पैदा होता है, आगे जब बाधा देनेवाला ज्ञान उपस्थित होता है तब उस ज्ञान की भ्रान्तता निश्चित हो जाती है, ऐसी बात

कारणदोषज्ञानाद्बाधकप्रत्ययाच्चास्य भ्रान्तता । अर्थक्रियाकारिस्तम्भाद्युपलब्धौ तु तदभावात्सत्यता । सहोपलम्भनियमश्चासिद्धः; नीलाद्यर्थोपलम्भमन्तरेणाप्युपरतेन्द्रियव्यापारेण सुखादिसंवेदनोपलम्भात् । अनैकान्तिकश्चायम्; रूपालोकयोर्भिन्नयोरपि सहोपलम्भनियमसम्भवात् । तथा सर्वज्ञज्ञानस्य तज्ज्ञेयस्य चेतरजनचित्तस्य सहोपलम्भनियमेऽपि भेदाभ्युपगमादनेकान्तः । ननु सर्वज्ञः सन्तानान्तरं वा नेष्यते तत्कथमयं दोषः ? इत्यसत्; सकललोकसाक्षिकस्य सन्तानान्तरस्यानभ्युपगममात्रेणाऽभावाऽसिद्धेः । सुगतश्च सर्वज्ञो यदि परमार्थतो नेष्यते तर्हि किमर्थं "प्रमाणभूताय" [प्रमाणसमु•

बाह्यपदार्थों की सत्ता बताने वाले ज्ञानों में नहीं है, क्योंकि इन ज्ञानों में झलके हुए पदार्थों में–घट, स्तम्भ, पट आदि में अर्थक्रिया होती है, अतः इनमें सत्यता है, बाह्यपदार्थ के अभाव को सिद्ध करने के लिये आपने जो सहोपलम्भ हेतु दिया है–अर्थात् पदार्थ और ज्ञान साथ ही उपलब्ध होते हैं, इसलिये एक ज्ञान ही है, बाह्यपदार्थ नहीं है ऐसा कहा है सो यह कथन आपका असिद्ध है, क्योंकि नील आदि बाह्यपदार्थों का ज्ञान जिस समय नहीं है और बाह्य में इन्द्रिय व्यापार को जिसने रोक लिया है ऐसे पुरुष के ज्ञान में सुखादि का संवेदन होता ही है–अर्थात् वहां बाह्यपदार्थ तो नहीं है, किन्तु मात्र सुख का सवेदन–ज्ञान मात्र ही है । सहोपलम्भ हेतु में असिद्धदोष के समान अनैकान्तिक दोष भी है, देखो–रूप और प्रकाश साथ २ उपलब्ध होते हैं, किन्तु वे एक तो नहीं है, इसलिये जो साथ २ होवे वे एक ही होते हैं ऐसा एकान्त नहीं बनता । बौद्ध ने सर्वज्ञ का ज्ञान और उस ज्ञानके विषय जो अन्य पुरुषों के चित्त हैं इन दोनों का एक साथ होना स्वीकार किया है, फिर भी उनमें भेद माना है, अतः सहोपलम्भ हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त है ।

बौद्ध—हम सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं और न अन्य पुरुष के चित्त को ही मानते हैं, फिर तो दोष नहीं आवेगा ।

जैन—यह कथन असत्य है, क्योंकि संपूर्ण लोकों में प्रतीतिसिद्ध पाये जाने वाले जो चित्त हैं उनका अभाव आपके कहने मात्र से नहीं हो सकता है, यदि आप सुगत को परमार्थभूत सर्वज्ञ नहीं मानते हैं तो ग्रन्थों में उसका समर्थन क्यों किया जाता है कि "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिते" इस प्रकार से दिग्नाग आदि विद्वानों ने उस सुगत की स्तुति भी अपने अद्वैतवादके समर्थक ग्रन्थों में की है, सो वह सब व्यर्थ हो जावेगी, क्योंकि सुगत तो सर्वज्ञ नहीं है । पदार्थों का यदि अस्तित्व नहीं होता तो उनके सत्त्व की कल्पना बुद्धि में नहीं आ सकती थी ।

श्लो० १] इत्यादिनासौ समर्थितः, स्तुतश्चाद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः । न खलु तेषामसति सत्त्वकल्पने बुद्धिः प्रवर्त्तते । विचार्य पुनस्त्यागाददोष इत्यप्यसारम्; त्यागाङ्गत्वे हि तस्य वरं पूर्वमेव नाङ्गीकरणमीश्वरादिवत् । अद्वैतमेव तथा स्तूयते इत्यपि वार्त्तम्; तत्र स्तोतव्यस्तोतृस्तुतितत्फलानामत्यन्तासम्भवात् ।

किञ्च, सहोपलम्भः किं युगपदुपलम्भः, क्रमेणोपलम्भाभावो वा स्यात्, एकोपलम्भो वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः; 'सहशिष्येणागतः' इत्यादौ यौगपद्यार्थस्य सहशब्दस्य भेदे सत्येवोपलम्भात् ।

शंका—सुगत या बाह्यपदार्थों का प्रथम विचार करते हैं और फिर उन्हें असत् जानकर छोड़ देते हैं, इसलिये कोई दोष की बात नहीं है ।

समाधान—यह बात गलत है, क्योंकि यदि इन वस्तुओं को छोड़ना ही है तो प्रथम ही उनका ग्रहण नहीं करना ही श्रेयस्कर होता, जैसे ईश्वरादिक को आपने पहिले से ही नहीं माना है ।

शंका—हम लोग अद्वैत को ही सुगत आदि नाम देकर स्तुत्य मानते हैं और स्तुति करते है ।

समाधान—यह कैसी विचित्र बात है । एक विज्ञानमात्र तत्वमें स्तुति करने योग्य सुगत, स्तुति करने वाले दिग्नाग आदि ग्रन्थकर्त्ता स्तुतिरूप वाक्य और उसका फल इत्यादि भेद किस प्रकार संभव हो सकता है अर्थात् इन भेदों का अभेदवाद में सर्वथा अभाव-अत्यंत अभाव ही है ।

किञ्च—अद्वैत को सिद्ध करने के लिये दिया गया जो सहोपलम्भ हेतु है उसका अब विचार किया जाता है—सहोपलम्भ शब्द का अर्थ क्या है—क्या युगपद् उपलब्ध होना, या क्रम से उपलब्धि का अभाव होना, अथवा एक का उपलब्ध होना सहोपलम्भ है ? प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर हेतु विरुद्ध होगा, क्योंकि विपरीत-भेद के साथ हेतु रह जाता है, जैसे-वह शिष्य के साथ आया-इत्यादि वाक्यों में सह शब्द का अर्थ युगपत् है और वह भेद का ही द्योतक है, न कि अभेद का, तथा अभेद में एक साथपना बनेगा भी कैसे, एक गुरु के आने पर "एक साथ आ गये" ऐसा तो कहा नहीं जाता है, इसलिये सहोपलम्भ का अर्थ युगपत् प्राप्त होना बनता नहीं । दूसरा पक्ष स्वीकार करो तो हेतु असिद्धदोष युक्त होगा, अर्थात् क्रम से उपलब्धि का अभाव

न ह्येकस्मिन् यौगपद्यमुपपद्यते । द्वितीयपक्षेप्यसिद्धो हेतुः; क्रमेणोपलम्भाभावमात्रस्य वादिप्रतिवादिनोरसिद्धत्वात् ।

किञ्च, अस्मादभेदः–एकत्वं साध्येत, भेदाभावो वा ? तत्राद्यविकल्पोऽसङ्गतः; भावाऽभावयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धाभावतो गम्यगमकभावायोगात् । प्रसिद्धे हि धूमपावकयोः कार्यकारणभावे–शिंशपात्ववृक्षत्वयोश्च तादात्म्ये प्रतिबन्धे गम्यगमकभावो दृष्टः । द्वितीयविकल्पेपि–अभावस्वभावत्वात्साध्यसाधनयोः सम्बन्धाऽभावः, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावप्रतिनियमात् । अनिष्ट-

---

होना सहोपलंभ है ऐसा हेतु का अर्थ करते हो तो ठीक नहीं है और न वादी प्रतिवादी जो तुम बौद्ध और हम जैन हैं उन्होंने ऐसा तुच्छाभाव माना ही है, दोनों ने ही प्रसज्य प्रतिषेधवाला तुच्छाभाव न मानकर पर्युदास प्रतिषेधरूप अभाव माना है ।। अच्छा–आप अद्वैतवादी यह बताने का कष्ट करें कि अद्वैत को सिद्ध करने वाले अनुमान से पदार्थ और ज्ञान में एकत्वसिद्ध किया जाता है कि भेद का अभाव सिद्ध किया जाता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव अर्थात् साध्य तो सद्भावरूप है और हेतु अभावरूप है, भाव और अभाव में आपके यहां पर तादात्म्यसम्बन्ध या तदुत्पत्तिसम्बन्ध नहीं माना है, अतः इन भाव और अभाव में साध्य साधनपना बनाना शक्य नही है, जब कहीं पर धूम और अग्नि में कार्यकारणभाव तथा वृक्ष और शिंशपा में तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होता है, तब उनमें गम्यगमक–साध्य साधनभाव देखा जाता है; अर्थात् धूम को देखकर अग्नि का और शिंशपा को देखकर वृक्ष का ज्ञान होता है, किन्तु यहां भाव अभाव में सम्बन्ध न होने से वह बनता नहीं । भेद के अभाव को साध्य बनाते हैं ऐसा दूसरा विकल्प मानो अर्थात् "बाह्यपदार्थों का अभाव है क्योंकि वे क्रम से उपलब्ध नहीं होते हैं" इस प्रकार से अनुमान का प्रयोग किया जाय तो गलत होगा, क्योंकि साध्य साधन दोनों भी अभाव स्वभाववाले हो जाते हैं । और अभावों में सम्बन्ध होता नहीं, सम्बन्धमात्र चाहे तादात्म्य हो चाहे तदुत्पत्ति हो दोनों ही पदार्थों के स्वभाव हैं न कि अभावों के स्वभाव हैं, आप बौद्ध यदि ऐसे साध्य साधन को अभावरूप मानेंगे तो अनिष्ट सिद्धि हो जायगी मतलब–आपको तुच्छाभाव मानना पड़ेगा जो कि आपके मत में इष्ट नहीं है, इस क्रम से उपलब्धि नही होने रूप हेतु से आपका साध्य सिद्ध भी हो जाय तो भी कोई सार नहीं निकलेगा, उस हेतु से आपके विज्ञानमात्रतत्त्व की सिद्धि होगी नहीं, क्योंकि वह हेतु तो भेद का निषेधमात्र करता है, संपूर्ण भेदों का निषेध न

सिद्धिश्च; सिद्धेपि भेदप्रतिषेधे विज्ञप्तिमात्रस्येष्टस्यातोऽप्रसिद्धेः; भेदप्रतिषेधमात्रेऽस्य चरितार्थत्वात्। ततस्तत्सिद्धौ वा ग्राह्यग्राहकभावादिप्रसङ्गो बहिरर्थसिद्धेरपि प्रसाधकोऽनुषज्यते।

अर्थैकोपलम्भः सहोपलम्भः। ननु किमेकत्वेनोपलम्भ एकोपलम्भः स्यात्, एकेनैव वोपलम्भः, एकलोलीभावेन चोपलम्भः, एकस्यैवोपलम्भो वा? प्रथमपक्षे-साध्यसमो हेतुर्यथाऽनित्यः शब्दोऽनित्यत्वादिति। बहिरन्तर्मुखाकारतया च नीलतद्धियोर्भेदस्य सुप्रतीतत्वात् कथं तयोरेकत्वेनोपलम्भः सिद्ध्येत्? एकेनैवोपलम्भोप्यन्यवेदनाऽभावे सिद्धे सिद्ध्येत्। न चासौ सिद्धः; नीलाद्यर्थस्य तत्समानक्षणैरन्यवेदनैरुपलम्भप्रतीतेरित्येकेनैवोपलम्भोऽसिद्धः। एतेनैकलोलीभावेनोपलम्भः सहोपलम्भश्चिज्ज्ञानाकारवदशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्धं प्रतिपत्तव्यम्; नीलतद्धियोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेः अन्तर्बहिर्देशतया विवेकेनानयोः प्रतीतेः।

होकर सिर्फ भेद का निषेध सिद्ध भी हो जाय तो उनने मात्र से अन्य जो ग्राह्य-ग्राहक आदि भेद हैं वे तो अबाधित रहेंगे। तथा-बाह्यपदार्थ भी सिद्ध हो जायेंगे। क्योंकि हेतु मात्र भेदसामान्य का निषेधक है, न कि ग्राह्य ग्राहक, व्याप्य व्यापक आदि विशेषों का निषेधक है, अतः उसी क्रम से उपलम्भ के अभावरूप हेतु से ग्राह्य ग्राहक आदिरूप द्वैत सिद्ध हो सकता है ॥ यदि सहोपलभ शब्द का तृतीय अर्थ एकोपलम्भरूप किया जाय तो वह एकोपलम्भ क्या है ?-एकपने से उपलम्भ होना एकोपलम्भ है, या एक से ही उपलम्भ होना एकोपलम्भ है, अथवा एकलोलीभाव से उपलम्भ होना, या एक का ही उपलम्भ होना एकोपलम्भ है। प्रथम पक्ष-जो एकपने से उपलम्भ होना वह एकोपलम्भ है ऐसा है, सो ऐसा स्वीकार करने में हेतु साध्य-समदोषयुक्त हो जावेगा, जैसे कि शब्द अनित्य है क्योंकि उसमें अनित्यपना है। इस अनुमानमें साध्य भी अनित्य है और हेतु भी अनित्य है, सो ऐसा होनेसे हेतु साध्य के समान हो गया-अर्थात् असिद्ध हो गया,-वैसे ही पदार्थ और ज्ञान को एक सिद्ध करने के लिए एकत्व ही हेतु दिया, अतः वह एकत्वहेतु साध्यसम हुआ, नील दिक पदार्थ बाहर से झलकते हैं और नीलका ज्ञान अन्तः प्रकाशमान है, इस तरह का जब दोनों में भेद बिलकुल ही प्रतीत हो रहा है तब उन दोनों में एकपना कैसे मान सकते हैं या कैसे माना जा सकता है, अर्थात् नहीं माना जा सकता है। एक से ही उपलंभ होना वह एकोपलम्भ है ऐसा दूसरा अर्थ भी सही नहीं है, क्योंकि अन्य वस्तु का ज्ञान न हो तब एक से हो उपलंभ होना सिद्ध हो सकता है, किन्तु वह तो सिद्ध नहीं है। नीलादि पदार्थ एक से हो उपलब्ध नहीं होते हैं, वे तो अनेक पुरुषों द्वारा

अर्थैकस्यैवोपलम्भः; किं ज्ञानस्य, अर्थस्य वा ? ज्ञानस्यैव चेत्; असिद्धो हेतुः । न खलु परं प्रति ज्ञानस्यैवोपलब्धिः सिद्धा; अर्थस्याप्युपलब्धेः । न चार्थस्याभावादनुपलब्धिः; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-सिद्ध ह्यर्थाभावे ज्ञानस्यैवोपलम्भः सिद्धयेत्, तदुपलम्भसिद्धौ चार्थाभावसिद्धिरिति । अथार्थस्यैवैकस्योपलम्भः; नन्वेवं कथमर्थाभावसिद्धिः ? ज्ञानस्यैवाभावसिद्धिप्रसङ्गात् । उपलम्भनिबन्धनत्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः । स्वरूपकारणभेदाच्चानयोर्भेदः; ग्राहकस्वरूप हि विज्ञानं नीलादिकं तु ग्राह्यस्वरूपम् । अभेदे च तयोर्ग्राहकता ग्राह्यता वाऽविशेषेण स्यात् । कारणभेदस्तु सुप्रसिद्धः, ज्ञानस्य चक्षुरादिकारणप्रभवत्वात्तद्विपरीतत्वाच्च नीलाद्यर्थस्येति ।

अनेक ज्ञानों से उपलब्ध होते रहते हैं, अर्थात् नीलादिक वस्तु जिस समय एक व्यक्ति के ज्ञान से जानी जा रही है उसी समय उसी वस्तु को अन्य २ पुरुष अपने २ ज्ञानों द्वारा जान रहे होते है, अतः "एक ज्ञान से ही उपलब्ध होते हैं" ऐसा यह हेतु असिद्ध हो जाता है, एकोपलम्भ के समान ही एकलोलीभावोपलम्भ भी खण्डित हो जाता है, अर्थात् चित्रज्ञान के आकारों का जिस प्रकार से एकलोलीभाव होने से उन आकारों का पृथक् पृथक् विवेचन कर नहीं सकते, उसी प्रकार एकलोलीभावोपलंभरूप सहोपलम्भ होने से ज्ञान और पदार्थ में अभेद है ऐसा सिद्ध करना भी अशक्य है, नीलादि पदार्थ और ज्ञान इन दोनों का विवेचन–पृथक्करण अशक्य नहीं है, बिलकुल शक्य बात है, देखो–नील पदार्थ बाहर में सामने दिखायी दे रहा है और उसको जानने वाला ज्ञान तो अन्तः–अन्दर में अनुभव में आ रहा है ।। अब एकोपलम्भ शब्द का जो चतुर्थ प्रकार से अर्थ किया है उस पर विचार किया जाता है— एक का ही उपलम्भ होना एकोपलम्भ है ऐसा सहोपलम्भ हेतु का अर्थ किया जाता है तो बताओ कि एक का ही किसका ? क्या एक—अकेले ज्ञान का ही अथवा एक पदार्थ का ही उपलम्भ एकोपलम्भ है ? एक ज्ञान का ही यदि उपलम्भ माना जाय तो हेतु असिद्ध बन जायगा, क्योंकि हम परवादी जैन को अकेले ज्ञान की ही उपलब्धि होती है ऐसी बात मान्य नहीं है क्योंकि पदार्थों की भी उपलब्धि होती है, यदि कहा जावे कि पदार्थों का अभाव होनेसे एक ज्ञान मात्र की ही उपलब्धि होना सिद्ध होती है सो ऐसा कहने से–मानने से अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि अर्थों का जब अभाव सिद्ध हो जाय तो एक ज्ञान मात्र का उपलम्भ सिद्ध हो और उसके सिद्ध होने पर अर्थो के अभाव की सिद्धि हो, यदि द्वितीय विकल्प कि–एक अर्थ की ही उपलब्धि एकोपलब्धि है ऐसा मानो तो फिर अर्थ का अभाव सिद्ध न हो कर

यच्चोच्यते–'यदभा(यदवभा) सते तज्ज्ञानं यथा सुखादि, अवभासते च नीलादिकम्' इति; तत्र किं स्वतोऽवभासमानत्वं हेतुः, परतो वा, अभा(अवभा)समानत्वमात्रं वा ? तत्राद्यपक्षे हेतु रसिद्धः। न खलु 'परनिरपेक्षा नीलादयोऽवभासन्ते' इति परस्य प्रसिद्धम्। 'नीलादिकमहं वेद्मि' इत्यहमहमिकया प्रतीयमानेन प्रत्ययेन नीलादिभ्यो भिन्नेन तत्प्रतिभासाभ्युपगमात्। यदि च परनिर पेक्षावभासानीलादयः परस्य प्रसिद्धाः स्युस्तर्हि किमतो हेतोस्तं प्रति साध्यम् ? ज्ञानतेति चेत्; सा यदि प्रकाशतातर्हि हेतुसिद्धौ सिद्धैव न साध्या। असिद्धौ वा तस्याः—कथं नासिद्धो हेतुः ? को हि नाम स्वप्रतिभासं तत्रेच्छन् ज्ञानतां नेच्छेत्।

सभी को अनिष्ट ऐसे ज्ञानाभाव का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि उपलब्धि के अनुसार ही वस्तु व्यवस्था हुआ करती है, और भी देखो–वस्तु और ज्ञानमें किस प्रकार भिन्नता है–ज्ञान का स्वरूप भिन्न है और पदार्थों का स्वरूप भिन्न है, ज्ञान का कारण भिन्न है तथा पदार्थों का कारण भिन्न है, पदार्थ ग्राह्यस्वरूप होते हैं और ज्ञान ग्राहक माने जाते हैं, यदि इनमें अभेद माना जावे तो दोनों–ज्ञान और पदार्थ एक दूसरे के ग्राह्य और ग्राहक बन जावेंगे। क्योंकि दोनों का स्वरूप एक मान रहे हो, ज्ञान और पदार्थ में कारण भेद भी सुप्रसिद्ध है, ज्ञान अपने इन्द्रिय आदिरूप कारणो से उत्पन्न होता है और पदार्थ इससे विपरीत अन्य अन्य (मिट्टी आदि) कारणों से पैदा होते है।

अद्वैतवादी ने जो अनुमान प्रयोग किया है कि जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है (पक्ष साध्य), क्योंकि वह प्रतिभासमान है (हेतु), जैसे सुख दु.खादि (दृष्टान्त), नीलादि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, अतः वे सब ज्ञानस्वरूप ही हैं, सो इस अनुमान प्रयोग में हेतु अवभासमानत्व है सो इसका आप क्या अर्थ करते हो, स्वतः अवभासमानत्व कि पर से अवभासमानत्व अथवा अवभासमानसामान्य ? यदि स्वतः अवभासमानत्व कहा जाय तो वह हेतु हम परवादियों के लिये असिद्ध है, क्योंकि देखो—ज्ञानके बिना अकेले नीलादि पदार्थ अपने आप प्रतिभासित नहीं होते हैं, "मैं नीलादिक को जानता हूं" इस प्रकार के अहं प्रत्यय से प्रतीत नीलादिक से भिन्न एक प्रतिभास है उससे नीलादिक प्रतीत होते है, न कि अपने आप, पर से निरपेक्ष अपने आप से प्रतिभासित होने वाले पदार्थ हैं ऐसा हम जैन ने स्वीकार किया होता तो आप बौद्ध किसलिये इस सहोपलम्भ हेतु को उपस्थित करते और उस हेतु से सिद्ध करने योग्य साध्य भी क्या रहता अर्थात् कुछ भी नहीं।

ननु चाहम्प्रत्ययो गृहीतः, अगृहीतो वा, निर्व्यापारः, सव्यापारो वा, निराकारः साकारो वा, (भिन्नकालः, समकालो वा) नीलादेर्ग्राहकः स्यात् ? गृहीतश्चेत्-किं स्वतः परतो वा ? स्वतश्चेत्; स्वरूपमात्रप्रकाशनिमग्नत्वाद्बहिरर्थप्रकाशकत्वाभाव एव स्यात्। परतश्चेदनवस्था; तस्यापि ज्ञानान्तरेण ग्रहणात् । न च पूर्वज्ञानाग्रहणेप्यर्थस्यैव ज्ञानान्तरेण ग्रहणमित्यभिधातव्यम्; तस्यासन्नत्वेन जनकत्वेन च ग्राह्यलक्षणप्राप्तत्वात् । तदाह—

शंका—नीलादि में ज्ञानपना सिद्ध करना ही यहां साध्य माना है।

समाधान—अच्छा तो ज्ञानपना किसरूप है सो बताईये, यदि प्रकाशता को ज्ञानता कहते हो तो वह साध्य के सिद्ध होने पर सिद्ध ही हो जायगी फिर उसे साध्य क्यों बनाते हो, यदि वह असिद्ध है तो हेतु असिद्ध क्यों नहीं हुआ, अर्थात् हुआ ही, भला ऐसा कौन व्यक्ति है जो अपना प्रतिभास बाह्यवस्तु में माने और उसमें ज्ञानता का प्रतिभास न माने। मतलब-ज्ञान के प्रतीत होने पर ज्ञानता भी प्रतीत होगी; उसे पृथक् रूप से सिद्ध करने की जरूरत नहीं।

अब बौद्ध अहं प्रत्यय का नाम सुनकर उसका दूर तक-विस्तृतरूप से खण्डन करते है—

बौद्ध—जैन द्वारा माना गया जो अहं प्रत्यय नीलादिक का ग्राहक होता है सो वह कैसा होकर उनका ग्राहक-जानने वाला-होता है ? क्या वह गृहीत हुआ उनका ग्राहक होता है ? या अगृहीत हुआ उनका ग्राहक होता है ? या व्यापाररहित हुआ ? या व्यापार सहित हुआ ? या निराकार हुआ ? या साकार हुआ उनका ग्राहक होता है ? या भिन्नकालवाला हुआ या समकालवाला हुआ उनका ग्राहक होता है ? अर्थात् इनमें से किस प्रकार का अहं प्रत्यय नील आदि को जानता है ? यदि कहा जाय कि नीलादिका वह गृहीत होकर ग्राहक होता है तो यह बताओ कि वह किससे गृहीत है—अपने आपसे या पर से ? यदि वह स्वतः गृहीत है तो वह अपने ही स्वरूप के प्रकाशित करने में मग्न रहेगा, बाह्य पदार्थों का प्रकाशन उससे नहीं बन सकेगा, यदि कहा जाय कि अहं प्रत्यय पर से गृहीत होकर नीलादि पदार्थों को जानता है तो इस पक्षमें अनवस्था खड़ी हो जावेगी, क्योंकि अहं प्रत्यय का ग्राहक जो परज्ञान होगा वह भी पर से गृहीत होकर ही उस अहं प्रत्यय का ग्राहक होगा इसी तरह द्वितीय परज्ञानका जो तृतीय परज्ञान ग्राहक होगा वह भी चतुर्थ परज्ञान से गृहीत हुआ होकर ही उसका

"तां ग्राह्यलक्षणप्राप्तामासन्नां जनिकां धियम् ।
अगृहीत्वोत्तरं ज्ञानं गृह्णीयादपरं कथम् ॥" [प्रमाणवा० ३।५१२]

अगृहीतश्चेद्ग्राहकोऽतिप्रसङ्गः । न च निर्व्यापारो बोधोऽर्थग्राहकः; अर्थस्यापि बोधं प्रति ग्राहकत्वानुषङ्गात् । व्यापारवत्त्वे चातोऽव्यतिरिक्तो व्यापारः, व्यतिरिक्तो वा ? आद्यविकल्पे-बोधस्वरूपमात्रमेव नापरो व्यापारः कश्चित् । न चानयोरभेदो युक्तः; धर्मधर्मितया भेदप्रतीतेः । द्वितीय-

---

ग्राहक होगा । इस तरह से परापर ज्ञान संतान चली जाने से विश्रान्ति के अभाव में मूल को क्षति पहुँचाने वाली अनवस्था उपस्थित हो ही जायगी, यदि ऐसा कहा जाय कि पूर्वज्ञानको–अहं प्रत्ययको–ग्रहण किये विना ही ज्ञानान्तर–द्वितीयज्ञान अर्थमात्र को नीलादिको–ग्रहण कर लेता है सो ऐसा कहना भी ठीक नही क्योंकि वह पूर्ववर्त्तीज्ञान उत्तरवर्त्ती ज्ञान के निकट है तथा उत्तरज्ञान उससे पैदा भी हुआ है, इसलिये वह अवश्य ही ग्राह्य है, कहा भी है–निकटवर्ती, ग्राह्यलक्षण युक्त उस पूर्ववर्त्ती ज्ञानको विना ग्रहण किये उत्तरकालीन ज्ञान किस प्रकार अन्यपदार्थ–नीलादिक–को ग्रहण करेगा–अर्थात् नही ग्रहण कर सकता, इस प्रकार प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में लिखा है, अहं प्रत्यय यदि अगृहीत है ऐसा माना जाय तो वह पदार्थों का ग्राहक नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग आवेगा–फिर तो देवदत्त का ज्ञान जिनदत्त के द्वारा अज्ञात रहकर उसके अर्थ को ग्रहण करने वाला हो जावेगा । यदि ऐसा कहा जाय कि अहं प्रत्यय व्यापार रहित होकर नीलादि का ग्राहक होता है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ज्ञान निर्व्यापार अर्थात् निष्क्रिय होता है वह पदार्थ का ग्राहक नहीं हो सकता, अन्यथा पदार्थ भी ज्ञान का ग्राहक बन जायगा, यदि अहं प्रत्ययको व्यापार सहित मान भी लो, तो वह व्यापार उस अहं प्रत्यय से पृथक् है कि अपृथक् है ? यदि वह अपृथक् है तो वह बोधस्वरूप ही–अहं प्रत्ययरूप ही रहा व्यापाररूप कुछ नहीं रहा, परन्तु इन अहं प्रत्यय और व्यापार में अभेद मानना युक्त नही है, क्योंकि अहं प्रत्यय धर्मी और व्यापार धर्मरूप होने से इनमें भेद प्रतीत होता है–भेद दिखाई देता है । अतः अहं प्रत्यय से व्यापार पृथक् है ऐसा पक्ष लिया जावे तो भेद में सम्बन्ध न बनने के कारण उस व्यापार से अहं प्रत्यय का कुछ उपकार या कार्य बन नहीं सकेगा, व्यापार से उसका उपकार होना माना जाय तो अनवस्था दोष आवेगा क्योंकि उपकार के लिये–उपकार करने के लिये–उस व्यापार को अपर व्यापार की और उसके लिये अन्य व्यापार की आवश्यकता होती ही रहेगी, यदि अहं प्रत्यय को निराकार

विकल्पे तु सम्बन्धासिद्धिः; ततस्तस्योपकाराभावात् । उपकारे वानवस्था तन्निर्वर्तने व्यापारस्यापर-व्यापारपरिकल्पनात् । निराकारत्वे वा बोधस्य; अतः प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यात् । साकारत्वे वा बाह्यार्थपरिकल्पनानर्थक्यं नीलाद्याकारेण बोधेनैव पर्याप्तत्वात् । तदुक्तम्—

"धियो(यो ऽ)लादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किन्निबन्धनः ।
धियोऽ(यो)नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किन्निबन्धनः ।। १ ।।"

[प्रमाणवा॰ ३।४३१]

तथा न भिन्नकालोऽसौ तद्ग्राहकः; बोधेन स्वकालेऽविद्यमानार्थस्य ग्रहणे निखिलस्य

माना जावेगा तो उस अहं प्रत्ययरूप ज्ञान से—विषय-व्यवस्था नहीं बनेगी, फिर घट ज्ञान घट को ही जानता है और पट ज्ञान पट को ही ग्रहण करता है ऐसा विषयके प्रति प्रतिनियम नहीं रहेगा । चाहे जो ज्ञान चाहे जिस वस्तु को जानने लगेगा । यदि अहं प्रत्यय को साकार माना जावे तब तो बाह्यपदार्थों की कल्पना करना ही बेकार है क्योंकि ज्ञान ही नील आदि आकार रूप परिणत हो जावेगा और उसी से सब काम भी हो जायगा । प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में लिखा है कि—

यदि बुद्धि में नील पीत आदि आकार नहीं है तो बाह्यपदार्थों का क्या प्रयोजन है—उन्हें किसलिये मानना, और यदि बुद्धि स्वयं नील पीत आदि आकार वाली है तो बाह्यपदार्थ होकर करेंगे ही क्या ? अर्थात् फिर उनसे कुछ प्रयोजन ही नहीं रहता है ।

अब अन्तिम विकल्प पर विचार करते हैं—कि वह अहं प्रत्यय भिन्न काल वाला है या समकाल वाला है ? भिन्न काल में रहकर यदि वह पदार्थोंको ग्रहण करता है—जानता है—तो सभी पुरुष—सभी प्राणिमात्र—सर्वज्ञ बन जावेंगे अर्थात् बोध अपने समय में अविद्यमान पदार्थों का ग्राहक माना जायगा तो भूत और वर्तमान कालवर्ती पदार्थ जो कि बोधकाल में नहीं है उनका भी वह ग्राहक—जानने वाला हो जाने से प्राणिमात्र में सर्वज्ञता आजाने का प्रसंग आजाता है, अतः भिन्न काल वाला होकर वह अहं प्रत्ययरूप बोध नीलादि पदार्थों का ग्राहक नहीं बनता है । यदि वह पदार्थों के समकालीन होकर उनका ग्राहक होता है ऐसा कहा जावे तो यह विकल्प भी नहीं बनता है, क्योंकि समानकाल में होने वाले ज्ञान और ज्ञेयों में उनसे उत्पन्न होना आदि रूप किसी भी प्रकार का नियम न होने से ग्राह्य ग्राहक भाव होना असम्भव

प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्वप्रसङ्गात् । नापि समकालः; समसमयभाविनोर्ज्ञानज्ञेययोः प्रतिबन्धाभावतो ग्राह्यग्राहकभावासम्भवात् । अन्यथाऽर्थोऽपि ज्ञानस्य ग्राहकः । अथार्थे ग्राह्यताप्रतीतेः स च ग्राह्यः न ज्ञानम्; न; तद्व्यतिरेकेणास्याः प्रतीत्यभावात् । स्वरूपस्य च ग्राह्यत्वे-ज्ञानेपि तदस्तीति तत्रापि ग्राह्यता भवेत् । अथ जडत्वान्नार्थो ज्ञानग्राहक; ननु कुतोऽस्य जडत्वसिद्धिः ? तदग्राहकत्वाच्चेदन्योन्याश्रय.-सिद्धे हि जडत्वे तदग्राहकत्वसिद्धिः, ततश्च जडत्वसिद्धिरिति । अथ गृहीतिकरणादर्थस्य ज्ञानं ग्राहकम्, ननु साऽर्थादर्थान्तरम्, अनर्थान्तर वा तेन क्रियते ? अर्थान्तरत्वे अर्थस्य न

है, यदि समान समयवर्ती ज्ञान पदार्थ का ग्राहक है ऐसा माना जाय तो ज्ञान ही पदार्थ का ग्राहक क्यों, पदार्थ भी ज्ञान का ग्राहक हो सकता है ।

भावार्थ—हम बौद्धों ने ज्ञान में और पदार्थ में तदुत्पत्ति संबंध माना है, ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है, फिर वह पदार्थ के आकार होता है–पदार्थ के आकार को धारण करता है तथा उसी को जानता है ऐसा माना गया है, जैन ऐसा नहीं मानते, अतः उनके यहां पदार्थ ही ज्ञान के द्वारा ग्राह्य है ऐसा नियम नहीं बनता, वे समकालीन ज्ञान को ही पदार्थों का ग्राहक होना बतलाते हैं, अतः उनके यहां दोष आते हैं । जैन यदि कहें कि पदार्थोंमें ही ग्राह्यता प्रतीत होती है अतः उसे ही ग्राह्य माना है ज्ञान को नहीं सो यह बात हमें जचती नहीं क्योंकि ज्ञान के बिना तो ग्राह्यता प्रतीत ही नही हो सकती है, यदि पदार्थ के स्वरूप को ग्राह्य मानोगे तो भी गलत होगा, क्योंकि स्वरूप तो ज्ञान में भी है, अतः फिर वही दोष आवेगा कि ज्ञान भी ग्राह्य बन जावेगा ।

शंका—पदार्थ जड़ है अतः वह ज्ञान का ग्राहक बन नहीं सकता है ।

समाधान—पदार्थ जड़ है इस बात की सिद्धि आप कैसे करते हैं ? यदि कहो कि ज्ञान का वह ग्राहक नही होता है इसी से वह जड़ है, ऐसा सिद्ध होता है सो ऐसे कहने से तो स्पष्ट रूप से अन्योन्याश्रय दोष दिख रहा है क्योंकि पदार्थ में जड़पने की सिद्धि हो तब उसमें ज्ञान की ग्राहकता नहीं है यह सिद्धि हो और ज्ञान का अग्राहकपना सिद्ध होने पर उसमें जड़त्व है इसकी सिद्धि हो, इस प्रकार से दोनों में से एक भी सिद्ध नही हो सकेगा । यदि कहा जाय कि ज्ञान गृहीति क्रिया का कारण है अतः वही पदार्थ का ग्राहक है अर्थात् करणज्ञान के द्वारा पदार्थ ग्रहण होता है अथवा "ज्ञानेन पदार्थो गृह्यन्ते" इस प्रकार से ग्रहण क्रिया का करण ज्ञान

किञ्चित्कृतमिति कथं तेनास्य ग्रहणम् ? तस्येयमिति सम्बन्धासिद्धिश्च । तथाप्यस्य गृहीत्यन्तरकरणेऽनवस्था । अनर्थान्तरत्वे तु तत्करणेऽर्थ एव तेन क्रियते इत्यस्य ज्ञानता ज्ञानकार्यत्वादुत्तरज्ञानवत् । जडार्थोपादानोत्पत्तेर्न दोषश्चेत्, ननु पूर्वोऽर्थोऽप्रतिपन्नः कथमुपादानमतिप्रसङ्गात् ? प्रतिपन्नश्चेत्; किं समानकालाद्भिन्नकालाद्वेत्यादिदोषानुषङ्गः । किञ्च, गृहीतिरगृहीता कथमस्तीति निश्चीयते ? अन्यज्ञानेन चास्या ग्रहणे स एव दोषोऽनवस्था च, ततोऽर्थो ज्ञानं गृहीतिरिति त्रितयं स्वतन्त्रमाभातीति न परतः कस्यचिदवभासनमिति नासिद्धो हेतुः ।

है अतः वह ग्राहक है तो इस पर हम बौद्ध पूछते हैं कि वह गृहीति क्रिया ज्ञान के द्वारा पदार्थ से भिन्न की जाती है कि अभिन्न की जाती है ? यदि भिन्न की जाती है तो उस ज्ञान ने पदार्थ का कुछ भी नहीं किया, तो फिर उस भिन्न क्रिया से ज्ञान के द्वारा पदार्थ का ग्रहण कैसे होगा, तथा यह क्रिया उस पदार्थ की है यह संबंध भी कैसे बनेगा ? संबंध जोड़ने के लिये यदि अन्य गृहीति की कल्पना करते हो तो अनवस्था आती है । यदि गृहीति क्रिया अर्थ से अभिन्न की जाती है ऐसा कहते हो तो उसका अर्थ ऐसा निकलेगा कि ज्ञान के द्वारा पदार्थ किया गया, अर्थात् ज्ञान के द्वारा जो पदार्थ की गृहीति की जाती है वह पदार्थ से अभिन्न की जाती है तो गृहीति से अभिन्न होने के कारण पदार्थ ग्रहण हुआ याने पदार्थ किया गया ऐसा अर्थ निकलेगा, इस तरह ज्ञान से उत्पन्न होने से पदार्थ ज्ञान रूप हुआ, क्योंकि वह ज्ञान का कार्य है जैसा कि उत्तर ज्ञान पूर्वज्ञान से उत्पन्न होने से उसका कार्य होता है । इसलिये वह ज्ञानरूप होता है, यदि कोई कहे कि पदार्थ का उपादान तो जड़ होता है उससे पदार्थ उत्पन्न होते हैं अतः ज्ञान से पदार्थों के पैदा होने का प्रसंग ही नहीं आता तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व पदार्थ भी यदि अज्ञात है तो वह उपादान बन नहीं सकता अन्यथा अज्ञात घोड़े के सींग आदि भी उसके उपादान बनेंगे । यदि कहा जाय कि पूर्व पदार्थ अज्ञात नहीं है तो कहो वह किस ज्ञान से जाना हुआ है– क्या समकालीन ज्ञान से कि भिन्नकालीनज्ञान से इत्यादि प्रश्न और पूर्वोक्त ही दोष यहां उपस्थित होवेंगे । दूसरी बात यह है कि वह गृहीति क्रिया यदि अगृहीत है– अज्ञात है तो उसका अस्तित्व–वह है ऐसा उसका सद्भाव–कैसे निश्चित होगा, यदि किसी अन्यज्ञान से गृहीति का ग्रहण होना मानो तो भिन्न काल समकाल इत्यादि प्रश्न तथा अनवस्था आदि दोष उपस्थित हो जाते हैं । इसलिये यह मालूम होता है कि पदार्थ, ज्ञान और गृहीतिक्रिया ये तीनों ही स्वतन्त्ररूप से प्रतिभासित होते हैं,

ननु च 'अर्थमहं वेद्मि चक्षुषा' इति कर्मकर्तृक्रियाकरणप्रतीतिर्ज्ञानमात्राभ्युपगमे कथम् ? इत्यप्यपेशलम्; तैमिरिकस्य द्विचन्द्रदर्शनवदस्या अप्युपपत्तेः । यथा हि तस्यार्थाभावेपि तदाकारं ज्ञानमुदेत्येवं कर्मादिष्वविद्यमानेष्वपि अनाद्यविद्यावासनावशात्तदाकारं ज्ञानमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्-'अहंप्रत्ययो गृहीतोऽगृहीतो वा' इत्यादि; तत्र गृहीत एवार्थग्राहकोऽसौ, तद्ग्रहश्च स्वत एव । न च स्वतोऽस्य ग्रहणे स्वरूपमात्रप्रकाशनिमग्नत्वाद्बहिरर्थप्रकाशकत्वाभावः; विज्ञानस्य प्रदीपवत्स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात् ।

यच्चोक्तम्-'निर्व्यापारः सव्यापारो वेत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; स्वपरप्रकाशस्वभावताव्यतिरेकेण ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशनेऽपरव्यापाराभावात्प्रदीपवत् । न खलु प्रदीपस्य स्वपरप्रकाश-

---

कोई भी पर से प्रतीत नहीं होता है, इस प्रकार प्रारम्भ अद्वैतसिद्धि में जो अवभासमानत्व हेतु दिया है वह सिद्ध हो जाता है असिद्ध नहीं रहता ।

शंका—"मैं आंख के द्वारा पदार्थ को जानता हूं" इस प्रकार से कर्त्ता करण कर्म और क्रिया ये सब भेद ज्ञान मात्र तत्त्व को मानने पर कैसे सिद्ध होंगे ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार नेत्र रोगी को द्विचन्द्र का ज्ञान होता है वैसे ही कर्त्ता करण आदि की भी प्रतीति होती है, अर्थात् कर्त्ता आदि सभी भेद काल्पनिक होते हैं, द्विचन्द्र का ज्ञान दो चन्द्र नही होते हुए भी पैदा होता है, उसी प्रकार कर्म आदिरूप पदार्थ अविद्यमान होने पर भी अनादिकालीन अविद्यावासना के वश उस उस आकार से ज्ञान पैदा होता है, इस प्रकार यहां तक विज्ञानवादी ने अपना लबा चौड़ा यह पूर्व पक्ष स्थापित किया ।

अब आचार्य इस पूर्वपक्ष का निरसन करते हैं—सबसे पहिले बौद्ध ने पूछा था कि अहं प्रत्यय गृहीत होकर पदार्थ को जानता है कि अगृहीत होकर पदार्थ को जानता है, सो उस विषय में यह जवाब है कि वह प्रत्यय गृहीत होकर ही पदार्थ को ग्रहण करता है और उसका ग्रहण तो स्वतः, ही होता है । स्वतः ग्रहण होना मानने में जो दोष दिया था कि "अहं प्रत्यय अपने को जानता है तो फिर वह अपनेमें ही मग्न हो जायगा फिर इसके द्वारा बहिरर्थ का प्रकाशन कैसे हो सकेगा ?" सो ऐसी बात नही है, क्योंकि विज्ञान दीपक की भांति स्व और पर का प्रकाशक—जाननेवाला—माना गया है । तथा—हमसे जो आपने ऐसा पूछा है कि अहं प्रत्यय व्यापार (क्रिया) सहित है कि व्यापार रहित है—सो यह आपका बकवास मात्र है, क्योंकि

स्वभावताव्यतिरेकेणान्यस्तत्प्रकाशनव्यापारोऽस्ति । न च ज्ञानरूपत्वे नीलादेः सप्रतिघादिरूपता घटते । न च तद्रूपतयाऽध्यवसीयमानस्य नीलादेः 'ज्ञानम्' इति नामकरणे काचिन्नः क्षतिः । नामकरणमात्रेण सप्रतिघत्वबाह्यरूपत्वादेरर्थधर्मस्याव्यावृत्तेः । न च तद्रूपता ज्ञानस्यैव स्वभावः; तद्विषयत्वेनानन्यवेद्यतया चास्यान्तःप्रतिभासनात्, सप्रतिघान्यवेद्यस्वभावतया चार्थस्य बहिः प्रतिभासनात् । न च प्रतिभासमन्तरेणार्थव्यवस्थायामन्यन्निबन्धनं पश्यामः ।

यदप्यभिहितम्-निराकारः साकारो वेत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; साकारवादप्रतिक्षेपेण निराकारादेव प्रत्ययात् प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

अपने को और परवस्तुओं को जानना यही उस ज्ञानका—(अहं प्रत्यय का) व्यापार याने क्रिया है, इससे भिन्न और किसी प्रकार की क्रियाएँ इसमें सम्भव नही हैं । जैसे दीपक में अपने और पर को प्रकाशित करना ही क्रिया है, और अन्य क्रिया नही, तथा—दीपक को प्रकाशित करने के लिये अन्य दीपक की जरूरत नहीं रहती वैसे ज्ञान को जानने के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती है, ज्ञान में जो नील आदि पदार्थों का प्रतिभास है वह ज्ञानरूप ही है, उसमें जड़ के समान उठाने धरने आदि की क्रिया होवे सो भी बात नहीं है, ज्ञान जब नील को जानता है तब उसे भी नील कह देते हैं अर्थात् यह नील का ज्ञान है ऐसा नाम रख देते हैं, सो ऐसा नाम धर देने से हमें कुछ बाधा नहीं आती है, देखिये नाम करने से उस बाह्यवस्तु के काठिन्य आदि गुण, बाह्य में रहना, छेदन आदि में आ सकना आदि सारी बातें ज्ञान में भी आ जावें सो तो बात है नहीं, ज्ञान में पदार्थाकार होना एकमात्र धर्म नहीं है, बाह्य पदार्थ तो मात्र ज्ञान का विषय है, ज्ञान अनन्यवेद्य—अन्य से अनुभव में नहीं आने योग्य है, वह तो अन्त. प्रतिभास मात्र है, तथा पदार्थ प्रतिघात के योग्य अन्य से जानने योग्य एवं बाहर में प्रतिभासमान स्वरूप है, इस प्रकार पदार्थ और ज्ञान में महान् भेद है वे किसी प्रकार से भी एकरूप नहीं बन सकते हैं । ज्ञान में पदार्थों का प्रतिभास हुए बिना पदार्थों की व्यवस्था अर्थात् यह घट है यह पट है यह इससे भिन्न है इत्यादि पृथक् पृथक् वस्तुस्वभाव सिद्ध नहीं होता है । अहं प्रत्यय साकार है या निराकार है ऐसा पूछकर जो दोनों पक्षों का खण्डन किया है वह गलत है, क्योंकि हम स्वयं आपके द्वारा माने गये साकार वाद का निराकरण करने वाले हैं ज्ञान निराकार रहकर ही प्रत्येक वस्तु की पृथक् पृथक् व्यवस्था कर देता है, इस बात का प्रतिपादन आगे होगा । तथा आपने जो हमसे ऐसा पूछा है कि वह अहं

यच्चान्यदुक्तम्–न भिन्नकालोऽसौ तद्ग्राहक इत्यादि, तदप्यसारम्; क्षणिकत्वानभ्युपगमात् । यो हि क्षणिकत्वं मन्यते तस्याय दोषः 'बोधकालेऽर्थस्याभावादर्थकाले च बोधस्यासत्वे तयोर्ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तिः' इति ।

यच्चाविद्यमानार्थस्य ग्रहणे प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्वप्रसक्तिरित्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; भिन्नकालस्य समकालस्य वा योग्यस्यैवार्थस्य ग्रहणात् । दृश्यते हि पूर्वोत्तरचरादिलिङ्गप्रभवप्रत्ययाद्भिन्नकालस्यापि प्रतिनियतस्यैव शकटोदयाद्यर्थस्य ग्रहणम् ।

प्रत्यय अर्थ के समकालीन होकर अर्थ–नीलादि पदार्थ–को जानता है या भिन्नकालीन होकर उन्हें जानता है, सो इन दोनों प्रकार के विकल्पों में जो आपने दोषोद्भावन बड़े जोश के साथ किया है, सो वह सर्वथा असार है, क्योंकि हम ज्ञान और पदार्थ को क्षणिक नही मानते हैं, जो क्षणिक मानते हैं, उन्हीं पर ये दोष आते हैं । अर्थात् आप बौद्ध जब ज्ञान और पदार्थ दोनों को क्षणिक मानते हो सो ज्ञान क्षणिक होने से पदार्थ के समय रहता नहीं है और पदार्थ भी क्षणिक है सो वह भी ज्ञान के समय नष्ट हो जाता है अतः आपके यहां इनमें ग्राह्यग्राहकपना सिद्ध नहीं होता है । तथा आपने जो यह मजेदार दूषण दिया है कि भिन्नकालवर्ती ज्ञान यदि अर्थ का ग्राहक होगा अर्थात् अपने समय में अविद्यमान वस्तु का ग्राहक होगा–उसे जानेगा–तो सभी प्राणी सर्वज्ञ बन जायेगे इत्यादि सो यह भी अयुक्त है क्योंकि पदार्थ चाहे ज्ञान के समकालीन हो चाहे भिन्नकालीन हो ज्ञान तो (क्षयोपशम के अनुसार) अपने योग्य पदार्थों को ही ग्रहण करता है । देखो–पूर्वचर हेतु, उत्तरचर हेतु आदि हेतुवाले अनुमान ज्ञान भिन्नकालीन वस्तुओं को ग्रहण करते हैं तथा अपने योग्य शकटोदय आदि को ही गृहण करते है ।

विशेषार्थ—'उदेष्यति शकटं कृत्तकोदयात्"–एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय होगा क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है–यह पूर्वचर हेतुवाला अनुमान है, इस ज्ञान का विषय जो शकट है वह तो वर्तमान ज्ञान के समय में है नहीं तो भी उसे अनुमान ज्ञान ने गृहण किया है, तथा "उद्गात् भरणी प्राग् तत एव"–एक मुहूर्त पहिले भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका है, क्योंकि कृतिका का उदय हो रहा है–सो इस ज्ञान में भी भरणी का उदय होना वर्तमान नहीं होते हुए भी जाना गया है, इसी प्रकार और भी बहुत से ज्ञान ऐसे होते हैं कि उनका विषय वर्तमान में नहीं

कथञ्चैवंवादिनोऽनुमानोच्छेदो न स्यात्, तथा हि—त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रसिद्धम्। लिङ्गं चावभासमानत्वमन्यद्वा यदि भिन्नकालं तस्य जनकम्; तह्येकस्यानुमानस्याशेषमतीतमनागतं तज्जनकमित्यत एवाशेषानुमेयप्रतीतेरनुमानभेदकल्पनानर्थक्यम्। अथ भिन्नकालत्वाविशेषेपि किञ्चिदेव लिङ्गं कस्यचिज्जनकमित्यदोषोयम्; नन्वेवं तदविशेषेपि किञ्चिदेव ज्ञानं कस्यचिदेवार्थस्य ग्राहकं किं नेष्यते? अथातीतानुत्पन्नेर्थे प्रवृत्तं ज्ञानं निर्विषयं स्यात्, तर्हि नष्टानुत्पन्नाल्लिङ्गादुपजायमानमनुमानं निर्हेतुकं किं न स्यात्? यथा च स्वकाले विद्यमानं स्वरूपेण जनकम् तथा ग्राह्यमपि। तन्न भिन्नकालं लिङ्गमनुमानस्य जनकम्। नापि समकालं तस्य जनकत्व-

---

होता तो भी वे ज्ञान के द्वारा ग्रहण अवश्य किये जाते हैं, अतः बौद्ध का यह कहना कि भिन्नकालीन वस्तु को ज्ञान कैसे जानेगा इत्यादि सो वह असत्य होता है।। आप बौद्ध ज्ञान के विषय में भिन्न काल कि समकाल ऐसा प्रश्न करोगे तो अनुमान प्रमाण की वार्त्ता छिन्न भिन्न हो जावेगी। देखिये—पक्षधर्म, सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्ति वाले त्रिरूप हेतु से साध्य का ज्ञान होता है, ऐसा आपके यहां माना है, सो अद्वैत साधक अनुमान में जो अवभासमानत्व हेतु है अथवा अन्य कोई सहोपलम्भ आदि हेतु है उस पर भी ऐसा पूछा जा सकता है कि यह किस प्रकार का होगा? क्या भिन्न कालीन होगा? यदि वह भिन्न कालीन होकर अनुमान को उत्पन्न करता है, तब उस एक ही अनुमान के हेतु से अतीत अनागत सभी अनुमान ज्ञान पैदा हो जायेंगे, तथा उस एक ही अनुमान ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण साध्य वस्तुओं की सिद्धि हो जायगी, फिर भिन्न भिन्न अनुमानों की जरूरत नहीं रहेगी, यदि कहा जाय कि भिन्न कालीन होते हैं तो भी कोई एक हेतु किसी एक ही अनुमान ज्ञान को उत्पन्न करता है न कि सभी अनुमान ज्ञान को तब हम जैन भी कहते हैं कि—ज्ञान पदार्थ से पृथक् काल में रहकर भी किसी एक पदार्थ का ग्राहक होता है ऐसा कथन भी क्यों न माना जाय, अर्थात् मानना ही चाहिये।

शंका—अतीत और अनागत सम्बंधी पदार्थों को ज्ञान जानेगा तो ज्ञान निर्विषय हो जायगा?

समाधान—तो फिर नष्ट और अनुत्पन्न—उत्पन्न नहीं हुए हेतुओं से पैदा होने वाला अनुमानज्ञान निर्हेतुक क्यों नहीं होगा, तथा हेतु जैसे अपने काल में स्वरूप से विद्यमान रहकर ही अनुमान को पैदा करता है, उसी प्रकार ज्ञान भिन्न काल में रहकर भी वस्तु को—अपने ग्राह्य को ग्रहण करता है ऐसा आपको मानना चाहिये,

विरोधात्, अविरोधे वानुमानमप्यस्य जनकं भवेत्, तथा चान्योन्याश्रयान्नैकस्यापि सिद्धिः। अथानुमानमेव जन्यम्, तत्रैव जन्यताप्रतीतेः; न; अनुमानव्यतिरेकेणार्थे ग्राह्यतावज्जन्यतायाः प्रतीत्यभावात्। न च स्वरूपमेव जन्यता; लिङ्गेऽपि तत्सद्भावेन जन्यताप्रसक्तेः। तथा चान्योन्यजन्यतालक्षणो दोषः स एवानुषज्यते। अथानयोः स्वरूपाविशेषेऽप्यनुमान एव जन्यता लिङ्गापेक्षया, नतु लिङ्गे तदपेक्षया सेत्युच्यते; तर्हि ज्ञानार्थयोस्तदविशेषेपि अर्थस्यैव ज्ञानापेक्षया ग्राह्यता न तु ज्ञानस्यार्थापेक्षया सेत्युच्यताम्। न चोत्पत्तिकरणाल्लिङ्गमनुमानस्योत्पादकम्, तस्यास्ततोऽर्थान्तरा-

---

अत: भिन्न कालीन हेतु अनुमान को पैदा करता है यह सिद्ध होना आपको इष्ट नहीं रहेगा, समकालीन हेतु भी अनुमान को पैदा नहीं करता है, क्योंकि समकालीन में जन्यजनक भाव मानने में विरोध है। विरोध नहीं है, यदि ऐसा कहो तो कोई भी किसी का जनक बन सकेगा–इस तरह चाहे जिससे चाहे जो जन्य हो सकता है, फिरतो हेतु से अनुमान पैदा न होकर कहीं अनुमान से हेतु पैदा होने लगेगा, और इस प्रकार अन्योन्याश्रय–एक के आधीन दूसरा और दूसरे के आश्रय वह एक होने से एक की भी सिद्धि नहीं होवेगी।

शंका—अनुमान ही जन्य (पैदा करने योग्य) है उसी में जन्यता की प्रतीति है।

समाधान— ऐसी बात नही है, देखो–अनुमान के बिना जिस प्रकार पदार्थ की ग्राह्यता नहीं जानी जाती है उसी प्रकार उसकी जन्यता भी नहीं जानी जाती है, यदि अनुमान के बिना जन्यता जानी जाती है तो एक दूसरे के लिये जन्य जनक होने रूप पहिले का दोष आता है।

शंका— हेतु और अनुमान का स्वरूप समान होते हुए भी हेतु की अपेक्षा से अनुमान में ही जन्यता स्वीकार की है, न कि अनुमान की अपेक्षा से हेतु में।

समाधान—बिलकुल ठीक है, फिर वही बात ज्ञान और पदार्थ में मानी जाय अर्थात् ज्ञान और पदार्थों का स्वरूप सपन्न होते हुए भी ज्ञान की अपेक्षा से पदार्थ ही ग्राह्य होते हैं न कि पदार्थ की अपेक्षा से ज्ञान ग्राह्य होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

शंका—हेतु अनुमान की उत्पत्ति का कारण है अतः वह जनक है।

समाधान—यह सिद्ध नहीं हो सकता है, उत्पत्ति अनुमान से भिन्न है कि अभिन्न है ? इस प्रकार से विचार करने पर दोनों ही पक्ष बनते नहीं, क्योंकि

नर्थान्तरपक्षयोरसम्भवात् । सा हि यद्यनुमानादर्थान्तरम्; तदानुमानस्य न किञ्चित्कृतमित्यस्याभावः । अनुमानस्योत्पत्तिरिति सम्बन्धासिद्धिश्चानुपकारात् । उपकारे वाऽनवस्था । अथानर्थान्तरभूता क्रियते; तदानुमानमेव तेन कृतं स्यात् । तथा चानुमानं लिङ्गं लिङ्गजन्यत्वादुत्तरलिङ्गक्षणवत् । न च प्राक्तनानुमानोपादानजन्यत्वान्नानुमानं लिङ्गम्; यतस्तदप्यनुमानमन्यतो लिङ्गाच्चेत्तर्हि तदप्यनुमानं लिङ्गं तज्जन्यत्वादुत्तरलिङ्गक्षणवदिति तदवस्थं चोद्यम् । उत्तरमपि तदेवेति चेत्, अनवस्था स्यात् । अथ तथाप्रतीतेर्लिलङ्गजन्यत्वाविशेषे किञ्चिल्लिङ्गमपरमनुमानम्; तर्हि ज्ञानजन्यत्वाविशेषेपि किञ्चिज्ज्ञानमपरोऽर्थ इति किन्न स्यात् ? तथा च 'अर्थो ज्ञानं ज्ञानकार्यत्वादुत्तर-

---

उत्पत्ति अनुमान से भिन्न है तो वह अनुमान को पैदा नही कर सकेगी, तथा अभिन्न है तो दोनों एकमेक होवेंगे, तथा भिन्न पक्ष में यह भी दोष होगा कि उत्पत्ति और अनुमान का सबंध नहीं रहता है, विना सम्बन्ध के उत्पत्ति अनुमान का उपकार कर नहीं सकती, भिन्न रहकर ही उपकार करेगी तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि उत्पत्ति के लिये फिर दूसरी उत्पत्ति चाहिये, इस प्रकार अपेक्षा आती रहेगी, उत्पत्ति अनुमान से अभिन्न की जाती है ऐसा मानो तो उस हेतु से अनुमान ही किया गया। फिर ऐसा कह सकेंगे कि अनुमान तो हेतु ही है, क्योंकि वह हेतु से पैदा हुआ है, जैसा कि उस हेतु से उत्तरक्षण वाला हेतु पैदा होता है। यदि कहो कि अनुमान के लिये अपना पूर्ववर्ती अनुमान ही उपादान हुआ करता है, अतः हेतु ही अनुमान हो जाय ऐसा दोष नहीं आता सो भी ठीक नहीं, देखिये वह पूर्व का अनुमान भी किसी अन्य लिंग से उत्पन्न हुआ है क्या ? यदि हुआ है तो पुनः हम कहेंगे कि वह अनुमान भी लिंग है, क्योंकि वह लिंग जन्य है, जैसे उत्तरवर्ती लिंग क्षण पूर्व लिंग क्षण से जन्य होनेके कारण लिग ही कहलाता है, इसप्रकार पूर्वोक्त प्रश्न वैसे ही बने रहते हैं। तुम कहो कि उनका उत्तर भी पहले के समान दिया जाता है ? तब तो अनवस्था दोषसे छुटकारा नही होगा।

शंका—यद्यपि पूर्व हेतु से हेतु भी पैदा होता है और अनुमान भी पैदा होता है, तो भी किसी एक को तो अनुमान कहते हैं और दूसरे को हेतु कहते हैं।

समाधान—तो फिर इसी प्रकार पदार्थ और ज्ञान के विषय में भी मानना पड़ेगा, अर्थात् ज्ञान से ज्ञान और पदार्थ उत्पन्न होते हैं तो भी एक को ज्ञान और दूसरे को पदार्थ ऐसा कहते हैं ऐसा मानना पड़ेगा, और ऐसा स्वीकार करने पर पदार्थ ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान का कार्य है ऐसी विपरीत बात बनेगी, जैसे उस ज्ञान

ज्ञानवत्' इत्ययुक्तम् । न च गृहीतिविधानादर्थस्य ग्राह्यतेष्यते; स्वरूपप्रतिनियमात्तदभ्युपगमात् । यथैव ह्येकसामग्र्यधीनानां रूपादीनां चक्षुरादीनां समसमयेऽपि स्वरूपप्रतिनियमादुपादानेतरत्वव्यवस्था, तथार्थज्ञानयोर्ग्राह्येतरत्वव्यवस्था च भविष्यति ।

ननु यया प्रत्यासत्त्या ज्ञानमात्मानं विषयीकरोति तयैव चेदर्थं तयोरैक्यम् । न ह्येकस्वभाववेद्यमनेकं युक्तमन्यथैकमेव न किञ्चित्स्यात् । अथान्यया; स्वभावद्वयापत्तिर्ज्ञानस्य भवेत् । तदपि स्वभावद्वयं यद्यपरेण स्वभावद्वयेनाधिगच्छति तदाऽनवस्था तद्वेदनेप्यपरस्वभावद्वयापेक्षणात् । ततः

का उत्तरक्षणवर्ती ज्ञानरूप कार्य है । तथा गृहीति–जाननेका कारण होने से पदार्थ को ग्राह्य मानते है सो भी बात नहीं है, ग्राह्य और ग्राहकता तो स्वरूप के प्रतिनियम से हुआ करती है ऐसा ही हमने स्वीकार किया है, देखिये—आप बौद्ध के यहां पर क्षणिकवाद है, अतः पूर्व क्षणवर्ती वस्तु उत्तर क्षणवर्ती वस्तु को पैदा करती है ऐसा माना है, तथा पूर्वक्षण का रूप उत्तरक्षण के रूप को और चक्षुज्ञान को भी उत्पन्न करता है तो भी उस पूर्ववर्ती रूप को आगे के रूप के लिये तो उपादान माना है और चक्षुज्ञान के लिये सहकारी माना है, जैसे यहां पर एक सामग्री से पैदा होते हुए भी किसी के प्रति उपादान और किसी के प्रति सहकारीपना रहता है, तथा वे रूप और चक्षुज्ञान समान काल में उत्पन्न होते हैं तो भी उनमें स्वरूप के नियम से ही ग्राह्य ग्राहक भाव बनता है, यही बात ज्ञान और पदार्थ में है अर्थात् ज्ञान और पदार्थ समकालीन होते हैं तो भी पदार्थ ही ग्राह्य है और ज्ञान ग्राहक है ऐसा निर्बाध सिद्ध होता है ।

बौद्ध—ज्ञान जिस शक्ति से अपने आपको जानता है उसी शक्ति से पदार्थ को जानेगा तो दोनों में एकपना हो जायेगा, क्योंकि एक ही स्वभाव से जो जाना जाता है वह अनेक नहीं हो सकता, अन्यथा किसी में भी एकपना नहीं रहेगा, तथा ज्ञान अपने को किसी अन्य शक्ति से जानेगा तो उसमें दो स्वभाव मानने होंगे, वे दो स्वभाव भी किन्हीं अन्य दो स्वभावों से ग्रहण हो सकेंगे, इस तरह अनवस्था आती है, क्योंकि स्वभावों को जानने के लिये अन्य स्वभावों की जरूरत होती है, इसलिये ज्ञान तो अपने स्वरूप को जानता है, पदार्थों को नहीं ऐसा मानना चाहिये ।

जैन—यह कथन असत् है, क्योंकि ज्ञान तो अपने और पर को जानने रूप एक स्वभाव वाला होता है, ज्ञान का यह स्वभाव किस प्रकार सत्य है, उसमें किसी प्रकारके दोष नहीं आते है इन सब बातों को हम स्व संवेदन ज्ञान की सिद्धि करते

स्वरूपमात्रग्राह्येव ज्ञानं नार्थग्राहि; इत्यप्यसमीचीनम्; स्वार्थग्रहणैकस्वभावत्वाद्विज्ञानस्य । स्वभावतद्वत्पक्षोपक्षिप्तदोषपरिहारश्च स्वसंवेदनसिद्धौ भविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कथञ्चैवंवादिनो रूपादेः सजातीयेतरकर्तृत्वम् तत्राप्यस्य समानत्वात् ? तथा हि-रूपादिकं लिङ्गं वा यया प्रत्यासत्त्या सजातीयक्षणं जनयति तयैव चेद्रसादिकमनुमानं वा; तर्हि तयोरैक्यमित्यन्यतरदेव स्यात् । अथान्यया; तर्हि रूपादेरेकस्य स्वभावद्वयमायातं तत्र चानवस्था परापरस्वभावद्वयकल्पनात् । न खलु येन स्वभावेन रूपादिकमेकां शक्तिं बिभर्ति तेनैवापरां तयोरैक्यप्रसङ्गात् । अथ रूपादिकमेकस्वभावमपि भिन्नस्वभावं कार्यद्वयं कुर्यात्तत्करणैकस्वभावत्वात्; तर्हि ज्ञानमप्येकस्वभावं स्वार्थयोः सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण ग्राहकमस्तु तद्ग्रहणैकस्वभावत्वात् । ननु

समय कहने वाले हैं। अब विज्ञानाद्वैतवाद के विषय में अधिक क्या कहें—इतना ही बस है।

अद्वैतवादी ज्ञान में दो स्वभाव मानने में दोष देते हैं, पर उनके यहां पर भी ऐसे दो स्वभाव एक वस्तु में हैं, देखिये—वे कहते हैं कि रूप आदि गुण उत्तरक्षणवाले सजातीयरूप को तथा विजातीय रस को पैदा करते हैं, इसलिये उसमें वही अनवस्था आदि दोष आवेगे। हम जैन आपसे पूछते हैं कि रूप हो अथवा हेतु हो वह जो उत्तर क्षणवर्ती रस तथा रूप को और हेतु तथा अनुमान को पैदा करते हैं सो जिस शक्तिस्वभाव से रूप उत्तर क्षणवर्ती रस को पैदा करता है उसी शक्तिस्वभाव से रूप ज्ञान को भी पैदा करता है क्या ? तथा जिस शक्ति से हेतु उत्तरक्षणवर्ती हेतु को पैदा करता है उसी शक्ति से अनुमान को भी उत्पन्न करता है क्या ? यदि एक शक्ति से ऐसे सजातीय और विजातीय कार्य करता है तो उनमें एकमेकपना होकर दोनों में से एक ही कोई रह जायगा, वे रूपादिपूर्ववर्ती कारण किसी अन्यशक्ति से तो रूप को और किसी अन्य शक्ति से रस को पैदा करते हैं ऐसा कहो तब उन रूप लिङ्ग आदि में दो स्वभाव आ गये ? फिर उन दोनों स्वभावों को किन्हीं अन्य दो स्वभावों से धारण करेंगे, इस प्रकार स्वभावों की कल्पना बढ़ती जाने से अनवस्था दोष आता है। रूपादि क्षण जिस एक स्वभाव से एक शक्ति को धारण करते हैं उसी से अन्य शक्ति को तो धार नहीं सकेंगे क्योंकि ऐसा मानने पर उन रूप रस आदि में एकता हो जायगी भिन्नता नहीं रहेगी।

शंका—रूप आदि पूर्ववर्ती कारण एक स्वभाववाले भले ही होवें, किन्तु उनमें भिन्न २ स्वभाव वाले दो कार्य करने रूप ऐसा ही एक स्वभाव है।

व्यवहारेण कार्यकारणभावो न परमार्थतस्तेनायमदोषः; तर्हि तेनैवाहमहमिकया प्रतीयमानेन ज्ञानेन नीलादेर्ग्रहणसिद्धेः कथमसिद्धः स्वतोऽवभासमानत्वलक्षणो हेतुर्न स्यात् ?

न चैवंवादिनः स्वरूपस्य स्वतोऽवगतिर्घटते; समकालस्यास्य प्रतिपत्तावर्थवत् प्रसङ्गात् । न च स्वरूपस्य ज्ञानतादात्म्यान्नायं दोषः; तादात्म्येपि समानेतरकालविकल्पानतिवृत्तेः । ननु ज्ञानमेव स्वरूपम्, तत्कथं तत्र भेदभावी विकल्पोऽवतरतीति चेत् ? कुत एतत् ? तथा प्रतीतेश्चेत्;

समाधान—ठीक है, ऐसी ही बात ज्ञान में भी है, अर्थात् ज्ञान भी एक स्वभाववाला है और वह संकर व्यतिकर किये बिना स्व और पर को ग्रहण करने वाला होता है, क्योंकि उन्हें ग्रहण करने का ऐसा ही उसका एक स्वभाव है ।

शंका—हम बौद्धों के यहां जो कार्यकारणभाव माना गया है वह मात्र व्यवहार रूप है; पारमार्थिक नही, इसलिये हम पर कोई दूषण नहीं आता है।

समाधान—तो अहमहमिका रूप से अनुभव में आने वाले ज्ञान के द्वारा ही नील पीतादि पदार्थों का ग्रहण सिद्ध हो जायगा, अतः स्वतः अवभासमानत्वहेतु असिद्ध क्यों नहीं होगा अवश्य ही होगा, इस प्रकार आपने जो अद्वैत को सिद्ध करने के लिये "पदार्थ में स्वतः अवभासमानता है इसलिये वे ज्ञान स्वरूप हैं" ऐसा कहा है सो वह सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि पदार्थों का अवभासन स्वतः न होकर ज्ञान से ही होता है ।

बौद्धों ने जो ऐसा पूछा था कि समकालीन पदार्थ ग्राह्य होते है कि भिन्न कालीन ? इत्यादि, सो इस पर हमारा ऐसा कहना है कि इस प्रकार के प्रश्न आप करेंगे तो ज्ञान स्वरूप की स्वतः प्रतीति होती है इत्यादि कथन कैसे घटित होगा, क्योंकि उसमें भी प्रश्न होंगे— कि ज्ञान समकालीन उस स्वरूप को ग्रहण करता है तो भिन्न देशवर्ती स्वरूप को भी ग्रहण करेगा इत्यादि पदार्थ ग्रहण के सम्बन्ध में जो प्रश्न और दोष उपस्थित हुए थे वे सारे के सारे यहां उपस्थित हो जावेंगे, यदि आप कहें कि स्वरूप और ज्ञान का तो तादात्म्य है, अतः वहां दोष नहीं आते सो भी बात नही, क्योंकि तादात्म्य पक्ष में समानकाल और भिन्नकाल वाले प्रश्न-विकल्प उठते ही हैं ।

शंका— जब ज्ञान ही स्वरूप है तब भेद से होनेवाला विकल्प वहां पर किस प्रकार अवतरित हो सकता है ।

समाधान—यह बताओ कि किस प्रमाण से आपने यह निश्चित किया है

इयं यद्यप्रमाणं कथमतस्तत्सिद्धिरतिप्रसङ्गात् ? प्रमाणं चेत्; तर्हि स्वपरग्रहणस्वरूपताप्यस्य तथैवास्त्वल तत्रापि तद्विकल्पकल्पनया प्रत्यक्षविरोधात् । तन्न स्वतोऽवभासमानत्वं हेतुरसिद्धत्वात् ।

नापि परतो वाद्यसिद्धत्वात् । न खलु सौगतः कस्यचित्परतोऽवभासमानत्वमिच्छति । "नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्या नानुभवोपरः" [प्रमाणवा० ३ ३२७] इत्यभिधानात् । कथं च

कि ज्ञान ही ज्ञान का स्वरूप है ? उसी तरह से प्रतीति आती है इसलिये कहो, तो भी वह प्रतीति यदि झूठी–अप्रमाणरूप है तब तो उससे ज्ञान के स्वरूप की सिद्धि नही होवेगी, यदि अप्रामाणिक प्रतीति से व्यवस्था होती हो तो संशयादि रूप प्रतीति से भी ज्ञान स्वरूप की सिद्धि होने का अतिप्रसंग आता है, ज्ञान के स्वरूप को ग्रहण करनेवाली प्रतीति यदि प्रमाणभूत है तो बड़ी अच्छी बात है, फिर उसी प्रतीति के द्वारा ज्ञान में स्वपर प्रकाशक स्वरूप भी सिद्ध हो जायगा, कोई उसमें बाधा नहीं है, उस ज्ञान के पदार्थ ग्रहण करने रूप स्वभाव में किसी प्रकार के विकल्प–प्रश्न या कल्पना करना ठीक नही होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष से प्रतीति होने पर प्रश्न करना तो प्रत्यक्ष विरोधी बात कहलावेगी इस प्रकार पदार्थों का अभाव सिद्ध करने के लिये दिया गया स्वत. अवभासमानत्व हेतु असिद्ध हो जाता है ।

अवभासमानत्व हेतु को पर से यदि अवभासित होना मानते हो तो आप वादी के यहां हेतु असिद्ध होगा, क्योंकि आप सौगत ने किसी भी वस्तु का पर से प्रतिभासित होना नहीं माना है, लिखा भी है–कि बुद्धि द्वारा अनुभाव्य–अनुभव करने योग्य कोई पृथक् पदार्थ नही है, तथा उस बुद्धि को जानने वाला भी कोई नहीं है, इत्यादि । भावार्थ—

नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ।।

प्रमाणवार्ति० ३।३२७

बौद्धाभिमत प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में लिखा है कि हम बौद्ध उसी कारण से बुद्धि द्वारा अनुभव करने योग्य किसी को नहीं मानते हैं, फिर प्रश्न होता है कि उस बुद्धि को अनुभव करनेवाला कौन होगा ? जो होगा उसमें फिर से ग्राह्य ग्राहक भाव मानना पड़ेगा, इसलिये जो भी कुछ पर है वह सब संवेदन–ज्ञान में अन्तर्भूत है, इस प्रकार से एक बुद्धि–(ज्ञान) मात्र स्वयं अपने आप प्रकाशमान है, और कुछ भी अन्य पदार्थ नहीं है, इस प्रकार इस श्लोक द्वारा जब पर वस्तु का ही अभाव

साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः सिद्धा ? यतो 'यदवभासते तज्ज्ञानम्' इत्यादि सूक्तं स्यात्। न खलु स्वरूपमात्रपर्यवसितं ज्ञानं निखिलमवभासमानत्व ज्ञानत्वव्याप्तम्' इत्यधिगन्तुं समर्थम्। न चाखिलसम्बध्यप्रतिपत्तौ सम्बन्धप्रतिपत्तिः। "द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः" [ ] इत्याद्यभिधानात्। न च विवक्षितं ज्ञानं ज्ञानत्वमवभासमानत्व चात्मन्येव प्रतिपद्य तयोर्व्याप्तिमधिगच्छतीत्यभिधातव्यम्; तत्रैवानुमानप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्र च तत्प्रवृत्तेर्वैयर्थ्यं साध्यस्याध्यक्षेण सिद्धत्वात्। अथ सकलं ज्ञानमात्मन्यन्यनयोर्व्याप्तिं प्रत्येतीत्युच्यते; ननु सकलज्ञानाज्ञाने कथमेवं वादिना प्रत्येतुं शक्यम् ?

सिद्ध किया है, तब ज्ञान से भिन्न अन्य किसी हेतु से उसकी कैसे सिद्धि होगी अर्थात् बाह्य पदार्थ कोई नहीं है इस बात को सिद्ध करने के लिये अनुमान दिया था कि जो प्रतिभासित होता है वह प्रतिभास में अन्तर्भूत है क्योंकि वह प्रतिभासमान है, सो इस अनुमान में प्रतिभासमान हेतु को पर से प्रतिभासित होना कहते हो–तब आचार्य कहते हैं कि यह आपका हेतु असिद्ध हेत्वाभास रूप हो जाता है, क्योंकि आपके यहां ज्ञान से परे और कुछ है ही नहीं।

आप अद्वैतवादी के यहां पर साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध होना भी कठिन है जिससे कि "जो अवभासित होता है वह ज्ञान है" ऐसा कथन सिद्ध होवे जो मात्र स्वरूप ग्रहण में समाप्त हुआ ज्ञान है। वह संपूर्ण वस्तु प्रतिभासमान है–ज्ञानपने से व्याप्त है ऐसा जानने के लिये कैसे समर्थ हो सकता है, संपूर्ण सबंधित वस्तुओं को जाने विना संबंध का ज्ञान नहीं हो सकता, "द्विष्ठसंबंध संवित्तिः" सम्बन्ध का ज्ञान दो के जानने पर होता है–ऐसा कहा गया है। भावार्थ–ज्ञान जब अपने जानने में ही क्षीण शक्ति हो जाता है, तब वह "सभी वस्तु प्रकाशमान हैं" ऐसा निश्चय कैसे कर सकता है, हेतु और साध्य इन दोनों की व्याप्ति तभी सिद्ध हो जब दोनों का सम्बन्ध जाना जाय।

शंका—एक विवक्षित ज्ञान प्रथम अपने में ज्ञानत्व और अवभासमानत्व का निश्चय कर लेता है, फिर अवभासमानत्व और ज्ञानत्व की व्याप्ति को जान लेता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि इस प्रकार से तो उस व्याप्ति ग्राहक ज्ञान को जानने के लिये अनुमान की प्रवृत्ति वहीं पर होगी। किन्तु वहां वह प्रवृत्त अनुमान भी व्यर्थ ही कहलावेगा, क्योंकि साध्य जो ज्ञान है वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु में अनुमान की प्रवृत्ति होती नहीं है।

न चासिद्धव्याप्तिकलिङ्गप्रभवादनुमानात्तथागतस्य स्वमतसिद्धिः; परस्यापि तथाभूतात्कार्याद्यनुमानादीश्वराद्यभिमतसाध्यसिद्धिप्रसङ्गात्। न चानयोः कुतश्चित् प्रमाणाद्व्याप्तिः प्रसिद्धाः; ज्ञानवज्जडस्यापि परतो ग्रहणसिद्धया हेतोरनैकान्तिकत्वानुषङ्गात्।

यदप्युक्तम्—जडस्य प्रतिभासायोगादिति, तत्राप्यप्रतिपन्नस्यास्य प्रतिभासायोगः, प्रतिपन्नस्य वा? न तावदप्रतिपन्नस्यासौ प्रत्येतुं शक्यः, अन्यथा सन्तानान्तरस्याप्रतिपन्नस्य स्वप्रति-

---

शंका— सभी ज्ञान अपने में अवभासमानत्व और ज्ञानत्व की व्याप्ति को जाननेवाले होते हैं ऐसा हम मानते हैं।

समाधान—संपूर्ण ज्ञानों को जाने बिना इस प्रकार का निश्चय आप कर नहीं सकते। जिस हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं हुई है उस हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान से आपके मत की (नील पीत आदि पदार्थ ज्ञान स्वरूप हैं इसी मन्तव्य की) सिद्धि कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती। अन्यथा परवादी जो योग आदिक हैं उनके यहां भी असिद्ध कार्यत्व आदि हेतुवाले अनुमान के द्वारा ईश्वर और उसके सृष्टि कर्तृत्व की सिद्धि हो जायगी।

भावार्थ—सौगत यदि अपने असिद्ध स्वरूप वाले अवभासमानत्व हेतु से पदार्थों को ज्ञान रूप सिद्ध करना चाहते हैं तो सभी मतवाले अपने २ असिद्ध हेत्वाभासों से ही अपने इष्ट तत्त्व की सिद्धि करने लगेंगे। पर्वत, तनु, तरु आदि पदार्थ बुद्धिमान् के द्वारा निर्मित हैं क्योंकि वे कार्यरूप हैं, जो जो कार्यरूप होते हैं वे वे बुद्धिमान् से निर्मित होते हैं, जैसे कि वस्त्र घट आदि, इत्यादि अनुमान के द्वारा ईश्वर कर्तृत्ववाद सिद्ध हो जावेगा, ऐसे ही अन्य २ मत के भी सिद्ध होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, अतः इस आपत्ति से बचने के लिये प्रत्येक वादी का कर्तव्य होता है कि वह वादी परवादी प्रसिद्ध हेतु के द्वारा ही अपना इष्ट तत्त्व सिद्ध करे।

सौगताभिमत इन साध्य और साधन अर्थात् ज्ञानत्व और अवभासमानत्व की व्याप्ति किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं है, और दूसरी बात एक यह कि साध्य और साधन के ज्ञानों का व्याप्ति ज्ञान के द्वारा ग्रहण होना माना जाय तो अन्य नील आदि जड़ पदार्थ भी पर के द्वारा (ज्ञान के द्वारा) ग्रहण किये जाते हैं ऐसा सिद्ध होने से अवभासमानत्व हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त होता है। भावार्थ—"विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः" जो हेतु विपक्ष में भी अविरुद्धरूप से रहता है वह हेतु अनैकान्तिक होता है, यहां पर बौद्ध संमत अवभासनत्व हेतु विपक्ष जो पर से प्रति-

भासायोगस्यापि प्रसिद्धेस्तस्याप्यभावः । तथा च तत्प्रतिपादनार्थं प्रकृतहेतूपन्यासो व्यर्थः । अथ सन्तानान्तरं स्वस्य स्वप्रतिभासयोगं स्वयमेव प्रतिपद्यते, जडस्यापि प्रतिभासयोगं तदेव प्रत्येतीति किन्नेष्यते ? प्रतीतेरुभयत्रापि समानत्वात् । अथाऽप्रतिपन्नेपि जडे विचारात्तदयोगः, ननु तेनाप्यस्याविषयीकरणे स एव दोषो विचारस्तत्र न प्रवर्त्तते । 'तत एव वात्र तदयोगप्रतिपत्तिः' इति विषयीकरणे वा विचारवत्प्रत्यक्षादिनाप्यस्य विषयीकरणात्प्रतिभासायोगोऽसिद्धः । न च प्रतिपन्नस्य जडस्य

भासित होना है उसमें चला जाता है, अतः अनैकान्तिक है, आपने कहा था कि जड़ पदार्थ में प्रतिभास का अयोग है—अर्थात् जो जड़ होता है उसका प्रतिभास नहीं होता है, इत्यादि—उस पर प्रश्न होता है कि जड़ में प्रतिभास का अयोग है यह बात जानी हुई है या नहीं ? मतलब—नहीं जानी हुई जड़ वस्तु में प्रतिभास के अभाव का निश्चय करते हो कि जानी हुई जड़ वस्तु में प्रतिभास के अभाव का निश्चय करते हो ? नहीं जानी हुई वस्तु में प्रतिभास के अभाव का निश्चय करना शक्य नहीं है, अन्यथा भिन्न सतान (शिष्य आदि) जो कि जाने हुए नहीं हैं उसमें भी स्वरूप प्रतिभास का अयोग सिद्ध होना मानना पड़ेगा, और इस तरह से प्रतिभास रहित होने से उस संतान का भी अभाव मानना पड़ेगा । फिर उस संतान—अर्थात् शिष्य आदि प्रतिपाद्य के नहीं रहने से प्रतिभासमानत्व हेतु का उपन्यास व्यर्थ होगा । मतलब—जिन्हें आपको अद्वैतवाद समझाना है वे पर—शिष्यादि पदार्थ ही नही हैं तो किसलिये अनुमान प्रयोग करना, अर्थात् प्रतिभासमानत्व हेतु देकर विज्ञानाद्वैतवाद को सिद्ध करना निष्फल ही है ।

बौद्ध—अन्य संतान—शिष्य आदि तो अपने प्रतिभास को आप ही जान लेते हैं ।

जैन—तो वैसे ही जड़ पदार्थ का प्रतिभास संबंध भी वही संतानान्तर अपने आप जान लेगा ऐसा आप क्यों नहीं मानते, क्योंकि प्रतीति दोनों में—संतानान्तर के प्रतिभास में और जड़ के प्रतिभास में समान ही है ।

बौद्ध—जड़ पदार्थ अप्रतिपन्न हैं—यद्यपि नहीं जाने हुए हैं, फिर भी विचार से उनमें प्रतिभास का अयोग सिद्ध किया जाता है ।

जैन—वह विचार भी यदि पदार्थ को विषय नहीं करता है तो वही दोष आवेगा कि विचार भी प्रतिभास के अयोग को नही जानता है, विचार से ही पदार्थों में प्रतिभास का अयोग जाना जाता है—तो इसका मतलब यही निकला कि विचार ने

प्रतिभासायोगप्रतिपत्तिरित्यभिधातव्यम्; 'जडप्रतीतिः, प्रतिभासायोगश्चास्य, इत्यन्योन्यविरोधात् ।

साध्यविकलश्चायं दृष्टान्तः, नैयायिकादीनां सुखादौ ज्ञानरूपत्वासिद्धेः । अस्मादेव हेतोस्तत्रापि ज्ञानरूपतासिद्धौ दृष्टान्तान्तरं मृग्यम् । तत्राप्येतच्चोद्ये तदन्तरान्वेषणमित्यनवस्था । नीलादेर्दृष्टान्तत्वे चान्योऽन्याश्रयः-सुखादौ ज्ञानरूपतासिद्धौ नीलादेस्तन्निदर्शनात्तद्रूपतासिद्धिः, तस्यां च तन्निदर्शनात्सुखादेस्तद्रूपतासिद्धिरिति । न च सुखादौ दृष्टान्तमन्तरेणापि तत्सिद्धिः; नीलादावपि

जड़ को जाना–विषय किया, फिर विचार यदि जड़ को विषय करता है तो प्रत्यक्ष अनुमानादि भी जड़ को विषय करेंगे–जानेंगे, इस तरह उन पदार्थों में प्रतिभास का अयोग–अर्थात् अभाव सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वे पदार्थ तो विचार आदि के विषयभूत हो चुके है ।

यदि जड़ पदार्थ प्रतिपन्न हैं–जाने हुए हैं और उनमें प्रतिभास का अयोग है ऐसा जाना जाता है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यह तो परस्पर सर्वथा विरुद्ध बात है कि जड की प्रतीति है और फिर उसमें प्रतिभास का अयोग है ।

विज्ञान अद्वैतसिद्ध करने के लिये दिये गये अनुमान में जो दृष्टान्त है वह भी साध्य विकल है, देखिये–परवादी जो नैयायिक आदि हैं, उनके यहां सुख आदि में ज्ञानपना नहीं माना है, इसलिये जैसे सुख दुःख आदि ज्ञानरूप हैं वैसे पदार्थ ज्ञान रूप हैं ऐसा आपका दिया हुआ यह उदाहरण गलत होता है। यदि तुम कहो कि इसी प्रतिभासमानत्व हेतु से दृष्टान्तभूत सुखादि में भी ज्ञानपने की सिद्धि हो जावेगी सो भी बात बनती नहीं–क्योंकि यदि दिये गये वे दृष्टान्तभूत सुखादि जो हैं उनमें मूल हेतु से ज्ञानपना सिद्ध करना है तो वे साध्य कोटि में आ जावेंगे अतः दूसरा दृष्टान्त लाना होगा फिर उस द्वितीय दृष्टान्त में भी प्रश्न और उत्तर करने होंगे कि उनमें ज्ञानत्वसिद्ध है या नहीं इत्यादि फिर वह भी साध्य की कोटि में चला जायगा सो उसकी सिद्धि के लिये अन्य और दृष्टान्त देना होगा, इस प्रकार अनवस्था आयगी, इस अनवस्था दोष से बचने के लिये यदि नील आदि जड़ पदार्थ का दृष्टान्त दोगे तो अन्योन्याश्रय दोष आयगा–देखो सुख दुःख आदि में ज्ञानपने की सिद्धि हो तब नील आदि में ज्ञानपना सिद्ध करने के लिये वे दृष्टान्तस्वरूप बन सकेंगे और उस दृष्टान्त के द्वारा नील आदि में ज्ञानत्व की सिद्धि होने पर वे नील आदि पुनः सुख दुःख आदि में ज्ञानत्व सिद्धि के लिये, दृष्टान्त बन सकेंगे। इस अन्योन्याश्रय दोष को हटाने के लिये सुख दुःख आदि में विना दृष्टान्त के ही ज्ञानत्व की सिद्धि मानी जावे तो हम कहेंगे

तथैव तदापत्तेस्तत्र दृष्टान्तवचनमनर्थकमिति निग्रहाय जायेत ।

अथ सुखादेरज्ञानत्वे ततः पीडानुग्रहाभावो भवेत् । ननु सुखाद्येव पीडानुग्रहौ, ततो भिन्नौ वा ? प्रथमपक्षे-क्व ज्ञानत्वेन व्याप्तौ तौ प्रतिपन्नौ; यतस्तदभावे न स्याताम् । व्यापकाभावे हि नियमेन व्याप्याभावो भवति । अन्यथा प्राणादेः सात्मकत्वेन क्वचिद्व्याप्त्यसिद्धावप्यात्माऽभावे स न भवेत् ततः केवलव्यतिरेकिहेतोर्गमकत्वप्रदर्शनमयुक्तम् । तन्नाद्यपक्षः । नापि द्वितीयो यतो यदि नाम

कि वैसे ही अर्थात् बिना दृष्टान्त के हो नील आदि पदार्थ भी ज्ञान स्वरूप सिद्ध मानो फिर आपके द्वारा प्रयुक्त अनुमान में दिया गया दृष्टान्त व्यर्थ हो जाता है और बिना जरूरत के दृष्टान्त देने से आप निग्रह स्थान के पात्र बन जावेंगे ।

भावार्थ—नैयायिकके यहां वस्तुतत्त्व की सिद्धि करने के लिए जो वादी और प्रतिवादी के परस्पर वाद हुआ करते हैं उसमें वाद के २४ निग्रहस्थान—दोष माने गये हैं । उन निग्रहस्थानों का उनके मतमें विस्तार से वर्णन किया गया है । वादी जब अपने मत की सिद्धिके लिये अनुमान का प्रयोग करता है तब उसमें उपयोग से अधिक बचन बोलने से निग्रह स्थान उसकी पराजयका कारण बन जाता है इत्यादि । जैनाचार्य ने इस विषय पर आगे जय पराजय व्यवस्था प्रकरण में खूब विवेचन किया है ।

शंका—सुख दुःख आदि में इस तरह से ज्ञानपने का खण्डन करोगे तो उनसे पीडा और अनुग्रह रूप उपकार नहीं हो सकेगा ?

समाधान—बिलकुल ठीक बात है-किन्तु यह बताओ कि सुख आदि से होने वाले पोड़ा आदि स्वरूप उपकार सुख आदि स्वरूप ही हैं ? अथवा उनसे भिन्न हैं ? यदि अनुग्रह पीड़ा आदिक सुखादिरूप ही हैं ऐसा मानो तो उन पीड़ादिस्वरूप दुःख सुख की ज्ञानपने के साथ व्याप्ति कहां पर जानी है, जिससे कि ज्ञानत्व के अभाव में पीड़ा आदि का अभाव होनेको कहते हो, क्योंकि व्यापक का जहां अभाव होता है वहां पर व्याप्य का भी अभाव माना जाता है, ऐसा नियम है, अतः यहां भी ज्ञानपने के साथ पीड़ा अनुग्रह की व्याप्ति सिद्ध होवे तब तो कह सकते हैं कि ज्ञानपना नहीं है अतः पीड़ा आदि भी नहीं हैं, व्याप्य व्यापक का इस प्रकार नियम नहीं मानोगे तो प्राण आदि अर्थात् श्वासोच्छ्वास लेना आदि हेतु के द्वारा शरीर में आत्मा का सद्भाव किया जाता है, उस अनुमान में प्राणादिमत्त्व हेतु की कहीं कहीं दृष्टान्त में व्याप्ति नहीं देखी जाती है तो भी उस प्राणादिमत्त्व हेतु से यह सिद्ध होता है कि इस हेतु के न

सुखदुःखयोर्ज्ञानत्वाभावः, अर्थान्तरभूतानुग्रहाद्यभावे किमायातम् ?' न खलु यज्ञदत्तस्य गौरत्वाभावे देवदत्ताभावो दृष्टः। ननु सुखादौ जैनस्य प्रकाशमानत्वं ज्ञानरूपतया व्याप्तं प्रसिद्धमेवेत्यप्यसारम्; यतः स्वतः प्रकाशमानत्वं ज्ञानरूपतया व्याप्तं यत्तस्यात्र प्रसिद्धं तन्नीलाद्यर्थे (र्थे) नास्तीत्यसिद्धो हेतुः। यत्तु परतः प्रकाशमानत्वं तत्र प्रसिद्धं तन्न ज्ञानरूपतया व्याप्तम्। प्रकाशमानत्वमात्रं च नीलादावुपलभ्यमानं जडत्वेनाविरुद्धत्वं नैकान्ततो ज्ञानरूपता प्रसाधयेत्।

होनेपर आत्मा भी नहीं होना है, इस प्रकार के केवल व्यतिरेकी हेतु को आपने अगमक माना है, वह अयुक्त हो जायगा।

विशेषार्थ—बौद्ध ने केवल व्यतिरेकी हेतु को अगमक–अपने साध्य को नहीं सिद्ध करनेवाला माना है। उनका कहना है कि "सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्" जीवत् शरीर आत्मा सहित है क्योंकि श्वास आदि क्रिया इसमें हो रही है। जिसमें श्वास आदि की क्रिया नहीं होती उसमें आत्मा भी नहीं होती, जैसे मिट्टीका ढेला, इस अनुमान में जो यह प्राणादिमत्त्व हेतु है वह केवलव्यतिरेकी हेतु है, ऐसे अनुमान को तथा हेतु को जैनाचार्य ने तो सत्य माना है क्योंकि वह अपने साध्यको अवश्य ही सिद्ध करता है, किन्तु बौद्ध का कहना है कि ऐसे हेतु को अनैकान्तिक मानना चाहिये, क्योंकि इस हेतु में सपक्षसत्त्व नहीं रहता है, हेतु में तीन धर्म होना जरूरी है, पक्षधर्म, सपक्ष सत्व और विपक्षव्यावृत्ति, जो केवल व्यतिरेकी होता है उसका सपक्ष नहीं होता, अतः उसे हेत्वाभासरूप वे मानते हैं अब यहां पर आचार्य कहते हैं कि आपने सुख आदि में ज्ञानत्व सिद्ध करने के लिये केवल व्यतिरेकी हेतु दिया है वह कैसे आपको मान्य हुआ ? अर्थात् वह मान्य नहीं होना चाहिये था, सुख आदि ज्ञानरूप हैं क्योंकि वे आत्मा को अनुग्रह आदि करनेवाले होते हैं, जो अनुग्रह आदि नहीं करते वे ज्ञानरूप भी नहीं होते हैं इत्यादि अनुमान के द्वारा सुखादि में ज्ञानत्व सिद्ध किया सो वह तुम बौद्ध के मत के विरुद्ध पड़ता है। इस प्रकार सुखादि पीड़ा अनुग्रह रूप ही ऐसा पहिला पक्ष बनता नहीं है। दूसरा पक्ष–सुख दुःख आदि से पीड़ा अनुग्रह आदि भिन्न है ऐसा मानो तो भी बाधा आती है, देखो–सुख दुःखों में ज्ञानत्व का अभाव माना जाय तो उससे भिन्न स्वरूप पीड़ा आदि में भी क्या ज्ञानत्व का अभाव सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् नहीं हो सकेगा, यदि ऐसा माना जाय तो यज्ञदत्त में गौरपने का अभाव होने से देवदत्त का अभाव भी सिद्ध होवेगा। किन्तु ऐसा तो होता नहीं है।

यदप्युक्तम्-तैमिरिकस्य द्विचन्द्रादिवत्कर्त्रादिकमविद्यमानमपि प्रतिभातीति, तदपि स्वमनोरथमात्रम्; अत्र बाधकप्रमाणाभावात् । द्विचन्द्रादौ हि विपरीतार्थख्यापकस्य बाधकप्रमाणस्य सद्भावाद्युक्तमसत्प्रतिभासनम्, न पुनः कर्त्रादौ; तत्र तद्विपरीताद्वैतप्रसाधकप्रमाणस्य कस्यचिदसम्भवेनाऽबाधकत्वात् । प्रतिपादितश्च बाध्यबाधकभावो ब्रह्माद्वैतविचारे तदलमतिप्रसङ्गेन । अद्वैतप्रसाधकप्रमाण-

---

शंका—जैनों के यहां तो सुख दुःख आदि में प्रकाशमानत्व की ज्ञानत्व के साथ व्याप्ति रहती ही है, उसीसे हम भी मानेंगे ।

समाधान—यह असिद्ध बात कहते हो, क्योंकि हम जैन तो जो स्वतः प्रकाशमानत्व की ज्ञानत्व के साथ व्याप्ति करते हैं वैसी व्याप्ति आपके दृष्टान्तरूप सुखादिकों में तो है किन्तु नील आदि दार्ष्टान्त में तो ज्ञानत्व नहीं मानते हैं, अतः प्रतिभासमानत्व हेतु नीलादिक में असिद्ध ही रहता है, और नील आदि पदार्थों में जो परतः प्रकाशमानत्व माना हुआ है उसकी ज्ञानत्व के साथ व्याप्ति है नहीं, इसलिये जैन के समान आप बौद्ध सुखादि में ज्ञानत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं कर सकते । अद्वैत को सिद्ध करने में दिया गया प्रतिभासमानत्व हेतु में इस प्रकार से स्वतः और परतः दोनों ही तरह से प्रकाशमानत्व सिद्ध नही हुआ, तीसरा पक्ष जो प्रतिभासमानमात्र है उसे यदि हेतु माना जाता है तो इससे आपका मतलब सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि प्रतिभासमान सामान्य तो नीलादि पदार्थों में उपलभ्यमान है ही, उसका जड़पने के साथ कोई विरोध नहीं आता है, इससे तो यही सिद्ध होता है कि नीलादि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं मात्र इतना ही उस प्रतिभाससामान्यरूप हेतु से सिद्ध होता है, यह सिद्ध नहीं होता कि वे नीलादिक ज्ञानरूप हैं । अर्थात् सर्वथा सभी पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं ऐसी व्याप्ति प्रतिभाससामान्य हेतु सिद्ध नही कर सकता है ।

आप विज्ञानाद्वैतवादी ने कहा था कि नेत्र रोगी को द्विचन्द्र के ज्ञान की तरह अविद्यमान भी कर्त्ता कर्म आदि प्रतीति में आते हैं अतः वे झूठे हैं—मिथ्या हैं । सो ऐसा कहना भी गलत है क्योंकि घट आदि पदार्थों में जो कर्त्ता कर्म आदि का भेद दिखता है उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है, द्विचन्द्र प्रतिभास में तो ज्ञान के विषय को विपरीत बतलाने वाला बाधक प्रमाण आता है, अतः उस प्रतिभास को असत्य मानना ठीक है, किन्तु उससे अन्य कर्त्ता आदि में असत्यपना कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रसिद्ध कर्त्ता आदि के विपरीतपने को कहनेवाला आपका अद्वैत किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता है । अतः उस अद्वैत से भेदस्वरूप कर्त्तादिक में बाधा आ

सद्भावे च द्वैतापत्तितो नाद्वैतं भवेत् । प्रमाणाभावे चाद्वैताप्रसिद्धिः प्रमेयप्रसिद्धेः प्रमाणसिद्धिनिबन्धनत्वात् ।

किञ्चाद्वैतमित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः, पर्युदासो वा ? प्रसज्यपक्षे नाद्वैतसिद्धिः । प्रतिषेधमात्रपर्यवसितत्वात्तस्य । प्रधानोपसर्जनभावेनाङ्गाङ्गिभावकल्पनायामपि द्वैतप्रसङ्गः । पर्युदासपक्षेपि द्वैतप्रसक्तिरेव

नही सकती । बाध्यबाधक भाव किस प्रकार सत्य होता है इस बात का विवेचन ब्रह्माद्वैत का विचार–खण्डन करते समय विस्तार पूर्वक कह आये है, इसलिये अब विशेष न कहकर विराम लेते हैं । एक आपत्ति और आपके ऊपर आ पड़ती है कि अद्वैत को आप सिद्ध करने जाते हो तो उसका प्रसाधक प्रमाण मानना जरूरी होता है, इस तरह तो द्वैतवाद होता है–एक अद्वैत और दूसरा उसका प्रसाधक प्रमाण । यदि प्रमाण को नही मानोगे तो अद्वैत सिद्ध नहीं होगा । देखो-प्रमेयको जो सिद्ध करे वही तो प्रमाण है, प्रमाणसिद्धिसे ही प्रमेय की सिद्धि हुआ करती है ।

आपको यह प्रगट करना होगा कि "अद्वैत" में जो "न द्वैतं" ऐसा नञ् समास है सो उसमें नकार का अर्थ प्रसज्य प्रतिषेधवाला है ? कि पर्युदास प्रतिषेधवाला है ? प्रसज्य प्रतिषेधवाला है ऐसा कहो तो अद्वैतसिद्ध नहीं होगा, क्योंकि प्रसज्य प्रतिषेध तो मात्र निषेध करनेवाला है । यदि नकार का अर्थ मुख्य और गौण रूप करो तो "न द्वैतं अद्वैतं" ऐसे अर्थ में नकार मुख्यता से तो द्वैत का निषेध करता है और गौणपने से अद्वैत की विधि भी करता है सो इस प्रकार से विशेष्य विशेषण की कल्पना करने पर भी द्वैत ही स्पष्टरूप से सिद्ध होता है । नञ् समास का अर्थ पर्युदास प्रतिषेधरूप मानो तो भी द्वैतवाद सिद्ध होता है, क्योंकि प्रमाण से निश्चित हुआ–जाना हुआ ऐसा प्रसिद्ध द्वैत का निषेध करके ही अद्वैत की कल्पना करते हो, ऐसा सिद्ध होगा, द्वैत से पृथक् ही कोई अद्वैत है ऐसा कहोगे तो भी द्वैत ही का प्रसंग आता है, द्वैत से अद्वैत अभिन्न है ऐसा कहोगे तो भी द्वैत की ही प्रसक्ति होती है, क्योंकि भिन्न से अभिन्न के अभेद का विरोध है अर्थात् भिन्न और अभिन्न में अभेद नहीं रहता है । इस प्रकार अद्वैतवाद को आप द्वैतवाद से भिन्न नहीं कह सकते हैं । और न अभिन्न ही कह सकते हैं । क्योंकि दोनों पक्षोंमें द्वैत की ही सिद्धि होती है ।

विशेषार्थ—"न द्वैतं अद्वैतं" इस प्रकार से तत्पुरुष समास का एक भेद जो नञ् समास है उससे अद्वैत शब्द बनता है, इसके विग्रह में जो नकार जुड़ा हुआ है उस पर आचार्य ने प्रश्न करके उत्तर दिये हैं कि नकार का अर्थ किस प्रकार करते

प्रमाणप्रतिपन्नस्य द्वैतलक्षणवस्तुनः प्रतिषेधेनाऽद्वैतप्रसिद्धेरभ्युपगमात् । द्वैतादद्वैतस्य व्यतिरेके च द्वैतानुषङ्ग एव । अव्यतिरेकेपि द्वैतप्रसक्तिरेव भिन्नादभिन्नस्याभेदे (द) विरोधात् ।

हो ? निषेध के दो भेद हैं "पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेध कृत्" एक पर्युदास निषेध और दूसरा प्रसज्यप्रतिषेध । इनमें पर्युदासनिषेध सदृश को ग्रहण करता है, इससे तो इस प्रकार सिद्ध होगा कि द्वैत का निषेध करके अद्वैत को स्वीकार करना, किन्तु इस तरह के कथन से द्वैत का सर्वथा निषेध नहीं होता है कि द्वैत कहीं पर भी नहीं है । प्रसज्य प्रतिषेध मात्र निषेध करने में क्षीण शक्तिक हो जाता है, वह तो इतना ही कहता है कि द्वैत नहीं है, किन्तु अद्वैत है ऐसा सिद्ध करना उसके द्वारा शक्य नहीं है, अतः दोनों ही प्रतिषेध अद्वैतवाद को सिद्ध करने में असमर्थ हैं । इसी प्रकार द्वैत को अद्वैत से पृथक् कहें तो द्वैत की ही सिद्धि होती है, क्योंकि यह इससे पृथक् है ऐसा कथन तो दो पदार्थों में होता है, अद्वैत को द्वैत से सर्वथा अभिन्न कहें तो भी वही बात द्वैत की सिद्धि की आ जाती है, तथा द्वैत से अद्वैत को अभिन्न मानने में विरोध भी आता है, अतः किसी भी तरह से अद्वैतमत की सिद्धि नहीं होती है ।

*** विज्ञानाद्वैतवाद का विचार समाप्त ***

विज्ञानाद्वैतवाद के खंडन का सारांश

पूर्वपक्ष-बौद्ध—विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि अविभागी एक बुद्धिमात्र तत्त्व को छोड़कर और कोई भी पदार्थ नही है, इसलिये एक विज्ञानमात्र तत्त्व ही मानना चाहिये, ऐसे ज्ञानमात्रतत्त्व को ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण है, हम लोग अर्थ का अभाव होनेसे एक ज्ञानमात्र तत्त्व को नहीं मानते किन्तु अर्थ और ज्ञान एकट्ठे ही उपलब्ध होते हैं । अतः इनमें हम लोगों ने अभेद माना है । देखिये—"जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है क्योंकि उसकी प्रतीति होती है, जैसे सुखादि नीलादि भी प्रतीत होते हैं अतः वे भी ज्ञानरूप ही हैं" । इस अनुमान के द्वारा समस्त पदार्थ ज्ञानरूप सिद्ध हो जाते हैं । द्वैतवादी जो जैन आदि हैं वे अहं प्रत्यय से नीलादिकों का ग्रहण होना मानते हैं, किन्तु यह अहं प्रत्यय क्या है सो वही सिद्ध नहीं होता, वह प्रत्यय गृहीत है

या अगृहीत है ? निर्व्यापार है कि सव्यापार है ? साकार है या कि निराकार है ? भिन्नकालवाला है या समकालवाला है ? किस रूप है—यदि गृहीत है तो स्वतः गृहीत है या परके द्वारा गृहीत है ? यदि वह स्वतः गृहीत है तो पदार्थ भी स्वतः गृहीत क्यों न माना जाय ? परसे गृहीत है ऐसा माना जाय तो अनवस्था दोष आता है, यदि अगृहीत है तो दूसरे का ग्राहक नहीं बन सकता, निर्व्यापार होकर वह कुछ नहीं कर सकता तो वह दूसरे का ग्राहक कैसे बन सकता है, अर्थात् नहीं बन सकता । यदि वह सव्यापार है तो वह व्यापार उस अहं प्रत्यय से भिन्न है कि अभिन्न है ऐसी कई शंकाएँ होती हैं । निराकार यदि वह है तो वह पदार्थ का ग्राहक कैसे माना जा सकता है, साकार है तो बाह्य पदार्थ काहे को मानना । तात्पर्य यही है कि ज्ञान में ही सब कुछ है, भिन्नकाल में रहकर यदि वह ग्राहक होगा तो सारे प्राणी सर्वज्ञ बन जावेंगे । समकाल में रहकर वह ग्राहक होता है ऐसा माना जाय तो ज्ञान और पदार्थ दोनों ही एक दूसरे के ग्राहक बन जायेंगे । इस तरह अहं प्रत्यय की सिद्धि नहीं होती है, अतः बाह्यपदार्थ को ग्रहण करनेवाला कोई भी प्रमाण न होने से हम ज्ञानमात्र एकतत्व मानते हैं ।

उत्तरपक्ष-जैन—यह सारा विज्ञानतत्त्व का वर्णन बन्ध्यापुत्र के सौभाग्य के वर्णन की तरह निस्सार है । ज्ञानमात्र ही एकतत्त्व है इस बात को आप किस प्रमाण से सिद्ध करते हैं ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो बाह्य पदार्थ के अभाव को सिद्ध करता नहीं है, क्योंकि यह तो बाह्य पदार्थ का साधक बतलाने वाला है । अनुमान से भी बाह्य पदार्थ का अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष से बाधित हो गई है उसमें अनुमान प्रवृत्त होगा तो वह बाधित पक्षवाला अनुमान हो जावेगा । पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध होते हैं इसलिये दोनों एक हैं ऐसा यदि माना जाता है तो वह भी गलत है, क्योंकि यह नियम है नहीं कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ ही हों । देखो—नीलादि पदार्थ नहीं हैं तो भी अन्तरङ्ग में सुखादिरूप ज्ञानका अस्तित्व पाया जाता है । जो साथ हो वह एक हो ऐसी व्याप्ति भी नहीं है, देखा जाता है कि रूप और प्रकाश साथ हैं किन्तु वे एक तो नहीं हैं । सर्वज्ञ का ज्ञान और ज्ञेय एक साथ होने से क्या वे एकमेक हो जावेंगे ? अर्थात् नहीं । आपने बड़े ही जोश में आकर जो अहं प्रत्ययका निराकरण किया है सो वह ठीक नहीं है, क्योंकि इस अहं प्रत्यय से आप छुटकारा नहीं पा सकते हैं, "मैं ज्ञानमात्र तत्व को मानता हूं" ऐसा आप मानते हैं

और अनुभव भी करते हैं तो क्या उसमें "मैं" यह अहं प्रत्यय नहीं है? यह अहं प्रत्यय स्वतः गृहीत है अगृहीत नहीं। अपने को और पर को जानना यही उसका व्यापार है, इसके अतिरिक्त और कुछ उसका व्यापार नहीं है। वह अहं प्रत्यय निराकार है, क्योंकि आगे साकारवाद का निराकरण किया जानेवाला है। यह अहं प्रत्यय भिन्नकाल है कि समकाल है यह प्रश्न तो आप बौद्धों पर ही लागू होता है हम पर नहीं, हमारे यहां तो ज्ञान चाहे समकाल हो चाहे अर्थ के भिन्नकाल में हो वह अपनी योग्यता के अनुसार पदार्थ का ग्राहक माना गया है। ज्ञानमात्र तत्व मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यह होगी कि वह ज्ञान ही ग्राह्य ग्राहक बनेगा, तो जो बाह्य पदार्थ में धरना, उठाना, फोड़ना, पकड़ना आदि कार्य होते देखे जाते हैं वे सब उस ज्ञानतत्त्व में कैसे होंगे। अर्थात् ज्ञानमें आकार मात्र है और कुछ पदार्थ तो है नहीं तो फिर ज्ञान के आकार में उठाने धरने आदिरूप क्रिया कैसे संभव हो सकती है, अतः अन्तरंग अहं रूप तत्त्व तो ज्ञान है और बहिरंग अनेक कार्य जिसमें हो रहे हैं वे बाह्यतत्त्व हैं। ऐसे वे तत्व चेतन अचेतन रूप हैं, इनके माने बिना जगत् का प्रत्यक्ष दृष्ट व्यवहार नहीं सध सकता है। अद्वैतपक्ष में अनगिनती बाधाएँ आती हैं, सबसे प्रथम अद्वैत और उसे सिद्ध करने वाला प्रमाण यह दो रूप द्वैत तो हो ही जाता है। अद्वैत में जो "नञ्" समास है "न द्वैतं अद्वैतं" ऐसा, सो इसमें नकार का अर्थ सर्वथा निषेधरूप है तो शून्यवाद होगा और द्वैत का निषेधरूप है तो वह निषेध विधिपूर्वक ही होगा, इससे यह फलितार्थ निकलता है कि द्वैत कहीं पर है तभी उसका निषेध है, इस प्रकार अद्वैत सिद्ध न होने से विज्ञान मात्र तत्व है यह बात असिद्ध हो जाती है।

*** विज्ञानाद्वैतवाद के खंडन का सारांश समाप्त ***

चित्राद्वैतवादः

*

एतेन "चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिर्बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्, शक्यविवेचनं हि बाह्यं चित्रमशक्यविवेचनास्तु बुद्धेर्नीलादय आकाराः" इत्यादिना चित्राद्वैतमप्युपवर्णयन्नपाकृतः; अशक्यविवेचनत्वस्यासिद्धेः । तद्धि बुद्धेरभिन्नत्वं वा, सहोत्पन्नानां नीलादीनां बुद्ध्यन्तरपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्यैवानुभवो वा, भेदेन विवेचनाभावमात्रं वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्राद्यपक्षे साध्य-

---

विज्ञानाद्वैत का निराकरण होने से ही चित्राद्वैतवाद का भी निराकरण हो जाता है–ऐसा समझना चाहिये ।

चित्राद्वैतवादी का ऐसा कहना है कि बुद्धि (ज्ञान) में जो नाना आकार प्रतिभासित होते है उनका विवेचन करना अशक्य है, अतः वह चित्र प्रतिभासवाला ज्ञान एक ही है अनेक रूप नहीं है, क्योंकि वह बाह्य आकारों से विलक्षण हुआ करता है, बाह्य चित्र नाना आकार जो हैं उनका तो विवेचन कर सकते हैं, किन्तु नील पीत आदि बुद्धि के आकारों का विवेचन होना शक्य नहीं है, मतलब यह है कि यह ज्ञान या बुद्धि है और ये नील पीत आदि आकार हैं ऐसा विभाग बुद्धि में होना अशक्य है, सो इस प्रकार का विज्ञानाद्वैतवादी के भाई चित्राद्वैतवादी का यह कथन भी गलत है, यहां इतना और समझना चाहिये कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होने वाले नील पीत या घट पट आदि आकारों को भ्रान्त-असत्य मानता है और चित्राद्वैतवादी उन आकारों को सत्य मानता है ।

चित्राद्वैतवादी का कथन असत्य क्यों है यह उसे अब आचार्य समझाते हैं कि आप जो बुद्धि के आकारों का विवेचन होना अशक्य मानते हैं सो यह मान्यता असिद्ध है, हम पूछते हैं कि उन आकारों का विवेचन करना अशक्य क्यों है, क्या वे नील पीतादि आकार बुद्धि से अभिन्न हैं । इसलिये, अथवा बुद्धि के साथ उत्पन्न हुए नील

समो हेतुः; तथाहि–यदुक्तं भवति–'बुद्धेरभिन्ना नीलादयस्ततोऽभिन्नत्वात्' तदेवोक्तं भवति 'अशक्यविवेचनत्वात्' इति । द्वितीयपक्षेप्यनैकान्तिको हेतुः; सचराचरस्य जगतः सुगतज्ञानेन सहोत्पन्नस्य बुद्ध्यन्तरपरिहारेण तज्ज्ञानस्यैव ग्राह्यस्य तेन सहैकत्वाभावात् । एकत्वे वा ससारी सुगतः संसारिणो वा सर्वे सुगता भवेयुः, संसारेतररूपता चैकस्य ब्रह्मवादं समर्थयते । अथ सुगत-सत्ताकालेऽन्यस्योत्पत्तिरेव नेष्यते तत्कथमयं दोषः ? नन्वेवं 'प्रमाणभूताय" [प्रमाणसमु० १।१] इत्यादिना केनासौ स्तूयते ? कथं चापराधीनोऽसौ येनोच्यते—

पीत आदि का दूसरी बुद्धि से अनुभव नहीं होकर उसी विवक्षित एक बुद्धि के द्वारा अनुभव होता है इसलिये, या भेदकरके उनके विवेचन होने का अभाव है इसलिये उन आकारों का विवेचन करना अशक्य है ? और अन्य प्रकार से तो अशक्य विवेचनता वहां हो नहीं सकती है, यदि प्रथम पक्ष की अपेक्षा वहां अशक्य विवेचनता मानी जावे तो हेतु साध्यसम हो जाता है, अर्थात्–नीलादिक बुद्धि से अभिन्न हैं क्योंकि वे उससे अभिन्न हैं, इस तरह जो साध्य है वही हेतु हो गया है, अतः साध्य असिद्ध होता है तो हेतु भी साध्यसम–असिद्ध हो गया, साध्य यहां बुद्धि से अभिन्नपना है और उसे ही हेतु बनाया है सो ऐसा हेतु साध्य का साधक नहीं होता है । द्वितीय पक्ष की अपेक्षा लेकर वहां अशक्य विवेचनता मानी जावे तो हेतु में अनैकान्तिकता आती है, अर्थात् अशक्य विवेचन रूप हेतु का अर्थ आपने इस तरह किया है कि बुद्धि के साथ उत्पन्न हुए नीलादि पदार्थ अन्य बुद्धि से ग्रहण न होकर उसी एक विवक्षित बुद्धि के द्वारा अनुभव में आते हैं सो यही अशक्य विवेचनता है–सो इस प्रकार की व्याख्यावाला यह अशक्य विवेचनरूप हेतु इस प्रकार से अनैकान्तिक होता है कि यह सारा जगत् सुगतज्ञान के साथ उत्पन्न हुआ है और अन्य बुद्धि का परिहार करके उसी सुगत की बुद्धि के द्वारा वह ग्राह्य भी है किन्तु वह सुगत के साथ एकरूप नहीं है, इसलिये जो बुद्धि में प्रतिभासित है वह उससे अभिन्न है ऐसा हेतु अनैकान्तिक होता है । तथा– यदि सुगत के साथ जगत् का एकपना मानोगे तो सुगत ससारी बन जायगा, अथवा सारे संसारी जीव सुगतरूप हो जावेगे । संसार और उसका विपक्षी असंसार उन्हें एकरूप मानना तो सुगत को ब्रह्मस्वरूप स्वीकार करना है, पर यह तो ब्रह्मवाद का समर्थन करना हुआ ?

शंका—सुगत के सत्ताकाल में अन्य कोई उत्पन्न ही नहीं होता है अतः सुगत को संसारी होने आदि का दोष कैसे आ सकता है ?

"तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां च महती कृपा" [प्रमाणवा० २।१९९] इत्यादि । न खलु वन्ध्यासुताधीनः कश्चिद्भवितुमर्हति । मार्गोपदेशोपि व्यर्थो विनेयाऽसत्त्वात् । नापि ततः कश्चित्सौगतीं गतिं गन्तुमर्हति । सुगतसत्ताकालेऽन्यस्यानुत्पत्तेस्तत्कालश्चात्यन्तिक इति । बुद्ध्यन्तरपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्यैवानुभवश्चासिद्धः; नीलादीना बुद्ध्यन्तरेणाप्यनुभवात् । ज्ञानरूपत्वात्तत्सिद्धौ चान्योन्याश्रयः—सिद्धे हि ज्ञानरूपत्वे नीलादीनां बुद्ध्यन्तरपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्यैवानुभवः सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च ज्ञानरूपत्वमिति । भेदेन विवेचनाभावमात्रमप्यसिद्धम्; बहिरन्तर्देशसम्बन्धित्वेन

समाधान—यदि सुगत के काल में कोई नहीं रहता है तो फिर आपके प्रमाण समुच्चय ग्रन्थ में ऐसा कैसे लिखा गया है कि "प्रमाणभूताय सुगताय..." प्रमाणभूत सुगत के लिये नमस्कार हो इत्यादि सुगत को छोड़कर यदि अन्य कोई नही है तो नमस्कार कौन करेगा ? किसके द्वारा उसकी स्तुति की जायगी ? तथा–जिनकी महती कृपा होती है वे पराधीन–सुगत के आधीन होते हैं इत्यादि वर्णन कैसे करते हैं ? उसी प्रमाणसमुच्चय ग्रन्थ में आया है कि "सुगत निर्वाण चले जाते हैं तो भी दया से आर्द्र हृदयवाले उन बुद्ध भगवान् की कृपा तो यहां संसार में हमारे ऊपर रहती ही है" इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र सुगत के सत्ताकाल में अन्य सभी प्राणी मौजूद ही थे, यदि सुगतकाल में अन्य कोई नहीं होता तो किसके आधीन सुगत कृपा रहती, क्या बंध्यापुत्र के आधीन कोई होता है ? अर्थात् नहीं होता है । उसी प्रकार पर प्राणी नहीं होते तो उनके आधीन सुगत की कृपा भी नही रह सकती, मोक्षमार्ग का उपदेश देना भी व्यर्थ होगा, क्योंकि विनेय-शिष्य आदिक तो सुगत के सामने रहते ही नहीं हैं । सुगत का उपदेश सुनकर कोई सुगत के समान सुगति को प्राप्त भी नहीं कर सकता, क्योंकि सुगत के कालमें तो अन्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती और वह सुगत काल तो आत्यन्तिक-अंत रहित है । अन्य बुद्धि का परिहार कर एक विवक्षित बुद्धि के द्वारा ही अनुभव में आना अशक्यविवेचन है ऐसा कहना इसलिये असिद्ध है कि नील पीतादिक पदार्थ अन्य अन्य बुद्धियों (ज्ञानों) के द्वारा भी जाने जाते हैं–अनुभव में आते हैं ।

शंका—नील आदि पदार्थ ज्ञानरूप हैं. अतः अन्य बुद्धि के परिहार से वे एक बुद्धि के द्वारा गम्य होते हैं ।

समाधान—ऐसा मानोगे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, नील आदि पदार्थ ज्ञानरूप हैं ऐसा सिद्ध होनेपर तो उनमें अन्य बुद्धि का परिहार कर एक बुद्धि से

नीलतज्ज्ञानयोर्विवेचनप्रसिद्धेः। एकस्याक्रमेण नीलाद्यनेकाकारव्यापित्ववत् क्रमेणाप्यनेकसुखाद्या-कारव्यापित्वसिद्धेः सिद्धः कथञ्चिदक्षणिको नीलाद्यनेकार्थव्यवस्थापक' प्रमातेत्यद्वैताय दत्तो जलाञ्जलिः॥

अनुभव में आना सिद्ध हो और उसके सिद्ध होने पर पदार्थों में ज्ञानपने की सिद्धि हो, ऐसे दोनों ही अन्य अन्य के आधीन होने से एक की भी सिद्धि होना शक्य नहीं है। भेद से विवेचन नहीं कर सकना अशक्य विवेचन है ऐसा जो तीसरा पक्ष है सो वह भी असिद्ध है, क्योंकि बहुत ही अच्छी तरह से बुद्धि और पदार्थ में भेद करके विवेचन होता है, नील आदि वस्तुएँ तो बाहर में स्थित हैं और ज्ञान या बुद्धि अंतरंग में स्थित है इस रूप से इन दोनों का विवेचन होना प्रसिद्ध है ? जिस प्रकार एक ज्ञान में अक्रम से नील पीत आदि अनेक आकार व्याप्त होकर रहते हैं ऐसा तुम मानते हो उसी प्रकार क्रम से भी सुख दुःख आदि अनेक आकार उसमें व्याप्त होकर रहते हैं ऐसा भी मानना चाहिये, अतः नीलादि अनेक अर्थोंका व्यवस्थापक प्रमाता है और वह कथंचित् अक्षणिक है ऐसा सिद्ध होता है, इससे अद्वैत की सिद्धि नहीं होती, किन्तु प्रमाता और प्रमेय ऐसे दो तत्त्व सिद्ध हो जाने से अद्वैत ही निर्बाध है–नाना आकारवाली बुद्धिमात्र–चित्राद्वैत ही तत्व है यह बात खण्डित हो जाती है।

*

चित्राद्वैत का सारांश–

विज्ञानाद्वैतवादी के भाई चित्राद्वैतवादी हैं, इन दोनों की मान्यताओं में अन्तर केवल इतना ही है कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होनेवाली नीलादि आकृतियों को–आकारों को भ्रान्त–झूठ मानता है और चित्राद्वैतवादी उन आकारों को सत्य मानता है। दोनों के यहां अद्वैत का साम्राज्य है। चित्राद्वैतवादी का कहना है कि अनेक नीलादि आकारवाली बुद्धि एक मात्र तत्व है, और कोई संसार में तत्व नहीं है। बाह्य जो अनेक आकार हैं उनका तो विवेचन होता है पर चित्राबुद्धि का विवेचन नहीं होता, क्योंकि उसका विवेचन अशक्य है। इस प्रकार एक चित्रा बुद्धि को ही मानना चाहिये और कुछ नहीं मानना चाहिये, क्योंकि बाह्य पदार्थ मानने में अनेक दोष आते हैं।

आचार्य ने इनसे पूछा है कि अशक्य विवेचन बुद्धि में क्यों है ? क्या नीलादि आकारों का उस बुद्धि से अभिन्न होना इसका कारण है ? या वे आकार उसी एक विवक्षित बुद्धि से ही अनुभव में आते हैं यह कारण है ? प्रथम कारण मानने पर तो हेतु साध्यसम हो जाता है, अर्थात् साध्य "बुद्धि से अभिन्न पदार्थ का होना है" और "अशक्य विवेचन होने से" ऐसा यह हेतु है, सो अशक्यविवेचन और अभिन्न का अर्थ एक ही है, अतः ऐसे साध्यसम हेतु से साध्य सिद्ध नहीं होता और उसके अभाव में चित्राद्वैत गलत ठहरता है, तथा सुगत और संसारी इनके एक होने का प्रसंग भी आता है, अतः क्रम और अक्रम से नीलादि अनेक पदार्थ के आकारवाला ज्ञानयुक्त आत्मा सिद्ध होता है और नीलादि बाह्य पदार्थ भी सिद्ध होते हैं ।

चित्राद्वैतवाद का सारांश समाप्त

शून्याद्वैतवादः

ननु चाक्रमेणाप्येकस्यानेकाकारव्यापित्वं नेष्यते ।

"किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि ।
यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥"

[प्रमाणवा० ३।२१०]

अब यहां पर बौद्ध के चार भेदों में से एक माध्यमिक नामक अद्वैतवादी अपने शून्याद्वैत को सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष रखता है,—कहता है कि हम माध्यमिक बौद्ध तो चित्राद्वैतवादी के समान बुद्धि में एकमात्र अनेक आकार होना भी नहीं मानते हैं–हमारे यहां प्रमाणवार्तिक (ग्रन्थ) में कहा है कि बुद्धि में नाना आकार वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि यदि बुद्धि के नानाकार सत्य हैं तो पदार्थ भेद भी सत्य बन जावेंगे, इसलिये एक बुद्धि में चित्रता अर्थात् नानापना वास्तविक रूप से स्वीकार नही किया है । "एक और नाना" यह तो परस्पर विरुद्ध बात पड़ती है । यदि बुद्धि को एक होते हुए भी नानारूप माना जाय तब तो सारे विश्व को ही एक रूप मानना होगा, उसके लिये भी कहेंगे कि विश्व एक होकर भी नानाकार है इत्यादि, बात यह है कि ज्ञानों का ऐसा ही स्वभाव है कि वे उस रूप अर्थात् नाना रूप नही होते हैं तो भी उस रूप से वे प्रतीत होते हैं, और इस प्रकार के ज्ञानों के स्वभाव के विषय में हम कर भी क्या सकते है अर्थात् यह पूछ नहीं सकते हैं कि ज्ञान नानाकार वाले नहीं होते हुए भी नानाकार वाले क्यों दिखलाते हैं । क्योंकि "स्वभावोऽतर्क गोचरः" वस्तु स्वभाव तर्क के अगोचर होते हैं, इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि बुद्धि में अनेक आकार नहीं हैं । अतः जैन ने जो सिद्ध किया था कि जैसे एक बुद्धि में युगपत् अनेक आकार होते हैं वैसे ही क्रम से भी अनेक आकार उसमें होते हैं इत्यादि, सो यह सब कथन उनका असिद्ध हो जाता है ।

इत्यभिधानात् । तत्कथं तदृष्टान्तावष्टम्भेन क्रमेणाप्येकस्यानेकाकारव्यापित्वं साध्येत ? तदप्यसमीचीनम्; एवमतिसूक्ष्मेक्षिकया विचारयतो माध्यमिकस्य सकलशून्यतानुषङ्गात् । तथा हि-नीले प्रवृत्तं ज्ञानं पीतादौ न प्रवर्त्तते इति पीतादेः सन्तानान्तरवदभावः । पीतादौ च प्रवृत्तं तन्नीले न प्रवर्त्तते इत्यस्याप्यभावस्तद्वत् । नीलकुवलयसूक्ष्मांशे च प्रवृत्तिमज् ज्ञानं नेतरांशनिरीक्षणे क्षममिति तदंशानामप्यभावः । संविदितांशस्य चावशिष्टस्य स्वयमनंशस्याप्रतिभासनात्सर्वाभावः । नीलकुवलयादिसवेदनस्य स्वयमनुभवात्सत्त्वे च अन्यैरनुभवात्सन्तानान्तराणामपि तदस्तु । अथा-

---

जैन—शून्यवादी का यह सब कथन—पूर्वोक्त कथन असमीचीन है। क्योंकि इस प्रकार की सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने वाले आप माध्यमिक के यहां सारे विश्व को शून्य रूप होने का प्रसंग आता है, वह इस प्रकार से—बुद्धि में अनेक आकार नहीं हैं तो जो ज्ञान नील को ग्रहण करता है वह पीत को तो ग्रहण करेगा नहीं, इसलिये पीत आदि का अन्य संतान की तरह अभाव हो जायगा, इसी प्रकार पीत के ग्रहण में प्रवृत्त हुआ ज्ञान नील को ग्रहण नहीं करता है इसलिये नील का भी पीत के समान अभाव होगा, नीलकमल के सूक्ष्म अंशको जानने में प्रवृत्त हुआ ज्ञान उस कमल के अन्य अन्य अशोंको ग्रहण करने में समर्थ नहीं होने से उन अंशों का भी अभाव होगा, तथा संविदित अंश वाले उस कमल के अवशिष्ट जो और अंश हैं कि जो अनंशरूप—है अन्य अंश जिन्हों में नहीं हैं—उनका प्रतिभास नही होने से उनका अभाव होगा, इस तरह सर्व का अभाव हो जायगा।

शंका — नील कमल आदिका संवेदन तो स्वयं अनुभव में आता है अतः उसका अस्तित्व माना जायगा।

समाधान—तो इसी तरह अन्य संतानों का संवेदन भी स्वयं अनुभव में आता ही है अतः उनका अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिये।

शंका — अन्य संतानों के द्वारा अनुभूयमान जो संवेदन है उसका सद्भाव असिद्ध है, अतः उसका सत्त्व नहीं माना जाता है ?

समाधान — तो फिर उन सन्तानान्तरों के संवेदन का निषेध करने वाला कोई प्रमाण नहीं होने से उनका अस्तित्व माना जायगा।

माध्यमिक—संतानान्तर के संवेदन की अर्थात् अन्य व्यक्तिके ज्ञानकी सत्ता असिद्ध होने से ही उसका अभाव स्वीकार किया जाता है ?

न्यैरनुभूयमानसंवेदनस्य सद्भावासिद्धेस्तेषामभावः, तर्हि तन्निषेधासिद्धेस्तेषां सद्भावः किन्न स्यात् ? अथ तत्संवेदनस्य सद्भावासिद्धिरेवाभावसिद्धि ; नन्वेवं तन्निषेधासिद्धिरेव तत्सद्भावसिद्धिरस्तु। भावाभावाभ्यां परसंवेदनसन्देहे चैकान्ततः सन्तानान्तरप्रतिषेधासिद्धेः। कथं च ग्रामारामादिप्रतिभासे प्रतीतिभूधरशिखरारूढे सकलशून्यताभ्युपगमः प्रेक्षावतां युक्तः प्रतीतिबाधनात् ? दृष्टहानेरदृष्टकल्पनायाश्चानुषङ्गात्।

किञ्च, अखिलशून्यतायाः प्रमाणतः प्रसिद्धिः, प्रमाणमन्तरेण वा ? प्रथमपक्षे कथं सकल-

---

जैन—बिलकुल इसी प्रकार से अन्य संवेदन की सिद्धि होगी, देखो—संतानान्तर के संवेदन का निषेध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः उसका अस्तित्व है ऐसा मानने में क्या बाधा है। अर्थात् कुछ भी नहीं है।

माध्यमिक—जैन हमारी बात को नहीं समझे, परके संवेदन का अस्तित्व कैसे स्वीकार करें ? क्योंकि उसको सिद्ध करने वाला प्रमाण आपने नहीं दिया है, और अभी हमने भी उसको बाधा देने वाला प्रमाण उपस्थित नहीं किया है, अतः इस विषय मे संदेह ही रह जाता है।

जैन—ठीक है, किन्तु इससे सर्वथा संतानान्तर का निषेध तो सिद्ध नही हो सकता है, तथा–ग्राम, नगर, उद्यान आदि अनेक पदार्थ प्रत्यक्ष से ही प्रतीतिरूप पर्वत शिखर पर आरूढ हो रहे हैं, अनुभव में आ रहे हैं, तब किस प्रकार सकल शून्यता को माना जाय ? प्रेक्षावान् पुरुष शून्यवाद को कैसे स्वीकार करेगे। अर्थात् नहीं करेंगे। क्योंकि इस मान्यता में बाधा आती है। प्रत्यक्ष सिद्ध बात को नहीं मानना और जो है नहीं उसकी कल्पना करने का प्रसंग आता है। हम आपसे पूछते हैं कि शून्यता को प्रमाण से सिद्ध करते हो कि बिना प्रमाण के ? प्रमाण से सिद्ध करते हो तो शून्यता कहां रही, शून्यता को सिद्ध करने वाला एक प्रमाण तो मौजूद ही है, विना प्रमाण के शून्यता को सिद्ध करना शक्य नही है, क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणसिद्धि के निमित्त से होती है। इस प्रकार शून्यवाद का निरसन हो जाता है।

* शून्याद्वैतवाद समाप्त *

इस प्रकार से प्रभाचन्द्र आचार्य ने ज्ञान के अर्थ "व्यवसायात्मक" इस विशेषण का समर्थन किया, क्योंकि वह प्रतीतिसिद्ध पदार्थोंको जानता है। इस संबंध में उसमें सुनिश्चित असंभवबाधकप्रमाणता है–अर्थात् ज्ञानमें प्रतीतिसिद्ध अर्थ की व्यवसायात्मकता है इस बात में बाधक प्रमाण की असंभवता सुनिश्चित है, इतने पर

शून्यता वास्तवस्य तत्सद्भावावेदकप्रमाणस्य सद्भावात् ? द्वितीयपक्षे तु कथं तस्याः सिद्धिः प्रमेयसिद्धेः प्रमाणसिद्धिनिबन्धनत्वात् ? तदेवं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् प्रतीतिसिद्धमर्थव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्याभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः स्यात् ।

अथेदानीं प्राक् प्रतिज्ञात स्वव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानविशेषणं व्याचिख्यासुः स्वोन्मुखतयेत्याद्याह—

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥

स्वस्य विज्ञानस्वरूपस्योन्मुखतोल्लेखिता तया इतीत्थंभावे भा । प्रतिभासनं संवेदनमनुभवनं स्वस्य प्रमाणत्वेनाभिप्रेतविज्ञानस्वरूपस्य सम्बन्धी व्यवसायः ।

स्वव्यवसायसमर्थनार्थमर्थव्यवसायं स्वपरप्रसिद्धम् 'अर्थस्य' इत्यादिना दृष्टान्तीकरोति ।

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥

भी यदि प्रमाण-ज्ञान में प्रतीतिसिद्ध अर्थ की व्यवसायात्मकता नहीं मानी जाय तो अप्रामाणिकता का प्रसंग प्राप्त होता है ।

अब माणिक्यनंदी आचार्य पहिले कहे ज्ञान के स्वव्यवसायात्मक विशेषण का व्याख्यान करते हुए कहते हैं—

सूत्र — स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥

अर्थ—अपने आपकी तरफ संमुख होने से जो प्रतिभास होता है वही स्वव्यवसाय कहलाता है, "स्वोन्मुखतया" ऐसी यह तृतीया विभक्ति है, सो यह "ज्ञान को अपनी तरफ झुकने से अर्थात् अपने स्वरूप की तरफ संमुख होने से" इस प्रकारके अर्थ में प्रयुक्त हुई है । प्रतिभासन का अर्थ संवेदन या अनुभवन है । प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया जो ज्ञान है उसके द्वारा अपना-व्यवसाय निश्चय करना यह ज्ञान का अपना निश्चय करना कहलाता है । अब ग्रन्थकार इस स्वव्यवसाय विशेषण का समर्थन प्रतिवादी तथा वादी के द्वारा मान्य अर्थ व्यवसायरूप दृष्टान्त के द्वारा करते हैं ।

सूत्र—अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—जिस प्रकार पदार्थ की तरफ झुकने से संमुख होने से पदार्थ का निश्चय होता है अर्थात् ज्ञान होता है, उसी प्रकार अपनी तरफ संमुख होने से ज्ञानको अपना व्यवसाय होता है । सूत्र में "इव" शब्द यथा शब्द के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । मतलब-जैसे घट आदि वस्तु का उसकी तरफ उन्मुख होने पर ज्ञान के द्वारा व्यवसाय होता है वैसे ही ज्ञानको अपनी तरफ उन्मुख होने पर अपना निज का व्यवसाय होता है ।

इवशब्दो यथार्थे । यथाऽर्थस्य घटादेस्तदुन्मुखतया स्वोल्लेखितया प्रतिभासनं व्यवसाय तथा ज्ञानस्यापीति ।

विशेषार्थ—नैयायिक आदि परवादी ज्ञानको अपने आपको जाननेवाला नहीं मानते हैं, सो इस परवादीकी मान्यता को निरस्त करने के लिये आचार्य श्री माणिक्य नंदी ने दो सूत्र रचे हैं। ज्ञान केवल परवस्तुको ही नहीं जानता है, अपितु अपने आपको भी जानता है, यदि ज्ञान स्वयं को नही जानेगा तो उसको जानने के लिए दूसरा कोई ज्ञान चाहिये, दूसरे को तीसरा चाहिये, इस तरह अनवस्था आवेगी तथा सर्वज्ञका भी अभाव हो जायगा, क्योंकि "सर्व जानाति इति सर्वज्ञः" व्युत्पत्ति के अनुसार सबको जाने सो सर्वज्ञ कहलाता है, अतः जिसने स्वयंको नहीं जाना तो उसका ज्ञान सबको जाननेवाला नहीं कहलायेगा। इस प्रकार ज्ञानको स्वसंवेद्य नही माननेसे अनेक दूषण आते हैं। इस विषय पर ज्ञानांतर वेद्य ज्ञान वाद प्रकरण में विशेष विवेचन होने वाला है।

अचेतनज्ञानवादका पूर्वपक्ष

सांख्य ज्ञान को जड मानते हैं, उनका पूर्वपक्षरूप मे यहां पर कथन किया जाता है–पुरुष और प्रकृति ये मूल में दो तत्त्व हैं, प्रकृति को प्रधान भी कहते हैं, प्रधान के दो भेद हैं, व्यक्त और अव्यक्त, अव्यक्त प्रधान सूक्ष्म और सर्वव्यापक है, व्यक्त प्रधान से [प्रकृति से] सारा जगत् रचा हुआ है, व्यक्त प्रधान से सबसे प्रथम महान् नामका तत्त्व उत्पन्न होता है, उसी महान् तत्त्व को बुद्धि या ज्ञान कहा गया है। कहा भी है–प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः, तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (साख्यत० कौ० पृ० ६४, २२) अर्थ–व्यक्त-प्रधान से महान् अर्थात् बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, फिर उससे दश इन्द्रियां, आदि सोलह गण, उन सोलहगणों में अवस्थित पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये ही पच्चीस तत्त्व हैं। इनमें एक पुरुष–चेतन और २४ प्रकृति जड़ के भेद हैं। प्रकृति का प्रथम भेद जो महान् है वही बुद्धि या ज्ञान है, जैसा कि कहा है–"तस्याः प्रकृतेः महानुत्पद्यते, प्रथमः कश्चिद् (महान्-बुद्धिः, प्रज्ञा मतिः संवित्तिः ख्यातिः, चितिः, स्मृतिः, आसुरी, हरिः हरः, हिरण्यगर्भः, इति पर्यायाः)

—माठरवृत्तिः गौडपाद भाष्य।

अर्थात् महान् को ही बुद्धि, स्मृति, मति, प्रज्ञा, संवित्ति आदि नामों से कहा जाता है। उस बुद्धि या ज्ञानका पुरुष अर्थात् जीवात्मा के साथ–चैतन्य के साथ संसर्ग होता है, अतः पुरुष में अर्थात् जीव या आत्मा में ही बुद्धि है ऐसा भ्रम होता है। बुद्धि और पुरुष अर्थात् ज्ञान और आत्मा का ऐसा संसर्ग है कि जैसे लोहे के गोले में अग्नि का है। जिस प्रकार चैतन्य पुरुष में रहता है और कर्तृत्व अन्तःकरण में रहता है फिर भी अन्तःकरण के धर्म का पुरुष में आरोप करके पुरुष को ही कर्त्ता मानने लग जाते हैं उसी प्रकार प्रकृति का धर्म जो बुद्धिरूप है उसका पुरुष में आरोप करके पुरुष को ही ज्ञाता कह देते हैं, कहा भी है–"तस्मात्तत् संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिङ्गम्, गुणकर्तृत्वे ऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः" ॥ २० ॥ यस्माच्चेतनस्वभावः पुरुषः, तस्मात्तत्संयोगाद् अचेतनं महदादि लिङ्गं, अध्यवसाय, अभिमान-संकल्प-आलोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्त्तते। को दृष्टान्तः ? तद्यथा–अनुष्णाशीतो घटः

शीताभिरद्भिः संसृष्टः शीतो भवति, अग्निना संयुक्तो (वा) उष्णो भवति, एवं महदादि लिङ्गमचेतवमपि भूत्वा चेतनावद् भवति (माठरवृत्ति गौडपादभाष्य)" । पुरुष के संसर्ग के कारण ही महान् आदि तत्त्व अचेतन होते हुए भी चेतन के समान मालूम पड़ते हैं । वैसे ही सत्त्व आदि गुणों में ही कर्तृत्व है. तो भी पुरुष को कर्त्ता माना जाता है । अर्थात् चेतन स्वभावी पुरुष के संयोग में अपने से महान् आदि लिङ्ग अध्यवसाय अर्थात् ज्ञान तथा अभिमान, संकल्प, विकल्प, विचार आदि क्रियाओं में चेतन के समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं । जिस प्रकार घड़ा स्वतः न उष्ण है और न शीत है किन्तु शीतल जलके संसर्ग से शीत और अग्नि की उष्णता के संसर्ग से उष्ण कहलाता है, उसी प्रकार महान्-बुद्धि आदि तत्व स्वत. अचेतन होते हुए भी चेतनावान् जैसे बन जाते हैं । इस विवेचन से अच्छी तरह से सिद्ध होता है कि ज्ञान जड़ प्रकृति का धर्म या विवर्त्त है, पुरुष-आत्मा का नहीं है, अतः बुद्धि या ज्ञान अचेतन है । ज्ञान अचेतन इसलिये है कि वह अनित्य है । मूर्तिक-आकारवान् है, और पुरुष नित्य अमूर्त्त का गुण धर्म वाला है । सो इस प्रकार से वह ज्ञान प्रकृति का ही धर्म हो सकता है आत्मा पुरुष का नहीं, क्योंकि पुरुष तो सर्वथा नित्य है कूटस्थ है, अमूर्तिक, अकर्त्ता है, अतः अनित्य ज्ञान उसका होना शक्य नहीं है, हां उसका अध्यारोप पुरुष में अवश्य होता है, उस अध्यारोपित व्यवहार से पुरुष को ज्ञाता, ज्ञानवान्, बुद्धिमान् आदि नामों से कहा जाता है, वास्तविकरूप में पुरुष तो मात्र चैतन्यशाली है । इस प्रकार बुद्धि-ज्ञान-जड़ प्रधान से उत्पन्न होने के कारण अचेतन है, यह निर्बाध सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार से ज्ञान को अचेतन मानने वाले सांख्य (तथा योग का) का पूर्वपक्षरूप कथन समाप्त

अचेतनज्ञानवादः

*

स्यान्मतम्—न ज्ञानं स्वव्यवसायात्मकमचेतनत्वाद् घटादिवत् । तदचेतनं प्रधानविवर्त्तत्वात्तद्वत् । यत्तु चेतनं तन्न प्रधानविवर्तः, यथात्मा, इत्यप्यसङ्गतम्; तस्यात्मविवर्त्तत्वेन प्रधानविवर्त्तत्वासिद्धेः; तथाहि–ज्ञानविवर्त्तवानात्मा द्रष्टृत्वात् । यस्तु न तथा स न द्रष्टा यथा घटादिः, द्रष्टा चात्मा तस्मात्तद्विवर्त्तवानीति । प्रधानस्य ज्ञानवत्त्वे तु तस्यैव द्रष्टृत्वानुषङ्गादात्मकल्पनानर्थक्यम् ।

अब यहां पर सांख्य कहते हैं कि ज्ञान स्वपरव्यवसायात्मक नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, जैसे घट पट आदि पदार्थ अचेतन होने से अपने को नहीं जानते हैं। ज्ञान को हम अचेतन इसलिये मानते हैं कि वह प्रधान की पर्याय है, प्रधान स्वतः अचेतन है, अतः उसकी पर्याय भी अचेतन ही रहेगी, जो चेतन होगा वह प्रधान की पर्याय नही होगा, जैसे आत्मा चेतन है, अतः वह प्रधान की पर्याय नहीं है।

जैन—यह कथन असंगत है, ज्ञान तो साक्षात् आत्मा की पर्याय है, उसमें तो प्रधानपने का अंश भी नही है, देखिये—आत्मा ज्ञानपर्याय वाला है क्योंकि वह द्रष्टा है, जो ज्ञाता नहीं होता वह द्रष्टा भी नहीं हो सकता जैसे कि घट आदि जड़ पदार्थ, आत्मा द्रष्टा है अतः वह अवश्य ही ज्ञान पर्याय वाला है, आप प्रधान को ज्ञानवान् मानोगे तो उसीको द्रष्टा भी कहना पड़ेगा, फिर तो आत्मद्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ हो जावेगा। जिस प्रकार आत्मा में "मैं चेतन हूं" इस प्रकार का अनुभव होता है, अतः वह चेतन स्वभाव वाला माना गया है, उसी प्रकार "मैं ज्ञाता हूं" इस प्रकार का भी आत्मा में अनुभव होता है अतः उसे ज्ञानस्वभाव वाला भी मानना चाहिये, इसमें और उसमें कोई विशेषता नहीं है।

सांख्य—ज्ञान के संसर्ग से "मैं ज्ञाता हूं" इस प्रकार आत्मा में प्रतिभास होता है, न कि ज्ञान स्वभाववाला होने से मैं ज्ञाता हूं ऐसा प्रतिभास होता है?

'चेतनोऽहम्' इत्यनुभवाच्चैतन्यस्वभावतावच्चात्मनो 'ज्ञाताऽहम्' इत्यनुभवाद् ज्ञानस्वभावताप्यस्तु विशेषाभावात्। ज्ञानसंसर्गात् 'ज्ञाताऽहम्' इत्यात्मनि प्रतिभासो न पुनर्ज्ञानस्वभावत्वादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; चैतन्यादिस्वभावस्याप्यभावप्रसङ्गात्। चैतन्यसंसर्गाद्धि चेतनो भोक्तृत्वसंसर्गाद्भोक्तौदासीन्यसंसर्गादुदासीनः शुद्धिसंसर्गाच्छुद्धो न तु स्वभावतः। प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधोभयत्र। न खलु ज्ञानस्वभावताविकलोऽयं कदाचनाप्यनुभूयते, तद्विकलस्यानुभवविरोधात्।

आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वेऽनित्यत्वापत्तिः प्रधानेपि समाना। तत्परिणामस्य व्यक्तस्यानित्यत्वोपगमात् अदोषे तु, आत्मपरिणामस्यापि ज्ञानविशेषादेरनित्यत्वे को दोष? तस्यात्मनः कथञ्चिद-

---

जैन—यह बात बिना विचारे कही गई है, क्योंकि इस प्रकार के कथन से तो आत्मा में चैतन्य आदि स्वभावों का भी अभाव हो जावेगा, वहां भी ऐसा ही कहेंगे कि आत्मा चैतन्य के संसर्ग से चैतन्य है, भोक्तृत्व के संसर्ग से भोक्ता है, औदासीन्य के संसर्ग से उदासीन है और शुद्धि के संसर्ग से शुद्ध है, न कि स्वभाव से वह चेतन आदि रूप है।

सांख्य—चैतन्य आदि के संसर्ग से आत्मा को यदि चेतन माना जायगा तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधा आवेगी, अर्थात् हम प्रत्येक प्राणी जो ऐसा अनुभव करते हैं कि हम चैतन्य विशिष्ट हैं—हमारी आत्मा चैतन्य स्वभाववाली है इत्यादि सो इस अनुभव में बाधा आवेगी।

जैन—इसी प्रकार से यदि ज्ञानसंसर्ग से आत्मा को ज्ञानी मानोगे तो प्रत्यक्ष प्रमाण से वहां पर भी बाधा आती है, क्योंकि यह आत्मा किसी भी काल में ज्ञान स्वभाव से रहित अनुभव में नहीं आती है, कारण कि ज्ञान के विना अनुभव होना ही शक्य नहीं है।

सांख्य—आत्माको ज्ञानस्वभाव वाला मानोगे तो उसे अनित्य होने की आपत्ति आवेगी।

जैन—तो फिर प्रधान के ऊपर भी यही दोष आवेगा, क्योंकि प्रधान को ज्ञान स्वभाव वाला मानते हो, तो वह भी अनित्य हो जावेगा।

सांख्य—प्रधान का एक परिणाम व्यक्त नामका है वह अनित्य है, अतः उसमें ज्ञानस्वभावता मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है।

व्यतिरेके भङ्गुरत्वप्रसङ्गः प्रधानेपि समानः। व्यक्ताव्यक्तयोरव्यतिरेकेपि व्यक्तमेवानित्यं परिणामत्वान्न पुनरव्यक्तं परिणामित्वादित्यभ्युपगमे, अत एव ज्ञानात्मनोरव्यतिरेकेपि ज्ञानमेवानित्यमस्तु विशेषाभावात्। आत्मनोऽपरिणामित्वे तु प्रधानेपि तदस्तु। व्यक्तापेक्षया परिणामि प्रधानं न शक्त्यपेक्षया सर्वदा स्थास्नुत्वादित्यभिधाने तु आत्मापि तथास्तु सर्वथा विशेषाभावात्, अपरिणामिनोऽर्थक्रियाकारित्वासम्भवेनाग्रेऽसत्त्वप्रतिपादनाच्च। स्वसंवेदनप्रत्यक्षाविषयत्वे चास्याः प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं

जैन – तो इसी प्रकार आत्मा के परिणाम ज्ञानविशेष आदि हैं और वे ही अनित्य हैं ऐसा मानने में भी कोई दोष नहीं आता है।

सांख्य—आप जैन कथंचित् वादी हो, अतः आप आत्मा से ज्ञान का कथंचित् अभेद स्वीकार करते हो, इसलिये ज्ञान के निमित्त से आत्मा में अनित्यपने का प्रसंग आता है।

जैन—यही दोष प्रधान पर भी लागू होगा, अर्थात् प्रधान का परिणाम प्रधान से अभिन्न होने के कारण प्रधान में भी परिणाम के समान अनित्यता आ जावेगी।

सांख्य—व्यक्त प्रधान और अव्यक्त प्रधान दोनों अभिन्न हैं तो भी परिणाम रूप होने से महदादि व्यक्त ही अनित्य हैं और अव्यक्त प्रधान परिणामवाला होने से अनित्य नहीं है।

जैन – इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान अभिन्न तो हैं, परन्तु ज्ञान अनित्य है और आत्मा नित्य है। ऐसा सत्य स्वीकार करना चाहिये, दोनों मन्तव्यों में कोई विशेषता नहीं है। यदि आप आत्मा को सर्वथा कूटस्थ-अपरिणामी मानते हो तो प्रधान को भी सर्वथा अपरिणामी मानना होगा।

सांख्य – व्यक्त की अपेक्षा से तो प्रधान परिणामी है, किन्तु शक्ति की अपेक्षा से तो प्रधान अपरिणामी ही है, क्योंकि शक्ति की अपेक्षा तो वह कूटस्थ नित्य है।

जैन—इसी तरह आत्मा में भी स्वीकार करना चाहिये। ज्ञानकी अपेक्षा वह परिणामी है और शक्ति की अपेक्षा वह कूटस्थ है, कोई विशेषता नहीं है। यह बात भी ध्यानमें रखिये कि आत्मा हो चाहे प्रधान हो किसी को भी यदि सर्वथा अपरिणामी मानते हैं तो उसमें अर्थ क्रिया नहीं हो सकती है। जिसमें अर्थ क्रिया (उपयोगिता) नहीं है वह पदार्थ ही नहीं है। ऐसा हम जैन आगे प्रतिपादन ही करने वाले हैं। बुद्धि या ज्ञान को यदि स्वसंवेदन का विषय नहीं माना जाय तो वह ज्ञान प्रतिनियत वस्तुओं

न स्यात् । तद्व्यवस्थापकत्वं हि तदनुभवनम्, तत्कथं बुद्धेरप्रत्यक्षत्वे घटेत् ? आत्मान्तरबुद्धितोपि तत्प्रसङ्गात्, न चैवम् । ततो बुद्धिः स्वव्यवसायात्मिका कारणान्तरनिरपेक्षतयाऽर्थव्यवस्थापकत्वात्, यत्पुनः स्वव्यवसायात्मकं न भवति न तत्तथाऽर्थव्यवस्थापकं यथाऽऽदर्शादीति । अर्थव्यवस्थितौ तस्याः पुरुषभोगापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इत्यभिधानात् । ततोऽसिद्धो हेतुरित्यपि श्रद्धामात्रम्; भेदेनानयोरनुपलम्भात् । एकमेव ह्यनुभवसिद्धं सविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारं विषयव्यवस्थापकमनुभूयते, तस्यैते 'चैतन्यं बुद्धिरध्यवसायो ज्ञानम्' इति पर्यायाः । न च शब्दभेदमात्राद्वास्तवोऽर्थभेदोऽतिप्रसङ्गात् ।

की व्यवस्था कर नहीं सकता है । क्योंकि वस्तु व्यवस्था तो ज्ञानानुभव पर निर्भर है । जब बुद्धि ही अप्रत्यक्ष रहेगी तो उसके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकते हैं । तथा आत्मा का ज्ञान यदि अपने को नहीं जानता है तो उसको अन्य पुरुष का ज्ञान जानेगा, किन्तु ऐसा देखा गया नहीं है । अतः यह अनुमान सिद्ध बात है कि बुद्धि (ज्ञान) स्वव्यवसायात्मक (अपने को जाननेवाली) है । क्योंकि वह अन्य कारण की अपेक्षा के विना ही पदार्थों को ग्रहण करती है–जानती है । जो स्वव्यवसायी नहीं होता है वह पदार्थ की पर निरपेक्षता से व्यवस्था भी नही करता है । जैसे दर्पण आदि कारणान्तर की अपेक्षा के विना वस्तु व्यवस्था नहीं करते हैं । इसीलिये उन्हे स्वव्यवसायी नहीं माना है ।

सांख्य—पदार्थों की व्यवस्था जो बुद्धि करती है वह इसलिये करती है कि वे पदार्थ पुरुष-आत्मा के उपभोग्य हुआ करते हैं । कहा भी है–बुद्धि से जाने हुए पदार्थ का पुरुष अनुभव करता है इसलिये "अन्य कारण की अपेक्षा के विना बुद्धि पदार्थ को जानती है" ऐसा कहा हुआ आपका हेतु असिद्ध दोष युक्त हो जाता है, क्योंकि वह कारणान्तर सापेक्ष होकर ही पदार्थ व्यवस्था करती है ।

जैन—यह श्रद्धामात्र कथन है, क्योंकि बुद्धि और अनुभव इनकी भेदरूप से उपलब्धि नहीं देखी जाती है । अनुभव सिद्ध एक ही ज्ञानरूप वस्तु है जो कि हर्ष, विषाद आदि अनेक आकाररूप से विषय व्यवस्था करती हुई अनुभव में आ रही है, उसी के बुद्धि, चैतन्य, अध्यवसाय, ज्ञान ये सब पर्यायवाची शब्द हैं । इस प्रकार का शब्दमात्र का भेद होनेसे अर्थ में भेद नहीं हुआ करता है । अन्यथा अतिप्रसंग आवेगा ।

सांख्य—बुद्धि और चैतन्य में भेद विद्यमान है, सो भी संबंध विशेष को देखकर विप्रलब्ध हुए व्यक्ति उस भेद को जान नहीं पाते हैं, जैसे अग्नि के संबंध

संसर्गविशेषवशाद्विप्रलब्धो बुद्धिचैतन्ययोः सन्तमपि भेदं नावधारयत्ययोगोलकादिवाग्नेः । न चात्रापि भेदो नास्तीत्यभिधातव्यम्; उभयत्र रूपस्पर्शयोर्भेदप्रतीतेः । अयोगोलकस्य हि वृत्तसन्निवेशः कठिनस्पर्शश्चान्योऽग्नि (ग्ने) र्भासुररूपोष्णस्पर्शाभ्यां प्रमाणतः प्रतीयते । ततो यथात्राऽन्योऽन्यानुप्रवेशलक्षणसंसर्गाद्विभागप्रतिपत्त्यभावस्तथा प्रकृतेपीत्यप्यसाम्प्रतम्; वह्नचयोगोलकयोरप्यभेदात् । अयोगोलकद्रव्यं हि पूर्वाकारपरित्यागेनाग्निसन्निधानाद्विशिष्टरूपस्पर्शपर्यायाधारमेकमेवोत्पन्नमनुभूयते आमाकारपरित्यागेन पाकाकाराधारघटद्रव्यवत् । कथं तर्हि तस्योत्तरकालं तत्पर्यायाधारताया विनाश-

---

विशेष के कारण लोहे का गोला अभिन्न दिखाई देता है, लोहा और अग्निमें भेद नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उन दोनों में रूप तथा स्पर्श का पृथक्पना स्पष्ट ही दिखता है, अर्थात् लोहे का गोला गोल गोल बड़ा होता है, कठोर स्पर्शवाला भी होता है, और अग्नि चमकीले रूपवाली तथा उष्ण स्पर्श युक्त होती है । इस प्रकार प्रत्यक्ष से ही प्रतीत होता है । इसलिये जैसे लोहा और अग्नि इन दोनों में अन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षण संबंध हो जाने से विभाग का ज्ञान नहीं होता है, वैसे ही बुद्धि और चैतन्य में परस्पर अनुप्रवेश होने से भेद नहीं दिखता ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि और लोहे के गोले में भी भेद नहीं रहता, लोहे का गोला अग्नि के संसर्ग से अपने पूर्व आकार का त्यागकर विशिष्ट पर्यायवाला एवं भिन्न ही स्पर्श तथा रूपवाला बन जाता है, जिस प्रकार घट अपने पहिले कच्चे आकार को छोड़कर उत्तरकाल में पाक के आकार को धारण करता है ।

शंका—यदि लोहे का गोला अग्नि ही बन जाता है तो आगे जाकर उस पर्याय को आधारता का विनाश कैसे दिखाई देता है ?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि उस लोहे के गोले का जो अग्निरूप परिणमन हुआ है वह तत्काल ही नष्ट होता हुआ नहीं देखा जाता है । देखिये—अनेक प्रकार के परिणमन और संबंध वस्तुओं में पाये जाते हैं, कोई वस्तु तो कुछ परिणमन-उपाधि का कारण मिलने पर उस उपाधिरूप बन जाती है और उपाधि के हटते ही तत्काल उस परिणमन या पर्याय से रहित हो जाती है, जैसे जपापुष्प का सम्बन्ध पाकर स्फटिक तत्काल लाल बन जाता है और उसके हटते ही तत्काल अपने सफेद स्वभाव में आ जाता है । अन्य कोई वस्तु का परिणमन इस प्रकार भी होता है कि वह कुछ काल तक बना रहता है, जैसे सुन्दर स्त्री माला आदि विषयों के सम्बन्ध से आत्मा में सुख पर्याय कुछ समय तक बनी रहती है, पदार्थों का यह

प्रतीतिः ? इत्यप्यचोद्यम्; उत्पत्त्यनन्तरमेव तद्विनाशाप्रतीतेः। किञ्चिद्धयौपाधिक वस्तुरूपमुपाध्यपाशमनन्तरमेवापैति, यथा जपापुष्पसन्निधानोपनीतस्फटिकरक्तिमा। किञ्चित्तु कालान्तरे, मनोज्ञाङ्गनादिविषयोपनीतात्मसुखादिवत्। सकलभावानां स्वतोऽन्यतश्च निवर्त्तनप्रतीतेः। तत्राग्न्ययोगोलकयोर्भेदः।

तद्वदिहाप्येकस्मिन् स्वपरप्रकाशात्मपर्यायेऽनुभूयमाने नान्यसद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा न क्वचिदेकत्वव्यवस्था स्यात्। सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गश्च; अनिष्टार्थपरिहारेणेष्टे वस्तुन्येकस्मिन्ननु-

---

परिणमन स्वतः और पर से भी होता है, इस प्रकार अग्नि और लोहे का गोला इनमें सम्बन्ध के बाद कुछ समय तक भेद नहीं रहता है यह सिद्ध हुआ।

विशेषार्थ—सांख्य का कहना है कि बुद्धि या ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है वह तो प्रधान–जड़ का धर्म है, उस धर्म का आत्मा से संसर्ग होता है, इसलिये आत्मा में ज्ञान है ऐसा मालूम पड़ता है। संसर्ग के कारण ही आत्मा में और बुद्धि में अभेद दिखाई देता है, जैसे कि लोहे का गोला अग्नि का संसर्ग पाकर अग्निरूप ही दिखता है। आचार्य ने उनको समझाया है कि यह अग्नि और लोहे का दृष्टान्त यहां पर फिट बैठता नहीं है, क्योंकि जिस समय लोहा अग्नि का संसर्ग करता है उस समय लोहा और अग्नि में भेद रहता ही नही है, मतलब–वे दोनों एक रूप ही हो जाते हैं, हम जैन आपके समान द्रव्य को कूटस्थ नित्य नही मानते हैं, विकारी द्रव्य की जो पर्याय जिस समय जैसी होती है द्रव्य भी उस समय वैसा ही बनता है, उस पर्याय से द्रव्य का कोई न्यारा अस्तित्व नही रहता है। अतः अग्नि और लोहे का दृष्टान्त आत्मा और ज्ञान पर लागू नहीं होता है।। जैसे अग्नि और लोहे का संपर्क होने पर उनमें कोई भेद नही रहता वह उसी अग्नि रूप ही हो जाता है, वैसे ही आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है एक ही वस्तु है, ज्ञान और चैतन्य एक ही स्वपर प्रकाशात्मक पर्यायस्वरूप अनुभव में आ रहा है, उसमें अन्य किसी का सद्भाव नहीं मानना चाहिये, यदि पदार्थ एक रूप दिखाई दे रहा है तो भी उसको अनेक रूप मानेंगे तो कहीं पर भी एकपने की व्यवस्था नही रहेगी–संपूर्ण व्यवहार भी समाप्त हो जावेगा, क्योंकि अनिष्ट वस्तु का परिहार करके किसी एक इष्ट वस्तु के अनुभव होनेपर भी शंका रहेगी कि क्या मालूम यह और कुछ दूसरी वस्तु तो नहीं है। इस तरह संशय बना रहने से कहीं पर भी अपनी इष्ट वस्तु को लेने के लिये प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, भावार्थ–अभिन्न एक वस्तुरूप जो चैतन्य और बुद्धि है उसमें भी यदि भेद माना जाय तो किसी स्थान पर किसी भी एक वस्तु में एकत्व का निश्चय नहीं हो

भूयमानेऽन्यसद्भावाशङ्कया क्वचित्प्रवृत्त्याद्यभावात् । ततोऽबाधितैकत्वप्रतिभासादपरपरिहारेणाव-भासमाने वस्तुन्येकत्वव्यवस्थामिच्छता अनुभवसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनेकधर्माधारचिद्विवर्त्तस्याप्येक-त्वमभ्युपगन्तव्यं तदविशेषात् । न चात्रैकत्वप्रतिभासे किञ्चिद्बाधकम्, यतो द्विचन्द्रादिप्रतिभासवन्मि-थ्यात्वं स्यात् । स्वसंवेदनप्रसिद्धस्वपरप्रकाशरूपचिद्विवर्त्तव्यतिरेकेणान्यचैतन्यस्य कदाचनाप्यप्रतीते: । न चोपदेशमात्रात्प्रेक्षावतां निर्बाधबोधाधिरूढोऽर्थोऽन्यथा प्रतिभासमानोऽन्यथापि कल्पयितुं युक्तोऽति-

---

सकेगा, फिर तो कहीं इष्ट भोजन स्त्री आदि वस्तुओं को देखकर उसमें भी सर्प, विष आदि की शंका के कारण लेना, खाना आदि रूप प्रवृत्ति नही हो सकेगी ।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि जहां अबाधितपने से एकपने का प्रतिभास है, अन्य वस्तु का परिहार करके एकत्व प्रतीत हो रहा है वहां पर एकरूप एक ही वस्तु को मानना, इस तरह की वस्तु व्यवस्था को चाहते हुए सभी को अनुभव से जिसकी सिद्धि है ऐसे कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अनेक धर्मों का आधार ऐसा एक चैतन्य है उस चैतन्य का ही धर्म बुद्धि है, इसी का नाम ज्ञान है । इस प्रकार मानना चाहिये, क्योंकि चैतन्य और बुद्धि में कोई आधार आदि का पृथक्पना या अन्य विशेषता नहीं देखी जाती है अर्थात् जहां पर चैतन्य का प्रतिभास है वहीं पर बुद्धि का भी प्रतिभास या उपलब्धि देखी जाती है, इन चैतन्य और बुद्धि में जो एकपना प्रतीत होता है उसमें कोई बाधा भी नही आती है, जब बाधा नही है तब किस कारण से उस प्रतिभास को द्विचन्द्रादि ज्ञान के समान मिथ्या माना जाय ? अर्थात् नहीं मान सकते हैं । स्वसंवेदन ज्ञान से यह प्रसिद्ध ही होता है कि स्वपर प्रकाशरूप अर्थात् अपना और पर पदार्थोंका जाननारूप ही पर्याय जिसकी है, ऐसा चैतन्य ही है, इस स्वपर प्रकाशक धर्म को छोड़कर अन्य किसी रूप से भी उस चैतन्य की प्रतीति नही आती है । अर्थात् चैतन्य को छोड़कर बुद्धि और बुद्धि को छोड़कर चैतन्य पृथक्रूप से कभी भी प्रतिभासित नहीं होते हैं । किसी के उपदेश या आगममात्र से बुद्धिमान् व्यक्ति निर्बाधज्ञान में प्रतिभासित हुए पदार्थ को विपरीत नहीं मान सकते हैं । अर्थात् किसी के काल्पनिक उपदेश से प्रत्यक्ष प्रतीति में आये हुए पदार्थ को अन्य का अन्यरूप मानना युक्त नहीं होता है, अन्यथा अतिप्रसंग आता है । चैतन्य स्वरूप पुरुष ही जब अपना और पदार्थों का प्रकाशन–जानना रूप कार्य करता हुआ उपलब्ध हो रहा है तब उससे बुद्धि को पृथक् मानने में क्या प्रयोजन है और उस बुद्धि युक्त प्रधान तत्त्व की कल्पना भी किसलिये की जाय ? अर्थात् आत्मा से बुद्धि को भिन्न मानने में कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं

प्रसङ्गात् । चैतन्यस्य च स्वपरप्रकाशात्मकत्वे किं बुद्धिसाध्यं येनासौ कल्प्यते ?

बुद्धेश्चाचेतनत्वे विषयव्यवस्थापकत्वं न स्यात् । आकारवत्त्वात्तत्त्वमित्यप्ययुक्तम्; अचेतनस्याकारत्वे (रवत्त्वे)प्यर्थव्यवस्थापकत्वासम्भवात्, अन्यथाऽऽदर्शादेरपि तत्प्रसङ्गादबुद्धिधरूपतानुषङ्गः। अन्तःकरणत्व-पुरुषोपभोगप्रत्यासन्नहेतुत्वलक्षणविशेषोपि मनोऽक्षादिनानैकान्तिकत्वान्न बुद्धेर्लक्षणम् । यदि च प्रयमेकान्तः-'अन्तःकरणमन्तरेणार्थमात्मा न प्रत्येति' इति, कथं तर्हि अन्तः-करणप्रत्यक्षता ? अन्यान्तःकरणबिम्बादेवेति चेत्; अनवस्था । अन्यान्तःकरणबिम्बमन्तरेणान्त करणप्रत्यक्षतायां च

होता है । बुद्धि को प्रधान का धर्म मानने से एक बड़ी आपत्ति यह आवेगी कि वह अचेतन होने से विषयों की व्यवस्था नहीं कर सकेगी ।

सांख्य—वह बुद्धि आकार धर्मवाली है अर्थात् उसमें पदार्थ का आकार रहता है । अतः वह विषय व्यवस्था करा देती है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि अचेतन ऐसी जड़ बुद्धि आकार वाली होने पर भी पदार्थ की व्यवस्था को अर्थात् जानने रूप कार्य को जो यह घट है यह इससे भिन्न पट है ऐसी पृथक् पृथक् वस्तुओं की व्यवस्था को नहीं कर सकती है । क्योंकि वह अचेतन है । आकार धारण करने मात्र से यदि वस्तु का जानना भी हो जाय तो दर्पण, जल आदि पदार्थ भी बुद्धि रूप मानना चाहिये, क्योंकि आकारों को तो वे जड़ पदार्थ भी धारण करते हैं ।

विशेषार्थ—सांख्य ने बुद्धि को जड़तत्त्व जो प्रधान है उसका धर्म माना है । इसलिये आचार्य ने कहा कि अचेतन रूप बुद्धि से पदार्थों का जानना, सब विषयों की पृथक् पृथक् व्यवस्था करना आदि कार्य कैसे निष्पन्न हो सकेंगे । इस पर सांख्य यह जबाब देता है कि बुद्धि अचेतन भले ही रहे किन्तु वह आकारवती होने से विषयव्यवस्था कर लेती है, तब इसका खंडन आचार्यदेव ने दर्पण के उदाहरण से किया है, दर्पण में भी आकार होता है–अर्थात् पदार्थों का आकार दर्पण में रहता है, किन्तु वह वस्तु व्यवस्था नहीं कर सकता है, आकार होने मात्र से वह पदार्थ को यदि जानने लग जाय तब तो जल काच आदि जितने भी पदार्थ पारदर्शी हैं वे सब के सब बुद्धिरूप बन जावेंगे । अतः आकारवान् होने से बुद्धि पदार्थ को जानती है यह बात सिद्ध नहीं होती है ।

सांख्य—जो अन्तःकरण रूप हो वह बुद्धि है अथवा जो पुरुष के उपभोग का निकटवर्ती साधन हो वह बुद्धि है ।

अर्थप्रत्यक्षतापि तथैवास्त्वलं तत्परिकल्पनया । अन्तःकरणप्रत्यक्षताभावे च कथं तद्गतार्थबिम्ब-ग्रहणम् ? न ह्यादर्शाग्रहणे तद्गतार्थप्रतिबिम्बग्रहणं दृष्टम् ।

विषयाकारधारित्वं च बुद्धेरनुपपन्नम्, मूर्त्तस्यामूर्त्ते प्रतिबिम्बासम्भवात् । तथा हि—न विषयाकारधारिणी बुद्धिरमूर्त्तत्वादाकाशवत्, यत्तु विषयाकारधारि तन्मूर्त्तं यथा दर्पणादि । न चासिद्धो हेतुः; तस्या सकलवादिभिरमूर्त्तत्वाभ्युपगमात् । अन्यथा बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गो दर्पणा-

---

जैन—ऐसा कहना भी सदोष है, देखिये—अन्तःकरण—आत्मा का अन्दर का करण तो मन भी है पर वह बुद्धिरूप नहीं है, अतः आत्मा का अन्दर का जो करण हो वह बुद्धि है ऐसा कथन सदोष—अनैकान्तिक दोष से युक्त हो जाता है, इसी प्रकार से जो पुरुष—आत्मा का उपभोग का निकटवर्ती साधन हो वह बुद्धि है ऐसा लक्षण भी अतिव्याप्ति दोष वाला है, क्योंकि इन्द्रियां भी पुरुष के उपभोग में निकट साधन होकर भी बुद्धिरूप नहीं हैं, आप सांख्य का यदि ऐसा ही एकान्त पक्ष हो कि आकार वाली बुद्धि के विना पदार्थ को आत्मा कैसे जानेगा ? सो इस पक्ष पर हम जैन का कहना है कि उस आकार वाली बुद्धि को कौन जानेगा ? यदि अन्य किसी आकार वाली बुद्धि उस विवक्षित बुद्धि को जानती है तो इस मान्यता में अनवस्था आती है, यदि कहा जावे कि उस बुद्धि को जानने के लिये अन्य बुद्धि की आवश्यकता पड़ती नही है, वह तो आप ही प्रत्यक्ष हो जाती है, तब तो पदार्थों का प्रत्यक्ष होना भी अपने आप से ही हो जाना चाहिये, फिर बेकार की उस जड़ बुद्धि को काहे को माना जाय । यदि कहा जावे कि बुद्धि को प्रत्यक्ष मानने की आवश्यकता नहीं तो ऐसा कहना भी युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार दर्पण को विना ग्रहण किये उसमें रहे हुए प्रतिबिम्ब को ग्रहण नही किया जा सकता है उसी प्रकार बुद्धिको ग्रहण किये विना पदार्थ के आकार को प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं किया जा सकता—नहीं जाना जा सकता है ।

बुद्धि में विषयों का—सामने के बाहिरी जड़ पदार्थों का आकार आता है सो यह बात इसलिये भी नहीं युक्ति युक्त प्रतीत होती है कि ज्ञान तो—(बुद्धि तो) अमूर्त है, अमूर्त वस्तु में मूर्तिक का—विषयभूत पदार्थों का प्रतिबिम्ब—आकार पड़ना असंभव है । अनुमान प्रमाण से यही बात सिद्ध होती है—अमूर्त होने से बुद्धि विषयों के आकार को अमूर्त आकाश की तरह धारण नहीं करती है, जो विषय के आकार को धारण करता है वह दर्पणादि की तरह मूर्तिक होता है, यहां जो अमूर्तत्व हेतु है वह असिद्ध नहीं है क्योंकि सभी वादियों ने बुद्धिको अमूर्त माना है । यदि वह मूर्तिक होती तो दर्पणादि की तरह बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने में आती ।

श्चिवदेव । अतिसूक्ष्मत्वात्तदप्रत्यक्षत्वे तद्गतार्थप्रतिबिम्बप्रत्यक्षतापि न स्यात्, मूर्तस्य चेन्द्रियादिद्वारेणैव संवेदनसम्भवात् । तदभावेऽसंविदितत्वप्रसङ्गश्च । सर्वथा परोक्षत्वाभ्युपगमे चास्या मीमांसकमतानुषङ्गः ।

शंका—बुद्धि अतिसूक्ष्म है, इसलिये वह अप्रत्यक्ष रहती है, अर्थात् बाह्येन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने में नहीं आती।

समाधान—तो फिर उसकी अप्रत्यक्षता में उस बुद्धि में पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब –आकारहै उसे भी अप्रत्यक्ष ही रहना चाहिये–बाह्येन्द्रिय द्वारा उसका भी ग्रहण नहीं होना चाहिये, इस तरह यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो मूर्तिक होता है उसका बाह्य इन्द्रियादि द्वारा ही सवेदन होता है, और किसी के द्वारा नहीं, यदि बुद्धि का इन्द्रिय से या अन्य किसी से ग्रहण होना नहीं माना जाय तो वह असंविदित हो जायगी और इस तरह उसकी सर्वथा असंविदितता में–सर्वथा परोक्षरूपता में आपका प्रवेश मीमांसक मत में हो जावेगा, अतः आपका बुद्धि को–(ज्ञान को) अचेतन मानना किसी भी युक्ति से सिद्ध नहीं होता है।

*** सांख्याभिमत अचेतनज्ञानवाद का खंडन समाप्त ***

*

अचेतनज्ञानवाद के खंडन का सारांश

सांख्य ज्ञान को अचेतन मानते हैं, उनका कहना है कि प्रधान (प्रकृति) महान् बुद्धि को उत्पन्न करता है अतः वह अचेतन है। हां उस महान्‌रूप बुद्धि का संसर्ग पुरुष के साथ होता है, इसलिये हमें यह आत्मारूप मालूम पड़ती है। जैसे लोहे का गोला और अग्नि भिन्न होकर भी अभिन्न दिखाई देते हैं। दूसरा एक कारण और है कि बुद्धि आकारवती है अतः वह अचेतन है। चेतन में आकार नहीं है। सो इस मत का खंडन आचार्य ने इस प्रकार से किया है कि ज्ञान चेतन का धर्म है जैसा कि देखना द्रष्टत्व धर्म चेतन का है, कर्तृत्व आदि धर्म भी चेतन के ही हैं। आपने जो ऐसा कहा कि बुद्धि आत्मा के साथ संसर्गित होने से चेतनरूप मालूम पड़ती है सो चेतन के बारे में भी ऐसा ही कह सकते हैं अर्थात् चेतन के संसर्ग से आत्मा चेतन दिखाई देता है,

किन्तु वास्तविक चेतन प्रधान का धर्म है, ऐसी विपरीत मान्यता भी माननी पड़ेगी ! तुम कहो कि आत्मा में ज्ञान स्वत: माने तो आत्मा अनित्य हो जायगा इसलिये ज्ञान से भिन्न आत्मा को माना है सो भी ठीक नहीं क्योंकि यही दोष प्रधान में भी आता है अर्थात् प्रधान में बुद्धि मानी जाय तो वह भी अनित्य हो जायगा, इस पर सांख्य ने युक्ति दी है कि बुद्धिरूप विवर्त्त अव्यक्त प्रधान से पृथक् है तो फिर ऐसे ही आत्मा में मानो, कोई विशेषता नहीं, आत्मा भी अपने ज्ञानरूप स्वपर संवेदन से कथंचित् भिन्न है, अत: यह तो नित्य है और बुद्धि अर्थात् ज्ञान अनित्य है। बुद्धि यदि अचेतन है तो वह प्रतिनियत वस्तु को जान नहीं सकती है, जैसे दर्पण। बुद्धि और चैतन्य में कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता है, व्यर्थ ही उसमें भिन्नता मानते हो। अग्नि और लोहे का दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि जब लोहा अग्नि के साथ संबंध करता है तब वह खुद ही अपने कठोरता, कृष्णता आदि गुणों को छोड़कर उष्णादिरूप हो जाता है, इसलिये इनमें सर्वथा भेद नहीं है। बुद्धि में विषय का आकार मानना भी गलत है, क्योंकि बुद्धि तो अमूर्त है, उसमें मूर्त आकार कैसे आ सकता है ? बुद्धि के जो लक्षण किये गये हैं वे भी सदोष हैं। प्रथम लक्षण यह है कि अन्त:करण रूप जो हो वह बुद्धि है सो यह लक्षण मत में चला जाता है अत: अतिव्याप्त है, तथा पुरुष के उपभोग्य की निकटता का जो कारण है वह बुद्धि है सो ऐसा यह लक्षण इन्द्रियों के साथ अतिव्याप्त हो जाता है। इसलिये सदोष–लक्षण अपने लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता, अन्त में सार यही है कि बुद्धि, आत्मा–पुरुष का धर्म है उसी के ज्ञान, अध्यवसाय, प्रतिभास, प्रतीति आदि नाम हैं।

*** सारांश समाप्त ***

साकारज्ञानवाद पूर्वपक्ष

जिस प्रकार हम बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं उसी प्रकार प्रमाण मात्र को अर्थाकार होना भी मानते हैं। अर्थात् ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है वह उसी के आकार वाला होता है। इसे ही तदुत्पत्ति तदाकार होना कहते हैं। ज्ञान नील आदि पदार्थ से उत्पन्न होता है यह उसकी तदुत्पत्ति है और वह उसी के आकार को धारण करता है यह उसकी तदाकारता है, जब ज्ञान उस नील आदि से उत्पन्न होता है और उसी के आकार को धारण करता है तब ही वह उसे जान सकता है और तभी वह सत्य की कोटि में आता है, यही तदध्यवसाय है, जैन आदि प्रवादी ज्ञान को तदाकार होना—पदार्थ के आकार होना नहीं मानते हैं, अतः उनके मत में अमुक ज्ञान अमुक वस्तु को ही जानता है ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती है, अब आगे ज्ञान साकार है—पदार्थ को जानते समय पदार्थ के आकार हो जाता है इस बात को बौद्धों की मान्यता के अनुसार सप्रमाण सिद्ध किया जाता है—

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ॥ २० ॥

अर्थेन सह यत् सारूप्यं सादृश्यं अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणम् इह यस्माद्वि विषया द्विज्ञानमुदेति तद्विषयसदृशं तद्भवति, यथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशं, तच्च सारूप्यं सादृश्यं आकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते ॥२०॥ न्यायबिन्दु पृ० ८४

अर्थ—ज्ञान का जो पदार्थ के आकार होता है वही उसका प्रमाणपना है अर्थात् ज्ञान जिस विषय से उत्पन्न होता है उसी विषय के आकार को धारण करता है। जैसे—नील पदार्थ से उत्पन्न हुआ ज्ञान नील सदृश ही बनता है, इसी सारूप्य को सादृश्य, आकार आभास इत्यादि नामों से पुकारा जाता है, अन्यत्र भी यही कहा है—

तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥ (प्रमाणवार्तिक) प्रमेय को जानने से ही प्रमाण का मेयाकार—पदार्थाकार होना सिद्ध होता है।

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
अन्यत् स्वभेदो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथंचने ॥ ३०५ ॥

—प्रमाणवार्तिक

अर्थ—यह जो निर्विकल्प बुद्धिका अर्थाकार होता है वही तो पदार्थ के साथ संबंध जोड़ने वाला है, ज्ञान यदि पदार्थाकार न होवे तो उसमें घटज्ञान पटज्ञान इत्यादि भेद हो ही नहीं सकता। "न वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता तस्याः सर्वत्रा विशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूप यत्तद्घ घटयेत्"॥ भामती पृ० ५४२॥ अर्थात् केवल विशुद्ध निराकार ज्ञान होने से ही यह नील है इस प्रकार से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वह ज्ञान तो सभी अर्थों में समानरूप से होता है, किन्तु वस्तु का सारूप्य जब उस ज्ञान में हो जाता है तब वह उस ज्ञान को वस्तु के आकार वाला बना देता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई वस्तु ज्ञान का विषय इसलिये नहीं मानी जाती कि ज्ञान उसे ग्रहण करता है, अपितु जो ज्ञान जिस वस्तु से उत्पन्न होता है तथा जिसके सदृश होता है वही वस्तु उस ज्ञान का विषय कहलाती है।

तत्सारूप्यतदुत्पत्तिभ्यां विषयत्वम्।
तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते॥

—प्रमाणवार्तिक पृ० २२४

तथा—स एव विषयो य आकारमस्यामर्पयति॥ (न्यायवार्तिकता. पृ० ३८८) बुद्धि या ज्ञान के विषय में प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थों में इसी प्रकार का वर्णन मिलता है, कि ज्ञान जिस वस्तु के आकार का हुआ है वही वस्तु उस ज्ञान के द्वारा ग्राह्य—ग्रहण करने योग्य या जानने योग्य हुआ करती है। अन्य नहीं, जो पदार्थ ज्ञान में अपना आकार अर्पित करता है वही उसका विषय है, अन्य नहीं, इसीलिये अनेक पदार्थ हमारे सामने उपस्थित होते हुए भी ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न हुआ है और जिसके आकार को धारण किये हुए है उसी को मात्र वह जानता है, अन्य अन्य पदार्थ को नहीं। यहां यदि कोई प्रश्न करे कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है और उसके आकार को धारण करता है तो उसे इन्द्रिय के आकार भी होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान जैसे पदार्थ से उत्पन्न होता है वैसे वह इन्द्रिय से भी उत्पन्न होता है ? सो उसका उत्तर इस प्रकार है—

यथैवाहारकालादेः समानेऽपत्यजन्मनि।
पित्रोस्तदेकमाकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित्॥

—प्रमाणवार्तिक पृ० ३६६

जिस प्रकार आहार समय आदि अनेक कारण बालक के जन्म में समानरूप से निमित्त हुआ करते हैं किन्तु उन सबमें से माता या पिता इन दो में से किसी एक के आकार–शकल को बालक धारण करता है, अन्य कारण का आकार वह धारण नहीं करता, ठीक इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रिय पदार्थ आदि कारणों से उत्पन्न होते हुए भी इनमें से पदार्थ के ही आकार को धारण करता है, इन्द्रियादि के आकार को नहीं।

खास बात तो यही है कि यदि ज्ञान को निराकार माना जावे तो प्रतिकर्म व्यवस्था समाप्त हो जाती है, कहा भी है—

"किमर्थं तर्हि सारूप्यमिष्यते प्रमाणम् ? क्रियाकर्म व्यवस्थायास्तल्लोके स्यान्निबंधनम्......

सारूप्यतोऽन्यथा न भवति नीलस्य कर्मणः संवित्तिः पीतस्य वेति क्रियाकर्म प्रतिनियमार्थं इष्यते" ।। प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ११६

यदि कोई पूछे कि बौद्ध ज्ञान को साकार क्यों मानते है तो उसका उत्तर यही है कि पदार्थ की प्रतीति की पृथक् २ व्यवस्था बिना ज्ञान के साकार हुए बन नहीं सकती, अर्थात् यह नीला पदार्थ है, यह इस नीले पदार्थ का संवेदन हो रहा है और यह पीत का संवेदन हो रहा है इत्यादि प्रतिभास रूप क्रिया और उस क्रिया का कर्म जो पदार्थ है इनकी व्यवस्था होना साकार ज्ञान के ऊपर ही निर्भर है।

स्वसंवित्तिः फलं चास्य ताद्रूप्यादर्थनिश्चयः ।
विषयाकार एवास्य प्रमाण तेन मीयते ।।

—प्रमाण समुच्चय १।१०

तदाकार होने से ज्ञान के द्वारा पदार्थ का निश्चय हुआ करता है। उस ज्ञान का फल तो स्व का अपना संवेदन होना मात्र ही है, इसी प्रकार प्रमाण की प्रामाणिकता विषयाकार होना साकार होने से ही निश्चित की जाती है।

इस प्रकार के इन उपर्युक्त कथनों से सिद्ध होता है कि ज्ञान साकार है, जिस वस्तु को वह जानता है वह उसी से पैदा होकर उसी के आकार वाला हुआ करता है।

*** पूर्वपक्ष समाप्त ***

साकारज्ञानवादः

एतेन बौद्धोप्याकारवत्त्वेन ज्ञाने प्रामाण्यं प्रतिपादयन्प्रत्याख्यातः । प्रत्यक्षविरोधाच्च; प्रत्यक्षेण विषयाकाररहितमेव ज्ञानं प्रतिपुरुषमहमहमिकया घटादिग्राहकमनुभूयते न पुनर्दर्पणादिवत्प्रतिबिम्बाक्रान्तम् । विषयाकारधारित्वे च ज्ञानस्यार्थे दूरनिकटादिव्यवहाराभावप्रसङ्गः । न खलु स्वरूपे स्वतोऽभिन्नेऽनुभूयमाने सोस्ति, न चैवम्; 'दूरे पर्वतो निकटे मदीयो बाहुः' इति व्यव-

---

सांख्य के द्वारा माना गया ज्ञान का अचेतनपना तथा आकारपना खंडित होने से ही बौद्धसंमत साकार ज्ञान का भी खंडन हो जाता है, उन्होंने भी ज्ञान में प्रमाणता का कारण विषयाकारवत्त्व माना है, अर्थात् ज्ञान पदार्थ के आकार होकर ही पदार्थ को जानता है और तभी वह प्रमाण कहलाता है, यह ज्ञान में तदाकारपना प्रत्यक्ष से बाधित होता है, प्रत्येक पुरुष को अपना अपना ज्ञान घटादि पदार्थों के आकार न होकर ही उन्हें ग्रहण करता हुआ अनुभव में आ रहा है, न कि प्रतिबिम्ब से व्याप्त दर्पण के समान अनुभव में आता है। यदि ज्ञान पदार्थाकार को धारण करता है ऐसा स्वीकार किया जावे तो पदार्थ में जो दूर और निकटपने का व्यवहार होता है वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि ज्ञान स्वयं उस रूप हो गया है। वह आकार उस ज्ञान से अभिन्न अनुभव में आने पर उसमें क्या दूरता एवं क्या निकटता प्रतीत होगी; अर्थात् किसी प्रकार भी आसन्नदूरता का भेद नहीं रहेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि यह दूरवर्तीपना और प्रत्यासन्नपना सतत ही अनुभव में आता रहता है देखो-"यह पर्वत दूर है, यह मेरा हाथ निकट है" इत्यादि प्रतिभास बिल्कुल स्पष्ट और निर्बाधरूप से होता हुआ उपलब्ध होता ही है। इसलिये ज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले इस दूर निकट व्यवहार से ही सिद्ध होता है कि ज्ञान पदार्थ के आकार रूप नहीं होकर ही उसे जानता है, अतः पदार्थ के आकार के धारक उस ज्ञान में दूर आदि रूप से व्यवहार होना शक्य नहीं है, जैसा कि दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए आकार में यह दूर

हारस्याऽस्खलद्रूपस्य प्रतीतेः । ततस्तदन्यथानुपपत्तेर्निराकारं तत् । न चाकाराधायकस्य दूरादितया तथा व्यवहारो युक्तः दर्पणादौ तथानुपलम्भात् । दीर्घस्वापवतश्च प्रबोधचेतसो जनकस्य जाग्रद्दशा-चेतसो दूरत्वेनातीतत्वेन चात्रापि दूरातीतादिव्यवहारानुषङ्गः स्यात् ।

किञ्च, अर्थादुपजायमानं ज्ञानं यथा तस्य नीलतामनुकरोति तथा यदि जडतामपि; तर्हि जडमेव तत् स्यादुत्तरार्थक्षणवत् । अथ जडतां नानुकरोति; कथं तस्या ग्रहणम् ? तदग्रहणे नीला-

---

है यह निकट है ऐसा व्यवहार शक्य नहीं होता। ज्ञान को साकार मानने में यह भी एक बड़ा विचित्र दोष आता है, देखिये—कोई दीर्घकाल तक सोया था जब वह जाग कर उठा तब उसे सोने के पहिले जाग्रद्दशा में जिस किसी घट आदि का तदाकार ज्ञान था वह अब निद्रा के बाद बहुत ही दूर हो गया है तथा व्यतीत भी हो गया है, अतः उस याद आये हुए घट ज्ञान में दूर और अतीत का भान होना चाहिये ॥

भावार्थ—जब वस्तु का आकार ज्ञान में मौजूद है तब कुछ समय व्यतीत होने पर वह वस्तु हमें दूरपने से मालूम होनी चाहिये, देवदत्त दीर्घनिद्रा लेकर उठा, उसका निद्रित अवस्था के पहिले का हुआ जो ज्ञान है वह अब दूर हो चुका है, अतः उसको ऐसा प्रतिभास होना चाहिये कि मेरी वह पुस्तक बहुत दूर है अथवा वह ज्ञान दूर है इत्यादि, किन्तु ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती है, अतः ज्ञान को साकार मानना ठीक नहीं है।

बौद्धों ने ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होना भी स्वीकार किया है वह ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर जैसे उस नील आदि के आकार को धारण करता है वैसे ही यदि वह उस पदार्थ के जड़पने को भी धारण करता है तो वह ज्ञान स्वयं जड़ बन जावेगा, जैसे जड़ पदार्थ स्वयं उत्तर क्षण में दूसरे जड़ पदार्थों को पैदा कर देते हैं वैसे ही ज्ञान पदार्थ से पैदा होने के कारण जड़ रूप को भी धारण करेगा, यदि कहो कि ज्ञान जड़ाकार नहीं बनता है तो वह उस पदार्थ की जड़ता को कैसे जान सकेगा, क्योंकि उस रूप हुए विना वह उसे जान नहीं सकता, इस प्रकार यदि जड़ता को नहीं जानता है तो वह ज्ञान उसके नील आदि आकार को भी नहीं जान सकेगा, जड़ता को नहीं जाने और नील आकार को जाने ऐसी भेदभाव की बात कहो तब तो नील और जड़ धर्म में भिन्नता माननी पड़ेगी अथवा एक ही वस्तु में दो विरुद्ध धर्म मानने से अनेकान्त की वहां स्थिति आ जावेगी, क्योंकि इस प्रकार की मान्यता में एक ही नील वस्त्र आदि में उस का एक नील धर्म तो ग्राह्य हो जाता है और दूसरा जड़-

कारस्याप्यग्रहणम् अन्यथा तयोर्भेदोऽनेकान्तो वा। नीलाकारग्रहणेपि न, अगृहीता जडता कथं तस्येत्युच्येत ? अन्यथा गृहीतस्य स्तम्भस्यागृहीतं त्रैलोक्य(क्यं)रूपं भवेत् । तथा चैकोपलम्भो नैकत्वसाधनम् । अथ नीलाकारवज्जडतापि प्रतीयते किन्त्वतदाकारेण ज्ञानेन, न; तर्हि नीलताप्यतदाकारेणैवानेन प्रतीयताम् । तथाहि—यद्येन स्वात्मनोऽर्थान्तरभूतं प्रतीयते तत्तेनातदाकारेण यथा स्तम्भादेर्जाड्यम्, प्रतीयते च स्वात्मनोऽर्थान्तरभूतं नीलादिकमिति । किञ्च, नीलाकारमेव ज्ञानं

धर्म अग्राह्य हो जाता है, यदि कहा जावे कि ज्ञान सिर्फ नील को ही जानता है जड़ता को नही तो वह ज्ञान "इस नील पदार्थ की यह जड़ता है" इस प्रकार कैसे कह सकेगा, यदि उसे बिना जाने ही वह नील पदार्थ ग्राहक ज्ञान यह उसका धर्म है ऐसा कहता है तो ग्रहण किये गये स्तम्भ का अग्रहीत त्रैलोक्य स्वरूप हो जायगा, इस तरह कहीं पर भी एकत्व का साधक ज्ञान नहीं हो सकेगा प्रत्युत वह एक ही में अनेकत्व का साधक होगा।

बौद्ध जैसे ज्ञान वस्तु की नीलाकारता को जानता है वैसे ही वह उसकी जड़ता को भी जानता है, परन्तु जड़ता को वह तदाकार होकर नहीं जानता है।

जैन—यह बात गलत है क्योंकि जड़ता को जैसे तदाकार हुए विना जान लेता है वैसे ही वह नीलाकार हुए विना ही नील पदार्थ को भी जान लेवे तो इसमें क्या बाधा है। अनुमान से भी सिद्ध होता है कि जो वस्तु जिसके द्वारा अपने से पृथक् रूप से जानी जाती है वह उससे अतदाकाररूप होकर ही जानी जाती है, जैसे कि स्तम्भ आदिके जड़पने को स्तम्भज्ञान अतदाकार होकर जानता है, इसी तरह अपने से अर्थात् नीलज्ञान से नील आदि पदार्थ पृथक् प्रतीत होते हो हैं, अतः वे तदाकार हुए अपने ज्ञान द्वारा गृहीत नहीं होते हैं। पुनः आपसे हम पूछते हैं कि ज्ञान जो जड़ धर्म को जानता है वह कौनसा ज्ञान जानता है ? क्या नीलाकार हुआ ज्ञान ही जड़ धर्म को जानता है ? अथवा भिन्न कोई ज्ञान जड़ धर्म को–जड़ता को जानता है ? यदि नीलाकार हुआ ज्ञान ही जड़ता को जानता है ऐसा प्रथम पक्ष लेकर कहा जावे तो ठीक नही है, क्योंकि नीलको तो वह नीलाकार होकर जाने और जड़ता को विना जड़ताकार हुए जाने यह तो ज्ञान में अर्धजरती न्याय हुआ।। भावार्थ–"अर्धं मुख मातं वृद्धायाः कामयते नांगानि सोऽयमर्धजरती न्यायः" अर्थात् जैसे कोई कामी जन वृद्ध स्त्री के मुखमात्र को तो चाहे अन्य अवयवों को नहीं चाहे इसी प्रकार यहां पर बौद्धों ने ज्ञान के विषय में ऐसा ही कहा है कि ज्ञान वस्तु के नील धर्म को तो नीलाकार होकर जानता है

जडतां प्रतिपद्यते, ज्ञानान्तरं वा ? आद्यविकल्पे नीलाकारतां स्वात्मभूततया, जडतां त्वन्यथा तज्जानातीत्यर्द्धजरतीयन्यायानुसरणं ज्ञानस्य। अथ ज्ञानान्तरेण सा प्रतीयते; तदप्यतदाकारं यथा जडतां प्रतिपद्यते तथाद्य(द्यं)नीलतामिति व्यर्थं तदाकारकल्पनम्।

किञ्च, ज्ञानान्तरेण जडतैव केवला प्रतीयते, तद्वन्नीलतापि वा ? न तावदुत्तरपक्षः; अर्द्धजरतीयन्यायानुसरणप्रसङ्गात्। प्रथमपक्षे तु नीलताया जडतेयमिति कुतः प्रतीतिः ? नाद्यज्ञानात्; तेन

और उसी वस्तु के जड़ धर्म को अजडाकार होकर ही जानता है, अतः यह अर्धजरती न्याय हुआ ।। द्वितीय पक्ष के अनुसार यदि वस्तु के नीलत्व को जानने वाले ज्ञान से पृथक् कोई दूसरा ज्ञान है और वह उस वस्तु के जडत्व को जानता है ऐसा कहा जाय तो भी प्रश्न होगा कि वह भिन्न ज्ञान भी जडता को जडताकार होकर ग्रहण करता है या विना जडताकार हुए ग्रहण करता है, यदि विना जडताकार हुए जड़ता को जानता है तो नीलत्व को भी विना नीलाकार हुए जानें, क्यों व्यर्थ ही तदाकारता की कल्पना उसमें करते हो।

किञ्च—अन्य ज्ञान से जो जड़ता को जानना तुमने स्वीकार किया है सो वह ज्ञानान्तर एक मात्र जडता को ही जानता है कि जड़ता के साथ नीलाकार को भी जानता है ? जडता से युक्त नीलत्व का ग्रहण अर्थात् यह जडना इस नील की है यदि ऐसा वह ज्ञानान्तर जानता है तो इस उत्तर पक्ष में पहिले के समान अर्धजरती न्याय का अनुसरण होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है क्योंकि पदार्थ के नीलत्व को छोड़ उसका अर्धांश जो जड़ता है उसी को तो इसने जाना है। मात्र जड़त्व के जानने की बात तो बिलकुल बनती ही नहीं है, क्योंकि उस प्रतिभास में यह नील पदार्थ की जड़ता है इस प्रकार की प्रतीति तो होगी नहीं, तो फिर उसे किस ज्ञान से जाना जायगा ? प्रथम ज्ञान तो जानेगा नहीं क्योंकि वह तो सिर्फ नीलाकार को ही जान रहा है। दूसरा ज्ञानान्तर भी जान नहीं सकता, क्योंकि उसका विषय भी तो मात्र जड़धर्म है, यदि इन दोनों को छोड़कर एक तीसरा ज्ञान नील और जड़ता को जानने वाला स्वीकार किया जाये तो उसमें भी निर्णय करना होगा कि वह तृतीय ज्ञान दोनों आकारों को धारता है क्या ? यदि धारता है तो ज्ञान स्वयं जड़ बन जायगा, यदि तृतीयज्ञान को निराकार मानते हो तब तो स्पष्ट ही जैन मत का अनुसरण करना हो गया। कहीं पर नील आदि में ज्ञान साकार रहता है अन्यत्र नहीं ऐसा कहो तो वही पूर्वोक्त अनवस्था दोष आता है कि एक ज्ञान नीलत्व को जानेगा

नीलाकारमात्रस्यैव प्रतीतेः। नापि द्वितीयाऽस्य जडतामात्रविषयत्वात्। अथोभयविषयं ज्ञानान्तरं परिकल्प्यते, तद्युभयत्र साकारम् स्वयं जडता निराकारं चेत्; परमतप्रसङ्गः। क्वचित्साकारताया- मुक्तदोषोऽनवस्था।

ननु निराकारत्वे ज्ञानस्याखिलं निखिलार्थवेदकं तत्स्यात् क्वचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावादि- त्यप्यपेशलम्; प्रतिनियतसामर्थ्येन तत्तथाभूतमपि प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकमित्यग्रे वक्ष्यते। 'नीलाकारवज्जडाकारस्यादृष्टेन्द्रियाद्याकारस्य चानुकरणप्रसङ्गः कारणत्वाविशेषात्प्रत्यासत्तिवि- प्रकर्षाभावाच्च' इति चोद्ये भवतोपि योग्यतैव शरणम्।

फिर अन्य कोई ज्ञान जडत्व को जानेगा वह भी तदाकार होवेगा, तो जड़ बन जायगा, और अतदाकार रह कर जानेगा तो नीलत्व को भी अतदाकार रह कर जान लेना चाहिये, इत्यादि।

बौद्ध—ज्ञान को निराकार मानोगे तो वह एक ही समय में सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला हो जायेगा ? क्योंकि अब उस ज्ञान में तदाकारत्व तदुत्पत्ति आदि रूप नियामक कोई संबंध तो रहा नहीं।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान में एक ऐसा क्षयोपशमजन्य प्रतिनियत सामर्थ्य है कि जिससे वह निराकार रहकर भी नियमित पदार्थों की व्यव- स्था बराबर करता रहता है। इस विषय का विवेचन हम आगे करेंगे।

ज्ञान साकार होकर ही वस्तु को जानता है तो नीलत्व के समान जडत्व के आकार को क्यों नहीं धारण करता ? अदृष्ट जो पुण्य पाप रूप है उनके तथा मन- इन्द्रियां वस्तुओं के आकार को क्यों नहीं धारण करता है। उन सबके आकारों को भी उसे धारण करना चाहिये, क्योंकि जैसे आप ज्ञान का कारण जो पदार्थ है उसके आकार रूप ज्ञान हो जाता है ऐसा मानते हैं और वे सब इन्द्रियां मन आदि ज्ञान के कारण हैं ही इसलिये ज्ञान को इन्द्रियाकार होना चाहिये और मन के आकार भी होना चाहिये, यदि आप कहो कि नील आदि की तो निकटता है और इन्द्रियादि की दूरता है अतः इन्द्रियादि के आकार रूप ज्ञान नहीं होता है सो भी बात नहीं, क्योंकि नीलत्व के समान इन्द्रियादिक भी निकटवर्ती हो हैं, अतः इन इन्द्रिय अदृष्ट आदि के आकार को ज्ञान क्यों नहीं धारता है ऐसा प्रश्न होने पर आपको हम जैन की कर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता की शरण लेनी पड़ती है।

यच्चोच्यते-'यथैवाहारकालादेः समानेऽपत्यं जननीपित्रोस्तदेकमाकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित्, तथा चक्षुरादेः कारणत्वाविशेषेपि नीलस्यैवाकारमनुकरोति ज्ञानं नान्यस्य' इति; तन्निराकारज्ञानेपि समानम् । तत्कार्यत्वाविशेषेपि हि यया प्रत्यासत्त्या ज्ञानं नीलमेवानुकरोति तयैव सर्वथानाकारत्वाविशेषेपि किञ्चदेव प्रतिपद्यते न सर्वमिति विभागः किं नेष्यते ? अन्योन्याश्रयदोषश्चोभयत्र समानः । किञ्च, प्रतिनियतघटादिवत्सकल वस्तु निखिलज्ञानस्य कारणं स्वाकारार्पकं वा किन्न स्यात् ? वस्तुसामर्थ्यात् किञ्चिदेव कस्यचित् कारणं न सर्वं सर्वस्येति चेत्; तर्हि तत एव किञ्चित्कस्यचिद्ग्राह्यं ग्राहकं वा न सर्वं सर्वस्येत्यलं प्रतीत्यपलापेन ।

बौद्ध—जिस प्रकार आहार, काल आदि अनेकों कारणों के समानरूप से मौजूद होते हुए भी बालक अपने माता या पिता के आकार को ही धारण करता है उसी प्रकार ज्ञान चक्षु आदि अनेकों कारणों के होते हुए भी नीलत्व के आकार को ही धारता है और अन्य किसी के आकार को नहीं धारता है ।

जैन—इस प्रकार का समाधान तो हम भी दे सकते हैं कि ज्ञान निराकार है, यद्यपि इन्द्रियादिक का वह समानरूप से कार्य भी है तो भी वह उसी योग्यता के कारण नियत नीलादिक को ही जानता है और अन्य किसी भी पदार्थ को नहीं जानता है । ऐसा विभाग निराकार ज्ञान में भी संभव है, अतः उसे क्यों नहीं माना जाये ।

बौद्ध—ज्ञान को निराकार मानने में अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, अर्थात् ज्ञान प्रतिनियत वस्तु को ही जानता है यह सिद्ध होने पर उसके नियतयोग्यता रूप स्वभाव की सिद्धि होगी और उस नियत स्वभाव की सिद्धि होने पर प्रतिनियत वस्तु का जानना सिद्ध होगा ।

जैन—यही दोष आपके साकार ज्ञान में भी तो आवेगा, देखिये—ज्ञान नियत जो नीलादि आकार है उसीका अनुकरण करता है, जड़ता का नहीं यह बात सिद्ध होने पर ही उस ज्ञान की निश्चित किसी आकार रूप होने की योग्यता सिद्ध होगी और इस नियत योग्यता के सिद्ध होने पर ही नियत नीलाकार होने की संभावना हो सकेगी । इस प्रकार तो एक की भी सिद्धि नहीं होगी । एक बात और हम बौद्धों से पूछते हैं कि जिस प्रकार किसी एक ज्ञान को कोई एक घटादि पदार्थ अपना आकार समर्पित करता है और वह उसका कारण होता है, इसी प्रकार सभी वस्तुएँ सभी

प्रमाणत्वाच्चास्य तदभावः। अर्थाकारानुकारित्वे हि तस्य प्रमेयरूपतापत्तेः प्रमाणरूपताव्याघातः, न चैवम्, प्रमाणप्रमेययोर्बहिरन्तर्मुखाकारतया भेदेन प्रतिभासनात्। न चाध्यक्षेण ज्ञान-

ज्ञानों का कारण क्यों नहीं होती और क्यों नहीं वे सभी ज्ञानों को अपना आकार देती हैं ?

बौद्ध—वस्तु का ऐसा ही सामर्थ्य है कि जिससे कोई एक वस्तु किसी एक ज्ञान का ही कारण होती है, सभी वस्तुएं सभी ज्ञानों के लिये कारण नहीं हो सकतीं।

जैन—तो फिर इसी प्रकार से ही कोई एक ज्ञान किसी एक वस्तु को निराकार रहकर जानता है, सभी को नहीं जानता है, ऐसा मानना चाहिये, व्यर्थ ही प्रतीति का अपलाप करने से क्या लाभ।

भावार्थ—बौद्ध यद्यपि ज्ञान को साकार मानते हैं, परन्तु कहीं २ पर वे उसे निराकार भी मानने लग जाते हैं, जडत्व, इन्द्रियां, मन, अदृष्ट आदि वस्तुओं को ज्ञान तदाकार हुए विना ही जानता है ऐसी भी उनकी मान्यता है, इससे उनकी मान्यता को लेकर आचार्यों ने उन्हें समझाया है कि जैसे ज्ञान कहीं निराकार रहकर उसे जान लेता है, वैसे ही वह सर्वत्र निराकार रहकर क्यों नहीं जानेगा, अर्थात् अवश्य ही जानेगा, ज्ञान में ऐसी प्रतिनियत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की योग्यता है कि जिसके कारण यह जितनी वस्तु को जानने का उसमें क्षयोपशम हुआ है उतनी ही वस्तुओं को जानता है, निराकार होने से कोई सभी को नहीं जानता, क्योंकि उतना उसमें क्षयोपशम ही नही है, बौद्ध से जब हम पूछते हैं कि सभी ज्ञानों में सभी पदार्थों का आकार क्यों नहीं आता तब वे भी योग्यता का ही उत्तर रूप में शरण लेते हैं कहते हैं कि सभी पदार्थों के आकार आने की योग्यता ही उसमें नहीं है इत्यादि, इसलिये योग्यता के अनुसार निराकार रहकर ही ज्ञान वस्तु को जानता है यह प्रतीति से सिद्ध होता है। एक बहुत मतलब की बात हम बौद्ध को बताते हैं कि ज्ञान प्रमाणभूत है इसलिये उसमें पदार्थ का आकार नहीं रह सकता है, यदि ज्ञान पदार्थाकार होता है तो वह प्रमेय कहलावेगा, फिर प्रमाणता का उसमें लेश भी नहीं रहेगा। परन्तु इस प्रकार से प्रमाण का प्रमेयरूप होना या दोनों–प्रमाण और प्रमेयरूप होना संभव नहीं है, प्रमाणतत्त्व तो अन्तर्मुखरूप से प्रतीत होता है और प्रमेयतत्त्व बहिर्मुख रूप से। अतः इन दोनों में भेद है।

मेवाऽर्थाकारमनुभूयते न पुनर्बाह्योऽर्थ इत्यभिधातव्यम्; ज्ञानरूपतया बोधस्यैवाध्यक्षे प्रतिभासनादर्थस्य। न ह्यनहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासेऽहङ्कारास्पदबोधरूपवत् ज्ञानरूपता युक्ता, अहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्यापि प्रतिभासोपगमे तु 'अहं घटः' इति प्रतीतिप्रसङ्गः। न चान्यथाभूता प्रतीतिरन्यथाभूतमर्थं व्यवस्थापयति; नीलप्रतीतेः पीतादिव्यवस्थाप्रसङ्गात्।

बोधस्यार्थाकारता मुक्त्वार्थेन घटयितुमशक्तेः 'नीलस्यायं बोधः' इति, निराकारबोधस्य केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षासिद्धेः सर्वार्थघटनप्रसङ्गात्सर्वैकवेदनापत्तेः प्रतिकर्मव्यवस्था ततो न स्यादित्यर्थाकारो बोधोऽभ्युपगन्तव्य। तदुक्तम्—

बौद्ध—ज्ञान ही पदार्थ के आकाररूप होता है यह तो प्रत्यक्ष से अनुभव में आता है, किन्तु ज्ञान के आकार पदार्थ होता है यह दिखाई नहीं देता है।

जैन—ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष में तो ज्ञान का ज्ञानरूप से प्रतिभास होता है न कि अर्थ का ज्ञानरूप से प्रतिभास होता है, जो अनहंकाररूप से प्रतीत होता है उस पदार्थ को अहंकार (मैं) रूप से प्रतीत हुए ज्ञानरूप मानना तो युक्त नहीं है। यदि अर्थ भी अहंकाररूप से प्रतीत होगा तो "मैं घट हूं" ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु ऐसी प्रतीति होती नहीं है। अन्यरूप से प्रतीत हुए अर्थ की अन्यरूप से प्रतीति कराना तो ज्ञान का काम नहीं है। यदि ऐसा होने लगे तो नील की प्रतीति से पीत आदि की भी व्यवस्था होने लगेगी।

बौद्ध—पदार्थ के साथ ज्ञानका संबंध घटित करने के लिये अर्थाकारता को माना है, उसके विना नील अर्थ का यह ज्ञान है ऐसा कह नहीं सकते। निराकार ज्ञान का किसी एक निश्चित पदार्थ के साथ कोई भी प्रत्यासत्तिविप्रकर्ष (तदाकारतदुत्पत्ति संबंध) तो बनता नहीं है, अतः सभी पदार्थों के साथ उसका संबध हो सकता है। फिर सभी पदार्थों को एक ही निराकार ज्ञान जानने वाला हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में प्रतिकर्म व्यवस्था–घट ज्ञान का घट विषय है, पट ज्ञान का पट विषय है ऐसी व्यवस्था बनना अशक्य हो जायगा, अर्थात् घट ज्ञान का विषय घट ही है पट नहीं और पट ज्ञान का विषय पट ही है घट नहीं इत्यादि रूप से निश्चित पदार्थ व्यवस्था नहीं बन सकेगी, अतः वस्तु व्यवस्था चाहने वाले आप जैन को ज्ञान साकार ही होता है ऐसा मानना चाहिये, कहा भी है—

"अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्ता(क्त्वा)र्थरूपताम् ।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ।।" [प्रमाणवा० ३।३०५]

इत्यनल्पतमोविलसितम्; यतो घटयति सम्बन्धयतीति विवक्षितं ज्ञानम्, अर्थसम्बद्धमर्थरूपता निश्चाययतीति वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; न ह्यर्थसम्बन्धो ज्ञानस्यार्थरूपतया क्रियते, किन्तु स्वकारणैस्तज्ज्ञानमर्थसम्बद्धमेवोत्पाद्यते । न खलु ज्ञानमुत्पद्य पश्चादर्थेन सम्बध्यात् । न चार्थरूपता ज्ञानस्यार्थे सम्बन्धकारणं तादात्म्याभावानुषङ्गात् । द्वितीयपक्षोऽप्यसम्भाव्य.; सम्बन्धासिद्धे. । न खलु ज्ञानगता-

---

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ।। ३०५ ।।

अर्थाकारता को छोड़कर और कोई भी ऐसा हेतु नहीं है कि जो इस बुद्धि को पदार्थ के साथ जोड़े–संबंधित करे । अतः प्रमेय (पदार्थ) को जानने वाला होने से ही प्रमाण में मेयरूपता अर्थाकारता निश्चित होती है । मतलब–हमारे लिये प्रमाणभूत प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में कहा है कि निर्विकल्प बुद्धि को पदार्थ के साथ संबंधित करने वाली अर्थाकारता ही है । अर्थाकारता को छोड़कर अन्य कोई भी ज्ञानका निजी भेद नहीं है, और न वह अन्य का भेद करने वाला ही हो सकता है । पदार्थ के जानने रूप फल से ही मालूम पड़ता है कि ज्ञान अर्थाकार है ।

जैन—यह कथन अज्ञान से भरा हुआ है, क्योंकि आप यह तो बताइये कि उपर्युक्त कारिका की "घटयति" इस क्रिया का क्या अर्थ है ? संबंधित कराना ऐसा अर्थ है कि निश्चय कराना ऐसा अर्थ है ? मतलब–वह अर्थरूपता विवक्षित ज्ञान का पदार्थ के साथ संबंध जोड़ती है ? कि ज्ञान अर्थ से संबद्ध है ऐसा निश्चय कराती है ? प्रथमपक्ष को स्वीकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थाकारता के द्वारा ज्ञान का पदार्थ से संबंध नहीं किया जाता है किन्तु अपने कारणों के द्वारा पदार्थ का ज्ञान अर्थ से संबद्धित हुआ ही उत्पन्न किया जाता है, ऐसा तो नहीं देखा जाता कि पहिले ज्ञान हो फिर पीछे से अर्थ के साथ उसका संबंध होता हो । तथा अर्थाकारता पदार्थ में ज्ञान का संबंध कराने में कारण भी नहीं है, यदि अर्थाकारता संबंध का कारण हो तो उसका ज्ञानके साथ तादात्म्य कैसे माना जायगा, अर्थात् फिर ज्ञान और अर्थाकारपना ये दोनों भिन्न भिन्न हो जावेंगे । दूसरा पक्ष भी असंभव है, क्योंकि इनका संबंध सिद्ध नहीं होता है । देखो ज्ञान में हुई जो अर्थाकारता है वह अर्थ से संबद्ध ज्ञान के साथ

र्थरूपता अर्थसम्बद्धेन ज्ञानेन सहचरिता क्वचिदुपलब्धा येनार्थसम्बद्धं ज्ञानं सा निश्चाययेत् । विशिष्ट-विषयोत्पाद एव च ज्ञानस्यार्थेन सम्बन्धः, न तु संश्लेषात्मकोऽस्य ज्ञानेऽसम्भवात् । स चेन्द्रियैरेव विधीयते इत्यर्थरूपतासाधनप्रयासो वृथैव । न चैवं सर्वत्रासौ प्रसज्यते; यतो निराकारत्वेप्यवबोधस्य इन्द्रियवृत्त्या पुरोवर्तिन्येवार्थे नियमितत्वान्न सर्वार्थघटनप्रसङ्गः । 'कस्मात्तैस्तत्र तन्नियम्यते' ? इत्यत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम् । न हि कारणानि कार्योत्पत्तिप्रतिनियमे पर्यनुयोगमर्हन्ति तत्र तस्य

रहती हुई कही पर उपलब्ध नहीं होती कि जिससे वह अर्थ से संबद्ध ज्ञान है ऐसा निश्चय करावे । पदार्थ के साथ ज्ञान का तो इतना ही संबन्ध है कि वह अपने विशिष्ट विषय को जाने–उसका निश्चय करे, संश्लेषात्मक सबंध तो है नहीं अर्थात् दूध पानी की तरह या अग्नि और उष्णता की तरह पदार्थ का ज्ञान के साथ संबंध नहीं है । क्योंकि ऐसा संबंध सर्वथा असंभव है । हां; पदार्थ को जाननारूप जो सबध है उसे तो इन्द्रियां ज्ञान के साथ खुद ही करा देती है । इसलिये ज्ञान में अर्थरूपता आती है तब ज्ञान पदार्थ को जानता है ऐसा सिद्ध करने का प्रयास करना व्यर्थ ही है, अर्थात् आप बौद्ध ज्ञान का पदार्थ के साथ संबध स्थापित करने के लिये ज्ञान को अर्थाकार मानते हैं सो उसकी कोई जरूरत नहीं है, पदार्थ के साथ सबंध कराने वाली तो इन्द्रियां हुआ करती हैं । ज्ञान को अर्थाकार नहीं मानें तो सभी को एक साथ जानने का प्रसंग आता है ऐसी आशंका की भी कोई संभावना नहीं है । क्योकि निराकार ज्ञान में भी इन्द्रियों के द्वारा यह नियम बन जाता है कि ज्ञान सामने की किसी निश्चित वस्तु को ही जानता है न कि सभी वस्तुओं को ।

शंका—ज्ञान में अर्थाकारता पदार्थ के जनाने में हेतु न मानकर यदि इन्द्रियों को पदार्थ के जनाने में हेतु माना जावे तो इन्द्रियों के द्वारा किसी एक वस्तु का ही ज्ञान क्यों कराया जायगा सभी पदार्थों का उनके द्वारा ज्ञान कराये जाने का प्रसंग प्राप्त होगा ।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । कारण कि स्वभाव रूप कारण में प्रश्न नहीं हुआ करते हैं । ज्ञान निराकार होता है, फिर भी उसे इन्द्रियों की वृत्ति पुरोवर्ति-अर्थ में ही नियमित करती है । इसलिये ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों के ग्रहण करने का प्रसङ्ग प्राप्त नही होता है । इन्द्रियां निराकार उस ज्ञान को पुरोवर्त्ती अर्थ में क्यों नियमित करती हैं तो इसका उत्तर उनका ऐसा ही स्वभाव है, जिन २ कारणों से जिस २ कार्य की उत्पत्ति होतो है वे वे कारण उन २ कार्यों को क्यों

वैफल्यात् । साकारत्वेपि चायं पर्यनुयोगः समानः—साकारमपि हि ज्ञानं किमिति सन्निहितं नीलादिकमेव पुरोवर्त्ति व्यवस्थापयति न पुनः सर्वम् ? 'तेनैव च तथा जननात्' इत्युत्तरं निराकारत्वेपि समानम् । किञ्च, इन्द्रियादिजन्यं विज्ञानं 'किमितीन्द्रियाद्याकारं नानुकुर्यात्' इति प्रश्ने भवताप्यत्र वस्तुस्वभाव एवोत्तरं वाच्यम् । साकारता च ज्ञाने साकारज्ञानेन प्रतीयते, निराकारेण वा ? साकारेण चेत्; तत्रापि तत्प्रतिपत्तावाकारान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्था । निराकारेण चेद्बाह्यार्थस्य तथाभूतज्ञानेन प्रतिपत्तौ को विद्वेषः ?

उत्पन्न करते हैं ऐसा प्रश्न करना वहां व्यर्थ ही है । आप बौद्धों से हम भी यही प्रश्न कर सकते हैं कि आपके साकार ज्ञान में ऐसी व्यवस्था क्यों है, अर्थात् ज्ञान साकार होकर भी किस कारण से निकटवर्ती-सामने के नील आदि को ही ग्रहण करता है अन्य २ दूरवर्ती आदि सभी वस्तुओं को क्यों नहीं ग्रहण करता ? तुम कहो कि उसी एक वस्तु से ज्ञान पैदा हुआ है अतः उसी को जानता है सो यही बात निराकार पक्ष में भी हो सकती है । आपसे यदि हम जैन पूछें कि ज्ञान इन्द्रियादि से पैदा हुआ है अतः उन इन्द्रियों के आकार को क्यों नहीं धारण करता है तब आपको भी वही वस्तु स्वभावरूप उत्तर देना पड़ेगा, जो कि हमने दिया है । आप यही तो कहोगे कि ज्ञान इन्द्रियाकार तो होता नहीं है पदार्थाकार ही होता है सो ऐसा ही ज्ञानका स्वभाव है । इस प्रकार बौद्ध को भी अंततोगत्वा स्वभाव की ही शरण लेनी पड़ती है । अब हम बौद्धों से पूछते हैं कि ज्ञान में पदार्थों का आकार है इस बात को किसके द्वारा जाना जाता है, साकार ज्ञान के द्वारा या निराकार ज्ञान के द्वारा, साकार ज्ञान के द्वारा कहो तो इस दूसरे ज्ञान की साकारता भी किससे जानी जाती है ? अन्य साकार ज्ञान से कि निराकार ज्ञान से इत्यादि प्रश्न उठते ही रहेंगे । साकार ज्ञान की साकारता जानने के लिये अन्य २ साकार ज्ञान आते रहेंगे और निर्णय होगा नहीं, अतः अनवस्था दोष आवेगा । निराकार ज्ञान से ज्ञान की साकारता जानी जाती है ऐसा द्वितीय पक्ष प्रस्तुत किया जाय तो फिर जैसे ज्ञानके आकार को जानने के लिये निराकार ज्ञान समर्थ है वैसे ही वह बाह्य वस्तुओं को भी जानने में समर्थ हो सकता है फिर इस पर द्वेष करने से क्या लाभ । साकारज्ञानवादी आपके ऊपर एक आपत्ति और भी यह आती है कि पदार्थ के साथ संवित्ति अर्थात् ज्ञान के संबंध की अन्यथानुपपत्ति करने से सन्निकर्ष को प्रमाण मानने का प्रसंग उपस्थित होता है । इस प्रसंग में सन्निकर्ष तो प्रमाण और जानना उसका फल है ऐसा नैयायिक के समान आपको भी

किञ्च, अस्य वादिनोऽर्थेन संवित्तेर्घटनाऽन्यथानुपपत्तेः सन्निकर्षः प्रमाणम्, अधिगतिः फलं स्यात्, तस्यास्तमन्तरेण प्रतिनियतार्थसम्बन्धित्वासम्भवात्। साकारसंवेदनस्य अखिलसमानार्थसाधारणत्वेन अनियतार्थघटनप्रसङ्गात् निखिलसमानार्थानामेकवेदनापत्तिः, केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षासिद्धेः।

कहना होगा, क्योंकि विना सन्निकर्ष के संवित्तिका पदार्थ के प्रति नियमित संबंध होना संभव नहीं है। यदि ज्ञान में पदार्थ का आकार मौजूद है-ज्ञान साकार है तो उस किसी एक विवक्षित घट आदि का आकार ज्ञान में आते ही उस घट के समान अन्य जगत के सारे ही घटो का जानना उस एक ज्ञान के द्वारा ही संपन्न हो जावेगा। क्योंकि आकार तो ज्ञान के अन्दर मौजूद है ही, इससे किसी भी ज्ञान का किसी भी वस्तु के साथ न निकटपना है और न दूरपना ही है।

भावार्थ—ज्ञान में वस्तु का आकार होने से उसी वस्तु को वही ज्ञान जानता है ऐसा नियम बौद्ध के यहां स्वीकार किया है, इस पर आचार्य दोष दिखाते हुए समझा रहे हैं कि ज्ञान में वस्तु का आकार है तो फिर किसी एक वस्तु को साकार होकर जानते समय अन्य जितनी भी उसके समान वस्तुएं संसार में होंगी उन सबको वह एक ही ज्ञान झट से जान लेगा। क्योंकि सबकी शकल समान है। और वह उसी एक ज्ञान में मौजूद है। एक वस्त्र को जानते ही उसके समान अन्य सभी वस्त्र यों ही जानने में आ जायेंगे, किन्तु ऐसा नही देखा जाता है, अतः साकारज्ञानवाद में दोष ही दोष भरे पड़े हैं॥ बौद्ध ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न हुआ भी मानते हैं। किन्तु इस तदुत्पत्ति का इन्द्रियादिक के साथ व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् ज्ञान इन्द्रियों से भी उत्पन्न होता है किन्तु वह इन्द्रियाकार तो होता ही नहीं, इसलिये यह नियम नहीं है कि ज्ञान जिससे पैदा होता है उसी का आकार धारता है।

बौद्ध—जहां पर तदुत्पत्ति और तदाकार दोनों ही होते हैं, अर्थात्—ज्ञान जिससे पैदा होता है और जिसके आकार होता है वहीं पर ज्ञान पदार्थ का नियामक बनता है इन्द्रियादिकों का नहीं, क्योंकि वह तदुत्पत्ति वाला तो है किन्तु तदाकार वाला नहीं है।

जैन—यह बात असंगत है। देखिये—जहां पर ये दोनों संबंध—तदुत्पत्ति, तदाकार मौजूद हैं वहां पर भी वह ज्ञान उसका व्यवस्थापक नहीं होता है। क्योंकि समानार्थ समनन्तर प्रत्यय के साथ इसका व्यभिचार देखा जाता है, अर्थात्—समानार्थ

तदुत्पत्तेरिन्द्रियादिना व्यभिचारान्नियामकत्वायोगः । तदुत्पत्तेस्ताद्रूप्याच्चार्थस्य बोधो नियामको नेन्द्रियादेर्विपर्ययादित्यप्यसाम्प्रतम्, तद्द्वयलक्षणस्यापि समानार्थसमनन्तरप्रत्ययेनानैकान्तिकत्वात् । कथ चार्थवदिन्द्रियाकारं नानुकुर्यादसौ तदुत्पत्तेरविशेषात् ? तदविशेषेप्यस्यकरणान्तरपरिहारेणार्थाकारानुकारित्वं पुत्रस्येव पित्राकारानुकरणमित्यप्यसङ्गतम्; स्वोपादानमात्रानुकरण प्रसंगात् । विषयस्यालम्बनप्रत्ययतया स्वोपादानस्य च समनन्तरप्रत्ययतया प्रत्यासत्तिविशेषसद्भावात् उभयाकारानुकरणेऽर्थवदुपादानस्यापि विषयतापत्तिरविशेषात् । तज्जन्मरूपाविशेषेप्यध्यवसायनियमात्

प्रथम क्षणवर्ती ज्ञान का जो विषय है वही द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञान का भी विषय है—इसी का नाम समानार्थ है, समनन्तर—अर्थात् प्रथम के बाद विना व्यवधान के उत्पन्न हुआ जो प्रत्यय–ज्ञान है वह समनन्तर प्रत्यय है सो उस ज्ञान में तदाकार और तदुत्पत्ति ये दोनों लक्षण पाये जाते हैं तो भी वहां उसका जानना रूप कार्य नहीं देखा जाता है । अतः जिसमें दोनों सम्बन्ध हों वहां जानना होता है ऐसा नियम व्यभिचरित होता है ।

विशेषार्थ—बौद्ध के यहां क्षणिकवाद है, अतः ज्ञान और पदार्थ प्रतिक्षण बदलकर नये २ उत्पन्न होते रहते हैं, पूर्व पूर्व के ज्ञान उत्तर उत्तर के ज्ञानों को और पूर्व पूर्व के नीलादि पदार्थ उत्तर उत्तर के नीलादिकों को पैदा करते रहते हैं । उनकी यह निश्चित परंपरा चलती रहती है । इसीका नाम सन्तान है । किसी एक विवक्षित ज्ञान ने नीलाकार होकर नील को जाना और दूसरे क्षण अपनी संतान को पैदाकर नष्ट हो गया । उस द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञान में सभी बातें मौजूद हैं, अर्थात् तदुत्पत्ति और तदाकारता है—क्योंकि वह उस प्रथम ज्ञान से पैदा हुआ है अतः तदुत्पत्ति है तथा उस ज्ञान में आकार भी वही नील का है, इसलिये तदाकारत्व भी मौजूद है तो भी वह उत्तर क्षणवर्ती ज्ञान अपने उस पूर्व क्षणवर्ती ज्ञान को नहीं जानता है, वह तो द्वितीय क्षणवर्ती नीलको ही जानता है, ऐसा बौद्ध के यहां माना है, इसलिये जिसमें तदुत्पत्ति और तदाकारता होवे उसी के द्वारा उसका जाननारूप कार्य होता है, अर्थात् ज्ञान जिससे पैदा हुआ है और जिसका आकार उसमें आया है उसी को जानता है सबको नहीं यह कथन असत्य सिद्ध हुआ ।।

ज्ञान जैसे पदार्थ के आकार होता है वैसे इन्द्रियाकार क्यों नहीं होता यह भी एक प्रश्न है, क्योंकि जैसे ज्ञानको पदार्थ से पैदा होना माना है—वैसे ही इन्द्रियों से भी उसको पैदा होना माना है, ज्ञानके प्रति जनकता तो दोनों में समान ही है ?

प्रतिनियतार्थनियामकत्वेऽर्थवदुपादानेप्यध्यवसायप्रसङ्गः, अन्यथोभयत्राप्यसौ मा भूद्विशेषाभावात्। न च तज्जन्मादित्रयसद्भावेप्यर्थप्रतिनियमः, कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदाकाराध्यवसायिनो विज्ञानस्य समनन्तरप्रत्यये प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न चैवंवादिनोविज्ञानस्य स्वरूपे प्रमाणता घटते तत्र सारूप्याभावात्।

बौद्ध—यद्यपि ज्ञान पदार्थ और इन्द्रिय दोनों से उत्पन्न होता है तो भी वह पदार्थाकार को ही धारण करता है अन्य कारणों के आकारों को नहीं, जैसे कि पुत्र अनेक कारणों से उत्पन्न होता है किन्तु वह माता पिता की आकृति को ही धारण करता है अन्य की नहीं ?

जैन—यह कथन असंगत है, पुत्र का ऐसा दृष्टान्त यहां पर देने से ज्ञान को अपने उपादान कारण का ही आकार धारण करने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि पुत्र ने भी जैसे अपने उपादान कारणभूत पिता माता का आकार ही धारण किया है वैसे ही ज्ञान को भी होना चाहिये, विषयभूत नीलादि पदार्थ तो ज्ञान के आलम्बन स्वरूप कारण हैं और पूर्वज्ञान उपादान कारण है ये दोनों ही प्रत्यासत्ति विशेष सहित हैं, अर्थात् इन दोनो से ही समानरूप से वह समनन्तरज्ञान पैदा हुआ है अतः इस ज्ञान को दोनों के ही–पूर्वज्ञान और पदार्थ के आकारों को धारण करना होगा, तथा दोनों को ही जानना भी होगा, क्योंकि पदार्थ के समान पूर्वज्ञान भी उसका उपादान है ही, कोई विशेषता नहीं है।

बौद्ध ज्ञान पदार्थ और पूर्व ज्ञान दोनों से ही पैदा हुआ है किन्तु अध्यवसाय का नियम होने से नियतमात्र अर्थ को ही ज्ञान जानता है।

जैन—यह कथन गलत है, जब पदार्थ के समान पूर्वज्ञान भी उपादान है तब वह विवक्षित ज्ञान अपने उपादान को क्यों नहीं जानता है, अन्यथा दोनों को नहीं जानना चाहिये।

बौद्ध—जहां तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय ये तीनों रहते हैं वहां पर ही पदार्थ के जानने का प्रतिनियम बनेगा।

जैन—ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि जिसके नेत्रों में कामलादि रोग हो गया है ऐसे व्यक्ति को सफेद शंख में पीलेपने का ज्ञान होता है, सो उस ज्ञान में

हैं, फिर पास और दूर कैसे, एक बड़ी आपत्ति तो यह है कि ज्ञान तो चेतन है, जब वह नीलादि जड़ पदार्थ को जानेगा–उसके आकार रूप हो जावेगा तो वह विचारा खुद ही जड़ बन जायगा, तुम कहो कि जड़ाकार न होकर सिर्फ नीलादि आकार रूप ही होता है तो फिर वह जड़ को कैसे जानेगा ? किसी दूसरे ज्ञान से जानेगा तो वह भी जडाकार होकर जानता है या विना जडाकार हुए जानता है ? जडाकार होकर यदि जानता है तो वह स्वयं जड़ हो गया और जडाकार न होकर भी यदि जड़ को जानता है तो वैसे ही नीलादिक को भी विना नीलादि आकार रूप हुए उसको वह जान लेगा, इस तरह तदाकार, ताद्रूप्य साकार ज्ञान का निरसन हो जाता है, इसी प्रकार तदुत्पत्ति का भी, ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है उसी को जानता है ऐसा मानो तो इन्द्रियों को क्यों नहीं जानता ? अरे भाई ! जैसे ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न हुआ है वैसे ही वह इन्द्रियों से भी उत्पन्न हुआ है, तथा–अदृष्ट भी उसकी उत्पत्ति में कारण माना ही है, अतः इन्द्रिय अदृष्टादि आकाररूप भी ज्ञान को होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। तथा सारी ही वस्तुएं समस्त ज्ञान के लिये अपना आकार क्यों नहीं अर्पित करतीं सो यह भी प्रश्न होता है। तीसरी बात–ज्ञान तो प्रमाण है वह यदि प्रमेयाकार हो गया तो प्रमाण कौन रहा ? ज्ञान निकटवर्ती पदार्थ के ही आकार वाला होता है, दूरवर्ती पदार्थ के आकारवाला नहीं, सो यह भी क्यों होता है, यदि कहा जाय कि इसमें योग्यता ही ऐसी है क्या किया जाय ? तो हम जैन भी मानते हैं कि ज्ञान निराकार होकर भी प्रतिनियत घटादि को ही जानता है सबको नहीं क्योंकि उसमें ऐसी क्षयोपशमजन्य योग्यता है सो ऐसा ही क्यों न माना जाय। ज्ञान की उत्पत्ति में उपादान कारण तो पूर्वक्षणवर्त्ती ज्ञान ही माना है, अतः ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है उसी को जानता है तथा उसी के आकार होता है ऐसा तुम कहते हो तो पूर्व ज्ञान के आकार होकर वह उत्तरवर्ती ज्ञान उसे क्यों नहीं जानता ? आप कहो कि ऐसी ही उसमें योग्यता है तो वही पहिले की बात आती है कि निराकार ज्ञान में ऐसी ही योग्यता है कि वह निराकार होकर भी प्रतिनियत वस्तु को जानता है, यदि वस्तु के नीलादि आकार रूप ज्ञान होता है और वह उसी वस्तु को जानता है तो वह क्षणिकत्वादि को भी जानेगा, ऐसी हालत में क्षणिकत्व को साधने के लिये जो अनुमान प्रमाण ——— वह व्यर्थ होगा, अर्थात् "सर्वं क्षणिकं सत्वात्" यह बौद्ध का प्रसिद्ध

इति प्रतिकर्मनियमः कुतः सिद्ध्येत् ? निराकारस्यापि कुतश्चिन्निमित्तात् प्रतिकर्मसिद्धावन्यत्राप्यत एव तत्सिद्धेः किमाकारकल्पनयेति ?

भावार्थ—बौद्ध ज्ञान के भिन्न २ विषयों की व्यवस्था अर्थात् अमुक ज्ञान अमुक वस्तु को ही जानता है अन्य को नहीं इस प्रकार की सिद्धि करने के लिये ही ज्ञान को साकार मानते हैं। पुनः निश्चयज्ञान को निराकाररूप होने की बात करते हैं, तब आचार्य ने कहा—कि यदि एक ज्ञान निराकार होकर भी वस्तु व्यवस्था को कर लेता है तो सभी ज्ञानों को भी निराकार कहना होगा, विषय व्यवस्था की बात तो पहिले कह ही दी है। ज्ञान के अन्दर ऐसी ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम जन्य योग्यता है कि जिसके कारण विषयविभाग सिद्ध होता है—अमुकज्ञान अमुकवस्तु को ही जानता है अन्य को नहीं, क्योंकि अन्य विषय में उसका क्षयोपशम ही नहीं है, इस प्रकार ज्ञान को साकार मानना सिद्ध नहीं होता है।

*** साकारज्ञानवाद समाप्त ***

❖

साकारज्ञानवाद के खंडन का सारांश

बौद्ध ज्ञान को आकारवान् मानते हैं, उनके यहां "ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है उसी पदार्थ के आकार को वह धारण करता है, और उसी को जानता है" ऐसा माना गया है। इसी को तदुत्पत्ति, तदाकार या ताद्रूप्य और तदध्यवसाय कहा गया है। इनकी मान्यता है कि जिस प्रकार पुत्र पिता से उत्पन्न होकर उसका आकार धारण करता है, वैसे ही ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसी के आकार वाला बन जाता है, ज्ञान में यदि पदार्थ का आकार न हो तो प्रतिनियत व्यवस्था—प्रतिनियत पदार्थ की कि घट का ज्ञान घट को जाने, पट का ज्ञान पट को जाने ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती है, इस पर जैन का कहना है कि साकारज्ञान प्रत्यक्ष से तो अनुभव में आता नहीं है, तथा ज्ञान यदि विषयाकार होगा तो उसमें दूर निकट आदि व्यवहार कैसे सधेगा, अर्थात् यह मेरा हाथ बिलकुल मेरे पास है, यह पर्वत दूर है, ऐसा कैसे कहेंगे। क्योंकि हाथ और पर्वत दोनों ही उस ज्ञान के अन्दर हो

कत्व तत्रैव प्रामाण्यं नान्यत्रेति। नन्वसौ निश्चयः साकारः, निराकारो वा? साकारत्वे-तत्रापि नीलाद्याकारस्य क्षणिकत्वाद्याकाराद्भेदाभेदपक्षयोः पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः। तत्रापि निश्चयान्तरकल्पनेऽनवस्था। अथ निराकारः; तर्हि निश्चयात्मना सर्वार्थेष्वविशिष्टस्य ज्ञानस्य 'अयमस्यार्थस्य निश्चयः',

---

है तब तो उससे नील आदि का जानना भी नहीं होगा, क्योंकि नीलत्व और क्षणिकत्व दोनों ही नीलाकार ज्ञान से अभिन्न हैं। वह एक को जानेगा तो दूसरा भी जानने में आवेगा? नहीं तो दोनों को वह नहीं जानेगा।

बौद्ध—पदार्थों में अनेक धर्म हैं और उनका आकार ज्ञान में है, परन्तु जिस अंश में ज्ञान के साकार की पटुता रहती है उसी में वह ज्ञान निश्चय कराने वाले विकल्प को पैदा करता है और उसी अंश में वह प्रमाण कहलाता है अन्य क्षणिक आदि में नहीं क्योंकि वहां प्रत्यक्ष ज्ञान के सस्कार की पटुता नहीं है।

जैन—अच्छा तो यह तो बताईये कि वह निश्चयरूप विकल्प जिसे ज्ञान के संस्कार ने उत्पन्न किया है वह साकार है कि निराकार? यदि साकार है तो वह निश्चय में आये हुए नीलादि आकारसे क्षणिकत्वादि आकार भिन्न है कि अभिन्न है? भिन्न है तो नीलादि आकार नित्य बन जाते हैं, और अभिन्न है तो नीलाकारवत् क्षणिकत्वाकार भी संवेदन होगा? इत्यादि पूर्वोक्त दोषोंका प्रसग वैसा ही बना रहता है।

तुम कहो कि निश्चयगत नीलाकार के क्षणिकत्व को जानने के लिये अन्य निश्चयरूप ज्ञान आता है तो अनवस्था होगी अर्थात् किसी नीलाकार ज्ञानके आकार का निश्चय कराने वाला ज्ञान यदि साकार है तो उसके आकार का निश्चायक अन्य तीसरा ज्ञान मानना होगा इत्यादि, इस प्रकार अनवस्थादोष से छुटकारा नहीं हो सकता। बौद्ध यदि उस निश्चयात्मक विकल्पज्ञान को निराकार मानते हैं तब तो निश्चय स्वरूप से सभी पदार्थों में समान ही ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा, क्योंकि आकार नहीं होने से वह ज्ञान इस नील का है इत्यादि प्रतिकर्म व्यवस्था बन नहीं सकती। निराकारज्ञान में भी यदि किसी विशिष्ट कारण से प्रतिकर्म व्यवस्था अर्थात् यह "घट है, यह पट है" घटज्ञान घट को जानता है, पट को नहीं जानता इत्यादि पृथक् व्यवस्था बन जाती है ऐसा माना जायगा तो फिर जैसे निश्चयज्ञान निराकार होकर वस्तु व्यवस्था कर देता है तो अन्य सभी ज्ञान भी निराकार सिद्ध हो ही जायेंगे, उनके सिद्ध होने पर तो साकार ज्ञान की कल्पना करना बेकार ही है।

किञ्च, ज्ञानगतान्नीलाद्याकारात् क्षणिकत्वाद्याकार: किं भिन्नः, अभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत्; नीलाद्याकारस्याक्षणिकत्वप्रसङ्गस्तद्व्यावृत्तिलक्षणत्वात्तस्य। अथाभिन्नः; तर्हि ततोऽर्थस्य नीलत्वादिवत् क्षणिकत्वादेरपि प्रसिद्धेस्तदर्थमनुमानमनर्थकम्। तदसिद्धौ वा नीलत्वादेरप्यतः सिद्धिर्न स्यादविशेषात्। ननु चानेकस्वभावार्थाकारत्वेपि ज्ञानस्य यस्मिन्नंशे संस्कारपाटवाभ्यासप्रत्ययोत्पाद-

---

तदुत्पत्ति, तदाकार, और तदध्यवसाय ये तीनों ही हैं किन्तु वह ज्ञान सत्य नहीं कहलाता, अर्थात् पीलिया रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है सो उसका वह ज्ञान तदुत्पत्ति–तदाकार और तदध्यवसाय वाला है अर्थात् उसी शंख से वह उत्पन्न हुआ है, उसी शंख के आकार को धारण करता है तथा उसी शंख को जानता है, अतः उस समनन्तर प्रत्यय में प्रामाण्य मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा ज्ञान सत्य नहीं कहलाता, इसलिये ये तदुत्पत्ति आदि तीनों हेतु ज्ञान के विषयों का नियामकपना सिद्ध नहीं करते हैं, यदि बौद्ध का यही हठाग्रह हो कि साकारता के कारण ही ज्ञान में प्रामाण्य आता है तो स्वरूप संवेदन में– अपने आपको जानने में प्रवृत्त हुए ज्ञान में प्रमाणता नहीं घटित हो सकेगी, क्योंकि उसमें तदाकारता तो है नहीं ॥

पुनः बौद्ध से हम पूछते हैं कि ज्ञान में होने वाले जो नील आदि आकार हैं उनसे क्षणिकत्व आदि आकार भिन्न हैं कि अभिन्न हैं ? यदि भिन्न माने जावें तो उनसे पृथक् हुए नीलादि आकार अक्षणिक–नित्य बन जावेंगे, क्योंकि क्षणिकत्व की जहां व्यावृत्ति है वहां अक्षणिकत्व रहता ही है। ज्ञानगत नीलादि आकारों से यदि क्षणिकत्व आदि धर्म अभिन्न हैं ऐसा माना जाये तो वह नीलाकार ज्ञान जैसे नील पदार्थ के नीलत्व को जानता है वैसे ही वह उसी पदार्थ के अभिन्न धर्म क्षणिकत्व को भी जान लेगा, तब फिर उस क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये अनुमान का प्रयोग करना ही व्यर्थ होगा।

भावार्थः– बौद्ध वस्तुगत नीलत्वादि धर्मोंका ग्रहण होना तो प्रत्यक्ष के द्वारा मानते हैं, और क्षणिकत्वादि का ग्रहण अनुमान के द्वारा होना मानते हैं। इसलिये आचार्य ने यहां पर पूछा है कि पदार्थ का आकार जब ज्ञान में आता है तब उसके अन्य धर्म अभिन्न होने से उस प्रत्यक्ष ज्ञान में आ ही जावेंगे, अतः "सर्वं क्षणिकं सत्वात्" सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि वे सद्रूप हैं इत्यादि अनुमान के द्वारा उस नील आदि वस्तु के क्षणिक धर्म को जानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहीत हो जावेंगे। यदि उस अभिन्न क्षणिकत्व को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं जानता

अनुमान नहीं रहेगा, क्योंकि क्षणिकत्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जावेगी, इस पर बौद्ध की दलील है कि जिस वस्तु के अंश में संस्कार पटुता आदि रहती है ज्ञान उसी को जानता है सो वह संस्कार आदि की पटुता उसी अंश में क्यों और अंश में क्यों नहीं ? इत्यादि शंकाएँ खड़ी रहती हैं । इसीप्रकार तदुत्पत्ति का इन्द्रिय के साथ व्यभिचार भी होता है, अर्थात् ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होकर भी उसको नहीं जानता है, तथा तदाकारपना भी जडता के साथ व्यभिचरित है, अर्थात् ज्ञान जडाकार न होकर भी उस जडता को जानता है, तथा जिसमें तदुत्पत्ति और तदाकार दोनों हैं वहां भी व्यभिचार देखा जाता है, देखिये—विवक्षित एक ज्ञान अपने पूर्ववर्ती ज्ञान से पैदा होकर उसके आकार रूप भी रहता है फिर भी उसे नहीं जानता है । अच्छा तीनों—तदुत्पत्ति, तदाकार, और तदध्यवसाय जिसमें है वहां भी अव्याप्ति है, सफेद शंख में पीलिया रोगी को पीले शंखरूप ज्ञान होता है, वहां तदुत्पत्ति—शंख से उत्पन्न होना, तदाकार—शंखाकार होना, और तदध्यवसाय—शंख को जानना ये सब हैं फिर भी वह ज्ञान प्रमाण नहीं है, इसलिये तदुत्पत्ति की इन्द्रियादि के साथ अति व्याप्ति होती है, तदाकारता की जड़ता के साथ अतिव्याप्ति होती है, दोनों की—तदुत्पत्ति तदाकार की पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान के साथ अतिव्याप्ति होती है और तीनों की सफेद शंख में पीताकार ज्ञान के साथ अतिव्याप्ति होती है, इस प्रकार बौद्ध के ज्ञान का लक्षण जो साकारपना है वह अनेक दोषों से भरा है, अतः वह मानने योग्य नहीं है ।

*** साकारज्ञानवाद का सारांश समाप्त ***

भूतचैतन्यवाद पूर्वपक्ष

भारतीय दर्शन में एक नास्तिक मत है और सब आस्तिकवादी हैं, जो शरीर से जीवात्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करता तथा परलोक—स्वर्ग आदि को नहीं मानता उस मत को नास्तिक मत कहा गया है, इसी का नाम चार्वाक मत है।

जैनाचार्य ने जब ज्ञान को स्व को जानने वाला और आत्मा का गुण है ऐसा कहा तब चार्वाक ज्ञान तथा जीव के विषय में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करता है—

जैन ज्ञान को स्व संविदित मानकर जीव की पृथक् सत्ता सिद्ध करते हैं वह असत्य है, क्योंकि जीव नाम का कोई शरीर से भिन्न पदार्थ नहीं है, अतः उसमें ज्ञानादि गुण का वर्णन करना आकाश पुष्प की तरह बेकार है। देखिये—जीव या आत्मा को प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि वह दिखायी नही देता है। अनुमान प्रमाण से सिद्ध करना चाहो तो प्रथम तो अनुमान ज्ञान असत्—अवास्तविक है और दूसरी बात शरीर से न्यारा जीव कभी भी किसी भी व्यक्ति को दिखाई नहीं देता है, तो फिर वह शरीर से पृथक् कैसे माना जाय। बात तो यह है कि जैन आदि प्रवादी जिसे जीव कहते हैं वह तो पृथिवी आदि भूत चतुष्टय से बना हुआ है—अर्थात् उनसे उत्पन्न हुआ है, हमारे यहां चार ही तत्त्व माने गये हैं—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चारों को ही भूतचतुष्टय कहते हैं। इन भूतों के दो दो भेद हैं—(१) सूक्ष्म भूत और स्थूल भूत, इनमें जो सूक्ष्म पृथिवी आदि भूत हैं उनसे जीव या चैतन्य उत्पन्न होता है—कहा भी है—'पृथिव्यप्तेजोवायुरितितत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषय-संज्ञाः, तेभ्यश्चैतन्यम्''—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ये चार तत्त्व हैं, इन चारों के समुदाय स्वरूप ही शरीर तथा इन्द्रियां एवं उनके विषय स्पर्शादिक हैं। इन भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है। जगत् में जितने भर भी पदार्थ हैं वे सब दृश्यमान ही हैं। कोई अदृश्य पदार्थ नही है। यदि जबर्दस्ती मान भी लिया जाय तो उसकी किसी भी प्रकार से सिद्धि भी नहीं हो सकती है। जीव या आत्मा को किसी समय में किसी क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति ने शरीर से पृथक् रूप में देखा नहीं है, अतः शरीर की उत्पत्ति के साथ ही एक चैतन्य या ज्ञानादि से विशिष्ट आत्मा नाम की शक्ति पैदा

हो जाया करती है, और शरीर के नष्ट होने पर वह शक्ति समाप्त हो जाया करती है, ऐसा सिद्ध होता है। जैसे—गुड़, महुआ, आटा आदि के मिश्रित होने पर मद-कारक शक्ति पैदा होती है, जब बिच्छू आदि जीव गोबर आदि से पैदा होते हुए साक्षात् देखे जाते हैं तब इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा भूतचतुष्टय–सूक्ष्मभूतों का ही परिणमन है अन्य कोई वह पृथक्–स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। जब जीव नाम की वस्तु ही नहीं तो उसका वर्णन करना कि उसमें ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं, जीव मरकर नरकादि गति में गमन किया करता है, कर्मों को नष्ट कर देता है और मोक्ष जाता है इत्यादि सब कथन बन्ध्या पुत्र के सौभाग्य के वर्णन करने के समान हास्यास्पद है, जीव का परलोक गमन ही नहीं है, अतः परलोक के लिये व्रत, नियम आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करना भी व्यर्थ, वर्तमान सामग्री को छोड़कर भविष्यत् की आशा से उसके लिये प्रयत्न करना मूर्खता है क्योंकि जीव और जीव का ज्ञानादिरूप स्वभाव भूततत्त्व से पृथक् सिद्ध नहीं होता है।

*** पूर्वपक्ष समाप्त ***

भूतचैतन्यवादः

*

नन्वस्तु निराकारत्वं विज्ञानस्य; न तु स्वसंविदितत्वं भूतपरिणामत्वाद्दर्पणादिवदित्यप्य-
युक्तम्; हेतोरसिद्धेः। भूतपरिणामत्वे हि विज्ञानस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गो दर्पणादिवत्।
सूक्ष्मभूतविशेषपरिणामत्वान्न तत्प्रसङ्गः; इत्यप्यसङ्गतम्; स हि चैतन्येन सजातीयः, विजातीयो

यहां पर चार्वाक जैन से कहता है कि आपने बौद्ध के साकार ज्ञानका खंडन करके निराकार ज्ञान सिद्ध किया यह बहुत ठीक हुआ, किन्तु उस ज्ञान को आप स्वसंविदित मानते हैं सो वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान भूततत्त्व का (अचेतन का) परिणमन है, जैसे कि दर्पण आदि पदार्थ।

जैन—यह चार्वाक का कथन चारु नहीं है, क्योंकि उनका प्रस्तुत किया हुआ भूतपरिणामत्व असिद्ध है, यदि ज्ञान भूतों का परिणामस्वरूप होता तो उसका दर्पण के समान बाह्य इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण हो जाता; किन्तु वह किसी से ग्रहण नही होता।

चार्वाक—ज्ञान अतिसूक्ष्म भूतों का परिणमन स्वरूप है, अतः वह बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में नहीं आता है।

जैन—यह कथन भी ठीक नही है, हम आपसे पूछते हैं कि वह सूक्ष्म भूत चैतन्य का सजातीय होकर कि विजातीय होकर ज्ञान का उपादान कारण होता है? यदि सूक्ष्मभूत चैतन्य का सजातीय होकर वह उसका उपादान कारण होता है तो इस पक्षमें सिद्ध साध्यता ही होगी, क्योंकि इस प्रकार को मान्यता सिद्ध को ही सिद्ध करती है, आप उसे सूक्ष्मभूत कहते हो हम जैन उसी को आत्मा कहते हैं। वह अचेतन द्रव्य से भिन्न स्वभाववाला है, रूप, रस, आदि से रहित है एवं सर्वदा बाह्य नेत्र आदि इन्द्रियों से ग्रहण नही हो सकने वाला है। केवल स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही उसका ग्रहण

वा तदुत्पादन(तदुपादान)हेतुः स्यात् ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; सूक्ष्मो हि भूतविशेषोऽचेतनद्रव्य-व्यावृत्तस्वभावो रूपादिरहितः सर्वदा बाह्येन्द्रियाविषयः स्वसंवेदनप्रत्यक्षाधिगम्यः परलोकादिसम्बन्धित्वेनानुमेयश्च आत्मापरनामा विज्ञानोपादानहेतुरिति परैरभ्युपगमात्।

तस्यातो विजातीयत्वे नोपादानभावः। सर्वथा विजातीयस्योपादानत्वे वह्नेर्जलाद्युपादान-भावप्रसङ्गात् तत्त्वचतुष्टयव्याघातः। सत्त्वादिना सजातीयत्वात्तस्योपादानभावेपि अयमेव दोषः। प्रमाणप्रसिद्धत्वाच्चात्मनस्तदुपादानत्वमेव विज्ञानस्योपपन्नम्। तथा हि-यद्यतोऽसाधारणलक्षणविशेष-विशिष्टं तत्त्वतस्तत्त्वान्तरम्; यथा तेजसो वाय्वादिकम्, पृथिव्याद्यसाधारणलक्षणविशेषविशिष्टं च

होता है, वह परलोकगमन एवं पुण्य पाप आदि से अनुमान का विषय होता है, वही आत्मा ज्ञानका उपादान कारण है, अर्थात् ज्ञान आत्मा से उत्पन्न हुआ है ऐसा हम मानते हैं। द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि सूक्ष्म भूतविशेष को विज्ञान से भिन्न जातिवाला मानने में आता है तो वह चैतन्य स्वरूप ज्ञान का उपादान कारण नहीं बन सकता है, क्योंकि सर्वथा विजातीय तत्त्व यदि अन्य का उपादान बनता है तो अग्निका उपादान जल भी बन सकता है, फिर तो आपका पृथक् रूप से सिद्ध किया गया तत्त्व चतुष्टय का व्याघात ही हो जायेगा।

चार्वाक—सत्त्व आदि की अपेक्षा से तो सूक्ष्मभूत चैतन्यस्वरूप ज्ञानका सजातीय ही कहलाता है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानमें सत्त्व प्रमेयत्व आदि धर्म हैं; वैसे ही सूक्ष्मभूतों में भी सत्त्व प्रमेयत्व आदि धर्म हैं, अतः वह ज्ञान का सजातीय होने से उपादान बनता है।

जैन – ऐसा मानने पर भी यही पूर्वोक्त दोष आता है, अर्थात् जैसे सत्त्व आदि धर्म सूक्ष्मभूतों में हैं और ज्ञान में भी हैं अतः वे भूतविशेष ज्ञानके प्रति उपादान होते हैं वैसे ही अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी इनमें भी समानरूप से सत्त्व आदि धर्म रहते हैं, अतः इनमें भी परस्पर में उपादानभाव बनना चाहिये, अर्थात् अग्नि आदि से जल आदि होना स्वीकार करना चाहिये, किन्तु आपको यह इष्ट नहीं है, आप तो इन चारों का उपादान पृथक् पृथक् मानते हो, अतः सत्त्व आदि की अपेक्षा सजातीय बताकर चैतन्य ज्ञानके प्रति जडभूतविशेष में उपादानता सिद्ध करना शक्य नहीं है, देखिये— प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्मा ही ज्ञान का उपादान है, अनुमान प्रयोग—चैतन्य पृथिवी आदि से भिन्न जातीय है, क्योंकि उसकी अपेक्षा उसमें असाधारण लक्षणविशेष

चैतन्यमिति । न चायमसिद्धो हेतुः; चैतन्यस्य ज्ञाना(ज्ञान)दर्शनोपयोगलक्षणत्वात्, भूपयःपावकपवनानां धारणेरणद्रवोष्णतास्वभावानां तल्लक्षणाभावात् । न हि भूतानि ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणानि अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षत्वात् । यत्पुनस्तल्लक्षणं तन्नास्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षम् यथा चैतन्यम्, तथा च भूतानि, तस्मात्तथैवेति ।

ननु ज्ञानाद्युपयोगविशेषव्यतिरेकेणापरस्य तद्वतः प्रमाणतोऽप्रतीतेः असिद्धमेवासाधारणलक्षणविशेषविशिष्टत्वम्; तथाहि–न तावत्प्रत्यक्षेणासौ प्रतीयते; रूपादिवत्तत्स्वभावानवधारणात् ।

पाया जाता है, जो जिसकी अपेक्षा असाधारण लक्षण वाला होता है वह वास्तविक उससे पृथक् ही होता है, जैसे कि अग्नि से पृथक् लक्षणवाला वायु है अतः वह उससे भिन्न तत्त्व है, पृथिवी आदिकी अपेक्षा चैतन्य भी असाधारण लक्षण से लक्षित है अतः वह भी उससे भिन्न तत्व है यह असाधारणलक्षणरूप विशेष हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि चैतन्यलक्षण सर्वथा असाधारण है, देखिये—चैतन्यका लक्षण ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगस्वरूप है और भू, जल, अग्नि, वायु इनका क्रमशः धारण, द्रवण, उष्णता और ईरण स्वरूप है, इसलिये आत्मा के असाधारण लक्षण का इनमें अभाव है । भूमि आदि स्वरूप जो भूतचतुष्टय है वे ज्ञान–दर्शन–उपयोगलक्षण वाले नहीं हैं, क्योंकि वे सब हम जैसे अनेक व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हैं, जिस तत्त्व में ज्ञानोपयोग आदि लक्षण रहते है वे पदार्थ हमारे जैसे अनेक जाननेवाले व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किये जा सकते हैं, जैसा कि चैतन्य प्रत्यक्ष नही होता है, पृथिवी आदि भूतविशेष हमारे प्रत्यक्ष तो होते हैं अतः वे ज्ञानादिस्वभाववाले सिद्ध नहीं होते है । इस प्रकार अनुमान से ज्ञान का उपादान पृथक् ही सिद्ध हुआ ।

चार्वाक—ज्ञान और दर्शन उपयोगविशेष को छोड़कर अन्य कोई पृथक् आत्मा नामका पदार्थ सिद्ध नही होता है कि जिसमें वे ज्ञानादि रहते हों, अतः असाधारणलक्षण विशेष विशिष्टत्व हेतु असिद्ध दोष युक्त है, मतलब-ज्ञानादि से भिन्न आत्मा तो कोई उपलब्ध होता नहीं, अतः आत्मा का लक्षण ज्ञान दर्शन है इत्यादि कहकर उसको भूतों से असाधारणलक्षण से लक्षित बताना व्यर्थ है, देखो–आपका आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष से तो प्रतीत होता नहीं, क्योंकि उसका रूप आदि के समान स्वभावों का अवधारण हो नहीं हो पाता । अनुमान से आत्मा को सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अनुमान को हम प्रमाणभूत मानते हो नहीं हैं, तथा जबर्दस्ती मान भी लेवें तो भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करनेवाला कोई अनुमान ही नहीं है ।

नाप्यनुमानेन; अस्य प्रामाण्याप्रसिद्धेः। न च तद्भावावेदकं किञ्चिदनुमानमस्ति; इत्यसङ्गतम्; प्रत्यक्षेणैवात्मनः प्रतीतेः 'सुखयहं दुःखयहमिच्छावानहम्' इत्याद्यनुपचरिताहम्प्रत्ययस्यात्मग्राहिणः प्रतिप्राणि संवेदनात्। न चायं मिथ्याऽबाध्यमानत्वात्। नापि शरीरालम्बनः; बहिःकरणनिरपेक्षान्तःकरणव्यापारेणोत्पत्तेः। न हि शरीरं तथाभूतप्रत्ययवेद्यं बहिःकरणविषयत्वात्, तस्यानुपचरिताहम्प्रत्ययविषयत्वाभावाच्च। न हि 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इत्याद्यभिन्नाधिकरणतया प्रत्ययोऽनुपचरितः; अत्यन्तोपकारके भृत्ये 'अहमेवायम्' इति प्रत्ययस्याप्यनुपचरितत्वप्रसङ्गात्। प्रतिभासभेदो बाधकः अन्यत्रापि समानः। न हि बहलतमःपटलपटावगुण्ठितविग्रहस्य 'अहम्' इति प्रत्ययप्रतिभासे स्थूल-

---

जैन—यह बात असंगत है, आत्मा तो प्रत्यक्ष से प्रतीति में आ रहा है—"मैं सुखी हूं, मैं दु खी हूं, मैं इच्छावाला हूं" इत्यादि सर्वथा उपचाररहित सत्यभूत अहं प्रत्यय से आत्मा प्रत्येक प्राणियों को प्रतीति में आ रहा है, वह प्रतीति मिथ्या तो बिलकुल ही नही है, क्योंकि यह अबाधित है, यह अहं प्रत्यय शरीर में तो होता नहीं है, क्योंकि बाह्य जो नेत्र आदिक इन्द्रियां हैं; उनकी अपेक्षा किये विना ही वह अन्तःकरण के व्यापार से उत्पन्न हुए ज्ञान से वेद्य होता है, शरीर इस प्रकार के ज्ञान से वेद्य नहीं होता है, क्योंकि उसका वेदन तो बाहिरी इन्द्रियों से होता है, नेत्र आदि से वह दिखाई देता है, ऐसे इस शरीर में अनुपचरित अर्थात् उपचार रहित वास्तविकरूप से अहंपने की प्रतीति हो नहीं सकती। कोई कहे कि शरीर में भी "मैं कृश हूं, मैं स्थूल हूं" इत्यादि रूप अहं प्रत्यय होता है सो भी बात नहीं, यह प्रत्यय अहंपने का अनुकरण जरूर करता है किन्तु यह अनुपचरित तो नहीं है, ऐसे अहंपने को वास्तविक कहोगे तो अत्यन्त उपकारक निकटवर्ती नौकर के विषय में भी स्वामी को "मैं ही यह हूं" ऐसा अहंपना पाया जाता है, सो उसे भी अनुपचरित मानना पड़ेगा।

चार्वाक—इस नौकर आदि में तो प्रतिभास का भेद दिखता है।

जैन—तो फिर वैसे ही शरीराधार अहंप्रत्यय भी प्रतिभास भेदवाला है, अर्थात् आत्मा में होनेवाला अहंप्रत्यय वास्तविक है एवं शरीर में होनेवाला अहंप्रत्यय काल्पनिक है ऐसा सिद्ध होता है, देखो–बहुत गाढ अन्धकार से अवगुंठित शरीरवाले पुरुष को अहंपने का ज्ञान होता है उस प्रतिभास में स्थूल आदि धर्मवाला शरीर तो प्रतीत होता ही नहीं है। बात यह है कि उपचार विना निमित्त के होता नहीं, अतः आत्मा का उपकारक होने से शरीर में भी उपचार से अहंपना प्रतीत हो जाता है,

त्वादिधर्मोपेतो विग्रहोपि प्रतिभासते । उपचारश्च निमित्तं विना न प्रवर्तते इत्यात्मोपकारकत्वं निमित्तं कल्प्यते भृत्यवदेव । 'मदीयो भृत्यः' इतिप्रत्ययभेदवत् 'मदीयं शरीरम्' इति प्रत्ययभेदस्तु मुख्यः ।

यच्चोक्तम्—रूपादिवत्तत्स्वभावानवधारणात्; तदयुक्तम्; 'अहम्' इति तत्स्वभावस्य प्रतिभासनात् । न चार्थान्तरस्यार्थान्तरस्वभावेनाप्रत्यक्षत्वं दोषः, सर्वपदार्थानामप्रत्यक्षताप्रसङ्गात् । अथात्मनः कर्तृत्वादेकस्मिन् काले कर्मत्वासम्भवेनाप्रत्यक्षत्वम्; तन्न; लक्षणभेदेन तदुपपत्तेः,

---

जैसे कि अत्यन्त उपकारक नौकर के लिये हम कह देते हैं कि अजी "मैं ही यह हूं" और कोई पराया व्यक्ति नहीं है, इत्यादि ।

चार्वाक—नौकर को तो ऐसा भी कहा जाता है कि यह मेरा नौकर है ।

जैन—तो वैसे ही शरीर को भी कहा जाता है कि यह मेरा शरीर है इत्यादि यहां पर जो भिन्नता है वह तो वास्तविक ही है, मतलब–'मैं कृश हूं" इत्यादि प्रतीति में अहंपना तो उपचारमात्र है किन्तु "मेरा शरीर है" यह प्रतिभास तो सत्य है, आप चार्वाक ने कहा था कि रूप आदि की तरह आत्मा का स्वभाव अवधारित नहीं होता इत्यादि वह कथन अयुक्त है, आत्मा का स्वभाव तो "अहं-मैं" इस प्रकार के प्रतिभास से अवधारित हो रहा है । भिन्न स्वभाववाले पदार्थ का भिन्न किसी अन्य स्वभाव से प्रत्यक्षपना न हो तो उसको नही माना जाय ऐसी बात नहीं है अन्यथा तो सभी पदार्थ अप्रत्यक्ष हो जायेगे । क्योंकि किसी एकरूप या ज्ञान आदि का अन्य दूसरे रस आदि स्वभाव से प्रतिभास तो होता नहीं है ।

चार्वाक—आत्मा कर्त्ता है अतः एक ही काल में वह कर्मरूप से प्रतीत नहीं होता इसीलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता अर्थात् "अहं" यह तो कर्तृत्वरूप प्रतिभास है, आत्मा को जानता हूं या स्वयं को जानता हूं ऐसे कर्मपनेरूप से उसका प्रतिभास उस अहं प्रत्यय के समय कैसे होगा ।

जैन—ऐसा नहीं कहना, लक्षण भेद होने से कर्तृत्व आदि की व्यवस्था बन जाती है । कर्तृत्व का लक्षण स्वातन्त्र्य है, "स्वतन्त्रः कर्त्ता" इस प्रकार का व्याकरण का सूत्र है । तथा वह कर्तृत्व ज्ञान क्रिया से व्याप्त होकर उपलब्ध होता है, अतः कर्मत्व भी आत्मा में अविरुद्ध ही रहेगा कर्म का लक्षण तो "क्रिया व्याप्तं कर्म" जो क्रिया से व्याप्त हो वह कर्म है ऐसा है । सो आत्मा में जानने रूप क्रिया व्याप्त है अतः वह

स्वातन्त्र्यं हि कर्तृत्वलक्षणं तदैव च ज्ञानक्रियया व्याप्यत्वोपलब्धेः कर्मत्वं चाविरुद्धम्, लक्षणाधीनत्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः।

तथानुमानेनात्मा प्रतीयते। श्रोत्रादिकरणानि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वाद्वास्यादिवत्। न चात्र श्रोत्रादिकरणानामसिद्धत्वम्; 'रूपरसगन्धस्पर्शशब्दोपलब्धिः करणकार्या क्रियात्वाच्छिदिक्रियावत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धेः। तथा शब्दादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वाद्रूपादिवत् इत्यनुमानतोप्यसौ प्रतीयते। प्रामाण्यं चानुमानस्याग्रे समर्थयिष्यते। शरीरेन्द्रियमनोविषयगुणत्वाद्विज्ञानस्य न तद्व्यतिरिक्ताश्रयाश्रितत्वम्, येनात्मसिद्धिः स्यादित्यपि मनोरथमात्रम्; विज्ञानस्य तद्गुणत्वासिद्धेः।

कर्मरूप भी बन जाता है। वस्तु व्यवस्था तो लक्षण के आधीन हुआ करती है, अर्थात् वस्तु का जैसा असाधारण स्वरूप रहता है उसी के अनुसार उसे कहा जाता है।

इस अनुमान के द्वारा भी आत्मा प्रतीति में आता है—श्रोत्र आदि इन्द्रियां कर्त्ता के द्वारा प्रयोजित की जाती हैं, क्योंकि वे करण हैं। जैसे कि वसूला आदि करण हैं। अतः वे देवदत्त आदि कर्त्ता के द्वारा प्रयोग में आते हैं—वैसे ही इन्द्रियां करण होने से उनका प्रयोक्ता कोई अवश्य होगा, कर्ण आदि इन्द्रियों में करणपना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि रूप रस गंध स्पर्श शब्द इन सबकी जो उपलब्धि रूप क्रिया होती है वह इन्द्रियों द्वारा होती है, अतः यह करण की कार्य रूप है, जैसे कि छेदन क्रिया एक कार्य है। इस अनुमान से इन्द्रियों में करणपना सिद्ध होता है। आत्मा को सिद्ध करने वाला और भी दूसरा अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—शब्दादि का जो ज्ञान होता है—शब्द सुन कर जो अर्थ बोध होता है अथवा अन्य कोई भी इन्द्रियों के विषयों का जो ज्ञान होता है वह कहीं पर तो अवश्य ही आश्रित है, क्योंकि वह शब्दादि का ज्ञान एक गुण है, जो गुण होता है वह कहीं आश्रित जरूर रहता है, जैसे कि रूप आदिक गुण कहीं घट आदि में आश्रित रहते हैं, जहां पर वह ज्ञान गुण आश्रित है वही तो आत्मा है, अनुमान में प्रमाणता का हम आगे समर्थन करने वाले हैं।

चार्वाक—ज्ञान गुण का आश्रय तो शरीर है, इन्द्रियां हैं, मन है और विषयभूत पदार्थ हैं। ये ही सभी ज्ञान के आश्रय भूत देखे जाते हैं। इन शरीरादि से भिन्न और कोई दूसरा आश्रय है नहीं जिससे कि आत्मा की सिद्धि हो जाय, अर्थात् ज्ञान का आश्रय सिद्ध करने के लिये आत्मा को सिद्ध करना जरूरी नहीं, वह तो शरीर आदि रूप आश्रय में ही रहता है।

तथाहि-न शरीरं चैतन्यगुणाश्रयो भूतविकारत्वाद् घटादिवत् । चैतन्यं वा शरीरविशेषगुणो न भवति सति शरीरे निवर्त्तमानत्वात् । ये तु शरीरविशेषगुणा न ते तस्मिन्सति निवर्त्तन्ते यथा रूपादयः, सत्यपि तस्मिन्निवर्त्तते च चैतन्यम्, तस्माच्च तद्विशेषगुणः ।

तथा, नेन्द्रियाणि चैतन्यगुणवन्ति करणत्वाद्भूतविकारत्वाद्वा वास्यादिवत् । तद्गुणत्वे च चैतन्यस्येन्द्रियविनाशे प्रतीतिर्न स्याद्गुणिविनाशे गुणस्याप्रतीतेः । न चैवम्, तस्माच्च तद्गुणः । तथा च प्रयोगः-स्मरणादि चैतन्यमिन्द्रियगुणो न भवति तद्विनाशेप्युत्पद्यमानत्वात्, यो यद्विनाशेप्युत्पद्यते स

जैन —यह कथन मनोरथ मात्र है, ज्ञान शरीर आदि का गुण है यह बात ही बिलकुल असिद्ध है । इसी को अनुमान से सिद्ध करके बताते हैं । शरीर चैतन्य गुणका आश्रय नही है क्योंकि वह शरीर तो भूतों का (पृथिवी आदि का) विकार (पर्याय) है, जैसे-घट आदि पदार्थ भूतों के विकार होने से चैतन्यगुण के आश्रय नहीं होते हैं, और भी सुनिये-चैतन्य शरीर का विशेष गुण नहीं है, क्योंकि शरीर के मौजूद रहते हुए भी वह निकल जाता है, जो शरीर के विशेष गुण होते हैं, वे शरीर के विद्यमान रहते हुए निकल कर नही जाते हैं जैसे कि रूपादिकगुण, शरीर के रहते हुए चैतन्य निवृत्त होकर चला जाता है, अतः वह शरीर का विशेषगुण नहीं है ।

जैसे शरीर ज्ञानगुण का आधारभूत सिद्ध नहीं हुआ उसी प्रकार नेत्र आदि इन्द्रियां भी चैतन्यगुण वाली सिद्ध नही होती हैं । क्योंकि इन्द्रियां तो करण हैं तथा भूतों का विकार स्वरूप भी हैं, जैसे वसूला आदि करण हैं । यदि चैतन्य इन्द्रियों का गुण होता तो इन्द्रियों के नाश होने पर चैतन्य की प्रतीति नहीं होनी चाहिये, गुणी का नाश होने पर गुणों की प्रतीति नहीं होती है, इन्द्रियों का नाश होनेपर भी चैतन्य का अभाव दिखाई नहीं देता है, अतः ज्ञान (चैतन्य) इन्द्रियों का गुण नहीं है । अनुमान प्रयोग से सिद्ध है कि स्मृति सुख आदि स्वरूप वाला चैतन्य इन्द्रियों का गुण नहीं होता है क्योंकि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी वह उत्पन्न होता रहता है, जो जिसके विनाश होने पर भी पैदा होता रहता है वह उसका गुण ही नहीं होता है, जैसे—वस्त्र के नष्ट होने पर भी घट के रूपादिक गुण नष्ट नहीं होते हैं । इन्द्रियों का नाश होने पर भी स्मरण आदि का नाश तो होता नहीं, अतः वह ज्ञान उन इन्द्रियों का गुण नहीं है, यदि चैतन्य को इन्द्रियों का गुण माना जाय तो करण बिना क्रिया की प्रतीति नहीं होगी, अर्थात् इन्द्रियां तो गुणी हो चुकी हैं चैतन्य उसका गुण है तो इन्द्रियां कर्त्तापने को प्राप्त हुई, फिर "जानाति" जानता है इस क्रिया का करण कुछ

न तद्गुणो यथा पटविनाशेपि घटरूपादि, भवति चेन्द्रियविनाशेपि स्मरणादिकम्, तस्मान्न तद्गुणः। यदि चेन्द्रियगुणश्चैतन्यं स्यात्तर्हि करणं विना क्रियायाः प्रतीत्यभावात् करणान्तरेणभवितव्यम्। तेषां च प्रत्येकं चैतन्यगुणत्वे एकस्मिन्नेव शरीरे पुरुषबहुत्वप्रसङ्गः स्यात्। तथाच देवदत्तोपलब्धेऽर्थे यज्ञदत्तस्येवेन्द्रियान्तरोपलब्धे तस्मिन् न स्यादिन्द्रियान्तरेण प्रतिसन्धानम्। दृश्यते चैतत्ततो नेन्द्रियगुणश्चैतन्यम्। अथैकमेवेन्द्रियमशेषकरणाधिष्ठायकमिष्यतेऽतोयमदोषः; तर्हि सञ्ज्ञाभेदमात्रमेव स्यादात्मनस्तथा नामान्तरकरणात्।

नापि चैतन्यगुणवन्मनः करणत्वाद्वास्यादिवत्। कर्तृत्वोपगमे तस्य चेतनस्य सतो रूपाद्युपलब्धौ करणान्तरापेक्षित्वे च प्रकारान्तरेणात्मैवोक्तः स्यात्।

भी नहीं रहा, अतः अन्य किसी को करण बनाना पड़ेगा, तथा अन्य करणभूत जो भी वस्तुएं आवेगी उनका भी एक एक का चैतन्य गुण रहेगा ही, ऐसी हालत में एक ही शरीर में अनेक पुरुष (जीव) या चैतन्य मानने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस तरह से बहुत ही अधिक गड़बड़ी मचेगी, देवदत्त के जाने गये किसी एक विषय में उसी की अन्य इन्द्रिय से प्रतिसंधान नहीं हो सकेगा, क्योंकि अन्य इन्द्रिय का चैतन्य पृथक् है, जैसे कि यज्ञदत्त की इन्द्रिय देवदत्त से पृथक् है।

भावार्थ—जब एक शरीर में अनेक पृथक् २ चैतन्यगुण वाली इन्द्रियां स्वीकार करोगे तो एक ही देवदत्त के द्वारा जाने हुए पदार्थ में उसी की रसना आदि इन्द्रियां प्रवृत्त होने पर भी संबंध नहीं जोड़ सकेगी, कि यह वही आम का मीठा रस है जिसे कि आंख से पीले रंग युक्त जाना था, नेत्र के द्वारा देखे हुए वीणा आदि वाद्य के शब्द का कर्ण के द्वारा प्रतिसंधान नहीं होगा, क्योंकि सब के चैतन्य गुण पृथक् २ हैं, जैसे कि अन्य पुरुष–यज्ञदत्त के द्वारा जाने हुए विषय में हमारी इन्द्रियां प्रतिसंधान नहीं कर पाती वैसे ही खुद की हो इन्द्रियों से प्रतिसंधान होना अशक्य हो जायगा, हमारी इन्द्रियों द्वारा प्रतिसंधान तो अवश्य ही होता देखा जाता है, अतः निश्चित होता है कि चैतन्य इन्द्रियों का गुण नहीं है।

चार्वाक— संपूर्ण करणभूत इन्द्रियोंका अधिष्ठायक अर्थात् प्रेरक या आधारभूत एक विशेष इन्द्रिय स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं आता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्रतिसंधान न होना इत्यादि आपत्ति नहीं रहती है।

जैन—तो फिर आपने नाममात्र का भेद किया–अर्थात् आत्मा का ही नाम "इन्द्रिय" इस प्रकार धर दिया, अर्थभेद तो कुछ रहा नहीं, मन भी चैतन्य गुणवाला

नापि विषयगुणः; तदसान्निध्ये तद्विनाशे चानुस्मृत्यादिदर्शनात् । न च गुणिनोऽसान्निध्ये विनाशे वा गुणानां प्रतीतिर्युक्ता, गुणत्वविरोधानुषङ्गात् । ततः परिशेषाच्छरीरादिव्यतिरिक्ताश्रयाश्रितं चैतन्यमित्यतो भवत्येवात्मसिद्धिः ।

ततो निराकृतमेतत्–'शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेभ्यः पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्तिः, पिष्टोदकगुडधातक्यादिभ्यो मदशक्तिवत्' । ततोऽसाधारणलक्षणविशेषविशिष्टत्वेप्यतत्त्वा(तस्तत्त्वा)न्तरत्वमेव ।

नहीं है, क्योंकि वह करण है, जैसे वसूला आदि करण होते हैं । यदि आप मन को कर्त्तापने से स्वीकार करेंगे तो उस चैतन्यगुणवाले मनको कोई अन्य करण चाहिये, जिसके द्वारा कि रूप आदि विषयों की उपलब्धि वह कर सके इस करणांतर की अपेक्षा को हटाने के लिये फिर आप उन सब करणों का एक प्रेरक कोई स्थापित करोगे तो वही नाम मात्र का भेद होवेगा कि आप उसको इन्द्रिय या अन्य कोई नाम से कहोगे और हम जैन आत्मा नाम से उसको कहेंगे ।

चैतन्य रूप आदि विषय भूत पदार्थों का भी गुण नहीं है, रूपादि विषय चाहे निकट न रहें चाहे नष्ट हो जावें तो भी चैतन्य के अनुभव स्मृति आदि कार्य होते ही रहते हैं, गुणी के निकट न होने पर अथवा नष्ट हो जाने पर गुण तो रहते नहीं, यदि गुणी नही होने पर गुण रहते हैं तो इसके ये गुण हैं ऐसा कैसे कहा जा सकेगा, इस सब कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य न शरीर का गुण है न मन का गुण है, न इन्द्रियों का गुण है और न विषय भूत पदार्थो का ही गुण है, वह तो अन्य ही आश्रय में रहने वाला गुण है, और उसी आश्रयभूत का नाम आत्मा है, इस प्रकार आत्मद्रव्य की प्रसिद्धि अवस्थित है ।। उपर्युक्त आत्मद्रव्य के सिद्ध होने पर चार्वाक का भूतचैतन्यवाद समाप्त हो जाता है । अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और विषय संज्ञक इन पृथिवी आदि भूतों से चैतन्य प्रकट होता है, जैसे कि आटे, जल, गुड़, धातकी, महुआ आदि पदार्थों से मद शक्ति पैदा होती है सो ऐसा यह कथन असत्य ठहरता है, इसलिये अब यह सिद्ध ही हुआ किअसाधारण लक्षण विशेष से विशिष्ट होने से आत्मा एक सर्वथा पृथक ही तत्व है, इस प्रकार असाधारण लक्षण-ज्ञान-दर्शन उपयोग वाला आत्मा नामक भिन्न द्रव्य है यह निर्बाध सिद्ध हुआ ।

चार्वाक के ग्रन्थ में लिखा है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि ये चार तत्त्व हैं, इनके समुदाय होने पर शरीर, इंद्रियां विषय आदि उत्पन्न होते हैं, और इन शरीर आदि

"पृथिव्य(व्या)पस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्" [ ] इत्यत्र 'अभिव्यक्तिमुपयाति' इति क्रियाध्याहारादतः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुरिति; शब्दसामान्याभिव्यक्तिनिषेधेनास्य चैतन्याभिव्यक्तिवादस्य विरोधाच्च।

किंच, सतोऽभिव्यक्तिश्चैतन्यस्य, असतो वा स्यात्, सदसद्रूपस्य वा ? प्रथमकल्पनायाम्

से चैतन्य होता है, इस वाक्य में अभिव्यक्ति क्रिया का अध्याहार करते हैं, अर्थात् "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः, तेभ्यश्चैतन्यं" इस सूत्र में "अभिव्यक्तिमुपयाति" इस क्रिया का अध्याहार करने से चैतन्य प्रकट होता है ऐसा अर्थ होता है, तब तो वह पूर्वोक्त जैन के द्वारा कहा गया असाधारणलक्षणविशेषविशिष्टत्व हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला हो जाता है।

भावार्थ—पृथिवी आदि से चैतन्य प्रकट होता है तो उसमें असाधारण धर्म रह सकता है, अर्थात् पृथिवी आदि से मात्र चैतन्य प्रकट होता है तो उन पृथिवी आदि से असाधारण–पृथिवी आदि में नहीं पाये जाने वाले धर्म चैतन्य में हो सकते हैं, क्योंकि पृथिवी आदि से वह चैतन्य प्रकट हुआ है, न कि पैदा हुआ है, इसलिये शंका बनी रहेगी कि क्या मालूम पृथिवी आदि से व्यक्त हुए इस चैतन्य में पृथिवी आदि के साधारण ही धर्म हैं अथवा असाधारण लक्षण हैं ? इसलिये जैन के द्वारा पहिले आत्मा को भूतचतुष्टय से पृथक् सिद्ध करने के लिये दिया गया असाधारण लक्षण विशेषविशिष्ट हेतु शंकित हो जाता है न कि सर्वथा खंडित ।। चार्वाक संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाले हेतु का निषेध करते हैं—उन्होंने नैयायिक के आकाश से शब्द सामान्य की अभिव्यक्ति होने वाले मतका निषेध किया है, उसी प्रकार से यहां पर भी भूतचतुष्टय से चैतन्य की अभिव्यक्ति होने का निषेध होता है।

विशेषार्थ—यौग—नैयायिक और वैशेषिक शब्द की उत्पत्ति आकाश से होती है ऐसा मानते हैं सो उस मान्यता का चार्वाक भी खण्डन करता है–चार्वाक का कहना है कि आकाश से विलक्षण लक्षण वाला शब्द कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। आकाश से शब्द सामान्य अभिव्यक्त होता है ऐसा नैयायिक आदिक है तो वह भी बनता नहीं, क्योंकि जैसे दीपक आदि के द्वारा रात्रि में घट आदि पदार्थ प्रकट—प्रकाशित किये जाते हैं, वैसे कोई शब्द आकाश में रहकर तालु आदि के द्वारा प्रकट होता हुआ माना नहीं जा सकता, अर्थात् दीपक से प्रकाशित होने के पहिले जैसे घट आदि पदार्थों की सत्ता तो सिद्ध ही रहती है, वैसे ही शब्द की सत्ता तालु आदि के

त्स्यानाद्यनन्तत्वसिद्धि:, सर्वदा सतोऽभिव्यक्तेस्तामन्तरेणानुपपत्ते:। पृथिव्यादिसामान्यवत्। तथा च "परलोकिनोऽभावात्परलोकाभाव" [ ] इत्यपरीक्षिताभिधानम्। प्रागसतश्चैतन्यस्याभिव्यक्तौ प्रतीतिविरोध:, सर्वथाप्यसत: कस्यचिदभिव्यक्त्यप्रतीते:। न चैवंवादिनो व्यञ्जककारकयोर्भेद:; 'प्राक्सत: स्वरूपसंस्कारकं हि व्यञ्जकम्, असत: स्वरूपनिर्वर्तकं कारकम्' इत्येवं तयोर्भेदप्रसिद्धि:।

व्यापार के पहिले भी थी ऐसा सिद्ध नहीं होता, इसलिये वे मीमांसक आदि के शब्द के अभिव्यक्त वाद का निरसन करते हैं, इसी प्रकार खुद चार्वाक के चैतन्य अभिव्यक्ति-वाद का भी निरसन अवश्य हो जाता है, क्योंकि जैसे तुम चार्वाक ने शब्द की अभि-व्यक्ति के बारे में प्रश्न किये हैं वैसे ही वे योग या हम जैन आप से चैतन्य अभिव्यक्ति के बारे में प्रश्न करेंगे कि भूतचतुष्टय से अभिव्यक्त होने के पूर्व चैतन्य की सत्ता तो सिद्ध होती नहीं है, तथा वह प्रकट होने से पूर्व अनभिव्यक्त चैतन्य कैसे और कहा पर था ? इत्यादि प्रश्नों का ठीक उत्तर न होने से "भूतों से चैतन्य प्रकट होता है" यह चार्वाक का कथन असत्य ठहरता है।

चार्वाक को यह बताना होगा कि "चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है" सो वह सद्भूत चैतन्य की होती है कि असद्भूत चैतन्य की होती है ? अथवा सदसद्भूत चैतन्य की होती है ? प्रथम पक्ष के अनुसार तो चैतन्य आत्मा अनादि अनंतरूप नित्य ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जो सर्वदा सद्रूप रहकर व्यक्त होगा वह तो अनादि अनंत ही कहलावेगा, नहीं तो उसके बिना वह सद् ही क्या कहलावेगा। जैसे पृथिवी आदि भूतों के सामान्य धर्म पृथिवीत्व आदि को अनादि अनंत माना है वैसे ही चैतन्य सामान्य को अनादि अनंत मानना चाहिये, इस प्रकार अनादि अनंत चैतन्य आत्मा की सिद्धि होने पर "परलोक में जाने वाला ही कोई नहीं अत: परलोक का अभाव है" इत्यादि कथन असत्य ठहरता है।

द्वितीय पक्ष—"पहिले चैतन्य असत् रहकर ही भूतों से अभिव्यक्त होता है" ऐसा कहा जावे तो विरोध दोष होगा क्योंकि सर्वथा असत् की कहीं पर भी अभिव्यक्ति होती हुई नहीं देखी है, तथा इस प्रकार सर्वथा असत् की अभिव्यक्ति मानने वाले आप चार्वाक के मत में व्यञ्जक कारण और कारक कारण इन दोनों में भी कुछ अन्तर ही नहीं रहेगा, व्यञ्जक का लक्षण "प्राक् सत: स्वरूप संस्कारकं हि व्यञ्जकम्" पहिले से जो सत्–मौजूद है उसी में कुछ स्वरूप का संस्कार करना व्यञ्जक कारण का

कथञ्चित्सतोऽसतश्चाभिव्यक्तौ परमतप्रवेशः-कथञ्चिद्द्रव्यतः सतश्चैतन्यस्य पर्यायतोऽसतश्च कायाकार-परिणतैः पृथिव्यादिपुद्गलैः परैरप्यभिव्यक्तेरभीष्टत्वात् पृथिव्यादिभूतचतुष्टयवत् । नन्वेवं पिष्टोद-

---

काम है और "असतः स्वरूप निर्वर्तकं" कारकं असत् के स्वरूप को बनाना कारक कारण का काम है, इस प्रकार इनमें लक्षणभेद प्रसिद्ध ही है ।

भावार्थः—व्यञ्जक कारण दीपक के समान होते हैं जो पहिले से मौजूद हुए पदार्थ को मात्र प्रकट करते हैं, जैसे—अंधेरे में घट का स्वरूप दिख नहीं रहा था सो उसके स्वरूप को दीपक ने दिखा दिया । कारककारण मिट्टी या कुम्हार के समान होते हैं जो नवीन-पहिले नहीं हुई अवस्था को रचते हैं, चार्वाक यदि चैतन्य की अभिव्यक्ति होना मानते हैं तब तो वे भूतचतुष्टय स्वरूप शरीरादिक मात्र चैतन्य के अभिव्यंजक होंगे—अर्थात् चैतन्य कहीं अन्यत्र था वह आकर शरीरादिक में प्रकट हुआ ऐसा सिद्ध होता है ।। तीसरा पक्ष—सत् असत् रूप चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—यदि ऐसा कहा जाय—तो आप चार्वाक स्पष्टरूप से ही जैन बन जाते हैं । हम जैन कथंचित् द्रव्यदृष्टि से सत्रूप चैतन्य है और पर्यायदृष्टि से असत्रूप चैतन्य है ऐसा मानते हैं । यहां पर वैसे ही शरीर के आकार से परिणत हुए पृथिवी आदि पुद्गल से चैतन्य का व्यक्त होना आपको इष्ट हो रहा है, इसलिये चैतन्य भी पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के समान है अर्थात् जैसे पृथिवी आदि भूतद्रव्य पुद्गलरूप से सत् हैं और घट आदि पर्याय से प्रकट होते हैं वैसे ही चैतन्य द्रव्य से तो सत् है और पर्यायरूप से—अवस्था विशेष से प्रकट होता है यह जैनमत सिद्ध होता है ।

शंकाः—यदि इस प्रकार से अभिव्यक्ति का अर्थ करते हो तो फिर आटा, जल आदि से मद शक्ति प्रकट होती—अभिव्यक्त होती है ऐसा भी सिद्ध नहीं होगा । क्योंकि वहां पर भी वे ही विकल्प उपस्थित हो जायेंगे कि पहिले मद शक्ति सत् थी कि असत् थी, इत्यादि ?

समाधान—यह शंका गलत है । क्योंकि हम जैन मद शक्ति को भी द्रव्यदृष्टि से सत्रूप मानते हैं । सारे ही विश्व के पदार्थ सत्रूप से अनादि अनन्त माने गये हैं ।

भावार्थ—जैन धर्म का यह अकाट्य सिद्धान्त है कि जीव आदि प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी रूपमें हमेशा मौजूद ही रहता है । सृष्टिरचना की कल्पना इसलिये असत्य ठहरती है, प्रत्येक वस्तु स्वतः अनादि अनन्तरूप है । उसमें परिवर्तन

कादिभ्यो मदशक्त्यभिव्यक्तिरपि न स्यात् तत्राप्युक्तविकल्पानां समानत्वादित्यप्यसाम्प्रतम्; तत्रापि द्रव्यरूपतया प्राक्सत्त्वाभ्युपगमात्, सकलभावानां तद्रूपेणानाद्यनन्तत्वात्।

शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेभ्यश्चैतन्यस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् 'तेभ्यश्चैतन्यम्' इत्यत्र 'उत्पद्यते' इति क्रियाध्याहारान्नाभिव्यक्तिपक्षभावी दोषोऽवकाशं लभते इत्यन्यः। सोपि चैतन्यं प्रत्युपादानकारणत्वम्, सहकारिकारणत्वं वा भूतानाम् इति पृष्ट स्पष्टमाचष्टाम्? न तावदुपादानकारणत्वं तेषाम्; चैतन्ये भूतान्वयप्रसङ्गात्, सुवर्णोपादाने किरीटादौ सुवर्णान्वयवत्, पृथिव्याद्युपादाने काये पृथिव्याद्यन्वयवद्वा। न चात्रैवम्; न हि भूतसमुदयः पूर्वमचेतनाकारं परित्यज्य चेतनाकारमाददा(ना)नो

अवश्य होता रहता है। उसीको लोक व्यवहार में पैदा होना नष्ट होना इत्यादि नामों से कहा जाता है।

चार्वाक :— यदि हम शरीर, इन्द्रियां, विषय आदि संज्ञक भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति होती है ऐसा स्वीकार करें तो उपर्युक्त दोष नहीं रहेंगे अतः हम चार्वाक "तेभ्यश्चैतन्यं" इस सूत्रांश के साथ "उत्पद्यते" इस क्रिया का अध्याहार करते हैं, इस तरह करने से अभिव्यक्ति के पक्ष में दिये गये दूषण समाप्त हो जावेंगे।

जैन—यह कथन भी खंडित होता है, हम आपसे पूछते हैं कि भूतों से चैतन्य पैदा होता है सो वे भूतचैतन्य के उपादान कारण हैं कि मात्र सहकारी कारण हैं? उपादान कारण तो बन नहीं सकते, क्योंकि यदि चैतन्यका उपादान कारण भूतचतुष्टय होता तो उन भूतों का चैतन्य में अन्वयपना होना चाहिये था, जैसे कि सुवर्णरूप उपादान से पैदा हुआ मुकुट सुवर्ण से अन्वय युक्त रहता है, अथवा–पृथिवी आदि उपादान से पैदा हुए शरीर में पृथिवी आदि का अन्वयपना रहता है. ऐसा अन्वयपना चैतन्य में नहीं है, देखिये–भूतचतुष्टय कभी अपने पहिले के अचेतन आकार को छोड़कर चेतन के आकार होते हुए नहीं देखे जाते हैं। तथा–अपना २ धारण, द्रवण, उष्णता, ईरण स्वभावों का और रूप आदि गुणों का त्याग करते हुए भी नहीं देखे जाते हैं। वे तो अपने भूत स्वभाव युक्त ही रहते हैं। चैतन्य तो धारण आदि स्वभावरहित अंदर में ही स्वसंवेदन से अनुभव में आता है। कोई कहे कि जैसे काजल दीपक रूप उपादान से पैदा हुआ है तो भी उसमें दीपक का अन्वय–भासुरपना नहीं रहता है, इसलिये आपका कथन व्यभिचरित है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि काजल और दीपक इनमें रूप आदिक गुणों का अन्वय तो रहता है, अर्थात् दीपक में भी रूप रस आदि गुण हैं, तथा काजल में भी हैं। पुद्गल के जितने भी विकार होते हैं उन सब में रूपादिका व्यभिचार नहीं हो

धारणेरणद्रवोष्णतालक्षणेन रूपादिमत्त्वस्वभावेन वा भूतस्वभावेनान्वितः प्रमाणप्रतिपन्नः, चैतन्यस्य धारणादिस्वभावरहितस्यान्तःसंवेदनेनानुभवात् । न च प्रदीपाद्युपादानेन कज्जलादिना प्रदीपाद्यन-न्वितेन व्यभिचारः; रूपादिमत्त्वमात्रेणात्राप्यन्वयदर्शनात् । पुद्गलविकाराणां रूपादिमत्त्वमात्रा-व्यभिचारात् । भूतचैतन्ययोरप्येवं सत्त्वादिक्रियाकारित्वादिधर्मैरन्वयसद्भावात् उपादानोपादेयभावः स्यादित्यप्यसमीचीनम्; जलानलादीनामप्यन्योन्यमुपादानोपादेयभावप्रसङ्गात्, तद्धर्मैस्तत्राप्यन्वयस-द्भावाविशेषात् ।

किञ्च, 'प्राणिनामाद्यं चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्त्तत्वान्मध्यचिद्विवर्त्तवत् । तथान्त्यचैतन्यपरिणामश्चैतन्यकार्यस्तत एव तद्वत्' इत्यनुमानात्तस्य चैतन्यान्तरोपादानपूर्वकत्वसिद्धेर्न भूतानां चैतन्यं प्रत्युपादानकारणत्वकल्पना घटते । सहकारिकारणत्वकल्पनायां तु उपादानमन्यद्वा-

---

सकता, मतलब—किसी पुद्गल में रूपादिगुण हों और किसी में नहीं हों ऐसा नहीं होता है ।

चार्वाक—ऐसा अन्वय तो भूत और चैतन्य में भी हो सकता है, अर्थात् सत्त्व, क्रियाकारित्व आदि धर्म भूत और चैतन्य में समानरूप से पाये जाते हैं । अतः इनमें उपादान उपादेयभाव—भूतचतुष्टय उपादान और चैतन्य उपादेय—इस प्रकार होने में कोई बाधा नहीं है ।

जैन—यह कथन असमीचीन है, इस प्रकार का सत्त्व आदिमात्र का अन्वय देखकर भूत और चैतन्य में उपादान उपादेयपना स्वीकार करोगे तो जल और अग्नि आदि में भी उपादान उपादेय भाव सिद्ध होगा, क्योंकि सत्त्व आदि धर्म जैसे जल में हैं वैसे वे अग्नि में हैं, फिर क्यों तुम लोग इन तत्त्वों को सर्वथा पृथक् मानते हो । अब हम अनुमान से चैतन्य के वास्तविक उपादान की सिद्धि करते हैं—

प्राणियों का आद्य चैतन्य चैतन्यरूप उपादाव से हुआ है, जैसे कि मध्य अवस्था का चैतन्य चैतन्यरूप उपादानसे होता है, तथा अंतिम चैतन्य (उस जन्म का चैतन्य) भी पूर्व चैतन्य का ही कार्य है, क्योंकि उसमें भी चैतन्यधर्म पाया जाता है, इस प्रकार के अनुमान से चैतन्य का उपादान चैतन्यान्तर ही सिद्ध होता है, भूत-चतुष्टय चैतन्य के प्रति उपादान नहीं बन सकता है, इस प्रकार यहां तक भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है इस वाक्य का विश्लेषण करते हुए पूछा था कि चैतन्य का कारण जो भूत है वह उसका उपादान कारण है कि सहकारी कारण ? उनमें से उपादान कारणपना भूतचतुष्टय में नहीं है यह सिद्ध हुआ ।

च्यम्, अनुपादानस्य कस्यचित्कार्यस्यानुपलब्धेः। शब्दविद्युदादेरनुपादानस्याप्युपलब्धेरदोषोयमित्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; 'शब्दादिः सोपादानकारणकः कार्यत्वात् पटादिवत्' इत्यनुमानात्तत्साद्दश्योपादानस्यापि सोपादानत्वसिद्धेः।

गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिप्रतीतिः तेनानेकान्तः इत्ययुक्तम्; तस्य पक्षान्तर्भूतत्वात्। वृश्चिकादिशरीरं ह्यचेतनं गोमयादेः प्रादुर्भवति न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्त्तस्तस्य पूर्वचैतन्यविवर्त्तादेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात्। अथ यथाद्यः पथिकाग्निः अरणिनिर्मन्थोत्थोऽनग्निपूर्वकः

यदि भूतचतुष्टय चैतन्य के मात्र सहकारी माने जायें तो चैतन्य का उपादान कारण कोई न्यारा बताना होगा, क्योंकि विना उपादान के कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता है।

चार्वाक—शब्द, बिजली आदिक पदार्थ तो विना उपादान के ही उत्पन्न होते हैं। वैसे ही चैतन्य विना उपादान का उत्पन्न हो जायगा। कोई दोष नहीं।

जैन—यह तो कथन मात्र है, क्योंकि शब्द आदि पदार्थ भी उपादान कारण संयुक्त है। अनुमान प्रयोग—शब्द बिजली आदि वस्तुएं उपादान कारण सहित हुआ करती हैं, क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे पट किसी का कार्य है तो उसका उपादान धागे मौजूद ही हैं। इस अनुमान से चेतन सदृश्य चैतन्य का उपादान निर्बाध सिद्ध होता है।

चार्वाक—गोबर आदि अचेतन वस्तुओं से चेतनस्वरूप बिच्छु आदि जीव पैदा होते हैं, अतः चेतन का उपादान चेतन ही है, इस प्रकार का कथन अनैकान्तिक दोष से दुष्ट होगा। अर्थात्—"प्राणियों का प्रथम चैतन्य चैतन्यरूप उपादान से ही हुआ है, क्योंकि वह चैतन्य की ही पर्याय है" इस अनुमान में चैतन्य की पर्याय होने से वह चैतन्योपादानवाला है ऐसा हेतु दिया था वह अनैकान्तिक हुआ, क्योंकि यहां अचेतन गोबर से चेतन बिच्छु की उत्पत्ति हुई है।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि उस बिच्छु के चैतन्य को भी हमने पक्ष के ही अन्तर्गत किया है, देखो—बिच्छु आदि का शरीर मात्र गोबर से पैदा हुआ है, बिच्छु का चैतन्य उससे पैदा नहीं हुआ है, क्योंकि वह तो पूर्व चैतन्य पर्याय से ही उत्पन्न हुआ माना गया है।

चार्वाक—जैसे कोई पथिक रास्ते में अग्नि को जंगल की सूखी अरणि की रगड़ से उत्पन्न करता है, तो वहां वह अग्नि अग्नि से पैदा नहीं हुई होती है, ठीक इसी

अन्यस्त्वग्निपूर्वकः तथाद्यं चैतन्यं कायाकारपरिणतभूतेभ्यो भविष्यत्यन्यत्तु चैतन्यपूर्वकं विरोधाभावा-दित्यपि मनोरथमात्रम्; प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्युपादानत्वापत्तेः पृथिव्या-दिभूतचतुष्टयस्यतत्त्वान्तरभावविरोधः। येषां हि परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम् यथा क्षितिविवर्त्तानाम्, परस्परमुपादानोपादेयभावश्च पृथिव्यादीनामित्येकमेव पुद्गलतत्त्वं क्षित्यादिविवर्त्त-मवतिष्ठेत सहकारिभावोपगमे तु तेषां चैतन्येपि सोऽस्तु। यथैव हि प्रथमाविर्भूतपावकादेस्तिरोहित-

---

प्रकार प्रथम चैतन्य तो शरीराकार परिणत हुए भूतों से पैदा हो जायगा और अन्य मध्य आदि के चैतन्य चैतन्य पूर्वक हो जावेंगे तब कोई विशेष बाधा वाली बात नहीं होगी।

जैन—यह बात भी गलत है, क्योंकि आप यदि इस तरह से रास्ते की अग्नि को बिना अग्नि रूप उपादान के पैदा हुई स्वीकार करेंगे तो जल आदि तत्त्व भी अजल आदि रूप उपादान से उत्पन्न हो जावेंगे। ऐसी हालत में पृथिवी आदि भूतचतुष्टय में भिन्न भिन्न तत्त्वपना होना शक्य नहीं रहेगा, तब पृथिवी आदि में से एक ही तत्त्व सिद्ध होगा, पृथिवी आदि पदार्थ पृथक् तत्त्व नहीं हैं क्योंकि इन चारों में परस्पर उपादान उपादेय भाव पाया जाता है। जिनका परस्पर में उपादान उपादेयपना होता है वे पृथक् पृथक् तत्त्व नहीं कहलाते। जैसे पृथिवी आदि की खुद की पर्यायें परस्पर में उपादान उपादेय भूत हैं अतः वे एक पृथिवी तत्त्व की ही कहलाती हैं। इसी तरह इस भूतचतुष्टय में परस्पर में उपादान उपादेय भाव है। अतः वे भिन्न तत्त्व नहीं हैं एक ही पुद्गल तत्त्व है और उसी एक तत्त्व की पृथिवी आदि पर्यायें हैं ऐसा सिद्ध होवेगा।

यदि चार्वाक कहे कि पथिक की अग्नि के लिये वह जंगल की लकड़ी आदिक पदार्थ सहकारी होता है तो हम जैन भी कहेंगे कि इसी प्रकार चैतन्य को शरीररूप में परिणत हुए भूतमात्र सहकारी कारण होते हैं, उपादान रूप कारण नहीं। आप जिस प्रकार प्रथम बार प्रकट हुई उस पथिकाग्नि को छिपी हुई अग्नि से उत्पन्न हुई मानते हैं, उसी प्रकार हम जैन गर्भ स्थित चैतन्य को छिपे हुए चैतन्य से प्रकट होना मानते हैं। इस प्रकार भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है यह बात गलत सिद्ध हुई।

अनादि एक चैतन्य स्वरूप आत्मा तत्त्व जबतक हम स्वीकार नहीं करते तब तक जन्म लेते ही बालक में इष्ट विषय में तथा अनिष्ट विषय में प्रत्यभिज्ञान होना, अभिलाषा होना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान अभिलाषा आदिक तो

पावकान्तरादिपूर्वकत्वं तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति ।

न चानाद्येकानुभवितृव्यतिरेकेणेष्टानिष्टविषये प्रत्यभिज्ञानाभिलाषादयो जन्मादौ युज्यन्ते; तेषामभ्यासपूर्वकत्वात् । न च मातृदरस्थितस्य बहिर्विषयादर्शनेऽभ्यासो युक्तः; अतिप्रसङ्गात् । न चावलग्नावस्थायामभ्यासपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नानामप्यनुसन्धानादीनां जन्मादावतत्पूर्वकत्वं युक्तम्; अन्यथा धूमोऽग्निपूर्वकोदृष्टोप्यनग्निपूर्वकः स्यात् । मातापित्रभ्यासपूर्वकत्वात्तेषामदोषोयमित्यप्यसम्भाव्यम्; सन्तानान्तराभ्यासादन्यत्र प्रत्यभिज्ञानेऽतिप्रसङ्गात् । तदुपलब्धे 'सर्वं मयैवोपलब्धमेतत्' इत्यनुसन्धानं

संस्कार–पूर्व अभ्यास के कारण ही होते हैं । जब बालक माता के गर्भ में रहता है तब उसके बाहर के विषय में अभ्यास तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसने अभी तक उन विषयों को देखा ही नहीं है, विना देखे अभ्यास या संस्कार होना मानोगे–तो सूक्ष्म परमाणु, दूरवर्ती सुमेरुपर्वतादि, अतीतकालीन राम आदि का भी अभ्यास होना चाहिये था, चार्वाक कहें कि चैतन्य में मध्यम अवस्था में जो प्रत्यभिज्ञान आदिक होते हुए देखे जाते हैं वे अभ्यास पूर्वक होते हुए ही देखे जाते हैं किन्तु जन्म जात बालकों के तो वे प्रत्यभिज्ञान आदिक विना अभ्यास के होते हैं सो ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि संस्कार पूर्वक होनेवाले प्रत्यभिज्ञान आदिक विना संस्कार के होने लग जायेंगे तो फिर अग्निपूर्वक होनेवाला धूम विना अग्नि के भी होने लगेगा–ऐसा मानना चाहिये ।

चार्वाक—बालक को जन्मते ही जो कुछ अभिलाषा आदि होती है उसमें कारण खुद के संस्कार नहीं हैं, बालक के माता पिता के संस्कार वहां काम आते हैं । अर्थात् बालक में माता आदि के अभ्यास से अभिलाषा आदि उत्पन्न होती है ।

जैन—यह बात असंभव है, क्योंकि माता आदि भिन्न संतान के अभ्यास से अन्य किसी बालक आदि में प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति मानोगे तो अतिप्रसंग उपस्थित होगा–देवदत्त के संस्कार से उसके निकटवर्ती मित्र यज्ञदत्त आदि को भी प्रत्यभिज्ञान होने लगेगा । माता पिता को कोई वस्तु की प्राप्ति होने पर या जानने पर "मेरे को ही यह सब प्राप्त हुआ" इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान सभी बालकों को हो जायेगा तथा कभी ऐसा भी होवेगा कि एक माता पिता के अनेक बालकों में भी परस्पर में एक दूसरे के संस्कार-अभ्यास से प्रत्यभिज्ञान होने लगेगा, जैसे कि एक के ही द्वारा जाने हुए स्पर्श विषय का देखे हुए विषय के साथ जोड़ रूप ज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञान होता है कि यह वही आम है जिसका मैंने स्पर्श किया था इत्यादि, वैसे ही वह भिन्न २ व्यक्ति को भी

चाखिलप्रत्ययानां स्यात् । परस्परं वा तेषां प्रत्यभिज्ञानप्रसङ्गः स्यात्, एकसन्तानोद्भूतदर्शनस्पर्शनप्रत्ययवत् ।

'ज्ञानेनाहं घटादिकं जानामि' इत्यहम्प्रत्ययप्रसिद्धत्वाच्चात्मनो नापलापो युक्तः । अत्र हि यथा कर्मतया विषयस्यावभासस्तथा कर्तृतयात्मनोपि । न चात्र देहेन्द्रियादीनां कर्तृता; घटादिवत्तेषामपि कर्मतयाऽवभासनात्, तदप्रतिभासनेप्यहम्प्रत्ययस्यानुभवात् । न हि बहुलतमःपटलपटावगुण्ठितविग्रहस्योपरतेन्द्रियव्यापारस्य गौरस्थौल्यादिधर्मार्पितं शरीरं प्रतिभासते । अहम्प्रत्ययः स्वसंविदितः पुनस्तस्यानुभूयमानो देहेन्द्रियविषयादिव्यतिरिक्तार्थालम्बनः सिद्ध्यतीति प्रमाणप्रसिद्धोऽनादिनिधनो द्रव्यान्त-

---

होने लगेगा ।। "मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूं" इस अहं प्रत्यय से आत्मा की सिद्धि हो रही है इसलिये भी आत्मद्रव्य का अपलाप करना शक्य नहीं है । "मैं ज्ञान के द्वारा घट आदि को जानता हूं" इस प्रकार की प्रतीति में जैसे बाह्य पदार्थ घट आदि का कर्मपने से प्रतिभास होता है वैसे ही आत्मा का कर्त्तापने से प्रतिभास हो ही रहा है, इस प्रतीति में कर्त्ता का जो प्रतिभास है वह शरीर या इन्द्रिय आदि के निमित्त से नहीं है क्योंकि शरीर आदिक तो घटादि पदार्थों के समान कर्मरूप से प्रतीति में आते हैं । शरीर आदि का प्रतिभास नहीं होने पर भी अहं प्रत्यय तो अनुभव में आता ही रहता है । शरीर के बिना अहं प्रत्यय कैसे प्रतीति में आता है सो बताते हैं—कोई पुरुष गाढ अन्धकार में बैठा है उसका शरीर अन्धकार के निमित्त से बिलकुल खुद को भी दिखायी नहीं दे रहा है, तथा उसने अपनी सारी नेत्र आदि इन्द्रियां भी बंद कर रखी हैं, उससमय उस पुरुष को अपना गोरा स्थूल आदि स्वभाव वाला शरीर तो प्रतीत होता नहीं, किन्तु आत्मा तो अवश्य अहं प्रत्ययस्वरूप संवेदन में आ रहा है, यह अहं प्रत्यय शरीर इन्द्रियां, मन आदि से न्यारा ही आत्मद्रव्य का अवलंबन लेकर प्रवृत्त हुआ है, इसलिये अनादि निधन एक पृथक् तत्त्व भूत ऐसा आत्मा प्रमाण प्रसिद्ध है । यह सिद्ध हो जाता है, आत्मा आदि अंत रहित अनादि निधन है क्योंकि वह एक द्रव्य है, जैसे पृथिवी आदि द्रव्य होने से अनादिनिधन है । इस अनुमान में दिया गया द्रव्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध दोष वाला नहीं है, क्योंकि इस द्रव्यत्वरूप हेतु का आश्रय आत्मा है । जो अहं प्रत्यय से सिद्ध हो चुका है । इस द्रव्यत्व हेतु का स्वरूप भी असिद्ध नहीं है । अर्थात् यह हेतु स्वरूपासिद्ध भी नहीं है, क्योंकि आत्मा द्रव्य लक्षण से लक्षित (सहित) है, देखो—सिद्ध करके बताते हैं । आत्मा द्रव्य है क्योंकि उसमें गुण और पर्यायें पायी जाती हैं जैसे कि पृथिवी आदि में गुण पर्याय होने से उन्हें द्रव्य मानते हैं । यहां इस दूसरे अनुमान

रमात्मा । प्रयोगः—अनाद्यनन्त आत्मा द्रव्यत्वात्पृथिव्यादिवत् । न तावदाश्रयासिद्धोयं हेतुः; आत्मनोऽहम्प्रत्ययप्रसिद्धत्वात् । नापि स्वरूपासिद्धः; द्रव्यलक्षणोपलक्षितत्वात् । तथाहि–द्रव्यमात्मा गुणपर्ययवत्त्वात्पृथिव्यादिवत् । न चायमप्यसिद्धो हेतुः; ज्ञानदर्शनादिगुणानां सुखदुःखहर्षविषादादिपर्यायाणां च तत्र सद्भावात् । न च घटादिनानेकान्तस्तस्य मृदादिपर्ययत्वात् ।

ननु शरीररहितस्यात्मनः प्रतिभासे ततोऽन्योऽनादिनिधनोऽसाविति स्यात् जलरहितस्यानलस्येव, न चैवम्, आसंसारं तत्सहितस्यैवास्यावभासनात् । तत्र 'शरीररहितस्य' इति कोऽर्थः? किं तत्स्वभावविकलस्य, आहोस्वित्तद्देशपरिहारेण देशान्तरावस्थितस्येति ? तत्राद्यपक्षेऽस्त्येव तद्रहितस्यास्य प्रतिभासः—रूपादिमदचेतनस्वभावशरीरविलक्षणतया अमूर्त्तचैतन्यस्वभावतया चात्मनोऽध्यक्षगोचर-

---

में दिया गया गुण पर्यायत्व हेतु भी असिद्ध नहीं है । आत्मा में तो अनंते ज्ञान दर्शन आदि गुण भरे हुए हैं । तथा सुख दुःख आदि अनेक पर्यायें भी भरी हैं । इस द्रव्यत्व आदि हेतु को घट आदि द्वारा व्यभिचरित भी नहीं कर सकते, क्योंकि घटादि भी मिट्टी आदि द्रव्य की पर्याय स्वरूप हैं । मतलब-पृथिवी आदिमें भी द्रव्यत्व और पर्यायत्व रहता ही है ।

चार्वाक—शरीर रहित कही पर आत्मा का प्रतिभास होवे तब तो उसको अनादि निधन माना जाय, जैसे कि जल रहित अग्नि की कहीं पृथक् ही प्रतीति होती है, किन्तु ऐसी आत्मा की न्यारी प्रतीति तो होती नहीं है, संसार में हमेशा ही वह आत्मा शरीर सहित ही अनुभव में आता है ।

जैन—शरीर रहित आत्मा प्रतीति में नहीं आता ऐसा जो आपका कहना है सो "शरीर रहित" इस पद का क्या अर्थ है ? क्या शरीर के स्वभाव से रहित होने को शरीर रहित कहते हो कि शरीर के देश का परिहार करके अन्य किसी देश में रहने को शरीर रहित होना कहते हो ? प्रथमपक्ष की बात कहो तो वह बात असत्य है, क्योंकि शरीर के स्वभाव से रहित तो आत्मा का प्रतिभास तो अवश्य ही होता है, देखो–रूप आदि गुण युक्त अचेतन स्वभाव वाले ऐसे शरीर से विलक्षण स्वभाव वाला अमूर्त्त चैतन्यस्वभाववान् ऐसा आत्मा तो प्रत्यक्ष के गोचर हो ही रहा है । दूसरा पक्ष–शरीर के देश का परिहार करके उसके रहने को शरीर रहित कहते हो तो बताईये कि आत्मा का शरीर से अन्यत्र अनुपलभ होने से अभाव करते हो कि शरीर देश में ही उपलब्ध होने से उसका अभाव करते हो ? प्रथम पक्ष में सिद्ध साधनता है, अर्थात् शरीर से अन्यत्र आत्मा की उपलब्धि नहीं होती ऐसा कहो तो वह बात हमें इष्ट ही है, क्योंकि हमारे यहां भी शरीर से अन्य स्थानों पर आत्मा का अभाव ही

स्वेनोक्तत्वात् । द्वितीयपक्षे तु-शरीरदेशादन्यत्रानुपलम्भात्तत्र तदभावः, शरीरप्रदेश एव वा ? प्रथमविकल्पे-सिद्धसाधनम्; तत्र तदभावाभ्युपगमात् । न खलु नैयायिकवज्जैनेनापि स्वदेहादन्यत्रात्मेष्यते । द्वितीयविकल्पे तु-न केवलमात्मनोऽभावोऽपि तु घटादेरपि । न हि सोपि स्वदेशादन्यत्रोपलभ्यते ।

किञ्च, स्वशरीरादात्मनोऽन्यत्वाभावः तत्स्वभावत्वात्, तद्गुणत्वात् वा स्यात्, तत्कार्यत्वाद्वा प्रकारान्तरासम्भवात् । पक्षत्रयेपि प्रागेव दत्तमुत्तरम् । ततश्चैतन्यस्वभावस्यात्मनः प्रमाणतः प्रसिद्धेस्तत्स्वभावमेव ज्ञानं युक्तम् । तथा च स्वव्यवसायात्मकं तत् चेतनात्मपरिणामत्वात्, यत्तु न स्वव्यवसायात्मक न तत्तथा यथा घटादि, तथा च ज्ञानं तस्मात्स्वव्यवसायात्मकमित्यभ्युपगन्तव्यम् ।

माना गया है, हम जैन नैयायिक मत के समान आत्मा को—गृहीत देह को छोड़कर अन्य शरीर या स्थानों में रहना स्वीकार नहीं करते हैं। अर्थात् नैयायिक शरीर से अन्यत्र भी आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। किन्तु हम जैन तो शरीर में ही आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। दूसरी बात मानो कि शरीर प्रदेश में ही आत्मा की प्राप्ति होती है, अतः आत्मा को पृथक् द्रव्यरूप नहीं मानते हैं तब तो इस मान्यता के अनुसार एक आत्मा का ही अभाव नहीं होगा किन्तु सारे ही घट आदि पदार्थों का अभाव भी मानना पड़ेगा। क्योंकि वे पदार्थ भी अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते हैं। आप चार्वाक अपने शरीर से आत्मा को पृथक् नहीं मानते शरीररूप ही मानते हैं सो उसमें क्या कारण हैं ? शरीर का स्वभाव ही आत्मा है इसलिये आत्मा को भिन्न नहीं मानते ? अथवा शरीर का गुण होने से आत्मा को भिन्न नहीं मानते ? कि शरीर का कार्य होने से आत्मा शरीररूप है ऐसा मानते हो, सो तीनों ही पक्ष की बातें असत्यरूप हैं, क्योंकि शरीर का धर्म, या शरीर का गुण अथवा शरीर का कार्य स्वरूप आत्मा है ही नहीं, अतः आप उसको शरीररूप सिद्ध नहीं कर सकते, इस विषय पर अभी २ बहुत कुछ कहा जा चुका है, इसलिये निर्बाधपने से चैतन्यस्वभाव वाले आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, उसीका स्वभाव ज्ञान है, न कि अन्य किसी अचेतन पृथिवी आदि भूतों का, ज्ञान स्वको भो जानता है क्योंकि वह चैतन्य आत्मा का परिणाम है, जो स्व को नहीं जानता वह उस प्रकार का चैतन्य स्वभावी नहीं होता, जैसे घट आदि पदार्थ, अपने को नहीं जानने से चैतन्य नहीं हैं, ज्ञान तो चैतन्य स्वरूप है, अतः वह स्वव्यवसायी है, इस प्रकार चार्वाक के द्वारा माने गये भूतचैतन्यवाद का निरसन होता है।

*** चार्वाक के भूतचैतन्यवाद का निरसन समाप्त ***

भूतचैतन्यवाद के खंडन का सारांश

चार्वाक— जीव को पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु इन चारों से उत्पन्न होना मानते हैं, उनके यहां चारों पृथिवी आदि भूत बिलकुल भिन्न २ माने गये हैं। (जैसे कि वैशेषिक के यहां माने हैं) । इन चारों का समुदाय जब होता है, तब एक चेतन विशेष उत्पन्न होता है । जैसे कि गोबर आदि से बिच्छू आदि जीव पैदा होते हुए देखे जाते हैं । जैन यदि ऐसा कहें कि आत्मा यदि भूतों से निर्मित है तो उसे नेत्रादि इन्द्रियों से गृहीत होना चाहिये सो बात भी नहीं, क्योंकि वह चेतन सूक्ष्मभूत-विशेष से उत्पन्न होता है, अतः इन्द्रियों द्वारा वह न दिखायी देता है और न गृहीत होता है । शरीर, इन्द्रिय विषय इनसे ही ज्ञान पैदा होता है, जीव से नहीं, जिसप्रकार पथिक मार्ग में बिना अग्नि के ही पत्थर लकडी आदि को आपस में रगड़ कर उससे अग्नि पैदा कर देता है, वैसे ही शुरू में जो चेतन जन्म लेता है वह विना चेतन के उत्पन्न होता है, और फिर आगे आगे मरण तक चेतन से चेतन पैदा होता रहता है, मरण के बाद वह खतम–समाप्त–समूलचूल–नष्ट हो जाता है, न कहीं वह परलोक आदि में जाता है और न परलोक आदि से आता है, क्योंकि परलोक और परलोक में जाने वाले जीव इन दोनों का ही अभाव है अनुमानादि से यदि आत्मा की सिद्धि करना चाहो तो वह अनुमान भी हमें प्रमाणभूत नहीं है । क्योंकि हम एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं । इसलिये जैसे आटा, जल, गुड़ के समिश्रण से मादकशक्ति पैदा होती है, वैसे ही सूक्ष्मभूतों से चेतन पैदा होता है ऐसा मानना चाहिये ।

जैन— यह सारा ही प्रतिपादन बिलकुल निराधार, गलत है, पृथ्वी आदि चारों भूतों से चेतन उत्पन्न होता तो चूल्हे पर चढ़ी हुई मिट्टी की वटलोई में चेतन पैदा होना चाहिये था, क्योंकि वहां पर चारों पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ये मौजूद हैं । सूक्ष्मभूत से उत्पत्ति मानने पर प्रश्न यह पैदा होता है कि सूक्ष्मभूतविशेष किसे कहा जाता है ? सूक्ष्मभूत चेतन का सजातीय है या विजातीय है ? सजातीय माना जाय तो ठीक ही है, सजातीय चेतन उपादान से सजातीय चेतन ज्ञान पैदा होता ही है, यदि विजातीय से माना जाय तो आपके भूतचतुष्टय का व्याघात होता है, क्योंकि विजातीय उपादान से विजातीय की —चाहे जिसकी उत्पत्ति होगी, तो जल से अग्नि आदि पैदा होंगे और फिर वे चारों पृथिवी आदि तत्त्व एक रूप मानने पड़ेंगे क्योंकि उपादान

समान है। तथा आत्मा को सिद्ध करने वाला अहं प्रत्ययरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मौजूद है "मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूं, मैं सुखी हूं" इत्यादि प्रयोगों में "मैं अहं" जो हैं वे ही जीव हैं। आप शरीर इन्द्रिय, विषय आदि का गुण ज्ञान को मानते हैं सो वह बिलकुल गलत है देखिये—शरीर का गुण ज्ञान नहीं है क्योंकि शरीर के रहते हुए भी वह पृथक् देखा गया है, यदि वह शरीर का गुण होता तो गुणी के रहते हुए उसे भी रहना चाहिये था, इसी तरह चैतन्य इन्द्रिय का गुण भी सिद्ध नहीं होता और न पदार्थ का ही। क्योंकि इन किसी के साथ भी ज्ञान का अन्वय या व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। आपके यहां दो मान्यताएँ हैं—भूतों से चैतन्य प्रकट होता है तथा भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है। प्रथम प्रकट होने का पक्ष लिया जावे तो उसमें यह प्रश्न है कि प्रकट होने के पहिले वह सत् है या असत् है ? या सत्-असत् है ? प्रथम पक्ष में उसमें अनादि अनतता की ही सिद्धि होती है, क्योंकि शरीर आकार परिणत हुए पुद्गल से चेतन जो कि अनादि निधन है वह प्रकट होता है, प्रकट होने का अर्थ ही यही है कि जो चीज पहले से मौजूद थी और व्यंजक के द्वारा प्रकट हुई। जैसे—कमरे के अन्दर अन्धकार में स्थित घटादि पदार्थ पहले से ही हैं और वे दीपक आदि के द्वारा प्रकट होते हैं—दिखाई देते हैं। यदि प्रकट होने से पहिले चेतन सर्वथा असत् है तो उसे प्रकट होना ही नहीं कहते तथा सर्वथा असत् प्रकट होता है तो गधे के सींग भी प्रकट होने लग जायेंगे।

अविद्धकर्ण चार्वाक का पक्ष है कि भूतों से चैतन्य पैदा होता है, इस पक्ष में हम जैन प्रश्न करते है कि पैदा होने में वे भूत उपादान कारण हैं या सहकारी कारण हैं ? उपादान कारण विजातीय हो नहीं सकता, क्योंकि अमूर्तज्ञानदर्शनादि विशिष्ट असाधारण गुणयुक्त ऐसे विजातीय चेतन के उपादान यदि भूत होते हैं तो वे जल को अग्नि, अग्नि को वायु, पृथ्वी को जल इत्यादि रूप से परस्पर में उपादानरूप हो जाने चाहिये ? क्योंकि विजातीय उपादान आपने स्वीकार किया है। जीवका उपादान यदि भूतचतुष्टय है तो जीव में उनके गुणों का अन्वय भी होना चाहिये था। यदि सहकारी कारण मानो तो फिर उपादान न्यारा कौन है सो कहो—यदि कहो कि बिना उपादान के बिजली आदि की तरह चेतन उत्पन्न हो जावेगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि बिजली आदि भी उपादान युक्त है, मद शक्ति का उदाहरण भी विषम है अर्थात् मदशक्ति भी जड़ और उसका उपादान भी जड़ है अतः कोई बाधा नहीं है।

तथा चेतन यदि पहिले से नहीं था और भूतों से वह पीछे निर्मित हुआ है तो उसमें अभिलाषा, प्रत्यभिज्ञान आदि नहीं होना चाहिये; किन्तु जन्मते ही स्तनपान आदि की अभिलाषा जीव में देखी जाती है, इसलिये आत्मा अनादि निधन है, गुण-पर्यायवाला होने से, पृथिवी आदि तत्त्वों की तरह। इस प्रकार आत्मद्रव्य पृथिवी आदि भूतचतुष्टय से पृथक् सिद्ध होता है। चार्वाक का कहना है कि शरीर से अलग कहीं पर भी जीव की प्रतीति तो होती ही नहीं अतः हम उसे भिन्न नहीं मानते हैं; सो उसमें यह बात है कि शरीर के बाहर तो वह इसलिये प्रतीत नहीं होता कि वह शरीर के बाहर रहता ही नहीं, हम जैन नैयायिक की तरह शरीर के बाहर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। संसार अवस्था में जीव स्वशरीर में रहता है, जब शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है तब तो वह पूर्व का शरीर यों ही पड़ा रहता है। इसीलिये तो शरीर से चेतन भिन्न माना है।

*** भूतचतुष्टय चैतन्यवाद के खंडन का सारांश समाप्त ***

ज्ञानको स्वसंविदित नहीं माननेवाले परवादीका पूर्व पक्ष

मीमांसक के दो भेद हैं। इनमें एक है भाट्ट और दूसरा है प्रभाकर, यहां भाट्ट ज्ञान के विषय में अपना पक्ष उपस्थित करता है–ज्ञान सर्वथा परोक्ष रहता है, किसी के द्वारा भी उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, "मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूं" इस वाक्य में से आत्मा कर्त्ता, कर्म, घट और जानना रूप क्रिया ये तो प्रत्यक्ष हो जाते हैं, किन्तु करणभूत ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, हम मीमांसक नैयायिक के समान इस करण-ज्ञान का अन्य ज्ञान से प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं, हमारा तो यही सिद्धान्त है कि ज्ञान सर्वथा परोक्ष ही रहता है, हां! इतना जरूर है कि जानने रूप क्रिया को देखकर आत्मा ज्ञान युक्त है ऐसा अनुमान भले ही लगा लो, जबतक प्रमिति क्रिया के प्रति जो कर्म नहीं बनता तबतक उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, ज्ञान करण भूत है अतः वह परोक्ष रहता है। यही बात ग्रन्थ में भी कही है कि–"करणज्ञानं परोक्षं कर्मत्वेना प्रतीयमानत्वात्–(शाबरभाष्य १।१२)।

ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्। ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतयाऽर्था-पत्त्या ज्ञानं गृह्यते। (तर्क भाषा पृ० ४२) करणज्ञान सर्वथा परोक्ष है, क्योंकि वह कर्मपने से प्रतीत नहीं होता है, जब पदार्थ को ज्ञान जान लेता है तब उसका अनुमान हुआ करता है, अन्यथानुपपत्ति से अर्थात् अर्थापत्ति से भी ज्ञान का ग्रहण हो जाता है, अतः ज्ञान न स्वयं का ग्रहण है–स्वसंविदित है और न अन्य प्रत्यक्षज्ञान से उसका प्रत्यक्ष हो सकता है, मात्र किसी अनुमानादिरूप परोक्षज्ञान से उसकी सत्ता जानी जाती है, यह सिद्ध हुआ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

*

*

ननु विज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽर्थवत्कर्मतापत्तेः करणात्मनो ज्ञानान्तरस्य परिकल्पना स्यात्। तस्यापि प्रत्यक्षत्वे पूर्ववत्कर्मतापत्तेः करणात्मकं ज्ञानान्तर परिकल्पनीयमित्यनवस्था स्यात्। तस्याप्रत्यक्षत्वेपि करणत्वे प्रथमे कोऽपरितोषो येनास्य तथा करणत्वं नेष्यते। न चैकस्यैव ज्ञानस्य परस्पर-

---

मीमांसक ने जो ऐसा कहा है कि ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है सो अब वे इस बात को स्थापित करने के लिये अपना मन्तव्य रखते हैं—

मीमांसक—जैन ज्ञान को प्रत्यक्ष होना मानते हैं सो वह उनकी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान को यदि प्रत्यक्ष होना माना जाय तो वह कर्मरूप बन जायगा, जैसे कि पदार्थों को प्रत्यक्ष होना मानते हैं तो वे कर्मरूप होते हैं, इस तरह ज्ञान भी कर्मरूप बन जायगा, तो उसको जानने के लिये दूसरे करण की आवश्यकता पड़ेगी, तथा वह करणभूत ज्ञान (जो कि दूसरा है) भी प्रत्यक्ष होगा तो कर्मरूप बन जायगा, फिर उस दूसरे ज्ञान के लिये तीसरा करणभूत ज्ञान चाहिये, इस प्रकार चलते चलते कहीं पर भी विश्राम तो होगा नहीं इससे अनवस्था आयेगी। तुम कहो कि ज्ञान को प्रत्यक्ष करने वाला वह दूसरे नम्बर का ज्ञान अप्रत्यक्ष रहकर ही करण बन जाता है अर्थात् उस दूसरे अप्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा ही प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है—तब तो आपको प्रथम ज्ञान को भी अप्रत्यक्ष ही मानना चाहिये—जिस प्रकार दूसरा ज्ञान स्वतः अप्रत्यक्ष रहकर प्रथम ज्ञान के लिये करण बनता है वैसे ही प्रथम ज्ञान स्वतः अप्रत्यक्ष रहकर पदार्थों के प्रत्यक्ष करने में करण बन जायगा, क्या बाधा है। तथा—जैन ज्ञान को कर्मरूप और करणरूप भी मानते हैं सो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही ज्ञान को परस्पर विरुद्ध दो धर्मयुक्त अर्थात् कर्म और करणरूप मानना ऐसा कहीं पर भी नहीं देखा जाता है। इस प्रकार मीमांसक की ज्ञान के बारे में शंका होने पर उसका समाधान माणिक्य नन्दी आचार्य दो सूत्रों द्वारा करते हैं—कि जिस प्रकार प्रमेय

विरुद्धकर्मकरणाकाराभ्युपगमो युक्तोऽन्यत्र तथाऽदर्शनादित्याशङ्क्य प्रमेयवत्प्रमातृप्रमाणप्रमितीनां प्रतीतिसिद्धं प्रत्यक्षत्वं प्रदर्शयन्नाह—

घटमहमात्मना वेद्मीति ॥ ८ ॥
कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥

न हि कर्मत्वं प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गमात्मनोऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् तद्वत्तस्यापि कर्मत्वेनाप्रतीतेः ।

अर्थात् पदार्थ प्रत्यक्ष हुआ करते हैं वैसे ही प्रमाता–आत्मा, प्रमाण अर्थात् ज्ञान तथा प्रमिति–फल ये सबके सब ही प्रत्यक्ष होते हैं—

सूत्र—घटमहमात्मना वेद्मीति ॥ ८ ॥
कर्मवत् कर्तृ करणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—मैं घट को अपने द्वारा (ज्ञान के द्वारा) जानता हूं। जैसे कि घट पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही कर्त्ता–आत्मा, करण–ज्ञान और जानना रूप क्रिया-इन तीनों का भी प्रत्यक्ष होता है, देखिये–जो कर्मरूप होता है वही प्रत्यक्ष होता है ऐसा नियम नहीं है–अर्थात् प्रत्यक्षता का कारण कर्मपना हो सो बात नहीं है, यदि ऐसा नियम किया जाय कि जो कर्मरूप है वही प्रत्यक्ष है तो आत्मा के भी अप्रत्यक्ष हो जाने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि करणभूत ज्ञान जैसे कर्मरूप नहीं है वैसे आत्मा भी कर्मरूप से प्रतीत नहीं होता है। मीमांसक कहे–कि आत्मा कर्मपने से प्रतीत नहीं होता है किन्तु कर्तृत्वरूप से प्रतीत होता है अतः वह प्रत्यक्ष है तो फिर ज्ञान भी करणरूप से प्रत्यक्ष होवे, कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् ज्ञान और आत्मा दोनों ही कर्मरूप से प्रतीत नहीं होते हैं। फिर भी यदि आत्मा का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हो तो ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानना होगा।

मीमांसक—करणरूप से प्रतीत हुआ ज्ञान करण ही रहेगा वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

जैन—यह बात तो कर्त्ता में भी लागू होगी–अर्थात् कर्तृत्वरूप से प्रतीत हुई आत्मा कर्त्ता ही कहलावेगी यह प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगी, इस प्रकार आत्मा के विषय में भी मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि मीमांसक आत्मा को प्रत्यक्ष होना मानते हैं फिर ज्ञान को ही परोक्ष क्यों बतलाते हैं। यह भी एक बड़ी विचित्र बात है ? क्योंकि स्वयं आत्मा ही अपने स्वरूप का ग्राहक होता है वैसे ही वह बाह्य पदार्थों का भी

तदप्रतीतावपि कर्तृत्वेनास्य प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे ज्ञानस्यापि करणत्वेन प्रतीतेः प्रत्यक्षतास्तु विशेषाभावात्। अथ करणत्वेन प्रतीयमानं ज्ञानं करणमेव न प्रत्यक्षम्; तदन्यत्रापि समानम्। किञ्च, आत्मनः प्रत्यक्षत्वे परोक्षज्ञानकल्पनया किं साध्यम्? तस्यैव स्वरूपवद्बाह्यार्थग्राहकत्वप्रसिद्धेः? कर्त्तुः करणमन्तरेण क्रियायां व्यापारासम्भवात्करणभूतपरोक्षज्ञानकल्पना नानर्थिकेत्यप्यसाधीयः; मनसश्चक्षुरादेश्चान्तर्बहिः करणस्य सद्भावात् ततोऽस्य विशेषाभावाच्च। अनयोरचेतनत्वात्प्रधानं चेतनं

ग्राहक होता है। यह बात प्रसिद्ध है ही। अर्थात् आत्मा ही बाह्य पदार्थों को जानते समय करणरूप हो जाती है।

मीमांसक—कर्त्ता को करण के बिना क्रिया में व्यापार करना शक्य नहीं है, अतः करणभूत परोक्ष ज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ नहीं है।

जैन—यह कथन भी असाधु है। देखिये—कर्त्ताभूत आत्मा का करण तो मन और इन्द्रियां हुआ करती हैं, अन्तःकरण तो मन है और बहिःकरण स्वरूप स्पर्शनादि इन्द्रियां हैं। आपके उस परोक्षभूत ज्ञानकरण से इन करणों में तो भिन्नता नहीं है; अर्थात् यदि आपको परोक्ष स्वभाव वाला ही करण मानना है तो मन आदि परोक्षभूत करण हैं ही।

मीमांसक—मन और इन्द्रियां करण तो हैं किन्तु वे सब अचेतन हैं। एक मुख्य चेतन स्वरूप करण होना चाहिये।

जैन—यह बात ठीक नहीं है, देखिये—भावमन और भावेन्द्रियां तो चैतन्य स्वभाव वाली है, यदि आप उन भावमन और भावेन्द्रियों को परोक्ष सिद्ध करना चाहते हो तब तो हमारे लिये सिद्ध साधन होवेगा, क्योंकि हम जैन स्वपर को जानने की शक्ति जिसकी होती है ऐसी लब्धिरूप भावेन्द्रिय को तथा भावमन को चेतन मानते हैं। यदि इनमें आप परोक्षता साधते हो तो हमें कोई बाधा नहीं है, क्योंकि हम छद्मस्थों को—(अल्पज्ञानियों को)—इनका प्रत्यक्ष होता ही नहीं है, मतलब कहने का यह है कि लब्धिरूप करण और भावमन तो परोक्ष ही रहते हैं। हां—जो उपयोग लक्षणवाला भावकरण है वह तो स्व और पर को ग्रहण करने के व्यापाररूप होता है, अतः यह स्वयं को प्रत्यक्ष होता रहता है—सो कैसे? यह बताते हैं—जब चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा घट आदि को ग्रहण करने की ओर जीव व्यापारवाला होता है—अर्थात् झुकता है तब वह कहता है कि मैं घट को तो देख नहीं रहा हूं, अन्य पदार्थ को देख रहा हूं—अर्थात् मैं हाथ से घट को उठा रहा हूं किन्तु लक्ष्य मेरा अन्यत्र है—इस प्रकार

करणमित्यप्यसमीचीनम्; भावेन्द्रियमनसोऽचेतनत्वात्। तत्परोक्षत्वसाधने च सिद्धसाधनम्; स्वार्थग्रहणशक्तिलक्षणाया लब्धेर्मनसश्च भावकरणस्य छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्। उपयोगलक्षणं तु भावकरणं नाप्रत्यक्षम्; स्वार्थग्रहणव्यापारलक्षणस्यास्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात् 'घटादिद्वारेण घटादिग्रहणे उपयुक्तोऽप्यहं घटं न पश्यामि पदार्थान्तरं तु पश्यामि' इत्युपयोगस्वरूपसंवेदनस्याखिलजनानां सुप्रसिद्धत्वात्। क्रियायाः करणाविनाभावित्वे चात्मनः स्वसंवित्तौ किङ्करणं स्यात्? स्वात्मैवेति चेत्, अर्थेपि स एवास्तु किमदृष्टान्यकल्पनया? ततश्चक्षुरादिभ्यो विशेषमिच्छता ज्ञानस्य कर्मत्वेनाप्रतीतावप्यध्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम्। फलज्ञानात्मनोः फलत्वेन कर्तृत्वेन चानुभूयमानयोः प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे करणज्ञाने करणत्वेनानुभूयमानेपि सोस्तु विशेषाभावात्। न चाभ्यां सर्वथा करणज्ञानस्य भेदो

उपयोग के स्वरूप की प्रतीति या (अनुभव) संपूर्ण जीवों को आया करती है। आप मीमांसकों का यह आग्रह हो कि क्रिया का तो करण के साथ अविनाभाव है—बिना करण के क्रिया होना अशक्य है सो बताईये—जब स्वयं आत्मा को (अपने स्वरूप को) ही आत्मा जानेगी तब वहां उस क्रिया का करण कौन बनेगा? यदि कहा जाय कि वहां आत्मा ही स्वयं करण बन जायगी सो ही बात पदार्थों में भी घटित हो जायगी अर्थात् पदार्थ को जानते समय भी ज्ञान स्वयं ही करण बन जायगा। फिर क्यों अदृष्ट ऐसे द्वितीय करणज्ञान की कल्पना करते हो, इसलिये सार यह निकलता है कि यदि आप चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञानरूप करण में विशेषता मानते हैं तो आपको कर्मपने से प्रतीत नहीं होने पर भी ज्ञान में प्रत्यक्षता—स्वसंविदितता ही मानना चाहिये। आप लोग फलज्ञान (प्रमिति) और आत्मा को फल और कर्त्तारूप से प्रत्यक्ष होना तो स्वीकार करते ही हैं—अर्थात् फलज्ञान का फलरूप से अनुभव होता है और आत्मा का कर्त्तापने से अनुभव होता है अतः ये फलज्ञान और आत्मा दोनों प्रत्यक्ष हैं ऐसा तो आप मानते ही हैं, अतः इसके साथ ही करणज्ञान करणरूप से अनुभव में आता है इसलिये वह भी प्रत्यक्ष है ऐसा मानना चाहिये, और कोई अन्य विशेषता तो है नहीं। अपने स्वरूप से तो करण भी कर्त्ता आदि की तरह प्रतिभासित होता ही है। एक बात यह भी है—कि फलज्ञान और आत्मा इन दोनों से सर्वथा भिन्न करणज्ञान नहीं है, यदि सर्वथा भेद मानोगे तो अन्य मत जो नैयायिक का है उसमें आपका—मीमांसकों का प्रवेश हुआ माना जायगा, इस दोष को हटाने के लिये आत्मा आदि से ज्ञान का कथंचित् भेद स्वीकार करते हो तब तो ज्ञान में सर्वथा अप्रत्यक्षपने का एकान्त मानना कल्याणकारी नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्षस्वभाववाले फलज्ञान और आत्मज्ञान से

मतान्तरानुषङ्गात् । कथञ्चिद्भेदे तु नास्याऽप्रत्यक्षतैकान्तः श्रेयान् प्रत्यक्षस्वभावाभ्यां कर्तृफलज्ञानाभ्यामभिन्नस्यैकान्ततोऽप्रत्यक्षत्वविरोधात् ।

किञ्च, आत्मज्ञानयोः सर्वथा कर्मत्वाप्रसिद्धिः, कथञ्चिद्वा ? न तावत्सर्वथा; पुरुषान्तरापेक्षया प्रमाणान्तरपेक्षया च कर्मत्वाप्रसिद्धिप्रसङ्गात् । कथञ्चिच्चेत्, येनात्मना कर्मत्वं सिद्धं तेन प्रत्यक्षत्वमपि, अस्मदादिप्रमात्रपेक्षया घटादीनामप्यंशत एव कर्मत्वाध्यक्षयोः प्रसिद्धेः । विरुद्धा च प्रतीयमानयोः कर्मत्वाप्रसिद्धिः, प्रतीयमानत्वं हि ग्राह्यत्वं तदेव कर्मत्वम् । स्वतः प्रतीयमानत्वापेक्षया कर्म-

---

अभिन्न ऐसे करणज्ञान में सर्वथा परोक्षता रह नही सकती, क्योंकि अभिन्न वस्तु के अंशों में एक को प्रत्यक्ष और एक को परोक्ष मानना विरुद्ध पड़ता है ।

विशेषार्थ—मीमांसक ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानते हैं अर्थात् ज्ञान पर को तो जानता है किन्तु वह स्वयं को नही जानता है ऐसा मानते हैं, "मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूँ" इस प्रकार के प्रतिभास में "मैं–आत्माकर्त्ता, घट–कर्म जानता हूं" प्रमिति या क्रिया अथवा फलज्ञान इन सब वस्तुओं का तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है, किन्तु "ज्ञान के द्वारा" इस रूप करण ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है, इस पर आचार्य समझाते हैं कि जब कर्त्ता स्वरूप आत्मा और प्रमितिरूप फल ये जब स्वसंवेदनरूप से अवभासित हो जाते हैं, तब करणरूप ज्ञान का भी स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष से अर्थात् अपने आप से अवभासन कैसे नहीं होगा अर्थात् अवश्य होगा । क्योंकि कर्त्ता, करण आदि का आपस में कथंचित् अभेद है, जब कर्त्ता को प्रत्यक्ष किया तब करण अवश्य ही प्रत्यक्ष होगा, सब से बड़ी बात तो यह है कि ज्ञान का तो हर प्राणी को स्वयं वेदन होता रहता है, इस प्रतीतिसिद्ध बात का अपलाप करना शक्य नहीं है ।

मीमांसक से हम जैन पूछते हैं कि आत्मा और ज्ञान ये दोनों सर्वथा ही कर्मरूप से प्रतीत नहीं होते कि कथंचित् कर्मरूप से प्रतीत नहीं होते ? सर्वथा कर्मपने से प्रतीत नहीं होते हैं ऐसा यदि प्रथम पक्ष लिया जाय तो ठीक नही है, क्योंकि ज्ञान आदि को यदि सर्वथा प्रतीत होना नहीं मानोगे तो वे कर्त्ता आदिक दूसरे पुरुषों को भी प्रतीत नहीं हो सकेंगे, तथा अन्य ज्ञान के लिये भी विवक्षित ज्ञान कर्मरूप नहीं बनेगा ।

भावार्थ—हमारी आत्मा और ज्ञान कभी कर्मरूप नहीं होते हैं ऐसा एकान्त रूप से यदि माना जावे तो हमें अन्य पुरुष जान नहीं सकेंगे । फिर वक्ता आदि के ज्ञान

त्वाप्रसिद्धौ परतः कथं तत्सिध्येत् ? विरोधाभावाच्चेत्स्वतस्तत्सिद्धौ को विरोधः ? कर्तृकरणत्वयोः कर्मत्वेन सहानवस्थानम्; परतस्तत्सिद्धौ समानम्। 'घटग्राहिज्ञानविशिष्टमात्मानं स्वतोऽहमनुभवामि' इत्यनुभवसिद्धं स्वतः प्रतीयमानत्वापेक्षयापि कर्मत्वम्। तत्रार्थवज्ज्ञानस्य प्रतीतिसिद्धप्रत्यक्षताऽपलापोऽर्थप्रत्यक्षत्वस्याप्यपलापप्रसङ्गात्। प्रतीतिसिद्धस्वभावस्यैकत्रापलापेऽन्यत्राप्यनाश्वासान्न क्वचित्प्रतिनियतस्वभावव्यवस्था स्यात्।

को जानना भी कठिन होगा कि इस व्यक्ति को ज्ञान अवश्य ही है, क्योंकि इसके उपदेश से पदार्थों का वास्तविक बोध हो जाता है इत्यादि, तथा मुझे स्वयं भी ज्ञान अवश्य है क्योंकि पदार्थ ठीक रूप से मुझे प्रतीत होते हैं, इत्यादि प्रतिभास जो अबाधितपने से हो रहा है वह ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने में नहीं बन सकता है। अतः ज्ञान को प्रत्यक्ष—स्वसंविदित मानना चाहिये, सर्वथा परोक्ष नहीं। यदि मीमांसक आत्मा और ज्ञान में कथंचित्रूप से—किसी अपेक्षा से कर्मत्व का अभाव मानते हैं तब तो ठीक है, देखो—जिस स्वरूप से ज्ञान में कर्मत्व की सिद्धि है उसी स्वरूप से उसे प्रत्यक्ष भी मान सकते हैं, घट आदि बाह्यपदार्थों में भी किसी २ स्थूलत्वादि धर्मों की अथवा अंशों की अपेक्षा ही कर्मत्व माना जा सकता है अर्थात् हम जैसे छद्मस्थ पुरुषों का ज्ञान पदार्थों के सर्वांशों को ग्रहण नहीं कर सकता है अतः कुछ अंश ही जानने में आने से वे कर्मरूप हैं, उसी प्रकार आत्मा हो चाहे ज्ञान हो उनकी भी कर्त्रंश और करणांश रूप से प्रतीति आती है, अतः वे भी प्रत्यक्ष ही कहलावेंगे। कर्त्ता आत्मा और करणज्ञान प्रतीत हो रहे हैं तो भी उन्हें कर्मरूप नहीं मानना यह विरुद्ध बात होगी। देखिये—प्रतीत होना ही ग्राह्यपना कहलाता है और वही कर्मत्व से प्रसिद्ध होता है, तुम कहो कि जब कर्त्ता आदि स्वयं ही प्रतीत होते हैं तो उनको कर्मरूप कैसे माना जाय ? मतलब—घट आदि बाह्यपदार्थों का तो "घट को जानता हूं इत्यादिरूप से कर्मपना दिखायी देता है वैसे स्वयं का कर्मपना नहीं दिखता, अतः कर्मपने आत्मादि को नहीं मानते हैं सो भी बात नहीं है। जब आत्मा आदिक पर के लिये कर्मपने को प्राप्त होते हैं तब अपने लिये कैसे नहीं होंगे।

मीमांसक—आत्मा आदि तो पर के लिये कर्मरूप हो जाते हैं उसमें विरोध नहीं है।

जैन—उसी प्रकार स्वयं के लिये भी वे कर्मरूप बन जावेंगे इसमें क्या विरोध है।

किञ्च, इयं प्रत्यक्षता अर्थधर्मः, ज्ञानधर्मो वा ? न तावदर्थधर्मः, नीलतादिवत्तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया च प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । न चैवम्, आत्मन्येवास्या ज्ञानकाले एव स्वासाधारणविषयतया च प्रसिद्धेः । तथा च न प्रत्यक्षता अर्थधर्मः तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया चाऽप्रसिद्धत्वात् । यस्तु तद्धर्मः स तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया च प्रसिद्धो दृष्टः, यथा रूपादिः, तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया चाप्रसिद्धा चेयम् तस्मान्न तद्धर्मः । यस्यात्मनो ज्ञानेनार्थः प्रकटीक्रियते तद्ज्ञानकाले तस्यैव सोऽर्थः

मीमांसक—कर्तृत्व और करणत्व पर के लिये भी कर्मरूप बन नहीं सकते हैं अर्थात् हमारा ज्ञान या आत्मा हमारे खुदके द्वारा कर्मरूप से प्रतीति में नहीं आता है तो वह दूसरे देवदत्त आदि के द्वारा भी कर्मरूप से प्रतीति में नहीं आयेगा । लेकिन ऐसा है नहीं, हम हमारे लिये कर्मरूप से प्रतीति में आते हैं । देखो–घट को ग्रहण करने वाले ज्ञानसे युक्त अपनी आत्मा को स्वयं मैं खुद अनुभव कर रहा हूं. इस प्रकार अनुभव सिद्ध बात है कि स्व की प्रतीति में स्वयं ही कर्मरूप हो जाता है. इसलिये जैसे पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं वैसे ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है ऐसा मानना चाहिये, यदि ज्ञान में प्रत्यक्षता नहीं मानते हैं तो पदार्थों में प्रत्यक्षता की प्रतीति का अपलाप हो जायेगा, क्योंकि प्रतीत हुए स्वभाव को एक जगह नहीं मानेंगे तो कहीं पर भी उस स्वभाव की सिद्धि नहीं होगी, फिर तो प्रतिनियत वस्तुस्वभाव का ही लोप हो जायेगा ।

भावार्थ—आत्मा और ज्ञान में कर्त्ता और करणरूप से प्रतीति आ रही है तो भी उनको परोक्ष माना जायगा तो घट आदि पदार्थ भी परोक्ष हो जावेंगे, क्योंकि प्रतीत होते हुए भी ज्ञानादि को परोक्ष मान लिया है, अतः पदार्थ भी परोक्ष हो जावेंगे। फिर प्रतिनियत पदार्थों के स्वभावों की व्यवस्था ही समाप्त हो जाने से यह घट कृष्ण वर्णवाला है, बड़ा है इत्यादि वस्तुओं का स्वभाव या धर्म प्रतीत होना शक्य नहीं रहेगा । अतः पदार्थों के समान ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है ऐसा मानना चाहिये ।। मीमांसक से हम यह पूछते हैं कि प्रत्यक्षता किसका धर्म है ? क्या वह घट पट आदि पदार्थों का धर्म है ? अथवा ज्ञान का धर्म है ? प्रत्यक्षता पदार्थों का धर्म तो हो नहीं सकती, यदि वह पदार्थ का धर्म होती तो उसी नील आदि धर्म के समान उसी पदार्थ के स्थान पर अन्य समय में भी वह प्रत्यक्षता प्रतीत होती, तथा वह नील पीत आदि पदार्थ जैसे ज्ञान काल से भिन्न समयों में भी प्रतीत होते हैं अनेक अनेक देवदत्त आदि पुरुष उन नीलादि पदार्थों को जानते हैं वैसे ही उस प्रत्यक्षता को भी जानने का प्रसंग प्राप्त

प्रत्यक्षो भवतीत्यपि श्रद्धामात्रम्; अर्थप्रकाशकविज्ञानस्य प्राकट्याभावे तेनार्थप्रकटीकरणासम्भवात्प्रदीपवत्, अन्यथा सन्तानान्तरवर्तिनोपि ज्ञानादर्थप्राकट्यप्रसङ्गः। चक्षुरादिवत्तस्य प्राकट्याभावेप्यर्थे प्राकट्यं घटेतेत्यप्यसमीचीनम्; चक्षुरादेरर्थप्रकाशकत्वासम्भवात्। तत्प्रकाशकज्ञानहेतुत्वात् खलूपचारेणार्थप्रकाशकत्वम्। कारणस्य चाज्ञातस्यापि कार्ये व्यापाराविरोधो ज्ञापकस्यैवाज्ञातस्य ज्ञापकत्व-

---

होगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है। प्रत्यक्षता तो ज्ञानके समय ही और आत्मा में प्रतीत होती है, तथा वह भी अपने को मात्र असाधारणरूप से प्रतीत होती है। अर्थात् अपने ज्ञान की प्रत्यक्षता तो अपने को ही प्रतीत होगी, अन्य किसी भी पुरुषको वह प्रतीत हो नहीं सकती है। इसलिये अनुमान सिद्ध बात है कि प्रत्यक्षता पदार्थ का धर्म नहीं है (साध्य), क्योंकि वह ज्ञान के समय को छोड़कर अन्य समय में प्रतीत नहीं होती, तथा पदार्थ के स्थान पर प्रतीत नहीं होती और न अन्य पुरुषों को साधारण रूप से वह ग्रहण में आती है (हेतु), जो पदार्थ का धर्म होता है वह पदार्थ के स्थान पर ही प्रतीत होता है, ज्ञानकाल से भिन्न समय में भी प्रतीत होता है। और अनेक व्यक्ति भी उस धर्म को विषय कर सकते हैं। जैसे कि रूप, रस आदि धर्म सभी के विषय हुआ करते हैं। यह प्रत्यक्षता तो न पदार्थ के स्थान पर प्रतीत होती है और न ज्ञानकाल से अन्य समय में झलकती है और न अन्य पुरुषों को साधारण रूप से जानने में आती है, अतः प्रत्यक्षता पदार्थ का धर्म हो नही सकती।

मीमांसक—जिसकी आत्मा के ज्ञान के द्वारा पदार्थ प्रकट किया जाता है वह पदार्थ उसी के ज्ञान के काल में उसी आत्मा को प्रत्यक्ष होता है अन्य समय में अन्य को नही।

जैन—सो यह कथन भी श्रद्धामात्र है, जब कि आपके यहां पर पदार्थों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही प्रकट नहीं है, तो उसके द्वारा पदार्थ प्रकट कैसे किये जा सकते हैं? अर्थात् नहीं किये जा सकते। जैसे कि दीपक स्वयं प्रकाशस्वरूप है तभी उसके द्वारा पदार्थ प्रकट किये जाते हैं नहीं तो नहीं, वैसे ही ज्ञान भी जब तक अपने आपको प्रत्यक्ष नहीं करेगा तब तक वह पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, अन्यथा–अन्य पुरुष के ज्ञानके द्वारा भी पदार्थ को प्रत्यक्ष कर लिया जाना चाहिये। क्योंकि जैसे हमारा स्वयं का ज्ञान हमारे लिये परोक्ष है वैसे ही दूसरे का ज्ञान भी परोक्ष है, अपने परोक्षज्ञान से ही पदार्थ को प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो पराये ज्ञान से भी उन्हें प्रत्यक्ष कर लेना चाहिये, इस तरह का बड़ा भारी दोष उपस्थित होगा।

विरोधात् "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम" [ ] इत्यखिलैः परीक्षादक्षैरभ्युपगमात्। प्रमातुरात्मनो ज्ञापकस्य स्वयं प्रकाशमानस्योपगमादर्थे प्राकट्यसम्भवे करणज्ञानकल्पनावैफल्यमित्युक्तम्। नापि ज्ञानधर्मः; अस्य सर्वथा परोक्षतयोपगमात्। यत्खलु सर्वथा परोक्षं तन्न प्रत्यक्षताधर्माधारो यथाऽदृष्टादि, सर्वथा परोक्षं च परैरभ्युपगतं ज्ञानमिति।

मीमांसक—जिस प्रकार नेत्र आदि इन्द्रियां स्वतः परोक्ष रहकर ही पदार्थों को प्रत्यक्ष किया करती हैं उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं परोक्ष रहकर पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लेगा ?

जैन—यह कथन गलत है क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रियां पदार्थों को प्रकट—(प्रकाशित) नहीं करती हैं किन्तु वे अर्थ प्रकाशक ज्ञान की हेतु होती हैं—अर्थात्—इन्द्रियां ज्ञान की सिर्फ सहायक बनती है, इसलिये उनमें अर्थ प्रकाशकत्व का उपचार कर लिया जाता है। और एक बात यह है कि जो कारणस्वरूप करण होता है वह अज्ञात रहकर भी कार्य में व्यापार कर सकता है, किन्तु जो ज्ञापक करण होता है वह ऐसा नहीं होता, वह तो ज्ञात होकर ही कार्य में व्यापार करता है। "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम" अर्थात् अज्ञात वस्तु ज्ञापक नही कहलाती है, ऐसा सभी परीक्षक विद्वानों ने स्वीकार किया है।

मीमांसक—प्रमाता आत्मा जब स्वयं ज्ञापककरण मौजूद है तो उसके द्वारा ही अर्थप्राकटच हो जावेगा, ऐसा मानने पर ज्ञान में स्वप्रकाशकता की आवश्यकता ही नहीं रहती है, क्योंकि स्वप्रकाशक आत्मा उपस्थित ही है।

जैन—तो फिर आपको ज्ञान को जानने के लिये करण भूत अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहेगी, अर्थात्—आत्मा ही स्वयं पदार्थ को या स्वतः को जानते समय करणभूत बन जायगा, यदि आत्मा से भिन्न कहीं ज्ञान उपलब्ध नही होता है अतः प्रत्यक्षता ज्ञान का धर्म है, ऐसा मीमांसक कहें तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन्होंने ज्ञान को सर्वथा परोक्ष माना है। जो सर्वथा परोक्ष ही रहता है वह प्रत्यक्षता रूप धर्म का आधार नहीं हो सकता, जैसे कि अदृष्ट—पुण्यपापादि, ये सर्वथा परोक्ष हैं। अतः उनमें प्रत्यक्षता नामक धर्म नहीं रहता है। आप मीमांसकों ने ज्ञान को सर्वथा परोक्ष माना है, अतः प्रत्यक्षता उसका धर्म हो नहीं सकती है।

पुनश्च—हम आपसे पूछते हैं कि जब आप ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानते हैं

कुतश्च वादिनो ज्ञानसद्भावसिद्धिः-प्रत्यक्षात्, अनुमानादेर्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्तस्यातद्विषयत्वोपगमात् । यच्च द्विषयं न भवति न तत्तद्व्यवस्थापकम्, यथास्मादृक्प्रत्यक्षं परमाण्वाद्यविषयं न तद्व्यवस्थापकम् । ज्ञानाविषयं च प्रत्यक्षं परैरभ्युपगतमिति ।

नाप्यनुमानात्; तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । तद्धि अर्थज्ञप्तिः; इन्द्रियार्थौ वा, तत्सहकारिप्रगुणं मनो वा ? अर्थज्ञप्तिश्चेत्सा किं ज्ञानस्वभावा, अर्थस्वभावा वा ? यदि ज्ञानस्वभावा; तदाऽ-

---

तो आप ज्ञान के सद्भाव की सिद्धि भी कैसे कर सकेंगे ? क्या प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञान के सद्भाव की सिद्धि करेंगे या अनुमान प्रमाण से करेंगे ? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो कर नहीं सकते क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान विषय ही नहीं है, जो जिसका विषय नहीं है वह उसका व्यवस्थापक भी नहीं होता है, यथा हम जैसे छद्मस्थ जीवों का प्रत्यक्ष ज्ञान परमाणु आदि को विषय नहीं करता है अतः उसका वह व्यवस्थापक भी नहीं होता है, आपने प्रत्यक्षप्रमाण को ज्ञान का विषय करनेवाला नहीं माना है । अतः वह ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होना तो सिद्ध नहीं होता ।

अनुमान प्रमाण से भी ज्ञान के सद्भाव की सिद्धि नही कर सकते हो । क्योंकि उस ज्ञान का अविनाभावी ऐसा कोई हेतु नहीं है यदि कहो कि हेतु है तो वह कौनसा होगा ? पदार्थ की ज्ञप्ति, या इन्द्रिय और पदार्थ अथवा इन्द्रियादिक का है सहकारीपना जिसमें ऐसा एकाग्र मन ? यदि पदार्थ की ज्ञप्ति को उसका हेतु बनाते हो तो वह पदार्थ ज्ञप्ति भी किस स्वभाववाली होगी ? ज्ञान स्वभाववाली कि पदार्थ स्वभाववाली ? ज्ञान स्वभाववाली अर्थ ज्ञप्ति ज्ञान को प्रत्यक्ष करने वाले अनुमान में हेतु है यदि ऐसा कहोगे तो वह अभी असिद्ध होने से अनुमापक नहीं बन सकती है—अर्थात् ज्ञान में प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है इस बात का ही जब आपको निश्चय नहीं—आप जब ज्ञान को प्रत्यक्ष होना ही स्वीकार नहीं करते हैं—तो किस प्रकार ज्ञानस्वभाववाली अर्थज्ञप्ति को हेतु बना सकते हो ? अर्थात् नहीं बना सकते । बड़ा आश्चर्य है कि आप ज्ञानस्वभावपना दोनों में—अर्थज्ञप्ति और करणज्ञान में समान होते हुए भी अर्थज्ञप्ति को तो प्रत्यक्ष मान रहे हो और करणज्ञान को प्रत्यक्ष नही मानते, इसमें तो एक महा मोह—मिथ्यात्व ही कारण है, कि जिसके निमित्त से ऐसी विपरीत तुम्हारी मान्यता हो रही है । अर्थज्ञप्ति और करणज्ञान इनमें तो मात्र शब्दों का ही भेद है अर्थ का भेद तो है नहीं फिर भी अपनी स्वच्छंद इच्छा के अनुसार इनमें आप भेद करते हो कि

सिद्धत्वात्तस्याः कथमनुमापकत्वम् ? न खलु ज्ञानस्वभावाविशेषेपि 'ज्ञप्तिः प्रत्यक्षा न करणज्ञानम्' इत्यत्र व्यवस्थानिबन्धनं पश्यामोऽन्यत्र महामोहात् । शब्दमात्रभेदाच्च सिद्धासिद्धत्वभेदः स्वेच्छापरिकल्पितोऽर्थस्याभिन्नत्वात् । ज्ञानत्वेन हि प्रत्यक्षताविरोधे ज्ञप्तावपीय न स्यादविशेषात् । अथार्थस्वभावा ज्ञप्तिः तदार्थप्राकट्यं सा, न चैतदर्थग्राहकविज्ञानस्यात्माधिकरणत्वेनापि प्राकट्याभावे घटते,

---

अर्थज्ञप्ति तो प्रत्यक्ष स्वरूप है और करणज्ञान परोक्ष स्वरूप है । देखिये—यदि आप करणज्ञान में ज्ञानपना होने से प्रत्यक्षतास्वभाव का विरोध करते हो तो अर्थज्ञप्ति में भी इस प्रत्यक्षता का विरोध मानना पड़ेगा, क्योंकि दोनों में—करणज्ञान और ज्ञप्ति में ज्ञानत्व तो समान ही है, कोई विशेषता नहीं है । इस प्रकार अर्थज्ञप्ति ज्ञान स्वभाववाली है यह नहीं सिद्ध हो सकने के कारण उस अर्थज्ञप्ति स्वरूप हेतुवाले अनुमान प्रमाण से ज्ञान का सद्भाव सिद्ध करना बनता नहीं है । अब यदि उस अनुमान के हेतु को अर्थ स्वभाववाली ज्ञप्ति स्वरूप मानते हो तो क्या दोष आते है सो बताते हैं—अर्थज्ञप्ति यदि अर्थस्वभाव है तो वह अर्थप्राकट्यरूप अर्थात् अर्थ को प्रत्यक्ष करने स्वरूप होगी, और ऐसा अर्थप्राकट्य तबतक नहीं बनता कि जबतक पदार्थों को ग्रहण करनेवाले करणज्ञान में प्राकट्य-(प्रत्यक्षता)—सिद्ध नहीं होता है । मैं जीव इस करणज्ञान का आधार हूं इत्यादिरूप से जबतक ज्ञान, प्रत्यक्ष नहीं होगा तबतक ज्ञानसे जाना हुआ पदार्थ उसे कैसे प्रत्यक्ष होगा ? अर्थात् नहीं हो सकेगा, यदि ज्ञान के प्रत्यक्ष हुए विना ही अर्थप्राकट्य होता है तो अन्य किसी देवदत्त के ज्ञान से यज्ञदत्त को पदार्थों का प्रत्यक्ष होना भी मानना पड़ेगा, क्योंकि जैसे अपना ज्ञान परोक्ष है, वैसे ही दूसरों का ज्ञान भी परोक्ष है, ज्ञानका अपने में अधिकरणरूप रूप से बोध नहीं होगा—ज्ञान स्वयं अज्ञात ही रहेगा ऐसा कहोगे तो एक बडा भारी दोष आता है, देखिये—ज्ञान कैसा और कहां पर है इस प्रकार ज्ञान के बारे में यदि जानकारी नहीं है तो जब ज्ञान वस्तुको जानेगा तब आत्मा में उसका अनुभव नहीं हो सकेगा कि मैंने यह पदार्थ जाना है । इत्यादि । एक बात और भी है कि पदार्थों में होनेवाली प्रकटता या प्रत्यक्षता तो सर्वसाधारण हुआ करती है अर्थात् सभी को होती है, उस अर्थप्राकट्यरूप हेतु से तो अन्य अन्य सभी आत्माओं के ज्ञानों का अनुमान होगा न कि अपने खुद के ज्ञान का । मतलब—पदार्थों की प्रकटता को देखकर अपने में ज्ञान का सद्भाव करने वाली जो अनुमानप्रमाण की बात थी वह तो बेकार ही होती है, क्योंकि उससे अपने में ज्ञान का सद्भाव सिद्ध करना शक्य नहीं है ।

पुरुषान्तरज्ञानादप्यर्थप्राकट्यप्रसङ्गात् । आत्माधिकरणत्वपरिज्ञानाभावे च ज्ञानस्य ज्ञानेन ज्ञातोप्यर्थः नात्मानुभवितृकत्वेन ज्ञातो भवेत् 'मया ज्ञातोऽयमर्थः' इति । अर्थगतप्राकट्यस्य सर्वसाधारणत्वाच्चा-त्मान्तरबुद्धेरप्यनुमानं स्यात् । यद्बुद्ध्या यस्यार्थः प्रकटीभवति तद्बुद्धिमेवासौ ततोऽनुमिमीते नात्मान्तरबुद्धिमित्यप्यसारम्; बुद्ध्यात्मनोरप्रत्यक्षत्वैकान्ते 'यद्बुद्ध्या यस्यार्थः प्रकटीभवति' इत्य-स्यैवान्धपरम्परया व्यवस्थापयितुमशक्तेः । प्रत्यक्षत्वे चात्मन सिद्धं विज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मक-त्वम् । आत्मैव हि स्वार्थग्रहणपरिणतो जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनज्ञानशब्देनाभिधीयते ।

मीमांसक—जिसकी बुद्धि के द्वारा जिसे अर्थ प्रकट–(प्रत्यक्ष) होता है वह उसी के ज्ञान का अनुमापक होगा, अन्य आत्मा के ज्ञान का नहीं, इस प्रकार मानने से ठीक होगा अर्थात् उपर्युक्त दोष नहीं आवेगा ।

जैन—यह कथन असार है, जब आपके यहां पर बुद्धि अर्थात् करणज्ञान और आत्मा एकान्त से परोक्ष ही है तब जिसकी बुद्धि के द्वारा जो अर्थप्रकट होता है इत्यादि व्यवस्था होना शक्य नहीं है, कोई अन्धपरंपरा से वस्तुव्यवस्था हुआ करती है क्या ? अर्थात् आत्मा परोक्ष है बुद्धि भी परोक्ष है और उन अंधस्वरूप बुद्धि आदि से वस्तु प्रत्यक्ष हो जाती है इत्यादि कथन तो अंधों के द्वारा वस्तुस्वरूप बतलाने के समान असिद्ध है इस सब दोषपरंपरा को हटाने के लिये यदि आप आत्माको प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं–तब तो ज्ञान भी स्वपरव्यवसायात्मक सिद्ध ही होगा, क्योंकि आत्मा ही स्वय स्व और पर को ग्रहण करने में जब प्रवृत्त होता है तब उसी को "जानाति इति ज्ञान" ऐसा कर्तृसाधनरूप से ग्रहण करते हैं–निर्दिष्ट करते हैं, मतलब यह है कि आत्मा कर्त्ता और करण ज्ञान इनमें भेद नहीं है–अतः आत्मा प्रत्यक्ष होने पर करण-ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है यह सिद्ध हुआ ।

ज्ञान का सद्भाव सिद्ध करने के लिये मीमांसक ने जो अनुमान दिया था उस अनुमान का हेतु अब यदि इन्द्रिय और पदार्थ को–दोनों को–माना जाय तो वह हेतु भी अनुपयोगी रहेगा, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थों का ज्ञान के सद्भाव के साथ कोई अविनाभाव सिद्ध नहीं है । इसी बात को बताया जाता है–जाननेवाला योग्य स्थान पर स्थित है तथा इन्द्रिय और पदार्थों का भी सद्भाव है तो भी यदि उस जाननेवाले व्यक्ति का मन अन्य किसी विषय में लगा है तो उसको उस उस इन्द्रिय के द्वारा उस विव-क्षित पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है । यदि कदाचित् व्यक्ति का मन कहीं अन्यत्र नहीं

इन्द्रियार्थौ लिङ्गमित्यप्यनालोचिताभिधानम्; तयोर्विज्ञानसद्भावाविनाभावासिद्धे. । योग्यदेशे स्थितस्य प्रतिपत्तुरिन्द्रियार्थसद्भावेप्यन्यत्र गतमनसो विज्ञानाभावात्। तत्सिद्धौ चेन्द्रियस्यातीन्द्रियत्वेनार्थस्यापि ज्ञानाऽप्रत्यक्षत्वेनासिद्धे· कथं तथापि हेतुत्वं तयोः ? सिद्धौ वा न साध्यज्ञानकाले ज्ञानान्तरात्तत्सिद्धिर्युगपद् ज्ञानानुत्पत्त्यभ्युपगमात्। उत्तरकालीनज्ञानात्तत्सिद्धौतदा साध्यज्ञानस्याभावात्कस्यानुमानम् ? उभयविषयस्यैकज्ञानस्यानभ्युपगमादनवस्थाप्रसङ्गाच्चानयोरसिद्धिः।

है और उसने पदार्थ को जान भी लिया तो भी उससे अपनी बात—अर्थात् ज्ञान के सद्भाव की बात सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि इन्द्रियां तो स्वयं अतिन्द्रिय हैं—स्वयं को जानती नहीं हैं। उस इन्द्रिय से जाना हुआ पदार्थ भी ज्ञान के परोक्ष होने से असिद्ध ही रहेगा, अतः वह असिद्ध स्वरूपवाले इन्द्रियां और पदाथ ज्ञान की सिद्धि में कैसे हेतु बन सकते हैं। अर्थात् नहीं बन सकते है। एक बात और विचार करनें की है—कि आपके कहने से मान लिया जाय कि असिद्ध स्वभाववाली इन्द्रिय और पदार्थ भी ज्ञान की सिद्धि करते हैं किन्तु उससे कुछ फायदा नहीं होगा। क्योंकि साध्यकोटि में रखे हुए जिस करणभूत ज्ञान को आप सिद्ध कर रहे हैं उस ज्ञान के समय अन्य जो अनुमान ज्ञान है वह प्रवृत्त ही नहीं हो सकता, क्योंकि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न होना स्वीकार नहीं किया है। उत्तरकाल के ज्ञान के द्वारा उस करणज्ञान को सिद्ध करोगे तो उस समय करणज्ञान नही रहने से किसको सिद्ध करने के लिये अनुमान आयेगा, इन्द्रिय और पदार्थ इन दोनों को विषय करनेवाला एक ज्ञान माना नहीं है, तथा ऐसा मान भी लेवें तो भी अनवस्था दोष आता है। अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ स्वरूप हेतु से करणज्ञान की सिद्धि होगी, किन्तु इन्द्रिय और पदार्थ की किससे सिद्धि होगी ऐसा प्रश्न होने पर किसी दूसरे करण ज्ञान से सिद्धि कहनी होगी, इस करणज्ञान की भी किसी अन्य से सिद्धि होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष आने से करणज्ञान और इन्द्रिय तथा पदार्थ इन सबकी ही सिद्धि नही हो सकेगी, इसलिये इन्द्रिय और पदार्थ को हेतु बनाकर उससे ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करना शक्य नही है।

मीमांसक—इन्द्रिय और पदार्थों की है सहकारिता जिसमें ऐसे एकाग्र हुए मन के द्वारा ज्ञान का सद्भाव सिद्ध होता है अर्थात् ज्ञान की सिद्धि उस इन्द्रिय और पदार्थ का सहकारी स्वरूप जो मन है वह है हेतु जिसमें ऐसे अनुमान से हो जायगी।

जैन— यह कथन भी ठीक नही है, क्योंकि उस मन के द्वारा भी ज्ञान का सद्भाव सिद्ध होना शक्य नहीं है, कारण कि स्वतः मन की ही अभी तक सिद्धि नहीं

इन्द्रियार्थसहकारिप्रगुणं मनो लिङ्गमित्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; तत्सद्भावासिद्धेः। युगपद् ज्ञानानुत्पत्तेस्तत्सिद्धि., तथा हि–आत्मनो मनसा तस्येन्द्रियैः सम्बन्धे ज्ञानमुत्पद्यते। यदा चास्य चक्षुषा सम्बन्धो न तदा शेषेन्द्रियैरतिसूक्ष्मत्वात्; इत्यप्यसङ्गतम्; दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ युगपद्रूपादि ज्ञानपञ्चकोत्पत्तिप्रतीतेः अश्वविकल्पकाले गोनिश्चयाच्च तदसिद्धेः। न चात्र क्रमैकान्तकल्पना–प्रत्यक्ष विरोधात्। किञ्च भवादिना (किं) युगपत्प्रतीत येनावयवावयव्यादिव्यवहारः स्यात्? घटपटादिकमिति चेत् न; अत्रापि तथा कल्पनाप्रसङ्गात्। किञ्चातिसूक्ष्मस्यापि मनसो नयनादीनामन्यतमेन

हो पायी है। आप लोग एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होना रूप हेतु से मन की सिद्धि करते हो–किन्तु इस युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिरूप हेतु से मन सिद्ध नहीं होता है।

मीमांसक—हम तो ऐसा मानते हैं कि आत्मा का मन के साथ संबंध होता है, मन का इन्द्रियों के साथ संबंध होता है, तब जाकर ज्ञान उत्पन्न होता है, जब यह मन एक नेत्र के साथ संबंध करता है, तब शेष कर्ण आदि इन्द्रियों के साथ संबंध नहीं कर सकता, क्योंकि मन अति सूक्ष्म है, इस प्रकार एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नही होने से उससे मन की भी सिद्धि हो जाती है।

जैन—यह कथन असंगत है, देखो–दीर्घशष्कुली–बडी तथा कड़ी कचौड़ी या पुड़ी खाते समय एक साथ रस रूप आदि पांचों ज्ञान उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। तथा अश्व का विकल्प करते समय–(घोड़े का निश्चय होते समय) गाय का दर्शन भी होता है, अश्व का विकल्प हो रहा है और उसी समय उसी पुरुष को गाय का निश्चय भी होता हुआ देखा जाता है, अतः एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं इत्यादि कथन असत्य ठहरता है, इस दीर्घशष्कुलीभक्षण आदि में रूप रस आदि का क्रम से ही ज्ञान होता है ऐसा एकान्त नहीं मान सकते, प्रत्यक्ष विरोध होता है, अर्थात् हम सबको दीर्घशष्कुली भक्षण आदि में एक साथ रूप आदि का ज्ञान होते हुए प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है। आप मीमांसक यदि इस प्रकार एक साथ ज्ञान होना स्वीकार नहीं करेंगे तो अवयव अवयवी आदि का व्यवहार किस प्रकार होगा, क्योंकि अवयवों का ज्ञान अवयवी के साथ नहीं होगा और अवयवी का ज्ञान भी अवयवों के साथ उत्पन्न नहीं होगा।

मीमांसक—जैसे घट पट आदि का ज्ञान होता है वैसे अवयव अवयवी आदि का भी ज्ञान हो जायगा।

सन्निकर्षसमये रूपादिज्ञानवन्मानस सुखादिज्ञान किन्न स्यात् सम्बन्धसम्बन्धसद्भावात् । तथाविधादृष्टस्याभावाच्चेत्; अदृष्टकृता तर्हि युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिस्तदेवानुमापयेन्न मनः ।

किञ्च, 'युगपद् ज्ञानानुत्पत्तेर्मनःसिद्धिस्ततश्चास्याः प्रसिद्धिः' इत्यन्योन्याश्रय । चक्रकप्रसङ्गश्च –'विज्ञानसिद्धिपूर्विका हि युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धिर्मनःपूर्विका' इति । तस्मात्तत्सहकारि प्रगुणं मनो लिङ्गमित्यप्यसिद्धम् ।

जैन— यह कथन ठीक नहीं है, घटपट आदि में भी क्रम से ही ज्ञान होगा, क्योंकि आप एक साथ अनेकज्ञान होना मानते नही । एक बात हम जैन आप–(मीमांसक) से पूछते हैं कि आपका वह अतिसूक्ष्म मन जब नेत्र आदि इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय के साथ संबंध करता है उस समय उसके द्वारा जैसे रूपादि का ज्ञान होता है वैसे ही उसी नेत्र ज्ञान के साथ मानसिक सुख आदि का ज्ञान भी क्यों नही होता है ? क्योंकि संबंध संबध का सद्भाव तो है ही, अर्थात् मन का आत्मा से संबंध है और उसी आत्मा में सुखादिका समवाय संबध है, अतः रूप आदि के साथ मानसिक सुखादिका भी ज्ञान होना चाहिये ।

मीमांसक—उस तरह का अदृष्ट नहीं है, अतः नेत्र आदि का ज्ञान और मानसिक सुखादि ज्ञान एक साथ नही हो पाते हैं ।

जैन—तो फिर एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होने में अदृष्टकारण हुआ, मन तो उसमें हेतु नही है, फिर युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति मन लिङ्ग न होकर अदृष्ट का होगा । और वह हेतु अदृष्ट का ही अनुमापित करानेवाला होगा कि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं क्योंकि ऐसा अदृष्ट ही नहीं कि जिससे एक साथ अनेक ज्ञान पैदा हो सकें । किंच–एक साथ अनेकज्ञान नही होने में मन कारण है ऐसा मान लेवे तो भी अन्योन्याश्रय दोष आता है । देखिये–एक साथ अनेक ज्ञान पैदा नहीं होते हैं ऐसा सिद्ध होने पर तो मन की सिद्धि होगी; और मन के सिद्ध होने पर युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति सिद्ध होगी । चक्रक दोष भी आता है–जब करण ज्ञान का सद्भाव सिद्ध हो तब उसके एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होना सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर मन की सिद्धि होगी, फिर उससे करणज्ञान की सिद्धि होगी, इस प्रकार तीन के चक्र में चक्कर लगाते रहने से एक की भी सिद्धि होना शक्य नहीं है । इसलिये ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करने में दिया गया इन्द्रियार्थ सहकारी मन रूप हेतु असिद्ध हेत्वाभास दोष युक्त हुआ ।

अस्तु वा किञ्चिल्लिङ्गम्, तथापि–ज्ञानस्याप्रत्यक्षतैकान्ते तत्सम्बन्धासिद्धिः। न चासिद्ध-सम्बन्ध(न्धं) लिङ्गं कस्यचिद्गमकमतिप्रसङ्गात्। ततः परोक्षतैकान्ताग्रहग्रहाभिनिवेशपरित्यागेन 'ज्ञानं स्वव्यवसायात्मकमर्थज्ञप्तिनिमित्तत्वात् आत्मवत्' इत्यभ्युपगन्तव्यम्। नेत्रालोकादिनानेकान्त इत्यप्ययुक्तम्; तस्योपचारतोऽर्थज्ञप्तिनिमित्तत्वसमर्थनात्, परमार्थतः प्रमातृप्रमाणयोरेव तन्निमित्त-त्वोपपत्तेरित्यलमतिप्रसङ्गेन।

मीमांसक के कहने से मान भी लेवें कि कोई हेतु है जो ज्ञान को सिद्ध करता है, किन्तु ज्ञान को सर्वथा–एकान्तरूप से अप्रत्यक्ष मानने से–उस परोक्ष ज्ञान के साथ हेतु का अविनाभाव संबंध सिद्ध नहीं होता है, अविनाभाव संबंध के विना हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता, अन्यथा अतिप्रसंग आयेगा, उपर्युक्त सभी दोषों को दूर करने के लिये मीमांसकों को ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने का दुराग्रह छोड़ देना चाहिये। एवं ज्ञान अपने को जानता है क्योंकि वह पदार्थों के जानने में हेतु है जैसे कि आत्मा पदार्थों के जानने में कारण होने से उसको प्रत्यक्ष माना है, इस प्रकार युक्ति संगत बातको स्वीकार करना होगा।

मीमांसक—जैन ने जो ऊपर अनुमान में हेतु दिया है कि पदार्थ के जानने में कारण होने से ज्ञान को स्वव्यवसायी मानना चाहिये सो यह हेतु अर्थात् पदार्थों के जानने में निमित्त होना रूप जो हेतु है वह नेत्र प्रकाश आदि के साथ व्यभिचरित होता है–अनेकान्तिक दोष वाला होता है। मतलब–नेत्रादि इन्द्रियां तथा प्रकाश भी पदार्थों के जानने में हेतु हैं पर उन्हें आपने अपने आपका जानने वाला–स्वव्यवसायी नहीं माना है, अतः जो अर्थज्ञप्ति में हेतु हो वह स्वव्यवसायी है ऐसा इस हेतु से सिद्ध नहीं होता है।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि इन्द्रियां या मन अथवा प्रकाश ये सब के सब जो अर्थज्ञप्ति में कारण हैं वे सब उपचार से हैं। वास्तविकरूप से तो प्रमाता–आत्मा और प्रमाण–ज्ञान ये दोनों ही पदार्थों को जानते हैं। इस प्रकार प्रमाता और प्रमाण ही अर्थज्ञप्ति में कारण हैं, यह सिद्ध होता है। अब इस परोक्ष ज्ञान का खंडन करने से बस रहो। ज्ञान तो स्व को संवेदन करने वाला है यह अच्छी तरह से सिद्ध हुआ।

*** स्वसंवेदनज्ञान का प्रकरण समाप्त ***

स्वसंवेदनज्ञानवाद के खंडन का सारांश

मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान के द्वारा घटादि वस्तु जानी जाती है किन्तु खुद ज्ञान नहीं जाना जाता क्योंकि वह करण है, जो करण होता है वह अप्रत्यक्ष रहता है। जैसे वसूलादि इनका यह भी कहना है कि जो कर्म है वह ज्ञान के प्रत्यक्ष है, मतलब—"मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूं" इसमें मैं–कर्त्ता, घट–कर्म, और जानता हूं–प्रमिति ये तीनों तो प्रत्यक्ष हो जाते हैं, किन्तु "ज्ञान के द्वारा" यह ज्ञान रूप करण तो सर्वथा परोक्ष रहता है।

यह मीमांसक का कथन असगत है, आपने प्रत्यक्ष का कारण कर्म माना है लेकिन ऐसा एकान्त मानने से आत्मा भी परोक्ष हो जावेगा, जो तुम्हारे भाई भाट्ट मानते हैं। किन्तु आपको आत्मा को परोक्ष मानना इष्ट नहीं है। आत्मा यदि प्रत्यक्ष हो जाता है तो फिर ज्ञान को परोक्ष मानने में क्या प्रयोजन है समझ में नहीं आता? भावेन्द्रियरूप लब्धि और उपयोग ही ज्ञान है और वह आत्मारूप है, कोई पृथक् नहीं है। अतः आत्मा के प्रत्यक्ष होने पर यह करणरूप ज्ञान भी उससे अभिन्न होने के कारण प्रत्यक्ष हो ही जायगा। अच्छा–यह तो आप बता देवे कि करणरूप ज्ञान है सो वह जाना जाता है कि नहीं? नहीं जाना जाता तो उसे जानने के लिये कोई दूसरा ज्ञान आयेगा वह भी करण रहेगा, अतः उसे जानने के लिये तीसरा ज्ञान आयेगा इस प्रकार अनवस्था आती है। यदि वह करणज्ञान करणरूप से अनुभव में आता है तो फिर उसे परोक्ष क्यों मानना? अहो! जैसे आत्मा कर्त्तारूप से अनुभव में आता है तो भी वह प्रत्यक्ष है ना, वैसे ही ज्ञान करणरूप से अनुभव में आता है वह भी प्रत्यक्ष है, ऐसी सरल सीधी अनुभव गम्य बात आप क्यों नहीं मानते हैं। मीमांसक होने के नाते आप तो विचारशील हैं फिर क्यों नहीं मीमांसा करते? देखिये—करणरूप ज्ञानको प्रत्यक्षरूप से दूसरा ज्ञान तो ग्रहण न कर सकेगा, क्योंकि आपने उसका विषय ज्ञान नहीं माना है, यदि अनुमान करणज्ञान को प्रत्यक्ष करे तो वह भी कैसे? उसके लिये तो सर्व प्रथम हेतु चाहिये, अर्थज्ञप्ति, इन्द्रिय, और पदार्थ तथा इनका सहकारीरूप एकाग्र हुआ मन, ये हेतु भी करणज्ञान को सिद्ध नही कर पाते। अर्थज्ञप्ति यदि ज्ञान स्वभावरूप है तो ज्ञान ही खुद असिद्ध होने से वह करणज्ञान के लिये क्यों हेतु बनेगी? अर्थज्ञप्ति तो किसी तरह से भी ज्ञान का लिङ्ग नहीं बनती है, इसी तरह इन्द्रिय और

पदार्थ हैं वे करणज्ञान के लिङ्ग नहीं बन सकते, क्योंकि उनमें वही दोष आते हैं। सहकारी एकाग्र मन को हेतुरूप मानना तब होगा जब कि खुद मन की सिद्धि हो।

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गं" यह आपके यहां मन का लक्षण किया गया है सो वह सिद्ध नहीं हो पाता, तथा–जैसे तैसे उसे मान भी लेवें तो वह बिलकुल सूक्ष्म है। जब वह नेत्रादि के साथ संबंध करता है तब उसी आत्मा में होने वाले मानस सुखादि का भी ज्ञान होना चाहिये संबंध तो है ही, मन का आत्मा से संबंध है और उसी आत्मा में सुखादि रहते हैं, अतः मन का किसी भी इन्द्रिय के साथ संबंध होते ही मानसिक सुखादि का अनुभव इन्द्रिय ज्ञान के बाद ही होने लग जायेगा, किन्तु आपको यह बात इष्ट नहीं है, क्योंकि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न होना इष्ट नहीं है। अदृष्ट के कारण एक साथ ज्ञान उत्पन्न करने की योग्यता मन में नहीं होती ऐसा कहो तो अदृष्ट ही उस युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति में करण हुआ मन नहीं हुआ। इस प्रकार करण-ज्ञान को परोक्ष मानने में अनेक दूषण प्राप्त होते हैं, अतः सही मार्ग यही है कि कर्त्ता, कर्म, करण, क्रिया ये चारों ही प्रत्यक्ष होते हैं–प्रतिभासित होते हैं ऐसा मानना चाहिये।

इस प्रकार मीमांसकाभिमत परोक्षज्ञान के खंडन का सारांश समाप्त हुआ।

आत्माप्रत्यक्षत्ववाद पूर्वपक्ष

मीमांसक का दूसरा भेद प्रभाकर है, यह ज्ञान के साथ आत्मा को भी परोक्ष मानता है, इसका मंतव्य है कि आत्मा कर्त्ता, और करणज्ञान ये दोनों ही सर्वथा परोक्ष हैं। हमारे भाई भाट्ट ज्ञान को परोक्ष मानकर भी आत्मा को प्रत्यक्ष होना कहते हैं, सो बात ठीक नहीं है. क्योंकि जब ज्ञान परोक्ष है तो उसका आधार आत्मा भी कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता। हम लोग अतीन्द्रिय ज्ञानी को भी नहीं मानते हैं। अतः सर्वज्ञ के द्वारा भी आत्मा का प्रत्यक्ष होना हम लोग स्वीकार नहीं करते, अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान वेद से भले ही हो जाय, किन्तु ऐसा आत्मादिक अतीन्द्रिय वस्तु का साक्षात्कार कभी किसी को भी नहीं हो सकता है। यह अटल सिद्धान्त है। "अहं ज्ञानेन घट वेद्मि" इस वाक्य में "अहं" कर्त्ता और ज्ञानेन–करण ये दोनों ही अप्रत्यक्ष हैं। सिर्फ घट–कर्म, और वेद्मि क्रिया प्रत्यक्ष हुआ करती है। अनुभव में भी यही आता है कि जो इन्द्रियों से ग्रहण नही होता वह तो परोक्ष ही है। जैन आत्मा को प्रत्यक्ष होना बताते हैं, अतः वे आत्मप्रत्यक्षवादी कहलाते हैं, किन्तु हमको यह कथन असंगत लगता है। हम तो आत्मा को परोक्ष ही मानते हैं।

*** पूर्वपक्ष समाप्त ***

आत्माप्रत्यक्षत्ववादः

*

एतेन 'आत्माऽप्रत्यक्षः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्करणज्ञानवत्' इत्याचक्षाणः प्रभाकरोपि प्रत्याख्यातः। प्रमितेः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वेपि प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्। तस्याः क्रियात्वेन प्रतिभासनात्प्रत्यक्षत्वे करणज्ञान–आत्मनोः करणत्वेन कर्तृत्वेन च प्रतिभासनात्प्रत्यक्षत्वमस्तु। न चाभ्यां तस्याः सर्वथा भेदोऽभेदो वा–मतान्तरानुषङ्गात्। कथञ्चिदभेदे–सिद्धं तयोः कथञ्चित्प्रत्यक्षत्वम्; प्रत्यक्षाद-

---

यहां तक मीमांसक के एकभेद भाट्ट के ज्ञानपरोक्षवाद का खंडन किया, और ज्ञान स्वसवेद्य है यह स्थापित किया, अब उन्हीं मीमांसकों का दूसरा भेद जो प्रभाकर है उसका आत्मअप्रत्यक्षवाद अर्थात् आत्मा को परोक्ष मानने का जो मंतव्य है उसका निराकरण ग्रन्थकार करते हैं–प्रभाकर का अनुमान वाक्य है कि "आत्मा अप्रत्यक्षः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात् करणज्ञानवत्" आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि वह कर्मपने से प्रतीत नहीं होता, जैसा कि करणज्ञान कर्मरूपपने से प्रतीत नहीं होता अतः वह परोक्ष है। इस प्रकार का प्रभाकर का यह कथन भी करणज्ञान में स्वसंविदितत्व के समर्थन से खंडित हो जाता है। क्योंकि प्रभाकर ने प्रमिति को कर्मपने से प्रतीत नहीं होने पर भी प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है।

प्रभाकर— प्रमिति क्रियारूप से प्रतीत होती है, अतः उसको हमने प्रत्यक्षरूप होना स्वीकार किया है।

जैन – तो फिर करणज्ञान और आत्मा में भी करणरूप और कर्तृत्वरूप से उनकी प्रतीति होने से प्रत्यक्षता स्वीकार करना चाहिये, जैसे प्रमिति का कर्मरूप से प्रतिभास नहीं होने पर भी उसमें प्रत्यक्षता मानी गई है उसी प्रकार कर्मरूप से प्रतीत नहीं होने पर भी आत्मा और ज्ञान में प्रत्यक्षता मानना चाहिये। आत्मा और ज्ञान में प्रत्यक्षता मानने में यह भी एक हेतु है कि आत्मा और ज्ञान से प्रमिति सर्वथा भिन्न

भिन्नयोः सर्वथा परोक्षत्वविरोधात् । ननु शाब्दी प्रतिपत्तिरेषा 'घटमहमात्मना वेद्मि' इति नानुभवप्रभावा तस्यास्तदविनाभावाभावात्, अन्यथा 'अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादिप्रतिपत्तेरप्यनुभवत्वप्रसङ्गस्तत्कथमतः प्रमात्रादीनां प्रत्यक्षताप्रसिद्धिरित्याह—

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥ १० ॥

तो है नहीं, अतः प्रमिति में प्रत्यक्षता होने पर आत्मा और ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं। यदि आप प्रभाकर प्रमिति को आत्मा और ज्ञान से सर्वथा भिन्न ही मानते हैं तो आपका नैयायिकमत में प्रवेश होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, क्योंकि उनकी ही ऐसी मान्यता है, तथा यदि प्रमिति को उन दोनों से सर्वथा अभिन्न ही मानते हो तो बौद्ध मत में प्रवेश होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, क्योंकि वे ऐसा ही सर्वथा भेद या अभेद मानते हैं। इसलिये सौगत और नैयायिक के मत में प्रवेश होने से बचना है तो प्रमिति को आत्मा और ज्ञान से कथंचित् अभिन्न मानना चाहिये, तब तो उन दोनों में इस मान्यता के अनुसार कथंचित् प्रत्यक्षपना भी आ जावेगा, क्योंकि प्रत्यक्षरूप प्रमिति से वे आत्मादि पदार्थ कथंचित् अभिन्न हैं। अतः वे सर्वथा परोक्ष नहीं रह सकेंगे। प्रत्यक्ष से जो अभिन्न होता है उसका सर्वथा परोक्ष होने में विरोध आता है।

शंका—"मैं अपने द्वारा घट को जानता हूं" इस प्रकार की जो प्रतिपत्ति है वह शब्दस्वरूप है, अनुभवस्वरूप नहीं है, क्योंकि इस प्रतिपत्ति का अनुभव के साथ अविनाभाव नहीं है। यदि इस प्रतिपत्ति को अनुभवस्वरूप माना जावे तो "अंगुली के अग्रभाग पर सैंकड़ों हाथियों का समूह है" इत्यादि शाब्दिक प्रतिपत्ति को भी अनुभवस्वरूप मानना पड़ेगा, अतः इस शब्द प्रतिपत्ति मात्र से प्रमाता, प्रमाण आदि में प्रत्यक्षता कैसे सिद्ध हो सकती है। अर्थात् नही हो सकती। मतलब–मैं अपने द्वारा घट को जानता हूं इत्यादि वचन तो मात्र वचनरूप ही हैं; वैसे संवेदन भी हो ऐसी बात नहीं है, इसलिये इस वाक्य से प्रमाता आदि को प्रत्यक्षरूप होना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—इस प्रकार की शंका उपस्थित होने पर श्री माणिक्यनंदी आचार्य स्वयं सूत्रबद्ध समाधान करते हैं—

सूत्र—शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—शब्दों का उच्चारण किये विना भी अपना अनुभव होता है, जैसे कि पदार्थों का घट आदि नामोच्चारण नहीं करें तो भी उनका ज्ञान होता है, "घट

यथैव हि घटस्वरूपप्रतिभासो घटशब्दोच्चारणमन्तरेणापि प्रतिभासते । तथा प्रतिभासमानत्वाच्च न शाब्दस्तथा प्रमात्रादीनां स्वरूपस्य प्रतिभासोपि तच्छब्दोच्चारणं विनापि प्रतिभासते । तस्माच्च न शाब्दः । तच्छब्दोच्चारणं पुनः प्रतिभातप्रमात्रादिस्वरूपप्रदर्शनपरं नाऽनालम्बनमर्थवत्, अन्यथा 'सुख्यहम्' इत्यादिप्रतिभासस्याप्यनालम्बनत्वप्रसङ्गः ।

ननु यथा सुखादिप्रतिभासः सुखादिसंवेदनस्याप्रत्यक्षत्वेप्युपपन्नस्तथार्थसंवेदनस्याप्रत्यक्षत्वे-

---

है" ऐसा वाक्य नहीं बोले तो भी घट का स्वरूप हमें प्रतीत होता है, क्योंकि वैसा हमें अनुभव ही होता है, यह प्रतीति केवल शब्द से होने वाली तो है नहीं, ऐसे ही प्रमाता–आत्मा, प्रमाण–ज्ञानादि का भी प्रतिभास उस उस आत्मा आदि शब्दों का उच्चारण विना किये भी होता है । इसलिये प्रमाता आदि की प्रतिपत्ति मात्र शाब्दिक नहीं है, आत्मा आदि का नामोच्चारण जो मुख से करते हैं वह तो अपने को प्रतिभासित हुए आत्मादि के स्वरूप बतलाने के लिये करते हैं । यह नामोच्चारण जो होता है वह विना प्रमाता आदि के प्रतिभास हुए नहीं होता है । जैसे कि घट आदि नामोंका उच्चारण विना घट पदार्थ के प्रतिभास हुए नहीं होता है, यदि अपने को अन्दर से प्रतीत हुए इन प्रमाता आदि को अनालंबनरूप माना जाय तो "मैं सुखी हूं" इत्यादि प्रतिभास भी विना आलंबन के मानना होगा, किन्तु "मैं सुखी हूं" इत्यादि वाक्यों को हम मात्र शाब्दिक नहीं मानते हैं, किन्तु सालम्बन मानते हैं । बस ! वैसे ही प्रमाता आदि का प्रतिभास भी वास्तविक मानना चाहिये; निरालम्बरूप नहीं ।

शंका—जिस प्रकार सुख दुःख आदि का प्रतिभास सुखादि के संवेदन के परोक्ष रहते हुए भी सिद्ध होता है वैसे ही पदार्थों को जानने वाले जो ज्ञान या आत्मा आदिक हैं वे भी परोक्ष रहकर भी प्रसिद्ध हो जावेंगे ।

समाधान—यह कथन विना सोचे ही किया है, देखो–सुख आदि जो हैं वे संवेदन से–(ज्ञान से)–पृथक् हैं ऐसा प्रतिभास नहीं होता है, क्योंकि आह्लादनाकार से परिणत हुआ जो ज्ञानविशेष है वही सुखरूप कहा जाता है, ऐसे सुखानुभव में तो प्रत्यक्षता रहती ही है, यदि ऐसे सुखानुभव में परोक्षता मानी जाय और उसे अत्यन्त परोक्ष ज्ञान के द्वारा गृहीत हुआ स्वीकार किया जाय तो उसके द्वारा होने वाले अनुग्रह और उपघात नहीं हो सकेंगे, अर्थात् हमारे सुख और दुःख हमें परोक्ष हैं तो सुख से आह्लाद, तृप्ति, आनंद आदिरूप जो जीव में अनुग्रह होता है और दुःख से पीड़ा, शोक, संताप आदिरूप जो उपघात होता है वह नहीं

प्यर्थप्रतिभासो भविष्यति इत्यप्यविचारितरमणीयम्; सुखादेः संवेदनादर्थान्तरस्वभावस्याप्रतिभासनादाह्लादनाकारपरिणतज्ञानविशेषस्यैव सुखत्वात्, तस्य चाध्यक्षत्वात् तस्यानध्यक्षत्वेऽत्यन्ताप्रत्यक्षज्ञानग्राह्यत्वे च-अनुग्रहोपघातकारित्वासम्भवः, अन्यथा परकीयसुखादीनामप्यात्मनोऽत्यन्ताप्रत्यक्षज्ञानग्राह्याणां तत्कारित्वप्रसङ्गः। ननु पुत्रादिसुखाद्यप्रत्यक्षत्वेपि तत्सद्भावोपलम्भमात्रादात्मनोऽनुग्रहाद्युपलभ्यते तत्कथमयमेकान्त ? इत्यप्यशिक्षितलक्षितम्; नहि तत्सुखाद्युपलम्भमात्रात् सौमनस्यादिजनिताभिमानिकसुखपरिणतिमन्तरेणात्मनोऽनुग्रहादिसम्भवः, शत्रुसुखाद्युपलम्भाद्दुश्चेष्टितादिना

होवेगा, यदि हमारे सुखादिक हमारे से अप्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे हमारे लिये उपघात एवं अनुग्रहकारी होते माने जावे तो फिर दूसरे जीव के सुख दुःख आदि से भी हमें अनुग्रह आदिक होने लग जावेगे, क्योंकि जैसे हम से हमारे सुखादिक अप्रत्यक्ष है वैसे ही पराये व्यक्ति के भी वे हमसे अप्रत्यक्ष हैं फिर क्या कारण है कि हमारे ही सुखादिक से हमारा अनुग्रहादि होता है और पराये सुखादि से वह नहीं होता है।

शंका—पुत्र, स्त्री, मित्र आदि इष्ट व्यक्तियों के सुख दुःख आदि हमको प्रत्यक्ष नहीं होते है तो भी उनके सुखादि को देखकर हमको भी उससे अनुग्रहादि होने लग जाता है, अतः यह एकान्त कहां रहा कि सुखादि प्रत्यक्ष हो तभी उनसे अनुग्रहादि होवे।

जैन—यह कथन अज्ञान पूर्ण है, हमारे से भिन्न जो पुत्र आदिक हैं उनके सुखादिक का सद्भावमात्र जानने से हमें कोई उससे अनुग्रहादिक नही होने लग जाते, हां, इतना जरूर होता है कि अपने इष्ट व्यक्ति के सुखी रहने से हमें भी प्रसन्नता आदि आती है और हम कह भी देते हैं कि उसके सुखी होने से मै भी सुखी हो गया इत्यादि, यदि दूसरों के सुखादि से अपने को अनुग्रह होता तो शत्रुके सुख से या खोटे आचरण के कारण छोड़े गये पुत्रादि के सुख से भी हम में अनुग्रह होना चाहिये, किन्तु ऐसा होता तो नहीं। देखिये—पर के सुख की बात तो छोड़िये, किन्तु जब हम उदास या वैरागी हो जाते हैं तब अपने खुद के शरीर का सुख या दुःख भी हम में अनुग्रहादि करने में असमर्थ होता है। जो कि शरीर अति निकटवर्ती है, ऐसी हालत में हमसे अतिशय भिन्न पुत्र आदि के सुखों से हमको, किस प्रकार अनुग्रह आदि हो सकते हैं। अर्थात् नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ—प्रभाकर ज्ञान और आत्मा को परोक्ष मानते हैं, अतः आचार्य उन्हें समझाते हैं कि हमारी स्वयं की आत्मा ही हमको प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगी तो सुख दुःख

परित्यक्तपुत्रसुखाद्यु पलम्भाच्च तत्प्रसङ्गात् । विग्रहादिकमतिसन्निहितमपि आभिमानिकसुखमन्तरेणा नुग्रहादिकं न विदधातिकिमङ्ग पुनरतिव्यवहिताः पुत्रसुखादयः ।

अस्तु नाम सुखादेः प्रत्यक्षता, सा तु प्रमाणान्तरेण न स्वतः 'स्वात्मनि क्रियाविरोधात्' इत्यन्यः, तस्यापि प्रत्यक्षविरोधः । न खलु घटादिवत् सुखाद्यविदितस्वरूप पूर्वमुत्पन्नं पुनरिन्द्रियेण सम्बद्धचते ततो ज्ञानं ग्रहणं चेति लोके प्रतीतिः । प्रथममेवेष्टानिष्टविषयानुभवानन्तरं स्वप्रकाशात्मनो-

---

आदि का अनुभव भी हम नहीं कर सकते हैं । किन्तु मैं सुखी हूं इत्यादिरूप से प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण प्रतीति हो रही है, इसीसे सिद्ध होता है कि हमारा ज्ञान और आत्मा स्वसंवेदनस्वरूप अवश्य ही है । इस पर शंका उपस्थित हुई कि इष्ट व्यक्ति के सुख दुःख आदि से हम सुखी तो हो जाते हैं तो जैसे वे पर के सुखादिक हमारे संवेदन में नहीं हैं अर्थात् परोक्ष हैं फिर भी उसके द्वारा हम में अनुग्रहादि होते हैं, वैसे ही अपने ज्ञानादि परोक्ष हों तब भी उससे पदार्थ का प्रतिभास तो हो ही जायगा तब आचार्य ने कहा कि यह तो औपचारिक कथन होता है कि मेरे इस पुत्र के सुख से मैं भी सुखी हूं इत्यादि, वास्तविक बात तो यह है मोह या अभिमान आदि के कारण हम पर के सुख में सुखी हैं ऐसा कह देते हैं, पर जब वह मोह किसी कारण से हट जाता है तब पर की तो बात ही क्या है अपने शरीर के सुख आदि का भी अनुभव नहीं आता है । अतः ज्ञानादि परोक्ष रहकर पदार्थ को जानते हैं यह बात सुखादि के उदाहरण से सिद्ध नहीं होती है ।

यहां पर जब जैनाचार्य ने सुख दुःख आदि को प्रत्यक्ष होना सिद्ध किया तब कोई अपना पक्ष रखता है कि जैन लोग सुख दुःख आदि को प्रत्यक्ष मान लेवें किन्तु उन सुखादि की प्रत्यक्षता तो किसी भिन्न प्रमाण से होनी चाहिये, स्वतः नहीं, क्योंकि अपने आप में क्रिया नहीं होती है, इसप्रकार किसी नैयायिक ने कहा, तब आचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकार भिन्न प्रमाण से सुखादि का प्रत्यक्ष होना मानो तो साक्षात विरोध होगा, देखिये—जिस प्रकार घट पट आदि वस्तुओं का स्वरूप पहले अज्ञात रहता है और फिर उनका इन्द्रियों से संबंध होता है तब जाकर ज्ञान उत्पन्न होकर उन वस्तुओं को ग्रहण करता है, उस तरह से सुख आदि का स्वरूप पहले अज्ञात रहे फिर इन्द्रिय–सम्बन्ध होकर ज्ञान हो इस रूप से सुखादि में प्रक्रिया होती हुई प्रतीत नहीं होती, किन्तु प्रथम ही अपने को इष्ट अनिष्ट वस्तुओं का अनुभव होता है, अनन्तर स्वप्रकाशस्वरूप ज्ञान उदित होता है, आपने "स्वात्मनि क्रियाविरोधः" अपने में क्रिया

ऽस्योदयप्रतीतेः । स्वात्मनि क्रियाविरोध चानन्तरमेव विचारयिष्यामः । यदि चार्थान्तरभूतप्रमाण-प्रत्यक्षाः सुखादयस्तर्हि तदपि प्रमाणं प्रमाणान्तरप्रत्यक्षमित्यनवस्था । विभिन्नप्रमाणग्राह्याणां चानुग्रहादिकारित्वविरोधः । न हि स्त्रीसङ्गमादिभ्यः प्रतीयमानाः सुखादयोऽन्यस्यात्मनस्तत्कारिणो दृष्टाः । ननु परकीयसुखादीनामनुमानगम्यत्वान्नात्मनोऽनुग्रहादिकारित्वम् आत्मीयानां प्रत्यक्षाधिगम्यत्वात्तत्कारित्वमित्यप्यसारम्; योगिनोपि तत्कारित्वप्रसङ्गात् प्रत्यक्षाधिगम्यत्वाविशेषात् । आत्मीय-

---

होने का जो निषेध किया है सो इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे, आप नैयायिक ने कहा है कि सुख आदि का साक्षात्कार किसी अन्य प्रमाण से हुआ करता है सो वह अन्य प्रमाण भी दूसरे प्रमाण से प्रत्यक्ष होगा, इस प्रकार से तो अनवस्था आवेगी, एक बात और भी है कि यदि सुख आदि का भिन्न प्रमाण से ग्रहण होना माना जाय तो उन सुख आदि से अनुग्रह आदि होने में विरोध आता है, ऐसा तो देखा नहीं गया है कि देवदत्त के द्वारा आचरित हुए स्त्री समागम आदि से प्रतीयमान सुखादिक यज्ञदत्त के द्वारा अनुभव में आते हों, अर्थात् देवदत्त का स्त्री समागम संबंधी सुख देवदत्त को ही अनुभवित होता है न कि देवदत्त से भिन्न यज्ञदत्त को ।

शंका—यज्ञदत्त आदि को वे दूसरे के स्त्री समागमादि से प्रतीयमान सुखादिक इसलिये अनुग्रहादि कारक नहीं होते हैं कि उनमें अनुमानगम्यता है, और अपने सुख में-अपने खुद में होने वाले सुख में-प्रत्यक्षगम्यता है इसलिये वे खुद में अनुग्रहादि करते हैं, सो यदि ऐसा माना जाय तो क्या बाधा है ।

समाधान—बहुत बड़ी बाधा है, देखो योगिजन पर के सुख दुःख आदि को प्रत्यक्ष जानते हैं, अतः उनको भी वे पराये स्त्री संगमादि से उत्पन्न हुए सुख अनुग्रहादि कारक हो जावेगे, किन्तु ऐसा होता नहीं है ।

प्रभाकर—अपने सुख दुःख जो होते हैं वे ही अपने को अनुग्रह करते हैं अन्य को नहीं ।

जैन—यह प्रस्ताव बेकार है, जब ज्ञान, सुख आदि सभी हम से न्यारे-अत्यंत परोक्ष है-तब यह कैसे व्यवस्थित हो सकता है कि यह अपने ज्ञान तथा सुख दुःखादि हैं और ये ज्ञानादि पराये व्यक्ति के हैं, अत्यंत परोक्ष और भिन्न वस्तुओं में आपापराया भेद होना अशक्य है ।

प्रभाकर ने जो कहा है कि सुख दुःखादिक जो अपने होते हैं वे ही अपने को

सुखादीनामेव तत्कारित्वं नान्येषामित्यपि फल्गुप्रायम्, अत्यन्तभेदेऽर्थान्तरभूतप्रमाणग्राह्यत्वे चात्मीयेतरभेदस्यैवासम्भवात् ।

आत्मीयत्वं हि तेषां तद्गुणत्वात्, तत्कार्यत्वाद्वा स्यात्, तत्र समवायाद्वा, तदाधेयत्वाद्वा, तददृष्टनिष्पाद्यत्वाद्वा । न तावत्तद्गुणत्वात्; तेषामात्मनो व्यतिरेकैकान्ते 'तस्यैव ते गुणा नाकाशादेरन्यात्मनो वा' इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः ।

अनुभव में आया करते हैं इत्यादि, सो इस पर हम जैन का प्रश्न है कि सुखादिक में अपनापना किस कारण से आता है, क्या उसी विवक्षित देवदत्त आदि के वे सुखादिक गुण हैं इसलिये वे उनके कहलाते हैं अथवा उस देवदत्त का कार्य होने से, या उसी देवदत्त में उनका समवाय होने से, अथवा उसी देवदत्त में आधेयरूप से रहने से, अथवा उसी देवदत्त के भाग्य द्वारा निर्मित होने से, यदि पहिली बात स्वीकार की जाय कि उसी देवदत्त के वे सुखादिक गुण हे अतः वे उसके कहलाते हैं सो यह बात ठीक नहीं क्योंकि वे सुखादिक जब उस विवक्षित देवदत्त से सर्वथा भिन्न हैं तो ये सुखादिक इसी देवदत्त के है अन्य के नहीं, अथवा आकाश आदि द्रव्यके नहीं–ऐसा उन्हें व्यवस्थित नही कर सकते और न अन्य व्यक्ति में ही उन्हें व्यवस्थित कर सकते हैं। वे सुखादिक उसी एक निश्चित व्यक्ति का कार्य हैं अतः वे उसीके कहलाते हैं ऐसा दूसरा पक्ष भी बनता नहीं है, क्योंकि ये सुखादिक इसी व्यक्ति के कार्य हैं ऐसा किस हेतु से सिद्ध करोगे, यदि कहा जाय कि वे उसी व्यक्ति के होने पर होते हैं अतः उसीका वे कार्य हैं सो भी बात नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सुखादिक आकाश के भी कार्य कहलावेंगे, कारण कि आकाश की मौजूदगी में ही सुखादिक होते रहते हैं। जैसे कि वे उस विवक्षित देवदत्त आदि के होने पर हुआ करते हैं।

प्रभाकर—आकाश को तो सुखादिक का निमित्त कारण माना है, अतः सुखादिक की उत्पत्ति में भी वह व्यापार करे तो कोई आपत्ति नहीं।

जैन—तो फिर आत्मा को सुखादिक का निमित्तकारण ही माना जाय।

प्रभाकर—समवायी कारण अर्थात् उपादान कारण भी तो कोई चाहिए, क्योंकि विना समवायी कारण के कार्य पैदा नहीं होता है। अतः हम आत्मा को तो सुखादिक का उपादान कारण मानते हैं और आकाश को निमित्त कारण मानते हैं।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, जब सुख दुःखादिक आकाश और आत्मा दोनों से पृथक् हैं तब आत्मा ही उनका उपादान है, आकाश नहीं ऐसा कहना बन नहीं

तत्कार्यत्वाच्चेत्कुतस्तत्कार्यत्वम्? तस्मिन् सति भावात्; आकाशादौ तत्प्रसङ्गः। तस्य निमित्तकारणत्वेन व्यापाराददोषश्चेत्, आत्मनोपि तथा तदस्तु। समवायिकारणमन्तरेण कार्यानुत्पत्तेरात्मनस्तत्कल्प्यते, गगनादेस्तु निमित्तकारणत्वमित्यप्ययुक्तम्; विपर्ययेणापि तत्कल्पनाप्रसङ्गात्। प्रत्यासत्तेरात्मैव समवायिकारणं चेन्न; देशकालप्रत्यासत्तेर्नित्यव्यापित्वेनात्मवदन्यत्रापि समानत्वात्। योग्यतापि कार्ये सामर्थ्यम्, तच्चाकाशादेरप्यस्तीति। अथात्मन्यात्मनस्तज्जननसामर्थ्यं नान्यस्येत्यप्ययुक्तम्; अत्यन्तभेदे तथा तज्जननविरोधात्। तत्सामर्थ्यस्या प्यात्मनोऽत्यन्तभेदे 'तस्यैवेद नान्यस्य'

सकता क्योंकि ऐसा मानने में विपरीत कल्पना भी तो आ सकती है। अर्थात् आकाश सुख आदि का उपादान और आत्मा निमित्त है ऐसा भी मान लिया जा सकता है।

प्रभाकर—प्रत्यासत्ति एक ऐसी है कि जिससे आत्मा ही उनका उपादान होता है अन्य आकाश आदि नहीं।

जैन—ऐसा कहना भी शक्य नहीं, क्योंकि आपके मत में जैसा आत्मा को व्यापक तथा नित्य माना है उसी प्रकार आकाश को भी व्यापक और नित्य माना गया है, अतः हर तरह की देश-काल आदि की प्रत्यासत्ति–निकटता तो उसमें भी रहती ही है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि उनका उपादान आत्मा ही है आकाश आदि नहीं। यदि योग्यता को प्रत्यासत्ति कहते हो और उस योग्यतारूप प्रत्यासत्ति के कारण उपादान आदि का नियम बन जाता है ऐसा कहा जाय तो जचता नहीं, देखो–कार्य की क्षमता होना योग्यता है और ऐसी योग्यता आकाश में भी मौजूद है।

प्रभाकर—अपने में ही अपने सुख दुःख आदि को उत्पन्न करने की सामर्थ्य हुआ करती है, अन्य के सुखादि की नहीं।

जैन—यह कथन अयुक्त है। यदि अपने से अपने सुख दुःख आदि अत्यंत भिन्न हैं तो उसमें ऐसा अपने सुखदुःखादि को उत्पन्न करने का विरोध आता है, तथा अपना या देवदत्त आदि व्यक्ति का सुख आदि को उत्पन्न करने का सामर्थ्य भी सर्वथा भिन्न है, फिर कैसे विभाग हो सकता है कि ये सुखादि इसी देवदत्त के हैं अथवा यह सामर्थ्य इसी व्यक्ति की है। अर्थात् सर्वथा पृथक् वस्तुओं में इस प्रकार विभाग होना अशक्य है। आप लोग समवाय सम्बन्ध से ऐसी व्यवस्था करते हो–किन्तु समवाय का हम आगे खंडन करने वाले हैं। अतः समवाय सबंध के कारण देवदत्त के सुख या सामर्थ्य आदि देवदत्त में ही रहते हैं इत्यादि व्यवस्था होना संभव नहीं है, इस प्रकार

इति किङ्कृतोयं विभागः? समवायादेश्च निषे(त्स्य)मानत्वान्नियामकत्वायोगः। तत्रान्वयमात्रेण सुखादीनामात्मकार्यत्वम्। तदभावेऽभावात्तच्चेन्न; नित्यव्यापित्वाभ्यां तस्याभावासम्भवात्। तत्र समवायादित्यप्यसत्; तस्यात्रैव निराकरिष्यमाणत्वात्, सर्वत्राविशेषाच्च; तेन तेषां तत्रैव समवायासम्भवात्।

अन्वय मात्र से अर्थात् उसके "होने पर होता है", इतने मात्र से सुखादिक अपने ही कार्य हैं ऐसा नियम नहीं होता है।

प्रभाकर—अच्छा तो व्यतिरेक से नियम हो जायगा, इस विवक्षित देवदत्त के अभाव होने पर उसके सुख दुःख आदिका भी अभाव होता है, इस प्रकार का व्यतिरेक करने से उसीका कार्य है ऐसा सिद्ध हो जायगा।

जैन—सो ऐसा भी नहीं बन सकता है। क्योंकि आप देवदत्तादि व्यक्ति की आत्मा को नित्य और व्यापी मानते हैं। अतः आत्मा का सुखादि के साथ व्यतिरेक बनना शक्य नही।

प्रभाकर—देवदत्तादिक के सुखादिक देवदत्त में ही समवाय संबंध से रहते हैं, अतः नियम हो जायगा।

जैन—यह भी असत् कथन है। हम जैन आगे समवाय का निरसन करने वाले ही हैं। समवाय सब जगह समानरूप से जब रहता है तब यह नियम नहीं बन सकता है कि इन सुखादिक का इसी व्यक्ति में समवाय है अन्य व्यक्ति में नहीं, इस प्रकार उसी एक देवदत्तादि का कार्य होने से वे सुखादिक उसी के कहलाते हैं ऐसा दूसरा पक्ष और उसी में वे समवाय संबंध से रहते हैं अतः वे सुखादि देवदत्तादि के कहलाते हैं यह तीसरा पक्ष, दोनों ही खंडित हो जाते हैं।

अब चौथा पक्ष—उसी विवक्षित देवदत्तादि में आधेयरूप से सुखादि रहते हैं, अतः वे उसी के माने जाते हैं—ऐसा कहो तो पहिले यह बताओ कि उसका आधेयपना क्या है-क्या उस विवक्षित व्यक्ति में समवाय होना, या तादात्म्य होना, या उसमें आविर्भूतमात्र होना? यदि उस विवक्षित व्यक्ति में उनका समवाय होना यह तदाधेय है-तो ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि हम समवाय का आगे खंडन करने वाले हैं ऐसा हम उत्तर दे चुके हैं। यदि तादात्म्य को तदाधेयत्व कहो-अर्थात् एक विवक्षित व्यक्ति के सुखादि का उसी में तादात्म्य होने को तदाधेयत्व मानते हो-तब हमारे जैनमत में

तदाधेयत्वाच्चेत्किमिदं तदाधेयत्वं नाम तत्र समवायः, तादात्म्यं वा, तत्रोत्कलितत्वमात्रं वा ? न तावत्समवायः, दत्तोत्तरत्वात् । नापि तादात्म्यम्; मतान्तरानुषङ्गात् । तेषामात्मनोऽत्यन्तभेदे सकलात्मनां गगनादीनां च व्यापित्वे 'तत्रैवोत्कलितत्वम्' इत्यपि श्रद्धामात्रगम्यम् । अथाऽदृष्टान्नियमः 'यदृष्यात्मीयाऽदृष्टनिष्पाद्यं सुखं तदात्मीयमन्यत्तु परकीयम्' इत्यप्यसारम्; अदृष्टस्याप्यात्मीयत्वासिद्धेः । समवायादेस्तन्नियामकत्वेप्युक्तदोषानुषङ्गः । यत्र यददृष्टं सुखं दुःखं चोत्पादयति तत्तस्यत्येपि

आपका (प्रभाकर का) प्रवेश हो जाता है, यदि उसी एक व्यक्ति में उनके आविर्भूत होने को तदाधेयत्व कहते हो तो ऐसा यह तीसरा पक्ष भी बिलकुल ही गलत है, क्योंकि उस विवक्षित देवदत्तादि के सुख दुःख आदि उस देवदत्त से जब अत्यन्त भिन्न हैं तब वे सुखादिक सभी व्यापक आत्माओं में और आकाशादिक में भी प्रकट हो सकते हैं, जैसे–देवदत्त की आत्मा व्यापक है वैसे सभी आत्माएँ, तथा गगन आदि भी व्यापक हैं, अतः अन्य आत्मा आदि में वे प्रकट न होकर उसी देवदत्त में ही प्रकट होते हैं ऐसा कहना तो मात्र श्रद्धागम्य है, तर्क संगत नहीं है ।

प्रभाकर—इस देवदत्त के सुखादिक देवदत्त में ही प्रकट होते हैं ऐसा नियम तो उस देवदत्त के अदृष्ट (भाग्य) के निमित्त से हुआ करता है, क्योंकि जिस आत्मा के अदृष्ट के द्वारा जो सुख उत्पन्न किया गया है वह उसका है और अन्य सुखादिक अन्य व्यक्ति के हैं इस प्रकार मानने से कोई दोष नही आता है ।

जैन—यह समाधान भी असार है, क्योंकि अदृष्ट में भी अभी अपनापन निश्चित नहीं है । अर्थात् यह अदृष्ट इसी व्यक्ति का है ऐसा कोई नियामक हेतु नहीं है कि जिससे अपनापन अदृष्ट में अपनापन सिद्ध होवे ।

समवाय संबंध को लेकर अदृष्ट का निश्चित व्यक्ति में संबंध करना भी शक्य नहीं है, क्योंकि प्रथम तो समवाय ही असिद्ध है, दूसरे सर्वत्र व्यापक आत्मादि में यह नियम समवाय नहीं बना सकता है; कि यह सुख इसी आत्मा का है अन्य का नहीं ।

प्रभाकर—जिस आत्मा में जो अदृष्ट सुख और दुःख को उत्पन्न करता है वह उसी आत्मा का कहलाता है ।

जैन—यह कथन भी मनोरथ-कल्पना मात्र है, इससे तो परस्पराश्रय दोष आता है, देखो–पहले तो यह अदृष्ट इसी देवदत्त का है अन्य का नहीं ऐसा नियम सिद्ध होवे तब उस अदृष्ट के नियम से सुखादिक का उसी देवदत्त में रहने का नियम बने

मनोरथमात्रम्, परस्पराश्रयानुषङ्गात्-अदृष्टनियमे सुखादेर्नियमः, तन्नियमाच्चादृष्टस्येति। 'यस्य श्रद्धयोपगृहीतानि द्रव्यगुणकर्माणि यददृष्टं जनयन्ति तत्तस्य' इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तस्या अप्यात्मनोऽत्यन्तभेदे प्रतिनियमासिद्धेः। 'यस्यादृष्टेनासौ जन्यते सा तस्य' इत्यप्यन्योन्याश्रयादयुक्तम्। 'द्रव्यादौ यस्य दर्शनस्मरणादीनि श्रद्धामाविर्भावयन्ति तस्य सा' इत्यप्युक्तिमात्रम्, दर्शनादीनामपि प्रतिनिय-

---

और उन सुखादिक के नियम से अदृष्ट का उसी देवदत्त में रहने का नियम सिद्ध हो सके, इस प्रकार परस्पर में आश्रित होने से एक में भी नियम की सिद्धि होना शक्य नहीं है।

प्रभाकर—जिस आत्मा के विश्वास से ग्रहण किये गये द्रव्य गुण कर्म जिस अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं वह अदृष्ट उस आत्मा का बन जाता है।

जैन—यह वर्णन भी श्रद्धामात्र है, यह श्रद्धा या विश्वास जो है वह भी तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। फिर किस प्रकार ऐसा नियम बन सकता है। अर्थात् नहीं बन सकता है।

प्रभाकर—जिस आत्मा के अदृष्ट से श्रद्धा पैदा होती है वह उसकी कहलाती है।

जैन—इस प्रकार से मानने में भी अन्योन्याश्रय दोष आवेगा–पहिले श्रद्धा का नियम बने तब अदृष्ट का नियम सिद्ध होवे और उसके सिद्ध होने पर श्रद्धा का नियम बने।

प्रभाकर—द्रव्य आदि में जिस आत्मा के प्रत्यक्ष, स्मरण, आदि ज्ञान श्रद्धा को उत्पन्न करते हैं वह श्रद्धा उसी आत्मा की कहलाती है।

जैन—यह कथन भी उपर्युक्त दोषों से अछूता नहीं है। आपके यहां प्रत्यक्ष आदि प्रमाणज्ञानों का भी नियम नहीं बन सकता है कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण इसी आत्मा का है फिर किस प्रकार श्रद्धा या अदृष्ट का नियम बने।

प्रभाकर—हम तो समवाय से ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का तथा अदृष्टादि का नियम बनाते हैं अर्थात् इस आत्मा में यह अदृष्ट या श्रद्धा अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण हैं क्योंकि इसी में इन सब का समवाय है।

जैन—यह तो विना विचारे ही जबाब देना है, जब हम बार २ इस बात को कह रहे हैं कि समवाय नामका आपका संबंध असिद्ध है तथा आगे जब आपके मत

मासिद्धेः। समवायात्तेषां श्रद्धायाश्च प्रतिनियमः इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तस्य षट्पदार्थपरीक्षायां निराकरिष्यमाणत्वात्।

के षट् पदार्थों की—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इनकी परीक्षा करेंगे तब वहां समवाय का निराकरण करने वाले है, अतः समवाय संबंध से प्रत्यक्ष या श्रद्धा आदि का एक निश्चित व्यक्ति में संबंधित होकर रहना सिद्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ—प्रभाकर ने आत्मा और ज्ञान को अत्यन्त परोक्ष माना है, आत्मा और ज्ञान दोनों ही कभी भी जानने में नहीं आते हैं ऐसा मीमांसक के एक भेदस्वरूप प्रभाकर मत का कहना है। इस मान्यता में अनेक दोष आते हैं। ज्ञान यदि स्वयं को नहीं जानता है तो वह पदार्थों को भी नहीं जान सकता है। जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित हुए विना अन्य वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करता है, ज्ञान को प्रभाकर आत्मा से सर्वथा पृथक् भी मानते हैं। ज्ञान को अप्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिये प्रभाकर सुख दुःख आदि का उदाहरण देते हैं कि जैसे सुखादि परोक्ष रहकर भी प्रतिभासित होते हैं वैसे ही ज्ञान स्वयं परोक्ष रहकर भी पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है सो यह बात सर्वथा गलत है। ज्ञान और सुखादिक ये सभी ही अपने आप प्रत्यक्ष साक्षात् हुआ करते हैं। यदि सुख आदि अप्रत्यक्ष है तो उससे जीव को प्रसन्न होना आदिरूप अनुग्रह बन नही सकता, जैसे कि पराये व्यक्ति के सुख से अन्य जीव में प्रसन्नता नही होती है। प्रभाकर ने इन सुख आदि को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना है, अतः उनका किसी एक ही आत्मा में निश्चित रूप से रहकर अनुभव होना भी बनता नहीं, सुखादिक का एक निश्चित आत्मा में निश्चय कराने के लिये वे लोग अदृष्ट की कल्पना करते है, किन्तु अदृष्ट भी आत्मा से भिन्न है सो वह नियम नही बना सकता है कि यह सुख इसी आत्मा का है। समवाय संबध से सुख आदि का नियम बनावे तो भी ठीक नहीं क्योंकि भिन्न दो वस्तुओं को जोड़ने वाला यह समवाय नामक पदार्थ किसी प्रकार से सिद्ध नही होता है, श्रद्धा-(विश्वास) से अदृष्ट का निश्चय होवे कि यह अदृष्ट इसी आत्मा का है सो भी बात बनती नहीं, क्योंकि श्रद्धा भी आत्मा से पृथक् है। प्रत्यक्ष, स्मरण आदि प्रमाणों को लेकर श्रद्धा आदि का नियम किया जाय कि यह श्रद्धा इसी आत्मा की है सो यह भी गलत है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी आत्मा से भिन्न हे। इस प्रकार सुख दुःख को आत्मा से संबद्ध करने वाला अदृष्ट, उस अदृष्ट को नियमित करने वाली श्रद्धा और उस श्रद्धा को संबंधित करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण ये सब परंपरारूप से

माने गये हेतु असिद्ध ठहरते हैं । अतः आत्मा और ज्ञान को प्रथम ही प्रत्यक्ष होना अर्थात् निजका अनुभव–अपने आपको इनका अनुभव होना मानना चाहिये, यही मार्ग श्रेयस्कर है । इस प्रकार यहां तक श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने प्रभाकर के आत्म अप्रत्यक्षवाद का या आत्मपरोक्षवाद का खंडन किया और आत्मा-स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष से प्रतिभासित होती है ऐसा आत्माप्रत्यक्षत्ववाद सिद्ध किया है ।

*** आत्माप्रत्यक्षत्ववाद का प्रकरण समाप्त ***

आत्माप्रत्यक्षत्ववाद का सारांश

प्रभाकर कर्त्ता (आत्मा) और करण (ज्ञान) इन दोनों को ही अत्यन्त परोक्ष मानते हैं । उनका कहना है कि प्रमिति क्रिया और कर्म ये ही प्रत्यक्ष हैं, और नहीं । इस पर जैनाचार्यों ने उन्हें समझाया है कि–आत्मा यदि सर्वथा अप्रत्यक्ष है तो ज्ञान से होने वाला पदार्थ का प्रतिभास किसे होगा, सुख दुःखादि का अनुभव भी कैसे संभव है क्योंकि ये सुखादि भी ज्ञानविशेषरूप हैं । अन्य किसी प्रत्यक्ष ज्ञान से सुखादि को प्रत्यक्ष होना मान लो तो भिन्न ज्ञान द्वारा जानने से उन सुखादिकों के द्वारा होने वाले अनुग्रह उपघातादिक आत्मा में न हो सकेंगे । क्योंकि जो ज्ञान हमारे से भिन्न है उस ज्ञान से हमको अनुभव हो नहीं सकता । तुम कहो कि पुत्र आदि के सुख का हमें अनुग्रहादिरूप अनुभव होता है जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसे परोक्ष ज्ञान द्वारा सुखादि का अनुभव हो जावेगा सो यह बात ठीक नहीं है, अरे भाई ! जब कोई व्यक्ति उदासीन रहता है तब उसे अपने खुद के शरीर के सुखादि भी अनुग्रहादि नहीं कर पाते हैं तो फिर पुत्रादि के सुखादिक क्या करा सकेंगे । ऐसे तो दूसरे किसी यज्ञदत्तादि से किया गया विषयभोग अन्य किसी देवदत्तादि के सुख को करा देगा ? क्योंकि जैसे वह देवदत्त से भिन्न है और अप्रत्यक्ष है वैसे यज्ञदत्त से भी भिन्न तथा परोक्ष है । इस पर आपने जो यह युक्ति दी है कि जिसके अदृष्ट विशेष जो पुण्यपापादि हैं वे उसी को सुख दुःखादि अनुभव कराते हैं सो बात भी नहीं बनती है, क्योंकि अदृष्ट खुद भी आत्मा से भिन्न है

उसका आत्मा के साथ संबंध कौन जोड़े ? समवाय आपका सिद्ध नहीं होता है। दूसरी बात यह भी है कि जैसे घटादि पदार्थ पहले अज्ञात रहते हैं और पीछे इन्द्रिय से संबंध होने पर ज्ञान के द्वारा अनुभव में आते है वैसे सुख दुःखादि नहीं हैं, वे तो अन्तरङ्ग में तत्काल ही अनुभवरूप होते हैं। इसलिये प्रभाकर का यह अनुमान गलत हो गया कि "आत्मा अप्रत्यक्ष है क्योंकि कर्मरूप से प्रतीत नहीं होता इत्यादि। आत्मा कर्त्तारूप से हर व्यक्ति को प्रत्यक्ष हो रहा है वह परोक्ष नहीं है ऐसा निश्चय हुआ।

*** इस प्रकार आत्माप्रत्यक्षत्ववाद का सारांश समाप्त ***

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका पूर्वपक्ष

नैयायिक ज्ञान को दूसरे ज्ञान के द्वारा जानने योग्य मानते हैं, उनका कहना है कि ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, उसको जानने के लिये अन्य ज्ञान की जरूरत पड़ती है, इसका विवेचन इन्हीं के ग्रन्थ के आधार से यहां पर किया जाता है—

"विवादाध्यासिताः प्रत्ययाः प्रत्ययान्तरैव वेद्याः प्रत्ययत्वाद्, ये ये प्रत्ययास्ते सर्वे प्रत्ययान्तरवेद्याः"।

—विधि वि० न्यायकणि० पृ० २६७

जितने भी विवाद ग्रस्त—विवक्षित ज्ञान हैं वे सब अन्यज्ञान से ही जाने जाते हैं, क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप हैं, यदि ज्ञान अपने को जानने वाला माना जाये तो क्या २ दोष आते हैं सो प्रकट किया जाता है—

"तथा च विज्ञानस्य स्वसंवेदने तदेव तस्य कर्म क्रिया चेति विरुद्ध मापद्येत" यथोक्तम्—

"अंगुल्यग्रे यथात्मानं नात्मना स्प्रष्टुमर्हति ।
स्वांशेन ज्ञानमप्येवं नात्मानं ज्ञातुमर्हति ॥ १ ॥"

यत् प्रत्ययत्वं वस्तुभूतमविरोधेन व्याप्तम् तदविरुद्धविरोधदर्शनात् स्वसंवेदनान्निवर्तमानं प्रत्येयान्तरवेद्यत्वेन व्याप्यते. इति प्रतिबंधसिद्धिः। एवं प्रमेयत्वगुणत्वसत्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्वहेतवः प्रयोक्तव्याः। तथा च न स्वसंवेदनं विज्ञानमिति सिद्धम्।

—विधि वि० न्यायकणि. पृ० २६७

अर्थ—ज्ञान को यदि स्व का जानने वाला मानते हैं तो वही उसका कर्म और वही क्रिया होने का प्रसंग आता है, जो कि विरुद्ध है, जिस प्रकार अंगुली स्वयं का स्पर्श नहीं कर सकती उसी प्रकार ज्ञान अपने आपको जानने के लिये समर्थ नहीं हो सकता, ज्ञान वस्तुस्वरूप तो अवश्य है किन्तु वह स्वसंविदित न होकर पर से वेद्य है। इसी तरह प्रमेयत्व, गुणत्व, सत्त्वादि अन्य से ही जाने जाते हैं—(वेद्य होते हैं) इस प्रकार ज्ञान स्व का वेदन नहीं करता है यह सिद्ध हुआ।

और भी कहा है--

"नासाधना प्रमाणसिद्धिर्नापि प्रत्यक्षादिव्यतिरिक्तप्रमाणाभ्युपगमो...नापि च तयैव व्यक्त्या तस्य ग्रहणमुपेयते येनात्मनि विरोधो भवेत्, अपि तु प्रत्यक्षादिजातीयेन प्रत्यक्षादिजातीयस्य ग्रहणमातिष्ठामहे । न चानवस्थाऽस्ति किञ्चित्प्रमाणं यः (यत्) स्वज्ञानेन अन्यधीहेतुः, यथा धूमादि, किञ्चित् पुनरज्ञातमेव बुद्धिसाधनं यथाचक्षुरादि तत्र पूर्वं स्वज्ञाने चक्षुराद्यपेक्षम् चक्षुरादि तु ज्ञानानपेक्षमेव ज्ञानसाधनमिति क्वानवस्था ? बुभुत्सया च तदापि शक्यज्ञान, सा कदाचिदेव क्वचिदिति नानवस्था ।

—न्याय वा० ता० टी० पृ० ३७०

अर्थ—हम नैयायिक प्रमाण को अहेतुक नही मानते अर्थात् जैसे मीमांसक लोग ज्ञान को किसी के द्वारा भी जानने योग्य नही मानते वैसा हम लोग नहीं मानते, हम तो ज्ञान को अन्य ज्ञान से सिद्ध होना मानते हैं । जैन के समान उसी ज्ञान मे पदार्थ को जानना और उसी ज्ञान से स्व को—अपने आपको जानना ऐसी विपरीत बात हम स्वीकार नही करते, प्रत्यक्षादि ज्ञानों को जानने के लिये तो अन्य सजातीय प्रत्यक्षादि ज्ञान आया करते है, इस प्रकार ज्ञानान्तर ग्राहक ज्ञान को मानने से वहां अनवस्था आने की शंका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि कोई प्रमाण ज्ञान तो ऐसा होता है जो अपना ग्रहण किसी से कराके अन्य को जानने में हेतु या साधक बनता है—जैसे धूम आदि वस्तु प्रथम तो नेत्र से जानी गई और फिर वह ज्ञात हुआ धूम अन्य जो अग्नि है उसे जनाने में साधकतम हुआ । एक प्रमाण ऐसा भी होता है कि जो अज्ञात रहकर ही अन्य के जानने में साधक हुआ करता है, जैसे—चक्षु आदि इन्द्रियां धूम के उदाहरण में तो धूमादि के ग्रहण में चक्षु आदि की अपेक्षा हुई किन्तु चक्षु आदिक तो स्वग्रहण किये विना ही अन्यत्र ज्ञान में हेतु हुआ करते है । अतः अनवस्था का कोई प्रसंग नहीं आता है, जानने की इच्छा भी शक्य में ही हुआ करती है । अर्थात्—सभी ज्ञानों में अपने आपको जानने की इच्छा नहीं होती, क्वचित् ही होती है । कभी २ ही होती है, हमेशा नहीं, "इसलिये ज्ञान का अन्य के द्वारा ग्रहण होना मानें तो अनवस्था आवेगी", ऐसी आशंका करना व्यर्थ है, "तस्माज्ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्"—प्रश० व्यो० पृ० ५२९ ।

अनवस्थाप्रसङ्गस्तु अवश्यवेद्यत्वानभ्युपगमेन निरसनीयः । इसलिये ज्ञान तो अन्य ज्ञान से ही जानने योग्य है, जैसे कि घट आदि पदार्थ अपने आपको ग्रहण नहीं

करते हैं अन्य से ही वे ग्रहण में आते हैं। अनवस्था की बात तो इसलिये खतम हो जाती है हर ज्ञान को अपने आपको अवश्य ही जानना जरूरी हो सो तो बात है नहीं। जहां कहीं शक्य हो और कदाचित् जिज्ञासा हो जाय कि यह अर्थ ग्राहक ज्ञान जानना चाहिये तो कभी उसका ग्रहण हो जाय, वरना तो पदार्थ को जाना और अर्थ-क्रियार्थी पुरुष अर्थक्रिया में प्रवृत्त हुआ, बस। इतना ही होता है, घड़े को देखा फूटा तो नहीं है खरीद लिया, फिर यह कौनसी मिट्टी से बना है इत्यादि बेकार की चिन्ता करने की कौन को फुरसत है। मतलब—प्रत्येक ज्ञान को जानने की न तो इच्छा ही होती है और न जानना ही शक्य है। अतः ज्ञान को अन्य ज्ञान से वेद्य मानने में अनवस्था नहीं आती है इस प्रकार ज्ञान स्वव्यवसायी नही है यही बात सिद्ध होती है, "स्वात्मनि क्रियाविरोधः" अर्थात् अपने आप में क्रिया नहीं होती है, क्योंकि अपने आप में क्रिया होने का विरोध है, अतः ज्ञान अपने आपको ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। ईश्वर हो चाहे सामान्यजन हो सभी का ज्ञान स्वग्राहक न होकर मात्र अन्य को ही जानने वाला हुआ करता है। हां इतनी बात जरूरी है कि हम लोग मीमांसक की तरह ज्ञान को अग्राह्य-किसी ज्ञान के द्वारा भी जानने योग्य नहीं है ऐसा नहीं मानते हैं, किन्तु वह अपने आपको जानने योग्य नही है, अन्य ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है ऐसा मानते है और यही सिद्धान्त सत्य है।

पूर्वपक्ष समाप्त

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादः

*

एतेनैतदपि प्रत्याख्यातम् 'ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्पटादिवत्;' सुखसंवेदनेन हेतोर्व्यभिचारान्महेश्वरज्ञानेन च, तस्य ज्ञानान्तरावेद्यत्वेपि प्रमेयत्वात् । तस्यापि ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वेऽनवस्था-

---

यौग—नैयायिक एवं वैशेषिक "ज्ञान अपने आपको नही जानता, किन्तु दूसरे ज्ञान से ही वह जाना जाता है" ऐसा मानते हैं, इस यौग की मान्यता का खंडन प्रभाकर के आत्मपरोक्षवाद के निरसन से हो जाता है। फिर भी इस पर विचार किया जाता है—"ज्ञान प्रमेय है इसलिये वह दूसरे ज्ञान से जाना जाता है जैसे घट पटादि प्रमेय होने से दूसरे ज्ञान से जाने जाते है"। ऐसा यौग का कहना है किन्तु इस अनुमान में जो प्रमेयत्व हेतु दिया गया है वह सुख संवेदन के साथ और महेश्वर के ज्ञान के साथ व्यभिचरित होता है, क्योंकि इनमें प्रमेयता होते हुए भी अन्यज्ञान द्वारा वेद्यता नहीं है—अर्थात् सुखादिसंवेदन दूसरे ज्ञान से नही जाने जाकर स्वयं ही जाने जाते हैं, यदि इन सुखादिसंवेदनों को भी अन्यज्ञान से ये जाने जाते हैं ऐसा माना जाय तब तो अनवस्था होगी, क्योंकि सुखसवेदन को जानने वाला दूसरा ज्ञान किसी तीसरे ज्ञान के द्वारा जाना जायगा और वह तीसरा ज्ञान भी किसी चतुर्थज्ञान के द्वारा जाना जायेगा, इस तरह कहीं पर भी विश्रान्ति नहीं होगी।

यौग—अनवस्था दोष नहीं आवेगा, देखिये—महेश्वर में नित्य ही दो ज्ञान रहते हैं और वे नित्यस्वभाववाले होते हैं। उन दो ज्ञानों में एक ज्ञान के द्वारा तो महेश्वर सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है और दूसरे ज्ञान के द्वारा उस प्रथम ज्ञान को जानता है, बस—इस प्रकार की मान्यता में अन्य अन्य ज्ञानों की आवश्यकता ही नहीं है, उन दो ज्ञानों से ही कार्य हो जाता है।

तस्यापि ज्ञानान्तरेण प्रत्यक्षत्वात् । ननु नानवस्था नित्यज्ञानद्वयस्येश्वरे सदा सम्भवात्, तत्रैकेनार्थजातस्य द्वितीयेन पुनस्तज्ज्ञानस्य प्रतीतेर्नापरज्ञानकल्पनया किञ्चित्प्रयोजनं तावतैवार्थसिद्धेरित्यप्यसमीचीनम्; समानकालयावद्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्यान्यत्रानुपलब्धेरत्रापि तत्कल्पनाऽसम्भवात् ।

सम्भवे वा तद्द्वितीयज्ञानं प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्षं वा ? अप्रत्यक्षं चेत्; कथं तेनाद्यज्ञानप्रत्यक्षतासम्भवः ? अप्रत्यक्षादप्यतस्तत्सम्भवे प्रथमज्ञानस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽप्यर्थप्रत्यक्षतास्तु । प्रत्यक्षं चेत्; स्वतः,

---

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि इस प्रकार के समान स्वभाववाले सजातीय दो गुण जो कि संपूर्णरूप से अपने द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं एक साथ एक ही वस्तु में उपलब्ध नही हो सकते हैं । इसलिये ईश्वर में ऐसे दो ज्ञान एक साथ होना शक्य नहीं है ।

विशेषार्थ—यौग ने महेश्वर में दो ज्ञानों की कल्पना की है, उन का कहना है कि एक ज्ञान तो अशेष पदार्थों को जानता है और दूसरा ज्ञान उस संपूर्ण वस्तुओं को जानने वाले ज्ञान को जानता है । ऐसी मान्यता में सैद्धान्तिक दोष आता है, कारण कि एक द्रव्य में दो सजातीय गुण एक साथ नहीं रहते हे, "समानकालयावद्द्रव्यभाविसजातीय गुणद्वयस्य अभावात्" ऐसा यहां हेतु दिया है । इस हेतु के तीन विशेषण दिये हैं–(१) समानकाल, (२) यावद्द्रव्यभावि, और (३) सजातीय, इन तीनों विशेषणों में से समानकाल विशेषण यदि नहीं होता तो क्रम से आत्मा में सुख दुःखरूप दो गुण उपलब्ध हुआ ही करते हैं, अतः दो गुण उपलब्ध नहीं होते इतना कहने मात्र से काम नहीं चलता, तथा "यावद्द्रव्यभावि" विशेषण न होवे तो द्रव्यांश में रहनेवाले धर्मों के साथ व्यभिचार होता है, सजातीय विशेषण न होवे तो एक आयु आदि द्रव्य में एक साथ होने वाले रूप, रस आदि के साथ दोष होता है । अतः सजातीय दो गुण एक साथ एक ही द्रव्य में नहीं रहते हैं ऐसा कहा गया है, इसलिये महेश्वर में दो ज्ञान एक साथ होते हैं ऐसा यौग का कहना गलत ठहरता है ।

यदि परवादी यौग के मत को अपेक्षा मान भी लेवें कि महेश्वर में दो ज्ञान हैं तो भी प्रश्न होता है कि ज्ञान को जानने वाला वह दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष है कि अप्रत्यक्ष है ? यदि अप्रत्यक्ष माना जावे तो उस अप्रत्यक्षज्ञान से प्रथमज्ञान का प्रत्यक्ष होना कैसे संभव है, यदि अप्रत्यक्ष ऐसे द्वितीय ज्ञान से पहला ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है तो पहिलाज्ञान भी स्वयं अप्रत्यक्ष रहकर पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लेगा, फिर उसे

ज्ञानान्तराद्वा ? स्वतश्चेदाद्यस्यापि स्वतः प्रत्यक्षत्वमस्तु । ज्ञानान्तराच्चेत्तत्रैवानवस्था । आद्यज्ञानाच्चे-दन्योन्याश्रयः-सिद्धे ह्याद्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे ततो द्वितीयस्य प्रत्यक्षतासिद्धिः, तत्सिद्धौ चाद्यस्येति ।

किञ्च, अनयोर्ज्ञानयोर्महेश्वराद्भेदे कथं तदीयत्वसिद्धिः समवायादेरग्रे दत्तोत्तरत्वात् ? तदाधेयत्वात्तत्त्वेप्युक्तम् । तदाधेयत्वं च तत्र समवेतत्वम्, तच्च केन प्रतीयते ? न तावदीश्वरेण,

---

जानने के लिये द्वितीय ज्ञान की कल्पना करना बेकार है । दूसरा ज्ञान यदि प्रत्यक्ष है तो यह बताओ कि वह स्वतः ही प्रत्यक्ष होता है अथवा अन्यज्ञान से प्रत्यक्ष होता है ? स्वतः प्रत्यक्ष है कहो तो पहला जो पदार्थों का जानने वाला ज्ञान है वह भी स्वतः प्रत्यक्ष हो जावे, क्या बाधा है, और आप यदि उस द्वितीय ज्ञान को भी अन्यज्ञान से प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं तब तो वही अनवस्था खड़ी होगी, इस दोष को टालने के लिये ईश्वर के उस दूसरे ज्ञान का प्रत्यक्ष होना प्रथम ज्ञान से मानते हो अर्थात् प्रथमज्ञान संपूर्ण पदार्थों को साक्षात् जानता है और उस ज्ञान को दूसरा ज्ञान साक्षात् जानता है अर्थात् उसे वह प्रत्यक्ष करता है, पुनश्च उस दूसरे ज्ञानको प्रथमज्ञान प्रत्यक्ष करता है, ऐसा कहेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष पनपेगा, देखिये—प्रथमज्ञान प्रत्यक्ष है यह बात जब सिद्ध होगी तब उससे दूसरे ज्ञान की प्रत्यक्षता सिद्ध होगी, और दूसरे ज्ञान की प्रत्यक्षता सिद्ध होने पर प्रथम ज्ञान में प्रत्यक्षता—सिद्ध होगी, इस प्रकार दोनों ही असिद्ध कहलावेंगे ।

एक बात यह भी है कि वे दोनों ज्ञान महेश्वर से भिन्न हैं ऐसा आप मानते है, अतः ये ज्ञान ईश्वर के ही हैं इस प्रकार का नियम बनना शक्य नहीं है । समवाय सम्बन्ध से महेश्वर में ही ये ज्ञान संबद्ध हैं ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि समवाय का तो अभी आगे खंडन होने वाला है, उस एक ईश्वर में ही उन दोनों ज्ञानों का आधेयपना है ऐसा कहना भी बेकार है, क्योंकि इस तदाधेयत्व के संबंध में अभी प्रभा-कर के आत्मपरोक्षवाद का खंडन करते समय कह आये हैं कि तदाधेयत्व का निश्चय सर्वथा भेदपक्ष में बनता नहीं है, आप यौग भी तदाधेयत्व का अर्थ यही करोगे कि उस महेश्वर में दोनों ज्ञानों का समवेत होना, किन्तु यह समवेतपना किसके द्वारा जाना जाता है ? ईश्वर के द्वारा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर स्वयं को तथा दोनों ज्ञानों को ग्रहण नहीं करता है तो किस प्रकार वह बतावेगा कि यहां मुझ महेश्वर में ये दोनों ज्ञान समवेत हैं इत्यादि ?

तेनात्मनो ज्ञानद्वयस्य चाग्रहणे 'अत्रेदं समवेतम्' इति प्रतीत्ययोगात् । तस्य तत्र समवेतत्वमेव तद्ग्रहणमित्यपि नोत्तरम्; अन्योन्याश्रयात्-सिद्धे हि 'इदमत्र' इति ग्रहणे तत्र समवेतत्वसिद्धिः, तस्याश्च तद्ग्रहणसिद्धिः। यश्चात्मीयज्ञानमात्मन्यपि स्थितं न जानाति सोऽर्थजातं जानातीति कश्चेतनः श्रद्दधीत ? नापि ज्ञानेन 'स्थाणावहं समवेतम्' इति प्रतीयते; तेनाप्याधारस्यात्मनश्चाग्रहणात् । न च तदग्रहणे 'ममेदं रूपमत्र स्थितम्' इति सम्भवः ।

अस्तु वा समवेतत्वप्रतीतिः, तथापि-स्वज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वात्सर्वज्ञत्वविरोधः । तदप्रत्यक्षत्वे चानेनाशेषार्थस्याप्यध्यक्षताविरोधः । कथमन्यथात्मान्तरज्ञानेनाप्यर्थसाक्षात्करणं न स्यात् ? तथा

यौग—उस ज्ञानद्वय का वहां पर समवेत होना ही उसका ग्रहण कहलाता है, अर्थात् ईश्वर में ज्ञानद्वय का रहना ही उसका उसके द्वारा ग्रहण होना है ।

जैन—यह उत्तर भी अयुक्त है, इस उत्तर से तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, वह कैसे सो बताते है—पहिले "यहां पर यह है" ऐसा सिद्ध होने पर उस ज्ञानद्वय का ग्रहण सिद्ध होगा, अर्थात् ईश्वर में ज्ञानद्वय का समवेतत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर "यहां पर यह है" ऐसा ग्रहण होगा ।

आश्चर्य की बात है कि अपने में ही स्थित अपने ज्ञान को जो नहीं जानता है वह संपूर्ण वस्तुओं को जानता है ऐसे कथन में कौन बुद्धिमान् विश्वास करेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा, इस प्रकार ईश्वर के द्वारा ही ईश्वर के ज्ञानद्वय का समवेतपना जाना जाता है, ऐसा कहना सिद्ध नहीं हुआ । अब यदि, उस ईश्वर के दोनों ज्ञानों द्वारा अपना वहां समवेत होना जाना जाता है कि ईश्वर में हम समवेत हैं ऐसा पक्ष यदि स्वीकार करो तो भी गलत है । देखो—वह जो ज्ञानद्वय है वह भी अपने आधारभूत ईश्वर को नहीं जानता है और न स्वयं को ही जानता है तो विना जाने यह मेरा स्वरूप है वह यहां पर स्थित है ऐसा जानना संभव नहीं । अच्छा आपके आग्रह से हम मान भी लेवें कि ईश्वर में ज्ञानद्वय के समवेतत्व का निश्चय होता है तो भी कुछ सार नहीं निकलता, क्योंकि ईश्वर का स्वयं का ज्ञान तो अप्रत्यक्ष है, अतः उस ईश्वर में सर्वज्ञपना मानने में विरोध आयेगा । तथा ईश्वरज्ञान अप्रत्यक्ष है (परोक्ष है) ऐसा मानते हो तो उस अप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार होने में भी विरोध आता है, ऐसी विरोध की बात नहीं होती तो अन्य आत्मा के ज्ञान के द्वारा भी संपूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार होना क्यों नहीं मानते ?

श्वरानीश्वरविभागाभावः–स्वयमप्रत्यक्षेणापीश्वरज्ञानेनाशेषविषयेणाशेषस्य प्राणिनोऽशेषार्थसाक्षात्करणप्रसङ्गात् । ततस्तद्विभागमिच्छता महेश्वरज्ञानं स्वतः प्रत्यक्षमभ्युपगन्तव्यमित्यनेनानेकान्तः सिद्धः ।

अथास्मदादिज्ञानापेक्षया ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं प्रमेयत्वहेतुना साध्यतेऽतो नेश्वरज्ञानेनानेकान्तोऽस्यास्मदादिज्ञानाद्विशिष्टत्वात्, न खलु विशिष्टे दृष्टं धर्ममविशिष्टेपि योजयन् प्रेक्षावत्तां लभते निखिलार्थवेदित्वस्याप्यखिलज्ञानानां तद्वत्प्रसङ्गात् । इत्यप्यसमीचीनम्; स्वभावावलम्बनात् ।

भावार्थ—ज्ञानको स्वसंवेद्य नहीं माननेसे दो दोष आते हैं एक तो ईश्वर के सर्वज्ञपनेका अभाव होता है और दूसरा दोष यह होता है कि जब तक ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नही होता तब तक उस ज्ञानके द्वारा जाने गये पदार्थ भी प्रत्यक्ष नही हो सकते हैं । तथा ज्ञान जब स्वय को नहीं जानते हुए भी अन्य पदार्थ को जान सकता है तो देवदत्त के ज्ञानसे जिनदत्त को पदार्थ साक्षात्कार हो सकता है ? क्योंकि स्वयं को प्रत्यक्ष होने की जरूरत नहीं है ।

जब अन्य व्यक्ति के ज्ञान द्वारा अन्य किसी को पदार्थका साक्षात्कार होना स्वीकार करते है तब ईश्वर और अनीश्वर का विभाग नहीं रह सकता, क्योंकि स्वयं को अप्रत्यक्ष ऐसे अशेषार्थ ग्राहक ईश्वर के ज्ञान के द्वारा सभी प्राणी संपूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार कर लेगे ?

इसलिये यदि आप ईश्वर और अन्य जीवों में भेद मानना स्वीकार करते हो तो महेश्वर का ज्ञान स्वतः ही प्रत्यक्ष है ऐसा मानना जरूरी है, इस प्रकार महेश्वर का ज्ञान स्वय वेद्य है ऐसा सिद्ध हुआ वह अन्यज्ञान से जाना जाता है ऐसा सिद्ध नहीं हुआ, इसलिये ही आपका वह प्रमेयत्व हेतु इस ईश्वर ज्ञान से व्यभिचरित हुआ–(अनैकान्तिक दोष युक्त हुआ । ज्ञान प्रमेय होने से दूसरे ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है ऐसा कहना गलत हुआ ।)

यौग—हम जैसे सामान्य व्यक्ति के ज्ञान की अपेक्षा लेकर ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य माना है, उसी को प्रमेयत्व हेतु से हमने ज्ञानान्तरवेद्य सिद्ध किया है, न कि महेश्वर के ज्ञान को अतः प्रमेयत्व हेतु ईश्वर ज्ञान के साथ अनैकान्तिक नहीं होता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान तो हमारे ज्ञान से विशिष्ट स्वभाववाला है । जो विशिष्ट में पाये जाने वाले धर्म को–(स्वभाव को) अविशिष्ट में लगा देता है अर्थात् ईश्वर के

स्वपरप्रकाशात्मकत्वं हि ज्ञानसामान्यस्वभावो न पुर्नाविशिष्टविज्ञानस्यैव धर्मः। तत्र तस्योपलम्भमात्रा त्तद्धर्मत्वे भानौ स्वपरप्रकाशात्मकत्वोपलम्भात् प्रदीपे तत्प्रतिषेधप्रसङ्गः। तत्स्वभावत्वे तद्वत्तेषां निखिलार्थवेदित्वानुषङ्गश्चेत्; तर्हि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशात्मकत्वे भानुवन्निखिलार्थोद्योतकत्वानुषङ्गः किन्न स्यात् ? योग्यतावशात्तदात्मकत्वाविशेषेपि प्रदीपादेर्नियतार्थोद्योतकत्व ज्ञानेपि समानम्। ततो

ज्ञान स्वभाव को हमारे जैसे सामान्य मनुष्य के ज्ञान में जोड़ता है वह व्यक्ति बुद्धिमान नहीं कहलाता है, यदि ईश्वर के ज्ञान का स्वभाव हमारे ज्ञान के साथ लागू करते हो तो ईश्वर का ज्ञान जिसप्रकार संपूर्ण पदार्थों का जाननेवाला है वैसा ही हमारा ज्ञान भी संपूर्ण पदार्थों को जानने वाला हो जावेगा।

जैन—यह कथन भी असार है, हम तो यहां स्वभाव का अवलंबन लेकर कह रहे है, क्योंकि स्वभाव तो सभी ज्ञानों का स्वपर प्रकाशक है, किसी खास विशेष ज्ञान का नही यदि कहा जाय कि महेश्वर ज्ञान में स्व पर प्रकाशक स्वभाव की उपलब्धि होती है, अतः सिर्फ उसी में वह स्वभाव माना जाय तो सूर्य में स्व पर प्रकाशकपना उपलब्ध है, अतः मात्र उसी में वह है प्रदीप में नहीं है ऐसा भी मानना पड़ेगा किन्तु ऐसा तो है नहीं।

यौग—यदि ईश्वर के ज्ञान के स्वभाव को हम जैसे सामान्य व्यक्ति के ज्ञान में लगाते हो तो ईश्वर के ज्ञानका स्वभाव तो संपूर्ण वस्तुओं को जानने का है, वह भी हमारे ज्ञान में जोड़ना पड़ेगा।

जैन—तो फिर सूर्य में स्वपर प्रकाशकता और संपूर्ण पदार्थो को प्रकाशित करना ये दोनों धर्म हैं अतः दीपक में भी दोनों धर्म मानना चाहिये, फिर क्यों दीपक में सिर्फ स्वपरप्रकाशकपना मानते हो, यदि कहा जाय कि योग्यता के वश से दीपक में एक स्वपरप्रकाशकपना ही है, संपूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने की उसमें योग्यता नहीं है, इसीलिये वह नियत पदार्थों को प्रकाशित करता है ? सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि फिर ज्ञान में भी यही न्याय रह आवे ? अर्थात् महेश्वर के ज्ञान में तो संपूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करना और स्वयं को प्रकाशित करना ऐसे दोनों ही धर्म-(स्वभाव)-पाये जाते हैं और हम जैसे व्यक्ति के ज्ञान में स्वयं के साथ कुछ ही पदार्थों को जानने की योग्यता है, सबको जानने की योग्यता नहीं है, इस तरह दीपक और सूर्य के समान हम जैसे अल्पज्ञानी और ईश्वर जैसे पूर्णज्ञानी में अन्तर मानना

ज्ञानं स्वपरप्रकाशात्मकं ज्ञानत्वान्महेश्वरज्ञानवत्, अव्यवधानेनार्थप्रकाशकत्वाद्वा, अर्थग्रहणात्मकत्वाद्वा तद्वदेव, यत्पुनः स्वपरप्रकाशात्मकं न भवति न तद् ज्ञानम् अव्यवधानेनार्थप्रकाशकम् अर्थग्रहणात्मक वा, यथा चक्षुरादि।

आश्रयासिद्धश्च 'प्रमेयत्वात्' इत्ययं हेतुः, धर्मिणो ज्ञानस्यासिद्धेः। तत्सिद्धिः खलु प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रमाणान्तरस्यात्रानधिकारात्? तत्र न तावत्प्रत्यक्षतः; तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वा-

---

आवश्यक है, अब इसी को अनुमान से सिद्ध करते हैं–ज्ञान स्व और पर को जानता है (साध्य), क्योंकि उसमें ज्ञानपना है, (हेतु)। जैसे महेश्वर का ज्ञान स्वपर का जानने वाला है, (दृष्टान्त)। अथवा–विना व्यवधान के वह पदार्थों को प्रकाशित करता है, अथवा पदार्थों को ग्रहण करने का–(जानने का)–उसका स्वभाव है, इसलिये ज्ञान स्वपरप्रकाशक स्वभाववाला है ऐसा सिद्ध होता है।

भावार्थ—"ज्ञानत्वात्, अव्यवधानेन अर्थप्रकाशकत्वात्, अर्थग्रहणात्मकत्वात्" इन तीन हेतुओं के द्वारा ज्ञान में स्वपरप्रकाशकता सिद्ध हो जाती है, तीनों ही हेतुवाले अनुमानों में उदाहरण वही महेश्वर का है, ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, क्योंकि वह ज्ञान है, अव्यवधानरूप से पदार्थ का प्रकाशक होता है, तथा पदार्थ को ग्रहण करनेरूप स्वभाववाला है जैसा कि महेश्वर का ज्ञान, इस प्रकार हेतु का अपने साध्य के साथ अन्वय दिखाकर अब व्यतिरेक बताया जाता है–जो स्वपरप्रकाशक नहीं होता वह ज्ञान भी नहीं होता, तथा वह विना व्यवधान के पदार्थ को जानता नही है, और न उसमें अर्थ ग्रहण का स्वभाव ही होता है, जैसे कि चक्षु आदि इन्द्रियां, वे ज्ञानरूप नही हैं। इसीलिये व्यवधान के सद्भाव में पदार्थ को जानती नही हैं, एव अर्थग्रहण स्वभाववाली भी नही हैं। अतः वे स्वपर को जानती नही है। इस प्रकार यहां तक योग के प्रमेयत्व हेतु में अनैकान्तिक दोष बतलाते हुए साथ ही ज्ञान मे स्वपरप्रकाशपना सिद्ध किया, अब उसी प्रमेयत्व हेतु में असिद्धपना भी है ऐसा बताते हैं–प्रमेयत्व हेतु आश्रया सिद्ध भी है क्योंकि धर्मी स्वरूप जो ज्ञान है, उसकी अभी तक सिद्धि नहीं हुई है, मतलब–अनुमान में जो पक्ष होता है वह प्रसिद्ध होता है, असिद्ध नहीं, अतः यहां पर ज्ञान स्वरूप पक्ष असिद्ध होने से प्रमेयत्व हेतु आश्रयासिद्ध कहलाया। यदि उस ज्ञान की सिद्धि करना चाहें तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से हो सकती है और प्रमाणों का तो यहां अधिकार ही नहीं है। अब यदि प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञान को सिद्ध करें तो बनता नहीं, क्योंकि आप इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष प्रमाण से उत्पन्न

भ्युपगमात्, तज्ज्ञानेन चक्षुरादीन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात् । अन्यदिन्द्रिय तेन चास्य सन्निकर्षो वाच्यः । मनोन्तःकरणम्, तेन चास्य संयुक्तसमवायः सम्बन्धः, तत्प्रभवं चाध्यक्षं धर्मिस्वरूपग्राहकम्–मनो हि संयुक्तमात्मना तत्रैव समवायस्तज्ज्ञानस्येति; तदयुक्तम्; मनसोऽसिद्धेः । अथ 'घटादिज्ञानज्ञानम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात् चक्षुरादिप्रभवरूपादिज्ञानवत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धिरित्यभिधीयते, तदप्यभिधानमात्रम्; हेतोरप्रसिद्धविशेषणत्वात् । न हि घटादिज्ञानज्ञानस्याध्यक्षत्वं

हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। अतः उस सन्निकर्ष प्रमाण से ज्ञान की सिद्धि होना असंभव है, क्योंकि ज्ञान का चक्षु आदि इन्द्रियो से सन्निकर्ष होना शक्य नहीं है। चक्षु आदि को छोड़कर और कोई इन्द्रिय ऐसी कौनसी है कि जिससे इस ज्ञान का सन्निकर्ष हो सके।

यौग—मन नाम की एक अन्त.करणस्वरूप इन्द्रिय है, उसका ज्ञान के साथ सयुक्त समवायरूप संबध होता है और उस संबंधरूप सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ जो प्रत्यक्ष प्रमाण है उसके द्वारा इस धर्मिस्वरूप ज्ञान का ग्रहण होता है, देखिये–मन आत्मा से संयुक्त है, अतः मन का आत्मा में संयुक्त समवाय है और उसी आत्मा में ज्ञान समवाय संबंध से रहता है, इस तरह उस मन से संयुक्त हुए आत्मा में सयुक्त समवायरूप सन्निकर्ष से ज्ञान का ग्रहण होता है।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि आपके मत में माने हुए मन की अभी असिद्धि है, अतः उस असिद्धमन से ज्ञान की सिद्धि होना संभव नहीं है।

यौग—हम अनुमान से मन की सिद्धि करके बताते हैं–घट आदि को जानने वाले ज्ञान का जो ज्ञान है वह मन स्वरूप इन्द्रिय और घट ज्ञानस्वरूप पदार्थ के सन्निकर्ष से पैदा हुआ है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष होकर ज्ञानरूप है, जैसा कि चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि पदार्थ के सन्निकर्ष से जन्य रूपादि का ज्ञान होता है। इस अनुमान से मन की सिद्धि हो जाती है।

जैन—यह भी कहनामात्र है, क्योंकि आपने जो हेतु का विशेषण "प्रत्यक्षत्वे सति" ऐसा दिया है वह असिद्ध है, सिद्ध नही है, इसी बात को बताया जाता है–घट आदि को जाननेवाले ज्ञान को ग्रहण करनेवाले ज्ञान में अभी तक प्रत्यक्षपना सिद्ध नही हुआ है, अतः उससे मन की सिद्धि होना मानते हो तो इतरेतराश्रय दोष आता है, वह

सिद्धम्, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–मनःसिद्धौ हि तस्याध्यक्षत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सविशेषणहेतुसिद्धेर्मनःसिद्धिरिति । विशेष्यासिद्धत्वं च; न खलु घटज्ञानाद्भिन्नमन्यज्ज्ञानं तद्ग्राहकमनुभूयते । सुखादिसंवेदनेन व्यभिचारश्च; तद्धि प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानं न तज्जन्यमिति । अस्यापि पक्षीकरणान्न दोष इत्ययुक्तम्; व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् । 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्' इत्यादेरप्यात्मादिना न व्यभिचारस्तस्य पक्षीकृतत्वात् । प्रत्यक्षादिबाधोभयत्र समाना । न हि

इस प्रकार से कि मन के सिद्ध होने पर ज्ञान की प्रत्यक्षता सिद्ध होगी और ज्ञानकी प्रत्यक्षता सिद्ध होने पर विशेषण सहित हेतु की सिद्धि होने से मन की सिद्धि होगी ।

हेतु का विशेष्य अंश भी असिद्ध है, देखिये—घट आदि के ज्ञान को ग्रहण करने वाला उससे भिन्न कोई अन्य ही ज्ञान है ऐसा अनुभव में नहीं आता है, आपके इस "प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात्" हेतु का सुख दुःख आदि के संवेदन से व्यभिचार आता है, देखिये—सुख दुःख आदि का संवेदन प्रत्यक्ष होकर ज्ञान भी है किन्तु यह ज्ञान किसी सन्निकर्ष से पैदा नहीं हुआ है, अतः ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाता है; तथा वस्तुओं के ज्ञान को जानने वाला ज्ञान भी सन्निकर्ष से पैदा होता है इत्यादि हेतु अनैकान्तिक सिद्ध होते हैं ।

यौग— हम तो सुखादि संवेदन को भी पक्ष की कोटि मे रखते हैं अतः दोष नहीं आयेगा ।

जैन— यह कथन अयुक्त है, इस तरह जिस जिससे भी हेतु व्यभिचरित हो उस उसको यदि पक्ष में लिया जायगा तो विश्व में कोई भी हेतु अनैकान्तिक नही रहेगा, कैसे सो बताते है–किसी ने अनुमान बनाया "अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्" शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे कि घट प्रमेय होकर अनित्य है, यह प्रमेयत्व हेतु आत्मादि नित्य पदार्थों के साथ व्यभिचरित होता है । ऐसा सभी वादी प्रतिवादी मानते हैं । किन्तु इस हेतु को अब व्यभिचरित नही कर सकेंगे, क्योंकि आत्मादिक को भी पक्ष में ले लिया है ऐसा कह सकते है । तुम कहो कि आत्मादिक को पक्ष में लेते हैं–अर्थात् उसको अनित्य साध्य के साथ घसीट लेते हैं तो प्रत्यक्ष बाधा आती है अर्थात् आत्मा तो साक्षात् ही अमर अजर दिखायी देता है । सो यही बात सुख संवेदन को पक्ष की कोटि में लेने की है अर्थात् सभी ज्ञान सन्निकर्ष से ही पैदा होते हैं–तो सुख संवेदन भी सन्निकर्ष से पैदा होता है ऐसा कहने में भी प्रत्यक्ष बाधा आती है, क्योंकि सुखादि का अनुभव किसी भी इन्द्रिय और पदार्थ के

'घटादिवत्सुखाद्यविदितस्वरूपं पूर्वमुत्पन्नं पुनरिन्द्रियेण सम्बध्यते ततो ज्ञान ग्रहणं च' इति लोके प्रतीतिः, प्रथममेवेष्टानिष्टविषयानुभवानन्तरं स्वप्रकाशात्मनोऽस्योदयप्रतीतिः ।

स्वात्मनि क्रियाविरोधान्मिथ्येयं प्रतीतिः, न हि सुतीक्ष्णोपि खङ्ग आत्मानं छिनत्ति, सुशिक्षितोपि वा नटबटुः स्वं स्कन्धमारोहतीत्यप्यसमीचीनम्; स्वात्मन्येव क्रियायाः प्रतीतेः। स्वात्मा हि क्रियायाः स्वरूपम्, क्रियावदात्मा वा ? यदि स्वरूपम्, कथं तस्यास्तत्र विरोधः स्वरूपस्याविरोधकत्वात् ? अन्यथा सर्वभावानां स्वरूपे विरोधान्निस्स्वरूपत्वानुषङ्गः । विरोधस्य द्विष्ठत्वाच्च न क्रियाया

सन्निकर्ष हुए विना ही प्रत्यक्ष गोचर होता रहता है । एक विषय यहां सोचने का है कि जिस प्रकार घट पट वस्तु का स्वरूप पहिले अज्ञात रहता है और पीछे इन्द्रिय से संबद्ध होकर उसका ज्ञान पैदा होता है और वह ज्ञान उस घट पट आदि को ग्रहण करता है वैसे सुख आदिक पहिले अज्ञात रहते हों पीछे इन्द्रिय से संबद्ध होकर उनका ज्ञान पैदा होता हो और वह ज्ञान उन सुखादिकों को ग्रहण करता हो ऐसा प्रतीत नही होता है, किन्तु पहिले ही इष्ट अनिष्ट विषयरूप अनुभव के अनन्तर मात्र जिसमें स्व का ही प्रकाशन हो रहा है ऐसा सुखादि संवेदन प्रकट होता है इसीसे स्पष्ट बात है कि सुख आदि के अनुभव होने में कोई सन्निकर्ष की प्रक्रिया नहीं हुई है ।

यौग—अपने आप में क्रिया का विरोध होने से उपर्युक्त कही हुई प्रतीति मिथ्या है क्या तीक्ष्ण तलवार भी अपने आपको काटने की क्रिया कर सकती है ? अथवा–खूब अभ्यस्त चतुर नट अपने ही कंधे पर चढ़ने की क्रिया कर सकता है ? यदि नहीं, तो इसी प्रकार जानने रूप क्रिया अपने आप में नही होती अर्थात् ज्ञान अपने आपको नही जानता है ।

जैन—यह कथन गलत है, क्योंकि अपने आपमें क्रिया होती हुई प्रतीति में आती है। हम जैन आपसे यह पूछते हैं कि "स्वात्मनि क्रिया"–"अपने मे क्रिया" इस पद का क्या अर्थ है ? अपना आत्मा ही क्रिया का स्वरूप है, अथवा क्रियावान् आत्मा क्रिया का स्वरूप है ? मतलब–स्व शब्द का अर्थ आत्मा है कि आत्मीयार्थ है ? यदि क्रिया के अपने स्वरूप को स्वात्मा कहते हो तो ऐसे क्रिया के स्वरूप का अपने मे क्यों विरोध होगा । अपना स्वरूप अपने से विरोधी नहीं रहता है, यदि अपने स्वरूप से ही अपना विरोध होने लगे तो सभी विश्व के पदार्थ निःस्वरूप–स्वरूप रहित हो जावेंगे । तथा एक विशेष यह भी है कि विरोध तो दो वस्तुओं में होता है, यहां पर क्रिया और

स्वात्मनि विरोधः। क्रियावदात्मा तस्याः स्वात्मा इत्यप्यसङ्गतम्, क्रियावत्येव तस्याः प्रतीतेस्तत्र तद्विरोधासिद्धेः। अन्यथा सर्वक्रियाणां निराश्रयत्वं सकलद्रव्याणां चाऽक्रियत्वं स्यात्। न चैवम्; कर्मस्थायास्तस्याः कर्मणि कर्तृस्थायाश्च कर्तरि प्रतीयमानत्वात्। किञ्च, तत्रोत्पत्तिलक्षणा क्रिया विरुध्यते, परिस्पन्दात्मिका, धात्वर्थरूपा, ज्ञप्तिरूपा वा ? यद्युत्पत्तिलक्षणा, सा विरुध्यताम्। न खलु 'ज्ञानमात्मानमुत्पादयति' इत्यभ्यनुजानीमः स्वसामग्रीविशेषवशात्तदुत्पत्त्यभ्युपगमात्। नापि परिस्पन्दात्मिकाऽसौ तत्र विरुध्यते, तस्याः द्रव्यवृत्तित्वेन ज्ञाने सत्त्वस्यैवासम्भवात्। अथ धात्वर्थरूपा; सा न

उसका स्वरूप ये कोई दो पदार्थ नहीं हैं, क्रियावान् आत्मा ही क्रिया का स्वात्मा कहलाता है—ऐसा द्वितीय पक्ष लिया जाय तो भी बनता नहीं, क्योंकि क्रियावान् में ही क्रिया की प्रतीति आती है, उसमें विरोध हो नहीं सकता, यदि क्रियावान् में ही क्रिया का विरोध माना जाये तो क्रियाओं में निराधारत्व होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, और संपूर्ण द्रव्यो में निःक्रियत्व—क्रिया रहितत्व होने का दोष उपस्थित होगा, लेकिन सभी द्रव्य क्रिया रहित हों ऐसी प्रतीति नहीं आती है। आपको हम बताते हैं—जो क्रिया कर्म में होती है वह कर्म मे प्रतीत होती है, जैसे—"देवदत्तः ओदन पचति" देवदत्त चांवल को पकाता है, यहां पर पकने रूप क्रिया चांवल में हो रही है, अतः "ओदनं" ऐसे कर्म मे द्वितीया विभक्ति जिसके लिये प्रयुक्त होती है उस वस्तु मे होने वाली क्रिया को कर्मस्था क्रिया कहते हैं, कर्त्ता मे होने वाली क्रिया कर्त्ता मे प्रतीत होती है, जैसे—"देवदत्तो ग्रामं गच्छति" देवदत्त गांव को जाता है, इस वाक्य में गमनरूप क्रिया देवदत्त में हो रही है। अतः "देवदत्तः" ऐसी कर्तृ विभक्ति से कहे जाने वाली वस्तु मे जो क्रिया दिखाई देती है उसे कर्तृस्थ क्रिया कहते हैं। हम जैन आपसे पूछते हैं कि—अपने मे क्रिया का विरोध है ऐसा आप ज्ञान के विषय में कह रहे हैं सो कौनसी क्रिया का ज्ञान में विरोध होता है ? सो कहिये, उत्पत्तिरूप क्रिया का विरोध है कि परिस्पदरूप—हलन चलनरूप क्रिया का ज्ञान मे विरोध है ? या धातु के अर्थरूप क्रिया का अथवा जानने रूप क्रिया का विरोध है ? प्रथम पक्ष—उत्पत्तिरूप क्रिया का विरोध है ऐसा कहो तो विरोध होने दो हमें क्या आपत्ति है। क्योंकि हम जैन ऐसा नहीं मानते हैं कि ज्ञान अपने को उत्पन्न करता है, ज्ञान तो अपनी सामग्री विशेष से अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होता है ऐसा मानते हैं। परिस्पंदरूप क्रिया का ज्ञान में विरोध है ऐसा कहो तो कोई विपरीत बात नहीं, क्योंकि परिस्पंदरूप क्रिया तो द्रव्य में हुआ करती है, ऐसी क्रिया का तो ज्ञान में सत्त्व ही नहीं

विरुद्धा 'भवति तिष्ठति' इत्यादिक्रियाणां क्रियावत्येव सर्वदोपलब्धेः। ज्ञप्तिरूपक्रियायास्तु विरोधो दूरोत्सारित एव; स्वरूपेण कस्यचिद्विरोधासिद्धेः, अन्यथा प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशनविरोधस्तद्धि स्वकारणकलापात्स्वपरप्रकाशात्मकमेवोपजायते प्रदीपवत्।

ज्ञानक्रियायाः कर्मतया स्वात्मनि विरोधस्ततोऽन्यत्रैव कर्मत्वदर्शनादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशनविरोधानुषङ्गात्। यदि चैकत्र दृष्टो धर्मः सर्वत्राभ्युपगम्यते, तर्हि घटे प्रभास्वरौष्ण्यादिधर्मानुपलब्धेः प्रदीपेप्यस्याभावप्रसङ्गः, रथ्यापुरुषे वाऽसर्वज्ञत्वदर्शनान्महेश्वरेप्यसर्वज्ञत्वानुषङ्गः। अत्र वस्तुवैचित्र्यसम्भवे ज्ञानेन किमपराद्धं येनात्रासौ नेष्यते?

पाया जाता है, तीसरापक्ष–धातु के अर्थरूप क्रिया का विरोध कहो तो ठीक नहीं देखो-भवति, गच्छति, तिष्ठति आदि धातुरूप क्रिया तो क्रियावान् में हमेशा ही उपलब्ध होती है। चौथा विकल्प–ज्ञान में ज्ञप्ति जानने रूप क्रिया का विरोध है ऐसा कहना तो दूर से ही हटा दिया समझना चाहिये। क्या कोई अपने स्वरूप से ही विरोध होता है। अर्थात् नहीं होता, यदि आप ज्ञान में अपने को जाननेरूप क्रिया का विरोध मानते हैं तो दीपक में भी अपने को प्रकाशित करने का विरोध आने लगेगा, अतः निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञान अपनी कारण सामग्री से–ज्ञानावरण के क्षयोपशमादि से जब उत्पन्न होता है तब वह अपने और पर को जाननेरूप क्रिया या शक्तिरूप ही उत्पन्न होता है। जैसे दीपक अपनी कारण सामग्री–तेल बत्ती आदि से उत्पन्न होता हुआ स्व पर को प्रकाशित करने स्वरूप ही उत्पन्न होता है।

यौग—ज्ञान क्रिया का कर्मरूप से अपने में प्रतीत होने में विरोध माना है, क्योंकि अपने से पृथक् ऐसे घट आदि में ही कर्मरूप प्रतीति होती है।

जैन—यह कथन विना सोचे किया है, यदि इस तरह कर्मरूप से प्रतीत नहीं होने से ज्ञान में अपने को जाननेरूप क्रिया का विरोध करोगे तो दीपक में भी स्व को प्रकाशित करने रूप क्रिया का विरोध आवेगा।

आप यदि एक जगह पाये हुए स्वभाव को या धर्म को सब जगह लगाते हैं अर्थात् छेदन आदि क्रिया का अपने आप में होने का विरोध देखकर जानना आदि क्रिया का भी अपने आप में होने का विरोध करते हो तब तो बड़ी आपत्ति आवेगी। देखो–घट में कान्ति उष्णता आदि धर्म नहीं है, अतः दीपक में भी उसका अभाव मानना पड़ेगा, अथवा रथ्यापुरुष में असर्वज्ञपना देखकर महेश्वर को भी असर्वज्ञ मानना

किञ्च ज्ञानान्तरापेक्षया तत्र कर्मत्वविरोधः, स्वरूपापेक्षया वा ? प्रथमपक्षे-महेश्वरस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गस्तज्ज्ञानेन तस्याऽवेद्यत्वात् । आत्मसमवेतानन्तरज्ञानवेद्यत्वाभावे च

"स्वसमवेतानन्तरज्ञानवेद्यमर्थज्ञानम्" [ ] इति ग्रन्थविरोधो मीमांसकमतप्रवेशश्च स्यात् । ज्ञानान्तरापेक्षया तस्य कर्मत्वाविरोधे च-स्वरूपापेक्षयाप्यविरोधोऽस्तु सहस्रकिरणवत्स्वपरोद्योतनस्वभावत्वात्तस्य । कर्मत्ववच्च ज्ञानक्रियातोऽर्थान्तरस्यैव करणत्वदर्शनात्तस्यापि तत्र विरोधोऽस्तु विशेषाभावात् । तथा च 'ज्ञानेनाहमर्थं जानामि' इत्यत्र ज्ञानस्य करणतया प्रतीतिर्न स्यात् ।

पड़ेगा । तुम कहो कि घट में भासुरपना आदि नहीं हो तो न होवे, किन्तु दीपक में तो भासुरपना आदि स्वभाव पाये ही जाते हैं, क्योंकि वस्तुओं में भिन्न २ विचित्रता पायी जाती है, सो हम जैन भी यही बात कहते हैं, अर्थात् छेदन आदि क्रिया अपने आप में नहीं होती तो मत होने दो, ज्ञान में तो जानने रूप क्रिया अपने आप में होती है, ऐसा आपको मानना चाहिये, भला ज्ञान ने ऐसा क्या अपराध किया है जो उसमें स्वभाववैचित्र्य नही माना जावे ?

हम आपसे पूछते है कि ज्ञान में जो कर्मत्वका विरोध है वह दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाने की अपेक्षा से है, अथवा स्वरूप की अपेक्षा से है ? प्रथम पक्ष लेते है तो महेश्वर असर्वज्ञ हो जायगा, क्योंकि महेश्वर के ज्ञान के द्वारा वह ज्ञान जाना नही जायगा ।

भावार्थ—यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान के लिये भी कर्मत्वरूप नहीं होता है अर्थात् ज्ञान ज्ञान को जानता है इस प्रकार की द्वितीयाविभक्तिवाला (ज्ञानं) ज्ञान दूसरे ज्ञान के लिये भी कर्मत्वरूप नही बनता है तब तो महेश्वर किसी भी हालत में सर्वज्ञ नही बन पायेगा । क्योकि उसने हमारे ज्ञानों को जाना नही तब "सर्वं जानातीति सर्वज्ञः" इस प्रकार की निरुक्ति अर्थ वहां भी सिद्ध नहीं होता है । तथा ईश्वर के स्वयं के जो दो ज्ञान हैं उनमें से वह प्रथम ज्ञान से विश्व के पदार्थों को जानता है और द्वितीय ज्ञान से प्रथम ज्ञान को जानता है इस प्रकार जो माना गया है वह भी गलत ठहरता है । तथा जब महेश्वर का ज्ञान अपने में समवेत हुए ज्ञान को नहीं जानता है ऐसा माना जायगा तब "स्वसमवेतानंतर ज्ञान वेद्य मर्थ ज्ञानं" पदार्थों को जाननेवाले ज्ञानको स्वयं में समवेत हुआ ज्ञान जानता है-स्वसमवेत ज्ञानद्वारा अर्थ ज्ञान वेद्य [जाननेयोग्य] होता है ऐसा यौग के ग्रन्थ मे लिखा है उसमें विरोध आवेगा । इसी प्रकार यौग यदि ज्ञान में सर्वथा कर्मत्व का विरोध करते हैं तो उनका मीमांसक

विशेषणज्ञानस्य करणत्वाद्विशेष्यज्ञानस्य तत्फलत्वेन क्रियात्वात्तयोर्भेद एवेत्यपि श्रद्धामात्रम्; 'विशेषणज्ञानेन विशेष्यमहं जानामि' इति प्रतीत्यभावात्। 'विशेषणज्ञानेन हि विशेषणं विशेष्यज्ञानेन च विशेष्यं जानामि' इत्यखिलजनोऽनुमन्यते।

किञ्च, अनयोर्विषयो भिन्नः, अभिन्नो वा। प्रथमपक्षे-विशेषणविशेष्यज्ञानद्वयपरिकल्पना व्यर्थाऽर्थभेदाभावाद्धारावाहिविज्ञानवत्। द्वितीयपक्षे चानयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविरोधोऽर्थान्तरविषय-

---

मत में प्रवेश हो जाने का प्रसङ्ग भी आता है। क्योंकि वे ही सर्वथा ज्ञान में कर्मत्व का विरोध मानते हैं। आप यौग तो ज्ञान दूसरे ज्ञान के लिये कर्मरूप हो जाता है ऐसा मानते हैं। इस प्रकार का परमत प्रवेश का प्रसंग हटाने के लिये आप यदि ज्ञानान्तर की अपेक्षा कर्मरूप बनता है ऐसा मानते हैं तब तो उस ज्ञान को स्वरूप की अपेक्षा से भी कर्मत्वरूप मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान तो सूर्य के समान स्व और पर को प्रकाशित करने वाले स्वभाव से युक्त है।

आपको एक बात हम बताते है कि ज्ञान की क्रिया में जिस प्रकार कर्मत्व का विरोध दिखलायी देता है उसी प्रकार उसमें करणत्व का भी विरोध दिखलाई देता है। कर्मत्व और करणत्व दोनों रूपों की ज्ञान से भिन्नता तो समान ही है, कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकार ज्ञान में करणपने का भी विरोध आने पर "ज्ञान के द्वारा मैं पदार्थ को जानता हूं" इस तरह की ज्ञान की करणपने से प्रतीति नहीं हो सकेगी।

यौग—विशेषणज्ञान करणरूप होता है और विशेष्य ज्ञान उसके फलस्वरूप होता है, इस प्रकार करणज्ञान और क्रियाज्ञान में भेद माना है, इसलिये कर्मत्व आदि की व्यवस्था बन जायगी।

जैन—यह कथन भी श्रद्धामात्र है, देखिये-विशेषणज्ञान के द्वारा मैं विशेष्य को जानता हूं ऐसी प्रतीति तो किसी को भी नहीं होती है। विशेषणज्ञान के द्वारा विशेषण को और विशेष्य के ज्ञान द्वारा विशेष्य को जानता हूं ऐसी सभी जनो को प्रतीति होती है। अब यहां पर विचार करना होगा कि विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान इन दोनों का विषय पृथक् है या अपृथक् है? यदि दोनों ज्ञानों का विषय अपृथक् है तो विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान ऐसी दो ज्ञानों की कल्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि पदार्थ में तो कोई भेद नहीं है। जैसे कि धारावाहिक ज्ञान में विषय भेद नहीं रहता है। दूसरा विकल्प-अर्थात् दोनों ज्ञानों का विषय पृथक् है ऐसा स्वीकार किया जाय

त्वाद् घटपटज्ञानवत् । न खलु घटज्ञानस्य पटज्ञानं फलम् । न चान्यत्र व्यापृते विशेषणज्ञाने ततोऽर्थान्तरे विशेष्ये परिच्छित्तिर्युक्ता । न हि खदिरादावुत्पतननिप(प)तनव्यापारवति परशौ ततोऽन्यत्र धवादौ छिदिक्रियोत्पद्यते इत्येतत्प्रातीतिकम् । लिङ्गज्ञानस्यानुमानज्ञाने व्यापारदर्शनादत्राप्यविरोध इत्यप्यसम्भाव्यं तद्वत्क्रमभावेनात्र ज्ञानद्वयानुपलब्धेः, एकमेव हि तयोर्ग्राहकं ज्ञानमनुभूयते । न चात्र

तो प्रमाण और फल की व्यवस्था नही बनती, मतलब–विशेषण ज्ञान प्रमाण है और विशेष्यज्ञान उसका फल है ऐसा आपने माना है वह गलत होता है, क्योंकि यहां पर आपने विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान का विषय पृथक् पृथक् मान लिया है । जिस प्रकार घट ज्ञान और पट ज्ञान का विषय न्यारा न्यारा घट और पट है वैसे ही विशेषण और विशेष्य ज्ञानों का विषय न्यारा न्यारा बताया है, घट ज्ञान का फल पट ज्ञान होता हो सो बात नही है, अन्य विषय को जानने में लगा हुआ ज्ञान उससे पृथक् विषय को जानता है ऐसा प्रतीत नहीं होता है, अर्थात् विशेषणत्व जो नीलत्व या दण्ड आदि है उसे जो ज्ञान जान रहा है वह विशेषणज्ञान उस नीलत्वादिविशेषण से पृथक् ऐसे कमल या दण्डवाले आदि विशेष्य को जानता हो ऐसा अनुभव मे नहीं आता है । इसी बात को और भी उदाहरण देकर समझाते है कि खदिर आदि जाति के वृक्ष पर जो कुठार छेदन क्रिया करते समय उसका नीचे पड़ना, फिर ऊंचे उठना इत्यादिरूप व्यापार है तो वह व्यापार उस खदिर से भिन्न धव आदि जाति के वृक्ष पर नहीं होता है अर्थात् कुठार का प्रहार तो होवे खदिर वृक्ष पर और कट जाय धववृक्ष जैसे ऐसा नही होता उसी प्रकार विशेषण ज्ञान विशेषण को तो विषय कर रहा हो, और जानना होवे विशेष्य को सो ऐसा भी नही होता, अखिल जन तो यही मानता है कि मैं विशेषणज्ञान से विशेषण को और विशेष्यज्ञान से विशेष्य को जानता हूं. इससे विपरीत मान्यता प्रतीति का अपलाप करना है ।

यौग—जिस प्रकार अनुमान में लिग ज्ञान का व्यापार होता हुआ देखा गया है, उसी प्रकार इन ज्ञानों में भी हो जायगा, अर्थात्–हेतुरूप जो धूमादि है उसके ज्ञान के द्वारा अग्नि आदि का ज्ञान होता है कि नहीं ? यदि होता है तो उसी तरह से विशेषणज्ञान भी विशेष्य के जानने में प्रवृत्त हो जायेगा कोई विरोधवाली बात नहीं है ।

जैन—यह कथन असंभव है, जैसे हेतु और अनुमान ज्ञानों में क्रमभाव होने से दो ज्ञान उपलब्ध हो रहे हैं वैसे विशेषण और विशेष्य में क्रमभाव से दो ज्ञान

विषयभेदाज्ज्ञानभेदकल्पना; समानेन्द्रियग्राह्ये योग्यदेशावस्थितेर्थे घटपटादिवदेकस्यापि ज्ञानस्य व्यापाराविरोधात्। न च घटादावपि ज्ञानभेदः समानगुणानां युगपद्भावानभ्युपगमात्। क्रमभावे च प्रतीतिविरोधः सर्वज्ञाभावश्च। युगपद्भावाभ्युपगमे चानयोः सव्येतरगोविषाणवत्कार्यकारणभावाभावः। विशेषणविशेष्यज्ञानयोः क्रमभावेप्याशुवृत्त्या यौगपद्याभिमानो यथोत्पलपत्रशतच्छेद इत्यप्यसङ्गतम्; निखिलभावानां क्षणिकत्वप्रसङ्गात्सर्वत्रैकत्वाध्यवसायस्याशुवृत्तिप्रवृत्तत्वात्। प्रत्यक्षप्रतिपन्नस्यास्य

प्रतीत नहीं होते किन्तु विशेषण और विशेष्य दोनों को ग्रहण करनेवाला एक ही ज्ञान अनुभव में आता है, विशेषण और विशेष्य इस प्रकार दो विषय होने से ज्ञान भी भिन्न २ होवे ऐसा नियम नहीं है, इसी को बताते हैं-समान-एक ही इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य एवं अपने योग्य स्थान में स्थित ऐसे घट पट आदि पदार्थों को एक ही ज्ञान जानता है इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः यह निश्चय होता है कि विषय भेद से ज्ञान मे भी भेद नही होता है। यदि यौग कहे कि घट पट आदि मे एक साथ प्रवृत्त होनेवाले ज्ञान में भी हम भेद ही मानते हैं अर्थात् एक स्थान पर अनेक पदार्थ रखे हैं उन पर आँख की नजर पड़ते ही सब का जानना एक ही ज्ञान के द्वारा हो जाता है ऐसा जो जैन ने कहा था वह गलत है, क्योंकि उन घटादिकों में प्रवृत्त हुए ज्ञानों में भेद ही है, सो यह बात असिद्ध है, क्योंकि इस तरह एक ही वस्तु में एक साथ अनेक समान गुण नहीं रह सकते, अतः आत्मा में भी एक साथ अनेक ज्ञान होना शक्य नही है। और यह सिद्धान्त तो आप यौग को भी इष्ट है, दूसरी तरह से विचार करे कि वे विशेषण विशेष्यज्ञान या घट पट आदि के ज्ञान क्रम से होते हैं ऐसा माने तो भी बनता नही-दोष आते हैं। प्रतीति का अपलाप भी होता है। क्योंकि विशेषण और विशेष्य आदि को क्रम से ज्ञान जानता है ऐसा प्रतीत नहीं होता, तथा एक ज्ञान से अनेक वस्तुओं को जानना नही मानते हो तो सर्वज्ञ का अभाव भी हो जावेगा, मतलब-पदार्थ हैं अनन्त, उनको ज्ञान क्रम से जानेगा तो उन पदार्थों का ज्ञान होगा ही नहीं और संपूर्ण वस्तुओं को जाने विना सर्वज्ञ बनता नहीं।

विशेषण ज्ञान और विशेष्यज्ञान को आप यदि एक साथ होना भी मान लेवे तो भी उन ज्ञानों में कार्य कारण भाव तो बन नही सकता, क्योंकि एक साथ होनेवाले पदार्थों में कारण यह है और यह कार्य है ऐसी व्यवस्था होती नहीं जैसे-कि गाय के दायें और बायें सींग में कार्यकारणभाव इस दांयें सींग से यह बायां सींग उत्पन्न हुआ है ऐसी व्यवस्था-नहीं होती है।

दृष्टान्तमात्रेण निषेधविरोधाच्च, अन्यथा शुक्ले शङ्खे पीतविभ्रमदर्शनात्सुवर्णेपि तद्विभ्रमः स्यात् । मूर्तस्य सूच्यग्रस्योत्तराधर्यस्थितमुत्पलपत्रशतं युगपत्प्राप्तुमशक्तेः क्रमच्छेदेप्याशुवृत्त्या यौगपद्याभिमानो युक्तः, पुंसस्तु स्वावरणक्षयोपशमापेक्षस्य युगपत्स्वपरप्रकाशनस्वभावस्य समग्रेन्द्रियस्याप्राप्तार्थग्राहिणः स्वयममूर्त्तस्य युगपत्स्वविषयग्रहणे विरोधाभावात् किन्न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः ?

यौग—विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान होते तो क्रम से हैं किन्तु वे आशु-शीघ्र होते हैं अतः हमको ऐसा लगता है कि एक साथ दोनों ज्ञान हो गये, जैसे—कमल के सौ पत्तों को किसी पैनी छुरी से काटने पर मालूम पड़ता है कि एक साथ सब पत्ते कट गये ।

जैन—यह उदाहरण असंगत है, इस तरह से कहोगे तो संपूर्ण पदार्थ क्षणिक सिद्ध हो जावेंगे क्योंकि सभी घट पट आदि पदार्थों में आशुवृत्ति के कारण एकत्व अध्यवसाय-ज्ञान होने लगेगा, अर्थात् ये सब पदार्थ एकरूप ही हैं ऐसा मानना पड़ेगा।

प्रत्यक्ष के द्वारा जिसका प्रतिभास हो चुका है उसका दृष्टान्तमात्र से निषेध नही कर सकते, अर्थात् विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान एक साथ होते हुए प्रत्यक्ष में प्रतीत हो रहे है तो भी कमलपत्रों के छेद का उदाहरण देकर उनको क्रम से होना सिद्ध करें—अक्रम का निषेध करे तो ठीक नही है । अन्यथा सफेद शंख मे पीलेपन का भ्रमज्ञान होता हुआ देखकर वास्तविक पीले रंगवाले सुवर्ण मे भी पीले रंग का निषेध करना पडेगा, बात तो यह है कि मूर्तिमान ऐसी सुई आदि का अग्रभाग ऊपर नीचेरूप से रखे उन कमल पत्रों को एक साथ काट नही सकता है, अतः उनमें तो मात्र एक साथ काटने का भान ही होता है, वास्तविक तो एक साथ न कटकर वे पत्ते क्रम से ही कटते हैं । किन्तु आत्मा के ज्ञान के विषय में ऐसी बात नहीं बनती आत्मा तो अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को प्राप्त हुआ है अतः उसमें एक साथ अपना और अन्य वस्तुओं को जानने का स्वभाव है, इसके संपूर्ण इन्द्रियां भी मौजूद हैं, अप्राप्त पदार्थ को ग्रहण करने वाला है—अर्थात् बिना सन्निकर्ष के ही पदार्थ को जानने के स्वभाववाला है, ऐसा स्वयं अमूर्त्त आत्मा यदि एक साथ अनेक विषयों को ग्रहण करले तो इसमे कोई विरोध का प्रसंग नही आता है अतः विशेषण आदि ज्ञान उसे एक साथ क्यों नहीं हो सकते, अवश्य हो सकते हैं ।

यौग—मन तो सुई के अग्रभाग के समान मूर्त्त है, तथा चक्षु आदि इन्द्रियां कमलपत्रों के समान एक दूसरे का परिहार करके स्थित हैं, अतः वह मन उन सब

न च मनोपि सूच्यग्रवन्मूर्त्तमिन्द्रियाणि तूत्पलपत्रवत्परस्परपरिहारस्थितानि युगपत्प्राप्तुं न समर्थमिति वाच्यम्; तथाभूतस्यास्याऽसिद्धेः। युगपज्ज्ञानोत्पत्तिविभ्रमात्तत्सिद्धौ परस्पराश्रयः तद्विभ्रमसिद्धौ हि मनःसिद्धिः, ततस्तद्विभ्रमसिद्धिरिति। 'चक्षुरादिकं क्रमवत्कारणापेक्षं कारणान्तरसाकल्ये सत्यप्यनुत्पाद्योत्पादकत्वाद्वासीकर्त्तर्यादिवत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धिरित्यपि मनोरथमात्रम्; भवदभ्यु-

---

इन्द्रियों को एक साथ प्राप्त नहीं हो सकता है, बस, इसी कारण एक साथ विशेषण आदि के ज्ञान न होकर वे शीघ्रता से होते हैं। और मालूम पड़ता है कि ये एक साथ हुए हैं।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रकार के लक्षणवाले मन की असिद्धि है। यदि आप एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति के भ्रम से मन की सिद्धि करना चाहते है अर्थात् "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिंङ्ग" एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होना यही मन को सिद्ध करने वाला हेतु है ऐसा मानते हो तो अन्योन्याश्रय दोष आता है इसीको बताते हैं—जब एक साथ ज्ञानों के उत्पन्न होने का भ्रम सिद्ध होवे तब मन की सिद्धि होगी और मन के सिद्ध होने पर एक साथ ज्ञान उत्पन्न होने का भ्रम सिद्ध होवे। इस प्रकार के दोष से किसी की भी सिद्धि नहीं होती है।

यौग—हम अनुमान के द्वारा मन की सिद्धि करते हैं-चक्षु आदि इन्द्रियां किसी क्रमवान् कारण की अपेक्षा रखती है, क्योकि अन्य प्रकाश आदि कारणों की पूर्णता होते हुए भी वे इन्द्रियां उत्पन्न करने योग्य को (ज्ञानों को) उत्पन्न नहीं करती हैं। जैसे कैंची या वसूला किसी एक क्रमिक कारण की (उत्थानपतनक्रिया-परिणत हाथों की) अपेक्षा रखते हैं इसी वजह से वे एक साथ काटने का काम नहीं कर पाते हैं।

जैन—यह कथन भी मनोरथमात्र है, देखो ऐसा मानने से आपके ही मन के साथ व्यभिचार आता है। मन तो कारणान्तरों की साकल्यता होने पर क्रमवान् किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखना है, अतः यह हेतु "कारणान्तरसाकल्ये सति अनुत्पाद्य उत्पादकत्वात्" अनैकान्तिक होता है। यदि मन को भी क्रमवान् कारण की अपेक्षा रखनेवाला मानोगे तब तो अनवस्था दोष आवेगा।

एक बात यहां विचार करने की है-कि आपने अनुमान में हेतु दिया था "कारणान्तरसाकल्ये सत्यपि अनुत्पाद्य उत्पादकत्वात्" सो इसमें अनुत्पाद्य उत्पादकत्व

यगतेन मनसैवानेकान्तात् । न हि तत्साकल्ये तत् तथाभूतमपि क्रमवत्कारणान्तरापेक्षमनवस्था-प्रसङ्गात् । किञ्च, अनुत्पाद्योत्पादकत्वं युगपत्, क्रमेण वा ? युगपच्चे द्विरुद्धो हेतुः, तथोत्पादकत्वस्या-क्रमिकारणाधीनत्वात् प्रसिद्धसहभाव्यनेककार्यकारिसामग्रीवत् । क्रमेण चेदसिद्धः, कर्कटीभक्षणादौ युगपद्रूपादिज्ञानोत्पादकत्वप्रतीतेः । आशुवृत्त्या विभ्रमकल्पनायां तूक्तम् । तन्न मनसः सिद्धिः ।

का मतलब क्या है ? उत्पन्न न कर पीछे एक साथ उत्पन्न करना ऐसा है अथवा क्रम से उत्पन्न करना ऐसा है ? यदि एक साथ उत्पन्न करना ऐसा अनुत्पाद्य उत्पादकत्व का अर्थ है तो हेतु विरुद्धदोष युक्त हो जायेगा, अर्थात् क्रमवत्कारण को वह सिद्ध न कर अक्रमवत्कारण को ही सिद्ध करेगा । जैसे "नित्यः शब्दः कृतकत्वात्" शब्द नित्य है क्योंकि वह किया हुआ होता है, ऐसा अनुमान में दिया गया हेतु जैसे शब्द में नित्यत्व सिद्ध न कर उल्टे अनित्यत्व की सिद्धि कर देता है वैसे ही चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा क्रमिक ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये अनुत्पाद्य उत्पादकत्व हेतु का अर्थ युगपत् ऐसा करते हैं तो उस हेतु द्वारा साध्य से विपरीत जो अक्रमता है वही सिद्ध होती है, क्योंकि जो उस प्रकार का एक साथ उत्पादकपना तो अक्रमिक कारणों के ही आधीन होता है, जैसे प्रसिद्ध सहभावी अनेक कार्यों को करनेवाली सामग्री हुआ करती है, मतलब–पृथिवी, हवा, जल आदि सामग्री जिसके साथ है ऐसे अनेक बीज अनेक अंकुरों को एक साथ ही पैदा कर देते हैं । यहा पर अनेक अंकुररूप कार्य अक्रमिक पृथ्वी जल आदि के आधीन हैं । यदि दूसरा पक्ष लेते हैं—कि अनुत्पाद्य उत्पादकत्व क्रम से है–तो यह हेतु असिद्ध दोष युक्त होता है, कैसे ? सो बताते हैं–ककड़ी या कचौड़ी आदि के भक्षण करते समय चक्षु आदि इन्द्रिया रूप आदि के ज्ञानो को एक साथ पैदा करती हुई प्रतीत होती है, तुम कहो कि वहा अतिशीघ्रता से रूप आदि का ज्ञान होता है, अतः मालूम पडता है कि एक साथ सब ज्ञान पैदा हुए, सो इस विषय में अभी २ दूषण दिया था कि इस तरह से आशुवृत्ति के कारण ज्ञानों में एक साथ होने का भ्रम सिद्ध करते हो तो अन्योन्याश्रय दोष होता है, अतः आपके किसी भी हेतु से मन की सिद्धि नहीं हो पाती है ।

जैसे तैसे मान भी लेवें कि आपके मत में कोई मन नामकी वस्तु है तो उस मन का आत्मा के साथ संयोग होना तो नितरां असिद्ध है क्योंकि आपके यहां आत्मा और मन दोनों को ही निरंश बताया है, सो उन निरंशस्वरूप आत्मा और मन का एक देश से संयोग होना स्वीकार करते हो तो उन दोनों में सांशपना आ जाता है,

सिद्धो वा न संयोगः, निरंशयोरेकदेशेन संयोगे सांशत्वम् । सर्वात्मनैकत्वम् उभयव्याघातकारि स्यात् । 'यत्र संयुक्तं मनस्तत्र समवेते ज्ञानमुत्पादयति' इत्यभ्युपगमे चाखिलात्मसमवेतसुखादौ ज्ञानं जनयेत् तेषां नित्यव्यापित्वेन मनसा संयोगोऽविशेषात् । तथा च प्रतिप्राणि भिन्नं मनोन्तरं व्यर्थम् । यस्य यन्मनस्तत्तत्समवायिनि ज्ञानहेतुरित्यप्यसारम्, प्रतिनियतात्मसम्बन्धित्वस्यैवात्रासिद्धेः । तद्धि तत्कार्यत्वात्, तदुपक्रियमाणत्वात्, तत्संयोगात्, तददृष्टप्रेरितत्वात्, तदात्मप्रेरितत्वाद्वा स्यात् ? न तावत्तत्कार्यत्वेन तत्सम्बन्धिता; नित्ये तदयोगात् । नाप्युपक्रियमाणत्वेन; अनाधेयाप्रहेयातिशये

यदि उस आत्मा का और मन का संयोग सर्वदेश से मानते हो तो दोनों एक मेक होने से दोनों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, एक ही कोई बचता है, या तो आत्मा सिद्ध होगा या मन । आत्मा और मन ऐसे दो पदार्थ स्वतन्त्ररूप से सिद्ध नहीं हो सकेंगे ।

यौग—जिस आत्मा में मन संयुक्त हुआ है उसी आत्मा में समवेतरूप से रहे हुए सुखादिकों में वह मन ज्ञान को पैदा करा देता है, इस तरह आत्मा और मन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है ।

जैन—ऐसा मानने पर भी यह आपत्ति आती है कि संसार में जितने भी जीव हैं उन सबके सुख आदि का वह एक ही मन सब को ज्ञान पैदा कर देगा, क्योंकि सभी आत्माएँ नित्य और व्यापक हैं । अतः उनका मन के साथ संयोग तो समानरूप से है ही, इस प्रकार एक ही मन से सारी आत्माओं में सुख दुःख आदि के ज्ञान को पैदा करा देने के कारण प्रत्येक प्राणियों के भिन्न २ मन मानने की जरूरत नही रहेगी ।

यौग—जिस आत्मा का जो मन होता है वही मन उस आत्मा में समवेत हुए सुखादिक का ज्ञान उसे उत्पन्न कराता है, सब को नही अतः भिन्न २ मन की आवश्यकता होगी ही ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक आत्मा के साथ "यह इसका मन है" इस प्रकार का मन का संबंध होना ही असिद्ध है । यदि प्रतिनियत आत्मा के साथ मन का सबंध मानते हो तो क्यों मानते हो ? क्या वह उसी एक निश्चित आत्मा का कार्यरूप है इसलिये मानते हो, या प्रतिनियत आत्मा से वह उपकृत है इसलिये मानते हो, या प्रतिनियत आत्मा में उस विवक्षित मन का संयोग है, या एक ही निश्चित आत्मा के अदृष्ट से वह प्रेरित होता है, अथवा स्वयं उस आत्मा से वह प्रेरित होता है

तस्याप्यसम्भवात् । नापि संयोगात्; सर्वत्रास्याविशेषात् । नापि 'यददृष्टप्रेरितं प्रवर्त्तते निवर्तते वा तत्तस्य' इति वाच्यम्; अचेतनस्यादृष्टा स्यानिष्टदेशादिपरिहारेणेष्टदेशादौ तत्प्रेरणासम्भवात्, अन्यथेश्वरकल्पनावैफल्यम् । न चेश्वरस्यादृष्टप्रेरणे व्यापारात्साफल्यम्, मनस एवासौ प्रेरकः कल्प्यताम् किं परम्परया ? तस्य सर्वसाधारणत्वाच्चातो न तन्नियमः । नाहृष्टस्यापि प्रतिनियमः सिद्धः; तस्यात्मनो-

---

इसलिये मानते हो ? पहिला पक्ष–यदि वह प्रतिनियत आत्मा का कार्य है इसलिये इस आत्मा का यह मन है ऐसा संबंध सिद्ध होता है इस तरह कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि मन तो नित्य एव परमाणुरूप है, अतः वह आत्माका कार्यरूप नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य वस्तु किसी का कार्य नहीं होती है । दूसरा हेतु–प्रतिनियत आत्मा के द्वारा उपक्रियमाण होने से यह मन इस आत्माका है इस प्रकार का संबंध बनता है सो भी बात नही, क्योंकि मन तो अनाधेय और अप्रहेय है–अर्थात् न उसका आरोप कर सकते हैं और न उसका स्फोट कर सकते है, ऐसे अतिशयशाली मन का उपकार आत्मा के द्वारा होना शक्य नहीं है, तीसरा विकल्प–प्रतिनियत आत्मा में संयोग होने से मन का संबंध प्रतिनियत आत्मा से बनता है, सो भी बात ठीक नही, क्योंकि सर्वत्र आत्माओं में उसका समानरूप से सबध रहता है । अतः यह इसी का मन है इस प्रकार कह नहीं सकते, जिसके अदृष्ट से वह मन इष्ट में प्रवर्तित होता है और अनिष्ट से निवृत्त होता है वह उस आत्मा का मन कहलाता है सो ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अदृष्ट तो अचेतन है, वह अचेतन अदृष्ट अनिष्ट देश आदि का परिहार कर इष्ट ही वस्तु या देशादि में मन को प्रेरित करता हो सो बात शक्य नहीं है, अर्थात् अचेतन अदृष्ट में ऐसी शक्ति सभव नहीं है । यदि अचेतन भाग्य ही ऐसा कार्य करता तो ईश्वर की कल्पना क्यो करते हो ।

यौग–ईश्वर तो अदृष्ट को प्रेरित करता है और पुनः अदृष्ट मन को प्रेरणा करने का काम करता है, अत. ईश्वर को मानना जरूरी है ।

जैन–यह बात ठीक नहीं, इससे तो मन को ही ईश्वर प्रेरित करता है ऐसा मानना श्रेयस्कर होगा, क्यों बेकार ही परपरा लगाते हो कि महेश्वर के द्वारा पहिले अदृष्ट प्रेरणा पाता है पुनश्च उस अदृष्ट से मन प्रेरणा पाता है । एक बात और भी बताते है कि अदृष्ट तो सर्व साधारण कारण है, कोई विशेष कारण तो है नहीं, अतः उस अदृष्ट से आत्मा के साथ मन का नियम नहीं बनता है; कि यह मन इसी आत्मा

ऽत्यन्तभेदात् समवायस्यापि सर्वत्राविशेषात् । 'येनात्मना यन्मनः प्रेर्यते तत्तस्य' इत्ययुक्तम् अनुपलब्धस्य प्रेरणासम्भवात् ।

किञ्च, ईश्वरस्यापि स्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनोऽनेकत्वात्पञ्चांगुलवत्' इत्यत्र पक्षीकृतैकदेशेन व्यभिचारः-तज्ज्ञानान्यसदसद्वर्गयोरनेकत्वाविशेषेप्येकज्ञानालम्बनत्वाभावादेकशाखाप्रभवत्वानुमानवत् । स्वसंविदितत्वाभ्युपगमे चास्य अनेनैव प्रमेयत्वहेतोर्व्यभिचार इत्युक्तम् । 'अस्मदादिज्ञानापेक्षया ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्व साध्यते' इत्यत्राप्युक्तम् ।

का है । खुद अदृष्ट का नियम बन नहीं पाता कि यह अदृष्ट इसी आत्मा का है । अदृष्ट तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न है-पृथक् है । समवाय से संबंध करना चाहो तो वह भी सर्वत्र समान ही है ।

यौग – जिस आत्मा के द्वारा जो मन प्रेरित होता है वह उसका कहलाता है।

जैन—यह वाक्य अयुक्त है, क्योंकि जिसकी उपलब्धि ही नहीं होती उस मन को प्रेरित करना शक्य नही है । आप यौग ने ईश्वर के भी स्वसंविदित ज्ञान माना नही, अतः आपके द्वारा कहे हुए अनुमान में दोष आता है, सद्-असद्वर्ग अर्थात् सद्वर्ग तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का समूहरूप है और असद्वर्ग प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव इनरूप है—सो ये दोनों ही वर्ग किसी एक ही ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि ये अनेक रूप हैं, जैसे हाथ की पांचों अंगुलियां अनेक होने से एक ज्ञान की अवलंबन स्वरूप हैं । अब इस अनुमान में सद्वर्ग और असद्वर्ग को पक्ष बनाया है, उस पक्ष का एक भाग जो गुणों में अन्तर्भूत विज्ञान है उसके साथ इस अनेकत्व हेतु का व्यभिचार होता है । कैसे-? ऐसा बताते हैं-ईश्वर का ज्ञान और अन्य सद् असद् वर्ग ये अनेकरूप तो है किन्तु एक ज्ञान के अवलम्बन-एक ज्ञान के द्वारा जानने योग्य नहीं हैं, क्योंकि ये सब एक ज्ञान से जानें जायेंगे तो ज्ञान स्वसंविदित बन जायगा, जो आपको इष्ट नहीं है, इस प्रकार आपका सद्-असद् वर्ग पक्षवाला उपर्युक्त अनुमान गलत ठहरता है, जैसे एक शाखाप्रभवत्व हेतुवाला अनुमान गलत होता है । अर्थात् किसी ने ऐसा अनुमानवाक्य प्रयुक्त किया कि ये सब फल पके हैं क्योंकि एक ही शाखा से उत्पन्न हुए हैं, सो ऐसा एक शाखाप्रभवत्वहेतु व्यभिचरित इसलिये हो जाता है कि एक ही शाखा में लगे होने पर भी कुछ फल तो पके रहते हैं और कुछ फल कच्चे रहते हैं, इसलिये जैसे यह अनुमान सदोष कहलाता

किञ्चाद्ये ज्ञाने सति, असति वा द्वितीयज्ञानमुत्पद्यते ? सति चेत्-युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिविरोधः। असति चेत्; कस्य तद्ग्राहकम् ? असतो ग्रहणे द्विचन्द्रादिज्ञानवदस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः।

किञ्च, अस्मदादीनां तज्ज्ञानान्तरं प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्षं वा। यदि प्रत्यक्षम्-स्वतः, ज्ञानान्तराद्वा ? स्वतश्चेत्, प्रथममप्यर्थज्ञानं स्वतः प्रत्यक्षमस्तु। ज्ञानान्तरात्प्रत्यक्षत्वे तदपि ज्ञानान्तरं ज्ञानान्तरात्प्रत्यक्षमित्यनवस्था। अप्रत्यक्षं चेत् कथं तेनाद्यज्ञानग्रहणम् ? स्वयमप्रत्यक्षेण ज्ञानान्तरेणात्मा-

---

है वैसे ही जो अनेक हैं वे एक ज्ञान से जाने जाते है ऐसा अनेकत्व हेतु भी ईश्वर ज्ञान और सद् असद् वर्ग के साथ अनैकान्तिक हो जाता है। वे अनेक होकर भी एक ज्ञान से तो जाने नहीं जाते है। इस व्यभिचार को दूर करने के लिये यदि यौग ईश्वर ज्ञान को स्वसंविदित मान लेते हैं तो ईश्वर के इस गुणरूपज्ञान से ही प्रमेयत्व हेतु व्यभिचरित हो जाता है, इस बात को हम पहिले ही अच्छी तरह से कह आये है। भावार्थ—पहिले यौग ने अनुमान प्रमाण उपस्थित किया था कि ज्ञान अन्यज्ञान से ही जाना जाता है, क्योंकि वह प्रमेय है जैसे कि घट पट आदि पदार्थ, इस अनुमान से सभी ज्ञानों को स्वयं को नही जाननेवाले सिद्ध किया था, अब यहां पर ईश्वर के ज्ञान को स्वयं को जाननेवाला मान रहे सो प्रमेयत्व हेतु गलत ठहरा, यदि हम जैसे अल्पज्ञानी के ज्ञानों को ज्ञानान्तर वेद्य मानते हैं तो इस विषय पर भी विवेचन हो चुका है, अर्थात् हम जैन ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञान चाहे ईश्वर का हो चाहे सामान्य व्यक्ति का हो उसमें स्वभाव तो समानरूप से स्व और पर को जानने का ही है, (विषय ग्रहण करने की शक्ति में भेद हो सकता है किन्तु स्वभाव तो समान ही रहेगा।

अच्छा अब इस बात को बतावें कि पहिला ज्ञान रहते हुए दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है ? अथवा वह प्रथम ज्ञान समाप्त होने पर दूसरा ज्ञान आता है ? प्रथम ज्ञान के रहते हुए ही दूसरा ज्ञान आता है ऐसा कहो तो एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते ऐसा आपका मत विरोध को प्राप्त होगा, दूसरा विकल्प मानें कि पहिला ज्ञान समाप्त होने पर द्वितीयज्ञान होता है सो भी गलत है, जब पहिला ज्ञान समाप्त हो गया तब दूसरा ज्ञान किसको ग्रहण करेगा ? यदि असत् को भी ग्रहण करेगा तो वह ज्ञान द्विचन्द्र आदि को ग्रहण करनेवाले ज्ञानों के समान ही भ्रान्त कहलावेगा।

यह भी सोचना है कि प्रथम ज्ञान को जाननेवाला दूसरा ज्ञान है वह हम जैसे सामान्य व्यक्तियों के प्रत्यक्ष का विषय होता है अथवा नहीं होता ? प्रत्यक्ष होता

न्तरज्ञानेनैवास्य ग्रहणविरोधात् । ननु ज्ञानस्य स्वविषये गृहीतिजनकत्वं ग्राहकत्वम्, तच्च ज्ञानान्तरेणागृहीतस्यापीन्द्रियादिवद्युक्तमित्यपि मनोरथमात्रम्; अर्थज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरेणागृहीतस्यैवार्थग्राहकत्वानुषङ्गात् । तथा च ज्ञानज्ञानपरिकल्पनावैयर्थ्यं मीमांसकमतानुषङ्गश्च ।

लिङ्गशब्दसादृश्यानां चागृहीतानां स्वविषये विज्ञानजनकत्वप्रसङ्गात्तद्विषयविज्ञानान्वेषणानर्थक्यम् । 'उभयथोपलम्भाददोषः' इत्यभ्युपगमेपि किञ्चिल्लिङ्गादिकमज्ञातमेव चक्षुरादिकं तु ज्ञात-

---

है ऐसा कहो तो वह स्वतः प्रत्यक्ष होता है या अन्य किसी ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है ? यदि स्वतः होता है ऐसा कहो तो वह पहिला पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान भी स्वतः प्रत्यक्ष अपने आपको जाननेवाला होवे क्या आपत्ति है, यदि उस प्रथम ज्ञान को जानने वाला द्वितीयज्ञान भी अन्य ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है, तब तो अनवस्थादोष साक्षात् दिखाई देता है । आप यौग यदि उस दूसरे ज्ञान को अप्रत्यक्ष रहना ही स्वीकार करते हैं तो उस अप्रत्यक्ष ज्ञान से पहिला ज्ञान कैसे गृहीत हो सकेगा ? देखिये–जो ज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष है वह तो अन्य किसी पुरुष के ज्ञान के समान है उससे इस प्रत्यक्ष ज्ञान का जानना हो नहीं सकता ।

यौग—ज्ञान का ग्राहकपना इतना ही है कि वह अपने विषय में गृहीति को पैदा करता है और ऐसा कार्य तो उस ज्ञान को अन्य ज्ञान से नही जानने पर भी हो सकता है, जैसे कि इन्द्रियादि अगृहीत रहकर ही गृहीति को पैदा कर देती हैं, मतलब यह है कि पदार्थ को जाननेवाले पहिले ज्ञान को जानना इतना ही दूसरे ज्ञान का काम है, इस कार्य को वह द्वितीय ज्ञान कर ही लेता है, भले वह अन्यज्ञान से नहीं जाना गया हो या स्वयं को जाननेवाला न होवे, इस विषय को समझने के लिये इन्द्रियों का दृष्टान्त फिट बैठता है कि जैसे चक्षु आदि इन्द्रियां स्वयं को नहीं जानती हुईं भी रूपादिकों को जानती हैं ।

जैन—यह कथन गलत है–क्योंकि इस प्रकार मानने पर तो पदार्थ को जानने वाला प्रथमज्ञान भी अन्यज्ञान से नहीं जाना हुआ रहकर ही पदार्थ को जानलेगा ऐसा भी कोई कह सकता है । ज्ञान का स्वयं को जानना तो जरूरी नहीं रहा । इस तरह तो ज्ञान को जानने के लिये अन्यज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ ही है । तथा–आप यौग–नैयायिक वैशेषिकों का मीमांसक मत में प्रवेश भी हो जाता है । क्योंकि मीमांसक ज्ञान को जानने के लिये अन्यज्ञान की कल्पना नहीं करते हैं । ज्ञान स्वयं अगृहीत रहकर हो

मेव स्वविषये प्रमितिमुत्पादयेत्तत एव । अथ चक्षुरादिकमेवाज्ञातं स्वविषये प्रमितिनिमित्तम्, न लिङ्गादिकं तत्तु ज्ञातमेव नान्यथाऽतो नोभयत्रोभयथाप्रसङ्गः प्रतीतिविरोधात्, नन्वेवं यथा अर्थज्ञानं ज्ञातमर्थे ज्ञप्तिनिमित्तम्, तथा ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानेऽस्तु, तत्राप्युभयथापरिकल्पने प्रतीतिविरोधाविशेषात् । यथैव हि-'विवादापन्नं चक्षुराद्यज्ञातमेवार्थे ज्ञप्तिनिमित्तं तत्त्वादस्मच्चक्षुरादिवत् । लिङ्गादिकं तु

अपने विषय में ज्ञान पैदा करता है, ऐसा मानने पर तो लिङ्गज्ञान (-अनुमानज्ञान) शब्द अर्थात् आगमको विषय करनेवाला आगमप्रमाण, सादृश्य को विषय करनेवाला उपमाप्रमाण, ये तीनों प्रमाणज्ञान भी स्वयं किसी से नहीं जाने हुए रहकर ही अपने विषय जो अनुमेय, शब्द और सादृश्य हैं उनमें ज्ञान को उत्पन्न करेंगे । फिर उन लिङ्ग अर्थात् हेतु आदि की जानकारी प्राप्त करना बेकार ही है ।

यौग—ज्ञान के जनक दोनो प्रकार से उपलब्ध होते हैं अर्थात् कोई ज्ञान के कारण स्वयं अज्ञात रहकर ज्ञान को पैदा करते है और कोई कारण ज्ञात होकर ज्ञान को पैदा करते है । अतः कोई दोष नहीं है ।

जैन— ऐसा स्वीकार करने पर तो हम कह सकते हैं कि कुछ लिङ्ग आदि कारण तो अज्ञात रहकर ही अपने विषय जो अनुमेयादि हैं उनमें प्रमिति (-जानकारी) को पैदा करते हैं और कुछ चक्षु आदि कारण ज्ञात रहकर अपने रूपादि विषयों में ज्ञान को पैदा करते हैं । क्योंकि उभयथा-दोनों प्रकार से ज्ञात और अज्ञात प्रकार से प्रमिति पैदा होती है । ऐसा आपका कहना है ।

यौग—देखिये ! आप विपरीत प्रकार से कह रहे हैं, दोनों प्रकार से ज्ञान होता है, किन्तु चक्षु आदि तो स्वयं अज्ञात रहकर अपने विषय में प्रमिति पैदा करते हैं और लिग आदि कारण तो ऐसे है कि वे अज्ञात रहकर प्रमिति को पैदा नहीं कर सकते हैं । अतः लिगादि और चक्षु आदि दोनों ही कारणों में दोनों ज्ञात और अज्ञात प्रकार से प्रमिति पैदा करने रूप प्रसंग आ ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा माने तो साक्षात् प्रतीति में विरोध आता है । अर्थात् इस तरह से प्रतीत नहीं होता है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो जिस प्रकार पदार्थों को जानने वाला ज्ञान ज्ञात होकर ही पदार्थों में प्रमिति को पैदा करता है उसी प्रकार उस पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को जाननेवाला ज्ञान भी ज्ञात रहकर ही उस प्रथमज्ञान को जान सकेगा । वहां उन ज्ञानों के विषय में भी दोनों अज्ञात और ज्ञात की कल्पना करने में प्रतीति का

ज्ञातमेव क्वचिज्ज्ञप्तिनिमित्तं तस्यादुभयवादिप्रसिद्धधूमादिवत्' इत्यनुमानप्रतीत्याश्रोभयथा कल्पने विरोधः। तथा 'ज्ञानज्ञानं ज्ञातमेव स्वविषये ज्ञप्तिनिमित्तं ज्ञानत्वादर्थज्ञानवत्' इत्यत्रापि सर्वथा विशेषाभावात्। यदि चाप्रत्यक्षेणाप्यनेनार्थज्ञानप्रत्यक्षता; तर्हीश्वरज्ञानेनात्मनोऽप्रत्यक्षेणाशेषविषयेण प्राणिमात्रस्याशेषार्थसाक्षात्करणं भवेत्, तथा चेश्वरेतरविभागाभावः। स्वज्ञानगृहीतमात्मनोऽध्यक्ष-मित्यप्यसङ्गतम्; स्वसंविदितत्वाभावे स्वज्ञानत्वासिद्धेः। 'स्वस्मिन्समवेतं स्वज्ञानम्' इत्यपि वार्त्तम्;

अपलाप होता है, मतलब—अर्थज्ञान तो ज्ञात रहकर प्रमिति को पैदा करे और उस ज्ञानका ज्ञान तो अज्ञात रहकर प्रमिति को पैदा करे ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

जिस प्रकार आप मानते हैं कि ज्ञान के कारणस्वरूप माने गये चक्षु आदि विवाद में आये हुए पदार्थ अज्ञात रहकर अपने विषयभूत वस्तुओं में ज्ञप्ति पैदा करते है क्योंकि वे चक्षु आदि स्वरूप ही है। जैसे—हमारी चक्षु आदि इन्द्रियां अज्ञात है तो भी रूपादिकों को जानती हैं, तथा—अन्य कोई ज्ञान के कारण लिंगादिक ऐसे है कि वे ज्ञात होकर ही स्वविषय में ज्ञप्ति को पैदा करते हैं, क्योंकि वे कारण इसी प्रकार के हैं, जैसे—वादी प्रतिवादी के यहां माने गये धूम आदि लिंग हैं, वे ज्ञात होते हैं तभी अनुमानादि ज्ञानों को पैदा करते हैं। इस अनुमान ज्ञान से सिद्ध होता है कि दोनों प्रकार से—अज्ञात और ज्ञात प्रकार से एक ही लिंग आदि में ज्ञान को पैदा करने का स्वभाव नहीं है एक ही स्वभाव है, अर्थात् चक्षु आदिरूप कारण अज्ञात होकर ज्ञानके जनक हैं और धूम आदि लिंग ज्ञात होकर ज्ञानके जनक हैं। जैसी यह लिंग और चक्षु आदि के विषय में व्यवस्था है वैसी ही अर्थज्ञान के ग्राहक ज्ञान में बात है, अर्थात् अर्थ ज्ञान को जाननेवाला ज्ञान भी ज्ञात होकर ही अपना विषय जो अर्थज्ञान है उसमें ज्ञप्ति को पैदा करता है, क्योंकि वह ज्ञान है। जैसे कि अर्थज्ञान ज्ञात होकर अपना विषय जो अर्थ है उसको जानता है। इस प्रकार अनुमान से सिद्ध होता है। आपके और हमारे उन अनुमानों में कोई विशेषता नहीं है। दोनों समानरूप से सिद्ध होते हैं।

यदि आप नैयायिकादि इस द्वितीयज्ञान को अप्रत्यक्ष रहकर ही अर्थज्ञान को प्रत्यक्ष करनेवाला मानते हैं तो बड़ी भारी आपत्ति आती है, इसी को बताते हैं—ज्ञान अपने से अप्रत्यक्ष रहकर अर्थात् अस्वसंविदित होकर यदि वस्तुको जानता है तो ईश्वर के सम्पूर्णविषयों को जाननेवाले ज्ञानके द्वारा सारे ही विश्व के प्राणी संपूर्ण पदार्थों को साक्षात् जान लेंगे। फिर ईश्वर और अनीश्वर अर्थात् सवज्ञ और असर्वज्ञपने का विभाग ही समाप्त हो जावेगा।

समवायनिषेधात्तदविशेषाच्च। 'स्वकार्यम्' इत्यप्यसम्यक्; समवायनिषेधे तदाधेयतयोत्पादस्याप्यसिद्धेः। जनकत्वमात्रेण तत्त्वे दिक्कालादौ तत्प्रसङ्गः। नित्यज्ञानं चेश्वरस्यापि न स्यात् ततः स्वतो ज्ञानं प्रत्यक्षम् अन्यथोक्तदोषानुषङ्गः।

ननु ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वेपि नानवस्था, अर्थज्ञानस्य द्वितीयेनास्यापि तृतीयेन ग्रहणादर्थसिद्धेरपरज्ञानकल्पनया प्रयोजनाभावात्। अर्थजिज्ञासायां ह्यर्थे ज्ञानम्, ज्ञानजिज्ञासायां तु ज्ञाने, प्रतीतेरे-

---

यौग—जो अपने ज्ञान के द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ होता है वही अपने प्रत्यक्ष होता है, हर किसी के प्रत्यक्ष के विषय अपने प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता।

जैन—यह कथन असंगत है, जब आपके मत में ज्ञान स्वसंविदित ही नहीं है तब यह अपना ज्ञान है ऐसा सिद्ध ही नहीं हो सकता।

यौग—जो ज्ञान अपने में (–आत्मा में) समवेत (समवाय से संबन्धित है) है वह अपना कहलाता है।

जैन—यह बात भी बेकार है। क्योंकि समवाय का तो हम आगे खंडन करने वाले हैं। तथा समवाय तो सर्वत्र आत्मा में व्यापक होने से समान है। उसको लेकर अपना ज्ञान और पराया ज्ञान ऐसा विभाग हो नहीं सकता।

यौग—अपनी आत्मा का जो कार्य है वह अपना ज्ञान है अर्थात् जो अपने आत्मारूप कारण से हुआ है वह अपना ज्ञान है इस तरह से विभाग बन जाता है।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है। कैसे सो बतलाते हैं—समवाय का तो निषेध कर दिया है, इसलिये इस एक विवक्षित आत्मा में ही यह ज्ञान आधेयरूप से उत्पन्न होता है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। यदि ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त होने मात्र से अपना और पराया ऐसा विभाग होता है ऐसा मानोगे तो दिशा, आकाश, काल आदि का भी ज्ञान है, ऐसा कहलावेगा। क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति में उन दिशा आदिकों को भी आपने निमित्त माना है। एक दोष यह भी आवेगा—कि अपना कार्य होने से ज्ञान अपना कहलाता है तो ज्ञान अनित्य बन जावेगा, फिर तो ईश्वर के ज्ञान को भी नित्य नहीं कह सकेंगे। इसलिये ज्ञान स्वयं ही प्रत्यक्ष हो जाता है ऐसा मानना चाहिये। अन्यथा पहिले कहे गये हुए अनवस्था आदि दोष आते हैं।

यौग—ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है तो अनवस्था दोष आता है ऐसा आपने कहा सो ठीक नहीं है, कैसे ? सो समझाते हैं—प्रथम ज्ञान तो पदार्थों को

विधत्वात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; तृतीयज्ञानस्याग्रहणे तेन प्राक्तनज्ञानग्रहणविरोधात्, इतरथा सर्वत्र द्वितीयादिज्ञानकल्पनानर्थक्यं तत्र चोक्तो दोषः।

किञ्च, 'अर्थजिज्ञासायां सत्यामहमुत्पन्नम्' इति तज्ज्ञानादेव प्रतीतिः, ज्ञानान्तराद्वा? प्रथमपक्षे जैनमतसिद्धिस्तथाप्रतिपद्यमानं हि ज्ञानं स्वपरपरिच्छेदकं स्यात्। द्वितीयपक्षेपि 'अर्थज्ञान-

---

जाननेवाला है उसे जाननेवाला दूसरा ज्ञान है, फिर दूसरे को जाननेवाला एक तीसरा ज्ञान आता है, बस फिर अन्य चौथे आदि ज्ञानों की जरूरत नहीं पड़ती है, क्योंकि सबसे पहिले तो पदार्थों को जानने की इच्छा होती है, अतः विवक्षित पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है फिर वह पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान कैसा है इस बात को समझने के लिये दूसरा ज्ञान आता है, इस तरह से प्रतीति भी आती है।

जैन—यह कथन असत् है, क्योंकि इस तरह से आप अनवस्था दोष से बच नहीं सकते, आपने तीन ज्ञानों की कल्पना तो की है, उसके आगे भी प्रश्न आवेंगे कि वह तीसरा ज्ञान भी किसी से ग्रहण हुआ है कि नहीं, यदि नहीं ग्रहण किया है तो उस अगृहीत ज्ञान से दूसरे नं० का ज्ञान जाना नहीं जा सकता, यदि अगृहीत ज्ञान से किसी का जानना सिद्ध होता है तो दूसरे तीसरे ज्ञानों की जरूरत ही क्या है? एक ही ज्ञान से काम हो जावेगा; और इस तरह ईश्वर में एक ज्ञान मान लेते हैं तो उस पक्ष में भी जो दूषण आता है वह आपको हम बता चुके हैं—कि ईश्वर स्वयं के ज्ञान को प्रत्यक्ष किये विना अशेष पदार्थों को जानता है तो हम जैसे पुरुष भी उस ज्ञान के द्वारा संपूर्ण पदार्थों को जान लेगें—सभी सर्वज्ञ बन बैठेंगे।

विशेषार्थ—यौग ज्ञान को स्वसंविदित नहीं मानते हैं अतः इस मत में आचार्यों ने बहुत से दोष दिये हैं, इनके ईश्वर का ज्ञान भी अपने आपको जाननेवाला नहीं है, ईश्वर का ज्ञान अपने को नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता अतः इस दोष को टालने के लिये उसके वे दो या तीन ज्ञान मानते हैं। एक प्रथमज्ञान से पदार्थों को जानना फिर उसे किसी दूसरे ज्ञान से जानना इत्यादि प्रकार की उनकी मान्यता में तो अनवस्था आती है, तथा ज्ञान अपने को अज्ञात रखकर ही वस्तुओं को जानता है तब हर किसी के ज्ञान से कोई भी पुरुष वस्तुओं को जान सकेगा, ऐसी परिस्थिति में हम लोग भी ईश्वर के ज्ञान से संपूर्ण पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ बन जावेंगे। यौग समवाय संबंध से ईश्वर एव समस्त आत्माओं में ज्ञान रहता है ऐसा कहते हैं, अतः यह हमारा

मज्ञातमेव मयार्थस्य परिच्छेदकम्' इति ज्ञानान्तरं प्रतिपद्यते चेत्; तदेव स्वार्थपरिच्छेदकं सिद्धं तथाद्यमपि स्यात् । न प्रतिपद्यते चेत्कथं तथाप्रतिपत्तिः ?

किञ्च, अर्थज्ञानमर्थमात्मानं च प्रतिपद्य 'अज्ञातमेव मया ज्ञानमर्थं जानाति' इति ज्ञानान्तरं

ज्ञान है और यह ईश्वर का या अन्य पुरुष का ज्ञान है इस तरह का भेद बनना जटिल हो जाता है। क्योंकि समवाय और सारी आत्माएँ सर्वत्र व्यापक हैं। ज्ञान यदि स्वयं अप्रत्यक्ष है और पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है तो धूमादि हेतु स्वयं अप्रत्यक्ष–अज्ञात रहकर ही अग्नि आदि साध्य का ज्ञान करा सकते हैं। यौग प्रत्यक्ष आगम, अनुमान और उपमा ऐसे चार प्रमाणों को मानते हैं, सो इनमें से आगम में तो शब्द मुख्यता है। अनुमान हेतु के ज्ञानपूर्वक प्रवर्तता है। उपमा प्रमाण में सादृश्य का बोध होना आवश्यक है। किन्तु जब कोई भी ज्ञान स्वयं अगृहीत या अप्रत्यक्ष रहकर वस्तु को ग्रहण करता है या जानता है तब ये हेतु या शब्द आदिक भी स्वयं अज्ञात स्वरूपवाले रहकर अनुमान या आगमादि प्रमाणों को पैदा कर सकते हैं। किन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिये ज्ञानमात्र चाहे वह हम जैसे अल्पज्ञानी का हो चाहे ईश्वर का हो स्वयं को जाननेवाला ही होता है।

यौग से हम जैन पूछते है कि पदार्थ को जानने की इच्छा होने पर मैं जो अर्थज्ञान हूं सो पैदा हुआ हूं इस प्रकार की प्रतीति होती है वह उसी प्रथमज्ञान से होगी कि अन्यज्ञान से होगी ? यदि उसी प्रथमज्ञान से होती है कहो तो हमारे जैनमत की ही सिद्धि होती है। क्योंकि इस प्रकार अपने विषय में जानकारी रखनेवाला ज्ञान ही तो स्व और पर का जाननेवाला कहलाता है। दूसरा पक्ष — अर्थ जिज्ञासा होने पर मैं उत्पन्न हुआ हूं, ऐसा बोध किसी अन्य ज्ञान से होता है ऐसा माने तो उसमें भी प्रश्न होते हैं कि पदार्थ को जाननेवाला 'यह अर्थज्ञान मेरे द्वारा अज्ञात रहकर ही पदार्थ की परिच्छित्ति करता है" इस तरह की बात को अर्थज्ञान का ज्ञान समझता है या नहीं ? यदि समझता है तो वही सिद्धान्त–स्वपर को जानने का मत–पुष्ट होता है। इस तरह से जो पहिला अर्थज्ञान है, वह भी स्वपर को जाननेवाला हो सकता है। जैसे द्वितीय ज्ञान स्व और पर को जानता है, यदि वह द्वितीयज्ञान "मेरे द्वारा अज्ञात रहकर ही यह अर्थज्ञान अर्थ को जाना करता है" इस प्रकार की प्रतीति से शून्य है तो आप ही बताईए कि इतनी सब बातों को कौन जानेगा और समझेगा कि पहिले पदार्थ को जानने की इच्छा होने से अर्थज्ञान पैदा हुआ है फिर उस ज्ञान को जानने की इच्छा हुई

प्रतीयात्' अप्रतिपद्य वा । प्रथमपक्षे त्रिविषयं ज्ञानान्तरं प्रसज्येत । द्वितीयपक्षे तु अतिप्रसङ्गः 'मयाऽज्ञातमेवाद्दष्टं सुखादीनि करोति' इत्यपि तज्जानीयादविशेषात् ।

अत: द्वितीयज्ञान हुआ इत्यादि ।

यौग से हमारा प्रश्न है कि अर्थज्ञान को, अर्थ को और अपने को जानकर फिर वह द्वितीयज्ञान क्या ऐसी प्रतीति करता है कि मेरे द्वारा अज्ञात रहकर ही यह प्रथम अर्थज्ञान पदार्थ को जानता है यदि ऐसी प्रतीति करता है तो वह ज्ञानान्तर एक प्रथम पदार्थ ज्ञान को दूसरे पदार्थ को और तीसरे अपने आपको इस प्रकार के तीन विषयों को जानने के कारण तीन विषयवाला हो गया, पर ऐसा तीन विषयवाला ज्ञान आपने माना नही है । अत: ऐसा मानने में अपसिद्धान्त का प्रसंग आता है अर्थात् तुम्हारे मान्य सिद्धान्त से विपरीत बात–(ज्ञान में स्वसंविदितता) सिद्ध होती है जो अनिष्टकारी है । दूसरापक्ष–अर्थज्ञान को अर्थ को, और अपने को वह द्वितीय ज्ञान ग्रहण नहीं करता है अर्थात् जानता नहीं है और मेरे द्वारा अज्ञात ही रहकर इस प्रथम ज्ञान ने पदार्थ को जाना है, इस तरह से यदि मानते हो तो अतिप्रसंग होगा, मतलब—यदि प्रथमज्ञान मेरे से अज्ञात रहकर ही पदार्थ को जानता है तो मेरे द्वारा अज्ञात रहकर ही अदृष्ट जो पुण्यपापस्वरूप है वह सुख दु ख को करता है इस प्रकार का ज्ञान भी उसी द्वितीय-ज्ञान से हो जायगा, क्योंकि तीनों को अर्थज्ञान; अर्थ और स्वयं अपने को जानने की जरूरत जैसे वहां नहीं है वैसे यहां भी अपने स्वयं को, अदृष्ट, और सुखादि को जानने की जरूरत भी नहीं होनी चाहिये ।

विशेषार्थ—जब ईश्वर या अन्य पुरुष में तीन ज्ञानों की कल्पना यौग करेंगे तो वहां बड़े आपत्ति के प्रसंग आवेंगे । प्रथमज्ञान पदार्थ को जानता है, उसे दूसरा ज्ञान जानता है और उसे कोई तीसरा ज्ञान जानता है, तब अनवस्था आती है ऐसा तो पहिले ही कह आये हैं, अब दो ज्ञानों की कल्पना भी गलत है, कैसे, सो बताते हैं—प्रथमज्ञान पदार्थ को जानता है फिर उस प्रथमज्ञान को तथा पदार्थ को और अपने आपको इन तीनों को द्वितीयज्ञान जानता है सो ऐसा जानने पर तो वह दूसराज्ञान साक्षात् ही स्वसंविदित बन जाता है; जो स्वसंविदितपना यौगमत में इष्ट नहीं है, यदि दूसराज्ञान इन विषयों को नहीं जानता है तो अज्ञान अदृष्ट आदि भी सुखादि को उत्पन्न करते हैं इस बात को भी मानना चाहिये, इसलिये ज्ञानको स्वसंविदित मानना श्रेयस्कर है ।

नापि शक्तिक्षयात्, ईश्वरात्, विषयान्तरसञ्चारात्, अदृष्टाद्वाऽनवस्थाभावः । न हि शक्तिक्षयाच्चतुर्थादिज्ञानस्यानुत्पत्तेरनवस्थानाभाव । तदनुत्पत्तौ प्राक्तनज्ञानासिद्धिदोषस्य तदवस्थत्वात् । तत्क्षये च कुतो रूपादिज्ञान साधनादिज्ञान वा यतो व्यवहारः प्रवर्त्तेत ? न च चतुर्थादिज्ञानजननशक्तेरेव क्षयो नेतरस्याः; युगपदनेकशक्त्यभावात् । भावे वा तथैव ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः । नित्यस्यापरापेक्षाप्यसम्भाव्या । क्रमेण शक्तिसद्भावे कुतोऽसौ ? न तावदात्मनोशक्तात्, तदसम्भवात् । शक्त्यन्तरकल्पने चानवस्था ।

यदि यौग अपना पक्ष पुनः इस प्रकार से स्थापित करें कि आत्मा दो या तीन ज्ञान से अधिक ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता अतः अनवस्था दोष नहीं आता है, आत्मा में दो तीन ज्ञान से अधिक ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नही है अतः ज्ञानान्तरों को लेकर आने वाली अनवस्था रुक जाती है । तथा ज्ञानान्तरों की अनवस्था को ईश्वर रोकता है अथवा विषयांतर संचार हो जाता है । मतलब—प्रथमज्ञान पदार्थ को जनता है, तब द्वितीयज्ञान उसे जानने के लिये आता है, उसके बाद उस ज्ञान का विषय ही बदल जाता है । अदृष्ट इतना ही है कि आगे आगे अन्यान्य ज्ञान पैदा नही हो पाते है, इस प्रकार शक्ति क्षय, ईश्वर, विषयान्तर संचार और अदृष्ट इन चारों कारणों से चौथे आदि ज्ञान आत्मा में उत्पन्न नही होते है । अब इन पक्षों के विषय में विमर्श करते है—शक्ति का नाश हो जाने से तीन से ज्यादा ज्ञान उत्पन्न नही होते हैं इसलिये अनवस्था दोष नहीं आता है ऐसा पहिला विकल्प मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि यदि चौथाज्ञान उत्पन्न नही होगा तो पहिले के सब ज्ञान सिद्ध नहीं हो पायेगे । क्योकि प्रथमज्ञान दूसरेज्ञान से सिद्ध होना माना गया है और दूसराज्ञान तीसरेज्ञान से सिद्ध होना माना गया है, अब देखिये—तीसरे ज्ञान की सिद्धि किससे होगी, उसके सिद्ध हुए विना दूसराज्ञान सिद्ध नही हो सकता, और दूसरेज्ञान के विना पहिला ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता, ऐसे तीनों ही ज्ञान असिद्ध होंगे । अतः चौथे ज्ञान की जरूरत पड़ेगी ही, और उसके लिये पांचवे ज्ञान की, इस प्रकार अनवस्था तदवस्थ है, उसका अभाव नहीं कर सकते ।

यदि प्रतिपत्ता की शक्ति का क्षय होने से चौथे आदि ज्ञान पैदा नहीं होते हैं—तब रूप, रस, आदि का ज्ञान कैसे पैदा होगा, क्योंकि उस प्रथम ज्ञान को जानने में अन्य दो ज्ञान लगे हुए हैं और उनकी सिद्धि होते होते ही शक्ति समाप्त हो जावेगी, फिर रूपज्ञान, साधनज्ञान आदि ज्ञान किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं हो पावेंगे और इन

ईश्वरस्तां निवारयतीत्यपि बालविलसितम्; कृतकृत्यस्य तन्निवारणे प्रयोजनाभावात्। परोपकारः प्रयोजनमित्यसत्; धर्मिग्रहणाभावस्य तदवस्थत्वप्रसङ्गात्, अप्रतीतेर्निषिद्धत्वाच्चास्य।

न च विषयान्तरसञ्चारात्तन्निवृत्तिः; विषयान्तरसञ्चारो हि धर्मिज्ञानविषयादन्यत्र साधना-

---

ज्ञानों के अभाव में जगत का व्यवहार कैसे प्रवर्तित होगा ? अर्थात् नहीं प्रवर्तित होगा, तुम कहो कि चतुर्थ आदि ज्ञान को पैदा करने की शक्ति का क्षय तो होता है किन्तु रूपज्ञान, साधनज्ञान आदि ज्ञानों को उत्पन्न करने की शक्ति तो रहती ही है उसका क्षय नहीं होता सो ऐसी बात नहीं बनती, क्योंकि एक साथ अनेक शक्तियां नहीं रहती है।

आप यौग जबर्दस्ती कह दो कि रूपज्ञान आदि को उत्पन्न करने की शक्ति रहती ही है, तब तो वे ही पहिले के अपसिद्धान्त होने आदि दोष आते है अर्थात् त्रिविषयवाला ज्ञान का हो जाना या स्वसंविदितता ज्ञान में बन जानी आदि दोष आते हैं। एक बात और सुनिये—आप आत्मा को नित्य मानते हैं, जो नित्य होता है वह अपने कार्य करने में अन्य शक्ति आदि की अपेक्षा नहीं रखता है, इसी बात का खुलासा किया जाता है।

यदि नित्य आत्मा में क्रम से शक्ति का होना माना जाय तो वह शक्ति किस कारण से होती है यह देखना पड़ेगा, यदि कहा जावे कि वह आत्मा से होती है तो ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा तो अशक्त है अतः उससे शक्ति पैदा होना असंभव है, किसी अन्य शक्ति से वह शक्ति पैदा होती है ऐसा स्वीकार किया जाय तो अनवस्थाव्याघ्री खड़ी हो जाती है।

यौग—आनेवाली अनवस्था को ईश्वर रोक देता है ऐसा दूसरा पक्ष यदि स्वीकार करो—तो।

जैन—यह कहना बालक के कहने जैसा है, क्योंकि ईश्वर तो कृत—कृत्य—करने योग्य कार्य को कर चुका है, वह उस अनवस्था को रोकने में कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता है।

यौग—अन्य जीवों का उपकार करना यही उस कृतकृत्य ईश्वर का एक मात्र प्रयोजन है।

दिविषये ज्ञानोत्पत्ति । न च तज्ज्ञानसन्निधानेऽवश्य साधनादिना सन्निहितेन भवितव्यमसिद्धादेर-भावापत्तेः । सन्निहितेपि वा जिघृक्षिते धर्मिण्यगृहीते कथं विषयान्तरे ग्रहणाकाङ्क्षा ? कथं वा तज्ज्ञान-मेकार्थसमवेतत्वेन सन्निहितं विहाय तद्विपरीते दृष्टान्तादौ ज्ञानं जायेत् ?

जैन—यह समाधान असत्य है । प्रथम तो यह बात है कि ईश्वर यदि परोपकार के कारण अनवस्था को रोक भी देवे तो उससे उसका क्या मतलब निकलेगा, क्योंकि धर्मी का ग्रहण अर्थात् जब उस प्रथम अर्थज्ञान को जाननेवाले ज्ञान का ग्रहण ही नहीं होता तो उस पहिले के ज्ञान में असिद्ध होने रूप जो दोष आता था वह तो वैसा का वैसा ही रहा । उसका निवारण तो हो नहीं सका, तथा ऐसी प्रतीति भी नहीं आती कि ईश्वर अनवस्था को रोक देता हो, और तीसरी बात यह भी हो चुकी है कि दूसरे या तीसरे नम्बर के ज्ञान में या तो त्रिविषय को (अर्थज्ञान, अर्थ, और अपने आपको) जानने का प्रसंग आता है या अदृष्ट को भी उस ज्ञान से ग्रहण होने का अतिप्रसंग प्राप्त होता है, इसलिये इस दूसरे नम्बर आदि ज्ञान का निषेध हो जाता है, अब तीसरा पक्ष—विषयान्तर में प्रवृत्ति होने से अनवस्था नहीं आती—अर्थात् तृतीयज्ञान के बाद तो ज्ञानका या आत्मा का पदार्थ को जानने में व्यापार शुरु होता है, अतः चौथे पांचवे आदि ज्ञानो की उत्पत्ति होनेरूप अनवस्थादोष का प्रसंग नहीं आता, सो ऐसा कहना भी गलत है । देखिये—धर्मीज्ञान अर्थज्ञान को जाननेवाला ज्ञान या उसके आगे का तीसरा ज्ञान जो है उसका विषय अर्थज्ञान है, उस विषय को छोड़कर उस विषय से अन्य साधनादि में ज्ञान की उत्पत्ति होना विषयान्तर संचार कहलाता है । ऐसे विषयान्तर में ज्ञानका—तृतीयज्ञान का संचार होना जरूरी नहीं है, मतलब—यह है कि द्वितीयादि ज्ञान के होने पर बाह्य साधनादि का सन्निहित होना अवश्यंभावी नहीं है। क्योंकि ऐसी मान्यता मे असिद्धादि दोषों के अभाव होने की आपत्ति आती है, यदि उनका होना अवश्यंभावी मानते हो तो ऐसा देखा भी नहीं गया है, तथा—धर्मीज्ञानस्वरूप प्रथम द्वितीय (या तृतीय) ज्ञान की सन्निधि में साधनादि रहते हैं ऐसा मान भी लिया जावे तो भी जिसके जानने की इच्छा से वह द्वितीयादि ज्ञान उत्पन्न हुआ वह अर्थज्ञान का ज्ञान तो अभी तक अगृहीत है, अर्थात् चतुर्थादि ज्ञानके द्वारा वह गृहीत नहीं हुआ है, तो अन्य विषय के जानने की उसे इच्छा कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती है, और एक बात यह भी है कि जब धर्मीज्ञानरूप द्वितीयज्ञान है उसके साथ एकार्थरूप आत्मा में समवेतपने से रहनेवाला तीसराज्ञान है सो वह निकट है सो

अदृष्टात्तन्निवृत्तौ स्वसंविदितज्ञानोत्पत्तिरेवातोऽस्तु किं मिथ्याभिनिवेशेन ? तन्न प्रत्यक्षाद्धर्मिसिद्धिः ।

नाप्यनुमानात्; तत्सद्भावावेदकस्य तस्यैवासिद्धेः । सिद्धौ वा तत्राप्याश्रयासिद्ध्यादिदोषोप-

---

उसे छोड़कर वह उससे विपरीत अर्थात् जो एकार्थसमवेत नहीं है ऐसे दृष्टान्तादि में कैसे प्रवृत्त होगा ।

भावार्थ—ज्ञान पदार्थ को जानता है, उसको अन्य दूसरे नम्बर का ज्ञान जानता है, इस प्रकार जब यौग ने कल्पना करी तब आचार्य ने अनवस्थादोष दिया, उस दोष को हटाने के लिये यौग ने चार पक्ष रखे थे, शक्तिक्षय, ईश्वर, विषयान्तर संचार, और अदृष्ट, अर्थात् इन शक्तिक्षयादि होनेरूप कारणों से, दो तीन से अधिक ज्ञान पैदा नहीं होते ऐसा कहा था, इन पक्षों में से तृतीयपक्ष विषयान्तरसंचार पर विचार चल रहा है—आचार्य कहते हैं कि ज्ञान या आत्मा के द्वारा दूसरे विषय के जानने में तभी प्रवृत्ति होती है जब पहिला विषय जिसे जानने की इच्छा पहिले ज्ञान में उत्पन्न हुई है उसे जान लिया जाय, उसके जाने विना दूसरे अन्य विषय में जानने की इच्छा किस प्रकार हो सकती है । अर्थात् नहीं हो सकती, तथा जब पहिला ज्ञान तो जान रहा था उसको जानने के लिये दूसरा ज्ञान प्रवृत्ति कर रहा था, उस द्वितीयज्ञान का विषय तो मात्र वह प्रथम ज्ञान है, अथवा कभी उस द्वितीय ज्ञान को विषय करने वाला तृतीय ज्ञान भी प्रवृत्त होता है ऐसा यौग ने माना है, अतः तीसरा ज्ञान जो कि मात्र द्वितीयज्ञान को जानने में लगा है उस समय अपना विषय जो द्वितीयज्ञान है उससे हटकर वह अन्यविषय जो ज्ञान के कारण बाह्यविषय आदि हैं उन्हें जाननेरूप प्रवृत्ति करे सो ऐसी प्रवृत्ति वह कर नही सकता, यदि कदाचित् कोई कर भी लेवे तो बाह्य विषय निकट हों ही हों ऐसा नियम नहीं है, तथा—क्वचित् बाह्यविषय मौजूद भी रहें तो भी ज्ञान का उसे (उन्हें) ग्रहण करने रूप व्यापार हो नही सकता, देखो—यह नियम है कि "अन्तरंगबहिरंगयोरंतरंगविधिर्बलवान्" अन्तरंग और बहिरंग में से अन्तरंगविधि बलवान् होती है, अतः जब ज्ञानों की परंपरा अपर २ ज्ञानके जानने में लगी हुई है—अर्थात् प्रथम ज्ञान को द्वितीय ज्ञान और द्वितीयज्ञान को तृतीयज्ञान ग्रहण कर रहा है तब उस अन्तरंग ज्ञानविषय को छोड़कर बहिरंग साधनादि विषय में प्रवृत्ति या संचार होना संभव नहीं है, इसलिये विषयान्तर सचार होने से अनवस्था नहीं आवेगी ऐसी यौग की कथनी सिद्ध नहीं होती है ।

निपातः स्यात् । पुनरत्राप्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धावनवस्था । इत्युक्तदोषपरिजिहीर्षया प्रदीपवत्स्वपर-प्रकाशनशक्तिद्वयात्मकं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । तदपह्नवे वस्तुव्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

ननु स्वपरप्रकाशो नाम यदि बोधरूपत्वं तदा साध्यविकलो दृष्टान्तः प्रदीपे बोधरूपत्वस्यासम्भवात् । अथ भासुररूपसम्बन्धित्वं तस्य ज्ञानेऽत्यन्तासम्भवात्कथं साध्यता ? अन्यथा प्रत्यक्षबाध-

---

चौथापक्ष—अदृष्ट इतना ही होनेसे चतुर्थ आदि अधिकज्ञान तृतीयादि ज्ञानों को जानने के लिये उत्पन्न नहीं होते है और इसी कारण से अनवस्था दोष नहीं होता है, अथवा अदृष्ट ही अनवस्था दोष को रोक देता है । सो ऐसा यौग का कहना भी गलत है, यदि अदृष्ट के कारण ही अनवस्था रुकती है अर्थात् अदृष्ट की ऐसी सामर्थ्य है तो वह स्वसंविदित ज्ञान को ही पैदा क्यों नही कर देता, अनवस्थादोष आने पर उसे हटाने की अपेक्षा वह दोष उत्पन्न ही नहीं होने दे अर्थात् प्रथम ही स्व पर को जाननेवाला ज्ञान ही पैदा कर दे यही श्रेयस्कर है, फिर किसलिये यह मिथ्या आग्रह करते हो कि ज्ञान तो अन्यज्ञान से ही जाना जाता है, इस प्रकार यहां तक प्रत्यक्ष-प्रमाण से धर्मी या पक्षस्वरूप जो ज्ञान है उसकी सिद्धि नही होती है यह निश्चित किया, मतलब–शुरु में यौग की तरफ से अनुमान प्रस्तुत किया गया था कि—

"ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् घटादिवत्" इस अनुमान में जो ज्ञान पक्ष है वह तो प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ, अब अनुमानप्रमाण से वही पक्षरूप जो ज्ञान है उसे सिद्ध करना चाहे तो भी वह सिद्ध नहीं होता है ऐसा बताते हैं—धर्मी ज्ञान के सद्भाव को सिद्ध करनेवाला जो अनुमान है वह स्वयं ही असिद्ध है । यदि कोई अनुमान इस ज्ञान को सिद्ध करनेवाला हो तो उसमें जो भी हेतु होगा वह आश्रयासिद्ध आदि दोषों से युक्त होगा, अतः उस हेतु को सिद्ध करने के लिये फिर एक अनुमान उपस्थित करना पड़ेगा, इस तरह से अनवस्थाचमू सामने खड़ी हो जावेगी, इस प्रकार यहां तक ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानने से कितने दोष आते हैं सो बताये–अर्थात् ईश्वर का ज्ञान भी यदि स्वसंवेद्य नही है तो वह ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहता है और उसके ज्ञानको स्वसवेद्य कहते हैं तो प्रमेयत्व हेतु साक्षात् ही अनैकान्तिक दोषयुक्त हो जाता है । तथा सुखसंवेदन के साथ भी यह हेतु व्यभिचरित होता है, इत्यादिरूप से स्थान स्थान पर अनेक दोष सिद्ध किये गये हैं । अतः उन दोषों को दूर करने के लिये यौग को स्व-संवेदनस्वरूपवाला ज्ञान स्वीकार करना चाहिये, जो दो शक्ति युक्त है–अपने को और पर

स्तदप्यसमीचीनम्; तत्प्रकाशो हि स्वपररूपोद्योतनरूपोऽभ्युपगम्यते। स च क्वचिद्बोधरूपतया क्वचित्तु भासुररूपतया वा न विरोधमध्यास्ते।

ननु 'येनात्मना ज्ञानमात्मानं प्रकाशयति येन चार्थों तौ चेत्ततोऽभिन्नौ; तर्हि तावेव न ज्ञानं

पदार्थ को जानने की क्षमता रखता है ऐसा दीपक के समान स्वपर प्रकाशक ज्ञान मानना चाहिये। ज्ञान को स्व और पर को जाननेवाला नहीं मानने—सिर्फ पर को ही जानने वाला मानते हैं तब किसी भी तरह वस्तुव्यवस्था नहीं बन सकती है। क्योंकि ज्ञानका स्वरूप ही यदि विपरीत माना तो उस ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थों का स्वरूप भी किस तरह निर्दोष सिद्ध होगा; अर्थात् नहीं होगा।

शंका—ज्ञान स्वपर को जाननेवाला है इस बात को सिद्ध करने के लिये दीपक का उदाहरण दिया है–सो ज्ञान स्व को और पर को प्रकाशित करता है, यदि यही ज्ञान का स्वरूप है तो प्रदीप का दृष्टान्त साध्यधर्म से विकल हो जाता है। क्योंकि दीपक में बोधपना तो है नहीं, यदि दीपक का उदाहरण भासुरपने के लिये देते हो तो वैसा भासुरपना ज्ञान (दार्ष्टान्त) में नहीं पाया जाता है अत: उसको साध्यपना होना मुश्किल हो जाता है, अन्यथा प्रत्यक्षबाधा आती है।

भावार्थ—दीपक के समान ज्ञान है तो इसका मतलब ज्ञान का धर्म जानना क्या दीपक में है ? नहीं है, उसीप्रकार दीपक का धर्म भासुरपना क्या ज्ञानमें है ? नहीं है, इसलिये दीपक का उदाहरण ठीक नहीं बैठता है ऐसी कोई शंका करे तो इसका समाधान इस प्रकार से है—यहां जो दीपक को दृष्टान्त कोटि में रखा गया है वह इस बात को प्रकट करने के लिये रखा गया है कि जिस प्रकार दीपक को प्रकाशित करने के लिये अन्य दीपक की जरूरत नहीं पड़ती है क्योंकि वह स्वत: प्रकाशशील है और इसी से वह घटपटादिकों का प्रकाशक होता है इसी प्रकार ज्ञान भी स्वत: प्रकाशशील है, उसे अपने आपको प्रकाशित करने के लिये अन्य ज्ञान की जरूरत नहीं होती, दीपक में यह जो प्रकाशपना है वह भासुररूप है और ज्ञान में यह स्वपर को जाननेरूप है। अत: कोई विरोध जैसी बात नहीं है।

अब यहां पर यौग अपना लम्बा चौड़ा वक्तव्य उपस्थित करते हुए कहते हैं कि आप जैन जो ज्ञान को स्व और पर का प्रकाशक मानते हैं सो यह मानना ठीक नहीं है–देखिये–ज्ञान जिस स्वभाव से अपने आपको जानता है और जिस स्व-

तस्य तत्रानुप्रवेशात्तत्स्वरूपवत्, ज्ञानमेव तयोस्तत्रानुप्रवेशात्, तथा च कथं तस्य स्वपरप्रकाशनशक्तिद्वयात्मकत्वम् ? भिन्नौ चेत्स्वसंविदितौ, स्वाश्रयज्ञानविदितौ वा । प्रथमपक्षे स्वसंविदितज्ञानत्रयप्रसङ्गस्तत्रापि प्रत्येक स्वपरप्रकाशस्वभावद्वयात्मकत्वे स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च । द्वितीयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशहेतुभूतयोस्तयोर्यदि ज्ञान तथाविधेन स्वभावद्वयेन प्रकाशकं तर्ह्यनवस्था । तदप्रकाशकत्वे प्रमाणत्वायोगस्तयोर्वा तत्स्वभावत्वविरोध इति' एकान्तवादिनामुपलम्भो नास्माकम्; जात्यन्तरत्वा-

---

भाव से पर पदार्थ को जानता है वे दोनों स्वभाव या शक्तियां ज्ञान से भिन्न हैं कि अभिन्न हैं ? यदि अभिन्न है तो वे दो शक्तियां ही रहेंगी, क्योंकि ज्ञान का तो उनमें ही प्रवेश हो जायगा, जैसे ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान में अनुप्रवेश है । अथवा–एक ज्ञानमात्र ही रह जायगा । क्योंकि दोनों स्वरूप का उसीमें प्रवेश हो जायेगा, इस तरह हो जाने पर ज्ञान स्वपरप्रकाशक स्वभावरूप दो शक्तियों वाला है ऐसा कैसे कह सकेंगे । अर्थात् नहीं कह सकेंगे । दूसरा विकल्प–ज्ञान से स्वपर को जानने की दोनों शक्तियां भिन्न हैं यदि ऐसा मानते हैं, तो उसमें भी प्रश्न उठता है कि वे ज्ञान की शक्तियां स्वसंविदित हैं अथवा अपने आश्रयभूत ज्ञान से ही जानी हुई हैं ? प्रथम पक्ष मानने पर तो एक ही आत्मा में तीन स्वसंविदित ज्ञान मानने पड़ेंगे, तथा–फिर वे एक एक भी स्वसंविदित होने के कारण दो दो शक्तिवाले (स्व और पर के जानने वाले) होने से फिर वही प्रश्नमाला आवेगी कि वे शक्तियां भिन्न हैं कि अभिन्न है इत्यादि । इस प्रकार अनवस्था आती है इस अनवस्था से बचने के लिये यदि दूसरी बात स्वीकार करो कि वे दोनों शक्तियां अपने को जाननेवाली नहीं हैं किन्तु अपने आश्रयभूत ज्ञान से ही वे जानी जाती हैं सो ऐसा कहने पर भी दोष है । कैसे ? सो बताते हैं स्वपर प्रकाशनरूप कार्य में कारणभूत जो दो स्वभाव हैं, उनको ज्ञान यदि उसी प्रकार के दो स्वभावों के द्वारा जानेगा तो अनवस्था साक्षात् ही दिखाई दे रही है । यदि ज्ञान उन दोनों स्वभावों को नहीं जानता है, तब उस ज्ञान में प्रमाणपना नहीं रहता है । अथवा–वे दोनों स्वभाव उस ज्ञान के हैं ऐसा नहीं कह सकेंगे । क्योंकि वे शक्तियां ज्ञान से भिन्न हैं । और ज्ञान उनको ग्रहण भी नहीं करता है । इस प्रकार ज्ञान को स्वसंविदित मानने में कई दोष आते हैं ।

जैन– ऐसा यह लम्बा दोषों का भार उन्हीं के ऊपर है जो एकान्तवादी हठाग्रही हैं । हम स्याद्वादियों के ऊपर यह दोषों का भार नहीं है । हम तो एक भिन्न ही स्वभाववाला ज्ञान मानते हैं । स्वभाव और स्वभाववान् में भेद तथा अभेद के बारे में

त्स्वभावतद्वतोर्भेदाभेदं प्रत्यनेकान्तात् । ज्ञानात्मना हि स्वभावतद्वतोरभेदः, स्वपरप्रकाशस्वभावात्मना च भेद इति ज्ञानमेवाभेदोऽतो भिन्नस्य ज्ञानात्मनोऽप्रतीतेः । स्वपरप्रकाशस्वभावे च भेदस्तद्व्यतिरिक्तयोस्तरप्रतीयमानत्वादित्युक्तदोषानवकाशः। कल्पितयोस्तु भेदाभेदैकान्तयोस्तद्दूषणप्रवृत्तौ सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गात् न कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात् । स्वपरप्रकाशस्वभावो च प्रमाणस्य तत्प्रकाशनसामर्थ्य-

---

हमारे यहां अनेकान्त है । कथंचित्–किसी संज्ञा प्रयोजन आदि की अपेक्षा से स्वभाव और स्वभाववान में (ज्ञान और ज्ञान के स्वभाव में) भेद है तथा–कथंचित् द्रव्य या प्रदेशादि की अपेक्षा से उनमें अभेद भी है । ऐसा एकान्त नियम नहीं है कि वे दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं या सर्वथा अभिन्न ही हैं । ज्ञानपने की अपेक्षा देखा जाय तो स्वभाव और स्वभाववान् में अभेद है और स्व और पर के प्रकाशन की अपेक्षा उनमें भेद भी है । इस तरह से तो वे सब ज्ञान ही हैं, इसलिये ज्ञान को छोड़कर और कोई स्वपर प्रकाशन दिखायी नहीं दे रहा है, ज्ञान स्वयं ही उसरूप है, स्वपर प्रकाशन जो स्वभाव हैं उनमें सर्वथा भेद भी नहीं है । इस प्रकार स्वभाव और स्वभाववान को छोड़कर कोई चीज नहीं है । ज्ञान स्वभाववान् है और स्वपर प्रकाशन उसका स्वभाव है, यह सिद्ध हुआ । इस प्रकार अपेक्षाकृत पक्ष में कोई भी अनवस्था आदि दोष नहीं आते हैं कल्पनामात्र से स्वीकार किये गये जो भेद और अभेद पक्ष हैं अर्थात् कोई स्वभाव या शक्ति से स्वभाववान् या शक्तिमान् को सर्वथा भिन्न ही मानता है, तथा कोई जड़बुद्धि वाला अभेदवादी उन स्वभाव स्वभाववान् में अभिन्नता ही कहता है, उन काल्पनिक एकान्त पक्ष के दूषण सच्चे स्याद्वाद अनेकान्तवाद में नहीं प्रवेश कर सकते हैं । यदि काल्पनिक पक्ष के दूषण सब पक्ष में दिये जायेंगे तो किसी के भी इष्टतत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, ज्ञान या प्रमाण में जो अपने और पर को जानने का सामर्थ्य है वही स्वपर प्रकाशन कहलाता है और यह जो सामर्थ्य है वह परोक्ष है, अपने और पर के जाननेरूप कार्य को देखकर उस सामर्थ्य का अनुमान लगाया जाता है—कि ज्ञान में अपने और पर को जानने की शक्ति है, क्योंकि वैसा कार्य हो रहा है, इत्यादि संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सभी की सामर्थ्य मात्र कार्य से ही जानी जाती है, शक्ति को प्रत्यक्ष से हम जैसे नहीं जान सकते ऐसा सभी वादी और प्रतिवादियोंने स्वीकार किया है, हम जैसे अल्पज्ञानी अन्तरङ्ग आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थ और बहिरंग जड़ स्थूल पदार्थ इन दोनों को पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष नहीं जान सकते हैं । इस विषय में तो किसी भी वादी को विवाद नहीं है । इस तरह ज्ञान के स्वपर प्रकाशक विषय

मेव, तद्रूपतया चास्य परोक्षता तत्प्रकाशनलक्षणकार्यानुमेयत्वात्तयोः । सकलभावानां सामर्थ्यस्य कार्यानुमेयतया निखिलवादिभिरभ्युपगमात् । अर्वाग्दृशां चान्तर्बहिर्वार्थो नैकान्ततः प्रत्यक्ष इत्यत्राखिलवादिनामविप्रतिपत्तिरेवेत्युक्तदोषानवकाशतया प्रमाणस्य प्रत्यक्षताप्रसिद्धे रलं विवादेन ।।

में कुछ भी दोष नहीं आते हैं, वह कथचित् स्वानुभव प्रत्यक्ष भी है यह निर्विवाद सिद्ध हुआ, अब इस विषय में ज्यादा नहीं कहते हैं ।

भावार्थ—नैयायिक वैशेषिक के ज्ञानान्तर वेद्य ज्ञानवाद का यहां पर प्रभाचन्द्र आचार्य ने अपने तीक्ष्ण युक्ति पूर्ण वचनरूपकुठार के द्वारा खण्ड खण्ड कर दिया है, ज्ञान स्व को नही जानता है; दूसरे ज्ञान से ही वह जाना जाता है तो ऐसी स्थिति में उसके द्वारा जाना हुआ पदार्थ अपने लिये अनुभव में नहीं आ सकता है, दीपक स्वयं अप्रकाशित रहकर दूसरों को उजाला दे नहीं सकता है । दर्पण स्वयं दिखाई न देवे और उसमें प्रतिबिम्ब हुआ पदार्थ दिखे, ऐसी बात होना सर्वथा असंभव है । यौग का यह कदाग्रह है कि जो प्रमेय होगा वह अन्य से ही जाना जायगा, सो यह बात सुखसंवेदन के द्वारा कट जाती है, सुखानुभव प्रमेय होकर भी स्वसंविदित है, कहीं सुख दुःख का वेदन पर से ज्ञात होता है क्या ? अर्थात् नहीं । उसी प्रकार ज्ञान भी पर से नहीं जाना जाता, किन्तु स्वयं संवेदित होता है यह सिद्ध हुआ । ज्ञान को स्वपर प्रकाशक मानने में जो अनवस्था दूषण यौग ने उपस्थित किये हैं वे सब हास्यास्पद हैं । अर्थात् ज्ञान में स्व और पर को जानने की जो दो शक्तियां हैं वे ज्ञान से भिन्न हैं तो एक ही आत्मा में तीन स्वसविदित ज्ञान मानने पड़ेंगे, इस तरह अनवस्था होगी, तथा ज्ञान और उन दो शक्तियो को अभिन्न मानें तो या तो ज्ञान रहेगा या शक्तियां रहेंगी इत्यादि दोष दिये थे, किन्तु ऐसे दोष तो सर्वथा भेद या अभेदपक्ष अङ्गीकार करने वालों के ऊपर आते हैं, जैन तो ज्ञान और ज्ञान की उन दोनों शक्तियों को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानते हैं । अतः उनके ऊपर कोई दोष लागू हो ही नही सकता है, ज्ञान में जो स्व पर को जानने की शक्ति है वह कोई इन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेवाली चीज नहीं है वह तो सिर्फ कार्यानुमेय है । अर्थात् स्व और पर को जाननेरूप कार्य को देखकर अनुमान लगाया जाता है कि ज्ञान में स्वपरग्राहकता है । संपूर्णवस्तुओं की शक्तियां अल्पज्ञानी को अनुमानगम्य ही हुआ करती हैं । प्रत्यक्षगम्य

नहीं, ऐसा ही सभी मतवालों ने स्वीकार किया है इस प्रकार अन्त में कहकर आचार्य ने इस ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवाद को समाप्त किया है।

*** ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवाद का प्रकरण समाप्त ***

ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञान के खंडन का सारांश

नैयायिक ज्ञान को दूसरे ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होना मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान प्रमेय है, जो प्रमेय होता है वह दूसरे के द्वारा जाना जाता है, जैसे घट पट आदि प्रमेय होने से अन्य द्वारा जाने जाते हैं।

इस पर आचार्य का कहना है कि यदि ऐसा एकान्त रूप से माना जाय तो महेश्वर के ज्ञान तथा सुखसंवेदनादिक के साथ व्यभिचार आवेगा। अर्थात् महेश्वर का ज्ञान दूसरे ज्ञान से नहीं जाना जाता है, तथा सुखादि भी स्वतः प्रतिभासित होते रहते हैं। यदि कहा जाय कि महेश्वर के दो ज्ञान हैं एक ज्ञान से वह संसार–जगत को जानता है और दूसरे ज्ञान से पहिले ज्ञान को जानता है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे समान जातीय दो ज्ञान एक द्रव्य में एक ही काल में संभव नहीं हैं। तथा–महेश्वर का वह दूसरा ज्ञान भी प्रत्यक्ष है कि अप्रत्यक्ष यदि प्रत्यक्ष है तो वह स्वतः प्रत्यक्ष है या पर से प्रत्यक्ष है? यदि वह स्वतः प्रत्यक्ष है तो प्रथमज्ञान को भी स्वतः प्रत्यक्ष मानना चाहिये।

तथा–एक बात यह भी है कि यदि वे दो ज्ञान महेश्वर से पृथक् हैं तो उनका संबंध किस तरह से होता है? यदि कहो–समवाय से होता है तो यह कहना उचित इसलिये नहीं है कि हम समवाय का खंडन करने वाले हैं। यदि हठाग्रह से उसे मानो तो भी जब वह सर्वत्र समानरूप से व्याप्त होकर रहता है तो यह बात फिर

कैसे बन सकेगी कि वह उन दो ज्ञानों को ईश्वर के साथ ही जोड़ता है अन्य के साथ नहीं जोड़ता ।

अच्छा—एक बात और हम आपसे पूछते हैं कि—वे ज्ञान महेश्वर में ही समवेत हैं—मिले हुए हैं दूसरी जगह पर नहीं इस बात को कौन जानता है ? यदि ईश्वर जानता है तो स्वसंविदितपना ज्ञान में आता है जो कि आप यौग को कडुवा लगता है । यदि ज्ञान के द्वारा "मैं महेश्वर में समवेत हूं" ऐसा जानना होता है तो बात यह है कि महेश्वर का ज्ञान जब खुद को नहीं जानता है तो मैं महेश्वर में समवेत हूँ ऐसा कैसे जान सकेगा ? और ज्ञान की अस्वसंविदित अवस्था में महेश्वर विचारा असर्वज्ञ हो जावेगा, अपने अप्रत्यक्ष ज्ञान से ही संपूर्ण पदार्थ प्रत्यक्ष जानकर उसमें सर्वज्ञता मानो तो सभी प्राणी ऐसे ही सर्वज्ञ हो जावेंगे । फिर ईश्वर और संसारी ऐसे दो भेद ही समाप्त हो जावेंगे ।

एक विशिष्ट बात और ध्यान देने की है कि ज्ञान सामान्य का चाहे वह महेश्वर का हो चाहे हम जैसे का हो एक समान ही स्वपर प्रकाशक स्वभाव है; न कि किसी एक के ज्ञान का ।

यौग का अनुमान में दिया गया प्रमेयत्व हेतु भी असिद्ध है, क्योंकि पक्ष जो ज्ञान है वही अभी सिद्ध नहीं है वह धर्मीरूप ज्ञान प्रत्यक्ष से सिद्ध होगा या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से यदि कहो तो वह इन्द्रियप्रत्यक्ष हो नहीं सकता—क्योंकि इन्द्रियों में ज्ञान को ग्रहण करने की ताकत नहीं है मानसिक प्रत्यक्ष कहो तो वह सिद्ध नहीं होता । युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति आदि रूप जो सूत्र है वह मन को सिद्ध नहीं करता है । क्योंकि एक साथ अनेक ज्ञान होते हैं कि नहीं यही पहिले असिद्ध है । अतः इस हेतु से मन की सिद्धि नहीं हो सकती । आपकी एक युक्ति है कि अपने आप में क्रिया नहीं होती है, अतः ज्ञान अपने आपमें अपने को जाननेरूप क्रिया नहीं करता है, सो यह युक्ति दीपकदृष्टान्त से समाप्त हो जाती है । दीपक अपने आपमें अपने को प्रकाशित करने रूप क्रिया करता है । आपके कहने से "स्वात्मनि क्रियाविरोधः" इस पर हम विचार करेंगे तो यह बताओ—कि स्वात्मा कहते किसे हैं—क्रिया के स्वरूपको या क्रियावान् आत्मा को ? क्रिया का स्वरूप क्रिया में कैसे विरुद्ध हो सकता है ? यदि स्वरूप ही विरुद्ध होने लग जाय तो सारी वस्तुएँ स्वरूपरहित—शून्य हो जावेंगी । "स्वात्मनि क्रिया-

विरोध:" इस आपके वाक्य में क्रिया का अर्थ उत्पत्तिरूप क्रिया से हो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि कोई अपने द्वारा आप पैदा नहीं होता, ऐसी उत्पत्तिरूप क्रिया तो ज्ञान में संभव ही नहीं। क्योंकि वह गुण है, ऐसी क्रिया तो द्रव्य में ही होती है। ज्ञानादि गुणों में नहीं।

आप यौग का ऐसा कहना है कि एक ज्ञान अपने को और पर को दोनों को कैसे जान सकता है ? अर्थात् नहीं जान सकता सो आपके इस कथन में विरोध आता है, क्योंकि आपके आगम में ऐसा लिखा है कि–"सद्सद्वर्गः एकज्ञानालंबनमनेकत्वात्" अर्थात्–सद्वर्गद्रव्यगुणादि और असद्वर्ग प्रागभाव आदि एक ईश्वरज्ञान के आलंबन (विषय) हैं, क्योंकि वे अनेक हैं। सद्वर्ग में गुणनामा पदार्थको लिया है और ज्ञान भी एक गुण है सो द्रव्य, तथा ज्ञानादि गुण एक ही ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं ऐसा कहनेसे तो ज्ञान अपने आपको जाननेवाला सिद्ध होता है।

तथा—पदार्थ को पहिला ज्ञान जानेगा फिर उस ज्ञान को दूसरा तथा उस दूसरे को तीसरा जानेगा, सो ऐसी तीन ज्ञान की परंपरा हो जाती है, तो चौथे पांचवे आदि ज्ञान भी क्यों नही होवेगे। यह एक जटिल प्रश्न है। आपके द्वारा इस संबंधमें दिये गये शक्ति क्षय आदि चारों हेतु गलत हैं। अर्थात् आपने कहा है कि आगे चौथे आदि ज्ञान पैदा करने की आत्मा में ताकत ही नहीं है, सो बात कैसे जचे। क्योंकि शक्ति का क्षय होता हो तो आगे लिंगादि ज्ञान भी जो होते रहते हैं (तीन ज्ञान के बाद भी) वे कैसे होंगे ? इनके नहीं होने पर सांसारिक व्यवहार का अभाव मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। ईश्वर भी आगे की ज्ञानपरंपरारूप अनवस्था को रोक नहीं सकता, क्योंकि यह कृतकृत्य हो चुका है। उसे क्या प्रयोजन है। विषयान्तर संचार तब होता है जब कि ज्ञान ने पहिले विषय को जाना है, किन्तु यहां अभी धर्मी ज्ञान को जाना ही नहीं है। तब विषयान्तर संचार कैसे होगा ? अन्त में जब कुछ सिद्ध न हो पाया तब आपने कहा कि स्वपर दोनों को यदि ज्ञान जानेगा तो उसमें दो स्वभाव मानने पड़ेंगे तथा वे स्वभाव भी उस स्वभाववान् से भिन्न रहेंगे या अभिन्न इत्यादि कुतर्क किये हैं तो उसके बारे में यह जवाब है कि स्वभाव और स्वभाववान् में कथंचित् भेद है तथा कथंचित् अभेद भी है इसका खुलासा करते हैं कि स्वको जाननेवाला ज्ञान और परको जाननेवाला ज्ञान ये दोनों एक ही हैं एक ही ज्ञान स्वपर प्रकाशक

है, उसकी स्वको जाननेकी शक्ति और परको जाननेकी शक्ति उससे अभिन्न है स्व हो चाहे पर हो दोनों में जाननपना समान है अतः इनमें अभेद है। इसतरह ज्ञानत्व स्वरूपकी अपेक्षा अभेद और विषय भेदकी अपेक्षा भेद है ऐसा मानना चाहिये, तथा ऐसा स्वभाववाला ज्ञान आत्मासे कथंचित अभिन्न ऐसा स्वीकार करना चाहिये। तथा ज्ञान की स्वपर प्रकाशनरूप जो शक्ति है वह मात्र परोक्ष है, क्योंकि छद्मस्थ जीव किसी भी गुण की शक्ति को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता सिर्फ उसका कार्य देखकर अनुमान से वह उन्हें जान लेता है। सामर्थ्य कार्यानुमेय है, इस बात को सभी वादी प्रतिवादी स्वीकार करते हैं। इसलिये ज्ञान स्वपर प्रकाशक है यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ।

ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञान के खंडन का सारांश समाप्त

प्रामाण्यवाद का पूर्वपक्ष

मीमांसक "प्रत्येक प्रमाण में प्रमाणता स्वत: ही आती है और अप्रमाण में अप्रमाणता परत: ही आती है" ऐसा मानते हैं। इस स्वत: प्रामाण्यवाद का यहां कथन किया जाता है। प्रत्यक्षप्रमाण आदि ६ हों प्रमाणों में जो सत्यता अर्थात् वास्तविकता है वह स्वत: अपने आपसे है। किसी अन्य के द्वारा नहीं।

"स्वत: सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतो ऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥"

—मीमांसक श्लो० ॥ ४७ ॥ पृ० ४५

अर्थ—सभी प्रमाणों में प्रामाण्य स्वत: ही रहता है, क्योंकि यदि प्रमाण में प्रामाण्य निज का नहीं होवे तो वह पर से भी नहीं आ सकता, जो शक्ति खुद में नहीं होवे तो वह भला पर से किस प्रकार आ सकती है, अर्थात् नहीं आ सकती।

"जाते ऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते।
यावत्कारणशुद्धत्वं न प्रमाणान्तराद्भवेत् ॥ ४९ ॥
तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात्।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ॥ ५० ॥
तस्यापि कारणे शुद्धे तज्ज्ञाने स्यात्प्रमाणता।
तस्याप्येवमितीच्छंश्च न क्वचिद्व्यवतिष्ठते ॥ ५१ ॥

—मीमांसक श्लो० पृ० ४५-४६

जो प्रवादीगण प्रमाणों में प्रमाणता पर से आती है ऐसा मानते हैं उनके मत में अनवस्था दूषण आता है, देखिये—ज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर भी तब तक वह पदार्थ को नहीं जान सकता है, कि जब तक उस ज्ञान के कारणों की सत्यता या विशुद्धि अन्य ज्ञान से नहीं जानी है, अब जब उस विवक्षित ज्ञान के कारण की शुद्धि का निर्णय देनेवाला जो अन्य ज्ञान आया है वह भी अज्ञात कारण शुद्धिवाला है, अत: वह भी पहिले ज्ञान के समान ही है। उसके कारण की शुद्धि अन्य तीसरे ज्ञान से होगी, इस प्रकार कहीं पर भी नहीं ठहरनेवाली अनवस्था आती है। अत: ज्ञान के कारणों

से भिन्न किसी अन्य कारण से ही प्रामाण्य आता है ऐसा मानना सदोष है, यहां कोई ऐसा कहे कि मीमांसक ज्ञान में प्रामाण्य का भले ही स्वतः होना स्वीकार करें, किन्तु उसमें अप्रामाण्य तो परतः होना मानते हैं तो फिर उस परतः अप्रामाण्य में भी तो अनवस्था दोष आवेगा ? सो इस प्रकार की उत्पन्न हुई शंका का समाधान इस प्रकार से है—

"नहि पराधीनत्वमात्रेणानवस्था भवति सजातीयापेक्षायां ह्यनवस्था भवति तेन यदि प्रमाणान्तरायत्तप्रामाण्यवदप्रमाणान्तरायत्तमप्रामाण्यं स्यात्ततः स्यादनवस्था। तत्तु प्रमाणभूतार्थान्यथात्वदोषज्ञानाधीनम्। प्रामाण्यं च स्वतः इति नानवस्था।

—मीमांसक श्लोक ५६ टीका पृ० ४७

अर्थ—जो पर से होवे या पराधीन होवे इतने मात्र से प्रमाण या अप्रमाण में अनवस्था आती है सो ऐसी बात तो है नही। कारण कि अनवस्था का कारण तो सजातीय अन्य अन्य प्रमाण आदि की अपेक्षा होती है। अर्थात् किसी विवक्षित एक प्रमाण का प्रामाण्य अन्य सजातीय प्रामाण्य के आधीन होवे अथवा एक अप्रमाण का अप्रामाण्य अन्य सजातीय अप्रामाण्य के ही आधीन होवे तो अनवस्थादूषण आ सकता है, किन्तु अप्रामाण्य का कारण तो पदार्थ को अन्यथारूप से बतानेवाला दोषज्ञान है जो कि प्रमाणभूत है। प्रमाण में प्रामाण्य तो स्वतः है ही, अतः अप्रामाण्य पर से मानने में अनवस्था नही आती है। ऐसी बात प्रामाण्य के विषय में हो नही सकती, क्योंकि प्रमाण की प्रमाणता बतानेवाला ज्ञान यदि प्रमाणभूत है तो उसमें प्रामाण्य कहा से आया यह बतलाना पड़ेगा, कोई कहे कि उस दूसरे प्रमाण में तो स्वतः प्रामाण्य आया है तो पहिले में भी स्वतः प्रामाण्य मानना होगा, और वह अन्य प्रमाण से आया है ऐसा कहो तो अनवस्था आयेगी ही। यदि उस विवक्षित प्रमाण में प्रामाण्य अन्य प्रमाण से नहीं आकर अप्रमाण से आता है ऐसा कहो तो वह बन नहीं सकता, क्योंकि प्रमाण में प्रामाण्य अप्रमाण से होना असंभव है। कहीं मिथ्याज्ञान से सत्य ज्ञान की सत्यता सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। अतः हम मीमांसक परतः अप्रामाण्य मानते है। इसमें अनवस्था दोष नहीं आता है। और जो जैन आदि प्रवादी प्रामाण्य परतः मानते है उनके यहां पर तो अनवस्थादूषण अवश्य ही उपस्थित होता है। मतलब यह है कि प्रमाण की प्रमाणता पर से सिद्ध होना कहें तो वह पर तो प्रमाणभूत सजातीय ज्ञान ही होना चाहिये, किन्तु अप्रामाण्य के लिये ऐसे सजातीय

ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। किसी अप्रमाणज्ञान की अप्रमाणता उससे भिन्न विजातीय प्रमाणभूत ज्ञान से बतायी जाती है, इसलिये परतः अप्रामाण्य मानने में अनवस्था नहीं आती। प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञप्ति तथा स्वकार्य इन तीनों में भी अन्य की अपेक्षा नहीं हुआ करती है। अर्थात् ज्ञान या प्रमाण की जिन इन्द्रियादि कारणों से उत्पत्ति होती है उन्हीं कारणों से उस प्रमाण में प्रामाण्य भी आता है। ज्ञप्ति अर्थात् जानना भी उन्हीं से होता है, उसमें भी अन्य की आवश्यकता नहीं है। तथा पदार्थ की परिच्छित्तिरूपस्वकार्य में भी प्रामाण्य को पर की अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती है। ये सब स्वतः ही प्रमाण उत्पन्न होने के साथ उसी में मौजूद रहते हैं। अर्थात् प्रमाण इनसे युक्त ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान अर्थापत्ति और अभाव ये सब के सब प्रमाण स्वतः प्रामाण्य को लिये हुए हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण जिन जिन इन्द्रिय, लिङ्ग, शब्द आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं उन्हीं से उनमें प्रामाण्य भी रहता है। यहां पर किसी को शंका हो सकती है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तो प्रामाण्य स्वतः होवे किन्तु आगमप्रमाण में स्वतः प्रामाण्य कैसे हो सकता है, क्योंकि शब्द तो अपनी सत्यता सिद्ध कर नहीं सकते, तथा शब्द की प्रामाणिकता तो गुणवान् वक्ता के ऊपर ही निर्भर है, सो इस शंकाका समाधान इस प्रकार से है—

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितिः ।
तदभावः क्वचित् तावद् गुणवत्वक्तृकत्वतः ॥ ६२ ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे सङ्क्रान्त्यसंभवात् ।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥ ६३ ॥

अर्थ—शब्द में दोष की उत्पत्ति वक्ता के आधीन है। वचन में अस्पष्टता आदि दोष तो वक्ता के निमित्त से होते हैं। वे दोष किसी गुणवान् वक्ता के वचनों में नहीं होते, ऐसा जो मानते हैं सो क्या वक्ता के गुण शब्द में संक्रमित होते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते, इसलिये जहां वक्ता का ही अभाव है वहां दोष रहेंगे नहीं और प्रामाण्य अपने आप आजायगा, इसीलिये तो हम लोग शब्द-आगम को अपौरुषेय मानते हैं, मतलब यह कि शब्द में अप्रामाण्य पुरुषकृत है, जब वेद पुरुष के द्वारा रचा ही नहीं गया है तब उसमें अप्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

चोदना जनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाप्रोक्त्यक्षबुद्धिवत् ॥ १ ॥

—मीमांसा० सूत्र २ श्लोक १८४

अर्थ—चोदना–अर्थात् वेद से उत्पन्न हुई बुद्धि प्रमाणभूत है, क्योंकि यह ज्ञान निर्दोष कारणों से हुआ है । जैसे कि हेतु से उत्पन्न हुआ अनुमान तथा आप्त-वचन और इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वतः प्रामाणिक है, वैसे ही वेदवाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रामाण्य है क्योंकि वेद स्वतः प्रमाणभूत है, इस प्रकार सभी प्रमाण स्वतः प्रामाण्यरूप ही उत्पन्न होते हैं, यह सिद्ध होता है ।

यहां पर कोई प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करता है कि प्रमाणों में प्रामाण्य स्वतः ही होता है यह तो मीमांसक ने स्वीकार किया है, किन्तु जब कोई भी प्रमाण उत्पन्न होता है तब उसी उत्पत्ति के क्षण में तो वह अपने प्रामाण्य को ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि वह तो उसकी उत्पत्ति का क्षण है, इस प्रकार जिसका प्रामाण्य जाना ही नहीं है उसके द्वारा लोक व्यवहार कैसे होवे, सो इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से है—

प्रमाणं ग्रहणात् पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
निरपेक्षं स्वकार्येषु गृह्यते प्रत्ययान्तरैः ॥ ३ ॥

विनैवात्मग्रहणेन प्रमाणं स्वसत्तामात्रेणैव संस्थितं कृत कार्यं भवति अर्थपरिच्छेद करणात् परिच्छिन्ने चार्थे तन्मात्रनिबंधनत्वात् कार्यस्य व्यवहारस्य तत्रापि तात्यापेक्षा एवं कृतकार्ये पश्चात् संजातायां जिज्ञासायामानुमानिकैः प्रत्ययान्तरैर्गृह्यते ।

अर्थ—प्रमाणभूत ज्ञान स्वग्रहण के पहिले स्वरूप में स्थित रहता है । वह तो अपना जानने का जो कार्य है उसके करने में अन्य से निरपेक्ष है । पीछे भले ही अन्य अनुमानादि से उसका ग्रहण हो जाय । मतलब–प्रमाण तो वह है जो पदार्थ को जानने में साधकतम है–करण है । उस साधकतम प्रमाण के द्वारा पदार्थ को जानना यही उसका कार्य है । व्यवहार में भी प्रमाण की खोज या जरूरत पदार्थ को जानने के लिये ही होती है । यह जो अपना उसका अर्थपरिच्छित्तिरूप कार्य है उसको प्रमाण उत्पन्न होते ही कर लेता है, उस कार्य को करने के लिये उसे स्वयं को ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है । अर्थात् कुछ भी आवश्यकता नहीं है । प्रमाण का अर्थपरिच्छित्ति रूप कार्य समाप्त हो जाने पर व्यक्ति को उसके जानने की इच्छा होने से अनुमानों

द्वारा उस प्रमाण का ग्रहण हो जाया करता है ।

"तेनास्य ज्ञायमानत्वं प्रामाण्येनोपयुज्यते ।
विषयानुभवो ह्यत्र पूर्वस्मादेव लभ्यते ॥ ८४ ॥

तेनास्य ज्ञायमानत्वमात्मीयप्रामाण्ये ग्रहीतव्ये नोपयोग्येवेत्याह (तेनेति) । कथं तदज्ञाने तत् प्रामाण्यग्रहणमित्याह (विषयानुभव इति) न ज्ञानसंबंधित्वेन प्रामाण्यं गृह्यते इति ब्रूमः, किन्तु विषयतथात्वं तद्विज्ञानस्य प्रामाण्यं तन्निबन्धनत्वात् ज्ञाने प्रमाणबुद्धिशब्दयोः । तच्चाज्ञातादेव ज्ञानात् स्वतः एव गृहीतमित्यनर्थकं प्रमाणान्तरमिति ।
—मीमां० पृ० ५३–५४

अर्थ—पदार्थ को जाननेवाला प्रमाण है, उसको यदि न जाना जाय तो उसमें प्रामाण्य किस प्रकार समझा जाय सो ऐसा कहना बेकार है, क्योंकि पदार्थ का बोध होना जरूरी है, और वह तो उसी प्रमाण से हो चुका है, हम लोग प्रमाण को स्वव्यवसायी मानते ही नहीं हैं, अतः प्रमाण को वस्तुग्रहण करने के लिये स्वग्रहण की आवश्यकता नहीं है, ज्ञान के संबंध से प्रामाण्यग्रहण होता है ऐसा हम कहते ही नहीं हैं, हम तो विषय अर्थात् पदार्थ का यथार्थ जानना प्रामाण्य है ऐसा स्वीकार करते हैं । पदार्थ का अनुभव करने में ज्ञान कारण है, उस कारण को ही तो प्रमाणशब्द से पुकारते हैं । तथा उसीमें प्रमाणपनेका भान होता है । इस प्रकार कोई भी प्रमाण हो उसमें प्रमाणता लानेके लिए अन्यको जरूरत नहीं रहती है । सब प्रमाण स्वतः ही प्रमाणभूत है यह सिद्ध हुआ ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

अमुमेवार्थं समर्थयमानः कोवेत्यादिना प्रकरणार्थमुपसंहरति ।

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥११॥ प्रदीपवत् ॥१२॥

को वा लो(लौ)किकः परीक्षको वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव प्रमाणदेव तथा प्रत्यक्षप्रकारेण नेच्छेत् ! अपि तु प्रतीति प्रमाणयन्निच्छेदेव । अत्रैवार्थे परीक्षकेतरजनप्रसिद्धत्वात् प्रदीपं दृष्टान्तीकरोति ? तथैव हि प्रदीपस्य स्वप्रकाशतां प्रत्यक्षतां वा विना तत्प्रतिभासिनोर्थस्य

अब ज्ञान के स्वसंविदितपने को पुनः पुष्ट करने के लिये "को वा" इत्यादि सूत्र द्वारा माणिक्यनंदी आचार्य स्वयं इस ज्ञानविषयक विवाद का उपसंहार करते हैं—

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥११॥ प्रदीपवत् ॥१२॥

सूत्रार्थ—कौन ऐसा लौकिक या परीक्षक पुरुष है कि जो ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित हुए पदार्थ को तो प्रत्यक्ष माने और उस ज्ञान को ही प्रत्यक्ष न माने, अर्थात् उसे अवश्य ही ज्ञान को प्रत्यक्ष—मानना चाहिये; चाहे वह सामान्यजन हो चाहे परीक्षकजन हो, कोई भी जन क्यों न हो, जब वह उस प्रमाण से प्रतिभासित हुए पदार्थ का साक्षात् होना स्वीकार करता है तो उसे स्वयं ज्ञान का भी अपने आप प्रत्यक्ष होना स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि प्रतीति को प्रामाणिक माना है जैसी प्रतीति होती है वैसी वस्तु होती है, ऐसा जो मानता है वह ज्ञान में अपने आपसे प्रत्यक्षता होती है ऐसा मानेगा ही । इसी विषय का समर्थन करने के लिये परीक्षक और सामान्य पुरुषों में प्रसिद्ध ऐसे दीपक का उदाहरण दिया जाता है, जैसे दीपक में स्व की प्रकाशकता या प्रत्यक्षता विना उसके द्वारा प्रकाशित किये गये पदार्थों में प्रकाशकता एवं प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार प्रमाण में भी प्रत्यक्षता

प्रकाशकता प्रत्यक्षता वा नोपपद्यते । तथा प्रमाणस्यापि प्रत्यक्षतामन्तरेण तत्प्रतिभासिनोर्थस्य प्रत्यक्षता न स्यादित्युक्तं प्राक् प्रबन्धेनेत्युपरम्यते । तदेव सकलप्रमाणव्यक्तिव्यापि साकल्येनाप्रमाणव्यक्तिभ्यो व्यावृत्तं प्रमाणप्रसिद्धं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणलक्षणम् ।

ननूक्तलक्षणप्रमाणस्य प्रामाण्य स्वतः परतो वा स्यादित्याशङ्क्य प्रतिविधत्ते ।

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥ १३ ॥

तस्य स्वापूर्वार्थेत्यादिलक्षणलक्षितप्रमाणस्य प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव । ज्ञप्तौ स्वकार्ये च स्वतः

हुए विना उसके द्वारा प्रतीत हुए पदार्थ में भी प्रत्यक्षता नहीं हो सकती, इस विषय पर बहुत अधिक विवेचन पहिले कर आये हैं सो अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं । इस प्रकार श्री माणिक्यनंदी आचार्य के द्वारा प्रतिपादित प्रथम श्लोक के अनन्तर ही कहा गया प्रमाण का "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाण" यह लक्षण और उस लक्षण संम्बंधी विशेषणों का सार्थक विवेचन, करने वाले ११ सूत्रों की श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बहुत ही विशद व्याख्या की है, इस विशद विस्तृत व्याख्या से यह अच्छी तरह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रमाण का यह जैनाचार्यद्वारा प्रतिपादित लक्षण प्रमाण के संपूर्ण भेदों में सुघटित होता है, कोई भी प्रमाण चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष हो उन सब में यह लक्षण व्यापक है, अत: अव्याप्ति नामक दोष—(लक्षण दोष)—इसमें नहीं है । जितने जगत में अप्रमाणभूत ज्ञान हैं उनमें या कल्पित सन्निकर्ष, कारकसाकल्य आदि अप्रमाणों मे यह लक्षण नहीं पाया जाता है, अत: अतिव्याप्ति दूषण से भी यह लक्षण दूर है, अत. यह प्रमाणका लक्षण सर्वमान्य निर्दोषलक्षण सिद्ध होता है ।

शंका—ठीक है—आपने स्वपर को जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण माना है, यह तो समझ में आ गया, अब आप यह बतावें उस लक्षणप्रसिद्ध प्रमाण में प्रमाणता स्वत: होती है कि पर से होती है ? ऐसी आशंका के समाधानार्थ अग्रिम सूत्र कहा जाता है—

"तत्प्रामाण्यं स्वत: परतश्च" ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—स्वपर व्यवसायी जो प्रमाण है उसमें प्रमाणता कहीं पर स्वत: होती है और कहीं पर परसे भी होती है । प्रमाण में प्रमाणता की उत्पत्ति तो पर से ही होती है । और उसमें प्रमाणता को जाननेरूप जो ज्ञप्ति है तथा उसकी जो स्व-

परतश्च अभ्यासानभ्यासापेक्षया ।

ये तु सकलप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यं मन्यन्ते तेऽत्र प्रष्टव्याः–किमुत्पत्तौ, ज्ञप्तौ, स्वकार्ये वा स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यं प्रार्थ्यते प्रकारान्तरासम्भवात् ? यद्युत्पत्तौ, तत्रापि 'स्वतः प्रामाण्यमुत्पद्यते' इति कोर्थः ? किं कारणमन्तरेणोत्पद्यते, स्वसामग्रीतो वा, विज्ञानमात्रसामग्रीतो वा गत्यन्तराभावात् । प्रथमपक्षे–देशकालनियमेन प्रतिनियतप्रमाणाधारतया प्रामाण्यप्रवृत्तिविरोधः

कार्यरूप प्रवृत्ति है–अर्थपरिच्छित्ति है वह तो अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में पर से आया करती है ।

मीमांसक का एकभेद जो भाट्ट है वह संपूर्ण प्रमाणों में प्रमाणता स्वतः ही मानता है । उनसे हम जैन पूछते हैं कि उत्पत्ति की अपेक्षा स्वतः प्रमाणता होती है अथवा जाननेरूप ज्ञप्ति की अपेक्षा स्वतः प्रमाणता होती है या प्रमाण की जो स्वकार्य मे (अर्थपरिच्छित्ति में) प्रवृत्ति होती है, उसकी अपेक्षा स्वतः प्रमाणता होती है, इन तीनों प्रकारों को छोड़कर और कोई स्वतः प्रामाण्य का साधक निमित्त नही हो सकता है । यदि उत्पत्ति की अपेक्षा स्वतः प्रामाण्य माना जाय तो उसमे भी यह शंका होती है कि "प्रामाण्य स्वतः होता है" सो इसका क्या अर्थ है ? क्या वह कारण के विना उत्पन्न होता है यह अर्थ है ? या वह अपनी सामग्री से उत्पन्न होता है ? या कि विज्ञानमात्र सामग्री से उत्पन्न होता है यह अर्थ है ? इन तीन प्रकारों को छोड़कर अन्य और कोई 'स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न होता है" इस वाक्य का अर्थ नहीं निकलता है । प्रथमपक्ष के अनुसार कारण के विना ही प्रमाण में प्रमाणता उत्पन्न होती है यही प्रामाण्य का "स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न होना कहलाता है" ऐसा कहो तो देश और काल के नियम से प्रतिनियतप्रमाणभूत आधार से प्रामाण्य की जो प्रवृत्ति होती है वह विरुद्ध होगी, क्योंकि जो स्वतः ही उत्पन्न होता है उसका कोई निश्चित आधार नहीं रहता है, यदि रहता है तब तो वह आधार के विना–अर्थात् कारण के विना उत्पन्न हुआ है ऐसा कह ही नहीं सकते, मतलब–यदि प्रामाण्य विना कारण के यों ही उत्पन्न होता है तो उस प्रामाण्य के सम्बन्ध में यह इसी स्थान के प्रमाण का या इसी समय के प्रमाण का यह प्रामाण्य है ऐसा कह नहीं सकते हैं–दूसरा पक्ष–यदि अपनी सामग्री से उत्पन्न होने को स्वतः प्रामाण्य कहते हो–तब तो इस पक्ष में सिद्धसाध्यता है–(सिद्ध को ही पुनः सिद्ध करना है) क्योंकि विश्व में जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी उत्पत्ति अपनी अपनी सामग्री से ही हुआ करती है,

स्वतो जायमानस्यैवंरूपत्वात्, अन्यथा तदयोगात् । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता, स्वसामग्रीतः सकलभावानामुत्पत्त्यभ्युपगमात् । तृतीयपक्षोप्यविचारितरमणीयः; विशिष्टकार्यस्याविशिष्टकारणप्रभवत्वायोगात् । तथा हि-प्रामाण्यं विशिष्टकारणप्रभवं विशिष्टकार्यत्वादप्रामाण्यवत् । यथैव ह्यप्रामाण्यलक्षणं विशिष्टं कार्यं काचकामलादिदोषलक्षणविशिष्टेभ्यश्चक्षुरादिभ्यो जायते तथा प्रामाण्यमपि गुणविशेषणविशिष्टेभ्यो विशेषाभावात् ।

ज्ञप्तावप्यनभ्यासदशायां न प्रामाण्यं स्वतोऽवतिष्ठते; सन्देहविपर्ययाक्रान्तत्वात्तद्वदेव ।

ऐसा सभी मानते हैं, तीसरापक्ष—विज्ञानमात्र की सामग्री से (अर्थात् प्रमाण की जो उत्पादक सामग्री—इन्द्रियादिक हैं उसी सामग्री से) प्रमाण में प्रामाण्य उत्पन्न होता है, ऐसा माना जाय तो भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि प्रमाण से विशिष्ट कार्य जो प्रामाण्य है उसका कारण अविशिष्ट मानना—(ज्ञान के कारण जैसा ही मानना) अयुक्त है, अर्थात् प्रमाण और प्रामाण्य भिन्न २ कार्य हैं, अतः उनका कारणकलाप भी विशिष्ट—पृथक् होना चाहिये । अब यही बताया जाता है—प्रामाण्य विशिष्ट कारण से उत्पन्न होता है (पक्ष), क्योंकि वह विशिष्ट कार्यरूप है (हेतु), जैसा कि आप भाट्ट के मत में अप्रामाण्य को विशिष्ट कार्य होने से विशिष्टकारणजन्य माना गया है, अतः आप अप्रामाण्यरूप विशिष्टकार्य को काच कामल आदि रोगयुक्त चक्षु आदि इन्द्रियरूप विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होना जैसा स्वीकार करते हैं ठीक उसी प्रकार प्रामाण्य भी विशिष्ट कार्य होने से गुणवान् नेत्र आदि विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होता है ऐसा मानना चाहिये । प्रामाण्य और अप्रामाण्य इन दोनों में भी विशिष्ट कार्यपना समान है, कोई विशेषता नहीं है । इस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है, ऐसा जो प्रथम पक्ष रखा गया है उसका निरसन हो जाता है ।

अब ज्ञप्ति के पक्ष में अर्थात् प्रमाण में प्रामाण्य स्वतः जान लिया जाता है सो इस द्वितीय पक्ष में क्या दूषण है वह बताया जाता है—ज्ञप्ति की अपेक्षा प्रामाण्य स्वतः है ऐसा सर्वथा नहीं कह सकते, क्योंकि अनभ्यासदशा में अपरिचित ग्राम तालाब आदि के ज्ञान में स्वतः प्रमाणता नहीं हुआ करती है, उस अवस्था में तो संशय, विपर्यय आदि दोषों से प्रमाण भरा रहता है, सो उस समय प्रमाण में स्वतः प्रमाणता की ज्ञप्ति कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती ।

भावार्थ—जिस वस्तु को पहिलीबार ज्ञान ग्रहण करता है, या जिससे हम परिचित नहीं हैं वह प्रमाण की [या हमारी] अनभ्यासदशा कहलाती है, ऐसे अन-

अभ्यासदशायां तूभयमपि स्वतः । नापि प्रवृत्तिलक्षणे स्वकार्ये तत्स्वतोऽवतिष्ठते, स्वग्रहणसापेक्षत्वाद-प्रामाण्यवदेव । तद्धि ज्ञातं सन्निवृत्तिलक्षणस्वकार्यकारि नान्यथा ।

ननु गुणविशेषणविशिष्टेभ्य' इत्यु(त्ययु)क्तम्; तेषां प्रमाणतोऽनुपलम्भेनासत्त्वात् । न खलु प्रत्यक्षं तान्प्रत्येतुं समर्थम्; अतीन्द्रियेन्द्रियाप्रतिपत्तौ तद्गुणानां प्रतीतिविरोधात् । नाप्यनुमानम्;

भ्यस्त विषय में प्रामाण्य स्वतः नहीं आता, जैसे–स्वर संबंधी ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति स्वर सुनते ही बता देगा कि यह किस प्राणी का शब्द है । उस समय उस प्राणी को अन्य किसी को पूछना आदिरूप सहारा नहीं लेना पड़ता है, और उसका वह ज्ञान प्रामाणिक कहलाता है, किन्तु उस स्वरविषयक ज्ञान से जो व्यक्ति शून्य होता है उस पुरुष को स्वर सुनकर पूछना पड़ता है कि यह आवाज किसकी है, इत्यादि । अतः अनभ्यास दशा में प्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः नहीं होती, यह सिद्ध हो जाता है । अभ्यास दशा में तो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही ज्ञप्ति की अपेक्षा स्वत होते हैं, यहां तक अभ्यास अनभ्यासदशा संबंधी ज्ञप्ति की अपेक्षा लेकर प्रामाण्य स्वतः और परतः होता है इस पर विचार किया । अब तीसरा जो स्वकार्य का पक्ष है उस पर जब विचार करते है तो प्रमाण का प्रवृत्तिरूप जो कार्य है वह भी स्वतः नहीं होता है । क्योंकि उसमें भी अपने आपके ग्रहण की अपेक्षा हुआ करती है कि यह चांदी का ज्ञान जो मुझे हुआ है वह ठीक है या नहीं ? मतलब–जिस प्रकार भाट्ट अप्रामाण्य के विषय मे मानते हैं कि अप्रामाण्य स्वतः नहीं आता–क्योंकि उसमे पर से निर्णय होता है कि यह ज्ञान काचकामलादि सदोष नेत्रजन्य है अतः सदोष है इत्यादि, उसी प्रकार प्रामाण्य में मानना होगा अर्थात् यह ज्ञान निर्मलता गुण युक्त नेत्र जन्य है अतः सत्य है । अप्रामाण्य जब ज्ञात रहेगा–तभी तो वह अपना कार्य जो वस्तु से हटाना है, निवृत्ति कराना है उसे करेगा, अर्थात् यह प्रतीति असत्य है इत्यादिरूप से जब जाना जावेगा तभी तो जाननेवाला व्यक्ति उस पदार्थ से हटेगा । अन्यथा नहीं हटेगा । वैसे ही प्रामाण्य जब ज्ञात रहेगा तभी उस प्रमाण के विषयभूत वस्तु में प्रामाण्य का प्रवृत्ति-रूप स्वकार्य होगा, अन्यथा नहीं ।

मीमांसकभाट्ट— जैन ने अभी जो कहा है कि गुणविशेषण से विशिष्ट जो नेत्र आदि कारण होते हैं उनसे प्रमाण में प्रामाण्य आता है इत्यादि–सो यह उनका कथन अयुक्त है, क्योंकि प्रमाणसे गुणों की उपलब्धि नही होती है । देखिये–प्रत्यक्षप्रमाण तो गुणों को जान नही सकता, क्योंकि गुण अतीन्द्रिय हैं । प्रत्यक्षप्रमाण अतीन्द्रियवस्तु

तस्य प्रतिबन्धबलेनोत्पत्त्यभ्युपगमात् । प्रतिबन्धश्चेन्द्रियगुणैः सह लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वा । न तावत्प्रत्यक्षेण, गुणाग्रहणे तत्सम्बन्धग्रहणविरोधात् । नाप्यनुमानेन, अस्यापि गृहीतसम्बन्धलिङ्गप्रभवत्वात् । तत्राप्यनुमानान्तरेण सम्बन्धग्रहणेऽनवस्था । प्रथमानुमानेनान्योन्याश्रयः । अप्रतिपन्नसम्बन्धप्रभवं चानुमानं न प्रमाणमतिप्रसङ्गात् ।

को ग्रहण नहीं करता इसलिये वह अतीन्द्रिय गुणों को जान नहीं सकता । अनुमान प्रमाण से भी गुणों का ग्रहण होना कठिन है, क्योंकि अनुमान के लिये तो अविनाभावी लिङ्ग चाहिये, तभी अनुमान प्रवृत्त हो सकता है । इन्द्रियों के गुणों के साथ प्रामाण्यरूप हेतु का अविनाभाव है, यह किसके द्वारा ग्रहण किया जायगा ? अनुमान द्वारा या प्रत्यक्ष द्वारा ? यदि कहो कि प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होता है सो उसके द्वारा अविनाभाव का ग्रहण होना अशक्य है, क्योंकि जब गुणों का ही प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण नहीं होता है तब गुणों का और प्रामाण्य का अविनाभावी संबंध है यह ग्रहण कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता । गुणों का प्रामाण्य के साथ जो अविनाभाव है उसे अनुमान के द्वारा जान लिया जायगा, ऐसा कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह अनुमान भी अपने अविनाभावी हेतु का ग्रहण होनेपर ही प्रवृत्त होता है, अब यदि इस दूसरे अनुमान के अविनाभावी हेतुको जाननेके लिये अनुमानान्तर को लाया जायगा तो अनवस्था स्पष्टरूपसे दिखायी देती है ।

प्रथम अनुमान द्वारा ही द्वितीय अनुमान [प्रथम अनुमान इन्द्रिय गुण और प्रामाण्यके अविनाभावका ग्राहक है और द्वितीय अनुमान उस प्रथम अनुमानका जो हेतु है उसके साध्याविनाभावित्वका ग्राहक है] के हेतुका अविनाभाव जाना जाता है ऐसा कहा जाय तो इस कथनमें अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

यदि—इस अन्योन्याश्रयदोष को हटाने के लिये कहा जाय कि विना अविनाभाव संबंधवाला अनुमान ही इन दोनों के संबंधको ग्रहण कर लेगा—सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अविनाभाव संबंध रहित अनुमान वास्तविक रूप से प्रमाणभूत नहीं माना जाता है । यदि वह अनुमान भी वास्तविकरूप से प्रमाणभूत माना जावे तो हर कोई भी यद्वा तद्वा अनुमान प्रमाणभूत मानना पड़ेगा इस तरह "गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामः तत्पुत्रत्वात्" गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र काला होगा, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, जैसे उसके और पुत्र काले हैं, इत्यादि झूठे अनुमान भी वास्तविक

किञ्च, स्वभावहेतोः, कार्यात्, अनुपलब्धेर्वा तत्प्रभवेत् ? न तावत्स्वभावात्, तस्य प्रत्यक्षगृहीतेर्थे व्यवहारमात्रप्रवर्तनफलत्वाद् वृक्षादौ शिंशपात्वादिवत् । न चात्यक्षाऽक्षाश्रितगुणलिङ्गसम्बन्धः प्रत्यक्षतः प्रतिपन्नः । कार्यहेतोश्च सिद्धे कार्यकारणभावे कारणप्रतिपत्तिहेतुत्वम्, तत्सिद्धिश्चाध्यक्षानुपलम्भप्रमाणसम्पाद्या । न चेन्द्रियगुणाश्रितसम्बन्धग्राहकत्वेनाध्यक्षप्रवृत्तिः, येन तत्कार्यत्वेन कस्यचिल्लिङ्गस्याप्यध्यक्षतः प्रतिपत्तिः स्यात् । अनुपलब्धेस्त्वेवविधे विषये प्रवृत्तिरेव न सम्भवत्यभावमात्रसाधकत्वेनास्या व्यापारोपगमात् ।

बन जावेंगे । क्योंकि हेतु का अपने साध्य के साथ अविनाभाव होना जरूरी नहीं रहा है ।

अच्छा आप जैन यह बताइये कि इन्द्रियगुणों को सिद्ध करनेवाला अनुमान स्वभावहेतु से प्रवृत्त होता है कि कार्य हेतु से प्रवृत्त होता है या कि अनुपलब्धिरूप हेतु से प्रवृत्त होता है ? यदि कहा जाय कि स्वभावहेतु से उत्पन्न हुआ अनुमान गुणों को सिद्ध करता है सो ऐसा कहना ठीक नही—क्योंकि स्वभाव हेतु वाला अनुमान प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ में व्यवहार कराता है, यही इस अनुमान का काम है, जैसे कि जब वृक्षत्वको शिंशपाहेतु से सिद्ध किया जाता है—"वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्" यह वृक्ष है क्योंकि शिंशपा है इत्यादि । तब यह स्वभाव हेतु वाला अनुमान कहलाता है । ऐसे स्वभावहेतु वाले अनुमान से गुणों की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इन्द्रियों के आश्रय में रहनेवाले जो अतीन्द्रिय गुण हैं उन्हें आप प्रामाण्य का हेतु मान रहे हैं, सो इन्द्रिय गुण और प्रामाण्य का जो संबंध है वह प्रत्यक्षगम्य तो है नही, अतः स्वभाव हेतु वाला अनुमान गुणों का साधक है ऐसा कहना बनता नहीं है । यदि कहा जाय कि कार्य हेतु से गुणों का सद्भाव सिद्ध होता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि अभी तक उनमें कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं हुआ है, जब वह सिद्ध हो तब कार्य से कारणों की प्रतिपत्ति होना बने । कार्यकारणभाव की प्रतिपत्ति तो प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुपलब्धि हेतुवाले अनुमान से हो सकती है, किन्तु यहां जो इन्द्रियगुणों के आश्रय में रहनेवाला प्रामाण्य है उनके संबंध को अर्थात् इन्द्रियों के गुण (नेत्रनिर्मलतादि) कारण हैं और उनका कार्य प्रामाण्य है इस प्रकार के संबंध को प्रत्यक्ष प्रमाण तो ग्रहण कर नहीं सकता है, जिससे कि कार्यत्व से किसी हेतु की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष से करली जावे, मतलब यह प्रामाण्यरूप कार्य प्रत्यक्ष हो रहा है अतः इन्द्रियों में अवश्य ही गुण हैं इत्यादि कार्यानुमान तब बने जब इनका अविनाभाव संबंध

न चात्र लिङ्गमस्ति । यथार्थोपलब्धिरस्तीत्यप्यसङ्गतम्; यतो यथार्थत्वायथार्थत्वे विहाय यदि कार्यस्योलब्ध्याख्यस्य स्वरूपं निश्चितं भवेत्तदा यथार्थत्वलक्षणः कार्यविशेषः पूर्वस्मात्कारणकलापादनिष्पद्यमानो गुणाख्यं स्वोत्पत्तौ कारणान्तरं परिकल्पयेत् । यदा तु यथार्थैवोपलब्धिः स्वयो (स्वो)त्पादककारणकलापानुमापिका तदा कथं तद्व्यतिरिक्तगुणसद्भावः? अयथार्थत्वं तूपलब्धेर्विशेषः पूर्वस्मात्कारणसमूहादनुत्पद्यमानः स्वोत्पत्तौ सामग्र्यन्तरं परिकल्पयतीति परतोऽप्रामाण्यं तस्योत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात् ।

प्रत्यक्ष से जान लिया होता, इसलिये यहां पर गुण और प्रामाण्य का कार्यकारणभाव प्रत्यक्षगम्य नहीं है यह निश्चित हुआ । अनुपलब्धि हेतु से गुण और प्रामाण्य का कारणकार्यभाव जानना भी शक्य नहीं है, क्योंकि अनुपलब्धि तो मात्र अभाव को सिद्ध करती है । इस तरह के विषय में तो अनुपलब्धि की गति ही नही है । यहां पर घट नही है क्योंकि उसकी अनुपलब्धि है इत्यादिरूप से अनुपलब्धि की प्रवृत्ति होती है, इसका इसके साथ कारणपना या कार्यपना है ऐसा सिद्ध करना अनुपलब्धि के वश की बात नहीं है ।

जैन "इन्द्रियोके गुणों से प्रामाण्य होता है, [प्रमाण में प्रामाण्य आता है] ऐसा मानते हैं किन्तु इन्द्रियगत गुणों को बतलाने वाला कोई हेतु दिखाई नहीं देता है । कोई शका करे कि जैसी की तैसी पदार्थों की उपलब्धि होना ही गुणों को सिद्ध करने वाला हेतु है ? सो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि यथार्थरूप कार्य और अयथार्थरूप कार्य इन दोनों प्रकारके कार्यों को छोड़कर अन्य तीसरा उपलब्धि नामका कार्यत्व सामान्य का स्वरूप निश्चित होवे तो यथार्थ जाननारूप जो कार्य विशेष है वह पहिले कहे गये कारणकलाप (विज्ञानमात्र की इन्द्रियरूप सामग्री) से पैदा नहीं होता है इसलिये वह अपनी उत्पत्ति में अन्यगुण नामक कारणान्तर की अपेक्षा रखता है इत्यादि बात सिद्ध होवे, किन्तु हमें इन्द्रियादि से यथार्थरूप पदार्थ की उपलब्धि होती है जो कि अपने उत्पादक कारणसमूह का ही अनुमान करा रही है तो फिर उस कारणसमूह से पृथक् गुणों का सद्भाव क्यों माने ? इन्द्रिय से यथार्थरूप पदार्थ का ग्रहण हो जाता है अतः वह इन्द्रियों को ही अपना कारण बतावेगा, उन्हें छोड़ कर अन्य को कारण कैसे बतायेगा ? इस तरह पदार्थ का यथार्थ ग्रहणरूप कार्य तो अपने सामान्यकारण को बताता है यह निश्चित हो जाता है । अब अयथार्थरूप से पदार्थ की उपलब्धि होनारूप जो कार्य है उस पर विचार करना है, यदि अयथार्थरूपसे पदार्थ

न चेन्द्रिये नैर्मल्यादिरेव गुणः; नैर्मल्यं हि तत्स्वरूपम्, न तु स्वरूपाधिको गुणः तथा व्यपदेशस्तु दोषाभावनिबन्धनः। तथाहि–कामलादिदोषासत्त्वान्निर्मलमिन्द्रियं तत्सत्त्वे सदोषम्। मनसोपि निद्राद्यभावः स्वरूपं तत्सद्भावस्तु दोषः। विषयस्यापि निश्चलत्वादिस्वरूपं चलत्वादिस्तु दोषः। प्रमातुरपि क्षुधाद्यभावः स्वरूपं तत्सद्भावस्तु दोषः।

न चैतद्वक्तव्यम्–'विज्ञानजनकानां स्वरूपमयथार्थोपलब्ध्या समधिगतम् यथार्थत्वं तु पूर्वस्मा-

---

की उपलब्धि होती है तो वह पूर्वकथित जो इन्द्रियरूप कारणकलाप है उससे नहीं होती है, उसके लिये तो अन्य ही कारणकलाप चाहिये, इस प्रकार अप्रामाण्य तो परापेक्ष है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति में दोषों की अपेक्षा होती है। दूसरी एक बात यह है कि इन्द्रियमें जो निर्मलपना है वह तो उसका स्वरूप है, स्वरूप से अधिक कोई न्यारा गुण नहीं है, इन्द्रिय के स्वरूप को जो कोई "गुण" ऐसा नाम कहकर पुकारते भी हैं सो ऐसा कहने में निमित्त कारणके दोषों का अभाव है, अर्थात् जब इन्द्रियों में दोषों का अभाव हो जाता है तब लोग कह देते हैं कि इस इन्द्रिय में निर्मलतारूप गुण है इत्यादि। इसी बात को सिद्ध करके प्रकट किया जाता है–जब नेत्र में पीलिया–कामला आदि रोग या काच बिन्दु आदि दोष नहीं होते हैं–तब नेत्र इन्द्रिय निर्मल है ऐसा कहते हैं, तथा–जब ये कामलादि दोष मौजूद रहते हैं तब उस इन्द्रिय को सदोष कहते हैं, जैसा चक्षु इन्द्रिय में घटित किया वैसा ही मन में भी घटित कर सकते हैं। देखो–मन का स्वरूप है–निद्रा आलस्य आदि का होना, और इससे विपरीत उन निद्रा आदि का होना वह दोष है, उसके सद्भाव में मन सदोष कहलावेगा, और इसी तरह प्रमेय का निश्चल रहना, निकटवर्ती रहना इत्यादि तो स्वरूप है और इससे उल्टा अस्थिर होना, दूर रहना इत्यादि दोष है। तथा–जाननेवाला जो व्यक्ति है उसका अपना स्वरूप तो क्षुधा आदि का न होना, शोक आदि का न होना है, और इन पीड़ा आदि का सद्भाव दोष है। इस प्रकार इन्द्रिय, विषय, मन और प्रमाता इनका अपने अपने स्वरूप में रहना स्वरूप है, और इनसे विपरीत होना–रहना वह दोष है और वे दोष ही अप्रामाण्य का कारण हुआ करते हैं, यह बात सिद्ध हुई। कोई इस तरह से कहें कि विज्ञान को उत्पन्न करनेवाली जो इन्द्रियां हैं उनका स्वरूप तो अयथार्थरूप से हुई पदार्थ की उपलब्धि से जान लिया जाता है और पदार्थ की वास्तविक उपलब्धि तो पूर्व कथित इन्द्रियरूप कारण से उत्पन्न नहीं होकर अन्य गुण नामक सामग्री से होती है? [अर्थात् पदार्थ का असत्यग्रहण इन्द्रिय के स्वरूप से होता है और सत्यग्रहण

त्कारणकलापादनुत्पद्यमानं गुणाख्यं सामग्र्यन्तरं परिकल्पयति' इति; यतोऽत्र लोकः प्रमाणम् । न चात्र मिथ्याज्ञानात्कारणस्वरूपमात्रमेवानुमिनोति किन्तु सम्यग्ज्ञानात् ।

किञ्च, अर्थतथाभावप्रकाशनरूपं प्रामाण्यम्, तस्य चक्षुरादिसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्त्युपगमे विज्ञानस्य स्वरूपं वक्तव्यम् । न च तद्व्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं पश्यामो येन तदुत्पत्तावप्यनुत्पन्नमुत्तरकाल तत्रैवोत्पत्तिमदभ्युपगम्यते प्रामाण्यं भित्ताविव चित्रम् । विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्तौ व्यतिरिक्तसामग्रीतश्चोत्पत्त्यभ्युपगमे विरुद्धधर्माध्यासात्कारणभेदाच्च तयोर्भेदः स्यात् ।

इन्द्रिय के गुण से होता है] सो इस प्रकार की विपरीत कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि इस विषय में तो लोक ही प्रमाण है, [लोक में जैसी मान्यता है वही प्रमाणिक बात है] लोक में ऐसा नहीं मानते हैं कि मिथ्याज्ञान से चक्षु आदि इन्द्रियों का स्वरूप ही अनुमानित किया जाता है अर्थात्—मिथ्याज्ञान इन्द्रियों के स्वरूप से होता है ऐसा कोई नहीं मानता है, सब ही लोक इन्द्रियों के स्वरूप से सम्यग्ज्ञान होना मानते हैं। सम्यग्ज्ञानरूप कार्य से इन्द्रियस्वरूप कारण का अनुमान लगाते हैं कि यह सम्यग्ज्ञान जो हुआ है वह इन्द्रिय–स्वरूप की वजह से हुआ है इत्यादि, अतः इन्द्रिय का स्वरूप अयथार्थउपलब्धि का कारण है ऐसा जैन का कहना गलत ठहरता है।

इस बात पर विचार करे कि प्रामाण्य तो पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा ही उसका प्रकाशन करनेरूप होता है अर्थात् प्रमाण का कार्य पदार्थ को यथार्थरूप से प्रतिभासित कराना है, यही तो प्रमाण का प्रामाण्य है, यदि ऐसा प्रामाण्य है, यदि ऐसा प्रामाण्य चक्षु आदि इन्द्रिय सामग्री से विज्ञान के उत्पन्न होने पर भी उत्पन्न नहीं होता है तो इसके अतिरिक्त विज्ञान का और क्या स्वरूप है वह तो आप जैनों को बताना चाहिये ? क्योंकि इसके अतिरिक्त उसका कोई स्वरूप हमारी प्रतीति में आता नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रामाण्य ही उस विज्ञान या प्रमाण का स्वरूप है, उससे अतिरिक्त और कोई प्रामाण्य हमें प्रतीत नहीं होता कि जिससे वह प्रमाण के पैदा होने पर भी उत्पन्न नहीं हो; और उत्तरकालमें उसी में वह भित्ति पर चित्र की तरह पैदा हो।

भावार्थ—प्रमाण अपनी कारणसामग्रीरूप इन्द्रियादि से उत्पन्न होता है और पीछे से उन इन्द्रियों के गुणादिरूप कारणों से उसमें प्रमाणता आती है जैसा कि दीवाल के बन जाने पर उसमें चित्र बनाया जाता है सो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि

किञ्च, अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा शक्तिः प्रामाण्यम्, शक्तयश्च भावानां सत(स्वत) एवोत्पद्यन्ते नोत्पादककारणाधीनाः। तदुक्तम्—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७]

न चैतत्सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते; किन्तु यः कार्यगतो धर्मः कारणे समस्ति स कार्यवत्तत एवोदयमासादयति यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपादयो घटेपि मृत्पिण्डादुपजायमाने मृत्पिण्ड-

---

यदि ज्ञानकी उत्पत्ति के अनंतर प्रमाणता आती है और ज्ञान के उत्पादक कारणों से उसमें प्रामाण्य नहीं आता है अन्य कारण से आता है, ऐसा कहा जाय तो यह कहना दिवाल के बननेके बाद उस पर चित्र बनाया जाता है उसके समान होगा अर्थात् दोनों का समय और कारण पृथक् पृथक् सिद्ध होगा।

तथा प्रमाण की उत्पत्ति होने पर भी प्रमाणता उत्पन्न नहीं होती है और प्रमाण के कारणकलाप के अतिरिक्त कारण के द्वारा वह पैदा होती है इस प्रकार स्वीकार किया जाय तो ज्ञानरूप प्रमाण और प्रामाण्य में विरुद्ध दो धर्म–उत्पन्नत्व और अनुत्पन्नत्व पैदा हो जाने से एवं प्रमाण और प्रामाण्य के कारणों में भेद हो जाने से प्रमाण और प्रामाण्य में महान् भेद पड़ेगा ? [जो किसी भी वादी प्रतिवादी को इष्ट नहीं है]।

जैन को एक बात और यह समझानी है कि ज्ञान में पदार्थ को जैसा का तैसा जाननेरूप जो सामर्थ्य है वही प्रामाण्य है सो ऐसी जो शक्तियां पदार्थों में हुआ करती हैं वे स्वतः ही हुआ करती हैं, उनके लिये अन्य उत्पादक कारण की जरूरत नहीं होती है, कहा भी है—विश्व में जितने भी प्रमाण हैं उनमें प्रामाण्य स्वतः ही रहता है ऐसा बिलकुल निश्चय करना चाहिये, क्योंकि जिनमें स्वतः वैसी शक्ति नहीं है तो अन्य कारण से भी उसमें वह शक्ति आ नहीं सकती, ऐसा नियम है, इस मीमांसा-श्लोकवार्त्तिक के श्लोक से ही निश्चय होता है कि प्रमाण में प्रामाण्यभूत शक्ति स्वतः है। यदि कोई ऐसी आशंका करे कि इस तरह मानने में तो सांख्य के सत्कार्यवाद का प्रसंग आता है ? सो इस तरह की शंका करना भी ठीक नहीं है, इस विषय को हम अच्छी तरह से उदाहरण पूर्वक समझाते हैं, सुनिये ! कार्य में जो स्वभाव रहता है

रूपादिद्वारेणोपजायन्ते। ये तु कार्यधर्माः कारणेष्वविद्यमाना न ते ततः कार्यवत् जायन्ते किन्तु स्वत एव, यथा तस्यैवोदकाहरणशक्तिः। एवं विज्ञानेप्यर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिश्चक्षुरादिष्वविद्यमाना तेभ्यो नोदयमासादयति किन्तु स्वत एवाविर्भवति। उक्तं च —

"आत्मलाभे हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु॥"
[मी॰ श्लो॰ सू॰ २ श्लो॰ ४८]

यथा–मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।
उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षा न विद्यते"॥ [ ]

वह उसमें अपने कारण से आता है कार्य जैसे ही कारण से उत्पन्न हुआ कि साथ ही वे स्वभाव उसमें उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड में रूप आदि गुण हैं वे घटरूप कार्य के उत्पन्न होते ही साथ के साथ घटरूप कार्य में आ जाते हैं। कोई कोई कार्य के स्वभाव ऐसे भी होते हैं कि जो कारणों में नहीं रहते हैं, ऐसे कार्य के वे गुण उस कारण से पैदा न होकर स्वतः ही उस कार्य में हो जाया करते हैं। जैसे कार्यरूप घट में जल को धारण करने का गुण है वह सिर्फ उस घटरूप कार्य का ही निजस्वभाव है, मिट्टीरूप कारण का नहीं। जैसे यहां मिट्टी और घट की बात है वैसे विज्ञान की बात है, विज्ञान में भी पदार्थ को जैसा का तैसा जाननेरूप जो सामर्थ्य है वह उसके कारणभूत चक्षु आदि में नहीं है, अतः वह शक्ति चक्षु आदि से पैदा न होकर स्वतः ही उसमें प्रकट हो जाया करती है। यहीं बात अन्यत्र कही है–पदार्थ उत्पत्ति मात्र में कारणों की अपेक्षा रखते हैं, जब वे पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुकते हैं तब उनकी निजी कार्य में प्रवृत्ति तो स्वयं ही होती है। मतलब–पदार्थ या घटरूप कार्य मिट्टीकारण से सम्पन्न हुआ अब उस घट का कार्य जो जल धारण है वह तो स्वयं घट ही करेगा, उसके लिये मिट्टी क्या सहायक बनेगी ? अर्थात् नहीं। इसी विषय का खुलासा कारिका द्वारा किया गया है–मिट्टी का पिण्ड, दंड, कुम्हार का चक्र इत्यादि कारण घट की उत्पत्ति में जरूरी हैं, किन्तु घट के जल धारण करनेरूप कार्य में तो मिट्टी आदि कारणों की अपेक्षा नहीं रहती है। ऐसे अनेक उदाहरण हो सकते हैं कि कार्य निष्पन्न होने पर फिर अपने कार्य के संपादन में वह कारण की अपेक्षा नहीं रखता है।

चक्षुरादिविज्ञानकारणादुपजायमानत्वात्तस्य परतोऽभिधाने तु सिद्धसाध्यता । अनुमानादिबुद्धिस्तु गृहीताविनाभावादिलिङ्गादेरुपजायमाना प्रमाणभूतैवोपजायतेऽतोऽत्रापि तेषां न व्यापारः । तन्नोत्पत्तौ तदन्यापेक्षम् ।

नापि ज्ञप्तौ, तद्धि तत्र किं कारणगुणानपेक्षते, संवादप्रत्ययं वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; गुणानां प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वेन प्रागेवासत्त्वप्रतिपादनात् । संवादज्ञानापेक्षाप्ययुक्ता; तत्खलु समानजा-

---

जैन का कहना है कि चक्षु आदि जो ज्ञान के कारण हैं उन कारणों से प्रामाण्य पैदा होता है अतः हम प्रामाण्य को पर से उत्पन्न हुआ मानते हैं सो ऐसा मानने में हम भाट्टों को कोई आपत्ति नहीं है, हम भी तो ऐसा ही सिद्ध करते हैं । प्रत्यक्षप्रमाण के प्रामाण्य में जो बात है वही अनुमानादि अन्य प्रमाणों में है । अनुमान प्रमाण साध्य के साथ जिसका अविनाभाव संबंध गृहीत हो चुका है ऐसे अविनाभावी हेतु से प्रमाणभूत ही उत्पन्न होता है । ऐसे ही आगमप्रमाण आदि जो प्रमाण हैं वे सभी प्रमाण अपने २ कारणों से प्रामाण्यसहित ही उत्पन्न होते हैं । इसलिये इन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, आदि प्रमाणों में प्रामाण्य उत्पन्न कराने के लिये गुण चाहिये क्योंकि गुणों से ही प्रामाण्य होता है इत्यादि कहना गलत है । इस तरह प्रामाण्य की उत्पत्ति अन्य की अपेक्षा से होती है ऐसा उत्पत्ति का प्रथम पक्ष असिद्ध हो जाता है । इसी तरह ज्ञप्ति के पक्ष पर भी जब हम विचार करते हैं तो वहां पर भी उसे अन्य की अपेक्षा नही रहती है । ऐसा सिद्ध होता है । प्रामाण्य की ज्ञप्ति में अन्य कारण को अपेक्षा होती है ऐसा जैन स्वीकार करते हैं सो उनसे हम पूछते हैं कि वह अन्य कारण कौन है ? कारण (इन्द्रिय) के गुण हैं ? या संवादक ज्ञान है ? कारण के गुणों की अपेक्षा है ऐसा प्रथमपक्ष मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अभी २ हमने यह सिद्ध कर दिया है कि गुणों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण नहीं होता है, अतः वे असत्रूप ही हैं । द्वितीय विकल्प प्रामाण्य अपनी ज्ञप्ति में संवादक ज्ञान की अपेक्षा रखता है ऐसा कहना भी बेकार है, यही प्रकट किया जाता है, ज्ञप्तिमें संवादक ज्ञान की अपेक्षा रहती है ऐसा कहा सो वह संवादकज्ञान समानजाति का है ? या भिन्न जाति का है ? समानजातीय संवादकज्ञान को ज्ञप्ति का हेतु माना जावे तब भी प्रश्न पैदा होता है कि वह समानजातीय संवादकज्ञान एकसंतान से [उसी विवक्षित पुरुष से] उत्पन्न हुआ है ? अथवा दूसरे संतान से उत्पन्न हुआ है ? दूसरे संतान से उत्पन्न हुआ संवादक-ज्ञान इस विवक्षित प्रामाण्य का हेतु बन नहीं सकता, यदि बनेगा तो देवदत्त के घट

तीयम्, भिन्नजातीयं वा ? प्रथमपक्षे किमेकसन्तानप्रभवम्; भिन्नसन्तानप्रभवं वा ? न तावद्भिन्नसन्तानप्रभवम्; देवदत्तघटज्ञाने यज्ञदत्तघटज्ञानस्यापि संवादकत्वप्रसङ्गात् । एकसन्तानप्रभवमप्यभिन्नविषयम्, भिन्नविषयं वा ? प्रथमविकल्पे संवाद्यसंवादकभावाभावोऽविशेषात् । अभिन्नविषयत्वे हि यथोत्तरं पूर्वस्य संवादकं तथेदमप्यस्य किन्न स्यात् ? कथं चास्य प्रमाणत्वनिश्चयः ? तदुत्तरकालभाविनोऽन्यस्मात् तथाविधादेवेति चेत्, तर्हि तस्याप्यन्यस्मात्तथाविधादेवेत्यनवस्था । प्रथमप्रमाणात्तस्य प्रामाण्यनिश्चयेऽन्योन्याश्रयः । भिन्नविषयमित्यपि वार्त्तम्; शुक्तिशकले रजतज्ञानं प्रति उत्तर-

---

ज्ञान में यज्ञदत्त के घट ज्ञान से प्रमाणता आने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि अन्य संतान का ज्ञान अपने प्रामाण्य में संवादक बनना आपने स्वीकार किया है अब दूसरे विकल्प की अपेक्षा विचार करते हैं कि प्रामाण्य में संवादकज्ञान कारण है वह अपना एक ही विवक्षितपुरुष संबंधी है सो ऐसा मानने पर फिर यह बताना पड़ेगा कि वह एक ही पुरुष का संवादक ज्ञान प्रामाण्य के विषय को ही ग्रहण करनेवाला है कि भिन्नविषयवाला है ? यदि कहा जावे कि प्रामाण्य का विषय और संवादक ज्ञान का विषय अभिन्न है तो संवाद्य और संवादक भाव ही समाप्त हो जावेगा—क्योंकि दोनों एक को ही विषय करते हैं । जहां अभिन्नविषयवाले ज्ञान होते हैं वहां उत्तरकालीन ज्ञान पूर्व का संवादक है ऐसा कह नहीं सकते, उसमें तो पूर्वज्ञान का संवादक जैसे उत्तरज्ञान है वैसे ही उत्तरज्ञान का संवादक पूर्वज्ञान भी बन सकता है । कोई विशेषता नहीं आती है । हम जैनसे पूछते हैं कि यदि प्रामाण्य, संवादकज्ञान की अपेक्षा रखता है तो उस संवादकज्ञान में भी प्रामाण्य है उसका निश्चय कौन करता है ? उत्तरकालीन अन्य कोई उसी प्रकारका ज्ञान उस संवादकज्ञान में प्रामाण्य का निर्णय करता है ऐसा कहा जाय तो अनवस्था आती है, क्योंकि आगे आगे के संवादक ज्ञानों में प्रामाण्य के निर्णय के लिये अन्य २ संवादकज्ञानों की अपेक्षा होती ही जायगी । अनवस्था को दूर करने के लिये प्रथमज्ञान से संवादकज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होता है ऐसा स्वीकार करो तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा, क्योंकि प्रथमज्ञान से उत्तरके संवादकज्ञान में प्रमाणता का निर्णय और उत्तरज्ञान की प्रमाणता से प्रथम ज्ञान में प्रामाण्य का निर्णय होगा, इस तरह किसी का भी निर्णय नहीं होगा । प्रामाण्य को अपना निर्णय करने के लिये जिसकी अपेक्षा रहती है ऐसा वह संवादक ज्ञान यदि भिन्न ही विषयवाला है ऐसा दूसरा पक्ष मानो तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में क्या दोष आता है यह हम बताते हैं—प्रामाण्य का विषय और संवादक

कालभाविशुक्तिकाशकलज्ञानस्य प्रामाण्यव्यवस्थापकत्वप्रसङ्गात् ।

नापि भिन्नजातीयम्; तद्धि किमर्थक्रियाज्ञानम्, उतान्यत् ? न तावदन्यत्; घटज्ञानात्पटज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयप्रसङ्गात् । नाप्यर्थक्रियाज्ञानम्; प्रामाण्यनिश्चयाभावे प्रवृत्त्याभावेनार्थक्रियाज्ञानाघटनात् । चक्रकप्रसङ्गश्च । कथं चार्थक्रियाज्ञानस्य तन्निश्चयः ? अन्यार्थक्रियाज्ञानाच्चे दनवस्था । प्रथमप्रमाणाच्चे दन्योन्याश्रयः । अर्थक्रियाज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यनिश्चयोपगमे चाद्यस्य तथाभावे किंकृतः प्रद्वेषः ? तदुक्तम्—

ज्ञान का विषय एक तो है नहीं पृथक् है, और फिर भी वह संवादकज्ञान प्रामाण्य की व्यवस्था कर देता है तब तो सीप के टुकड़े में हुए रजतज्ञान के प्रति उत्तरकाल में सीप में सीप का ज्ञान होता है वह प्रामाण्य का व्यवस्थापक है ऐसा मानना होगा, क्योंकि उसमें भिन्नविषयता तो है ही । अतः भिन्नविषयवाला सजातीय संवादकज्ञान प्रामाण्य की ज्ञप्ति में कारण है ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है ।

अब भिन्न जातीय संवादकज्ञान प्रामाण्य की ज्ञप्ति में कारण है ऐसा मानो तो क्या दोष है यह भी हम प्रकट करते हैं—भिन्नजातीय संवादकज्ञान कौन सा है—क्या वह अर्थक्रिया का ज्ञान है ? या और कोई दूसरा ज्ञान है ? मतलब यह है—कि प्रमाण ने "यह जल है" ऐसा जाना अब उस प्रमाण की प्रमाणिकता को बताने के लिये संवादक ज्ञान आता है । ऐसा जैन कहते हैं सो बताओ कि वह ज्ञान किसको जानता है ? उसी जलकी अर्थक्रिया को जो कि स्नान पान आदिरूप है उसको ? अथवा जो अन्य विषय है उसको ? वह अन्य विषय को जाननेवाला है । ऐसा कहो तो ठीक नहीं होगा क्योंकि यदि अन्यविषयक संवादकज्ञान प्रामाण्यज्ञप्ति में कारण होता है तो घटज्ञान से पटज्ञान में भी प्रामाण्य आ सकता है ? भिन्नजातीय तो वह है ही ? अर्थक्रिया का ज्ञान संवादक है ऐसा कहना भी गलत होगा, क्योंकि अभी प्रामाण्य का निश्चय तो हुआ नहीं है उसके अभाव में प्रामाण्य की ज्ञप्ति का कारण जो संवादक ज्ञान है उसका स्वविषय में [अर्थक्रिया के ग्रहण में] व्यापार होना संभव नहीं है । जो पुरुष वस्तु में प्रवृत्ति करते हैं वे पहिले अपने ज्ञान में प्रमाणता को देखते हैं—फिर जानकर प्रवृत्ति करते हैं । विना प्रवृत्ति के अर्थक्रिया का ज्ञान कैसे होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता तथा इस तरह मानने में चक्रक दोष भी आता है देखो ! अर्थक्रिया का ज्ञान उत्पन्न होने पर पूर्वज्ञान में प्रामाण्य आना और पूर्वज्ञान में प्रामाण्य के होनेपर उसकी विषय में प्रवृत्ति होना । पुनः प्रवृत्ति होनेपर अर्थक्रिया का ज्ञान हो सकना,

"यथैव प्रथमज्ञानं तत्संवादमपेक्षते ।
संवादेनापि संवादः परो मृग्यस्तथैव हि ।। १ ।। [ ]
कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता ।
प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना ।। २ ।।
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७६]
संवादस्याथ पूर्वेण संवादित्वात्प्रमाणता ।
अन्योन्याश्रयभावेन प्रामाण्यं न प्रकल्पते ।। ३ ।। [ ] इति ।

इत्यादि तीन के चक्र में चक्कर लगाते रहना होगा, और सिद्धि तीनों में से किसी एक को भी नहीं होगी ।

दूसरी बात यह है कि अर्थक्रियाके ज्ञान द्वारा प्रामाण्यका निश्चय ऐसा मान भी लेवें किन्तु फिर उस अर्थक्रिया ज्ञानका प्रामाण्य किसके द्वारा निश्चित होगा ? उसके लिये यदि अन्य अर्थक्रिया ज्ञान आयेगा तो अनवस्था फैलती है ।

यदि अनवस्थादोष को टालने के लिये ऐसा कहा जाय कि प्रथमप्रमाण से संवादकज्ञान में प्रामाण्य आयेगा तो अन्योन्याश्रयदोष उपस्थित होता है । इस प्रकार की आपत्तियों से बचने के लिये अर्थक्रियाविषयकसंवादकज्ञान को स्वत: प्रामाण्यभूत मानते हो तब तो प्रथमज्ञान में भी स्वत: प्रामाण्य स्वीकार करने में क्या द्वेष है ? कुछ भी नहीं इस विषय का विवेचन मीमांसाश्लोकवार्त्तिक में किया है, उसका उद्धरण इस प्रकार है—

जैन लोग "प्रथमज्ञान [किसी भी एक विवक्षित पदार्थ को जाननेवाला प्रमाण] अपनी प्रमाणता के लिये अन्य संवादकज्ञान की अपेक्षा रखता है" ऐसा मानते हैं तो वह संवादकज्ञान भी अपनी प्रमाणता के लिये अन्य संवादक की अपेक्षा रखेगा, और वह भी अन्य संवादक की, इस तरह संवादक की लम्बी झड़ी को रोकने के लिये किसी एक विवक्षित संवादक ज्ञान में स्वतः प्रमाणता स्वीकार की जावे तो प्रथमज्ञान को ही स्वत: प्रमाणभूत मानने में क्या द्वेष भाव है ? अर्थात् कुछ नहीं । अनवस्थादोष न होवे इस वजह से संवादक में प्रमाणता प्रथमज्ञान से आती है ऐसी कल्पना करें तो इतरेतराश्रय दोष आता है ।।१।।२।।३।।

अर्थक्रियाज्ञानस्यार्थाभावेऽदृष्टत्वान्न स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षा साधनज्ञानस्य त्वर्थाभावेपि दृष्टत्वात्तत्र तदपेक्षा युक्ता; इत्यप्यसङ्गतम्; तस्याप्यर्थमन्तरेण स्वप्नदशायां दर्शनात्। फलावाप्तिरूपत्वात्तस्य तत्र नान्यापेक्षा साधननिर्भासिज्ञानस्य तु फलावाप्तिरूपत्वाभावात्तदपेक्षा; इत्यप्यनुत्तरम्; फलावाप्तिरूपत्वस्याप्रयोजकत्वात्। यथैव हि साधननिर्भासिनो ज्ञानस्यान्यत्र व्यभिचारदर्शनात्सत्यासत्यविचारणायां प्रेक्षावतां प्रवृत्तिस्तथा तस्यापि विशेषाभावात्।

शंका—अर्थक्रियाज्ञान तो अर्थ के सद्भाव विना देखा नहीं जाता है, किन्तु उसके सद्भाव में ही देखा जाता है अतः अर्थक्रियाज्ञान में प्रमाणता का निश्चय करने के लिये अन्य की अपेक्षा करनी नही पड़ती, किन्तु साधन का जो ज्ञान है वह तो अर्थ के अभाव में भी देखा जाता है, अतः साधनज्ञान की प्रमाणता के लिये अन्य की अपेक्षा लेनी पड़ती है।

समाधान—यह शंका गलत है, क्योंकि अर्थक्रियाज्ञान भी पदार्थ के विना देखा जाता है, जैसे कि स्वप्न में पदार्थ नहीं रहता है फिर भी अर्थक्रिया का ज्ञान तो होता देखा जाता है।

शंका—अर्थक्रियाज्ञान फल की प्राप्तिरूप होता है, इसलिये उसमें अन्य की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु जो साधन को बतलानेवाला ज्ञान है वह फलप्राप्तिरूप नहीं होता, अतः उसमें अपनी प्रमाणता के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा रहती है, मतलब यह है कि "यह जल है" ऐसा ज्ञान होने पर उस जलका कार्य या फल जो स्नानादिरूप है उसकी प्राप्ति में अन्यज्ञान की जरूरत नहीं पड़ती है, परन्तु स्नान का साधन जो जल है सो उसके ज्ञान में तो अन्य ज्ञान की अपेक्षा जरूर होती है, क्योंकि वह तो फलप्राप्तिरूप नही है।

समाधान—यह कथन ठीक नही है, क्योंकि फल की प्राप्ति प्रामाण्य की प्रयोजक नहीं हुआ करती है। देखो–जिस प्रकार स्नानादिक के कारणभूत जो जलादिक पदार्थ हैं उनको प्रतिभासित करने वाले ज्ञान में कहीं [मरीचिका में] व्यभिचार देखनेमें आता है, अर्थात् "यह जल है" ऐसी प्रतीति सत्यजल में होती है और मरीचिका में भी होती है, और इसीलिये तो उस जलज्ञान के सत्य असत्य के निर्णय करने में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति होती है, ठीक इसी तरह अर्थक्रियाज्ञान में भी होता है, अर्थात् अर्थक्रिया के ज्ञानमें भी सत्य असत्यका निर्णय करके प्रवृत्ति होती है कोई विशेषता नहीं।

किञ्च, समानकालमर्थक्रियाज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यव्यवस्थापकम्, भिन्नकालं वा ? यद्येक-कालम्; पूर्वज्ञानविषयम्, तदविषयं वा ? न तावत्तद्विषयम्; चक्षुरादिज्ञाने ज्ञानान्तरस्याप्रति-भासनात्, प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात्तस्य । तदविषयत्वे च कथं तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकत्वं तदग्रहे तद्धर्माणां ग्रहणविरोधात् । भिन्नकालमित्यप्ययुक्तम्; पूर्वज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नाशे तदग्राहकत्वेनो-त्तरज्ञानस्य तत्प्रामाण्यनिश्चायकत्वायोगात् । सर्वप्राणभृतां प्रामाण्ये सन्देहविपर्ययाक्रान्तत्वासिद्धेश्च । समुत्पन्ने खलु विज्ञाने 'अयमित्थमेवार्थः' इति निश्चयो न सन्देहो विपर्ययो वा । तदुक्तम् ।

"प्रमाणं ग्रहणात्पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
निरपेक्षं स्वकार्ये च गृह्यते प्रत्ययान्तरैः ॥ १ ॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ८३] इति

तथा—एक प्रश्न यह भी होता है कि अर्थक्रिया का ज्ञान जो कि पूर्वज्ञान में प्रमाणता को बतलाता है, वह उसके समकालीन है या भिन्नकालीन है ? यदि सम-कालीन है तो उसी पूर्वज्ञान के विषय को जानने वाला है या नहीं ? समकालीनज्ञान का विषय वही है जो पूर्वज्ञान का है ऐसा कहो तो असंभव है, क्योंकि चक्षु घ्राण आदि पांचों ही इन्द्रियों के ज्ञानों में ज्ञानरूप विषय प्रतिभासित होता ही नहीं, इन्द्रियों का विषय तो अपना २ निश्चित रूप गंधादि है । इस प्रकार समकालीन ज्ञान पूर्वज्ञान को विषय करनेवाला हो नहीं सकता है, यह सिद्ध हुआ । अब यदि उसको विषय नहीं करे तो बताईये वह पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कैसे करायेगा ? अर्थात् नहीं कर सकता, जब वह पूर्वज्ञान को ग्रहण ही नहीं कर सका तो उसका धर्म जो प्रामाण्य है उसे कैसे ग्रहण करेगा ? अर्थक्रिया का ज्ञान भिन्न काल में रहकर पूर्वज्ञान की प्रमाणता को बतलाता है ऐसा दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वज्ञान क्षणिक होने से नष्ट हो चुका है अब उसका अग्राहक ऐसा उत्तर ज्ञान उसके प्रामाण्य का निश्चय नहीं करा सकता । एक बात यह भी है कि सभी प्राणियों के प्रामाण्य संदेह एवं विपर्यय रहता ही नहीं, क्योंकि सभी ज्ञान जब भी उत्पन्न होते हैं तब वे संशयादि से रहित ही उत्पन्न होते हैं, अतः उनको अन्य की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है । ज्ञान उत्पन्न होते ही "यह पदार्थ इस प्रकार का है" ऐसा निश्चय नियम से होता है उस समय उसमें न संशय रहता है, और न विपर्यय ही रहता है । कहा भी है—प्रामाण्य जिसका धर्म है ऐसा वह प्रमाण (ज्ञान) स्वग्रहण के पहिले स्वरूप में स्थित रहता है, तथा अपना कार्य जो पदार्थ की परिच्छित्ति है उसको संवादकज्ञान की

प्रमाणाप्रमाणयोरुत्पत्तौ तुल्यरूपत्वान्न संवादविसंवादावन्तरेण तयोः प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चय इति च मनोरथमात्रम्; अप्रमाणे बाधककारणदोषज्ञानयोरवश्यंभावित्वादप्रामाण्यनिश्चयः, प्रमाणे तु तयोरभावात्प्रामाण्यावसायः।

यापि-तत्तुल्यरूपेऽन्यत्र तयोर्दर्शनात्तदाशङ्का; सापि त्रिचतुरज्ञानापेक्षामात्रान्निवर्त्तते। न च तदपेक्षायां स्वतः प्रामाण्यव्याघातोऽनवस्था वा; संवादकज्ञानस्याप्रामाण्यव्यवच्छेदे एव व्यापारादन्यज्ञानानपेक्षणाच्च। तदुक्तम्—

अपेक्षा विना ही करता रहता है, पश्चात् जिज्ञासु पुरुष द्वारा संवादरूप ज्ञानोंसे उसका ग्रहण हो जाता है।

शंका—प्रमाण और अप्रमाण उत्पत्ति के समय तो समान ही रहते हैं-उनमें संवाद और विसंवाद के विना प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय होना शक्य नहीं है ?

समाधान— यह कथन मनोरथमात्र है, अप्रमाण तो बाधककारण और दोषों से जन्य हुआ करता है अतः उनका ज्ञान होना जरूरी है, उसीसे अप्रमाण में अप्रामाण्य का निश्चय होता है। प्रमाण में ऐसी बात नहीं है अतः प्रामाण्य को जानने के लिये बाधककारण और दोषों के ज्ञानों की आवश्यकता नहीं रहती है। प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय तो अपने आप हो जाता है।

प्रमाण ज्ञानके समान मालूम पड़नेवाला जो अप्रमाणभूत ज्ञान है उसमें संशय तथा विपर्ययपना देखा जाता है अतः कभी कभी प्रमाण ज्ञान भी अप्रामाण्यपनेकी शंका हो सकती है किन्तु वह शंका आगे के तीन चार ज्ञानोंकी अपेक्षा लेकर ही समाप्त हो जाया करती है। इस पर कोई कहे कि आगे के ज्ञानोंकी अपेक्षा मानेंगे तो स्वतः प्रामाण्य आनेका जो सिद्धांत है वह खतम होगा, तथा अनवस्था दोष भी आयेगा ? सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आगेके तीसरे या चौथे ज्ञानकी जो अपेक्षा बतायी वे ज्ञान इतना ही कार्य करते हैं कि प्रथम या द्वितीय ज्ञानके अप्रामाण्यताका व्यवच्छेद [नाश] करते हैं तथा वे ज्ञान अपनी सत्यताके लिये अन्यकी अपेक्षा भी नहीं रखते हैं।

मीमांसाश्लोक वार्तिक में लिखा है, ज्ञान की प्रमाणता में शंका आजाय तो उसको तीन चार ज्ञान [संवादक ज्ञान आकर] उत्पन्न होकर दूर कर दिया करते हैं,

"एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावतैवेयं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ।। १ ।।"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६१]

योऽप्यनुत्पद्यमानः संशयो बलादुत्पाद्यते सोऽप्यर्थक्रियार्थिनां सर्वत्र प्रवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेद-कारित्वान्न युक्तः । उक्तञ्च—

"आशङ्केत हि यो मोहादजातमपि बाधकम् ।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत् ।। १ ।।" [ ]

इनसे अधिक ज्ञानों की जरूरत नही पड़ती है, इतने से ही कार्य हो जाता है और प्रामाण्य स्वत: ही आ जाता है ।

जैनादिक का कहना है कि प्रमाण से पदार्थ का ज्ञान होने पर भी उस विषय में संशय हो जाय कि यह ज्ञान अर्थक्रिया में समर्थ ऐसे पदार्थ को विषय कर रहा है या विपरीत किसी पदार्थ को ? सो ऐसी जबरदस्ती संशय को उत्पन्न होने की आशका करना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे तो अर्थक्रिया के इच्छुक पुरुष किसी भी पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं कर सकेंगे, इस तरह से तो फिर प्रवृत्ति या निवृत्ति का व्यवहार ही समाप्त हो जायगा, कहने का अभिप्राय यह है कि प्रमाण के विषय में संशय नहीं रहता, ऐसा हम मानते हैं । किन्तु जैन व्यर्थ उस विषय में संशय हो जाने की आशंका करते हैं । इससे क्या होगा कि किसी भी पदार्थ में ग्रहण आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि संशय बना ही रहेगा ? यही बात हमारे ग्रन्थ में कही है—जो व्यक्ति प्रमाण के प्रामाण्य में बाधक कारण नहीं होते हुए भी व्यर्थ की बाधक होने की शंका करे तो वह संशयी पुरुष नष्ट ही हुआ समझना चाहिये, क्योंकि वह सभी व्यवहार कार्यों में प्रवृत्त ही नहीं हो सकेगा । इस प्रकार निश्चित होता है कि प्रमाण अपनी प्रामाणिकता में अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है । तथा वेद शास्त्र के निमित्त से जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में भी स्वत: प्रामाण्य है ऐसा निश्चय करना चाहिये, क्योंकि वेद अपौरुषेय होने से (पुरुष के द्वारा बनाया हुआ नहीं होने से) दोष रहित है, इस-लिये जैसे अनुमान, आप्तवचनरूप आगम, इन्द्रियज्ञान ये सब प्रमाण स्वत: प्रामाण्य स्वरूप है वैसे वेद जनित बुद्धि भी स्वत:प्रमाणभूत है । कहा भी है—वेद का पठन, मनन आदि के करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह स्वत:प्रमाणभूत है, क्योंकि वह

चोदनाजनिता तु बुद्धिरपौरुषेयत्वेन दोषरहिताच्चोदनावाक्यादुपजायमाना लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत्स्वतः प्रमाणम् । तदुक्तम्—

"चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत् ॥ १ ॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० १८४]

तत्र ज्ञप्तौ परापेक्षा ।

ज्ञान दोषरहितवेदवाक्यों से पैदा हुआ है और वेद स्वतः प्रमाणभूत है । जैसे-निर्दोष हेतु से उत्पन्न हुआ अनुमानप्रमाण, आप्तवचन से उत्पन्न हुआ आगमप्रमाण, इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षप्रमाण स्वतःप्रमाणस्वरूप होता है । इस प्रकार यहां तक भाट्ट ने यह सिद्ध करके बताया है कि प्रामाण्य की ज्ञप्ति में पर की अपेक्षा नहीं हुआ करती है ।

अब प्रमाण का जो स्वकार्य है उसमे भी पर की आवश्यकता नहीं रहती है ऐसा सिद्ध किया जाता है—प्रामाण्य जिसका धर्म है ऐसे प्रमाण का जो अपना कार्य (प्रवृत्ति करावा आदि) है उसमें भी उसे अन्य की अपेक्षा नहीं होती है । जैन अन्य की अपेक्षा होती है ऐसा मानते हैं, सो वह अन्य कौन है कि जिसकी अपेक्षा प्रमाण को लेनी पड़ती है, क्या वह संवादकज्ञान है कि कारणगुण हैं ? संवादकज्ञान की अपेक्षा लेकर प्रामाण्य धर्मवाला प्रमाण निजी कार्य को करता है ऐसा कहो तो चक्रक दोष आता है, कैसे सो बताते हैं—प्रामाण्य धर्मवाला प्रमाण जब अर्थपरिच्छित्तिरूप अपने कार्य में प्रवृत्त होगा तब अर्थक्रिया को चाहनेवाले व्यक्ति वहां प्रवृत्ति करेंगे और उन व्यक्तियों के प्रवर्तित होने पर अर्थक्रिया का ज्ञानरूप संवाद पैदा होगा, पुनः संवाद के रहते हुए ही उसकी अपेक्षा लेकर प्रमाण अपना कार्य जो अर्थक्रिया को जानना है उसमें प्रवृत्ति करेगा, इस तरह प्रमाण की स्वकार्य में प्रवृत्ति १, उसके बल पर फिर अर्थक्रियार्थी पुरुष की प्रवृत्ति २, और फिर उसकी अपेक्षा लेकर संवादकज्ञान ३, इन तीनों में गोते लगाते रहने से इस चक्रक से छुटकारा नहीं होगा, तीनों में से एक भी सिद्ध नहीं होगा । यदि भिन्नकालीन अर्थात् भावीकाल में होनेवाले संवादकज्ञान की अपेक्षा लेकर प्रमाण अपने कार्य में प्रवृत्ति करता है ऐसा कहा जाय सो वह भी बनता नहीं है, देखो—भावीकाल में होनेवाले संवादकज्ञान का वर्तमान में तो असत्त्व

नापि स्वकार्ये; तत्रापि हि किं तत्संवादप्रत्ययमपेक्षते, कारणगुणान् वा ? प्रथमपक्षे चक्रकप्रसङ्गः–प्रमाणस्य हि स्वकार्ये प्रवृत्तौ सत्यामर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः, तस्यां चार्थक्रियाज्ञानोत्पत्तिलक्षणः संवादः; तत्सद्भावे च संवादमपेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्येऽर्थपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तेत। भाविन संवादप्रत्ययमपेक्ष्य तत्तत्र प्रवर्त्तते; इत्यप्यनुपपन्नम्; तस्यासत्त्वेन स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं विज्ञानं प्रति सहकारित्वायोगात्।

द्वितीयपक्षेऽपि गृहीताः स्वकारणगुणाः तस्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्वं प्रतिपद्यन्ते, अगृहीता वा ? न तावदुत्तरः पक्षः; अतिप्रसङ्गात्। प्रथमपक्षेऽनवस्था–स्वकारणगुणज्ञानापेक्षं हि

है सो वह ज्ञान को अपने कार्य में प्रवृत्ति कराने के लिये सहायक नहीं बन सकता है जो अभी पैदा ही नहीं हुआ है वह वर्तमान ज्ञान में क्या सहायता पहुंचायेगा ? कुछ भी नहीं। प्रमाण को स्वकार्य में कारणों के गुणों की अपेक्षा होती है ऐसा जो दूसरा विकल्प है सो इस पर हम पूछते है कि प्रमाण को अपने कार्य में प्रवृत्ति कराने के लिये सहायता पहुंचानेवाले कारणों (इन्द्रियों) के गुण हैं वे ग्रहण किये हुए [जाने हुए] है कि नहीं ? यदि द्वितीय पक्ष कहा जाय कि वे गुण ग्रहण किये हुए नहीं हैं तो अतिप्रसंग होगा–अर्थात् अन्य प्रमाणके जो हैं उनके गुण भी हमारे लिये हमारे ज्ञान में सहायक बन सकते हैं, क्योंकि वे गुण भी तो अगृहीत हैं। पहला पक्ष–प्रमाणके कारणों के गुण गृहीत हैं [जाने हुए हैं] तो इस पक्ष में अनवस्था आवेगी। वह ऐसे–प्रमाण जब अपने प्रामाण्य के कारण जो इन्द्रियों के गुण हैं उनके ज्ञान की अपेक्षा लेकर निजी कार्य के करने में प्रवृत्ति करता है सो कारणों के गुणों का जो ज्ञान है वह जिस ज्ञान से होता है वह भी अपने कारणों के गुणों की अपेक्षा रखकर ही अपना कार्य जो प्रथमप्रमाण के कारणगुणों को जानना है उसे करेगा, तथा यह जो दूसरे नम्बर का कारण गुणों को जाननेवाला ज्ञान है वह भी अपने कारणगुण के ज्ञानकी अपेक्षा लेकर प्रवर्तित हो सकेगा। भावार्थ–जैसे किसी को "यह जल है" ऐसा ज्ञान हुआ, अब उस प्रमाणभूत ज्ञान का कार्य जो उस जल में प्रवृत्ति करनारूप है उसमें प्रवृत्ति होने के लिये अपने कारणगुण के ज्ञान की अपेक्षा लेनी पड़ेगी कि मेरे इस जलज्ञान का कारण नेत्र हैं इसके गुण स्वच्छता आदि हैं–मेरी आंखें निर्मल हैं ऐसा ज्ञान होगा, तब जल में उसकी प्रवृत्ति हो सकेगी, तथा ऐसा ज्ञान उसे कोई बतायेगा तभी होगा, कि तुम्हारी आंखें साफ-निर्दोष हैं इत्यादि, पुनः वह बतानेवाले व्यक्ति का ज्ञान भी प्रामाणिक होना चाहिये, अतः उसके ज्ञान की सत्यता अर्थात् बतलाने वाले

प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तेत तदपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्षं प्रमाणकारणगुणग्रहणलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तेत तदपि च स्वकारणगुणज्ञानापेक्षमिति । तस्य स्वकारणगुणज्ञानानपेक्षस्यैव प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवृत्तौ प्रथमस्यापि कारणगुणज्ञानानपेक्षस्यार्थपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात् । तदुक्तम्—

"जातेपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
यावत्कारणशुद्धत्व न प्रमाणान्तराद्गतम् ।। १ ।।

के नेत्र भी गुणवान् हैं कि नही इसकी भी जानकारी होनी चाहिये, इस प्रकार एक प्रमाण के कार्य होने में अनेकों प्रमाणभूत व्यक्तियों की और ज्ञानों की आवश्यकता होती रहेगी, तब अनवस्था तो आ ही जायगी, फिर भी प्रमाण का कार्य तो हो ही नहीं सकेगा, जैसे संसारी जीवों की आकांक्षाएँ आगे २ बढ़ती जाती है—यह कार्य हो जाय, यह मकान बन जाय, इसी की चिंता मिटे तो धर्मकार्य को करूंगा इत्यादि, वैसे ही प्रमाण का कार्य तभी हो जब उसके कारणगुणों का ज्ञान हो, पुनः वह ज्ञान जिससे होगा उसकी सत्यता जानने की अपेक्षा होगी इत्यादि अपेक्षाएँ बढती जावेगी और प्रमाण का कार्य यों ही पड़ा रह जायगा ।

अब यहां पर अनवस्था दोष को मिटाने के लिये कोई चतुर व्यक्ति कहे कि प्रमाण के कारणगुणों को जाननेवाला जो ज्ञान है उसको अपने कारणगुण के ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती है, वह तो उसकी अपेक्षा के विना ही अपना कार्य जो प्रमाण के कारणगुणों का जानना है उसमें स्वयं प्रवृत्त होता है, ऐसा कहने पर तो वह पहला प्रमाण भी कारणगुणों के ज्ञान की अपेक्षा किये विना ही अपने कार्य—पदार्थ को जानना आदि को स्वतः कर सकेगा, दोनों में प्रथम प्रमाण और उस प्रथम प्रमाण के कारण गुणों को जानने वाला प्रमाण इनमें कोई भी विशेषता नही है जिससे कि एक को तो कारणगुण के ज्ञान की अपेक्षा लेनी पड़े और एक को नहीं लेनी पड़े इस प्रकार के अनवस्था के विषय में हमारे ग्रन्थ में भी कहा गया है अब हम उसे प्रकट करते हैं—ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तबतक वह अपने विषय का निर्धार नहीं करता है जबतक कि वह अन्यज्ञान से अपने कारणगुण की शुद्धता को नहीं जानता, इस प्रकार की जो मान्यता है उसमें आगे कहा जानेवाला अनवस्था दोष आता है—जब प्रथमज्ञान अपनी प्रवृत्ति में अपने कारणगुणों को जानने के लिये अन्य की अपेक्षा रखता है तब वह दूसरा ज्ञान भी अपने कारणगुण को जाननेवाले की अपेक्षा लेकर प्रथमज्ञान के कारणगुणों को जानने में प्रवृत्त होगा, क्योंकि जबतक

तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ।। २ ।।
तस्यापि कारणे शुद्धे तज्ज्ञानस्य प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीत्थं च न क्वचिद्व्यवतिष्ठते ।। ३ ।।

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४६-५१] इति

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रत्यक्ष न तान्प्रत्येतुं समर्थम्' इति; तत्रेन्द्रिये शक्तिरूपे, व्यक्तिरूपे वा तेषामनुपलम्भेनाभावः साध्यते ? प्रथमपक्षे-गुणवद्दोषाणामप्यभावः । नह्याधाराप्रत्य-

---

उसकी शुद्धि–[सत्यता] नहीं जानी है तबतक वह असत् समान ही रहेगा, अतः उसकी सत्यता का निर्णय भी उसके कारणगुण की शुद्धि से ही होवेगा, तभी वह प्रमाण प्रामाण्य सहित कहलायेगा, फिर वह तीसरा ज्ञान भी कारणगुण की शुद्धि जानकर ही प्रवृत्त होगा, इस प्रकार किसी भी ज्ञान में प्रामाण्य व्यवस्थित नहीं हो सकेगा, न प्रमाणों में स्वकार्य के करने की क्षमता आयेगी । इस प्रकार हम भाट्ट ने यह सिद्ध किया कि प्रमाण को अपने प्रामाण्य की उत्पत्ति में और ज्ञप्ति तथा स्वकार्य में पर की अपेक्षा नहीं होती है अतः प्रमाण में स्वतः प्रामाण्य आता है ।

जैन—हम जैन भाट्ट के इस लम्बे चौड़े पूर्व पक्ष का सविस्तार खण्डन करते हैं—

भाट्ट ने सबसे पहिले कहा है कि "इन्द्रियों के गुणों को प्रत्यक्षप्रमाण जानने में सक्षम नही है" सो इस पर हम उनसे पूछते हैं कि शक्तिरूप–[क्षयोपशमरूप] इन्द्रिय में गुणों की अनुपलब्धि होने से उनका अभाव मानते हो या व्यक्तिरूप (बाह्येन्द्रिय आँख की पुतली आदि में) इन्द्रिय में गुणों की अनुपलब्धि होने से गुणों का अभाव मानते हो ? प्रथमपक्ष–शक्तिरूप इन्द्रिय में गुणों का अभाव मानते हैं–तो इस मान्यता में केवल गुणों का ही अभाव सिद्ध नहीं होगा किन्तु साथ ही दोषों का अभाव भी सिद्ध हो जायगा, क्योंकि शक्तिरूप इन्द्रिय में जैसे गुण उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, वैसे दोष भी उपलब्ध नहीं होते हैं । तथा–आधार के अप्रत्यक्ष रहने पर आधेय का प्रत्यक्ष होना भी शक्य नहीं है, ऐसा ही नियम है । अतः आधार जो शक्तिरूप इन्द्रिय है प्रत्यक्ष नहीं होने से उसके आधेयरूप गुणों का प्रत्यक्ष होना भी बनता नहीं, अन्यथा अतिप्रसङ्ग उपस्थित होगा । इस प्रकार शक्तिरूप इन्द्रियों में गुण उपलब्ध नहीं होते,

क्षत्वे आधेयप्रत्यक्षता नामातिप्रसङ्गात्। अथ व्यक्तिरूपे; तत्रापि किमात्मप्रत्यक्षेण गुणानामनुपलम्भः, परप्रत्यक्षेण वा ? प्रथमविकल्पे दोषाणामप्यसिद्धिः। न ह्यात्मीयं प्रत्यक्षं स्वचक्षुरादिगुणदोषविवेचने प्रवर्त्तते इत्येतत्प्रातीतिकम्। स्पार्शनादिप्रत्यक्षेण तु चक्षुरादिसद्भावमात्रमेव प्रतीयते इत्यतोपि गुण-दोषसद्भावासिद्धिः। अथ परप्रत्यक्षेण ते नोपलभ्यन्ते; तदसिद्धम्; यथैव हि काचकामलादयो दोषाः परचक्षुषि प्रत्यक्षतः परेण प्रतीयन्ते तथा नैर्मल्यादयो गुणा अपि।

जातमात्रस्यापि नैर्मल्याद्युपेतेन्द्रियप्रतीतेः तेषां गुणरूपत्वाभावे जातितैमिरिकस्याप्युपल-म्भादिन्द्रियस्वरूपव्यतिरिक्ततिमिरादिदोषाणामप्यभावः। कथं वा रूपादीनां घटादिगुणस्वभावता

यह पक्ष खण्डित हो जाता है। दूसरा पक्ष जो व्यक्तिरूप इन्द्रिय है उसमें गुणों का अभाव है। ऐसा कहो तो हम आपसे पूछते हैं कि यह बात आप किस प्रमाण से सिद्ध करते हो ? अपने ही प्रत्यक्षज्ञान से या दूसरे पुरुष के प्रत्यक्षज्ञान से ? यदि अपने प्रत्यक्ष से उनका अभाव सिद्ध करते हो तो दोषों का अभाव भी सिद्ध हो जायगा, क्योंकि अपना निज का प्रत्यक्षज्ञान निजी (खुद के) चक्षु आदि इन्द्रियों के गुण या दोषों को जानता हो या उनका विवेचन करता हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, अपनी आँख का काजल अपने को नहीं दिखता ऐसी कहावत भी है। स्पार्शन आदि प्रत्यक्ष के द्वारा यदि आँख आदि का ज्ञान होता है तो भी उससे मात्र उन नेत्रादिक का सद्भाव ही सिद्ध होता है, उस स्पार्शन प्रत्यक्ष से उनके गुण और दोषों का सद्भाव तो सिद्ध नहीं होता है। यदि कहा जावे कि पर व्यक्ति के प्रत्यक्षज्ञान से वे इन्द्रियोंके गुण उपलब्ध नहीं होते; सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे पराये व्यक्ति के नेत्र में काचबिन्दु, पीलिया आदि दोष हैं उनका प्रत्यक्ष होता है वैसे ही निर्मलता आदि गुण भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं। अत. पर के द्वारा नेत्रादि के गुण प्रत्यक्ष नहीं होते हैं ऐसा कहना असत् ठहरता है।

शंका—नेत्र में जो निर्मलता आदि होती है वह तो उसके जन्म के साथ ही साथ दिखायी देती है अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियां नैर्मल्यादि गुण सहित ही पैदा होती हैं, अतः निर्मलतादि को गुण नहीं कह सकते हैं।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि कोई जन्मसे तिमिरदोष युक्त है अर्थात् जन्मान्ध है उसके नेत्रेन्द्रियका स्वरूप तिमिर दोष से अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखायी देता अतः उस तिमिर दोषको नेत्रेन्द्रियका स्वरूप ही मानना चाहिये, इस तरह भी

उत्पत्तिप्रभृतितःप्रतीयमानत्वाविशेषात् ? यच्चक्षुरादिव्यतिरिक्तभावाभावानुविधायि तत्तत्कारणकम्, यथाऽप्रामाण्यम्, तथा च प्रामाण्यम्। यच्च तदव्यतिरिक्तं कारणं ते गुणाः' इत्यनुमानतोपि तेषां सिद्धिः।

यच्चेन्द्रियगुणैः सह लिङ्गस्य प्रतिबन्धः प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वेत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; ऊहाख्यप्रमाणान्तरात्तत्प्रतिबन्धप्रतीतेः। कथं चाप्रामाण्यप्रतिपादकदोषप्रतीतिः ? तत्राप्यस्य

कोई कह सकता है ? क्योंकि जो उत्पत्ति के साथ हो वह उसका स्वरूप कहलाता है ऐसा आपने बताया है। इस प्रकार गुणोंका अभाव करनेसे दोषोंका अभाव भी करना पड़ता है।

एक बात और यह होगी कि यदि उत्पत्ति के साथ ही नेत्रादिकों में निर्मलतादि पायी जाती है अतः वह नेत्र का गुण न होकर उसका स्वरूप मात्र है ऐसा माना जाय तो घट आदि पदार्थों में उत्पत्ति के साथ ही रूप रसादि रहते हैं, उनको भी गुण नहीं कहना चाहिये। वे भी घट के स्वरूप ही कहलाने चाहिये। क्योंकि वे घट की उत्पत्ति के साथ ही उसमें प्रतीत होते हैं, कोई विशेषता नहीं है। जैसे नेत्र में निर्मलता उत्पत्ति के साथ ही है वैसे ही घट में रूप रसादि भी उत्पत्ति के साथ ही हैं, फिर घट के रूपादिको तो गुण कहना और नेत्र की निर्मलता को स्वरूप कहना यह कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता। जो चक्षु आदि इन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के सद्भाव में होता है और उस वस्तु के अभाव में नहीं होता है वही उस प्रामाण्य का कारण है—जैसे अप्रामाण्य का कारण अन्य किसी वस्तु को माना है। अनुमान प्रयोग इस तरह होगा—प्रमाणमें प्रामाण्य चक्षु आदि से पृथक् अन्य किसी कारण की अपेक्षा से होता है (साध्य), क्योंकि वह चक्षु आदि से अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है (हेतु) जैसे अप्रामाण्य पृथक् कारणों की अपेक्षा से होता है (दृष्टान्त), जो इन्द्रियोंसे अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ है जो कि प्रामाण्य का कारण है वही गुण कहलाता है। इस अनुमान से गुणों की सिद्धि हो जाती है।

भाट्ट ने पूर्वपक्ष में पूछा है कि इन्द्रियों के गुणों के साथ हेतु का—(यथार्थरूप से पदार्थ की उपलब्धि होने रूप कार्यत्व का) जैन लोग अविनाभाव संबंध मानते हैं, सो वह अविनाभाव प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होता है या अनुमान के द्वारा ? इत्यादि सो

समानत्वात् । नैर्मल्यादेर्मलाभावरूपत्वात्कथं गुणरूपतेत्यप्यसाम्प्रतम्; दोषाभावस्य प्रतियोगिपदार्थ-स्वभावत्वात् । निःस्वभावत्वे कार्यत्वधर्माधारत्वविरोधात् खरविषाणवत् । तथाविधस्याप्रतीतेरन-भ्युपगमाच्च, अन्यथा—

"भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत् ।
अभावः समस्त (सम्मतस्त,स्य हेतोः किन्न समुद्भवः ।।" [ ]

भाट्ट का ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि जैन लोग तर्क नामक प्रामाणान्तर से ही इन्द्रियगुण के साथ कार्यत्व हेतु का अविनाभाव सबंध निश्चित करते हैं, किसी भी अनुमान के हेतु का अविनाभाव हो वह तर्क प्रमाण से ही जाना जाता है । अच्छा— आप अपनी बात बताइए कि अप्रामाण्य को प्रतिपादन करने वाले जो दोष हैं उन दोषों की प्रतीति कैसे होती है अर्थात् अप्रामाण्य का और दोषों का अविनाभाव किस प्रमाण से जाना जाता है अनुमान से कि प्रत्यक्ष से ? इत्यादि प्रश्न तो आपके ऊपर भी आ पड़ेंगे, आप भाट्ट उन प्रश्नों का निवारण कैसे कर सकेंगे । आपके यहां तो तर्क प्रमाण माना नहीं है कि जिसके द्वारा हेतु का अविभाव जाना जाय ।

शंका—नेत्र की निर्मलता तो यही है कि मल का न होना, अतः उसके अभाव को आप गुण कैसे कह सकते हैं ।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, दोषों का अभाव को प्रतियोगी पदार्थ के स्वभावरूप ही कहा जाता है अर्थात् दोषों का अभाव है तो गुणों का सद्भाव है, मिथ्यात्व आदि नहीं हैं तो सम्यक्त्व है, अज्ञानी नहीं है तो ज्ञानी है, इस तरह से ही माना जाता है, अभाव को यदि इस प्रकार भावान्तरस्वभावरूप नहीं माना जाय और सर्वथा निस्स्वभावरूप ही माना जाय तो वह तुच्छाभाव कार्यत्व धर्म का आधारभूत नहीं बन सकता । कहने का मतलब यही है कि दोषों का अभाव गुणरूप नहीं है तो उसमें जो कुछ कार्यप्रक्रिया होती है–जैसे कि नेत्र में अंजनादि से निर्मलतारूप कार्य होते हैं वे नहीं हो सकते, जैसे गधे का सींग निःस्वभाव होने से उसमें कुछ भी कार्य नहीं होते हैं । सर्वथा निःस्वभावरूप अभाव प्रतीति में भी नहीं आता है; और न आपने निःस्वभाव अभाव को माना ही है । यदि अभाव को सर्वथा निःस्वभावरूप मानोगे तो आगे के श्लोक में कथित मान्यता में बाधा उपस्थित होगी—

भावांतरसे निर्मुक्त ऐसा भाव हुआ करता है, जैसे–घट का अनुपलम्भ है तो वह अनुपलम्भ घट से भिन्न पट की या अन्य की उपलब्धि को बतलाता है, यही

इत्यस्य विरोधः।

तथा च गुणदोषाणां परस्परपरिहारेणावस्थानाद्दोषाभावे गुणसद्भावोऽवश्याभ्युपगन्तव्यो ऽग्न्यभावे शीतसद्भाववत्, अभावाभावे भावसद्भाववद्वा। अन्यथा कथं हेतौ नियमाभावो दोषः स्यात् अभावस्य गुणरूपतावद्दोषरूपत्वस्याप्ययोगात् ? तथाच-नैर्मल्यादिव्यतिरिक्तगुणरहिताच्चक्षुरादेरुपजायमानप्रामाण्यवन्नियमविरहव्यतिरिक्तदोषरहिताद्धेतोरप्रामाण्यमप्युपजायमानं स्वतो विशेषाभावात्। तथा च-

"अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः।
वस्तुत्वाद्द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात्॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५४]

अभाव का स्वरूप मान्य है। ऐसे अभाव का किसी हेतु से उत्पाद क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा, मतलब-इस श्लोक में अभाव को भावान्तरस्वभाववाला सिद्ध किया है। इसलिये उसे निःस्वभाव मानना विरुद्ध पड़ता है, इस प्रकार अभाव तुच्छाभावरूप नहीं है यह सिद्ध हुआ। जब गुण और दोष एक दूसरे का परिहार करके रहते हैं यह निश्चित हो गया तब जहां दोषों का अभाव है वहां गुणों का सद्भाव अवश्य ही हो जाता है, जैसे-अग्नि के अभाव में शीत का सद्भाव अवश्य होता है। अथवा अभाव के अभाव में (घट के अभाव के अभाव में घट भाव का सद्भाव) अवश्य ही होता है, यदि इस तरह नहीं माना जाय तो जब हेतु में अविनाभाव का अभाव रहता है तब उस हेतु में नियमाभाव दोष कैसे माना जायगा ?-अर्थात् नहीं माना जायगा, अविनाभावरूप गुण नहीं होने से हेतु सदोष है ऐसा कथन तभी सिद्ध होगा जब पदार्थ में दोष के अभाव में गुण और गुण के अभाव में दोष माने जायें। अभावके यदि गुणरूपता नहीं है तो उसके दोष रूपता भी नहीं हो सकती। जिस प्रकार आप नेत्र में जो निर्मलता है उसे गुणरूप नहीं मानते हैं एवं गुणों की अपेक्षा लिये बिना ही चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रमाण में प्रमाणता होना स्वीकार करते हैं; उसी प्रकार अविनाभाव रहित होने रूप जो हेतु का दोष है उस दोष की अपेक्षा लिये बिना यों ही अपने आप अप्रामाण्य उत्पन्न होता है अर्थात् स्वतः ही अप्रामाण्य आता है ऐसा क्यों नहीं मानते हैं ? दोनों में कोई विशेषता नहीं है-प्रामाण्य को गुणों की अपेक्षा नहीं है तो अप्रामाण्य को भी दोषों की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार उभयत्र समानता सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होनेपर निम्न श्लोक का अभिप्राय विरोध को प्राप्त

इत्यस्य विरोधः । ततो हेतोर्नियमविरहस्य दोषरूपत्वे चेन्द्रिये मलापगमस्य गुणरूपतास्तु । तथाच सूक्तमिदम्—

"तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः ।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः ।।"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६५] इति ।

'गुणेभ्यो हि दोषाणामभावः' इत्यभिदधता 'गुणेभ्यो गुणाः' एवाभिहितास्तथा प्रामाण्यमेवाप्रामाण्यद्वयासत्त्वम्, तस्य गुणेभ्यो भावे कथं न परतः प्रामाण्यम् ? कथं वा तस्यौत्सर्गिकत्वम्

होता है कि–मिथ्यात्व, अज्ञान और संशय के भेद से अप्रामाण्य तीन प्रकार का है । इन तीनों में संशय और मिथ्यात्व ये दो वस्तुरूप [भाव रूप] हैं, और अज्ञान तो ज्ञानका अभावरूप मात्र है । भाव रूप जो मिथ्यात्व और संशय हैं इनकी उत्पत्ति [अर्थात् अप्रामाण्यकी उत्पत्ति] दुष्ट कारण जो काच कामलादि इन्द्रिय दोष है उस कारणसे होती है । इस श्लोक में सिर्फ अप्रामाण्यको परसे उत्पन्न होना बताया है, किंतु यह कथन बाधित हो चुका है इसलिये बुद्धिमत्ता की बात यही है कि जिस प्रकार हेतु में अविनाभाव का अभाव दोषरूप है उसी प्रकार इन्द्रिय में मल का अभाव होना गुणरूप है ऐसा स्वीकार करना चाहिये । आपके ग्रन्थ में लिखा है कि गुणों से दोषों का अभाव हो जाया करता है, और उनका अभाव होने से संशय विपर्ययरूप दोनों अप्रामाण्य खतम हो जाते हैं इस वजह से प्रामाण्य अबाधित रहता है अर्थात् स्वतः आता है ऐसा माना है ।।१।। इस श्लोक में गुणों से दोषों का अभाव होता है ऐसा जो कहा गया है सो इसका मतलब हम तो यही निकालते हैं कि गुणों से गुण ही होते हैं । तथा प्रामाण्य ही अप्रामाण्य द्वयका [मिथ्यात्व और संशय] असत्व है । अब यह जो प्रामाण्य है वह गुणोंसे होता है ऐसा सिद्ध हो रहा है तब परतः प्रामाण्यवाद किस प्रकार सिद्ध नहीं होगा ? अवश्य होगा । दूसरी बात यह है कि दुष्ट कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले [सदोष इन्द्रियादिसे] असत्य ज्ञानोंमें नैसर्गिकपना नहीं है अर्थात् स्वतःअप्रामाण्य नहीं है ऐसा आपका कहना है वह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि प्रामाण्यवत् अप्रामाण्य भी नैसर्गिक होनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखायी देती, जैसे गुणोंसे दोषों का अभाव होकर उससे अप्रामाण्य का असत्व होता है । ऐसा आप मानते हैं, वैसे दोषों से गुणोंका अभाव होकर प्रामाण्यका असत्व होता है ऐसा भी आपको मानना चाहिये । कहने का अभिप्राय यह है कि जिस कारणसे प्रामाण्य को सर्वथा स्वतः होना स्वीकार करते हो

दुष्टकारणप्रभवासत्यप्रत्ययेष्वभावात्? अप्रामाण्यस्य चौत्सर्गिकत्वमस्तु दोषाणां गुणापगमे व्यापारात्। भवतु वा भावाद्भिन्नोऽभावः; तथाप्यस्य प्रामाण्योत्पत्तौ व्याप्रियमाणत्वात्कथं तत्स्वतः? न चाभावस्याऽजनकत्वम्, कुड्याद्यभावस्य परभागावस्थितघटादिप्रत्ययोत्पत्तौ जनकत्वप्रतीतेः, प्रमाणपञ्चकाभावस्य चाभावप्रमाणोत्पत्तौ।

योपि–यथार्थत्वायथार्थत्वे विहायोपलम्भसामान्यस्यानुपलम्भः-सोपि विशेषनिष्ठत्वात्तत्सामान्यस्य युक्तः। न हि निर्विशेषं गोत्वादिसामान्यमुपलभ्यते गुणदोषरहितमिन्द्रियसामान्यं वा,

---

उसी कारणसे अप्रामाण्य भी स्वतः होना सिद्ध होता है। दुर्जनसंतोषन्याय से यदि आपकी बात हम स्वीकार भी करलें कि भाव से भिन्न अभाव होता है–गुणों से भिन्न हीं दोषों का अभाव हुआ करता है तो भी प्रामाण्य की उत्पत्ति में वह अभाव व्यापार करता है–प्रामाण्य को उत्पन्न करता है, अतः प्रामाण्य में स्वतस्त्व कैसे आ सकता है। तुम कहो कि अभाव अजनक है–किसी को पैदा नहीं करता है; सो भी बात नहीं है, कैसे सो बताते हैं, भित्ति आदि का अभाव जब होता है तब उसके परभाग में रखे हुए घट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है, वह ज्ञान भित्ति के अभाव के कारण से ही तो होता है, तथा पांचों प्रमाणों का (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति) अभाव भी अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में कारण है, इन उदाहरणों से निश्चित होता है कि अभाव भी कार्य का जनक है।

भाट्ट ने जो यह कहा है कि यथार्थग्रहण और अयथार्थग्रहण को छोड़कर अन्यरूप से [सामान्यरूप से] पदार्थ का ग्रहण नहीं होता है सो यह कथन ठीक ही है क्योंकि केवल सामान्य का ग्रहण नहीं होता सामान्य तो अपने विशेषों में ही स्थित रहता है। कहीं पर भी विशेष रहित अकेला सामान्य नहीं प्रतीत होता, जैसे कि सफेद काली आदि अपने विशेषों को छोड़कर गोत्व सामान्य कहीं पर भी स्वतंत्ररूप से प्रतीति में नहीं आता है। इसी प्रकार गुण और दोष इन दोनों विशेषों से रहित अकेला इन्द्रियरूप सामान्य भी कहीं पर प्रतीत नहीं होता अतः केवल सामान्यके बारे में ही यह प्रश्न हो कि सामान्य अकेला नहीं रहता इत्यादि, सो बात नहीं है, विशेष भी सामान्य के विना अकेला नहीं रहता, उभयत्र समानता है।

मीमांसकभाट्ट लोक व्यवहार को प्रमाण मानते हैं, अतः उभय की–प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की ही उत्पत्ति पर से होती है ऐसा लौकिकव्यवहार उन्हें मानना

येनोपलम्भस्सासान्येऽप्यय पर्यनुयोगः स्यात् । लोके च प्रमाणाप्रमाणतोभयं परतः प्रतिपत्तव्यम् । सुप्रसिद्धं हि लोकेऽप्रामाण्ये दोषावष्टब्धचक्षुषो व्यापारः, प्रामाण्ये नैर्मल्यादियुक्तस्य, 'यत्पूर्वं दोषावष्टब्धमिन्द्रियं मिथ्याप्रतिपत्तिहेतुस्तदेवेदानीं नैर्मल्यादियुक्तं सम्यक्प्रतिपत्तिहेतुः, इति प्रतीतेः ।

यच्चोच्यते–क्वचिन्निर्मलमपीन्द्रियं मिथ्याप्रतीतिहेतुरन्यत्रारक्तादिस्वभावं सत्यप्रतीतिहेतुः, तत्रापि प्रतिपत्तुर्दोषः स्वच्छनील्यादिमले निर्मलाभिप्रायात् । अनेकप्रकारो हि दोषः प्रकृत्यादिभेदात्, तदभावोपि भावान्तरस्वभावस्तथाविधस्तत एव । न चोत्पन्नं सद्विज्ञानं प्रामाण्ये नैर्मल्यादिकमपेक्षते येनानयोर्भेदः स्यात् । गुणवच्चक्षुरादिभ्यो जायमानं हि तदुपात्तप्रामाण्यमेवोपजायते ।

चाहिये । क्योंकि लोक व्यवहार में देखने में आता है कि अप्रामाण्य के होने में दोषयुक्त नेत्र कारण होना है तथा प्रामाण्य में निर्मलतादि गुणयुक्त नेत्र कारण होता है । लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि सदोष चक्षु का व्यापार अप्रामाण्य में और नैर्मल्यादिगुण युक्त चक्षु का व्यापार प्रामाण्य में कारण होता है, लोक में ऐसी प्रतीति होती है कि जो नेत्र आदि इन्द्रियां पहले दोषयुक्त होने से मिथ्याज्ञान का कारण बनती थीं वे ही इन्द्रियां अब निर्मलतादि गुणयुक्त होकर सम्यक् प्रतीति की उत्पत्ति में हेतु बनती हैं । भाट्ट का जो ऐसा कहना है "कि कहीं २ निर्मलगुणयुक्त नेत्र भी मिथ्याज्ञान के कारण हो जाते हैं, तथा कहीं २ किसी व्यक्ति के लालिमादिदोषयुक्त नेत्र सत्यज्ञान के कारण होते हैं" सो इस प्रकार के ज्ञान होने में इन्द्रियगत निर्मलता का दोष नही है किन्तु जाननेवाले पुरुष की ही गलती है, क्योंकि वे व्यक्ति स्वच्छ नीली आदिरूप आँख के मल को ही निर्मलता मान बैठते है । पुरुष और उसके नेत्रादि इन्द्रियों में अनेक प्रकार के वातादि दोष हुआ करते हैं और उन दोषों का अभाव जो कि भावान्तर स्वभाववाला है, अनेक प्रकार का हुआ करता है । एक बात यह भी है कि ज्ञान उत्पन्न होकर फिर अपने में प्रामाण्य के निमित्त निर्मलतादिक की अपेक्षा करता हो ऐसी बात तो है नहीं जिससे प्रमाणभूत ज्ञान और प्रामाण्य में भेद माना जाय, प्रमाण ज्यों ही गुणवान् नेत्रादि इन्द्रियों से उत्पन्न होता है त्यों ही वह प्रामाण्य सहित ही उत्पन्न होता है, इसलिये इनमें काल का भेद नहीं पड़ता है ।

भाट्ट की मान्यता है कि पदार्थ को जैसा का तैसा जाननेरूप जो शक्ति है उस शक्तिलक्षणवाला प्रामाण्य स्वतः ही हो जाया करता है, इस मान्यता पर हम जैन का आक्षेप है कि यदि पदार्थ को जैसा का तैसा जानना रूप प्रामाण्य स्वतः होता है

अर्थतथाभावपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणप्रामाण्यस्य स्वतो भावाभ्युपगमे च अर्थान्यथात्वपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणाप्रामाण्यस्याप्यविद्यमानस्य केनचित्कर्तुमशक्तेः स्वतो भावोऽस्तु।

कथं चैवं वादिनो ज्ञानरूपतात्मन्यविद्यमानेन्द्रियैर्जन्यते ? तस्यास्तत्राविद्यमानत्वेऽप्युत्पत्त्युपगमेऽर्थग्रहणशक्त्या कोऽपराधः कृतो येनास्यास्तत समुत्पादो नेष्यते ? न चेमाः शक्तयः स्वाधारेभ्यः समासादितव्यतिरेका येन स्वाधाराभिमतविज्ञानवत् कारणेभ्यो नोदयमासादयेयुः। पाश्चात्यसंवाद-

---

तो पदार्थ को विपरीत जानने की शक्तिलक्षणवाला अप्रामाण्य भी स्वतः हो जावे, क्या बाधा है, 'जो अविद्यमान होता है उसको किसी के द्वारा भी नही किया जा सकता है" "नहि स्वतः असती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते" ऐसा आपने प्रदत्त प्रामाण्य का निषेध करने के लिये कहा था सो अब यही बात अप्रामाण्य मे भी है, अप्रामाण्य भी पर से (दोषो से) कैसे हो सकता है ? असत् शक्ति पैदा नही की जा सकती, ऐसा आपका ही कहना है ? असत् शक्ति के विषय मे हमे आपसे और भी पूछना है कि जब अविद्यमान शक्ति अन्य कारण से उत्पन्न नही की जा सकती है तो आत्मा मे अविद्यमान ऐसी घटाकार आदि ज्ञानरूपता इन्द्रियो के द्वारा किस प्रकार पैदा की जाती है ? बताइये यदि अर्थाकार ज्ञान रूपता आत्मा मे नही होती हुई भी इन्द्रियों द्वारा की जाती है तो पदार्थ को यथार्थ ग्रहण करने की शक्ति भी इन्द्रियो के द्वारा क्यो नही की जा सकती है ? उसने क्या अपराध किया है कि जो अर्थाकार ज्ञानरूपता अविद्यमान है और यथार्थग्रहणशक्ति भी अविद्यमान है तो भी अर्थाकारज्ञानरूपता तो इन्द्रियो से उत्पन्न हो जाय और यथार्थग्रहणशक्ति उत्पन्न न होवे ऐसी बात कैसे बन सकती है ? एक बात यह भी है कि शक्तिया जो होती है वे अपने आधार से भिन्न नही होती अपना आधार जो यहा ज्ञान है उनसे ये यथार्थग्रहण या अर्थाकारज्ञानरूपता अपने आधारभूत ज्ञान के समान कारणो से उत्पन्न न होवे, सो बात नही है अर्थात् अपना आधार जो ज्ञान है, वह ज्ञान जिस कारण से उत्पन्न होता है उसी कारण से उस ज्ञान की शक्तिया भी उत्पन्न हो जाया करती है, क्योकि वे शक्तिया उस ज्ञान से भिन्न नही है। जो जिससे पृथक् नही होता है अभिन्न होता है वह उसके कारण से उसमे साथ ही उत्पन्न हो जाता है, जैसे–घट का रूप घट से पृथक् नही है, अत घट जिससे पैदा होता है उसीसे उसका रूप पैदा हो जाया करता है। ऐसे ही ज्ञान या प्रमाण जिस इन्द्रियरूप कारण से उत्पन्न होता है, उसीसे उसमे प्रामाण्य उत्पन्न हो जाता है ऐसा मानना चाहिये।

प्रत्ययेन प्रामाण्यस्याजन्यत्वात्स्वतो भावेऽप्रामाण्यस्यापि सोस्तु । न खलूत्पन्ने विज्ञाने तदप्युत्तरकाल-भाविविसंवादप्रत्ययाद्भवति ।

यच्चोक्तम्–'लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु' तदप्युक्तिमात्रम्; यथावस्थितार्थव्य-वसायरूपं हि संवेदनं प्रमाणम्, तस्यात्मलाभे कारणापेक्षायां काऽन्या स्वकार्ये प्रवृत्तिर्या स्वयमेव

भावार्थ—जैन यद्यपि प्रामाण्य का स्वतः होना और पर से होना दोनों प्रकार से होना मानते हैं, किन्तु जब भाट्ट ने यह हठाग्रह किया कि पर से प्रामाण्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि "नह्यसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते" अपने में नहीं रही हुई शक्ति दूसरेके द्वारा पैदा नहीं की जा सकती है, इत्यादि—तब आचार्य ने कहा कि ऐसी बात है तो अप्रामाण्य भी पर से उत्पन्न नहीं हो सकता, जिसे आपने दोषरूप पर कारण से उत्पन्न होना स्वीकार किया है, अप्रामाण्य के विषय में भी "नह्यसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते" यह नियम लागू होता है, हां, इतना जरूर है कि मिथ्यात्वरूप अन्तरग कारण और सदोष इन्द्रियादिरूप बहिरंग कारणों से उस ज्ञान में विपरीतता आती है । यहां ज्ञान को इन्द्रियों से जन्य जो माना है वह सहायक कारण की अपेक्षा से माना है । ज्ञान और उसकी अर्थग्रहण शक्ति ये दोनों अभिन्न हैं–अतः ज्ञान यदि इन्द्रियरूप कारण से (सहायक कारण की अपेक्षा से) उत्पन्न होता है तो साथ ही यथार्थग्रहण शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है । इसी प्रकार अप्रामाण्ययुक्त ज्ञान भी अपने अप्रामाण्यधर्म या शक्ति के साथ उत्पन्न होता है । ऐसा भाट्ट को मानना पड़ेगा, क्योंकि उन्होंने प्रामाण्य में स्वतः ही होने का हठाग्रह किया है । जैन तो स्याद्वादी हैं, वे प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतः परतः दोनों रूप से होना मानते हैं । यहां सिर्फ भाट्ट के एकान्त पक्ष का खण्डन करने के लिये कहा है कि प्रामाण्य स्वतः होता है तो अप्रामाण्य भी स्वतः होगा इत्यादि, इसी विषय पर आगे भी कह रहे हैं । भाट्ट का कहना है कि पीछे से आनेवाला जो संवादकज्ञान है उससे ज्ञानमें प्रामाण्य पैदा नहीं होता है, इसलिये हम प्रामाण्य को स्वतः ही होना मानते हैं, सो हम जैन का कहना है कि अप्रामाण्य भी पीछे से आनेवाले विसंवाद या दोष से पैदा नहीं होता है, इसलिये अप्रामाण्य को भी स्वतः होना मानना चाहिये । ऐसा तो होता ही नहीं कि ज्ञान उत्पन्न हो चुका हो और उसमें अप्रामाण्य उत्तर कालीन विसंवादक ज्ञान से उत्पन्न हो जाय । अतः अप्रामाण्य पीछे दोष आदि पर कारण से उत्पन्न होता है यह कथन असत्य ही ठहरता है ।

स्यात् ? घटस्य तु जलोद्वहनव्यापारात्पूर्वं रूपान्तरेणापि स्वहेतोरुत्पत्तेर्युक्ता मृदादिकारणनिरपेक्षस्य तत्र प्रवृत्तिः प्रतीतिनिबन्धनत्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः । विज्ञानस्य तूत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशोपगमात्कुतो लब्धात्मनो वृत्तिः स्वयमेव स्यात् ? तदुक्तम्—

"न हि तत्क्षणमप्यास्ते जायते वाऽप्रमात्मकम् ।
येनार्थग्रहणे पश्चाद्व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत् ।। १ ।।

मीमांसक भाट्ट ने प्रतिपादन किया था—पदार्थ जब अपने स्वरूप को प्राप्त हो चुकते हैं तब वे स्वतः ही अपने कार्यों में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं इत्यादि, सो यह प्रतिपादन भी ठीक नहीं है, इसी को बताते हैं—पदार्थ जैसा है वैसा उसका निश्चय करना–जानना जिससे होता है वह ज्ञान प्रमाणभूत कहलाता है, अर्थात् जैसी वस्तु है वैसी ही उसका ज्ञान के द्वारा ग्रहण होना प्रामाण्य का लक्षण है । ऐसे प्रामाण्य में या प्रामाण्यधर्मवाले प्रमाण में कारणों की अपेक्षा देखी जा रही है तब और न्यारी कौन सी प्रमाण की प्रवृत्ति बचती है कि जिसमें वह स्वतः प्रवृत्त न हो; अर्थात्–यथावस्थित पदार्थ को जानना ही प्रामाण्य है और वही प्रमाण की प्रवृत्ति है । पदार्थ अपने स्वरूप को प्राप्त कर फिर अपने कार्य में प्रवृत्ति किया करते हैं ऐसा सिद्ध करते समय उन्होंने जो घट का उदाहरण दिया था सो घट की बात जुदी है, घट अपना कार्य जो जलधारण आदि है उसमें प्रवृत्ति करने के पहले भी भिन्नस्वरूप से स्वकारण द्वारा उत्पन्न होते हुए देखा जाता है अर्थात् मिट्टी आदि कारण से घट अपने स्वरूप को प्राप्त करता है पर वह स्वरूप तो उस समय उसका रिक्ततारूप रहता है [खाली-रूप होता है] बाद में जल धारण–[जलादि से भरे रहने] रूप जो स्वकार्य है उसमें उसकी प्रवृत्ति हुआ करती है, अतः घट का जो जलधारणादि कार्य है उसमें मिट्टी आदि कारणों की अपेक्षा उसे नहीं होती है, घटादि पदार्थ इसी तरह से स्वकार्यको करनेवाले होते हैं । ऐसा ही सभी को प्रतीत होता है, प्रतीति के बल पर ही वस्तुओं की व्यवस्था हुआ करती है । यह घट की प्रक्रिया ज्ञान में घटित नहीं होती अर्थात् घट की तरह ज्ञान पहले इन्द्रियोंसे प्रामाण्य रहित उत्पन्न होता हो फिर स्वकार्य में प्रवृत्त होता हो सो बात नहीं, वह तो प्रामाण्य युक्त ही उत्पन्न होता है । तथा ज्ञान उत्पत्ति के अनन्तर ही नष्ट हो जाता है ऐसा आपने स्वीकार किया है, अतः पहिले ज्ञान उत्पन्न होवे फिर वह जाननेरूप कार्य में प्रवृत्त होवे ऐसा ज्ञान के सम्बन्ध में घट की तरह होना सिद्ध नहीं होता है । आपके ग्रन्थ में भी यही बात कही है—

तेन जन्मैव बुद्धेर्विषये व्यापार उच्यते ।
तदेव च प्रमारूप तद्वती करणं च धीः ।। २ ।।"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५५-५६] इति ।

किञ्च, प्रमाणस्य किं कार्यं यत्रास्य प्रवृत्तिः स्वयमेवोच्यते-यथार्थपरिच्छेदः, प्रमाणमिदमित्यवसायो वा ? तत्राद्यविकल्पे 'आत्मानमेव करोति' इत्यायातम्, तच्चायुक्तम्; स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । नापि प्रमाणमिदमित्यवसायः; भ्रान्तिकारणसद्भावेन क्वचित्तदभावात्, क्वचिद्विपर्ययदर्शनाच्च ।

प्रमाण या विज्ञान उत्पत्ति के बाद क्षणमात्र भी ठहरता नहीं है—नष्ट हो जाता है, तथा अप्रमाणरूप भी पैदा नहीं होता । प्रमाण की जो उत्पत्ति है वही उसका विषय में व्यापार या प्रवृत्ति कहलाती है, अतः ज्ञान इन्द्रियों के समान उत्पत्ति के बाद भी स्वकार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, अतः ज्ञान का उत्पन्न होना ही उसकी विषय में प्रवृत्ति है वही प्रमा—जाननेरूप प्रमिति है । और वही इस प्रमा का करण है प्रमायुक्त बुद्धि भी वही है, सब कुछ वही है । अतः आपके इस आगम कथन से सिद्ध होता है कि ज्ञान उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाता है ।

दूसरी बात यह है कि आप स्वयं कहिये कि प्रमाण का कार्य क्या है कि जिसमें इसकी—प्रमाण की प्रवृत्ति स्वयं होती है ? क्या जैसा पदार्थ है वैसा ही जानना यह प्रमाण का कार्य है अथवा "यह प्रमाण है" ऐसा निश्चय होना यह प्रमाण का कार्य है ? प्रथम विकल्प—यथार्थ रूप से जानने को प्रमाण का कार्य माना जाय तो प्रमाण ने अपने को किया ऐसा अर्थ हुआ पर यह कथन आपके मन्तव्य से फिट नहीं बैठता है क्योंकि "स्वात्मनि क्रिया विरोधः" अपने आपमें क्रिया नहीं होती ऐसा आपका ही सिद्धांत है । "यह प्रमाण है" ऐसा स्वका बोध होना प्रमाण का कार्य है, ऐसा दूसरा विकल्प भी गलत है, देखिये ! किसी मनुष्य के नेत्र सदोष हैं इससे उसे सत्यजल ज्ञान के हो जाने पर भी भ्रम हो जाता है अतः वह व्यक्ति यह जल ज्ञान प्रमाण है ऐसा निर्णय नहीं कर पाता है । तथा कहीं कहीं पर तो इससे विपरीत भी देखा जाना होता है—जैसे कि भ्रान्त ज्ञान में "यह प्रमाण है" ऐसा निर्णय गलत हो जाता है, सो इस प्रकार का निर्णय होने मात्र से क्या भ्रान्त ज्ञान प्रमाण बन जायेगा ? नहीं । यहां तक प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रामाण्य की उत्पत्ति किस प्रकार पर से (गुणों से होती है) आती है इस बात को सबल युक्तियों से सिद्ध करते हुए आचार्य

अनुमानोत्पादकहेतोस्तु साध्याविनाभावित्वमेव गुणो यथा तद्वैकल्यं दोषः। साध्याविनाभावस्य हेतुस्वरूपत्वाद्गुणरूपत्वाभावे तद्वैकल्यापि हेतोः स्वरूपविकलत्वाद्दोषता मा भूत्।

आगमस्य तु गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वेन प्रामाण्यं सुप्रसिद्धम्, अपौरुषेयत्वस्यासिद्धेः, नीलोत्पलादिषु दहनादीनां वितथप्रतीतिजनकत्वोपलम्भेनानेकान्तात्, परस्परविरुद्धभावनानियोगाद्यर्थेषु प्रामाण्य-

---

ने भाट्ट के विविध कथनों और शंकाओं का निरसन किया है। अब अनुमान प्रमाण में भी गुणों से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है ऐसा सिद्ध करते हैं–अनुमान का उत्पादक जो हेतु है उस हेतु का अपने साध्य के साथ अविनाभाव से रहना गुण कहा जाता है, जैसा कि अपने साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव से नहीं रहना हेतु का दोष कहा गया है। "साध्य के साथ अविनाभावपने से रहना हेतु का स्वरूप है न कि गुण" यदि ऐसा माना जाय तो अविनाभाव की विकलता भी हेतु का स्वरूप ही मानना चाहिये; उसे दोष रूप नहीं मानना चाहिये, इस तरह अनुमान प्रमाण में भी गुणों से ही प्रमाणता की उत्पत्ति होती है, यह सिद्ध हुआ। आगम में प्रमाणता की उत्पत्ति का कारण तो उसका गुणवान्–रागद्वेष रहित पुरुष के द्वारा प्रणीतत्व होना है यह सर्व प्रसिद्ध बात है, फिर भी मीमांसकादि आगम को अपौरुषेय (–पुरुष के द्वारा नहीं रचा हुआ) मानते हैं, सो यह अपौरुषेयपना असिद्ध है–क्योंकि बिना पुरुषकृत प्रयत्न के शब्द रचना होती नहीं इत्यादि अनेक दूषण आगम को अपौरुषेय मानने में आते हैं। तथा जो अपौरुषेय [पुरुषकृत नहीं] है वही सत्य है ऐसा कहना अनैकान्तिक दोष युक्त है, कैसे सो बताते हैं–जंगल में जब स्वयं दावाग्नि प्रज्वलित होती है तब उस अग्नि के प्रकाश में नील कमल आदि पदार्थ लाल रंग युक्त सुवर्ण जैसे दिखायी देते हैं, सो ऐसे मिथ्याज्ञान होने में कारण पुरुषकृत प्रयत्न न होकर अपौरुषेय [स्वयं प्रकट हुई दवाग्नि] ही कारण है। अतः जो अपौरुषेय है वही प्रमाण है–सत्य ज्ञानका कारण है ऐसा नियम नहीं रहता है। एक बात सुनिये! आप लोग वेद को अपौरुषेय मानते हैं, और उसी को सर्वथा प्रमाणभूत स्वीकार करते हैं तो फिर वेद के पदों के अर्थ करने में इस प्रकार की परस्पर विरुद्धार्थता क्यों? देखो "पूर्वाचार्यो हि धात्वर्थं वेदे भट्टस्तु भावनाम्। प्राभाकरो नियोगंतु शंकरो विधिमब्रवीत्" पूर्वाचार्य वेदस्थित पदों का अर्थ धातु परक करते हैं, भाट्ट भावना रूप अर्थ करते हैं, तुम्हारे भाई प्रभाकर नियोग रूप अर्थ करते हैं तथा शंकरमतवाले उन पदों का अर्थ विधिरूप करते हैं, सो अपौरुषेय वेद को प्रमाणभूत मानने में इन परस्पर विरुद्ध अर्थों को भी प्रामाणिक मानना

प्रसङ्गाच्च । निखिलवचनानां लोके गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वेन प्रामाण्यप्रसिद्धेः, अत्रान्यथापि तत्परिकल्पने प्रतीतिविरोधाच्च ।

अपि च अपौरुषेयत्वेप्यागमस्य न स्वतोऽर्थे प्रतीतिजनकत्वम् सर्वदा तत्प्रसङ्गात् । नापि पुरुषप्रयत्नाभिव्यक्तस्य; तेषां रागादिदोषदुष्टत्वेनोपगमात् तत्कृताभिव्यक्तेर्यथार्थतानुपपत्तेः । तथाच अप्रामाण्यप्रसङ्गभयाद्पौरुषेयत्वाभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति । तदुक्तम्—

पड़ेगा । इसलिये वेद वचन ही प्रमाणभूत है ऐसी बात नहीं बनती है । प्रसिद्ध बात जगत में है कि जो वचन गुणवान् पुरुष के द्वारा कहे गये होते हैं उन्हीं में प्रामाण्य होता है और वे ही मान्य होते हैं । इससे विपरीत मानते हैं तो प्रतीति से विरोध आता है अर्थात्—वेद का रचयिता पुरुष नहीं है वह तो अपौरुषेय है ऐसा स्वीकार करोगे तो प्रतीति विरुद्ध बात होगी, क्योंकि अपौरुषेय वचनों में प्रमाणता आती ही नहीं है । वह तो गुणवान् पुरुष के वचनों से ही आती है । आपके आग्रह से अब हम उसे अपौरुषेय मान कर उस पर विचार करते है, भले ही आपका आगम अपौरुषेय होवे तो भी वह स्वतः ही अपने अर्थों की प्रतीति तो नहीं करायेगा ? यदि स्वतः ही अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा माना जाय तो हमेशा ही प्रतीति कराने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, इसलिये वेद स्वतः ही अपने पदों का अर्थबोध कराता है ऐसा कहना गलत है । यदि किसी ज्ञानी पुरुष के द्वारा उन वेद पदों का अर्थ समझाया जाता है इस प्रकार का पक्ष माना जाय तो भी आपत्तिजनक है, क्योंकि आपके मतानुसार सभी पुरुष रागद्वेष आदि दोषों से भरे हुए होते हैं, वे वेद पदों का सही अर्थ समझा नहीं सकते, अतः पुरुष के द्वारा जो वेदवाक्यों का अर्थ किया जावेगा तो "उन वाक्यों का ऐसा ही अर्थ है" इस तरह की निर्दोष प्रतीति कैसे हो सकेगी और कैसे उस अर्थ में प्रमाणता आसकेगी ? नहीं आ सकती । दूसरी बात यह है कि आपने अप्रामाण्यके भयसे वेदको अपौरुषेय माना था [अर्थात् वेदको पुरुषकृत मानेंगे तो अप्रमाणभूत होवेगा] किन्तु उसको अपौरुषेय मानकर भी पुनः वेदार्थको पुरुषकृत बताया सो यह गजस्नान जैसी चीज हुई अर्थात् स्वच्छताके लिये हाथी ने स्नान किया किन्तु पुनः अपने ऊपर धूलको डाल दिया, ठीक इसी प्रकार अप्रामाण्य के दोष को दूर करनेके लिये वेदको अपौरुषेय स्वीकार किया किन्तु पुनः वेदार्थ को पुरुषकृत ही मान लिया, सो यह मीमांसक की गज स्नान जैसी प्रक्रिया है । कहा भी है—

"असंस्कार्यतया पुंभिः सर्वथा स्यान्निरर्थता ।
संस्कारोपगमे व्यक्तं गजस्नानमिदं भवेत् ॥ १ ॥"

[प्रमाणवा० १।२१२]

तन्न प्रामाण्यस्योत्पत्तौ परानपेक्षा ।

नापि ज्ञप्तौ । साहि निर्निमित्ता, सन्नि(सनि)मित्ता वा ? न तावन्निर्निमित्ता; प्रतिनियत-देशकालस्वभावाभावप्रसङ्गात् । सनिमित्तत्वे किं स्वनिमित्ता, अन्यनिमित्ता वा ? न तावत्स्वनिमित्ता, स्वसंविदितत्वानभ्युपगमात् । अन्यनिमित्तत्वे तत्किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानम् ? न तावत्प्रत्यक्षम्; तस्य

यदि वेदार्थ को पुरुष द्वारा संस्कारित नहीं मानते हैं तो वेद पद निरर्थक ठहरते हैं, और यदि वे पद पुरुष द्वारा संस्कारित हैं ऐसा मानते हैं तो स्पष्ट रूपसे गज स्नानका अनुकरण होता है ॥ १ ॥

इस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्तिमें परकी अपेक्षा नहीं होती ऐसा मीमांसक का एकांत आग्रह था वह सिद्ध नहीं हुआ । अब प्रामाण्य की ज्ञप्ति परसे नहीं होती ऐसा उन्हीं मीमांसक का जो पूर्वपक्ष था उस पर विचार करते हैं-सबसे पहले प्रश्न होता है कि प्रामाण्यकी ज्ञप्ति निर्निमित्तक है या सनिमित्तक है ? निर्निमित्त का मानना ठीक नहीं रहेगा, क्योंकि ज्ञप्तिको निमित्त रहित मानने पर प्रतिनियत देश प्रतिनियत काल एवं प्रतिनियत स्वभावपनेका उस ज्ञप्तिमें अभाव होगा, जो निर्निमित्त वस्तु होती है उसमें प्रतिनियत देश—इसी एक विवक्षित स्थान पर होना, प्रतिनियत काल—इसी कालमें होना और प्रतिनियत स्वभाव—इसी स्वभाव रूप होना ऐसा देशादिका नियम बन नहीं सकता । दूसरा प्रश्न—प्रामाण्य की ज्ञप्ति सनिमित्तक है ऐसा मानने पर प्रश्न होता है कि उस ज्ञप्ति का निमित्त क्या है ? क्या प्रामाण्य ही उसका निमित्त है अथवा प्रामाण्य से पृथक् कोई दूसरा उसका निमित्त है ? स्वनिमित्तक [प्रामाण्य निमित्तक] ज्ञप्ति हो नहीं सकती, क्योंकि मीमांसकों ने ज्ञान को स्वसंविदित माना ही नहीं है । यदि ज्ञप्ति का अन्य दूसरा निमित्त है ऐसा दूसरा पक्ष मानो तो पुनः प्रश्नों की माला गले पड़ती है कि वह अन्य निमित्त कौन है । क्या प्रत्यक्ष है अथवा अनुमान ? प्रत्यक्ष निमित्त बन नहीं सकता क्योंकि प्रामाण्य की ज्ञप्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं होती है, प्रत्यक्ष प्रमाण तो इन्द्रिय से संयुक्त विषय में प्रवृत्ति करता है । अक्षं—इन्द्रियं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्" ऐसी प्रत्यक्ष पद की व्युत्पत्ति है, सो प्रामाण्य के

तत्र व्यापाराभावात् । तद्धीन्द्रियसंयुक्ते विषये तद्व्यापारादुदयमासादयत्प्रत्यक्षव्यपदेशं लभते । न च प्रामाण्येनेन्द्रियाणां सम्प्रयोगो येन तद्व्यापारजनितप्रत्यक्षेण तत्प्रतीयेत । नापि मनोव्यापारजप्रत्यक्षेण; एवंविधानुभवाभावात् ।

नाप्यनुमानत:; लिङ्गाभावात् । अर्थप्राकट्यं लिङ्गम्; तत्किं यथार्थत्वविशेषणविशिष्टम्, निर्विशेषणं वा ? प्रथमपक्षे तस्य यथार्थत्वविशेषणग्रहणं प्रथमप्रमाणात्, अन्यस्माद्वा ? आद्यपक्षे परस्पराश्रयः दोषः । द्वितीयेऽनवस्था । निर्विशेषणात्तत्प्रतिपत्तौ चातिप्रसङ्गः । प्रत्यक्षानुमानाभ्यां

साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष तो होता नहीं जैसा कि पदार्थ के साथ होता है। इन्द्रिय और प्रामाण्य का जब संप्रयोग ही नहीं तो उसके व्यापार से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष के द्वारा प्रामाण्य की ज्ञप्ति किस प्रकार जानी जायगी ? अर्थात् नहीं जानी जायगी । मन से उत्पन्न हुए मानस प्रत्यक्ष के द्वारा भी प्रामाण्य के ज्ञप्ति की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार का किसी को भी अनुभव नहीं होता है कि मानस प्रत्यक्ष ज्ञप्ति को ग्रहण करता है । इस तरह ज्ञप्ति का निमित्त प्रत्यक्ष प्रमाण है यह बात असिद्ध हुई । अनुमान से भी ज्ञप्ति का ग्रहण होना बनता नहीं, क्योंकि यहां हेतु का अभाव है ।

शंका—ज्ञप्ति को ग्रहण करने वाले अनुमान में अर्थप्राकट्य हेतु है, अर्थात् प्रमाण में प्रामाण्य है क्योंकि अर्थप्राकटच–पदार्थ का जानना हो रहा है इस अर्थप्राकटयरूप हेतु वाले अनुमान से ज्ञप्ति का बोध हो जायगा ।

समाधान–ठीक है ! पर यह अर्थ प्राकटच हेतु यथार्थत्व विशेषण से सहित है कि उससे रहित है ? यदि यथार्थत्व विशेषण से युक्त है तो उस विशेषण को कौन जानता है ? क्या प्रथम प्रमाण–ज्ञान जानता है अथवा अन्य कोई प्रमाण ? प्रथम प्रमाण जानता है ऐसा कहो तो परस्पराश्रय दोष आता है कैसे–सो ही बताते हैं– किसी पुरुष को 'यह जल है" ऐसा ज्ञान हुआ सो इस ज्ञान की प्रमाणता का निमित्त है अर्थप्राकटच, और यह अर्थप्राकटच यथार्थ रूप से वस्तु का ग्रहण होना रूप विशेषण वाला है, इस बात को प्रथम जल ज्ञान तब जानेगा जब वह अर्थप्राकटच में यथार्थत्व रूप विशेषण को ग्रहण करेगा और पुनः जाने हुए उस यथार्थत्व विशेषणवाले हेतु से उस प्राथमिक जल ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होगा। इस तरह दोनों असिद्ध ही रह जायेंगे । दूसरा पक्ष–अन्य कोई प्रमाण से अर्थ प्राकटच हेतु का यथार्थत्व विशेषण जाना जाता है ऐसा मानो, तो अनवस्था होती है, क्योंकि आगे आगे आने वाले

तत्प्रामाण्यनिश्चये स्वतः पामाण्यव्याघातश्च ।

यच्च संवादात्पूर्वस्य प्रामाण्ये चक्रकदूषरण; तदप्यसङ्गतम्; न खलु संवादात्पूर्वस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तते, किन्तु वह्निरूपदर्शने सत्येकदा शीतपीडितोऽन्यार्थं तद्द्देशमुपसर्पन् कृपालुना वा केनचित्तद्देश वह्नेरानयने तत्स्पर्शविशेषमनुभूय तद्रूपस्पर्शयो: सम्बन्धमवगम्यानभ्यासदशायां 'ममायं रूपप्रतिभासोऽभिमतार्थक्रियासाधन: एवंविधप्रतिभासत्वात्पूर्वोत्पन्नैवंविधप्रतिभासवत्' इत्यनुमाना-

---

प्रमाणों में अर्थ प्राकटच के यथार्थत्व विशेषरण को जानने के लिये प्रमाण परंपरा की विश्रान्ति नहीं होगी अर्थात् अनुमान के हेतु का विशेषरण जानने के लिये पुन: अन्य प्रमाण की जरूरत होगी, पुन: उसमें प्रदत्त हेतु के विशेषण को जानने के लिये अन्य प्रमाण ज्ञान की आवश्यकता होगी, इस प्रकार कहीं भी स्थिति नहीं रहेगी। इन दोषों से बचने के लिये यदि अर्थप्राकटच हेतु विशेषण रहित माना जाय तो अतिप्रसंग होगा–अर्थात् यह जल ज्ञान प्रमाणभूत है क्योंकि इसके द्वारा अर्थप्राकटच हुआ है सो इतने मात्र हेतु से जलज्ञान में प्रामाण्य माना जाये तो मिथ्याज्ञान में भी प्रामाण्य मानना पड़ेगा ? क्योंकि उसके द्वारा भी अर्थप्राकटच तो होता ही है। किञ्च–यदि प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा पूर्वज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होना माने तो "प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: होती है ऐसी आपकी मान्यता खतम होती है जो आपको अनिष्ट है। भाट्ट ने पूर्व में कहा था कि संवादक ज्ञान से प्रमाण में प्रामाण्य आता है ऐसा माना जायगा तो चक्रक दोष आवेगा सो यह कहना गलत है–क्योंकि कोई पुरुष अपने जलादि ज्ञानों में संवादक प्रत्यय के द्वारा प्रमाणता का निश्चय करके अर्थ क्रिया करने की प्रवृत्ति नहीं करता है। अर्थ क्रिया में प्रवृत्ति किस तरह होती है ? ऐसा प्रश्न हो तो बताते हैं–किसी पुरुष ने पहले अग्नि का रूप दूर से देखा था, वह पुरुष पुष्पादि वस्तु को लाने के लिये वहीं कहीं जा रहा था, रास्ते में उसे सर्दी लगी, वहीं पर कहीं अग्नि जल रही थी, उस अग्नि को देखकर वह उसके निकट गया तो उसे उसका उष्णस्पर्श प्रतीत हुआ तब वह पुरुष पूर्वमें देखा हुआ भास्वर रूप और वर्तमान का अनुभव किया हुआ, उष्णस्पर्श इन दोनोंका संबंध जान लेता है कि ऐसे भास्वर रूप वाला पदार्थ उष्णता युक्त होता है, मेरा यह रूपका ज्ञान इच्छित कार्य को करने वाला है। इस तरह निश्चय करके वह पुरुष अग्नि से तापने आदि कार्य में प्रवृत्ति करता है क्योंकि वह अग्नि के विषय में अनभ्यस्त था, यदि उस शीत पीडित पुरुष को देखकर कोई दयालु व्यक्ति उसके पास अग्नि को लाकर रखता है तब भी वह पुरुष अपने

त्साधननिर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तते । कृषीवलादयोपि ह्यनभ्यस्तबीजादिविषये प्रथमतरं तावच्छरावादावल्पतरबीजवपनादिना बीजाबीजनिर्धारणाय प्रवर्त्तन्ते, पश्चाद्दृष्टसाधर्म्यात्परिशिष्टस्य बीजाबीजतया निश्चितस्योपयोगाय परिहाराय च अभ्यस्तबीजादिविषये तु निःसंशयं प्रवर्त्तन्ते ।

यच्चाभ्यधायि–संवादप्रत्ययात्पूर्वस्य प्रामाण्यावगमेऽनवस्था तस्याप्यपरसंवादापेक्षाऽविशेषात्; तदप्यभिधानमात्रम्; तस्य संवादरूपत्वेनापरसंवादापेक्षाभावात् । प्रथमस्यापि संवादापेक्षा मा

पहले देखे हुए अग्नि का रूप याद कर और वर्तमान में उसका स्पर्श शीतनिवारक जानकर संबंध का ज्ञान करता है कि इस प्रकार का रूप प्रतिभास किसी वस्तु का होवे तो वह शीतबाधा को दूर करने वाली वस्तु समझनी चाहिये । इस तरह साधन निर्भासी ज्ञान में प्रामाण्य देखकर इष्ट कार्य में (शीतता को दूर करना आदि में) प्रवृत्ति करता है । इसी विषय में अन्य दृष्टांत भी हैं, जैसे–किसानादि लोग विवक्षित गेहूं आदि बीजों की अंकुरोत्पादनरूप शक्ति को (गुण धर्म को) नहीं जानते हों, उन विवक्षित बीजों के विषय में अनभ्यस्त हों तो वे पहले सकोरा गमला आदि में थोड़े से बीजों को बो देते हैं और बीज अबीज की परीक्षा करते हैं-कि इस गमले में अमुक बीज बोये तो अंकुरे बढ़िया आये या नहीं इत्यादि, जब उन किसानों को बीज और अबीज की परीक्षा हो जाती है तब उनमें से जिनके अंकूर ठीक उगे उन्हें बोने योग्य समझकर उन्हीं के समान जो बीज रखे थे उनका तो खेती में उपयोग करते हैं और जो अबीज रूप से परीक्षा में उतरे थे उनको छोड़ देते हैं खेती में बोते नहीं हैं । इसी प्रकार कोई किसान बीज के विषय में अभ्यस्त है तो वे निःसंशय बीजवपन कार्य को करते हैं । इसलिये अनभ्यस्त अवस्था में संवादक से प्रामाण्य आने में चक्रक आदि दोष नहीं आते हैं ऐसा सिद्ध होता है । संवादक प्रत्यय से प्रामाण्य मानने पर जो अनवस्था दोष आने की बात भाट्टने कही थी सो भी ठीक नहीं, क्योंकि संवादक तो संवादस्वरूप ही है, उसको दूसरे संवादक ज्ञान की अपेक्षा नहीं पड़ती है । अन्यथा वह संवादक ही क्या कहलावेगा ।

शंका—ऐसी बात है तो प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य में भी संवादक की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—ऐसा प्रश्न गलत है, प्रथमज्ञान तो असंवाद रूप है, इसलिये उसमें संवादक ज्ञान से प्रामाण्य निश्चित किया जाता है । अर्थ क्रिया का जो ज्ञान है

भूदित्यप्यसमीचीनम्; तस्यासंवादरूपत्वात्, अतः संवादकद्वारेणैवास्य प्रामाण्यं निश्चीयते ।

अर्थक्रियाज्ञानं तु साक्षादविसंवाद्यर्थक्रियालम्बनत्वान्न तथा प्रामाण्यनिश्चयभाक् । तेन 'कस्यचित्तु यदीष्येत' इत्यादि प्रलापमात्रम् । न चार्थक्रियाज्ञानस्याप्यवस्तुवृत्तिशङ्कायामन्यप्रमाणापेक्षयानवस्थावतारः । अस्यार्थाभावेऽदृष्टत्वेन निरारेकत्वात् । यथैव हि-किं 'गुणव्यतिरिक्तेन गुणिनाऽर्थक्रिया सम्पादिता उताऽव्यतिरिक्तेनोभयरूपेणानुभयरूपेण, त्रिगुणात्मना वार्थेन, परमाणुसमूहलक्षणेन वा' इत्याद्यर्थक्रियार्थिनां चिन्ताऽनुपयोगिनी निष्पन्नत्वाद्वाञ्छितफलस्य, तथेयमपि 'किं

उसके विषय में तो यह समझना चाहिये कि वह ज्ञान साक्षात् ही विसंवाद रहित होता है, क्योंकि स्नान पानादि अर्थ क्रिया ही जिसका अवलंबन [विषय] है तो ऐसे ज्ञान में संवादक की अपेक्षा लेकर प्रामाण्य का निश्चय नहीं हुआ करता है, वह तो स्वतः ही प्रामाण्य स्वरूप होता है । भाट्ट ने कहा था-यदि किसी एक संवादक ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य होता है तो प्रथम ज्ञानमें स्वतः प्रामाण्य मानने में क्यों द्वेष करते हो ? इत्यादि सो यह कथन भी बकवाद मात्र है, क्योंकि हम जैन इस बातको बता चुके हैं कि संवादक ज्ञान अभ्यस्त विषयक होनेसे स्वतः प्रामाणिक रहता है, किन्तु इस तरह सभी ज्ञान अभ्यस्त नहीं हुआ करते । मीमांसकने कहा था कि अर्थक्रियाका ज्ञान भी पदार्थके अभाव हो सकता है अतः उसके अवास्तविकताके बारे में शंका उपस्थित हो जाय तो पुनः अन्य प्रमाणकी अपेक्षा लेनी पड़ेगी और इस तरह अनवस्था आवेगी; सो यह कथन अविचार पूर्ण है, अर्थक्रियाका कभी भी पदार्थ के अभाव में देखा नहीं जाता, अतः उसमें अवास्तविकता की शंका होना असंभव है, अर्थात् "यह जल है" ऐसा ज्ञान होनेके अनंतर उस जलकी अर्थक्रिया जो स्नान पानादि है वह सम्पन्न हो जाती है तब उसमें अवास्तविकता का कोई प्रश्न ही नहीं रहता ।

एक बात और भी विचारणीय है कि जिस पदार्थ से जो अर्थ क्रिया सम्पन्न होती है उस पदार्थ में गुण हैं वे गुण पदार्थ से पृथक् हैं या अपृथक् हैं, उभयरूप हैं या अनुभय रूप हैं, ऐसा विचार अर्थक्रिया को चाहने वाले व्यक्ति को नहीं हुआ करता है, तथा यह पदार्थ सत्व रज, तम गुण वाला प्रधान है अथवा परमाणुओं का समूह रूप है। कैसा है ? किससे बना है ? इत्यादि चिंता अर्थ क्रियार्थी पुरुष नहीं किया करते हैं, उनके लिये इन विचारों की जरूरत ही नहीं, उनका कार्य स्नानपानादि है वह हुआ कि फिर वे सफल मनोरथ वाले कृतकृत्य हो जाते हैं । भावार्थ-किसी पुरुष को प्यास

वस्तुभूतायामवस्तुभूतायां वार्थक्रियायां तत्संवेदनम्' इति । वृद्धिच्छेदादिकं हि फलमभिलषितम्, तच्चेन्निष्पन्नं नृडिव तृडिव)योगिज्ञानानुभवे किं तच्चिन्तासाध्यम् ?

न च स्वप्नार्थक्रियाज्ञानस्यार्थाभावेपि दृष्टत्वाज्जाग्रदर्थक्रियाज्ञानेपि तथा शङ्का; तस्यैतद्विपरीतत्वात् । स्वप्नार्थक्रियाज्ञानं हि सबाधम्; तद्द्रष्टुरेवोत्तरकालमन्यथाप्रतीतेः न जाग्रद्दशाभावीति । यदि चात्रार्थक्रियाज्ञानमर्थमन्तरेण स्यात् किमन्यज्ज्ञानमर्थाव्यभिचारि यद्बलेनार्थव्यवस्था ?

लगी थी, गरमी सता रही थी, जंगल में भटकते हुए दूर से सरोवर दिखायी दिया तब वह सीधा जाकर स्नान करना, पानी पीना आदि कार्य करता है न कि यह सोचता है कि "यह जल है" इसमें शीतलता गुण है सो इस गुण को यौगमत के समान पृथक् माने अथवा सांख्य चार्वाक के समान अपृथक् माने, जैन मीमांसकों के मान्यतानुसार शीत गुण जल से अपृथक् पृथक् दोनों रूप है, बौद्ध गुण को गुणीसे अनुभयरूप बतलाते हैं, सांख्य जलादि सभी वस्तु को त्रिगुणात्मक प्रधान की पर्याय बतलाते हैं, बौद्ध के एक भाई परमाणुओं का समूह रूप वस्तु स्वीकार करते हैं इत्यादि दुनियां भर की चिंता उस पिपासु को नहीं सताती है उसको तो प्यास-गरमी सता रही है वह मिट गयी कि वह सफल मनोरथ वाला होकर, अपने मार्ग में लग जाता है, इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थ क्रिया का बोध होने पर पुनः शंका या कोई आपत्ति आती ही नहीं इसलिये आगे के ज्ञानों की अपेक्षा नहीं होती कि जिन्हें लेकर अनवस्था हो ।। अर्थ क्रिया के इच्छुक पुरुष जिस प्रकार पदार्थ के गुण आदि में लक्ष्य नहीं देते हैं, उसी प्रकार अर्थ क्रिया के विषय में भी लक्ष्य नहीं रखते कि वास्तविक अर्थ क्रिया के होने पर उसका संवेदन (ज्ञान) हो रहा है अथवा अवास्तविक अर्थ क्रिया के होने पर हो रहा है ? इत्यादि जल की अर्थ क्रिया के इच्छुक, पुरुष, तृष्णा शांत करना, शरीर का मैल दूर करना आदि फल की अभिलाषा करते हैं सो वह अभिलाषा पूर्ण हो जाने पर उन्हें जब संतोष होता है तो वे व्यर्थ की वस्तु की चिंता क्यों करें । कोई कहे कि स्वप्न में अर्थ क्रियाका ज्ञान विना पदार्थ के भी होता है, इसलिये शंका होती है कि जाग्रद दशा में जो अर्थक्रियाका ज्ञान हो रहा है वह कहीं विना पदार्थ के तो नहीं है ? इत्यादि सो ऐसी शंका बेकार है । स्वप्न में अनुभवित हुआ अर्थक्रियाका ज्ञान जाग्रद दशाके अर्थक्रिया ज्ञान से विपरीत है, देखो ! स्वप्न में अर्थक्रियाका जो ज्ञान होता है वह बाधायुक्त है, खुद स्वप्न देखने वाले को ही वह उत्तरकाल में [जाग्रद अवस्था में] अन्यथा [विपरीत अर्थ क्रिया का असाधक] दिखाई देता है, जाग्रद दशा के अर्थ

अपि च, 'अर्थक्रियाहेतुर्ज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणं तत्कथं फलेप्याशङ्क्यते ? यथा 'अंकुरहेतुर्बीजम्' इति बीजलक्षणस्यांकुरेऽभावात् नैवं प्रश्नः 'कथमंकुरे बीजरूपता निश्चीयते' इति, एवमत्रापि ।

यच्चेदमुक्तम् "श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्यादितराभिरसङ्गतिः(तेः) ।"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७७]

इति; तदप्ययुक्तम्; वीणादिरूपविशेषोपलम्भतस्तच्छब्दविशेषे शङ्काव्यावृत्तिप्रतीतेः कथमि-

---

क्रिया ज्ञान में ऐसी बाधा नहीं आती है। यदि जाग्रद दशा का अर्थ क्रिया का ज्ञान बिना पदार्थ के होने लगे तो फिर ऐसा कौन सा और न्यारा ज्ञान है कि जो अर्थ का अव्यभिचारी [अर्थ—के विना नहीं होने वाला] है ? एवं जिसके बलसे वस्तु व्यवस्था होती है ? मतलब जाग्रद् दशा में जो अर्थ क्रिया दिखाई देती है उसको देखकर सिद्ध करते हैं कि यह पदार्थ इस काम को करता है, इत्यादि यदि इस जाग्रद् [सावधान अवस्था का] ज्ञान भी बिना पदार्थ के होता है ऐसा माना जाय तो फिर पदार्थ व्यवस्था बनेगी ही नहीं। तथा आप लोग जो ज्ञान अर्थ क्रिया का कारण है वह प्रमाण है ऐसा तो मानते हैं, फिर उसी के फल में किसप्रकार शंका करते हैं ? जैसे अंकुर का जो कारण होता है वह बीज कहलाता है ऐसा बीज का लक्षण निश्चित होने पर फिर प्रश्न नही होता है कि अंकुर बीज से कैसे हुआ, अंकुर में बीज रूपता का निश्चय कैसे करें ? इत्यादि सो जैसे बीज और अंकुर के विषय में शंका नहीं होती वैसे ही अर्थ क्रिया के ज्ञान में प्रामाण्य की शंका नहीं होती, वह तो पूर्व ज्ञान का ही फलरूप है। मीमांसकों के ग्रन्थ में लिखा है कि कर्ण से होने वाला ज्ञान यदि इतर इन्द्रिय ज्ञानों से असंगत है तो वह अप्रमाणभूत कहलाता है, इत्यादि सो यह कथन अयुक्त है, बात यह है कि किसी एक इन्द्रिय के ज्ञान का अन्य इन्द्रिय ज्ञानसे बाधित होना जरूरी नहीं है श्रोत्रेन्द्रिय से वीणादि का शब्द सुना और उसका रूप विशेष भी देख लिया हो फिर शब्द में शंका नहीं होती कि यह शब्द वीणाका है या वेणुका है ? इसलिये ऐसा नियम से नहीं कह सकते कि श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान इतर इन्द्रिय ज्ञानों से बाधित ही होता है। अतः उपर्युक्त अर्ध श्लोक का अर्थ—"श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्यादितराभिर संगतेः ॥ गलत सिद्ध होता है। श्रोत्र संबंधी जो ज्ञान है उसमें भी अर्थ क्रिया का अनुभव होता है अतः वह भी स्वतः प्रामाण्यरूप है जैसे कि गन्ध ज्ञान, रसादि ज्ञान स्वतः प्रामाण्यरूप माने हैं। इस श्रोत्रज्ञान में संशयादि का अभाव रहता

तराभिरसङ्गतिः ? श्रोत्रबुद्धेरर्थक्रियानुभवरूपत्वेन स्वतः प्रामाण्यसिद्धेश्च गन्धादिबुद्धिवत् । संशयाद्यभावान्नान्येन सङ्गत्यपेक्षा । यत्रैव हि संशयादिस्तत्रैव साऽपेक्षते नान्यत्र अतिप्रसङ्गात् ।

अथोच्यते अर्थक्रियाऽविसंवादात्पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चये मणिप्रभायां मणिबुद्धेरपि प्रामाण्यनिश्चयः स्यात्; तदप्यपर्यालोचिताभिधानम्; एवंभूतार्थक्रियाज्ञानान्मणिबुद्धेरप्रामाण्यस्यैव निश्चयात्तेन संवादाभावात् । कुञ्चिकाविवरस्थायां हि मणिप्रभाया मणिज्ञानम् अपर(अपवर)कान्तर्देशसंम्बद्धे तु मणावर्थक्रियाज्ञानमिति भिन्नदेशार्थग्राहकत्वेन भिन्नविषययोः पूर्वोत्तरज्ञानयोः कथमविस-

---

है अतः इसमें अन्य संवादक की अपेक्षा नहीं रहती । जहां जिस ज्ञान में संशयादि होते हैं वहां पर ही सवादक की अपेक्षा लेनी पड़ती है, सब जगह नहीं । विना संशय के भी संवादक की अपेक्षा लेना मानेंगे तो खुद को प्रतीत हुए सुख आदि में भी अन्य की अपेक्षा लेनी होगी ऐसा अति प्रसंग उपस्थित होगा । शंका—अर्थ क्रिया में अविसंवाद होने से ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होता है ऐसा स्वीकार किया जाय तो मणि-रत्न की कान्ति में उत्पन्न हुई मणि की बुद्धि को भी प्रमाणभूत मानने का प्रसंग प्राप्त होगा ? समाधान—यह शंका भी असत् है क्योंकि अर्थ क्रिया का ज्ञान उस मणि के प्रतिभास को अप्रामाण्य ही सिद्ध कर देगा, अर्थात् यदि मणि की प्रभा में मणिका ज्ञान हो जाय तो उसे उठाने आदि रूप जो अर्थ क्रिया होगी तो उसीसे उस ज्ञान में अप्रमाणता निश्चित हो जायगी, क्योंकि उस मणि प्रभा के ज्ञानको पुष्ट करनेवाला संवादक प्रमाण नहीं है । मणि प्रभा में मणि का प्रतिभास जो होता है उस विषय में बात ऐसी है कि खिड़की झरोका आदि के छेद से मणि की कान्ति आती है उसे देखकर कदाचित ऐसा प्रतिभास होता है कि "यह मणि है" किन्तु मणि को उठाना आभूषण बनाना आदि अर्थ क्रिया का ज्ञान तो कैमरे के अन्दर जहां मणि रखी है वहां मणि में ही होगा, इस प्रकार का मणि ज्ञान और मणि की अर्थ क्रिया का ज्ञान दोनों भिन्न भिन्न स्थान में हुए हैं भिन्न भिन्न ही इनका विषय है ऐसे पूर्वोत्तर काल में होने वाले ज्ञानों में अविसंवाद कैसे आ सकता है ? अर्थात् इसमें तो तिमिर [अंधकार] आदि से उत्पन्न हुए भ्रम ज्ञान के समान या रजत में प्रतीत हुए सीप के समान विसंवाद ही रहेगा, अविसंवाद नहीं आयेगा । और भी जो कहा गया है कि कहीं कूट [काल्पनिक] जयतुंगमें भी होने वाला ज्ञान प्रमाणभूत मानना चाहिये क्योंकि उसमें कतिपय अर्थ क्रिया देखी जाती है । सो उसमें जो कूट में कूट का ज्ञान हुआ है वह प्रमाणभूत ही है, किन्तु अकूट का ज्ञान प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि उस ज्ञानका कोई संवादक प्रत्यय

वादस्तिमिराद्याहितविभ्रमज्ञानवत् ?

यच्चान्यदुक्तम्—क्वचित्कूटेपि जयतुङ्गे ज्ञानं प्रमाणं स्यात्कतिपयार्थक्रियादर्शनात्, तत्र कूटे कूटज्ञानं प्रमाणमेवाऽकूटज्ञानं तु न प्रमाणं तत्संवादाभावात्। सम्पूर्णचेतनालाभो हि तस्यार्थक्रिया न कतिपयचेतनालाभ इति।

यच्चैकविषयं भिन्नविषयं वा संवादकमित्युक्तम्; तत्रैकाधारवर्त्तिरूपादीनां तादात्म्यप्रतिबन्धेनान्योन्यं व्यभिचाराभावात्। जाग्रद्दशारसादिज्ञानं रूपाद्यविनाभावि रसादिविषयत्वात्। भिन्नविषयत्वेप्याशङ्कितविषयाभावस्य रूपज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयात्मकम्। दृश्यते हि विभिन्नदेशाकारस्यापि वीणादे रूपविशेषदर्शने शब्दविशेषे शङ्काव्यावृत्तिः किं पुनर्नात्र ? अविनाभावो हि संवाद्यसंवादक-

---

नही है। संपूर्ण चेतनालाभ होना ही उस पदार्थ की अर्थ क्रिया कहलाती है न कि कतिपय चेतनालाभ।

आप भाट्ट ने पूछा था कि पूर्व ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय करने वाला जो संवादक ज्ञान आता है वह संवादक ज्ञान पूर्वज्ञान के विषय को ही ग्रहण करने वाला होता है अथवा भिन्न विषय वाला होता है इत्यादि उस पर हम जैन कहते हैं कि जहां एक ही आधार में रहने वाले या एक संतानवर्त्ती जो रूप रस आदि विषय होते हैं उनका तादात्म्य संबंध होने के कारण वे एक दूसरे से व्यभिचरित नहीं होते हैं अतः ये भिन्न विषय रूप होकर भी परस्पर में संवादक बन जाते हैं। जाग्रद्‌ दशा में होने वाला रसादि का ज्ञान रूपादिका अविनाभावी होता है क्योंकि वह रसादिको विषय करनेवाला है। रूप ज्ञान और रस का ज्ञान भिन्न भिन्न विषय वाले हैं तो भी उनमें से जो प्रथम हो उसके प्रामाण्य का निश्चय आगे के ज्ञान कराते हैं, देखा भी जाता है कि भिन्न देश एवं आकार वाले ऐसे वीणा आदि के रूप विशेष का ज्ञान होने पर वह रूप ज्ञान पहले सुने हुए उसी वीणा के शब्द के विषय में उत्पन्न हुई शंका को दूर कर उसमें प्रमाणता लाते हैं, अर्थात् पहले दूर से वीणा का शब्द सुना उस ज्ञान में शंका हुई कि यह किस वाद्य का शब्द है फिर वीणा का रूप देखा तब उस रूप ज्ञान ने शब्द ज्ञान की प्रमाणता निश्चित की। इस प्रकार भिन्न देश और आकार स्वरूप वीणादि का रूप विशेष देखने पर शब्दविशेष में जो शंका हुई थी उसकी व्यावृत्ति हो जाती है तब रूप ज्ञान से रस ज्ञान संबंधी या रस ज्ञान से रूपज्ञान संबंधी आशंका दूर होकर प्रामाण्य आवे तो क्या आश्चर्य है ? पूर्व और उत्तर ज्ञानों में अविनाभाव होना ही संवाद्य संवादकपना कहलाता है अन्य कुछ नहीं अर्थात् वे

भावनिमित्तं नान्यत् ।

संवादज्ञानं किं पूर्वज्ञानविषयं तदविषयं वा; इत्याद्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; न खलु संवादज्ञानं तद्ग्राहित्वेनास्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति । किं तर्हि ? तत्कार्यविशेषत्वेनाऽग्न्यादिकमिव धूमादिकम् ।

सर्वप्राणभृतां प्रामाण्ये सन्देहविपर्ययासिद्धेश्च; इत्यप्ययुक्तम्; प्रेक्षापूर्वकारिणो हि प्रमाणाप्रमाणचिन्तायामधिक्रियन्ते नेतरे । ते च कासाञ्चिदज्ञा(न्विज्ज्ञा)नव्यक्तीनां विसंवाददर्शनाज्जाता-

---

ज्ञान चाहे भिन्न विषय वाले हों चाहे अभिन्न विषय वाले हों, उनका अविनाभाव है तो संवाद्य संवादकपना होकर संवाद्य ज्ञान की प्रमाणता संवादकज्ञान से हो जाती है। संवादक ज्ञान पूर्व ज्ञान के विषय को जानने वाला है कि उस विषय को नहीं जानने वाला है इत्यादि प्रश्न भी अविचार पूर्वक किये गये हैं संवादक ज्ञान पूर्व ज्ञानके विषय को ग्रहण करनेवाला होता है इसलिये उस ज्ञानकी प्रमाणता को बतलाता हो सो तो बात नहीं है, किन्तु उस पूर्व ज्ञान के विषय के कार्य स्वरूप अर्थ क्रिया को देखकर उसमें प्रामाण्य स्थापित किया जाता है, जैसे कि धूम कार्य को देखकर अग्नि का अस्तित्व स्थापित किया जाता है । तथा जो भाट्ट ने यह कहा है कि विश्व मे जितने प्राणी हैं उन सबके प्रामाण्य में संदेह तथा विपर्यय नहीं हुआ करता, ज्ञानके उत्पन्न होनेपर तो "यह पदार्थ इसीप्रकार का है" ऐसा निश्चय ही होता है, न कि संदेह या विपर्यय होता है इत्यादि ! सो इस पर हम जैनका कहना है कि जो बुद्धिमान होते हैं वे ही प्रमाण और अप्रमाण का विचार करने के अधिकारी होते हैं। अन्य सर्व साधारण पुरुष नहीं क्योंकि जो प्रेक्षापूर्वकारी होते हैं वे ही किन्हीं किन्हीं ज्ञान भेदों में विसंवाद को देखकर शंका शील हो जाते हैं कि सिर्फ ज्ञान मात्र से "यह पदार्थ इस प्रकार का ही है" ऐसा निश्चय कैसे हो सकता है और कैसे इस ज्ञान में प्रमाणता है ? इत्यादि विचार कर वे संवादक ज्ञान से उस अपने पूर्व ज्ञान की प्रमाणता का निर्णय कर लेते हैं। यदि इस तरह का विचार वे नहीं करें तो फिर उनमें बुद्धिमत्ता ही क्या कहलावेगी । तथा भाट्ट ने पूर्वपक्ष की स्थापना करते समय कहा है कि प्रमाण की प्रमाणता का निर्णय होने के विषय में तो यह बात है कि बाधक कारण और दोषका ज्ञान इनका जिसमें अभाव हो उस ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय हो जाता है ? सो यह भी कथन मात्र है । आप यह बताइये कि प्रमाणमें बाधक कारणका अभाव है इस बातको किस प्रकार जाना है ? बाधक के अग्रहण होनेपर अथवा बाधक के

शङ्का। कथं ज्ञानमात्रात् 'अयमित्थमेवार्थः' इति निश्चिन्वन्ति प्रामाण्यं वास्य ? अन्यथैषां प्रेक्षावत्तैव हीयेत।

प्रमाणे बाधककारणदोषज्ञानाभावात्प्रामाण्यावसायः; इत्यप्यभिधानमात्रम्; तदभावो हि बाधकाग्रहणे, तदभावनिश्चये वा स्यात् ? प्रथमपक्षे भ्रान्तज्ञाने तद्भावेपि तदग्रहणं कश्चित्कालं दृष्टम्, एवमत्रापि स्यात्। 'भ्रान्तज्ञाने कश्चित्कालमग्रहेपि कालान्तरे बाधकग्रहणं सम्यग्ज्ञाने तु कालान्तरेपि तदग्रहणम्' इत्ययं विभागः सर्वविदां नास्मादृशाम्। बाधकाभावनिश्चयोपि सम्यग्ज्ञाने प्रवृत्तेः

अभावका निश्चय होनेपर ? बाधकका अग्रहण होनेपर प्रमाणमें बाधक कारण का अभाव माना जाता है ऐसा प्रथम पक्ष स्वीकार करे तो भ्रांत ज्ञानमें बाधक कारण रहते हुये भी कुछ काल तक उसका ग्रहण नहीं होता है, ऐसा बाधकका अग्रहण प्रमाण भूत ज्ञानमें भी स्वीकार करना होगा।

मीमांसक—भ्रांत ज्ञानमें कुछ समय के लिये बाधकका अग्रहण भले ही हो जाय किन्तु कालांतर में तो बाधकका ग्रहण हो ही जाता है, सम्यग्ज्ञान में ऐसी बात नहीं है उसमें तो कालान्तरमें भी बाधकका अग्रहण ही रहेगा।

जैन—इसतरह का विभाग तो सर्वज्ञ ही कर सकते हैं, हम जैसे व्यक्ति नहीं कर सकते, अर्थात् इस विवक्षित ज्ञानमें आगामी कालमें कभी भी बाधकका ग्रहण नहीं होगा एव इस ज्ञानमें तो बाधकका ग्रहण होवेगा ऐसा निर्णय करना असर्वज्ञको शक्य नहीं है।

द्वितीयपक्ष—बाधक के अभाव का निश्चय कर फिर उससे प्रमाणके प्रामाण्य का निर्णय होता है ऐसा माना जाय तो पुनः प्रश्न होता है कि उस प्रमाणभूत सम्यग्ज्ञान में बाधक के अभाव का निश्चय कब होता है ? प्रवृत्ति होने के पहले होता है अथवा उत्तरकाल में होता है ? प्रथम पक्ष कहे तो वही पहले की बात आवेगी कि भ्रान्त ज्ञान में भी प्रमाणता मानने का प्रसंग आवेगा। मतलब सम्यग्ज्ञान में बाधक के अभाव का निश्चय यदि प्रवृत्ति होने के पहले होता है तो इस तरह का निश्चय तो भ्रान्तज्ञान में भी होता है अतः वहां पर भी प्रामाण्य का प्रसंग आवेगा जो किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः प्रवृत्ति के पहले बाधकाभाव के निश्चय होने मात्र से ज्ञान प्रामाणिक नहीं बन सकता। दूसरा पक्ष—सम्यग्ज्ञान में बाधकाभाव का निश्चय प्रवृत्ति के बाद होता है। ऐसा कहो तो भी सार नहीं है क्योंकि ज्ञान की विषय में प्रवृत्ति

प्राक्, उत्तरकालं वा ? आद्यविकल्पे भ्रान्तज्ञानेपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः। द्वितीयविकल्पे तन्निश्चयस्याकिञ्चित्करत्वं तमन्तरेणैव प्रवृत्तेरुत्पन्नत्वात्। न च बाधकाभावनिश्चये किञ्चिन्निमित्तमस्ति। अनुपलब्धिरस्तीति चेत्किं प्राक्काला उत्तरकाला वा ? न तावत्प्राक्काला; तस्याः प्रवृत्त्युत्तरकालभाविबाधकाभावनिश्चयनिमित्तत्वासम्भवात्। न ह्यन्यकालानुपलब्धिरन्यकालमभावनिश्चयं च विदधात्यतिप्रसङ्गात्। नाप्युत्तरकाला, प्राक् प्रवृत्तेः 'उत्तरकालं बाधकोपलब्धिर्न भविष्यति' इत्यसर्वविदा निश्चेतुमशक्यत्वेनासिद्धत्वात्। प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनिश्चयमात्रनिमित्तत्वे न किञ्चित्फलम् तस्याकिञ्चित्करत्वात्।

[अर्थक्रिया] हो चुकने पर बाधक का अभाव जानना बेकार है प्रवृत्ति के लिये ही तो बाधकाभाव जानना था कि यह जो ज्ञान हुआ है सो इसके जाने हुए विषय में बाधक कारण तो नहीं है ? इत्यादि किन्तु जब उस ज्ञान के विषय में पुरुषकी प्रवृत्ति हो चुकी और उस विषय की सत्यता भी निर्णीत हो चुकी तब बाधकाभावके निश्चय से कुछ फायदा नहीं, क्योंकि बाधकका अभाव निश्चित करने के लिये कोई कारण चाहिये। यदि कहा जाय कि अनुपलब्धि कारण है अर्थात् इस विवक्षित प्रमाण में बाधा नहीं है, क्योंकि उस बाधाकी अनुपलब्धि है, इस प्रकार अनुपलब्धि को बाधकाभावके निश्चयका कारण माना जाय ? इस पर पुनः प्रश्न होता है कि–वह अनुपलब्धि सम्यग्ज्ञान में प्रवृत्ति से पहले होती है या पीछे होती है ? पहले होती है कहो तो बनता नहीं क्योंकि वह प्रवृत्ति के उत्तर कालमें होने वाले बाधक के अभाव के निश्चय का निमित्त नहीं हो सकती है। देखिये अन्यकाल में हुई वह अनुपलब्धि अन्यकाल में होनेवाले बाधक के अभाव का निश्चय कैसे करा सकती है यदि ऐसा माना जावे तो अति प्रसंग आवेगा, अर्थात् जहां वर्तमान में घट की अनुपलब्धि है वहां वह अन्य समय में भी उसके अभाव को करने वाली हो जावेगी किन्तु ऐसा तो होता नहीं है अतः अन्यकालीन अनुपलब्धि अन्यकाल के बाधकाभाव को नहीं बता सकती यह निश्चित हुआ। उत्तरकालीन अनुपलब्धि से बाधकाभावका निश्चय होना भी अशक्य है, प्रवृत्ति के पहले जैसे बाधकाभाव की अनुपलब्धि है वैसे ही आगे उत्तर कालमें भी बाधक उपस्थित नहीं होगा, ऐसा निश्चित ज्ञान तो असर्वज्ञों को होना अशक्य है। तथा यदि प्रवृत्ति हो जाने के बाद बाधकाभाव का निश्चय अनुपलब्धि से हो भी जाय तो उससे कोई लाभ होनेवाला नहीं है वह तो अकिंचित्कर ही रहेगी। भावार्थ–मीमांसक इन्द्रियों के गुणादि से ज्ञानों में प्रमाणता आती है ऐसा नहीं मानते किन्तु बाधककारण

किञ्च, असौ सर्वसम्बन्धिनी, आत्मसम्बन्धिनी वा ? प्रथमपक्षे असिद्धा; न खलु 'सर्वे प्रमातारो बाधकं नोपलभन्ते' इत्यर्वाग्दर्शिना निश्चेतुं शक्यम्। नाप्यात्मसम्बन्धिनी; तस्याः परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात्। तन्नानुपलब्धिर्निमित्तम्।

नापि संवादोनवस्थाप्रसङ्गात्। कारणदोषाभावेप्ययमेव न्यायः।

और दोष इनका अभाव होने से ज्ञान में प्रामाण्य आता है ऐसा स्वीकार करते हैं, इस मान्यता पर विचार करते हुए आचार्य ने सिद्ध किया है कि बाधकाभाव पूर्वोत्तर वर्त्ती होकर भी प्रमाण में प्रमाणता का सद्भाव बता नहीं सकता अर्थात् किसी को "यह जल है" ऐसा ज्ञान हुआ अब इस ज्ञान की प्रमाणता भाट्टमतानुसार स्वतः या बाधकाभाव के निश्चय से होती है सो इस जल ज्ञान में बाधक कारण नहीं है अर्थात् बाधक का अभाव है ऐसा निश्चय कब होता है सो विमर्श करें—जब वह जल का प्रतिभास करने वाला पुरुष जल लेने के लिये प्रवृत्ति करता है उस प्रवृत्ति के पहले बाधकाभाव होना माना जाय तो ऐसा प्रवृत्ति के पहले का बाधकाभाव असत्य प्रतिभास करानेवाले भ्रान्त आदि विपरीत ज्ञानों में भी पाया जा सकता है। अतः प्रवृत्ति के पहले का बाधकाभाव कुछ मूल्य नहीं रखता। प्रवृत्ति के बाद अर्थात् पुरुष को जब जल का ज्ञान होता है और वह स्नानादि क्रिया भी कर लेता है उस समय जल ज्ञान के बाधकाभाव का निश्चय करना तो वह केवल हास्यास्पद ही होगा–क्योंकि कार्य तो हो चुका है। अर्थात् जलज्ञान की सत्यता तो साक्षात् सामने आ ही गई है। अब बाधकाभाव उसमें और क्या सत्यता लावेगा कि जिसके लिये वह अपेक्षित हो।

उत्तर या पूर्वकाल के अनुपलब्धि हेतु से बाधकाभाव निश्चय करना भी पहले के समान अनुपयोगी है, अतः बाधकाभाव के निश्चय से (स्वतः) प्रामाण्य आता है यह कथन खण्डित होता है। जल ज्ञान में कुछ समय के लिये बाधा नहीं आती ऐसा मानकर उस ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य स्थापित किया जाय तो भ्रान्ति आदि ज्ञानों में भी प्रामाण्य मानना होगा, क्योंकि कुछ काल का बाधकाभाव तो इन ज्ञानों में भी रहता है। तथा हमेशा ही जल ज्ञान में बाधकाभाव है ऐसा जानने पर उसमें प्रामाण्य आता है इस तरह माना जाय तो हमेशा के बाधकाभाव को तो सर्वज्ञ ही जान सकते हैं हम जैसे व्यक्ति नहीं। किञ्च सर्व संबंधिनी अनुपलब्धि बाधकाभावको निश्चय कराने वाली होती है या केवल आत्म संबंधी अनुपलब्धि बाधकाभावका निश्चय करानेवाली होती है? सर्व संबंधी अनुपलब्धि तो असिद्ध है क्योंकि सभी प्रमाताओं को बाधक

एवं 'त्रिचतुरज्ञान' इत्याद्यपि स्वगृहमान्यम्; 'कस्यचिद्विज्ञानस्य प्रामाण्यं पुनरप्रामाण्यं पुनः प्रमाणता' इत्यवस्थात्रयदर्शनाद्बाधके तद्बाधकादौ वावस्थात्रयमाशङ्कमानस्य परीक्षकस्य कथं नापरापेक्षा येनानवस्था न स्यात्?

'आशङ्केत हि यो मोहात्' इत्याद्यपि विभीषिकामात्रम्, यतो नाभिलापमात्रात्प्रेक्षावतां प्रमाणमन्तरेण बाधकाशङ्का व्यावर्त्तते। न चास्या व्यावर्त्तकं प्रमाणं भवन्मतेऽस्तीत्युक्तम्। कारण

की उपलब्धि नहीं है ऐसा निश्चय करना अल्पज्ञानियों के लिये शक्य नहीं है। यदि आत्म संबंधी अनुपलब्धि बाधकाभावका निश्चय कराती है ऐसा कहा जाय तो यह कहना भी गलत है, इस आत्म संबंधी अनुपलब्धिकी परके चित्त वृत्तिके साथ अनैकान्तिकता आती है अर्थात् जो अपने को अनुपलब्ध हो वह नहीं है ऐसा नियम नहीं क्योंकि पर जीवोंका मन हमें अनुपलब्ध है तो भी वह मौजूद तो है ही, अतः प्रमाण में बाधककी अनुपलब्धि देखकर उसके अभावका निश्चय किया जाता है ऐसा कहना असिद्ध है। तथा प्रामाण्य लाने में जो बाधकाभावको हेतु माना गया है उस बाधकाभावका निश्चय संवाद से हो जायगा ऐसा कहना भी शक्य नहीं, क्योंकि अनवस्था दोष आता है—पूर्वज्ञान में बाधकाभावको जानने के लिये संवाद आया उस संवाद की सत्यता को [या बाधकाभाव को] जानने के लिये फिर अन्य संवाद आया इस तरह अनवस्था आवेगी। इस प्रकार यहां तक प्रामाण्य बाधकाभाव हेतु से आता है ऐसी मान्यता का खण्डन किया। इसी तरह कारण के दोष का अभाव होने से प्रामाण्य स्वतः आता है ऐसा भाट्ट का दूसरा हेतु भी बाधकाभाव के समान सार रहित है अतः उसका निरसन भी बाधकाभाव के निरसन के समान ही समझना चाहिये। भावार्थ—जैसे बाधकाभाव में प्रश्न उठे हैं और उनका खण्डन किया गया है उसी प्रकार कारण दोष अर्थात् इन्द्रियों के दोषों का अभाव होने से प्रमाण में प्रामाण्य स्वतः आता है ऐसा मानने में प्रश्न उठते हैं और उनका खण्डन होता है। जैसे इन्द्रिय के दोषों का अभाव कैसे जाना जाय? इन्द्रिय के दोषों को ग्रहण किये बिना उनका अभाव माना जाय तो भ्रान्त ज्ञान में भी प्रामाण्य आयेगा। तथा दोषाभाव का बोध कब होगा प्रवृत्ति के पहले कि पीछे? पहले दोषाभाव का बोध होना माने तो वही भ्रान्तिज्ञान में सत्य होने का प्रसंग आता है, तथा प्रवृत्ति के बाद दोषाभावका ज्ञान होगा तो उससे लाभ क्या होगा कुछ भी नहीं, प्रवृत्ति तो हो चुकी। अर्थक्रिया होने पर सत्यता का निर्णय हो ही जाता है, इसलिये कारणदोष के अभाव से प्रामाण्य

ोषज्ञानेपि पूर्वेण जाताशङ्कस्य तत्कारणदोषान्तरापेक्षायां कथमनवस्था न स्यात् ? तस्य तत्कारण-
ोषग्राहकज्ञानाभावमात्रत: प्रमाणत्वान्नानवस्था, यदाह—

प्राना भी सिद्ध नहीं होता है। भाट्ट ने कहा था कि तीन चार ज्ञानों के प्रवृत्त होने पर
ामाण्य आ जाता है इनसे अधिक ज्ञानों की जरूरत नहीं पड़ती इत्यादि सो यह कथन
केवल अपने घर की ही मान्यता है सर्व मान्य नहीं है। किसी एक विवक्षित जलादि
के ज्ञान में प्रामाण्य, फिर अप्रामाण्य पुन: प्रमाणता ऐसे तीन अवस्थाओं के देखने पर
बाधक में भी बाधक फिर अबाधक फिर बाधक इस तरह तीन अवस्था की शंका
करते हुए परीक्षक पुरुष के लिये और भी आगे आगे के ज्ञानों की अपेक्षा क्यों नहीं
आयेगी ? अवश्य ही आवेगी फिर अनवस्था कैसे रुक सकेगी। अर्थात् नहीं रुक
सकेगी। भावार्थ—किसीको जलका ज्ञान हुआ उस ज्ञानके प्रमाणता का कारण
मीमांसकमतानुसार दोषाभाव है उसको दूसरे ज्ञान ने जाना कि यह जो जल देखा है
उसका कारण नेत्र है उसमें कोई काच कामलादि दोष नहीं है इत्यादि, फिर दोष का
अभाव प्रकट करने वाले इस ज्ञान के [जो दूसरे नबर का है] दोष के अभाव को जानने
में तीसरा ज्ञान प्रवृत्त हुआ फिर चौथा प्रवृत्त हुआ, सो चार ज्ञान तक यदि प्रवृत्ति हो
सकती है तो आगे पांचवें आदि ज्ञानों की प्रवृत्ति क्यों नहीं होगी ? जिससे कि
अनवस्था का प्रसंग रुक जाय। ऐसे ही बाधकाभाव जानने के लिये तीन चार ज्ञानों
की ही प्रवृत्ति हो अन्य ज्ञानों की नहीं सो बात भी नहीं, वहां भी आगे आगे ज्ञानों की
परम्परा चलने के कारण अनवस्था आवेगी ही अत: स्वत: प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये
भाट्ट ने तीन चार ज्ञान की बात कही थी सो वह अनवस्था दोष युक्त हो जाती है॥
मीमांसक ने अपने ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए कहा था कि बाधा नहीं होते हुए भी
मोह के कारण जो प्रमाण में बाधा की शंका करता है वह संशयी पुरुष नष्ट हो जाता
है इत्यादि सो ऐसा कथन तो केवल डर दिखाने रूप ही है। डर दिखाने मात्र से
किसी बुद्धिमान पुरुष की प्रमाण के बिना बाधा की शंका तो दूर हो नहीं सकती,
अर्थात् जब तक प्रमाण में प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता तब तक तुम्हारे डर दिखाने मात्र
से वह शंका नहीं करे ऐसी बात बुद्धिमानों पर तो लागू नहीं होती मूर्ख पर भले ही
वह लागू हो जावे। प्रमाण के विषय में आयी हुई बाधा को दूर करने के लिये आपके
मतमें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा हम जैन सिद्ध कर चुके हैं। दोष का ज्ञान होना
इत्यादि विषय में भी कह दिया है कि कारण जो इन्द्रियां हैं उनके दोष काच

"यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदान्यन्नैव मृग्यते ।
निवर्त्तते हि मिथ्यात्व दोषाज्ञानादयत्नत." ।।
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५२]

प्रागेव विहितोत्तरम् । न च दोषाज्ञानात्तदभाव, सत्स्वपि तेषु तदज्ञानसम्भवात् । सम्यग्ज्ञानोत्पादनशक्तिवैपरीत्येन मिथ्याप्रत्ययोत्पादनयोग्य हि रूप तिमिरादिनिमित्तमिन्द्रियदोषः, स चातीन्द्रियत्वात्सन्नपि नोपलक्ष्यते । न च दोषाः ज्ञानेन व्याप्ता येन तन्निवृत्त्या निवर्त्तेरन् । ततोऽयुक्तमिदम्—

कामलादि हैं उनका अभाव बतलाने को दूसरा प्रमाण आयेगा उसमें फिर शंका होगी कि इसमें कारण दोष का अभाव है कि नहीं फिर तीसरा ज्ञान उस अभाव को जानेगा, इत्यादि रूपसे अनवस्था कैसे नही आवेगी ? अपितु आवेगी ही । तीसरे आदि प्रमाणों में उनके कारण दोषों को ग्रहण करने वाला ज्ञान नही रहता अतः तीसरादि ज्ञान प्रमाणभूत है और इसलिये अनवस्था भी नहीं आती ऐसा मीमांसकका कहना था उनके ग्रन्थ में भी ऐसा ही लिखा है यदा स्वतः प्रमाणत्वं इत्यादि अर्थात् जब प्रामाण्य स्वतः ही आता है तब अन्य संवादकादि को खोज नहीं करनी पड़ती है क्योंकि प्रमाण के विषय में मिथ्यात्व आदि दोष तो बिना प्रयत्न के दूर हो जाते हैं । यह श्लोक कथित बात तथा पहले की दोष ग्राहक ज्ञान के अभाव की बात इन दोनों के विषयमें प्रथम ही उत्तर दे चुके हैं अर्थात् दोप का अभाव सिद्ध करने में अनवस्था दोष आता ही है ऐसा प्रतिपादन हो चुका है । तथा इस श्लोक में आगत "दोषाज्ञानात्" इस पद से जो यह प्रकट किया गया है कि दोष के अज्ञान से दोष का (मिथ्यात्वादिका) अभाव हो जाता है सो यह कथन सत्य नहीं है क्योंकि दोषों के अज्ञान से उनका अभाव नहीं हो सकता उनके होते हुए भी तो उनका अज्ञान रह सकता है । सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने की जो शक्ति है उस शक्ति से विपरीत जो मिथ्याज्ञान है उसको उत्पन्न करने वाला इन्द्रिय दोष होता है यह अधकार आदि के निमत्त से होता है ऐसा यह मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने वाला दोष अतीन्द्रिय होता है अतः वह मौजूद रहे तो भी दिखलायी नहीं पड़ता है । तथा दोषोंका ज्ञानके साथ अविनाभाव तो है नहीं जिससे कि ज्ञान के निवृत्त होने पर वे भी निवृत्त हो जाय । इस प्रकार दोषाभाव करनेमें भी अनवस्था होना निश्चित है, इसलिये नीचे कहे गये इन नौ श्लोकों के अर्थ का विवेचन असिद्ध हो जाता है अब उन्हीं श्लोकार्थों को बताते हैं—तस्मात्—अर्थात्

"तस्मात्स्वतः प्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम् ।
बाधकरणदुष्टत्वज्ञानाभ्यां तदपोद्यते ॥
पराधीनेपि वै तस्मिन्नानवस्था प्रसज्यते ।
प्रमाणाधीनमेतद्धि स्वतस्तच्च प्रतिष्ठितम् ॥
प्रमाणं हि प्रमाणेन यथा नान्येन साध्यते ।
न सिध्यत्यप्रमाणत्वमप्रमाणात्तथैव हि ॥
बाधकप्रत्ययस्तावदर्थान्यत्वाऽवधारणम् ।
सोऽनपेक्षः प्रमाणत्वात्पूर्वज्ञानमपोहते ॥
यत्रापि त्वपवादस्य स्यादपेक्षा क्वचित्पुनः ।
जाताशङ्कस्य पूर्वेण साप्यन्येन निवर्त्तते ॥

प्रथम ज्ञान अपने में प्रमाणता के लिये संवादज्ञान की अपेक्षा रखे तो अनवस्थादि दोष आते हैं अतः इनसे बचने के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों में विरपवाद स्वतः ही प्रामाण्य आना स्वीकार किया गया है अप्रामाण्य तो बाधक कारण और इन्द्रिय दोष से आता है और उनके ज्ञान से वह हटाया जाता है ॥ १ ॥ अप्रामाण्य को पराधीन मानने पर अनवस्था आयेगी सो भी बात नहीं, क्योंकि अप्रामाण्य का निश्चय तो प्रमाण के आधीन है और प्रमाण स्वतः प्रमाणभूत है ॥ २ ॥ जिस प्रकार प्रमाणभूत ज्ञान अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता उसी प्रकार अप्रमाण किसी प्रमाणभूत ज्ञानके बिना अप्रमाण मात्रसे सिद्ध नहीं हुआ करता ॥३॥ पदार्थका अन्यथारूपसे अवधारण [जानना] करना बाधक प्रत्यय कहलाता है वह बाधक प्रत्यय अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है। क्योंकि वह स्वयं में प्रमाणभूत होता है सो इस तरह का बाधक ज्ञान आकर पूर्व ज्ञान में [मरीचिका में जायमान जल ज्ञानमें] बाधा उपस्थित करता है अर्थात् यह जल नहीं है मरु मरीचिका है, ऐसा कहता है ॥४॥ यदि कदाचित् किसी विषयमें बाधक प्रत्यय को पुनः अन्य बाधक ज्ञान की अपेक्षा लेनी पड़े तो जिसे शंका हुई है ऐसे पुरुष की वह शंका अन्य बाधक प्रत्यय से दूर हो जाती है। मतलब किसी को "यह जल है" ऐसा ज्ञान हुआ उसे बाधित करने के लिये बाधक ज्ञान आया और उसने प्रकट किया कि यह जल ज्ञान सत्य नहीं है इत्यादि सो उस बाधक प्रत्यय को कदाचित् अपनी सत्यता निश्चित करने के लिये जब अन्य ज्ञान की [बाधकान्तर की] अपेक्षा करनी पड़े तब तीसरा बाधक ज्ञान आता है किन्तु वह तीसरा ज्ञान उस दूसरे

बाधकान्तरमुत्पन्नं यद्यस्यान्विच्छतोऽपरम् ।
ततो मध्यमबाधेन पूर्वस्यैव प्रमाणता ।।
अथान्यदप्रयत्नेन सम्यगन्वेषणे कृते ।
मूलाभावान्न विज्ञानं भवेद्बाधकबाधनम् ।।
ततो निरपवादत्वात्तेनैवाद्यं बलीयसा ।
बाध्यते तेन तस्यैव प्रमाणत्वमपोद्यते ।।
एव परीक्षकज्ञानं तृतीय नातिवर्त्तते ।
ततश्चाजातबाधेन नाशङ्क्यं बाधकं पुनः ।।"

कथं वा चोदनाप्रभवचेतसो निःशङ्कं प्रामाण्यं गुणवतो वक्तुरभावेनाऽपवादकदोषाभावा-

---

ज्ञानका सजातीय तथा संवादक ही रहता है अर्थात् दूसरे नंबर के ज्ञान की मात्र पुष्टि ही करता है ।। ५ ।। तथा कभी वह तीसरा ज्ञान बाधक ज्ञान का सजातीय न होकर विजातीय उत्पन्न हो जाय तो फिर बीच का जो दूसरे नंबर का बाधक ज्ञान है उसमें बाधा आने से प्रथम ज्ञानमें प्रमाणता मानी जायगी ।।६।। यदि कदाचित तीसरे ज्ञानको बाधित करनेवाला चौथा ज्ञान बिना इच्छाके उत्पन्न हो जाय तो उस चतुर्थज्ञान में प्रामाण्य का सर्वथा अभाव होनेके कारण उसके द्वारा बाधक ज्ञान [द्वितीयको बाधित करनेवाला तृतीयज्ञान] जरा भी बाधित नहीं होता ।।७।। इसतरह चतुर्थज्ञान निरुपयोगी होनेकी वजहसे एवं तृतीय ज्ञान द्वारा जिसका बाधा देनापन भली प्रकारसे सिद्ध हो चुका है ऐसे बलवान द्वितीय ज्ञानद्वारा प्रथम बाधाको प्राप्त होता है और इसतरह द्वितीय ज्ञानसे मात्र प्रथम ज्ञानकी प्रमाणता समाप्त की जाती है । कहने का अभिप्राय यह है कि तीनसे अधिक ज्ञान होते ही नहीं हैं फिर निरपवादपने से द्वितीयज्ञान जो कि बलवान् है प्रथमज्ञान को बाधित कर देता है, इसलिये प्रथमज्ञान की प्रामाणता ही मात्र समाप्त हो जाती है, ।। ८ ।। इस प्रकार परीक्षक पुरुष के ज्ञान तृतीयज्ञान का उल्लंघन नहीं करते हैं इसलिये अब निर्बाधज्ञान वाले उस पुरुष को स्वतः प्रामाण्यवादमें शंका नहीं रहती ।। ९ ।। ये उपर्युक्त नो श्लोक प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है इस बात की सिद्धि के लिये दिये गये हैं । किन्तु इनसे मीमांसकों का इच्छित–मनोरथ सिद्ध होनेवाला नही है, क्योंकि हम जैन ने प्रामाण्य को सर्वथा स्वतः मानने और अप्रामाण्य को सर्वथा परतः मानने में कितने ही दोष बताकर इस मान्यता का सयुक्तिक खण्डन कर ही दिया है ।

सिद्धेः ? ननु वक्तृगुणैरेवापवादकदोषाभावो नेष्यते तदभावेप्यनाश्रयाणां तेषामनुपपत्तेः। तदुक्तम्—

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६२-६३]

इत्यपि प्रलापमात्रमपौरुषेयत्वस्यासिद्धेः। ततश्चेदमयुक्तम्—

ये मीमांसक वेद से उत्पन्न हुए ज्ञान में प्रामाण्य किसप्रकार से मान सकते हैं ? क्योंकि गुणवान् वक्ता के अभाव में अपवादक दोषों के अभाव की वेद में सिद्धि नहीं हो सकती है।

मीमांसक—हम वक्ता के गुणों द्वारा अपवादक दोषों का अभाव होता है ऐसा नही मानते किन्तु, हम तो यही मानते हैं कि गुणवान् वक्ता जब कोई है ही नहीं तब बिना आश्रय के नहीं रहने वाले दोष वेद में रह ही नहीं सकते हैं। इस प्रकार से हो हमारे ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है—शब्द एवं वाक्य में जो दोष उत्पन्न होते हैं वे वक्ता की आधीनता को लेकर ही उत्पन्न होते हैं दोषों का अभाव किन्हीं २ वाक्यों में जो देखा जाता है वह गुणवान् वक्ता के होने के कारण देखा जाता है॥ १॥ वक्ता के गुणों से निरस्त हुए-दोष शब्दों में संक्रामित नहीं होते, इसलिये वेद में स्वतः प्रामाण्य है। अथवा वक्ता का ही जहां अभाव है वहां दोष कहां रहेंगे ? क्योंकि वे बिना आश्रय के तो रहते नहीं॥ २॥ अतः वेद में स्वतः प्रामाण्य है।

जैन—यह मीमांसक का कहना प्रलापमात्र है, क्योंकि वेद में अपौरुषेयता की सर्वथा असिद्धि है। वेद में अपौरुषेयता का खण्डन होने से ही निम्नकथित श्लोक का अर्थ दोष युक्त ठहरता है—"वेद में अप्रामाण्य से रहितपना इसलिये शीघ्र (सहज) ही सिद्ध होता है कि वहां वक्ता का ही अभाव है, वेद का कर्त्ता पुरुष है नहीं, वेद में इसी कारण से अप्रामाण्य की शंका तक भी नहीं हो पाती॥ १॥ सो यह कथन बाधित होता है।

अब यहां यह निश्चय करते हैं कि वेद से प्राप्त हुआ ज्ञान प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान दोषों के कारणों को हटाये बिना उत्पन्न होता है, जैसे द्विचन्द्र का

"तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी ।
वेदे तेनाप्रमाणत्वं नाशङ्कामपि गच्छति ॥ १ ॥"
[मी॰ श्लो॰ सू॰ २ श्लो॰ ६८]

स्थितं चैतच्चोदनाजनिता बुद्धिर्न प्रमाणमनिराकृतदोषकारणप्रभवत्वात् द्विचन्द्रादिबुद्धिवत् । न चैतदसिद्धम्, गुणवतो वक्तुरभावे तत्र दोषाभावासिद्धेः । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा; दुष्टकारणप्रभवत्वाप्रामाण्ययोरविनाभावस्य मिथ्याज्ञाने सुप्रसिद्धि (द्ध)त्वादिति ।

सिद्धं सर्वजनप्रबोधजनन सद्योऽकलङ्काश्रयम्,
विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम् ।

ज्ञान या रस्सी में सर्पका ज्ञान, सीप में चांदी आदि का ज्ञान दोषों को निराकृत किये बिना उत्पन्न होता है, अतः वह प्रमाण नहीं होता, इस अनुमान में दिया गया "अनिराकृतदोषकारणप्रभवत्वात्" यह हेतु असिद्ध नहीं है । क्योंकि वेद में गुणवान् वक्ता का अभाव तो भले हो किन्तु इतने मात्रसे उसमें दोषों का अभाव तो सिद्ध नहीं होता । इसी तरह यह हेतु अनैकान्तिक या विरुद्ध दोष युक्त भी नहीं है—क्योंकि दोषयुक्त कारण से उत्पन्न होना और अप्रामाण्य का होना इन दोनों का परस्पर में अविनाभाव है, और यह मिथ्याज्ञान में स्पष्ट ही प्रतीत होता है ।

भावार्थ—भाट्ट प्रत्यक्षादि प्रमाणों में प्रामाण्य स्वतः ही रहता है ऐसा मानते हैं उनकी मान्यता का खंडन करते हुए आगम प्रमाण के प्रामाण्य का विचार किया जा रहा है, आगम अर्थात् भाट्ट का इष्टवेद सर्वोपरि आगम है । वे वेद को ही सर्वथा प्रमाणभूत मानते हैं, इसका कारण यही है कि वह अपौरुषेय है, सो यहां पर आचार्यने अपौरुषेय वेद को असिद्ध कहकर ही छोड़ दिया है, क्योंकि आगे इस पर पृथक् प्रकरण लिखा जानेवाला है । भाट्ट वेदको प्रामाण्य इसलिये मानते हैं कि वहां वक्ता का अभाव है, क्योंकि दोषयुक्त पुरुष के कारण वेद में अप्रामाण्य आ सकता था, किन्तु जब वह पुरुषकृत ही नहीं है तो फिर अप्रामाण्य आने की बात ही नहीं रहती, सो इसका खण्डन करने के लिये ही आचार्य ने यह अनुमान उपस्थित किया है कि वेद से उत्पन्न हुई बुद्धि [ज्ञान] अप्रमाण है (पक्ष) क्योंकि वह दोषों के कारणों को बिना हटाये ही उत्पन्न हुई है (हेतु) यह "अनिराकृत दोष कारण प्रभवत्वात्" हेतु असिद्ध दोष युक्त नहीं है । वेद में गुणवान् वक्ता का अभाव है, और इसी कारण वहां दोषों का अभाव भी असिद्ध है । दोषों का अभाव नहीं होने के कारण वेद में अप्रामाण्य ही सिद्ध होना

निर्दोषं परमागमार्थविषयं प्रोक्तं प्रमालक्षणम् ।
युक्त्या चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्द्धमानं जिनम् ।। १ ।।

परिच्छेदावसाने आशिषमाह । चिन्तयन्तु । कम् ? श्रीवर्द्धमानं तीर्थंकरपरमदेवम् । भूयः कथम्भूतम् ? जिनम् । के ? सुधियः । क्व ? चेतसि । कया ? युक्त्या ज्ञानप्रधानतया । भूयोपि कथम्भूतम् ? सिद्धं जीवन्मुक्तम् । भूयोपि कीदृशम् ? सर्वजनप्रबोधजननम् सर्वे च ते जनाश्च तेषां प्रबोधस्तं जनयतीति सर्वजनप्रबोधजननस्तम् । कथम् ? सद्यः झटिति । भूयोपि कीदृशम् ? अकलङ्काश्रयम्-कलङ्कानां द्रव्यकर्मणामभावः अकलङ्कस्तस्याश्रयस्तम् । भूयोपि कथम्भूतम् ? मनोनन्दनम् । कथम् ? नित्य सर्वदा । कुतः ? विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतः-विद्या केवलज्ञानमानन्दः सुख समन्ततो भद्राणि कल्याणानि समन्तभद्राणि विद्या चानन्दश्च समन्तभद्राणि च तान्येव गुणास्तेभ्यः ततः । भूयोपि कीदृशम् ? निर्दोष रागादिभावकर्मरहितम् । भूयोपि कथम्भूतम् । परमागमार्थविषयम्-

---

है । तथा हमारे इस हेतु में अनैकान्तिक दोष भी नहीं है, क्योंकि जो ज्ञान सदोष कारण से होगा वह अप्रमाण ही रहेगा, इसलिये अप्रामाण्य साध्य और सदोषकारण प्रभवत्व हेतु का अविनाभाव है । जहां साधन साध्यका अविनाभाव है वहां पर वह साधन अनैकान्तिकता बनता ही नहीं है । "विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः" जो हेतु साध्य में रहता हुआ भी विपक्ष में रहता है वह हेतु अनैकान्तिक होता है । यहां अप्रामाण्य साध्य है उसका विपक्ष प्रामाण्य है उसके साथ यह अनिराकृत दोष कारण प्रभवत्व हेतु नहीं रहता, अतः अनैकान्तिक नही है । यह विरुद्ध दोषयुक्त भी नहीं है, क्योंकि जो हेतु साध्य से विपरीत साध्य में ही रहता है वह विरुद्ध होता है, यहां अप्रामाण्य से विपरीत जो प्रामाण्य है उसमें हेतु नहीं रहता है, अतः विरुद्ध नहीं है । इस प्रकार असिद्ध आदि तीनों दोषों से रहित "अनिराकृतदोषकारणप्रभवत्व हेतु अपना साध्य जो वेदजन्य बुद्धि में अप्रामाण्य है उसको सिद्ध करता है ।

अब श्री प्रभाचन्द्राचार्य प्रथम अध्याय के अन्त में मंगलाचरण करते हैं—

सिद्धं सर्वजनप्रबोधजननं सद्योऽकलंकाश्रयम् ।
विद्यानंदसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनंदनम् ।।
निर्दोषं परमागमार्थविषयं प्रोक्तं प्रमालक्षणम् ।
युक्त्या चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्द्धमानं जिनम् ।। १ ।।

आचार्य आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि हे भव्यजीवो । आप केवलज्ञानादि स्वरूप श्रीवर्द्धमान प्रभु का चिन्तवन-ध्यान करो, क्योंकि वे संपूर्ण जीवों के लिये

परमागमार्थो विषयो यस्य स तथोक्तस्तम् । भूयोपि कीदृशम् ? प्रोक्तं प्रकृष्टमुक्तं वचनं यस्यासौ प्रोक्तस्तम् । भूयोपि कथम्भूतम् ? प्रमालक्षणम् ।। श्रीः ।।

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामु-
खालङ्कारे प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ।। श्रीः ।।

सम्यक् ज्ञान को देने वाले हैं, द्रव्यकर्मरूपमल के अभाव के आश्रयभूत हैं, विद्यानंदसमन्तभद्र अर्थात् केवलज्ञान, आनंद–सुख सब प्रकार से कल्याण के प्रदाता होने से सदा आनंददायी हैं। रागादिरूप भावकर्म से विहीन हैं। परमागमार्थ जिनका विषय है, और जो उत्कृष्टवचन युक्त हैं।

इस प्रकार परीक्षामुख के अलंकार स्वरूप श्री प्रभाचन्द्राचार्य विरचित
प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में प्रथमाध्याय का यह हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

प्रामाण्यवाद का सारांश

प्रामाण्यके विषयमें मीमांसकका पूर्वपक्ष–प्रमाणमें प्रामाण्य [ज्ञानमें सत्यता] अपने आप ही आता है अथवा यों कहिये कि प्रमाण सत्यताके साथ ही उत्पन्न होता है। इस विषयमें जैनका अभिप्राय यह रहता है कि प्रमाण में प्रामाण्य परसे भी आता है, गुण युक्त इन्द्रियां आदिके होनेसे प्रमाणभूत ज्ञान प्रगट होता है। किन्तु ऐसा कहना शक्य नही, क्योंकि इन्द्रियादिके गुणोंको ग्रहण करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तो गुण इसलिये ग्रहण नहीं होते कि गुण अतीन्द्रिय हुआ करते हैं। अनुमान द्वारा गुणोंका ग्रहण होना माने तो उसके लिये अविनाभावी हेतु चाहिये, गुणोंके प्रत्यक्ष नहीं होनेके कारण हेतुका अविनाभाव ग्रहण होना भी अशक्य है, अतः अनुमान गुणोंका ग्राहक नहीं बन सकता। इसी तरह अन्य प्रमाण भी गुणोंके ग्राहक नहीं हैं। प्रमाणकी ज्ञप्ति भी स्वतः हुआ करती है, यदि कारण गुणों की [इन्द्रियादि के गुणोंकी] अपेक्षा अथवा संवाद प्रत्ययकी अपेक्षा को लेकर ज्ञप्ति [जानना] का होना माने तो अनवस्था होगी, अर्थात् कोई एक विवक्षित ज्ञान अपने विषयमें अन्य संवादक ज्ञान की अपेक्षा रखता है तो वह संवादक भी अन्य संवादककी अपेक्षा रखेगा, और

इसतरह आगे आगे संवादक ज्ञानोंकी अपेक्षा बढ़ती जानेसे अनवस्था आती है तथा यह संवादक ज्ञान प्रमाणज्ञानका सजातीय है या विजातीय है, भिन्न विषयवाला है या अभिन्न विषय वाला है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं और इनका सही उत्तर नहीं मिलता है अतः प्रमाणमें प्रमाणता गुणोंसे न आकर स्वतः ही आती है ऐसा मानना चाहिये ।

अप्रमाणभूत ज्ञानमें तो अप्रामाण्य परसे ही आता है, कारण कि अप्रमाणकी अप्रमाणताका निश्चय कराने के लिये बाधककारण और दोषोंका ज्ञान होना अवश्यंभावी है, इनके बिना अमुक ज्ञान अप्रमाणभूत है ऐसा निश्चय होना अशक्य है । अप्रामाण्य को परसे माननेमें अनवस्था आनेकी आशंका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि किसी भी अप्रमाणभूत ज्ञानकी अप्रामाणिकता का निश्चय जिन बाधक कारण और दोष ज्ञान द्वारा होता है, वे ज्ञान स्वयं प्रमाणभूत हैं, उनके प्रामाण्य का निर्णय करने के लिये अन्य प्रमाणों की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि प्रमाणों में प्रामाण्य स्वतः ही आता है ऐसा सिद्ध कर चुके हैं । अभिप्राय यह है कि "इदं जलं" यह जल है ऐसा किसी को ज्ञान हुआ अब यदि यह प्रतिभास सही है तो उसकी सत्यता का निर्णय कराने के लिये अन्य की आवश्यकता ही नहीं और यदि यह प्रतिभास गलत है तो उसमें बाधक कारण उपस्थित होता है एवं दोषोंका ज्ञान इस प्रतिभास को असत् साबित कर देता है कि "न इदं जलं बाध्य मानत्वात्" यह जल नहीं है क्योंकि इसमें स्नानादि अर्थक्रिया का अभाव है, नेत्रके सदोषता के कारण अथवा सूर्य की तीक्ष्ण चमक के कारण ऐसा प्रतिभास हुआ इत्यादि । इस प्रकार प्रत्यक्षादि छहों प्रमाणोंमें स्वतः ही प्रमाणता हुआ करती है और अप्रमाणता पर से होती है ऐसा नियम सिद्ध होता है ।

शब्द प्रमाण अर्थात् वेद वाक्योंमें स्वतः प्रामाण्य कैसे आवेगा क्योंकि उसमें तो गुणवान वक्ता अथवा आप्तकी आवश्यकता रहती है । ऐसी शंका करना भी व्यर्थ है हम मीमांसक वेद को अपौरुषेय स्वीकार करते हैं जब वेद का कर्त्ता ही नहीं है तब उसमें अप्रामाण्यकी गुंजाइश ही नहीं रहती, क्योंकि शब्दोंमें अप्रमाणता लानेका हेतु तो सदोष वक्ता पुरुष है ! ऐसा पुरुष कृत अप्रामाण्य अपौरुषेय वेदमें नहीं होनेके कारण वेद स्वतः प्रामाणिक सिद्ध होता है ।

इसतरह प्रमाणोंमें प्रामाण्य स्वतः आता है या रहता है ऐसा निर्बाध सिद्ध हुआ ।

जैन—प्रामाण्यके विषयमें मीमांसक का यह कथन बाधित है प्रमाणोंद्वारा इन्द्रियोंके गुण ग्रहण नहीं होते ऐसा कहना गलत है, अनुमान प्रमाण द्वारा इन्द्रियादि गुणोंकी भली प्रकारसे सिद्धि होती है, देखिये ! मेरे नेत्र निर्मलता आदि गुण युक्त हैं [पक्ष] क्योंकि यथार्थ रूपका प्रतिभास कराते हैं [हेतु] इसप्रकार वास्तविक रूप प्रतिभास वाले अविनाभावी हेतु द्वारा नेत्र इन्द्रियमें गुणका सद्भाव सिद्ध होता है। प्रामाण्यकी उत्पत्तिकी तरह ज्ञप्ति भी कथंचित् परतः हो सकती है, प्रामाण्य संवादक प्रत्ययसे आता है ऐसी जैनकी मान्यता पर अनवस्थाका उद्भावन किया वह असत् है। बात यह है कि किसी भी विवक्षित प्रमाणमें यदि अनभ्यस्त दशा है तो संवाद ज्ञानसे प्रमाणता आयः करती है किन्तु वह संवाद ज्ञान तो स्वतः प्रामाण्य रूप ही रहता है क्योंकि अभ्यस्त है, इसलिये संवादक ज्ञानोंकी अपेक्षा आगे आगे बढ़ती जायगी और अनवस्था होवेगी ऐसा कहना असिद्ध है।

प्रमाणकी प्रामाणिकताको सिद्ध करनेवाला संवाद प्रत्यय इस विवक्षित प्रमाणका सजातीय होता है या विजातीय भिन्न विषयवाला है या अभिन्नवाला है ? इत्यादि प्रश्नोंका बिलकुल सही उत्तर दिया जाता है, सुनिये ! संवाद प्रत्यय सजातीय भी होता है और कही विजातीय भी होता है, जैसे दूरसे किसी हिलती हुई सफेद वस्तुको देखकर ज्ञान हुआ कि यह ध्वजा है फिर आगे उसके निकट जाने पर उस ध्वजा के प्रतिभासका संवाद करनेवाला [उसको पुष्ट करनेवाला] बिलकुल स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि यह ध्वजा ही है। कहीं पर संवाद प्रत्यय विजातीय भी होता है, जैसे कहीं दूरसे सुमधुर शब्द सुनाई दिया तो उस शब्दको सुनकर हमें प्रतिभास हुआ कि यह वीणाकी झंकार सुनाई दे रही है। फिर आगे वीणाके स्थानपर जाकर देखते हैं तो उस रूप ज्ञान द्वारा पहले के वीणाके झंकार संबंधी प्रतिभास प्रामाणिक सिद्ध होता है। इन्हीं उदाहरणोंसे स्पष्ट होता है कि प्रमाणकी प्रमाणता को बतलानेवाला संवाद प्रत्यय भिन्न विषयवाला भी होता है और अभिन्न विषयवाला भी होता है। अप्रमाणमें अप्रामाण्य परसे ही आता है तथा ऐसा माननेमें अनवस्था नहीं आती, इत्यादि रूपसे किया गया प्रतिपादन भी निर्दोष नहीं है। देखिये ! मीमांसकने कहा कि बाधक कारणादिसे अप्रामाण्य आता है और बाधक कारणादि तो स्वतः प्रमाणभूत रहते ही हैं अतः अनवस्था नहीं होगी, सो बात गलत है, अप्रमाण ज्ञानमें बाधा देनेवाला जो बाधक कारण आता है उसके प्रामाण्यके विषयमें शंका उपस्थित होनेपर

अन्य प्रमाणकी आवश्यकता पड़ेगी ही पुनः उस द्वितीय प्रमाण में भी शंका हो सकती है ? अतः अनवस्था दोष तो तदवस्थ ही है ।

"वेदमें स्वतः प्रामाण्य होता है क्योंकि वह अपौरुषेय है" ऐसा कहना भी असिद्ध है । अपौरुषेयका और प्रामाण्यका कोई अविनाभाव तो है नहीं कि जो जो अपौरुषेय है वह वह प्रमाणभूत है, यदि ऐसा मानेंगे तो चोरी आदिका उपदेश भी अपौरुषेय है [किसीपुरुषने अमुक कालमें चोरी आदिका उपदेश दिया ऐसा निश्चय नहीं अपितु वह विना पुरुषके अपने आप प्रवाहरूपसे चल आया है] उसे भी प्रामाणिक मानना पड़ेगा ? वेदके अपौरुषेयके विषयमें आगे [दूसरे भागमें] एक पृथक् प्रकरण आने वाला है उसमें इसका पूर्णरूपेण निराकरण करनेवाले हैं अतः यहां अधिक नहीं कहते ।

इसप्रकार प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणोंमें स्वतः ही प्रामाण्य आता है ऐसा कहना गलत ठहरता है । कहने का अभिप्राय यह है कि "इदं जलमस्ति" यह जल है ऐसा हमें प्रतिभास हुआ, अब यदि यह ज्ञान पूर्वके अभ्यस्त विषयमें हुआ है अर्थात् पहले जिस सरोवर आदिमें स्नानादि किये थे उसी स्थानपर जल ज्ञान हुआ है तो उसमें अन्य संवादक ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है वह तो स्वतः ही प्रामाण्यभूत कहलायेगा । किन्तु अचानक किसी अपरिचित ग्रामादिमें पहुंचते हैं और वहांपर दूरसे जल जैसा दिखाई देने लगता है तब किसी अन्य पुरुषको पूछकर अथवा स्वयं निकट जाकर स्नानादि क्रिया द्वारा उस जल ज्ञानका प्रामाण्य निश्चित होता है, अथवा दूरसे ही अनुमान द्वारा जल ज्ञानकी प्रामाणिकता निश्चित करता है कि यहां निकटमें अवश्य ही जल है क्योंकि कमलकी सुगंधी आ रही, शीतल हवा भी आ रही इत्यादि । सो अभ्यस्त और अनभ्यस्त दशा की अपेक्षा प्रामाण्य स्वतः और परतः हुआ करता है सर्वथा एकांत नहीं है, इसी स्याद्वाद द्वारा ही वस्तु तत्व सिद्ध होता है अतः श्री माणिकनंदी आचार्यने बहुत ही सुन्दर एवं संक्षिप्त शब्दों में कहा है कि "तत् प्रामाण्यं स्वतः परतश्च" ।।१३।।

इसप्रकार इस प्रथम परिच्छेदमें प्रमाणके विषयमें विभिन्न मतों की विभिन्न मान्यताओंका विवेचन एवं निराकरण करके प्रमाणका निर्दोष लक्षण "स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्" सिद्ध किया है। अंतमें उसके प्रामाण्यके बारेमें मीमांसक का सर्वथा स्वतः प्रामाण्यवादका जो पक्ष है उसका उन्मूलन किया है, और प्रामाण्य को भी स्याद्वाद मुद्रासे अंकित किया है ।

*** प्रामाण्यवाद का सारांश समाप्त ***

प्रत्यक्षैक प्रमाणवादका पूर्वपक्ष

नास्तिक वादी चार्वाक एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करता है, उसका कहना है कि अनुमान द्वारा ज्ञात हुई वस्तु कभी असत्य भी ठहरती है, जैसे प्रसिद्ध धूम हेतु से अग्निका अनुमान किया जाता है किन्तु यह धूम हेतु व्यभिचरित होता हुआ देखा जाता है, गोपाल घटिकादि में धूम तो रहता है पर वहां अग्नि तो उपलब्ध नहीं होती ? अतः अनुमान ज्ञान अप्रमाणभूत है, तथा गौण होनेके कारण भी अनुमानको अप्रमाण माना जाता है, यौगादि परवादी अनुमान ज्ञानको प्रमाणभूत इसलिये मानते हैं कि उसके द्वारा स्वर्गादि परोक्ष पदार्थ सिद्ध किये जांय किन्तु विचार करके देखा जाय तो इस लोक संबंधी इन घट पटादि दृश्य पदार्थोंको छोड़कर अन्य परलोक, आत्मा आदि पदार्थ हैं ही नही अतः उनको जाननेके लिये अनुमान की आवश्यकता ही नही है ।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणकृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुतः ।। १ ।।

अर्थ—जब तक जीना है तब तक सुखसे ही रहे, चाहे ऋण करके भी घृतादि विषय सामग्री का उपभोग करना चाहिये, क्योंकि शरीरके नष्ट होनेपर [मरनेके पश्चात्] फिर आना नहीं है न कही अन्यत्र जाना है, सब समाप्त हो जाता है ।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सपन्थाः ।। १ ।।

अर्थ—किसी वस्तुको तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उसी वस्तुके विषयमें अन्य अन्य विरुद्ध तर्क या युक्तियां भी पायी जाती हैं, भावना, नियोग आदि नाना अर्थोंका प्रतिपादन करने के कारण श्रुति [वेद] भी प्रमाणभूत नहीं है, एवं ऐसा कोई मुनि नहीं है कि जिसके वचन प्रामाणिक माने जांय । धर्म कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है । जिस मार्गका महाजन अनुसरण करते हैं वही मार्ग ठीक है। इस तरह परलोक आदि परोक्ष पदार्थोंका अस्तित्व नहीं होनेके कारण अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणोंको माननेकी आवश्यकता नही रहती है । अतः एक प्रत्यक्षज्ञान ही प्रमाणरूप सिद्ध होता है ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

२ अथ प्रत्यक्षोद्देशः

अथ प्रमाणसामान्यलक्षणं व्युत्पाद्येदानीं तद्विशेषलक्षणं व्युत्पादयितुमुपक्रमते। प्रमाण-लक्षणविशेषव्युत्पादनस्य च प्रतिनियतप्रमाणव्यक्तिनिष्ठत्वात्तदभिप्रायवांस्तद्व्यक्तिसंख्याप्रतिपादन-पूर्वकं तल्लक्षणविशेषमाह—

तद्द्वेधा ॥ १ ॥

तत्स्वापूर्वेत्यादिलक्षणलक्षितं प्रमाणं द्वेधा द्विप्रकारम्, सकलप्रमाणभेदप्रभेदानामत्रान्तर्भा-

---

अब प्रमाण के सामान्य लक्षण के कहने के बाद इस समय उसीका विशेष लक्षण विशद रूपसे कहने के लिए द्वितीय अध्यायका प्रारंभ करते हैं, प्रमाणके विशेष लक्षणको कहना उसकी प्रतिनियत संख्याके अधीन है, अतः इसी अभिप्रायसे श्री माणिक्यनंदी आचार्य सर्वप्रथम प्रमाणके भेदोंकी संख्या बताते हैं और फिर विशेष लक्षण कहते हैं।

सूत्र—तद्द्वेधा ॥ १ ॥

अर्थ—वह प्रमाण दो प्रकारका है। स्वापूर्वार्थ...इत्यादि लक्षणसे लक्षित जो प्रमाण है वह दो प्रकारका है, क्योंकि संपूर्ण प्रमाणोंके भेद प्रभेद इन्हींमें अन्तर्भूत हो जाते हैं, अन्य अन्य मतों में परिकल्पित किये गये एक, दो, तीन आदि प्रमाण सिद्ध नहीं होते ऐसा आगे स्वयं आचार्य प्रतिपादन करनेवाले हैं। चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है, उसकी एक प्रमाण संख्यामें अनुमानादि प्रमाणोंका अन्तर्भाव होना असंभव है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणमें और अनुमानादि प्रमाणोंमें विलक्षणता है, तथा वे भिन्न भिन्न सामग्रीसे भी उत्पन्न होते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रियादिसे और अनुमानादिप्रमाण हेतु आदिसे उत्पन्न होते हैं। तथा इनका स्वभाव भी विलक्षण [विशद अविशद] है इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणमें अनुमानादि प्रमाणोंका अन्तर्भाव होना संभव नहीं है।

प्रमाण के भेद (इस ग्रन्थ के अनुसार)
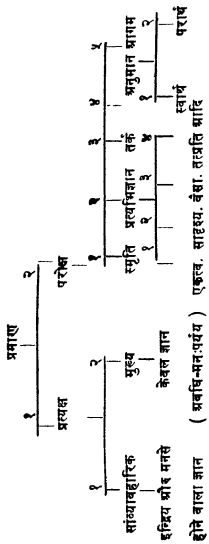
प्रमाणके भेद—[सिद्धांत ग्रन्थानुसार]
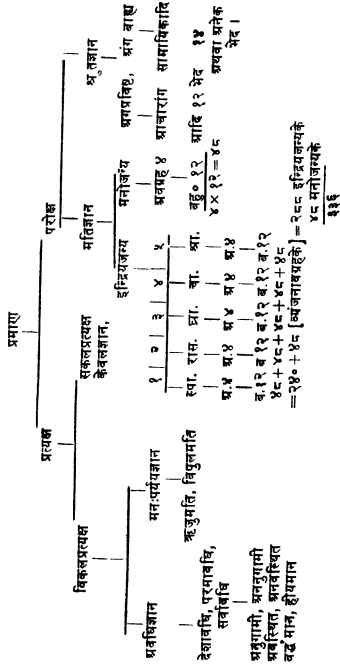
वविभावनात् । 'परपरिकल्पितैकद्वित्र्यादिप्रमाणसंख्यानियमे तदघटनात्' इत्याचार्यः स्वयमेवाग्रे प्रतिपादयिष्यति । ये हि प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमित्याचक्षते न तेषामनुमानादिप्रमाणान्तरस्यात्रान्तर्भावः सम्भवति तद्विलक्षणत्वाद्विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च ।

ननु चास्याऽप्रामाण्यान्नान्तर्भावविभावनया किञ्चित्प्रयोजनम् । प्रत्यक्षमेकमेव हि प्रमाणम्, अगौणत्वात्प्रमाणस्य । अर्थनिश्चायकं च ज्ञानं प्रमाणम्, न चानुमानादर्थनिश्चयो घटते–सामान्ये सिद्धसाधनाद्विशेषेऽनुगमाभावात् । तदुक्तम्—

चार्वाक—अनुमानादिक तो अप्रमाणभूत हैं अतः यदि उनका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव नहीं हुआ तो क्या आपत्ति है ? हम तो एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं, क्योंकि वही मुख्य है, जो मुख्य होता है वह प्रमाणभूत होता है । जो पदार्थका निश्चय कराता है वह प्रमाण कहलाता है, जैनादि प्रवादी द्वारा माने गये अनुमान से पदार्थका निश्चय तो होता नहीं, इसका भी कारण यह है कि अनुमान सिर्फ सामान्यका निश्चय कराता है और सामान्य तो सिद्ध [जाना हुआ] ही रहता है । भावार्थ— धूमको देखकर अग्नि निश्चय करना अनुमान है सो यह ज्ञान विशेष अग्निको [पत्तेकी अग्नि, काष्ठकी अग्नि] तो बताता नहीं, केवल सामान्य अग्निको बताता है, सामान्य अग्निमें तो विवाद रहता नहीं अतः अनुमान ज्ञान अर्थ निश्चय करानेमें खास उपयोगी नहीं है । कहा भी है— अनुमान ज्ञान विशेषकी जानकारी कराता नहीं और सामान्य तो सिद्ध ही रहता है अतः अनुमान प्रमाणकी जरूरत नहीं है ।

अनुमान को प्रवर्त्तित होनेके लिये व्याप्तिका ज्ञान होना जरूरी है तथा हेतुमें पक्ष धर्मत्व होना भी जरूरी है, सो व्याप्तिका ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सिर्फ निकटवर्त्ती वस्तुओंको ही जानता है, उसके द्वारा अखिल साध्य साधनभूत पदार्थोंकी अपेक्षा रखनेवाली व्याप्तिका ज्ञान होना अशक्य है, प्रत्यक्षमें ऐसी सामर्थ्य होती ही नहीं अनुमान द्वारा व्याप्तिका ग्रहण होना भी अशक्य है, क्योंकि व्याप्तिको जाननेवाला अनुमान भी तो व्याप्ति ग्रहणसे उत्पन्न होगा, अब यदि इस दूसरे अनुमानकी व्याप्तिको ग्रहण करनेके लिए पुनः अनुमान आयेगा तो अनवस्था या इतरेतराश्रय दोष आयेगा कैसे सो ही बताते हैं—अनवस्था दोष तो इसप्रकार होगा कि—प्रथम नम्बरके अनुमानकी व्याप्तिको जाननेके लिये दूसरा अनुमान आया फिर उस दूसरे अनुमानकी व्याप्तिको जाननेके लिए तीसरा अनुमान प्रवृत्त हुआ इसप्रकार अनुमानांतर आते रहनेसे मूल क्षतिकरी अनवस्था आती है । साध्य साधनकी व्याप्तिको

विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम् [ ] इति ।

किञ्च, व्याप्तिग्रहणे पक्षधर्मतावगमे च सत्यनुमानं प्रवर्त्तते । न च व्याप्तिग्रहणमध्यक्षतः; अस्य सन्निहितमात्रार्थग्राहित्वेनाखिलपदार्थाक्षेपेण व्याप्तिग्रहणेऽसामर्थ्यात् । नाप्यनुमानतः; अस्य व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात् । तत्राप्यनुमानतो व्याप्तिग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः । न चान्यत्प्रमाणं तद्ग्राहकमस्ति । तत्कुतोनुमानस्य प्रामाण्यम् ? इत्यसमीक्षिताभिधानम्; अनुमानादेरप्यध्यक्षवत्प्रतिनियतस्वविषयव्यवस्थायामविसंवादकत्वेन प्रामाण्यप्रसिद्धेः । प्रत्यक्षेपि हि प्रामाण्यमविसंवादकत्वादेव प्रसिद्धम्, तच्चान्यत्रापि समानम् अनुमानादिनाप्यध्यवसितेर्थे विसंवादाभावात् ।

यच्च-अगौणत्वात्प्रमाणस्येत्युक्तम्, तत्रानुमानस्य कुतो [गौणत्वम्,] गौणार्थविषयत्वात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वाद्वा ? न तावदाद्यो विकल्पः; अनुमानस्याप्यध्यक्षवद्वास्तवसामान्यविशेषात्मकार्थविष-

---

ग्रहण किये विना अनुमानका उत्थान नहीं होगा और अनुमानका उत्थान हुए बिना व्याप्तिका ग्रहण नहीं होगा, इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

अनुमानको छोड़कर अन्य कोई ऐसा प्रमाण है नहीं कि जिसके द्वारा व्याप्ति का ग्रहण हो सके, अतः अनुमानमें प्रमाणता किसप्रकार सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

जैन—यह कथन बिना सोचे किया गया है, प्रत्यक्ष प्रमाणकी तरह अनुमानादि ज्ञान भी प्रमाणभूत हैं, क्योंकि ये भी प्रत्यक्षके समान अपने नियत विषयको व्यवस्थापित करते हैं तथा प्रत्यक्ष के समान ही अविसंवादी हैं । प्रत्यक्षप्रमाणमें अविसंवादीपना होने के कारण प्रमाणता आती है तो अनुमानमें भी अविसंवादीपना होनेके कारण प्रमाणता आती है, उभयत्र समानता है ।

आपने कहा कि अगौण होनेसे प्रत्यक्ष ही प्रमाण है सो बताइये कि अनुमान गौण क्यों है गौण अर्थको विषय करता है इसलिये, अथवा प्रत्यक्ष पूर्वक होता है इसलिये ? पूर्व विकल्प ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षकी तरह अनुमानका विषय भी सामान्यविशेषात्मक मुख्य अर्थ ही माना गया है, सौगतके समान कल्पित सामान्यको विषय करनेवाला अनुमान है ऐसा जैन नहीं मानते हैं, हम तो अनुमान में कल्पित सामान्यका निषेध करनेवाले हैं । दूसरा विकल्प-अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है अतः गौण है ऐसा कहना भी अयुक्त है यदि अनुमानको प्रत्यक्ष पूर्वक होने मात्रसे गौण मानते हैं तो किसी किसी प्रत्यक्षको अनुमान पूर्वक होनेसे गौण मानना होगा ? कैसे

यत्वाभ्युपगमात् । न खलु कल्पितसामान्यार्थविषयमनुमान सौगतवज्जैनैरिष्टम्, तद्विषयत्वस्यानुमाने निराकरिष्यमाणत्वात् । प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानस्य गौणत्वे प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिदनुमानपूर्वकत्वाद्गौणत्वप्रसङ्गः, अनुमानात्साध्यार्थं निश्चित्य प्रवर्त्तमानस्याध्यक्षप्रवृत्तिप्रतीतेः । ऊहाख्यप्रमाणपूर्वकत्वाच्चास्याध्यक्षपूर्वकत्वमसिद्धम् ।

यच्चोक्तम् 'न च व्याप्तिग्रहणमध्यक्षतः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; व्याप्तेः प्रत्यक्षानुपलम्भबलोद्भूतोहाख्यप्रमाणात्प्रसिद्धेः । न च व्यक्तीनामानन्त्यं देशादिव्यभिचारो वा तत्प्रसिद्धेर्बाधकः, सामान्यद्वारेण-प्रतिबन्धावधारणात्तस्य चानुगताऽबाधितप्रत्ययविषयत्वादस्तित्वम् । प्रसाधयिष्यते च "सामान्यविशेषात्मा तदर्थः" [परीक्षामुख ४-१] इत्यत्र वस्तुभूतसामान्यसद्भावः ।

सो ही बताते हैं–किसी पुरुषको धूम देखकर अग्निका ज्ञान हुआ पश्चात् साक्षात् पर्वतपर जाकर अग्निका प्रत्यक्षज्ञान हुआ सो ऐसा प्रत्यक्ष अनुमानके पीछे होता हुआ देखा जाता है । तथा यह बात प्रसिद्ध है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है, क्योंकि वह तो तर्क नामक प्रमाण पूर्वक होता है और अपने विषयको निश्चित रूपसे जानता है । चार्वाकने कहा कि व्याप्तिका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता इत्यादि, सो वह सब प्रलाप मात्र है, क्योंकि व्याप्तिका ज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुपलभ [अन्वय व्यतिरेक] दोनोंके बलसे उत्पन्न हुए तर्क नामक प्रमाणसे होता है ।

शंका—व्यक्तियोंकी [धूम एवं अग्निकी] अनंतता एवं देशादिका व्यभिचार तर्क प्रमाणकी सिद्धिमें बाधक बनता है अर्थात् जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है, जहां अग्नि नही होती वहां धूम भी नहीं होता इसप्रकारसे समस्त देश और कालका उपसंहार करनेवाला तर्क होता है, सो इस तर्क द्वारा साध्यसाधनभूत अंनत व्यक्तियोंमें संबंध निश्चित नहीं हो सकता, अतः यह ज्ञान अप्रमाणभूत है ।

समाधान—यह कथन ठीक नही, क्योंकि व्यक्तियोंके अनंत होनेपर भी उनका सामान्यरूपसे तर्क द्वारा अविनाभाव निश्चित किया जा सकता है अतः तर्क ज्ञान प्रमाणभूत ही है, तथा अनुगत [यह गौ है, यह गौ है] विषयकी अबाधित प्रतीति करानेवाला होनेसे भी तर्क प्रमाणका अस्तित्व सिद्ध होता है, "सामान्य विशेषात्मा-तदर्थः" इस सूत्रके विवेचनमें हम यह सिद्ध करनेवाले ही हैं कि सामान्य [अनुगत प्रत्ययका कारण] भी वस्तुभूत होता है । [काल्पनिक नहीं] ।

चार्वाक—"प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वात्" प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि प्रधानभूत है ऐसा कहते हैं, किन्तु तर्क ज्ञान को प्रमाणभूत माने बिना ऐसा कहना

न चोहप्रमाणमन्तरेण 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वात्' इत्याद्यभिधातुं शक्यम् । तथाहि—अगौणत्वमविसंवादित्वं वा लिङ्गं नाप्रसिद्धप्रतिबन्धं सत् प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमनुमापयेदतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धप्रसिद्धिश्चानवयवेनाभ्युपगन्तव्या, अन्यथा यस्यामेव प्रत्यक्षव्यक्तौ प्रामाण्येनागौणत्वादेरसौ सिद्धस्तस्यामेवागौणत्वादेस्तत्सिध्येत्, न व्यक्त्यन्तरे तत्र तस्यासिद्धत्वात् । न चासौ साकल्येनाध्यक्षात्सिध्येत्तस्य सन्निहितमात्रविषयकत्वात् । अथैकत्र व्यक्तौ प्रत्यक्षेणानयोः सम्बन्धं प्रतिपद्यान्यत्राप्येवंविधं प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यगौणत्वादिप्रामाण्ययोः सर्वोपसंहारेण प्रतिबन्धप्रसिद्धिरित्यभिधीयते; न अविषये सर्वोपसंहारेण प्रतिपत्तेरयोगात् । सर्वोपसंहारेण प्रतिपत्तिश्च नामान्तरेणोह एवोक्तः स्यात् ।

शक्य नहीं है, इसीको बताते हैं–अगौणत्वात् प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्" ऐसे अनुमान वाक्यमें जो अगौणत्व हेतु दिया जाता है अथवा अविसंवादित्व रूप हेतु दिया जाय तो वे दोनों ही हेतु अज्ञात अविनाभाव संबंध वाले होंगे तो प्रत्यक्षके प्रामाण्यपनेका अनुमाप नहीं लगा सकते हैं, यदि अज्ञात अविनाभाव संबंधमे भी अनुमाप लगा सकते हैं तो जिस पुरुषके धूम अग्निका अविनाभाव अज्ञात हो उस पुरुषके भी धूमको देखकर अग्निका ज्ञान होने लगेगा । इसतरह का अतिप्रसंग उपस्थित होगा ।

अविनाभावसंबधकी निश्चिति साकल्य रूपसे स्वीकार करनी ही होगी अन्यथा जिस किसी एक प्रमाणमें अगौणत्वादिका प्रामाण्यके साथ अविनाभाव संबंध सिद्ध हुआ हो सिर्फ उसी एक प्रमाणमें प्रत्यक्ष प्रमाणता सिद्ध होगी, अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणमें नहीं, क्योंकि अन्य प्रमाणमें अविनाभाव संबंध असिद्ध है । यहां कोई कहे कि अगौणत्व और प्रामाण्यका अविनाभाव साकल्य रूपसे सभी प्रत्यक्ष प्रमाणोंमें सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्षप्रमाण ही है वही इस अविनाभावका निश्चय करा देगा ? सो बात असभव है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण सिर्फ सन्निहित [निकटवर्त्ती] पदार्थको विषय करता है ।

चार्वाक—किसी एक प्रमाणमें इन अगौणत्व और प्रामाण्यका अविनाभाव संबंधको भलीप्रकारसे समझकर अन्य सभी प्रमाणोंमें अगौणत्व और प्रामाण्यका सर्वोपसंहार रूपसे अविनाभाव संबध सिद्ध किया जायगा कि सभी प्रत्यक्ष प्रमाण इसीप्रकार के होते हैं इत्यादि ।

जैन—ऐसा नहीं हो सकता, प्रत्यक्ष प्रमाणका अविषय होनेके कारण सर्वोपसंहार रूपसे अविनाभावकी प्रतिपत्ति होना अशक्य है [अर्थात् सर्वोपसंहारी व्याप्ति

अग्निधूमादीनां चैवमविनाभावप्रतिपत्तिः किन्न स्यात् ? येन 'अनुमानमप्रमाणमविनाभावस्याखिल-पदार्थाक्षेपेण प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्' इत्युक्तं शोभेत ।

किञ्चानुमानमात्रस्याप्रामाण्यं प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्, अतीन्द्रियार्थानुमानस्य वा ? प्रथमपक्षे प्रतीतिसिद्धसकलव्यवहारोच्छेदः । प्रतीयन्ते हि कुतश्चिदविनाभाविनोऽर्थादर्थान्तरं प्रतिनियतं प्रतिपत्तो लौकिकाः, न तु सर्वस्मात्सर्वम् । द्वितीयपक्षे तु कथमतीन्द्रियप्रत्यक्षेतरप्रमाणानामगौणत्वादिना प्रामाण्येतरव्यवस्था ? कथं वा परचेतसोऽतीन्द्रियस्य व्यापारव्याहारादिकार्यविशेषात् प्रतिपत्तिः ?,

---

प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय ही नहीं है] एक बात यह भी है कि यदि आप सर्वोपसंहार रूपसे प्रतिपत्ति होना स्वीकार करते हैं तो नामान्तरसे तर्क प्रमाणका ही स्वरूप आ जाता है, तथा जिसप्रकार अगौणत्व और प्रमाणत्वका अविनाभाव प्रत्यक्ष प्रमाणमें प्रसिद्ध होता है उसीप्रकार अग्नि और धूम आदिका अविनाभाव क्यों नहीं प्रसिद्ध होगा ? अर्थात् होगा ही । अतः आपका पूर्वोक्त कथन अयुक्त सिद्ध होता है कि सपूर्ण साध्यसाधनभूत पदार्थोंका अविनाभाव जानना अशक्य होनेसे अनुमान ज्ञान अप्रमाण है इत्यादि । तथा यह बताइये कि सारे ही अनुमान ज्ञान अप्रमाणभूत मानना इष्ट है अथवा अतीन्द्रियको विषय करनेवाले अनुमान अप्रमाणभूत मानना इष्ट है ? प्रथमपक्ष कहे तो प्रतीति सिद्ध सकल व्यवहार नष्ट होवेगा, क्योंकि व्यवहारमें देखा जाता है कि लौकिक जन किसी एक अविनाभावी हेतु द्वारा अर्थसे अर्थांतर भूत पदार्थका निश्चय करते हैं किन्तु हर किसी सभी हेतु द्वारा सभी पदार्थका निश्चय नहीं करते [अर्थात् अविनाभावी हेतु वाले अनुमान ज्ञान प्रमाणताकी कोटिमें आ जानेसे सभी अनुमान अप्रामाणिक है ऐसा कहना बाधित होता है] ।

द्वितीयपक्ष—अतीन्द्रिय अर्थको ग्रहण करनेवाले अनुमानको अप्रमाणभूत मानते हैं ऐसा कहे तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षप्रमाण और अतीन्द्रिय अनुमान प्रमाण इन दोनों ज्ञानोंका क्रमशः अगौणत्व और गौणत्वादि हेतु द्वारा प्रामाण्य और अप्रामाण्य किसप्रकार व्यवस्थित होगा ? एवं परके अतीन्द्रियभूत मनकी व्यापार, व्याहारादि कार्य विशेष द्वारा सिद्धि होती है वह किसप्रकार होवेगी ? तथा स्वर्ग अदृष्ट देवता आदिका अनुपलब्धि हेतु द्वारा प्रतिषेध करना भी किसप्रकार युक्त हो सकेगा । सो यह चार्वाक अगौण होनेसे एक प्रत्यक्ष ही प्रमाणभूत है अनुमान अगौण नहीं है अतः उससे पदार्थका निश्चय नहीं होता, इत्यादि अनुमान वाक्य रूप कथन करता है । पुनश्च इसी अनुमान द्वारा प्रत्यक्षादिकी प्रमाणता सिद्ध करता है सो यह किसप्रकार शक्य है ? यदि अनु-

स्वर्गापूर्वदेवतादेस्तथाविधस्य प्रतिषेधोऽनुपलब्धेः स्यात् ? सोय चार्वाकः "प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः" [ ] इत्याचक्षाणः कथमत एवाध्यक्षादेः प्रामाण्यादिकं प्रसाधयेत् ? प्रसाधयन्वा कथमतीन्द्रियेतरार्थविषयमनुमानं न प्रमाणयेत् ? उक्तं च—

"प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ।।" [ ] इति।

तन्नानुमानस्याप्रामाण्यम् ।

मान द्वारा प्रत्यक्षका प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है तो अतीन्द्रिय गम्य और इन्द्रियगम्य पदार्थको विषय करनेवाला अनुमानज्ञान किसप्रकार प्रमाणभूत नहीं माना जायगा ? अर्थात् इसे भी प्रमाणभूत मानना होगा। कहा भी है—प्रमाणत्व और अप्रमाणत्वका अस्तित्व होनेसे, पर प्राणियोंकी बुद्धिकी प्रतीति होनेसे तथा परलोकादि किसीका प्रतिषेध करनेसे प्रत्यक्षके अतिरिक्त जो अनुमान है उसकी प्रमाणता सिद्ध होती है ।। १ ।।

भावार्थ—यहांपर अनुमान ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध करनेके लिये तीन हेतु उपस्थित किये हैं, वे इसप्रकार है—यह ज्ञान प्रामाणिक है क्योंकि इसमें अविसंवाद है एवं यह ज्ञान अप्रामाणिक है क्योंकि इसमें विसंवाद है, इसतरह ज्ञानोंकी प्रमाणता अप्रमाणताका निर्णय अनुमान द्वारा ही होता है। तथा इस पुरुषमें बुद्धि है, क्योंकि वचन कुशलता आदि बुद्धिके कार्य दिखाई दे रहे इत्यादि रूपसे परव्यक्तिमें बुद्धिका अस्तित्व अनुमान द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। तीसरा अनुमान चार्वाकको इसलिये चाहिये कि उन्हें परलोक आदिका निषेध करना है अर्थात् "स्वर्गादि परलोकका अस्तित्व नहीं है, क्योंकि उनकी अनुपलब्धि है" इत्यादि अनुमानद्वारा ही परलोकादि प्रतिषेध करना संभव है। उपर्युक्त तीनों ही बातें प्रत्यक्ष द्वारा तो सिद्ध नहीं की जा सकती अतः अनुमान ज्ञानको प्रमाणभूत मानना आवश्यक है। इसप्रकार प्रत्यक्षके समान अनुमान भी एक पृथक् प्रमाण है ऐसा निश्चय हुआ।

*** प्रत्यक्षैक प्रमाणवाद समाप्त ***

प्रमेयद्वित्वात् प्रमाणद्वित्ववादका पूर्वपक्ष

प्रमेय अर्थात् पदार्थ दो प्रकारके हैं अतः प्रमाण के दो भेद होते हैं।

तस्यविषयः स्वलक्षणम् ।। १२ ।। [न्याय बिन्दु पृष्ठ ६९]

प्रत्यक्षका विषय स्वलक्षण है। स्वलक्षण क्या है इस बातको-निर्विकल्प प्रत्यक्षका वर्णन करते हुए कह आये हैं कि जिस पदार्थकी निकटतासे ज्ञानमें स्पष्टता आती है और दूरी होनेसे अस्पष्टता आती है वह स्वलक्षण है।

तदेव परमार्थसत् ।।१४।। अर्थक्रिया सामर्थ्य लक्षणत्वाद् वस्तुनः ।।१५।।
(न्याय बिन्दुः पृ० ७६-७८)

यह स्वलक्षण ही परमार्थ है। अर्थक्रियामें जो समर्थ है वही वस्तुका स्वरूप है और वही स्वलक्षण है-(असाधारण रूप है)।

अन्यत् सामान्यलक्षणम् ।।१६।। सोऽनुमानस्य विषयः ।।१७।।
[पृष्ठ ७९-८०]

इस स्वलक्षणसे पृथक् सामान्य लक्षण है, और यह अनुमानका विषय है, [अनुमानके द्वारा जानने योग्य है।] वस्तुके साधारण रूप का सामान्य लक्षण क्या है ? सो इस विषयमें कहा जाता है कि धर्म (रूप आदि परमाणु) क्षणिक हैं इन धर्मोंके पुंजमें (परमाणु समूहमें) जल लाना आदिका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जल लाना आदि अर्थक्रियामें समर्थ जो वस्तु क्षण होता है वही स्वलक्षण कहलाता है। इसमें देशकी दृष्टिसे विस्तार नहीं है और कालकी दृष्टिसे स्थिरता भी नहीं है। इसका स्वरूप यही है कि अर्थक्रिया का सामर्थ्य होना है, और अर्थक्रिया का सामर्थ्य एक क्षण में ही रहता है इस बातको बौद्ध ग्रन्थों में अनेक जगह सिद्ध किया है। अतः वस्तुका अर्थक्रिया समर्थ एक क्षण ही स्वलक्षण है। इसमें जो स्थूलता या विस्तार भासित होता है वह सिर्फज्ञानमें प्रतीत होता है। वह कोई वस्तुका धर्म नहीं है। वह प्रतीति इसी प्रकार होती है कि जैसे दूर से भिन्न भिन्न वृक्षों में कुंजकी प्रतीति होती है वस्तुमें स्थिरताकी प्रतीति भी होती है किन्तु यह सब कोई तथ्य नहीं है। तथ्य तो यह है कि

एक क्षण नष्ट होता है उसके अनंतर दूसराक्षण उत्पन्न होता है इस प्रकार उपादान उपादेय भावसे क्षणोंकी परंपरा चलती है वही क्षण संतान कहलाता है जो नील या घट आदि क्षणोंकी संतान हैं उनको एक मानकर स्थिरताका आभास होने लगता है। समस्त घट संतानोंका जो साधारण रूप है वही सामान्य लक्षण है। क्योंकि स्वलक्षण तो वस्तुका असाधारण रूप है। वह सबसे व्यावृत्त है। अत: निश्चय हुआ कि जो वस्तु का वास्तविक स्वलक्षण—क्षण स्थायी असाधारण रूप है वह प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय है, और जो क्षण प्रवाह रूप साधारण—सामान्य लक्षण है वह अनुमान प्रमाणका विषय है। इस प्रकार प्रमेय—वस्तु या पदार्थ दो प्रकारके होनेसे उनके ग्राहक ज्ञानोंमें—(प्रमाणोंमें) भेद हो जाता है यह कथन सिद्ध हुआ।

*** पूर्वपक्ष समाप्त ***

प्रमेयद्वित्वात् प्रमाणद्वित्वविचारः

अस्तु नाम प्रत्यक्षानुमानभेदात्प्रमाणद्वैविध्यमित्यारेकापनोदार्थम्—

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥

इत्याह । न खलु प्रत्यक्षानुमानयोर्व्याख्येयागमादिप्रमाणभेदानामन्तर्भावः सम्भवति यतः सौगतोपकल्पितः प्रमाणसंख्यानियमो व्यवतिष्ठेत ।

प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणस्य द्वैविध्यमेवेत्यप्यसम्भाव्यम्, तद्द्वैविध्यासिद्धेः, 'एक एव हि

यहापर अनुमानप्रमाणको सिद्ध हुआ देखकर सौगत प्रवादी कहते हैं कि जैनने जो प्रमाणकी दो संख्या बतलायी है वह ठीक ही है, प्रमाणको प्रत्यक्ष और अनुमान इसप्रकार दो तरहका मानना चाहिये ।

इस तरह आक्षेप होने पर आचार्य कहते हैं ।

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है, बौद्धकी मान्यताके समान वह प्रत्यक्ष और अनुमानके भेदसे दो प्रकारका नहीं है, क्योंकि इस संख्यामें आगे कहे जानेवाले आगमादि प्रमाणोंका अन्तर्भाव नहीं हो पाता ।

बौद्ध—प्रमाणका विषय जो प्रमेय है वह दो प्रकारका होनेसे प्रमाण भी दो प्रकारका स्वीकार किया गया है ।

जैन—ऐसा नहीं है, प्रमेय का दो पना ही जब असिद्ध है तब उससे प्रमाणके दो भेद किसप्रकार सिद्ध हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं सिद्ध हो सकते । प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही है ऐसा हम आगे सिद्ध करनेवाले हैं । आप बौद्ध अनुमान का विषय केवल एक सामान्य ही है ऐसा मानते हैं सो इस लक्षण वाले अनुमान द्वारा विशेष विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । यह तो निश्चित बात है कि अन्य विषयवाला ज्ञान अन्य विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं करता, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अतिप्रसंग होगा, अर्थात् फिर तो घटको विषय करनेवाला ज्ञान पटमें प्रवृत्ति कराने लगेगा ।

बौद्ध—हेतुसे अनुमित किये गये सामान्यसे विशेषकी प्रतिपत्ति होती है और उस प्रतिपत्तिसे विशेषमें प्रवृत्ति हो जाती है ।

सामान्यविशेषात्मार्थः प्रमेयः प्रमाणस्य' इत्यग्रे वक्ष्यते। किञ्चानुमानस्य सामान्यमात्रगोचरत्वे ततो विशेषेष्वप्रवृत्तिप्रसङ्गः। न खल्वन्यविषयं ज्ञानमन्यत्र प्रवर्त्तकम् अतिप्रसङ्गात्। अथ लिङ्गानुमितात्सामान्याद्विशेषप्रतिपत्तेस्तत्र प्रवृत्तिः; नन्वेवं लिङ्गादेव तत्प्रतिपत्तिरस्तु किं परम्परया? ननु विशेषेषु लिङ्गस्य प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरभावात्कथमतस्तेषां प्रतिपत्तिः? तदेतत्सामान्येपि समानम्। अथाप्रति-

---

जैन—यदि ऐसी बात है तो सीधे हेतुसे ही विशेषकी प्रतिपत्ति होना माने। परंपरासे क्या प्रयोजन है? अर्थात् हेतुसे सामान्यकी प्रतिपत्ति होना फिर उस सामान्य से विशेषकी प्रतिपत्ति होना ऐसा मानते हैं उसमें क्या लाभ है? कुछ भी नहीं।

बौद्ध—विशेषोंमें हेतुके अविनाभावकी प्रतिपत्ति नहीं है अतः अनुमान द्वारा उन विशेषोंका ज्ञान किसप्रकार हो सकता है?

जैन—यह बात तो सामान्यमें भी घटित होगी। अर्थात् जैसे विशेषोंमें हेतुके अविनाभावकी प्रतिपत्ति नहीं है वैसे विशेषोंमें सामान्यके अविनाभावकी प्रतिपत्ति नहीं है अतः सामान्य द्वारा विशेषोंका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

भावार्थ – बौद्ध अनुमान का विषय सिर्फ सामान्य है ऐसा मानते हैं अतः आचार्य ने कहा कि यदि अनुमान ज्ञान केवल सामान्य को विषय करता है तो उस ज्ञान द्वारा विशेष विषयोंमें प्रवृत्ति होना अशक्य होगा? इस पर बौद्धने कहा कि अनुमान द्वारा सामान्यको जानकर फिर उस अनुमित सामान्य द्वारा विशेषका ज्ञान हो जावेगा। सो इस कथन पर शंका होती है कि ऐसा परंपरागत विशेषका ज्ञान होने की अपेक्षा सीधा ही अनुमान द्वारा विशेषका ज्ञान क्यों नहीं होगा वैसा ज्ञान होनेमें क्या बाधा है? इसका समाधान करते हुए बौद्ध कहते हैं कि विशेषोंमें हेतुके अविना-भावका ज्ञान नहीं होनेसे अनुमान प्रमाण सीधा विशेषोंमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। तब आचार्यने समझाया कि यह कथन सामान्यके बारे में भी लागू होता है विशेषोंमें सामान्यके अविनाभाव की प्रतिपत्ति भी कहां है? कि जिससे वह अनुमित सामान्य विशेषमें प्रवृत्ति करा सके। अतः यही निश्चय होता है कि यदि अनुमान प्रमाणका विषय विशेष नहीं है तो विशेषमें उसकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।

बौद्ध—विशेषोंमें सामान्यका अविनाभाव जाना हुआ नहीं रहता तो भी सामान्य विशेषका गमक हुआ ही करता है।

पन्नप्रतिबन्धमपि सामान्यं तेषां गमकम्; लिङ्गमप्येवंविधं तद्गमकं किन्न स्यात् ? सामान्यस्यापि सामान्येनैव विशेषेषु प्रतिबन्धप्रतिपत्तावनवस्थासामान्याद्धि सामान्यप्रतिपत्तौ विशेषेष्वप्रवृत्तौ पुनस्ततोऽप्यपरसामान्यप्रतिपत्तौ स एव दोषः । अतः सामान्यतदनुमानानामनवस्थानाद्प्रवृत्तिर्विशेषेषु स्यात् ।

किञ्च व्यापकमेव गम्यम् अव्यभिचारस्य तत्रैव भावात् व्यापकं च कारणं कार्यस्य, स्वभावो भावस्य । तच्च स्वलक्षणमेव, अतस्तदेव गम्यं स्यात् न सामान्यमव्यापकत्वात् । अथ तदपि व्यापकम्, स्वलक्षणवद्वस्तुत्वम्, अन्यथा तस्मिन्नधिगतेपि प्रयोजनाभावात्तत्रानुमानमप्रमाणमेव स्यात् ।

जैन—तो फिर हेतु इसी तरह अज्ञात रहकर भी विशेष का गमक क्यों नहीं होगा ? यदि कहा जाय कि सामान्य भी मात्र सामान्यरूपसे विशेषोंमें अविनाभावका ज्ञान कराता है तो अनवस्था आयेगी । इसीको बताते हैं—सामान्यसे मात्र सामान्य ही जाना जाता है अतः उससे विशेषोंमें प्रवृत्ति तो होगी नहीं, उस प्रवृत्ति के लिये पुनः अनुमान प्रयुक्त होगा किन्तु उससे भी अपर सामान्य मात्र की प्रतिपत्ति होगी न कि विशेषमें प्रवृत्ति होगी अतः पूर्वोक्त दोष तदवस्थ रहता है, इसप्रकार सामान्य और तद् ग्राहक अनुमान इनकी अनवस्था होती जानेसे विशेषोंमें प्रवृत्ति होना अशक्य ही है ।

दूसरी बात यह है कि व्यापकको ही गम्य माना जाता है क्योंकि उसीमें अव्यभिचारपना है, और यह व्यापक कार्यका कारण तथा भावका स्वभाव रूप हुआ करता है, इस तरह का जो व्यापक है वह स्वलक्षण ही हो सकता है, अतः स्वलक्षण को ही गम्य मानना होगा सामान्यको नहीं, क्योंकि सामान्य अव्यापकरूप है । यदि कहा जाय कि सामान्य भी व्यापकरूप स्वीकार किया जाता है तब तो स्वलक्षणके समान सामान्य को भी वास्तविक पदार्थ मानना पड़ेगा, अन्यथा उसको जान लेने पर भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नही होगा तथा ऐसे अवास्तविक सामान्यको जाननेवाला अनुमान अप्रमाण ही कहलायेगा ।

भावार्थ—बौद्ध सामान्यको अवास्तविक और स्वलक्षणभूत विशेषको वास्तविक मानते हैं, इधर अनुमानको सामान्य का ग्राहक मानते हैं सो ऐसे अवास्तविक पदार्थको विषय करनेवाला ज्ञान अप्रमाणभूत ही ठहरता है, ऐसे अप्रमाणभूत सिद्ध हुए अनुमान द्वारा विशेषोंमें प्रवृत्ति होना अशक्य है अतः बौद्धने जो पहले कहा था कि अनुमान द्वारा सामान्यको ज्ञात कर उस ज्ञात सामान्यसे विशेषोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है, सो सब गलत साबित होता है ।

किञ्च, तत्प्रमेयद्वित्वं प्रमाणद्वित्वस्य ज्ञातम्, अज्ञातं वा ज्ञापकं भवेत् ? यद्यज्ञातमेव तत्तस्य ज्ञापकम्; तर्हि तस्य सर्वत्राविशेषात्सर्वेषामविशेषेण तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गतो विवादो न स्यात् । ज्ञातं चेत्कुतस्तज्ज्ञप्तिः ? प्रत्यक्षात्, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्; तेन सामान्याग्रहणात् । ग्रहणे वा तस्य सविकल्पकत्वप्रसङ्गो विषयसङ्करश्च प्रमाणद्वित्वविरोधी भवतोऽनुषज्येत । नाप्यनुमानतः; अत एव । स्वलक्षणपराङ् मुखतया हि भवतानुमानमभ्युपगतम्—

"अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात् ।
सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठितेः ।।" [ ]

किञ्च, प्रमेयद्वित्व प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक होता है ऐसा आपका आग्रह है सो बताइये कि प्रमेयद्वित्व ज्ञात होकर प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक बनता है अथवा विना ज्ञात हुए ही ज्ञापक बनता है ? विना ज्ञात हुए ही प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक बनेगा तो ऐसा अज्ञात प्रमेयद्वित्व सर्वत्र समान होनेसे सभी मनुष्योंको समानरूपसे उसकी प्रतीति आयेगी फिर यह विवाद नहीं हो सकता था कि प्रमाणद्वित्व (दो प्रकार का प्रमाण) प्रमेयद्वित्वके कारण है अर्थात् प्रमेय दो प्रकारका होनेसे प्रमाण भी दो प्रकारका हो जाता है । दूसरा पक्ष—प्रमेयद्वित्व ज्ञात होकर प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक बनता है ऐसा माने तो यह बताइये कि प्रमेयद्वित्वका ज्ञान किससे हुआ ? प्रत्यक्षसे हुआ अथवा अनुमान से हुआ ? प्रत्यक्षसे हुआ तो कह नहीं सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष सामान्य रूप प्रमेयको ग्रहण नहीं करता, यदि करेगा तो वह सविकल्पक कहलायेगा तथा विषय संकर दोष भी आयेगा अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण यदि सामान्यको ग्रहण करता है तो वह निर्विकल्प नहीं रहता क्योंकि सामान्यको ग्रहण करनेवाला ज्ञान सविकल्प होता है ऐसा आपका आग्रह है, तथा जब प्रत्यक्षने अनुमानके विषयभूत सामान्यको ग्रहण किया तब विषयसंकर हुआ फिर तो दो प्रमाण कहां रहे ? क्योंकि दो प्रकार का प्रमेय होनेसे प्रमाणको दो प्रकारका माना था, जब दोनों प्रमेयोंको [सामान्य और विशेषको] एक प्रत्यक्ष प्रमाणने ग्रहण किया तब अनुमान प्रमाणका कोई विषय रहा नहीं अतः उसका अभाव ही हो जायगा।

दूसरा पक्ष—प्रमाणद्वित्वका प्रमेयद्वित्वपना अनुमानसे जाना जाता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि इस पक्षमें भी विषय संकर आदि वे ही उपर्युक्त दोष आते हैं, आपके यहां अनुमानको स्वलक्षणसे पराङ्मुख माना है अर्थात् अनुमान स्व-लक्षणभूत विशेषको नहीं जानता ऐसा माना है । अनुमानके विषयमें आपके यहां कहा

इत्यभिधानात् । द्वाभ्यां तु प्रमेयद्वित्वस्य ज्ञाने(ऽ)स्य प्रमाणद्वित्वज्ञापकत्वायोगः, अन्यथा देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां प्रतिपन्नाद्धूमद्वित्वात् तदन्यतरस्याग्निद्वित्वप्रतिपत्तिः स्यात् । द्वैविध्यमिति हि द्विष्ठो धर्मः । स च द्वयोर्ज्ञाने ज्ञायते नान्यथा । न ह्यज्ञातसह्यविन्ध्यस्य तद्गतद्वित्वप्रतिपत्तिरस्ति । परस्पराश्रयानुषङ्गश्च-सिद्धे हि प्रमाणद्वित्वेऽतः प्रमेयद्वित्वसिद्धिः, तस्याश्च प्रमाणद्वित्वसिद्धिरिति । अथान्यतः प्रमाणद्वित्वस्य सिद्धिः, व्यर्थस्तर्हि प्रमेयद्वित्वोपन्यासः । तदप्यन्यदेकं वा स्यात्, अनेकं वा ? एकं चेद्विषयसङ्करः । प्रत्यक्षं हि स्वलक्षणाकारमनुमानं तु सामान्याकारम्, तद्द्वयस्यैकज्ञानवेद्यत्वे सुप्रसिद्धो विषयसङ्करः । अथानेकज्ञानवेद्यम्; तदप्यपरेणानेकज्ञानेन वेद्यं तदप्यपरेणेत्यनवस्था ।

है कि–भेदोंकी [विशेषोंकी] परावृत्तिसे रहित मात्र सामान्यका वेदन करनेवाला होनेसे तथा स्वलक्षणकी व्यवस्था नहीं करनेसे लिंग ज्ञान [अनुमान प्रमाण] सामान्यविषय वाला माना जाता है ।। १ ।।

अनुमान और प्रत्यक्ष दोनोंसे प्रमेयका द्वित्वपना जाना जाता है ऐसा कहेंगे तो वह प्रमेयद्वित्व प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक नहीं बन सकता यदि इसतरहका दो ज्ञानों द्वारा ज्ञात हुआ प्रमेयद्वित्व ज्ञापक हो सकता है तो देवदत्त और यज्ञदत्त द्वारा जाने हुए धूमद्वित्वसे उन दो पुरुषोंमें से किसी एकको अग्निके द्वित्वकी प्रतिपत्ति होना भी स्वीकार करना चाहिये ? [क्योंकि विभिन्न दो प्रमाणोंद्वारा ज्ञात हुआ प्रमेयद्वित्वज्ञापक बन सकता है ऐसा कहा है] तथा द्वैविध्य जो होता है वह दो पदार्थोंमें रहनेवाला धर्म होता है सो वह द्वैविध्य उन दोनों पदार्थोंका ज्ञान होनेपर जाना जा सकता है अन्यथा नहीं, जैसे कि किसी पुरुषने सध्याचल और विन्ध्याचलको नहीं जाना है तो उन दोनों पर्वतोंमें होनेवाला द्वैविध्य [दो पना] भी अज्ञात ही रहता है । तथा प्रमेयद्वित्व होनेसे [प्रमेय यानी पदार्थ दो प्रकारके होनेसे] प्रमाण दो प्रकारका है ऐसा सौगतका कहना अन्योन्याश्रय दोषसे भरा हुआ है, क्योंकि प्रमाणद्वित्व [प्रमाणका दोपना] सिद्ध होनेपर उसके द्वारा प्रमेयद्वित्वकी सिद्धि होगी और प्रमेयद्वित्वके सिद्ध होनेपर प्रमाणद्वित्व सिद्धि होगी इसतरह परस्पराश्रित रहनेसे दोनों असिद्ध रह जाते हैं । यदि कहा जाय कि प्रमाणद्वित्वकी सिद्धि प्रमेयद्वित्वसे न करके अन्य किसी ज्ञानसे करेंगे तो प्रमेयद्वित्व हेतुका उपन्यास करना व्यर्थ है, अर्थात् "प्रमाण दो प्रकार का है क्योंकि प्रमेय भूत विषय ही दो प्रकारका होता है" इसतरह प्रमेयद्वित्व हेतु द्वारा प्रमाणद्वित्वको सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि प्रमाणद्वित्व किसी अन्य ही ज्ञान द्वारा सिद्ध होता है ? तथा यह भी प्रश्न होता है कि प्रमाणद्वित्वको

ननु स्वलक्षणाकारता प्रत्यक्षेणात्मभूतैव वेद्यते सामान्याकारता त्वनुमानेन, तयोश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् प्रत्यक्षसिद्धमेव प्रमाणद्वित्वं प्रमेयद्वित्वं च, केवलम् यस्तथा प्रतिपद्यमानोपि न व्यवहरति स प्रसिद्धेन प्रमेयद्वैविध्येन प्रमाणद्वैविध्यव्यवहारे प्रवर्त्यते; तदप्यसारम्; ज्ञानादर्थान्तरस्यानर्थान्तरस्य वा केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य वा क्वचिज्ज्ञाने प्रतिभासाभावात्, उभयात्मन एवान्तर्बहिर्वा वस्तुनोऽध्यक्षादिप्रत्यये प्रतिभासमानत्वात् । प्रयोगः—असति बाधके यद्यथा प्रतिभासते

सिद्ध करनेवाला वह जो अन्य कोई ज्ञान है वह एक है अथवा अनेक है ? एक मानेंगे तो विषय संकर नामा दूषण होगा, कैसे सो ही बताते हैं—प्रत्यक्षप्रमाण स्वलक्षणाकार वाला होता है और अनुमान प्रमाण सामान्याकार वाला होता है ऐसा आप बौद्धका ही सिद्धांत है सो विलक्षण आकारवाले उन दोनों प्रमाणोंको एक ही ज्ञान जानेगा तो विषयसंकर स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है । [अर्थात् सामान्याकार और स्वलक्षणाकार भूत दो प्रमाणोंके दो विषयरूप आकार थे उन दोनोंको ग्रहण करनेसे दोनों विषयोंका [सामान्य और स्वलक्षणका] ग्रहण भी हो चुकता है और इसतरह एक ज्ञानमें दोनों की एक साथ प्रतिपत्तिरूप विषय संकर होता है] प्रमाणद्वित्वका ग्राहक जो अन्य कोई ज्ञान है वह अनेकरूप है अर्थात् अनेक ज्ञानोंद्वारा प्रमाणद्वित्व जाना जाता है तो पुनः प्रश्न होगा कि वे अनेक ज्ञान भी किसी अपर अनेक ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होते हैं क्या ? तथा वे अपर ज्ञान भी अन्य किसी ज्ञानसे वेद्य होंगे ? इसतरह अनवस्था आती है ।

बौद्ध—स्वलक्षणाकारता प्रत्यक्षद्वारा आत्मभूत ही वेदनकी जाती है और सामान्याकारता अनुमानद्वारा वेदन की जाती है तथा उन दोनों प्रमाणों की सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्षद्वारा हो जाया करती है अतः प्रमाणद्वित्व एवं प्रमेयद्वित्व दोनों भी प्रत्यक्षसे ही सिद्ध होते हैं, किन्तु इस व्यवस्थाको स्वसंवेदन प्रत्यक्षद्वारा जानता हुआ भी जो मनुष्य अपने व्यवहारमें नहीं लाता है उस पुरुषको प्रसिद्ध प्रमेयद्वित्व हेतु द्वारा प्रमाणद्वित्व व्यवहारमें प्रवर्तित कराया जाता है ।

जैन—यह कथन असार है, ज्ञानसे सर्वथा अर्थांतरभूत या अनर्थांतर भूत अकेले सामान्यका अथवा विशेषका किसी भी ज्ञानमें प्रतिभास नहीं होता है । प्रत्यक्षादि ज्ञानमें तो अंतस्तत्व बहिस्तत्वरूप चेतन और जड़ पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही प्रतिभासित हो रहे हैं । अनुमान प्रमाण द्वारा इसी बातको सिद्ध करते हैं—बाधकके नहीं होनेपर जो जिसप्रकारसे प्रतिभासित होता है उसको उसीप्रकारसे स्वीकार करना चाहिये, जैसे नील पदार्थ नीलाकारसे प्रतिभासित होता है अतः उसे नीलरूपही स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाण भी सामान्यविशेषात्मक पदार्थको

तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलतया, प्रतिभासते चाध्यक्षादि प्रमाणं सामान्यविशेषात्मार्थविषयतयेति ।

विषय करते हुए प्रतीत होते हैं अतः उन्हें वैसा ही स्वीकार करना चाहिये इसतरह सामान्य और विशेष दोनों पृथक् दो पदार्थ हैं और उनको जाननेवाले ज्ञान भी दो [प्रत्यक्ष और अनुमान] प्रकारके हैं ऐसा बौद्धका कहना खंडित हो जाता है ।

* समाप्त *

प्रमेयद्वित्वसे प्रमाणद्वित्वको मानने वाले बौद्ध के खंडनका सारांश

बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष का विषय विशेष, [स्वलक्षण] माना है और अनुमानका विषय सामान्य माना है, उनका कहना है कि विषय भिन्न भिन्न होनेके [अर्थात् वस्तु दो तरह की होनेके] कारण ही दो प्रमाण हैं । किन्तु यह कथन बिलकुल असत्य है प्रमेय दो तरहका है ही नहीं । प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमान हो दोनों प्रमाण सामान्य और विशेष को जानते हैं एक एक को नहीं हम बौद्ध से पूछते हैं कि दो तरह का प्रमेय है इस बातको कौन जानता है, प्रत्यक्ष या अनुमान ? तुम कहो कि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमेयद्वित्व को जानता है सो कैसे बने ? जब कि प्रत्यक्ष का विषय एक विशेष ही है, सामान्य नहीं, तो वह दोनों को कैसे जाने ? अनुमान कहो तो वही बात, क्योंकि वह भी सिर्फ सामान्य को ही जानता है विशेषको नहीं अतः दोनों ही एक एक को जाननेवाले होनेसे प्रमेय दो तरहका है यह बात व्यवस्थापक प्रमाणके अभावमें असिद्ध ही रहेगी । यदि प्रत्यक्ष या अनुमान में से कोई भी एक प्रमाण दोनों प्रमेयोंको जानेंगे तब तो बहुत भारी आपत्ति आप बौद्ध पर आ पड़ेगी, अर्थात् प्रमेयद्वित्व को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान जानता है तो विषय संकर हुआ क्योंकि दोनोंके विषयको एकने जाना, तथा सामान्य विषयको प्रत्यक्ष ने जाना अतः वह सविकल्पक हो गया क्योंकि आपने सामान्य विषय वाले ज्ञानको सविकल्पक रूपसे स्वीकार किया है । तथा प्रमेय दो है अतः प्रमाण भी दो प्रकार है, यह सिद्धांत भी गलत हो जाता है । अतः बौद्ध को अंतरंग वस्तु जीव और बहिरंग वस्तु जड़ पदार्थ इन दोनों को भी सामान्य विशेषात्मक मानना चाहिये, तथा इन दोनोंका ज्ञानभी दोनों अनुमान तथा प्रत्यक्षके द्वारा होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

प्रमेयद्वित्व से प्रमाणद्वित्व को माननेवाले बौद्ध के खंडनका सारांश समाप्त हुआ ।

आगमविचारः

**

ननु मा भूत्प्रमेयभेदः, तथाप्यागमादीनां नानुमानादर्थान्तरत्वम् । शब्दादिकं हि परोक्षार्थं सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा गमयेत् ? न तावदसम्बद्धम्; गवादेरप्यश्वादिप्रतिभासप्रसङ्गात् । सम्बद्धं चेत्; तल्लिङ्गमेव, तज्जनित च ज्ञानमनुमानमेव । इत्यप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यक्षस्याप्येवमनुमानत्वप्रसङ्गात्–तदपि हि स्वविषये सम्बद्धं सत्तस्य गमकम् नान्यथा, सर्वस्य प्रमातुः सर्वार्थप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । अथ

बौद्ध—प्रमेयके भेद मानना इष्ट नहीं है तो रहने दीजिये किन्तु आगमादि ज्ञानोंका अनुमान प्रमाणसे पृथकपना तो कथमपि सिद्ध नहीं होता । देखिये ! मीमांसकादिने आगमादि प्रमाणोंका कारण शब्दादिकों को माना है सो वे शब्दादिक परोक्षभूत पदार्थोंके गमक हुआ करते हैं सो उन पदार्थोंसे संबद्ध होकर गमक होते हैं अथवा असबद्ध होकर गमक होते हैं ? असंबद्ध होकर गमक होना तो अशक्य है, अन्यथा गो आदि शब्दसे अश्व आदि पदार्थका प्रतिभास होना भी स्वीकार करना पड़ेगा ? क्योंकि शब्दादिक पदार्थके साथ संबद्ध हुए बिना ही गमक हुआ करते हैं ऐसा मान रहे हो ! यदि इस दोषको दूर करनेके लिये दूसरा पक्ष स्वीकार करे कि पदार्थसे संबद्ध होकर ही शब्दादिक उस पदार्थके गमक हुआ करते हैं तो वे शब्दादिक लिंग [साधन] रूप ही सिद्ध हुए, एवं उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी अनुमान ही कहलाया ? अभिप्राय यह हुआ कि शब्दादि कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान अनुमान प्रमाणरूप ही सिद्ध होते हैं न कि आगमादि रूप ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, इसतरह पदार्थसे संबद्ध होकर उसके गमक होने मात्रसे आगमादि ज्ञानोंको अनुमानमें अन्तर्भूत किया जाय तो प्रत्यक्षप्रमाणका भी अनुमानमें अन्तर्भाव हो जानेका प्रसंग आता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण भी अपने विषय में संबद्ध होकर ही उसका गमक होता है अन्यथा नहीं, यदि स्वविषयमें संबद्ध हुए बिना गमक होना स्वीकार करेंगे तो सभी प्रमाताओंको सभी पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेका अति प्रसंग आता है ।

बौद्ध—यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणोंमें विषयसे संबद्ध होना समान है किन्तु सामग्री भिन्न भिन्न होनेकी वजहसे इनमें पृथक् प्रमाणपना माना जाता है ।

विषयसम्बद्धत्वाविशेषेपि प्रत्यक्षानुमानयोः सामग्रीभेदात्प्रमाणान्तरत्वम्; शाब्दादीनामप्येवं प्रमाणान्तरत्वं किन्न स्यात्? तथाहि-शाब्दं तावच्छब्दसामग्रीतः प्रभवति—

"शब्दादुदेति यज्ज्ञानमप्रत्यक्षेपि वस्तुनि।
शाब्दं तदिति मन्यन्ते प्रमाणान्तरवादिनः॥" [ ]

इत्यभिधानात्। न चास्य प्रत्यक्षता; सविकल्पकास्पष्टस्वभावत्वात्। नाप्यनुमानता; त्रिरूपलिङ्गाप्रभवत्वादनुमानगोचरार्थाविषयत्वाच्च। तदुक्तम्—

मीमांसक—इसीप्रकारसे आगमादि ज्ञानोंमें भी भिन्न प्रमाणपना क्यों न माना जाय? देखिये आगमादि ज्ञानोंकी सामग्री भी विभिन्न प्रकारकी होती है, शब्द रूप सामग्री से आगम ज्ञान प्रादुर्भूत होता है. जैसा कि कहा है–वस्तुके अप्रत्यक्ष रहनेपर भी शब्दद्वारा उसका ज्ञान हो जाया करता है, इस ज्ञानको प्रमाणान्तरवादी मीमांसक जैन आदि ने आगम प्रमाणरूप माना है॥ १॥

इस शब्द जन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण तो कह नहीं सकते, क्योंकि यह सविकल्प होता है एवं अस्पष्ट स्वभाववाला होता है। आगम ज्ञानको अनुमान रूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि यह ज्ञान त्रिरूपहेतु जन्य नहीं है, तथा अनुमानके गोचरभूत पदार्थोंको विषय भी नहीं करता है। हमारे मीमांसाश्लोकवार्तिक नामा ग्रन्थमें यही बात कही है–प्रत्यक्षके समान आगम ज्ञानमें भी अनुमानपना नहीं पाया जाता, इसका भी कारण यह है कि आगम ज्ञान त्रिरूप हेतु से विरहित है एवं अनुमेय विषयको भी ग्रहण नहीं करता। इसी कारिकाका स्पष्टीकरण करते हैं कि धूमादि हेतुसे उत्पन्न होनेवाले अनुमान ज्ञानका विषय धर्म विशिष्ट धर्मी हुआ करता है, जिसप्रकार का यह विषय है उसप्रकारका विषय शब्दजन्य ज्ञानमें तो नहीं रहता न त्रिरूप हेतुत्व रहता है, यह बात तो सर्व जन प्रसिद्ध है। त्रैरूप्यहेतुता शब्दमें किसप्रकार संभव नहीं है इस बातका खुलासा करते हैं कि–धर्मीका अयोग होनेसे शब्दमें पक्ष धर्मत्व सिद्ध नहीं होता। इस ज्ञानका विषयभूत जो अर्थ है उसीको धर्मी माने! इसतरहकी किसीको आशंका हो तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्दका पदार्थके साथ अविनाभाव संबंध तो है नहीं यह भी निश्चित है कि अप्रतिभासित पदार्थमें यह शब्द उस पदार्थका धर्म है इसतरहसे शब्दकी प्रतीति होना संभव नहीं। अब यदि यह मान लेवें कि पदार्थके प्रतिभासित हो जानेपर "यह उसका धर्म है" इसतरह शब्दकी प्रतीति होती है। सो यह प्रतीति कुछ उपयोगी सिद्ध नहीं होती; क्योंकि इस शब्द प्रतीतिके बिना भी

"तस्मादननुमानत्वं शाब्दे प्रत्यक्षवद्भवेत् ।
त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात् ॥ १ ॥"

[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १८]

यादृशो हि धूमादिलिङ्गजस्यानुमानस्य विषयो धर्मविशिष्टो धर्मी तादृशा विषयेण रहितं शाब्दं सुप्रसिद्धं त्रैरूप्यरहितं च । तथा हि–न शब्दस्य पक्षधर्मत्वम्; धर्मिणोऽयोगात् । न चार्थस्य धर्मित्वम्; तेन तस्य सम्बन्धासिद्धेः न चाप्रतीतेर्थे तद्धर्मतया शब्दस्य प्रतीतिः सम्भविनी । प्रतीते चार्थे न तद्धर्मतया प्रतिपत्तिः शब्दस्योपयोगिनी, तामन्तरेणाप्यर्थस्य प्रागेव प्रतीतेः । अथ शब्दो धर्मी, अर्थवानिति साध्यो धर्मः, शब्द एव च हेतुः; न; प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्राप्तेः । अथ शब्दत्वं हेतुरिति

पदार्थका प्रतिभास तो पहले ही हो चुकता है ।

बौद्ध—शब्दको धर्मी और अर्थवानको साध्यका धर्म बनाकर शब्दत्वरूप हेतु दिया जाय, अर्थात् "शब्द अर्थवान होता है, क्योंकि वह शब्दरूप है" इसप्रकारसे शब्द और अर्थका अविनाभाव संबंध सिद्ध होता है । [और इसतरहका अविनाभाव सिद्ध होनेपर शब्दजन्य आगमज्ञानका अनुमानमें अन्तर्भाव होना सिद्ध होता है] ।

मीमांसक– इसतरह कहे तो प्रतिज्ञाके एकदेशरूप हेतु को माननेका प्रसंग प्राप्त होता है अर्थात् शब्द अर्थवान होता है, क्योंकि वह शब्द रूप है, ऐसा अनुमान वाक्य रचनेमें शब्द ही पक्ष और शब्द ही हेतुरूप बनता है, सो यह प्रतिज्ञाका एक देश नामा हेतुका दोष है ।

बौद्ध—उपर्युक्त अनुमान वाक्यमें शब्दको हेतु न बनाकर शब्दत्वको [शब्द-पनाको] हेतु बनाते हैं अतः प्रतिज्ञाका एकदेशरूप दूषण प्राप्त नहीं होता ।

मीमांसक—यह भी ठीक नहीं, शब्दत्वको हेतु बनावे तो वह साध्यका अगमक रहेगा, क्योंकि शब्दत्व तो गो अश्व आदि सभी शब्दों में पाया जाता है अतः वह शब्दत्व विवक्षित शब्दका अर्थके साथ अविनाभाव सिद्ध करनेमें गमक नहीं बन सकता, तथा हम लोग आगे गो शब्दमें शब्दत्वका निषेध भी करनेवाले हैं (क्योंकि हम मीमांसक गो आदि शब्दको अतीतादि कालोंमें एक ही मानते हैं सो ऐसे गो शब्दमें शब्दत्व सामान्य रह नहीं सकता "न एक व्यक्तौ सामान्यम्" एक गो शब्दरूप व्यक्ति में शब्दत्व सामान्यका रहना असंभव है, उसका कारण भी यह है कि सामान्य तो

न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्; न; शब्दत्वस्यागमकत्वात्, गोशब्दत्वस्य च निषेत्स्यमानत्वेनासिद्धत्वात्। उक्तं च—

"सामान्यविषयत्वं हि पदस्य स्थापयिष्यते।
धर्मी धर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम्॥
न तावदनुमानं हि यावत्तद्विषयं न तत्।"
[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५-५६]

"अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते॥
प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते।"
[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६३]

व्यापक एवं एक होता है वह अकेले एक गो शब्दमें किसप्रकार रह सकता है? अर्थात् नहीं।)

मीमांसा श्लोकवार्तिकमें कहा है कि गो आदि पदका सामान्य विषयत्व होता है ऐसा हम स्थापित करनेवाले ही हैं तथा इसबातको तो प्रथम ही सिद्ध कर दिया है कि धर्मी और धर्म विशिष्ट को विषय करनेवाला अनुमान हुआ करता है, सो गो आदि शब्दसे होनेवाला ज्ञान, और धर्मी एवं धर्म विशिष्ट निमित्तसे होनेवाला ज्ञान ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? अतः बौद्धका यह कहना कि शब्दजन्यज्ञान अनुमानमें अन्तर्भूत होता है सो गलत है। शब्दजन्य ज्ञानको अनुमान प्रमाण तब तक नहीं कह सकते कि जबतक उसका विषय जो धर्मी और धर्म विशिष्ट है उसको ग्रहण न किया जाय। यदि कोई शंका करे कि "शब्द अर्थवान् होता है क्योंकि वह शब्द रूप है" इत्यादि अनुमान द्वारा शब्द और अर्थका अविनाभाव सिद्ध करके फिर उस शब्दजन्य ज्ञानको अनुमानमें अन्तर्भूत किया जाय तो इस पक्षमें क्या बाधा है? सो इस शंकाका यह समाधान है कि उपर्युक्त अनुमानमें दिया गया शब्दरूप हेतु प्रतिज्ञाका एक देश होनेसे असिद्ध है। यदि शब्दको हेतु न बनाकर शब्दत्वको बनावे तो वह हेतु भी साध्यका गमक नही हो पाता, क्योंकि गो आदि शब्दभूत व्यक्तिमें शब्दत्व सामान्य रहनेका निषेध है ऐसा हम आगे निश्चित करनेवाले हैं। गोशब्द में शब्दत्व सामान्यका निषेध करनेका कारण भी यह है कि गो शब्दभूत विशेष्य मात्र एक व्यक्ति रूप है उसमें शब्दत्व सामान्य रूप विशेषण रहता है तो उसको भी एक रूप होनेका प्रसंग आता है।

"शब्दत्वं गमकं नात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्यते ॥
व्यक्तिरेव विशेष्यातो हेतुश्चं का प्रसज्यते ।।"
[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६४]

न चार्थान्वयोस्यास्ति व्यापारेण हि सद्भावेन सत्तयेति यावत् । विद्यमानस्य ह्यन्वेतृत्वं, नाविद्यमानस्य । 'यत्र हि धूमस्तत्रावश्य वह्निरस्ति' इत्यस्तित्वेन प्रसिद्धोऽन्वेता भवति धूमस्य । न त्वेवं शब्दस्यार्थेनान्वयोस्ति, न हि तत्र शब्दाक्रान्ते देशेऽर्थस्य सद्भावः । न खलु यत्र पिण्डखर्जूरादि-शब्दः श्रूयते तत्र पिण्डखर्जूराद्यर्थोप्यस्ति । नापि शब्दकालेऽर्थोऽवश्यं सम्भवति; रावणशङ्खचक्रवर्त्या-

---

भावार्थ—शब्दजन्य ज्ञानको आगम प्रमाण न मानकर अनुमानप्रमाण मानना चाहिये ऐसा बौद्धका कहना है इसपर जैनाचार्य बौद्धको समझा रहे थे कि बीचमें ही मीमांसक बौद्धके मंतव्यका निरसन करते हुए कहते हैं कि शब्दजन्य ज्ञानको अनुमान किसप्रकार मान सकते हैं ? क्योंकि अनुमानमें प्रतिज्ञा और हेतु रूप ज्ञान होता है; इसपर बौद्धने अनुमान उपस्थित किया कि "शब्द अर्थवाला होता है क्योंकि वह शब्द रूप है" इसतरह शब्द और अर्थका अविनाभाव होनेसे शब्दको सुनकर जो भी ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाणरूप ही होता है अर्थात् गो शब्द सुना तो यह गो शब्द सास्वादिमान अर्थका प्रतिपादक है इत्यादि अनुमानरूप ही ज्ञान होता है। मीमांसक ने कहा कि उपर्युक्त अनुमान वाक्य सदोष है, देखिये "शब्द अर्थवाला होता है" यह तो प्रतिज्ञावाक्य है और क्योंकि वह शब्दरूप है यह हेतु वाक्य है सो शब्द ही तो प्रतिज्ञाका वाक्यांश है और उसीको फिर हेतु भी बनाया; सो यह प्रतिज्ञाका एक देश नामा हेत्वाभास [सदोष हेतु] है। यदि शब्दको हेतु न बनाकर शब्दत्वको बनाया जाय तो भी गलत होता है क्योंकि शब्द तो गो आदि विशेषरूप है और शब्दत्व सामान्य सर्वत्र व्यापक एक है ऐसा व्यापक सामान्य एक व्यक्तिमें अविनाभावसे रहना और उसका गमक होना असंभव है।

दूसरी बात यह है "शब्द अर्थवान होता है" इस प्रतिज्ञा वाक्यमें बाधा आती है क्योंकि शब्दके व्यापार के साथ अर्थका अन्वय नहीं है कि जहां शब्दका उच्चारण-रूप व्यापार हुआ वहां अर्थ अवश्य ही हो, शब्दका जहां सद्भाव या सत्ता हो वहां अर्थ भी जरूर हो ऐसा नियम नहीं है। तथा जो अन्वेतृत्व होता है वह विद्यमानका होता है अविद्यमानका तो होता नहीं, प्रसिद्ध बात है कि "जहां धूम है वहां अवश्य ही अग्नि है" इसप्रकार अस्तित्वपनेसे प्रसिद्ध अग्नि धूम की अन्वेता होती है, इसप्रकार का

दिशब्दा हि वर्त्तमानास्तदर्थस्तु भूतो भविष्यश्च, इति कुतोऽर्थैः शब्दस्यान्वेतृत्वम् ? नित्यविभुत्वाभ्याम् तत्त्वे चातिप्रसङ्गः । तदुक्तम्—

"अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते ।
व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्वं प्रतीयते ।। १ ।।

यत्र धूमोस्ति तत्राग्निरस्तित्वेनान्वयः स्फुटः ।
न त्वेवं यत्र शब्दोस्ति तत्रार्थोस्तीति निश्चयः ।। २ ।।

न तावद्यत्र देशेऽसौ न तत्काले च गम्यते ।
भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत्सर्वार्थेष्वपि तत्समम् ।। ३ ।।

तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद्व्यतिरेकस्य चागतेः ।
सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्यते ।। ४ ।।"

[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ८५-८८]

अन्वेतृत्व शब्द और अर्थमें संभव नहीं, इसका भी कारण यह है कि शब्दसे आक्रांत जो देश है उस देशमें (कानमें या मुखमें) अर्थका सद्भाव तो है नहीं; देखिये जिस स्थान पर पिंडखजूर आदि शब्द सुनायी दे रहा है उस स्थान पर पिंडखजूर नामा पदार्थ तो मौजूद है नहीं [कर्ण प्रदेशमें खजूर तो मौजूद नहीं] तथा शब्दके कालमें अर्थका होना भी जरूरी नहीं, रावण शंख चक्री आदि शब्द तो अभी वर्त्तमानमें मौजूद हैं किन्तु उनके अर्थ तो भूत और भावी रूप हैं ? फिर किसप्रकार अर्थोंके साथ शब्दका अन्वेतापन माना जा सकता है ? तथा हम मीमांसक शब्दको नित्य और व्यापक मानते हैं सो यदि शब्दका अर्थके साथ अन्वय है तो हर किसी गो आदि शब्दसे अश्व आदि अर्थकी प्रतीति होनेका अति प्रसंग आता है ? क्योंकि शब्द व्यापक होनेसे अश्व आदि सभी पदार्थोंमें अन्वित है । इस विषय को हमारे मान्य ग्रन्थमें भी कहा है—

शब्दका प्रमेयार्थके साथ अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमेयार्थोंका अन्वय तो उनके व्यापार अर्थात् सद्भावसे निश्चित होता है ।।१।। जैसे कि जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है इसप्रकारका अन्वय अग्निके सद्भावसे ही तो जाना जाता है, ऐसा शब्द और अर्थमें घटित नहीं होता कि जहां जहां विवक्षित शब्द है वहां वहां अर्थ अवश्य है ।।२।। शब्द और अर्थका देशान्वय या कालान्वय अर्थात् जिस जिस स्थान पर शब्द है उस उस स्थान पर अर्थ है, जिस जिस कालमें शब्द है उस

अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यभाव:—

"अन्वयेन विना तस्माद्व्यतिरेक: कथं भवेत् ।" [ ]

इत्यभिधानात् । तत: शब्दं प्रमाणान्तरमेव ।

उस कालमें अर्थ अवश्य है ऐसा अन्वय सिद्ध नहीं होता, तथा शब्द नित्य एवं व्यापक है वह तो सब पदार्थोंमें समान रूपसे अन्वित है अत: सर्वत्र होनेके कारण व्यतिरेक व्याप्ति घटित नहीं हो सकती अर्थात् जहां जहां अर्थ नहीं होता वहां वहां शब्द भी नहीं होता ऐसा व्यतिरेक शब्दके सर्वत्र व्यापक रहनेके कारण बन नहीं सकता । सभी शब्दों द्वारा सभी अर्थोंकी प्रतिपत्ति हो जानेका अतिप्रसंग भी आता है, क्योंकि व्यापक होनेकी वजह से सभी शब्द सब अर्थोंमें मौजूद हैं ।।३।।४।। यह भी नियम है कि जिसमें अन्वय घटित नहीं होता उसमें व्यतिरेक भी घटित नहीं होता है "अन्वयेन विना व्यतिरेक: कथं भवेत्" ऐसा आगम वाक्य है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द जन्य ज्ञान अनुमान में अन्तर्लीन नहीं हो सकता वह तो आगम प्रमाण रूप पृथक् ही सिद्ध होता है ।

*** आगमविचार समाप्त ***

आगमप्रमाण का पृथक्पना और उसका सारांश

बौद्ध—आगम प्रमाणको अनुमान मे शामिल कर देना चाहिये जैसे अनुमान परोक्ष अर्थ से संबद्ध होकर उसे ग्रहण करता है वैसे ही आगम भी परोक्ष विषय से संबद्ध होकर ही ग्रहण करता है, अत: आगम और अनुमान एक ही है ।

मीमांसक—यह बौद्धका कहना बुद्धिका द्योतक नहीं है ऐसा कहो तो प्रत्यक्ष भी अनुमानमें शामिल हो जायगा, क्योंकि वह भी विषय से संबद्ध होकर जानता है, आपने अनुमान में आगम को कैसे शामिल किया है ? क्योंकि अनुमान की तरह आगम त्रिरूप हेतुजन्य नहीं होता है, तथा उसका विषय भी अनुमेय नहीं होता । "शब्द

अर्थवाला है शब्दरूप होने से" यह अनुमान भी शब्दमें अनुमानरूपता सिद्ध नहीं करता, क्योंकि अर्थका शब्द के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक घटित नहीं होता है, अर्थात् जहां जहां अर्थ है वहां वहां शब्द है और जहां जहां अर्थ नहीं वहां वहां शब्द नहीं, ऐसा अन्वय व्यतिरेक नहीं पाया जाता, अतः आगम एक पृथक् प्रमाण ही सिद्ध होता है, तथा मीमांसक आदिके यहां शब्दको नित्यव्यापी माना है इसलिये भी शब्द और अर्थका अन्वय आदि संबंध नहीं बन पाता है, इस प्रकार बौद्ध के दो ही प्रमाण मानने का आग्रह खंडित हो जाता है। यहां पर जैन ने चुप रहकर ही बौद्धके मंतव्यका मीमांसक द्वारा निरसन करवाया है।

*** आगमप्रमाण का पृथक्पना और उसका सारांश समाप्त ***

उपमानविचारः

उपमानं च। अस्य हि लक्षणम्—

"दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते।
सादृश्योपाधितस्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥" [ ]

येन हि प्रतिपत्त्रा गौरुपलब्धो न गवयो, न चातिदेशवाक्यं 'गौरिव गवयः' इति श्रुतं तस्यारण्ये पर्यटतो गवयदर्शने प्रथमे उपजाते परोक्षे गवि सादृश्यज्ञानं यदुत्पद्यते 'अनेन सदृशो गौ.' इति, तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यम्, तच्च वस्तुभूतमेव। यदाह—

"सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्।
भूयोवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत् ॥"
[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० १८] इति

मीमांसकमत में उपमानप्रमाण माना है। वह भी बौद्ध की प्रमाण संख्याका व्याघात करता है, उपमानप्रमाण का लक्षण इसप्रकार कहा गया है—दिखाई दे रहे गवय आदि पदार्थ से अन्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह उपमानप्रमाण है। यह सादृश्यरूप उपाधि के कारण होता है। इस प्रकार उपमान को जाननेवालों ने उपमान प्रमाणका लक्षण किया है ॥ १ ॥ अब इसी उपमानका विवेचन किया जाता है। जिस पुरुष ने गाय को ही देखा है, गवय (रोझ) को नहीं देखा है, तथा—"गोसदृशो गवयः" ऐसा अतिदेश वाक्य भी नहीं सुना, (अन्यवस्तु के प्रसिद्ध धर्मका अन्य वस्तु में आरोप करना अति देश कहलाता है) ऐसे उस पुरुषको वन में घूमते समय जब रोझ दिखाई पड़ता है तो उसे पहिले देखी हुई परोक्ष गाय की स्मृति आई और स्मृति आनेपर उसे ज्ञान उत्पन्न होता है कि "अनेन सदृशः गौः" इसके समान गाय है सो इस प्रकार के उपमानप्रमाण का विषय गवय के सादृश्य से विशिष्ट परोक्ष गाय है, अथवा गाय से विशिष्ट सादृश्य है। यह सादृश्य वास्तविक है, काल्पनिक नहीं है। कहा भी है—कि सादृश्य की वास्तविकता का निराकरण नहीं कर सकते हैं बहुत से अवयवों की समानता का योग जो जात्यन्तर रोझ पदार्थ में होता है अर्थात् गाय जाति से अन्य जो रोझ है या रोझ से अन्य जात्यन्तर जो गाय है इनमें बहुत से शारीरिक अवयवों

अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यम् । गवयविषयेण हि प्रत्यक्षेण गवयो विषयीकृतो, न त्वसन्निहितोपि सादृश्यविशिष्टो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यम् । यच्च पूर्वं 'गौः' इति प्रत्यक्षमभूत्तस्यापि गवयोत्यन्तमप्रत्यक्ष एव । इति कथं गवि तदपेक्षं तत्सादृश्यज्ञानम् ? उक्तं च—

"तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ।। १ ।।
प्रत्यक्षेणावबुद्धेपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ।। २ ।।

की समानता रहती है, ऐसी वह समानता ही इस उपमान प्रमाण का विषय है ।। १ ।।

यह उपमान प्रमाण पूर्व में नही जाने गये समानतारूप अर्थको जाननेवाला है, अतः प्रमाणभूत है । इस उपमान प्रमाणका विषय किस प्रकार अपूर्व है सो समझाया जाता है–रोझ को विषय करनेवाला जो प्रत्यक्ष है उसने केवल रोझ को ही जाना है, दूरवर्ती सादृश्ययुक्त गायको नहीं, अथवा गाय में जो सादृश्य है उस सादृश्यको उस प्रत्यक्ष ने विषय नहीं किया है तथा उसने अपने नगर में जो गाय देखी हुई थी उस समय उसे रोझ भी अत्यन्त परोक्ष था, अतः गाय में या रोझ में रोझ की या गायकी अपेक्षा लेकर रोझ के समान गाय है या गाय के समान रोझ है ऐसा सादृश्यज्ञान प्रत्यक्षद्वारा कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, कहा भी है कि–रोझ के देखने पर जो गाय का स्मरण होता है वह सादृश्य से विशेषित होकर ही उपमान प्रमाण का विषय होता है, अथवा गौ का या रोझका जो सादृश्य है वह इस प्रमाण का विषय होता है ।। १ ।।

प्रत्यक्ष से रोझ को जान लेने पर भी और गाय के स्मरण हो जाने पर भी गवय के समान गाय होती है ऐसा जो विशिष्ट सादृश्य ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नहीं है, किन्तु यह उपमान प्रमाण का ही विषय है, इस तरह यह उपमान ज्ञान अपूर्वार्थ का ग्राहक होने से प्रमाणभूत है ।। २ ।।

जिस प्रकार पर्वतादिस्थानके विषयभूत हो जाने पर (प्रत्यक्ष से जाने जाने पर) तथा अग्नि के स्मरण होने पर भी अनुमान विशिष्ट विषयवाला होने के कारण अप्रमाण नहीं माना जाता है उसी प्रकार यहां पर भी मानना चाहिये, मतलब–अनु-

प्रत्यक्षेपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके ।
विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाप्रमाणता ।। ३ ।।"

[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० ३७-३९] इति ।

न चेदं प्रत्यक्षम्; परोक्षविषयत्वात्सविकल्पकत्वाच्च । नाप्यनुमानम्; हेत्वभावात् । तथा हि-गोगतम्, गवयगतं वा सादृश्यमत्र हेतुः स्यात् ? तत्र न गोगतम्; तस्य पक्षधर्मत्वेनाग्रहणात् । यदा हि सादृश्यमात्रं धर्मि, 'स्मर्यमाणेन गवा विशिष्टम्' इति साध्यम्, यदा च तादृशो गौः; तदा न तद्धर्मतया ग्रहणमस्ति । अत एव न गवयगतम् । गोगतसादृश्यस्य गोर्वा हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थैकदेशत्व-

---

मान का विषय धूम और अग्नि है, वह यद्यपि प्रत्यक्ष स्मरणादि से जाना हुआ रहता है फिर भी विशिष्टविषय का ग्राहक होने से उसमें प्रामाण्य माना जाता है; वैसे ही उपमान में गाय का स्मरण और रोझ का प्रत्यक्ष होने पर भी सादृश्य रूप विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करानेवाला होने से प्रमाणता है ।। ३ ।।

यह उपमान प्रमाण प्रत्यक्षरूप नहीं है, क्योंकि वह परोक्षविषयवाला है और सविकल्पक है । तथा-यह उपमानप्रमाण अनुमानरूप भी नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान में हेतु का अभाव है, यदि कहा जाये कि हेतु है तो वह कौनसा है ? क्या गाय में होने वाला सादृश्य हेतु है या रोझ में होनेवाला सादृश्य हेतु है ? गाय में रहनेवाला सादृश्य हेतु बन नहीं सकता, क्योंकि वह पक्षधर्मरूप ग्रहण करने में नहीं आया है । कैसे— सो बताते हैं—

जब सादृश्य सामान्यको पक्ष और स्मरणमें आयी हुई गायके समान है ऐसा साध्य बनाया जाता है (अयं गवयः स्मर्यमाण गो समानः) अथवा उस गायके समान यह गवय है ऐसा पक्ष बनाया जाता है [गवय समानः गौः] उस समय यह सादृश्य पक्षका धर्म है इसरूपसे ग्रहण नहीं होता है, अर्थात् जैसे धूम अग्निका धर्म होता है ऐसा हमें पहलेसे ही मालूम रहता है अतः पर्वतपर अग्निको सिद्ध करते समय धूमको हेतु बनाया जाता है, किन्तु "गायके समान गवय है क्योंकि गायमें होनेवाले अवयवोंके सदृश है" ऐसे अनुमान प्रयोगसे गवयको गायके सदृश सिद्ध करते समय "गोगत सदृशत्वात्" ऐसा हेतु नहीं बना सकते क्योंकि गो और गवयकी समानता होती है ऐसा हमें पहलेसे निश्चित रूपसे मालूम नहीं रहता है । जैसे गोगत सादृश्य पक्षधर्म रूपसे निश्चित नहीं है वैसे गवयगत सादृश्य भी पक्षधर्मरूपसे निश्चित नहीं है अतः

प्रसङ्गश्च। न च सादृश्यमत्र प्राक्प्रमेयेण प्रतिबद्धं प्रतिपन्नम्। न चान्वयप्रतिपत्तिमन्तरेण हेतोः साध्यप्रतिपादकत्वमुपलब्धम्। ततो गवार्थदर्शने गवयं पश्यतः सादृश्येन विशिष्टे गवि पक्षधर्मत्वग्रहणं सम्बन्धानुस्मरणं चान्तरेण प्रतिपत्तिरुत्पद्यमाना नानुमानेऽन्तर्भवतीति प्रमाणान्तरमुपमानम्। उक्तं च–

"न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात्।
प्राक्प्रमेयस्य सादृश्यं धर्मित्वेन न गृह्यते॥१॥
गवये गृह्यमाणं च न गवार्थानुमापकम्।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद्गोगतस्य न लिङ्गता॥२॥

गवयगत सादृश्यको भी हेतु नहीं बना सकते। गाय गवय के समान होती है ऐसा सिद्ध करनेके लिए गायमें होनेवाली सदृशताको ही हेतु बनाया जाय [गौः गवयेन सदृशः गोमत सदृशत्वात्] तो प्रतिज्ञाका एक देश रूप सदोष हेतु होनेका प्रसंग आता है। तथा यह गोगत सादृश्य पहलेसे अविनाभावरूपसे जाना हुआ भी नहीं है। हेतुके अविनाभावका निश्चय हुए विना सपक्षमें अन्वय की प्रतिपत्ति भी नहीं होती और अन्वय की प्रतिपत्ति (जानकारी) के विना हेतु साध्यका गमक होता हुआ कही देखने में नहीं आता है। इस प्रकार सादृश्य सामान्यादि में पक्ष धर्मत्वादि सिद्ध नहीं होते, अतः जिसने गायको देखा है ऐसे पुरुषके गवयको वर्त्तमान में देखते हुए सादृश्यसे विशिष्ट गाय है ऐसा पक्षधर्मग्रहण और संबंधका स्मरण हुए विना ही "यह गवय गाय के समान है" ऐसा ज्ञान होता है इसलिये इस ज्ञानको अनुमानमें अन्तर्भूत नहीं कर सकते, इस प्रकार उपमा प्रमाण पृथक् रूपसे सिद्ध होता है। कहा भी है–

पक्षधर्मत्व आदि का असंभव होनेसे इस उपमा प्रमाणको अनुमानप्रमाणमें अन्तर्हित नहीं कर सकते, प्रमेयके (गोगत या गवयगतके) सादृश्यको पहले धर्मीपनेसे ग्रहण नहीं किया है [अतः अन्वय भी नहीं होता] ।।१।। गवयमें ग्रहण किया हुआ सादृश्य गोका अनुमापक नही होता क्योंकि "यह सादृश्य इस पक्षका धर्म है" ऐसा पक्षधर्मपनेसे निश्चित नही है और यदि गोगत सादृश्यसे गायकी गवयके साथ समानता सिद्ध करना करे अर्थात् "गोगत सदृशता के कारण गो गवयके समान है" इस तरह का अनुमान वाक्य कहे तो प्रतिज्ञाका एक रूप सदोष हेतु वाला अनुमान कहलायेगा, अतः गोगत सादृश्यको हेतु बनाना अशक्य है ।।२।। गवयगत सादृश्य गो के साथ संबद्ध नहीं होनेसे वह भी गायका हेतु नहीं बनता। सभी पुरुषोंने इस सादृश्य को देखा

गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति ।
साहश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ।। ३ ।।
एकस्मिन्नपि दृष्टेर्थे द्वितीयं पश्यतो वने ।
साहश्येन सहैवास्मिस्तदेवोत्पद्यते मतिः ।। ४ ।।"
[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० ४३-४६] इति ।

भी नहीं अतः इसका साध्य साधन रूपसे अन्वय निश्चय होना अशक्य है ।।३।। अतः ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि एक गो आदि पदार्थको देखनेके बाद दूसरे गवयादि पदार्थको वनमें देखनेपर "यह उसके समान है" इसप्रकारका साहश्यका जो ज्ञान होता है वह उपमा प्रमाण है, न कि अनुमान प्रमाण है, क्योंकि अनुमानप्रमाण माननेमें उपर्युक्त रीतिसे बाधा आती है ।।४।। इसप्रकार अनुमानादिसे पृथक् ऐसा उपमाप्रमाण मीमांसक मतमें इष्ट माना जाता है ।

*** उपमाप्रमाण समाप्त ***

अर्थापत्तिविचारः

**

तथार्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम् । तल्लक्षणं हि—"अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना" । [शाबरभा० १।१।५] कुमारिलोप्येतदेव भाष्यकारवचो व्याचष्टे ।

"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथा भवन् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ।।"
[मी० श्लो० अर्था० परि० श्लो० १]

अब यहां पर अर्थापत्तिप्रमाण भी स्वतंत्र प्रमाण है ऐसा मीमांसकादिके मतानुसार विचार किया जाता है । जैसे आगम और उपमाप्रमाण स्वतंत्र सिद्ध हुए हैं, वैसे ही अर्थापत्ति भी एक स्वतंत्र प्रमाण है, उसका भी अन्तर्भाव अनुमान में नहीं होता है । उसका लक्षण इस प्रकार से है—दृष्ट-प्रत्यक्षप्रमाण से जाना गया अथवा श्रुत आगमप्रमाण से जाना गया पदार्थ जिसके विना संभव नहीं हो सके ऐसे उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना जिसके द्वारा की जाती है उसका नाम अर्थापत्ति है । कुमारिल नामक मीमांसक के ग्रन्थकार ने भी भाष्यकार के इस वचनको "प्रमाणषट्क" इत्यादि श्लोक द्वारा इस प्रकार से पुष्ट किया है कि छह प्रमाणोंके द्वारा जाना गया अर्थ जिसके बिना नहीं होता हुआ जिस अदृष्ट अर्थ की कल्पना कराता है ऐसी उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना का नाम अर्थापत्ति प्रमाण है । जैसे किसी व्यक्ति ने नदी का पूर देखा, वृष्टि होती हुई नहीं देखी, अब वह व्यक्ति नदी पूर को देखकर ऐसा विचार करता है कि ऊपर में बरसात हुए बिना नदी में बाढ़ आ नहीं सकती, अतः ऊपर में वृष्टि हुई है । इस प्रकार से अदृष्ट पदार्थ का निश्चय जिस ज्ञानके द्वारा होता है वह अर्थापत्ति नामका प्रमाण कहलाता है ।। १ ।। मतलब कहने का यह है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंके द्वारा जाना हुआ पदार्थ जिसके बिना नहीं बनता-सिद्ध नहीं होता उस पदार्थ की सिद्धि करना अर्थापत्ति का विषय है । इस अर्थापत्ति प्रमाण के अनेक भेद हैं—उनमें प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाली अर्थापत्ति इसप्रकार से है—जैसे किसी ने स्पार्शन प्रत्यक्ष से अग्निके दाह को जाना,

प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिः। तत्र प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तिर्यथाग्नेः प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नाद्दाहाद्दहनशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते। न हि शक्तिः प्रत्यक्षेण परिच्छेद्या; अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानेन; अस्य प्रत्यक्षावगतप्रतिबन्धलिङ्ग-प्रभवत्वेनाभ्युपगमात्, अर्थापत्तिगोचरस्य चार्थस्य कदाचिदप्यध्यक्षागोचरत्वात्। अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्यथा सूर्ये गमनात्तच्छक्तियोगिता। अत्र हि देशाद्देशान्तरप्राप्त्या सूर्ये गमनमनुमीयते ततस्तच्छक्तिसम्बन्ध इति। श्रुतार्थापत्तिर्यथा-'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इति वाक्यश्रवणाद्रात्रिभोजनप्रतिपत्तिः। उपमानार्थापत्तिर्यथा—गवयोपमितायाः गोस्तज्ज्ञानग्राह्यताशक्तिः। अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा—शब्देऽर्थापत्तिप्रबोधिताद्वाचकसामर्थ्यादभिधानसिध्यर्थं तन्नित्यत्वज्ञानम्। शब्दा

अब उस दाह के द्वारा अग्निमें परोक्षार्थ का—जलाने की शक्ति का निश्चय अर्थापत्ति कराती है कि अग्निमें दाहक शक्ति है।

शक्ति प्रत्यक्ष से इसलिये जानने में नहीं आती है कि वह अतीन्द्रिय है। शक्ति को अनुमान से भी जान नहीं सकते, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष के द्वारा जिसका साध्यके साथ अविनाभाव सबंध जान लिया गया है ऐसे हेतु से पैदा होता है ऐसा प्रत्यक्षद्वारा जाना हुआ अर्थ यहां नहीं है अर्थात् अर्थापत्ति का विषय कभी भी प्रत्यक्ष के गोचर नहीं होता है। दूसरी अर्थापत्ति अनुमान पूर्वक होती है, जैसे—सूर्यमें गमनरूप कार्य देखकर उसकी कारणभूत गमनशक्ति के योग का ज्ञान होना, इसका मतलब ऐसा है कि जैसे देश से देशान्तर प्राप्ति को देखकर किसीने इसी हेतु से—सूर्य में गतिमत्त्व का अनुमान से निश्चय किया कि "सूर्यः गतिमान देशाद्देशान्तर प्राप्तेः" सूर्य में गतिमत्त्व है, क्योंकि वह एक देश से दूसरे देश में जाता है जैसे बाण आदि पदार्थ गमन शील होनेसे देशसे देशान्तर में चले जाते हैं। ऐसा पहिले तो अनुमान के द्वारा सूर्यमें गमन सिद्ध किया, फिर देश से देशान्तर प्राप्ति के द्वारा गमनशक्ति का ज्ञान अर्थापत्ति से किया कि सूर्य गमनशक्ति से युक्त है क्योंकि गतिमत्व की अन्यथा अनुपपत्ति है। यह अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण है। श्रुत से—आगम से होनेवाली अर्थापत्ति का उदाहरण जैसे—पुष्ट या मोटा देवदत्त दिन में भोजन नही करता है ऐसा वाक्य किसी ने सुना और उससे उसके रात्रिभोजन का निश्चय किया कि—देवदत्त रात्रिमें भोजन करता है, क्योंकि दिनमें भोजन तो करता नहीं फिर भी पुष्ट है। इस अर्थापत्ति के बल से देवदत्तका रात्रिमें भोजन करना सिद्ध हो जाता है।

उपमानार्थापत्ति इस प्रकार से है, यथा—रोझरूप उपमानके ज्ञान द्वारा

द्ध्यर्थः प्रतीयते, ततो वाचकसामर्थ्यं, ततोपि तन्नित्यत्वमिति। अभावपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा-प्रमाणाभावप्रमितचैत्राभावविशेषिताद्गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिः, 'जीवश्चैत्रोऽन्यत्रास्ति गृहे अभावात्' इति। तदुक्तम्-

"तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्दाहाद्दहनशक्तता।
वह्नेरनुमितात्सूर्ये यानात्तच्छक्तियोगिता ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३]

"पीनो दिवा न भुंक्ते चेत्येवमादिवचःश्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१]

ग्राह्यता शक्ति से युक्त गाय है क्योंकि वह उपमेय है, यदि वह ऐसी शक्ति से युक्त नहीं होती तो वह उपमेय भी नहीं होती। अर्थापत्तिपूर्वक होनेवाली अर्थापत्ति इस प्रकार से है जैसे शब्द में पहिले अर्थापत्ति से वाचक सामर्थ्य का निश्चय करना और फिर उससे उसमें नित्यत्व का ज्ञान करना, इसका भाव ऐसा है कि शब्द में वाचक शक्ति के बिना अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है अतः अर्थप्रतीति से शब्द मे पहिले वाचक शक्तिका निश्चय अर्थापत्ति से होता है, और फिर इस अर्थापत्तिप्रबोधित सामर्थ्य से शब्द में नित्यत्व का निश्चय हो जाता है, इस तरह शब्द से अर्थकी प्रतीति उससे वाचक सामर्थ्य और वाचक सामर्थ्य से शब्द मे नित्यत्व सिद्ध होता है। अभाव पूर्वक अर्थापत्ति इस प्रकार से है जैसे अभावप्रमाण के द्वारा किसी ने जीते हुए चैत्रका घरमें अभाव जाना अर्थात् जीता हुआ चैत्र घरमें नहीं है ऐसा किसी ने अभाव प्रमाण द्वारा जाना फिर अर्थापत्ति से यह सिद्ध किया कि वह बाहर है, इस प्रकार अर्थापत्ति से उसका बाहिर होना सिद्ध हो जाता है कि जीता हुआ चैत्र अन्य स्थान पर है क्योंकि घर में उसका अभाव है। इसी ६ प्रकार की अर्थापत्ति का स्वरूप इन मीमांसक श्लोकवार्त्तिक के श्लोकों द्वारा कहा गया है, प्रत्यक्ष से जानी हुई अग्निकी उष्णता से उसमें दहनशक्तिका निश्चय करना यह प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण है। सूर्य में गमनक्रिया को अनुमान से जानकर उसमें गमनशक्तिका निश्चय करना यह अनुमान पूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण है ॥ १ ॥ पुष्ट देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है इत्यादि वचन सुनकर उसमें उसके रात्रिभोजन करने का ज्ञान होना, यह आगम पूर्वक अर्थापत्तिका उदाहरण है ॥ २ ॥ रोझ से उपमित गाय का सादृश्य ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य शक्ति संपन्न होना यह उपमानपूर्वक अर्थापत्तिका उदाहरण है। शब्दमें

"गवयोपमितायां गोस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तता ।
अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्यावबोधितात् ॥ १ ॥
शब्दे वाचकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रमेयता ।
अभिधानान्यथाऽसिद्धेरिति वाचकशक्तता ॥ २ ॥
अर्थापत्त्यावगम्यैव तदन्यत्वगतेः पुनः ।
अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः ॥ ३ ॥
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नभिधास्यते ।
प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात् ॥ ४ ॥
गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता ।
तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ॥ ५ ॥"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४–६] इत्यादि ।

वाचकशक्ति को सिद्ध करनेके लिए अर्थापत्ति प्रमाण आता है उससे शब्दकी वाचक शक्तिको जानकर उसी वाचक शक्ति द्वारा वाचककी अन्यथानुपपत्तिसे शब्दमें नित्यपना सिद्ध किया यह अर्थापत्ति से होनेवाली अर्थापत्ति है। जिस अर्थापत्तिसे शब्दमें वाचक शक्तिको सिद्ध किया है उसी अर्थापत्तिसे शब्दमें नित्यपना भी सिद्ध हो जायगा। ऐसी कोई आशंका करे तो वह ठीक नहीं, क्योंकि अभिधान [वाचक] की अन्यथाऽसिद्धि रूप अन्यथानुपपत्तिवाले अर्थापत्तिसे तो सिर्फ शब्दकी अभिधान शक्ति ही सिद्ध होती है, शब्दकी नित्यताको सिद्ध करनेके लिये तो अभिधान शक्ति [वाचक शक्ति] की अन्यथा सिद्धि रूप अन्यथानुपपत्ति आयेगी, अतः शब्दकी वाचक शक्ति तो अर्थापत्ति गम्य है और शब्दकी नित्यता अर्थापत्ति जन्य अर्थापत्तिगम्य है ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ १ ॥ ॥ २ ॥ इस विषयमें "दर्शनस्य परार्थत्वात्" इत्यादि सूत्रकी टीका करते समय आगे कहा जायगा। अभावप्रमाण द्वारा चैत्रका घरमें अभाव सिद्ध करके उस अभाव विशेषसे घरके बाहर चैत्रका सद्भाव सिद्ध करना अभावप्रमाणसे होनेवाली अर्थापत्ति है, इसप्रकार अभावप्रमाण जन्य अर्थापत्तिका उदाहरण समझना चाहिये, इस अभावप्रमाण पूर्विका अर्थापत्तिके अन्य भी उदाहरण हो सकते हैं उनको यथायोग्य लगा लेना चाहिये। इस तरह मीमांसकाभिमत अर्थापत्ति प्रमाण बौद्धकी प्रमाण संख्याका विघटन करता है।

*** अर्थापत्तिविचार समाप्त ***

अभावविचारः

❋

तथाऽभावप्रमाणमपि प्रमाणान्तरम्। तद्धि निषेध्याधारवस्तुग्रहणादिसामग्रीतस्त्रिप्रकार-मुत्पन्नं सत् क्वचित्प्रदेशादौ घटादीनामभावं विभावयति। उक्तं च—

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया।।
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि।।"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११]

मीमांसक मतमें अभाव प्रमाण भी एक पृथक् प्रमाण माना है, अब उसका कथन प्रारंभ होता है—अभाव प्रमाण निषेध करने योग्य घट आदि पदार्थ के आधार-भूत वस्तुको ग्रहण करने आदि रूप सामग्री से तीन प्रकारका उत्पन्न होता है और वह किसी विशिष्ट स्थान पर घट आदि पदार्थोंका अभाव प्रदर्शित करता है। कहा भी है—पहले वस्तुके सद्भावको जानकर एवं प्रतियोगीका (घटादिका) स्मरण कर बाह्य इन्द्रियोंके अपेक्षाके विना नास्तिका [नहीं का] जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण कहलाता है ।।१।। वह तीन प्रकारका है प्रमाणाभाव, आत्माका ज्ञानरूप अपरिणाम, और तदन्यज्ञान, प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणोंका नहीं होना प्रमाणाभाव नामा अभाव प्रमाण कहलाता है, आत्माका ज्ञानरूप परिणमन नहीं होना दूसरा अभाव प्रमाण है, अन्यवस्तुमें ज्ञानका होना तीसरा अभाव प्रमाण है ।।२।। जिस वस्तुरूपमें पांचों प्रमाण वस्तु की सत्ताका अवबोध करानेमें प्रवृत्त नहीं होते उसमें अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है, इस तरह यह अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति बतलायी गयी है ।।३।। वस्तुका अभाव प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षका अभाव रूप विषयके साथ विरोध है, इन्द्रियोंका संबंध तो भावांश वस्तुके साथ होता है न अभावांशके साथ। कहा भी है—"नहीं है" इस प्रकारका नास्तिताका ज्ञान इन्द्रियद्वारा उत्पन्न कराना अशक्य है, क्योंकि इन्द्रियोंकी योग्यता मात्र भावांशके साथ संबद्ध होनेकी है ।।१।।

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ।।"

[मी॰ श्लो॰ अभाव॰ श्लो॰ १] इति ।

न चाध्यक्षेणाभावोऽवसीयते; तस्याभावविषयत्वविरोधात्, भावांशेनैवेन्द्रियाणां सम्बन्धात् । तदुक्तम्—

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ।।"

[मी॰ श्लो॰ अभाव॰ १८] इति ।

नाप्यनुमानेनासौ साध्यते; हेतोरभावात् । न च विषयभूतस्याभावस्याभावादभावप्रमाणवैयर्थ्यम्; कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात् । उक्तं च—

"न च स्याद्व्यवहारोयं कारणादिविभागतः ।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते ।। १ ।।"

[मी॰ श्लो॰ अभाव॰ श्लो॰ ७]

अभावांश अनुमानद्वारा भी ग्रहण नहीं होता क्योंकि अनुमानमें हेतुकी अपेक्षा रहती है सो यहां है नहीं । [अभाव रूप वस्तुका किसीके साथ अविनाभाव तो हो नहीं सकता अतः हेतु और प्रतिज्ञारूप अनुमान प्रमाण द्वारा अभावका ग्रहण होना अशक्य है] यहां कोई कहे कि अभावप्रमाणका विषय तो अभाव रूप है अतः विषयका अभाव होनेसे अभाव प्रमाणको मानना व्यर्थ है ? सो बात नहीं है, इस तरह मानेंगे तो कारण आदिके विभागसे होनेवाला लोक प्रसिद्ध व्यवहार समाप्त होनेका प्रसंग आता है, कहा भी है कि कारणादि विभागसे होनेवाले प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदि अभावके भेदों द्वारा अभावमें भेद होना स्वीकार न किया जाय तो यह अभावभेदका प्रसिद्ध व्यवहार नष्ट हो जाता है ।।१।। यदि अभाव नामा कोई विषय नहीं होता तो प्रागभाव आदि अभावोंके भेद नहीं बन सकते थे इसप्रकारकी अन्यथानुपपत्ति द्वारा भी अभावकी वस्तुरूपता सिद्ध होती है । इसी बातको हमारे ग्रन्थमें कहा है कि–प्रागभाव आदि भेद अवस्तुके तो हो नहीं सकते अतः अभावको वस्तुरूप मानना चाहिये, यदि अभाव प्रमाण के विषयभूत अभावको वस्तुरूप नहीं मानते तो कारण आदिके द्वारा होनेवाला कार्योंका जो अभाव है वह कौनसाभाव है सो बताइये ? ।।१।। अभावकी वास्तविकता

प्रागभावादिभेदान्यथानुपपत्तेश्चास्यार्थापत्त्या वस्तुरूपतावसीयते । उक्तं च—

"न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता ।
कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादिनः(ना) ॥ १ ॥"

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ८]

अनुमानावसेया चास्य वस्तुता । यदाह—

"यद्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम् ।
तस्माद्गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥ १ ॥"

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६]

चतुःप्रकारश्चाभावो व्यवस्थितः–प्राक्प्रध्वंसेतरेतराऽत्यन्ताभावभेदात् । उक्तं च—

"वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता ।
क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥ १ ॥

अनुमान द्वारा भी जानी जाती है जैसा कि कहा है—जिस कारणसे यह अभाव अनुवृत्त बुद्धि और व्यावृत्त बुद्धि द्वारा [इसके होनेपर होना और न होनेपर नहीं होना रूप अन्यथानुपपत्तिद्वारा] ग्रहण करनेमें आता है उसी कारणसे गो आदिके समान वस्तुरूप है, तथा यह प्रमेयधर्मयुक्त होनेसे भी प्रमाणद्वारा ग्रहण करने योग्य माना जाता है ॥१॥ इसप्रकार अभाव प्रमाणके विषयभूत अभावांशकी सिद्धि होती है, यह अभाव चार प्रकारका है, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव अब इनके लक्षण बताये जाते हैं—दूधमें दहीका जो अभाव है वह प्रागभाव कहलाता है, इन दूध दही आदि मे परस्परकी जो असंकीर्णता है वह अभाव प्रमाणके प्रामाण्य पर निर्भर है अर्थात् अभाव प्रमाणद्वारा ही यह असंकीर्णता सिद्ध की जाती है ॥१॥ दूधका दहीमें जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव कहा जाता है, गायमें अश्व आदि अन्य अन्य पदार्थोंका जो अभाव रहता है उसे इतरेतराभाव कहते हैं ॥२॥ खरगोशके मस्तकके अवयव निम्न, वृद्धि रहित एवं कठोरता आदि धर्म रहित होते हैं, अतः खरगोशके मस्तकपर विषाणका नहीं होना अत्यताभाव कहलाता है ॥३॥ इन चार प्रकारके अभावोंको व्यवस्थापित करनेवाला अभाव प्रमाण है यदि इस प्रमाणको न माना जाय तो प्रतिनियत वस्तु व्यवस्थाका लोप ही हो जायगा ? कहा भी है–यदि अभाव प्रमाण की प्रामाणिकता न स्वीकार करे तो दूधमें दही और दहीमें दूधकी संभावना हो

नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम् ।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोन्योन्याभाव उच्यते ।। २ ।।
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ।। ३ ।।
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० २-४]

यदि चैतेषां व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न स्यात्तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपः स्यात् । तदुक्तम्-

"क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः ।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तितात्मनि ।।
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह ।
व्योम्नि संस्पर्शता ते च न चेदस्य प्रमाणता ।।"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ५-६] इति ।

जायगी, घटमें पटका अस्तित्व मानना पड़ेगा, खरगोशमें सींगका अस्तित्व, पृथ्वी आदि में चैतन्यका अस्तित्व, आत्मामें मूर्त्तत्वका अस्तित्व इत्यादि विपरीतताको मानना पड़ेगा ।।१।। जलमें गन्ध, अग्निमें रस, वायुमें रूप रस गंध, एवं आकाशमें गंध, रस, रूप और स्पर्श इन सबका सद्भाव मानना होगा ? ।।२।।

शंका—वस्तु निरंश है उस निरंशवस्तुके स्वरूपको (अर्थात् सद्भावांशको) ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसका सर्वात्मपनेसे ग्रहण हो जाता है फिर अन्य कोई अंश तो उस वस्तुमें बचा नहीं कि जिसकी व्यवस्था करने के लिये अभाव नामका प्रमाण आवे एवं उसको प्रमाणभूत माने ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, वस्तु निरंश न होकर सद असद रूप दो अंश वाली है, उसमें प्रत्यक्षादिसे सदंशका ग्रहण होनेपर भी अन्य जो असदंश है वह अगृहीत ही रहता है उस असदंशकी व्यवस्था करनेके लिये प्रवृत्त हुए अभाव प्रमाण में प्रामाण्यकी क्षति नहीं मानी जा सकती । कहा भी है—वस्तु हमेशा स्वरूपसे सत और पररूपसे असत् हुआ करती है, इन सत् असत् रूपोंमेंसे कोई एक रूप किन्हीं प्रमाणों द्वारा जाना जाता है तथा कभी कोई एक दूसरा रूप अन्य प्रमाण द्वारा जाना जाता है ।।१।। जिसकी जहां पर जब उद्भूति होती है एवं पुरुषको जाननेकी इच्छा होती है तदनुसार उसका उसीके द्वारा अनुभव किया जाता है [जाना जाता है] और

न च निरंशत्वाद्वस्तुनस्तत्स्वरूपग्राहिणाध्यक्षेणास्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्यांशस्य तत्राभावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्त्तमानमभावाख्यं प्रमाणं प्रामाण्यमश्नुते ? इत्यभिधातव्यम्; यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदंशग्रहणेप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमाणाभावस्य प्रवर्त्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहतिः । उक्तं च—

"स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद्रूपं कैश्चित्कदाचन ॥ १ ॥
यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा चोपजायते ।
वेद्यतेनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥
तस्योपकारकत्वेन वर्त्ततेंऽशस्तदेतरः ।
उभयोरपि संवित्या उभयानुगमोस्ति तु ॥ ३ ॥"

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १२-१४]

उस ज्ञानको उसीके नामसे पुकारा जाता है ॥२॥ जिस समय सद् असद् अंशोंमे से एक का ग्रहण होता है उस समय अवशेष अंश उसमें रहता ही है और उसका उपकारक भी होता है, जब ज्ञानसे दोनों भी अंश संविदित होते हैं तब दोनोंका अनुगम होता है ॥ ३ ॥ जब भावांशको ग्रहण करना होता है तब सद्भाव ग्राहक प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाणोंका अवतार होता है, और उन्हींका व्यापार होता है क्योंकि उस समय अभावांशकी अनुत्पत्ति है, तथा जब अभावांशको जाननेकी इच्छा होती है तब अभाव ग्राहक प्रमाणका अवतार एवं व्यापार होता है ॥ ४ ॥

यहांपर कोई आशंका करे कि धर्मीभूत वस्तुसे भावांशके समान अभावांश भी अभिन्न है अतः अभावांशका भी प्रत्यक्षद्वारा ग्रहण हो जाना चाहिये ? तो उसका समाधान यह है कि भावांश और अभावांशका धर्मी एक होनेपर भी अर्थात् धर्मीमें अभेद रहनेपर भी उन भावांश अभावांश धर्मोंमें तो परस्परमें भेद ही रहा करता है, जिस समय सद्भावग्राही प्रत्यक्षप्रमाण प्रवृत्त होता है उस समय अभावांशकी अनुद्भूति रहती है, जैसे कि नेत्रकी किरणोंमें रूप आदिकी अनुद्भूति रहा करती है । अतः अभावका भावरूप प्रमाणद्वारा जानना सिद्ध नहीं होता, अनुमान प्रयोगसे भी यही निश्चित होता है कि जो जिसप्रकार का विषय होता है वह उसीप्रकारके प्रमाणद्वारा जाना जाता है, जैसे रूपादि भावरूप वस्तुको भावरूप चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा जाना

"प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो गृह्यते यदा ।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते ॥ ४ ॥"

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १७]

न च धर्मिणोऽभिन्नत्वाद्भावांशवदभावांशस्याप्यध्यक्षेणैव ग्रहः; सदसदंशयोर्धर्म (र्म्यं) भेदेप्यन्योन्यं भेदाद्रायनरश्मिरूपादिवदभावस्यानुद्भूतत्वात् । न चाभावस्य भावरूपेण प्रमाणेन परिच्छित्तिर्युक्ता । प्रयोगः—यो यथाविधो विषयः स तथाविधेनैव प्रमाणेन परिच्छि(च्छे)द्यते, यथा रूपादिर्भावो भावरूपेण चक्षुरादिना, विवादास्पदीभूतश्चाभावस्तस्मादभावः (दभावेन) परिच्छेद्यत इति । उक्तं च—

"न तु (ननु) भावादभिन्नत्वात्सम्प्रयोगोस्ति तेन च ।
न ह्यत्यन्तमभेदोस्ति रूपादिवदिहापि नः ॥ १ ॥
धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेपि नः स्थितेः ।
उद्भवाभिभवात्मत्वाद्ग्रहणं चावतिष्ठते ॥ २ ॥

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १९-२०]

जाता है । यहां अभाव विवादापन्न है अतः वह अभाव प्रमाण द्वारा ही जाना जाता है । कहा भी है कि-शंकाकारका कहना है कि सद् और असद् दोनों अंश पदार्थ से अभिन्न होनेके कारण इन्द्रियके साथ दोनोंका संबंध है ? [अतः इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा दोनोंका ग्रहण होता है] सो इसका समाधान करते हैं कि जैसे रूप और रसका अत्यंत अभेद है वैसा सत् और असत् अंशोंका अत्यन्त अभेद नहीं है [अतः सत् के ग्रहण करने पर भी असत् अगृहीत रहता है] ऐसा ही हमारे यहां माना है ॥ १ ॥ हम मीमांसकके यहां धर्मीके अभिन्न होनेपर भी धर्मोंमें भेद मानना इष्ट समझा जाता है, इसी व्यवस्थाके कारण ही सत और असत अंशोंमें से एक की उत्पत्ति और दूसरेकी अनुत्पत्ति होना सिद्ध होता है एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा एकका ग्रहण और दूसरेका अग्रहण होना भी सिद्ध होता है ॥ २ ॥ यदि अभावको मेयरूप [प्रमाणद्वारा जानने योग्य] मानते हैं उसको जाननेवाला प्रमाण भी उसीतरहका अभावरूप मानना जरूरी है । जिसप्रकार सद्भावात्मक प्रमेयमें अभाव ज्ञानकी प्रामाणिकता नहीं रहती, उसीप्रकार अभावात्मक प्रमेयमें भाव ज्ञानकी प्रामाणिकता नहीं रहती [कहने का अभिप्राय यह है कि सत् रूप वस्तुके अंशको जाननेमें अभावप्रमाण उपयोगी नहीं रहता इसीतरह असत्रूप वस्तुके अंशको जाननेमें भावरूप प्रत्यक्षादिप्रमाण उपयोगी नहीं रहते हैं ।]

"मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् ।
भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता ।।
तथैवाभावमेयेपि न भावस्य प्रमाणता ।"
[मी० श्लो० अभाव० ४५-४६] इति ।

ततःशाब्दादीनां प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेः कथं प्रत्यक्षानुमानभेदात्प्रमाणद्वैविध्यं परेषां व्यवतिष्ठेत ?

इसप्रकार आगम प्रमाणसे लेकर अभाव प्रमाण तक अनेक प्रमाणोंकी सिद्धि होती है अतः बौद्धके प्रत्यक्ष और अनुमान के भेदसे दो प्रकारके प्रमाणोंकी संख्या किसप्रकार व्यवस्थापित की जा सकती है ? अर्थात् नहीं की जा सकती । यहां पर आगमादि तीन प्रमाणोंके प्रकरणोंमें जैनाचार्यने स्वयं तटस्थ रहकर मीमांसक द्वारा बौद्धके मंतव्यका निरसन कराया है ।

*** अभावविचार समाप्त ***

अर्थापत्तेः अनुमानेऽन्तर्भावः

**

नन्वेवं प्रत्यक्षेतरभेदात्कथं भवतोपि प्रमाणद्वैविध्यव्यवस्था—तेषां प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेर-विशेषादिति चेत् ? तेषां 'परोक्षेऽन्तर्भावात्' इति ब्रूमः। तथाहि—यदेकलक्षणलक्षितं तद्व्यक्तिभेदेप्येकमेव यथा वैशद्यैकलक्षणलक्षितं चक्षुरादिप्रत्यक्षम्, अवैशद्यैकलक्षणलक्षितं च शाब्दादीति। चक्षुरादिसामग्रीभेदेपि हि तज्ज्ञानानां वैशद्यैकलक्षणलक्षितत्वेनैवाभेदः प्रसिद्धः प्रत्यक्षरूपतानतिक्रमात्, तद्वत् शब्दादिसामग्रीभेदेप्यवैशद्यैकलक्षितत्वेनैवाभेदः शाब्दादीनाम् परोक्षरूपत्वाविशेषात्। ननु

जब बौद्ध के प्रमाणद्वैविध्य का निराकरण हो चुका तब किसीको ऐसी शंका हुई कि आप जैन भी तो दो प्रमाण मानते हैं सो उनकी व्यवस्था आपके यहां कैसे होगी ? क्योंकि आगम आदि अन्य प्रमाण सिद्ध हो चुके हैं। इस कारण बौद्धके समान आपके द्वारा मान्य प्रमाण की द्वित्वसंख्या का भी विघटन हो जाता है ? सो इस शंका का समाधान करते हैं—जैनों द्वारा मान्य प्रमाण की द्वित्वसंख्या का विघटन इसलिये नहीं होता है कि हमने उन आगम आदि प्रमाणोंका परोक्षप्रमाण में अन्तर्भाव किया है, देखिये—

जो एक लक्षण से लक्षित होता है वह व्यक्तिभेद के होनेपर भी एक ही रहता है जैसे वैशद्यरूप एक लक्षणसे लक्षित चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष अनेक प्रकारका होते हुए भी एक ही है। क्योंकि उन अनेकों में प्रत्यक्षपने का उल्लघन नहीं होता, ठीक इसी तरह से शब्द आदि सामग्री का भेद रहते हुए भी अवैशद्यरूप एक ही लक्षणसे लक्षित किये गये आगमादि में भी अभेद ही है। क्योंकि परोक्षपना तो उन आगम उपमानादि में समानरूप से ही देखा गया है।

शंका—आप जैनने परोक्षके जो भेद किये हैं वे सिर्फ स्मृति आदि रूप हैं उनमें उपमान आदिका उल्लेख नहीं है। अतः वे तो इनसे भिन्न प्रमाण हैं ?

समाधान—यह कथन बिना सोचे किया है क्योंकि उपमानादिको हमने इन्हीं परोक्षभेदोंमें अन्तर्हित किया है। उपमानका प्रत्यभिज्ञानमें अतंर्भाव होता है ऐसा हम

परोक्षस्य स्मृत्यादिभेदेन परिगणितत्वात् उपमानादीनां प्रमाणान्तरत्वमेवेत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; तेषामत्रैवान्तर्भावात्। उपमानस्य हि प्रत्यभिज्ञानेन्तर्भावो वक्ष्यते।

अर्थापत्तेस्त्वनुमानेऽन्तर्भावः; तथा हि—अर्थापत्त्युत्थापकोऽर्थोन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगतः, अवगतो वाऽदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तं स्यात्? न तावदनवगतः; अतिप्रसङ्गात्। येन हि विनोपपद्यमानत्वेनावगतस्तमपि परिकल्पयेत्, येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्, अन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगतस्यार्थापत्त्युत्थापकार्थस्यान्यथानुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वासम्भवात्। सम्भवे वा लिङ्गस्याप्यनिश्चिताविनाभावस्य परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यात्। ततश्चेदं नार्थापत्त्युत्थापकार्थाद्

आगे कहनेवाले हैं। अर्थापत्ति का अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव हो जाता है सो अब इसी बातको हम सिद्ध करते हैं—

अर्थापत्ति को उत्पन्न करनेवाला जो पदार्थ है जैसे कि नदीपूर आदि-वह अन्यथा अनुपपद्यमानपने से अवगत होकर या अनवगत होकर अदृष्ट अर्थकी (ऊपर में वर्षाकी) कल्पना का निमित्त होता है? यदि अर्थापत्ति का उत्थापक पदार्थ अनवगत होकर ही अदृष्टार्थ की कल्पना का निमित्त होता है तो अतिप्रसङ्ग नामका दोष होगा-देखो यदि अर्थापत्ति को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ जो नदीपूर आदि है वह अन्यथानुपपत्तिरूपसे-बिना वृष्टिके नदीपूर नहीं आसकता है इसरूप से निश्चित नहीं हुआ है फिर भी अदृष्टार्थ की (बरसात की) कल्पना कराता है तो जिसके बिना वह उपपद्यमान से अवगत है उसकी भी कल्पना करा देगा, और जिसके विना वह उपपद्यमान नहीं है उसकी भी कल्पना नहीं करायेगा। क्योंकि अन्यथानुपपद्यमानपने से अनवगत ऐसा अर्थापत्तिका उत्थापक जो वह जलपूरादिरूप पदार्थ है वह यद्यपि अन्यथानुपपद्यमान है [बिना वृष्टि के नहीं होता है] फिर भी उस अदृष्टार्थकी कल्पना असंभव ही रहेगी।

अर्थापत्ति का उत्थापक पदार्थ अन्यथानुपपद्यमानत्वेन अनवगत होकर यदि अदृष्टार्थ की कल्पना का निमित्त बन जाता है तो एक और दूषण यह भी आवेगा कि हेतु भी अपने साध्यके साथ अविनाभावरूप से अनिश्चित होकर परोक्षार्थ—अग्नि आदि साध्यका अनुमापक हो जावेगा, इस तरह धूमादि हेतु की अर्थापत्ति उत्थापक पदार्थ से कोई भिन्नता नहीं रहेगी।

दूसरा पक्ष—अर्थापत्ति का उत्थापक पदार्थ अन्यथानुपपद्यमानपने से अवगत

भिद्येत नाप्यवगतः; अर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदाभावप्रसङ्गादेव, अविनाभावित्वेन प्रतिपन्नादेकस्मात्सम्बन्धिनो द्वितीयप्रतीतेरुभयत्राविशेषात् ।

किञ्च, अस्यान्यथानुपपद्यमानत्वावगमोऽर्थापत्तेरेव, प्रमाणान्तराद्वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः; तथाहि—अन्यथानुपपद्यमानत्वेन प्रतिपन्नादर्थादर्थापत्तिप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तेश्चास्यान्यथानुपपद्यमानत्वप्रतिपत्तिरिति । ततो निराकृतमेतत्—

"अविनाभाविता चात्र तदैव परिगृह्यते ।
न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ।। १ ।।"

[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३०]

है ऐसा कहे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह से तो अर्थापत्ति और अनुमान में कुछ भी भेद नहीं रहेगा, अविनाभावरूपसे जाने गये किसी एक संबंधी वस्तुसे दूसरे का अवबोध होना दोनों [अनुमान और अर्थापत्ति] में समान है, कोई विशेषता नही है ।

किञ्च—अर्थापत्ति का जो विषय वह अन्यथा [बिना वृष्टिके] अनुपपद्यमान है उसका जो ज्ञान होता है वह अर्थापत्ति से ही होता है, अथवा अन्य प्रमाण से होता है ? यदि अर्थापत्ति से ही होता है ऐसा स्वीकार किया जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है—अन्यथानुपपद्यमानत्व से जाने हुए पदार्थसे अर्थापत्तिकी प्रवृत्ति होगी और अर्थापत्ति की प्रवृत्ति से इस अर्थापत्ति उत्थापक अर्थमें अन्यथानुपपद्यमानत्व जाना जायगा, इसप्रकार अन्योन्याश्रयदोष आने के कारण अर्थापत्ति में पृथक् प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है । अतः मीमांसक के मीमांसाश्लोकवार्तिक का यह कथन निराकृत हो जाता है कि—"जैन अर्थापत्ति और अनुमान को एक प्रमाणरूप मानते हैं, परन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि अनमान में अपने साध्यके साथ हेतु का अविनाभाव संबंध पहिले से ज्ञात रहता है और अर्थापत्ति में यह अविनाभाव पहिले से ज्ञात नहीं रहता, वह अर्थापत्ति से नदीपूर आदि विषय के जानने पर ही ग्रहण होता है, अर्थापत्ति की उत्पत्ति के पहिले नहीं, इसी कारण से अर्थापत्ति में अविनाभाव भले ही रहता हो किन्तु उसको अर्थापत्ति में निमित्त नहीं माना है ।। १ ।। कोई जैन कहे कि संबंधको ग्रहण कर उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति तो अनुमानरूप हो सकती है ? तब उनको समझाते हैं कि जिस कारण से अर्थापत्ति के समय में ही अविनाभावका ग्रहण होता है

"तेन सम्बन्धवेलायां सम्बन्ध्यन्यतरो ध्रुवम् ।
अर्थापत्त्यैव गन्तव्य. पश्चादस्त्वनुमानता ।।"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३३] इति ।

अथ प्रमाणान्तरात्तदवगमः; तत्किं भूयोदर्शनम्, विपक्षेऽनुपलम्भो वा ? आद्यविकल्पे क्वास्य भूयोदर्शनम्–साध्यधर्मिणि, दृष्टान्तधर्मिणि वा ? न तावदाद्यः पक्षः; शक्तेरतीन्द्रियतया साध्यधर्मिण्यस्य तदविनाभावित्वेन भूयोदर्शनासम्भवात् । द्वितीयपक्षोप्यत एवायुक्तः । किञ्च, दृष्टान्तधर्मिणि

उसी कारण से अविनाभाव संबंध के ग्रहण के कालमें संबंधी में से अन्यतर अर्थात् वृष्टि (बरसात) और नदीपूर इन दोनों में से एक वृष्टि ही नियम से अर्थापत्ति के द्वारा जानने योग्य होती है । पहिले अर्थापत्ति ज्ञान ही होता है । हाँ; कदाचित् अविनाभाव संबंध के अनंतर यदि इन विषयों का निश्चय होता है तब उसको अनुमान प्रमाण कह सकते हैं" ।। २ ।।

अब दूसरा पक्ष–अर्थापत्ति को उत्पन्न करनेवाले पदार्थका अविनाभाव अन्य-प्रमाण से अवगत होता है [जाना जाता है] ऐसा कहें तो पुन: प्रश्न होता है कि वह कौनसा प्रमाण है, भूयोदर्शनरूप प्रमाण अथवा विपक्ष में अनुपलम्भरूप प्रमाण ? यदि कहा जाय कि भूयोदर्शनरूप ज्ञानसे वह अर्थापत्ति उत्थापक पदार्थ जाना जाता है तो प्रश्न होता है कि वह भूयोदर्शन कहां पर हुआ है ? साध्यधर्मी में या दृष्टान्तधर्मी में ? प्रथम विकल्प साध्यधर्मी हुआ है [साध्यधर्मी अर्थात् जलानेकी शक्तिवाली जो अग्नि है वह यहां साध्यधर्मीरूपसे कही गयी है सो उस साध्यरूप धर्मी अर्थात् अग्नि में उस अर्थापत्ति उत्थापक पदार्थका भूयोदर्शन हुआ है] ऐसा कहना शक्य नहीं, क्योंकि शक्ति तो अतीन्द्रिय है, अतः साध्यधर्मी जो अग्नि है उसमें दाहरूप साधन का शक्तिके साथ अविनाभावपने से बार २ देखनारूप भूयोदर्शन होना संभव नहीं है ।

यदि द्वितीयपक्ष को आश्रित कर कहा जावे कि दृष्टान्त धर्मी में भूयोदर्शन हुआ है सो ऐसा कहना भी इसी के समान असिद्ध है । दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त धर्मी में प्रवृत्त हुआ भूयोदर्शन साध्यधर्मी में भी इस दाहके अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय कराता है, या दृष्टान्तधर्मी में ही इसके अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय कराता है ? इनमें से द्वितीयपक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तधर्मी में अन्यथानुपपन्नत्वरूप से निश्चित किया गया दाहरूप पदार्थ अन्य अर्थात् दृष्टान्त से पृथक् जो साध्यधर्मी है उसमें अभी तक अनिश्चित् है, वहां अपने साध्यको (दाहकत्व शक्तिको) सिद्ध नहीं कर सकता ।

प्रवृत्तं भूयोदर्शनं साध्यधर्मिण्यप्यस्यान्यथानुपपन्नत्वं निश्चाययति, दृष्टान्तधर्मिण्येव वा ? तत्रोत्तरः पक्षोऽयुक्तः; न खलु दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितान्यथानुपपद्यमानत्वोर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथात्वेनानिश्चितः स्वसाध्यं प्रसाधयति अतिप्रसङ्गात् । प्रथमपक्षे तु लिङ्गार्थापत्त्युत्थापकार्थयोर्भेदाभावः स्यात् ।

ननु लिङ्गस्य दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तप्रमाणवशात्सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चयः, अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य तु साध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तप्रमाणात्सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थान्यथानुपपद्यमानत्वनिश्चय

यदि सिद्ध करना माने तो अतिप्रसंग दोष आयेगा, अर्थात् साध्यधर्मरूप से अनिश्चित हुआ हेतु यदि साध्यको सिद्ध कर सकता है तो मैत्री-पुत्रत्वादिरूप हेतु भी स्वसाध्य के (गर्भस्थमैत्री बालक में कृष्णत्वादि के) साधक बन जावेंगे, अर्थात् "गर्भस्थो मैत्री-पुत्रः श्यामः तत्पुत्रत्वात्" गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र काला है क्योंकि वह उसी का पुत्र है, ऐसे ऐसे हेत्वाभास भी स्वसाध्यको• सिद्ध करनेवाले हो जावेंगे ।

प्रथमपक्ष—भूयोदर्शन साध्यधर्मी में दाहके अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय कराता है ऐसा कहा जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इस मान्यता के अनुसार लिङ्ग में और अर्थापत्ति उत्थापक पदार्थमें कोई भेद नहीं रहता है ।

मीमांसक—धूम आदि जो हेतु हैं उनका दृष्टान्त धर्मी जो रसोइघर आदि हैं उनमें तो प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सर्वोपसंहाररूप से अर्थात् जो जो धूमवाला होता है वह वह नियम से अग्निवाला होता है इस प्रकार से स्वसाध्यके साथ नियतरूप से रहने का निश्चय होता है, तथा-अर्थापत्तिका उत्थापक जो पदार्थ है उसका तो अपने में ही [मात्र साध्यधर्मी में ही-अग्निमें ही] प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सर्वोपसंहार रूपसे जो जो स्फोट है वह सर्व ही तज्जनक शक्तियुक्त अग्निका कार्य है इत्यादि प्रकार से अदृष्टार्थ की अन्यथानुपपद्यमानता का निश्चय होता है, इसतरह से लिंग और अर्थापत्ति उत्थापक अर्थ में भेद रहता है, कहने का तात्पर्य यही है कि अनुमानमें हेतु और साध्यका अविनाभाव संबंध पहिले से ही सपक्षादि से ज्ञात कर लिया जाता है यह बहिःव्याप्ति है जब कि अर्थापत्ति में ऐसा नहीं है, वहां तो हेतु का स्वसाध्यके साथ अविनाभाव संबंध साध्यधर्म से ही ग्रहण किया जाता है ।

जैन—यह कथन युक्त नहीं है । क्योंकि जो लिंग होता है वह सपक्ष में रहने मात्रसे (अन्वय से) ही स्वसाध्यका गमक होता हो [निश्चायक होता हो] ऐसा नहीं

इत्यनयोर्भेदः; नैतद्युक्तम्; न हि लिङ्गं सपक्षानुगममात्रेण गमकम् वज्रस्य लोहलेख्यत्वे पार्थिवत्ववत्, श्यामत्वे तत्पुत्रत्ववद्वा। किं तर्हि ? 'अन्तर्व्याप्तिबलेन' इति प्रतिपादयिष्यते, तत्र च किं सपक्षानुगमेनेति च ? तदभावे गमकत्वमेवास्य कथमिति चेत् ? यथार्थापत्त्युत्थापकार्थस्य। तथा चार्थापत्ति-

---

देखा जाता, अन्यथा वज्र में लोह लेख्यत्व सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुए पार्थिवत्व हेतु में अथवा गर्भस्थ मैत्र के पुत्र श्याम सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हुए तत्पुत्रत्व हेतुमें भी स्वसाध्य की गमकता मानना पड़ेगी ? क्योंकि ये हेतु सपक्षसत्ववाले हैं। परन्तु ऐसा नहीं माना जाता है।

भावार्थ—"वज्रं लोहलेख्यं पार्थिवत्वाद् पाषाणादिवत्" वज्र-हीरा-लोहेसे खण्डित हो सकता है क्योंकि वह पार्थिव है। जैसे पाषाण पार्थिव है अतः वह लोह-लेख्य होता है, सो इस अनुमान में पार्थित्वनामा हेतु सपक्षसत्ववाला होते हुए भी सदोष है। क्योंकि सभी पार्थिव पदार्थ लोहलेख्य नहीं होते हैं। दूसरा अनुमान "गर्भस्थो मैत्रीपुत्रः श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्" गर्भस्थ मैत्रीका पुत्र श्याम होगा, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है। जैसे उसके और पुत्र काले हैं। सो यहां पर "तत्पुत्रत्वात्" हेतु सपक्षसत्ववाला होते हुए भी व्यभिचरित है, क्योंकि मैत्री के सारे पुत्र काले ही हों यह बात नहीं है। उसी प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सर्वोपसंहार से मात्र दृष्टान्त में स्वसाध्यका निश्चय करानेवाला हेतु देखा जाता है सो इतने मात्रसे वह हेतु स्वसाध्य को सिद्ध करनेवाला नहीं हो जाता है। जैसे तत्पुत्रत्व हेतु सपक्षमें—अन्य मैत्री पुत्रों में श्यामपने के साथ रहते हुए भी अपने साध्य गर्भस्थ बालक में श्यामत्व का साधक नहीं होता है॥ कोई पूछे कि फिर किसप्रकार का हेतु स्वसाध्यका सिद्ध करनेवाला होता है ? तो उसका उत्तर यह है कि अन्तर्व्याप्तिके बलसे हेतु स्वसाध्यका साधक बन जाता है, [पक्ष में ही साध्य और साधन की व्याप्ति-अविनाभाव बतलाना अन्तर्व्याप्ति कहलाती है] इस अन्तर्व्याप्तिका हम "एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणं" इस सूत्र द्वारा आगे प्रतिपादन करनेवाले हैं, अतः सपक्ष में सत्त्व होने मात्रसे कोई हेतु स्वसाध्यका गमक (निश्चायक) नहीं होता है, निश्चित हुआ।

शंका— बिना सपक्षसत्त्व के हेतु स्वसाध्य का गमक कैसे हो सकता है ?

समाधान—जैसे आप मीमांसक अर्थापत्ति के उत्थापक पदार्थ में अन्तर्व्याप्ति के बलसे (पक्ष में ही साध्यसाधनकी व्याप्ति सिद्ध होनेसे) गमकता [स्वसाध्य साधकता] मानते हैं ? इसीप्रकार से यहां पर भी मानना चाहिये।

रेवाखिलमनुमानमिति षट्प्रमाणसंख्याव्याघातः । भवतु वा सपक्षानुगमाननुगमभेदः, तथापि नैतावता तयोर्भेदः, अन्यथा पक्षधर्मत्वसहिताया अर्थापत्तेरतद्रहितार्थापत्तिः प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणसंख्याव्याघातः । अस्ति चार्थापत्तिः पक्षधर्मत्वरहिता—

"नदीपूरोप्यधोदेशे दृष्टः सन्नुपरि स्थिताम् ।
नियम्यो गमयत्येव वृत्तां वृष्टिं नियामिकाम् ।। १ ।।
पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ।। २ ।।

इसप्रकार अर्थापत्ति पूर्णरूपसे अनुमानरूप ही है यह निश्चय हो जाता है और इस कारण से मीमांसकाभिमत षट्प्रमाण-संख्याका व्याघात हो जाता है ।

यदि आपके संतोष के लिये हम जैन मान भी लेवें कि हेतु या अनुमान में सपक्षका अनुगम-अन्वय रहता है और अर्थापत्ति में सपक्षानुगम नहीं होता है, अतः अनुमान और अर्थापत्ति में भेद है, सो इतने मात्रसे अनुमान और अर्थापत्ति में मौलिक भेद सिद्ध नहीं होता है, यदि इतने मात्रसे भेद किया जावेगा तो अर्थापत्ति मे भी भेद होने लगेगा, इस तरह पक्षसत्व-पक्षधर्मसहित अर्थापत्ति से पक्षधर्मरहित अर्थापत्ति में पृथक्प्रमाणता आवेगी । इसतरह से फिर भी प्रमाणसंख्या का व्याघात होगा ही, पक्षरहित अर्थापत्ति होती भी है—देखिये—अधोदेश में देखा गया नदीपूर ऊपर के भाग में हुई वृष्टिका (बरसातका) नियम से ज्ञान कराता है, अर्थात् व्याप्य जो नदीपूर है उसे देखकर व्यापक जो वृष्टि है उसका निश्चय किया जाता है ।।१।। तथा माता पिता के ब्राह्मण होने से पुत्र में ब्राह्मणत्व का निश्चय किया जाता है, ये सब ज्ञान के हेतु पक्षधर्मत्व की अपेक्षा नहीं करते हैं ।।२।। इसलिये जो लोग पक्षधर्मत्व को हेतु का ज्येष्ठ अंग (मुख्यअंग) मानते हैं, उनकी इस मान्यता में इन पूर्वोक्त नदीपूर आदि के उदाहरणों से व्यभिचार आता है; अर्थात् उपरि वृष्टि आदि हेतुओं में पक्षधर्मता नहीं है तो भी वे सत्य कहलाते हैं, अर्थात् अपने साध्य के गमक होते हैं ।।३।। इस प्रकार यह मानना चाहिये कि पक्षधर्मता से रहित भी अर्थापत्ति होती है ।

शंका—पक्षधर्मता से सहित अर्थापत्ति हो चाहे पक्षधर्मत्व से रहित अर्थापत्ति हो, दोनों के द्वारा समानरूप से ही अर्थ से अर्थान्तर–नदीपूर से वृष्टि का ज्ञान तो बराबर ही होता है अतः इन दोनों अर्थापत्तियों में परस्पर में कोई भेद नहीं, जैसा कि भिन्न २ प्रमाणों में होता है, इनमें तो अभेद ही रहता है ।

एवं यत्पक्षधर्मत्वं ज्येष्ठं हेत्वङ्गमिष्यते ।
तत्पूर्वोक्तान्यधर्मस्य दर्शनाद्व्यभिचार्यते ।। ३ ।।" [ ]

इत्यभिधानात् ।

नियमवतोऽर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्तयोरभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोर्थादर्थान्तरप्रतिपत्तेरत्राप्यविशेषात्कथमनुमानादर्थापत्तेर्भेदः स्यात् ? अथ विपक्षेऽनुपलम्भात्तस्यान्यथानुपपद्यमानत्वावगमः; न; पार्थिवत्वादेरप्येवं स्वसाध्याविनाभावित्वाऽवगमप्रसङ्गात् विपक्षेनुपलम्भस्याविशेषात्, सर्वात्म-

---

समाधान—यदि ऐसी बात है तो फिर अपने साध्य के साथ अविनाभाव संबंधवाले हेतु या नदीपूर आदि से भी तो अर्थान्तर अग्नि या वृष्टि का ज्ञान समानता से ही होता है, अतः इन अनुमान और अर्थापत्ति में भेद किस प्रकार सिद्ध होगा; —अर्थात् जैसे पक्षधर्म रहित अर्थापत्ति और पक्षधर्मयुक्त अर्थापत्ति इनमे भिन्न प्रमाणता नही है, उसी प्रकार अनुमान और अर्थापत्ति मे भी भिन्न प्रमाणता नहीं है यह निश्चित हो जाता है।

अब विपक्ष मे अनुपलम्भनामा दूसरे पक्ष का निरसन करते हुए टीकाकार कहते हैं—कि यदि ऐसा कहा जाय कि विपक्ष में—वृष्टिरहित प्रदेश मे नदीपूर का अभाव रहता है, अतः इस विपक्षानुपलम्भ से नदीपूर और वृष्टि का अविनाभाव संबंध ज्ञात हो जाता है; अर्थात् जब नदीपूर दिखाई देता है तो वह बिना वृष्टि के आता नहीं है, पूर तो आया हुआ दिखाई दे रहा है अतः वह वृष्टि का अनुमापक हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विपक्ष मे अनुपलम्भ होने मात्र से अविनाभाव का निश्चय नहीं हो सकता, यदि एकान्ततः ऐसा माना जाय तो पूर्व-कथित पार्थिवत्वादि हेतु भी अपने साध्य के—वज्र में लोहलेख्यत्व आदि के अवगम कराने वाले हो जावेंगे, क्योंकि पार्थिवत्वादि जो हेतु हैं वे भी विपक्ष जो आकाशादि हैं उनमें उपलब्ध नहीं होते हैं। एक प्रश्न भी यह पूछा जा सकता है कि विपक्ष में जो अनुपलम्भ होता है वह सभी को होता है कि अपने को ही होता है ? सभी को अनुपलम्भ होना असिद्ध है, और यदि अपने को अनुपलम्भ होना कहा जाय तो हेतु में अनैकान्तिकता होती है। तथा अपने अनुपत्वमात्र से कोई साध्य की सिद्धि होती नहीं है।

शंका—ऐसे दोनों तरह से सर्व संबंधी अनुपलम्भ और आत्मसंबंधी अनुपलम्भ को नहीं मानेगे तो सम्पूर्ण अनुमानों का उच्छेद (अभाव) हो जावेगा।

सम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धानैकान्तिकत्वाच्च । नन्वेवं सकलानुमानोच्छेदः, अस्तु नाम तस्यायम् यो भूयोदर्शनाद्विपक्षेऽनुपलम्भाद्वयाप्तिं प्रसाधयति नास्माकम्, प्रमाणान्तरात्तत्प्रसिद्ध्यभ्युपगमाद् । भवतोपि ततस्तदभ्युपगमे प्रमाणसंख्याव्याघातः ।

समाधान—ऐसा सकल अनुमान उच्छेद का दोष उसी को हो सकता है जो भूयोदर्शन से एवं विपक्ष में अनुपलम्भ से व्याप्ति को [अविनाभाव संबंध को] सिद्ध करते हैं, हम जैनों को यह दूषण नहीं लगता है, हम तो अन्य ही तर्क नामक प्रमाण से व्याप्ति का ज्ञान होना मानते हैं । आप मीमांसक यदि उसी अन्य प्रमाण से व्याप्ति का ज्ञान होना स्वीकार करेंगे तो आपकी अभीष्ट प्रमाण संख्या का व्याघात होगा, इस प्रकार अर्थापत्ति कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, वह तो अनुमान स्वरूप ही है ऐसा सिद्ध हुआ मानना चाहिये ।

अर्थापत्ति अनुमानाऽन्तर्भाव समाप्त

अर्थापत्ति अनुमानाऽन्तर्भाव का सारांश

मीमांसक अर्थापत्ति, उपमान और अभाव इन्हें अनुमानादि से पृथक् प्रमाण मानते हैं, सो उनके पूर्वपक्ष का सारांश इस प्रकार से है—अर्थापत्ति के विषय में उनका यह मन्तव्य है कि किसी एक पदार्थ को देखकर उसके अविनाभावी दूसरे पदार्थका बोध करना । उस अर्थापत्तिके प्रत्यक्षादि की अपेक्षा लेकर प्रवृत्त होनेके कारण ६ भेद माने गये हैं । प्रत्यक्ष से अग्निको ज्ञात कर उसकी दाहक शक्ति को जानना यह प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति है । सूर्य में गमनरूप हेतु से गमन शक्तिका बोध करना यह अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति है । आगम के वाक्य सुनकर अर्थान्तर का बोध करना यह आगमपूर्विका अर्थापत्ति है, जैसे दिन में नहीं खाने पर भी देवदत्तमें स्थूलता देखकर उसके रात्रिभोजन करनेका बोध करना । अर्थापत्ति से अर्थापत्ति इस प्रकार है—शब्दमें अर्थापत्ति से वाचक शक्तिका बोधकर उसमें नित्यत्वका बोध करना । उपमानपूर्विका अर्थापत्ति—रोझ उपमेयको देखकर गाय की उपमाको जानना । अभावपूर्विका अर्थापत्ति

इस प्रकार से है कि अभावप्रमाण से जिन्दे चैत्र का घर में अभाव जानकर पुनः बाहर में उसका सद्भाव जानना। उपमान प्रमाण का पहिले विचार कर आये हैं कि–

"गृहीत्वा वस्तु सद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिता ज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया" ॥ १ ॥

पहिले वस्तु का सद्भाव जानकर पुनः प्रतियोगी का स्मरण कर इन्द्रियों की अपेक्षा बिना ही मन में जो "नहीं है" ऐसा ज्ञान होता है वह अभावप्रमाण है ॥ १ ॥ वस्तु दो प्रकारकी हुआ करती है, एक सद्भावरूप और एक अभावरूप, इनमें जो अभावरूप वस्तु उसको अभाव प्रमाण जानता है, इस अभावरूप वस्तु को प्रत्यक्षप्रमाण नही जान सकता, क्योंकि वह सद्भावरूप वस्तु को ही जानता है। अनुमान भी हेतु न होने से एवं उसका विषय न होनेसे अभाव को नहीं जानता। इसी तरह उपमानादि भी अभावको विषय नहीं करते, क्योंकि प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाणोंका विषय सद्भावरूप पदार्थ है, अभावरूप नहीं। अतः वस्तु के अभावांश को ग्रहण करनेके लिये अभाव-प्रमाण की प्रवृत्ति होती है जैसे कि भावांश को ग्रहण करने के लिए प्रत्यक्षादिप्रमाणों की प्रवृत्ति होती है।

जैन—यह मीमांसक का वर्णन उन्मत्त के कथन जैसा है, क्योंकि आपको जिन्हें पृथक्प्रमाण रूपमें मानना चाहिये ऐसे प्रत्यभिज्ञान तर्क आदि ज्ञान हैं उन्हें तो नहीं माना और व्यर्थ के प्रमाणों को जिनका कि लक्षण भिन्न रूपसे प्रतीति में नहीं आता उन्हें स्वतन्त्ररूप से मान रहे हो, देखिये—अर्थापत्ति बिलकुल सही तरीके से अनुमानप्रमाणमें शामिल हो जाती है, क्योंकि अर्थापत्ति को उत्पन्न करनेवाली जो अन्यथानुपपद्यमानत्वरूप वस्तु है वह अनुमान से ही तो जानी जाती है। यदि तुम कहो कि नहीं वह तो अर्थापत्ति से ही जानी जाती है तो ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष आता है। यदि कहो कि वह दूसरे प्रमाणान्तर से जानी जाती है–तो यह दूसरा प्रमाण क्या बला है? विपक्षमें अनुपलंभ या भूयोदर्शन? विपक्ष में अनुपलंभ कहो तो वह किसको हुआ, खुदको या सभी को? खुदको विपक्ष में बाधा न देखने मात्रसे तो साध्य सिद्ध होता नहीं है। और सभी व्यक्तिको विपक्ष में अनुपलंभ है यह बात जानना ही असंभव है। तथा–जैसे अनुमानमें अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु से साध्यका ज्ञान होता है वैसे ही अर्थापत्तिमे अन्यथानुपपद्यमानत्व से किसी परोक्षवस्तुका ज्ञान कराया जाता है, अतः वे दोनों एक ही हैं। जैसे–नदीपूर को देखकर असका अविनाभावी कारण

बरसात का अन्यथानुपपद्यमानत्व से ज्ञान होता है वैसे ही धूमको देखकर उसका अविनाभावी अग्निका अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान होता है, अतः दोनों एक ही हैं, कुछ अन्तर नहीं है।

तथा—आपके अनुमानप्रमाण को शामिल करने के लिये हमारे पास एक स्वतंत्र प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। इसी तरह अभाव प्रमाण भी प्रत्यक्षादि प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाता है। इस तरह मीमांसक के ६ प्रमाणों की संख्या का व्याघात होता है।

अर्थापत्ति अनुमानाऽन्तरभाव का सारांश समाप्त

शक्तिविचार का पूर्वपक्ष

हम नैयायिक वस्तुस्वरूप को छोड़कर अन्य अतीन्द्रिय स्वभाववाली शक्ति नामकी कोई चीज नहीं मानते हैं। क्योंकि कार्य तो वस्तुस्वरूप से ही निष्पन्न हुआ करता है।

स्वरूपादुद्भवत्कार्यं सहकार्युपबृंहितात्।
नहि कल्पयितुं शक्यं शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम् ॥ १ ॥

अर्थ—सहकारिकारणों से सहकृत ऐसा जो वस्तुस्वरूप है उससे उत्पन्न हुआ कार्य जब स्पष्ट ही दिखाई देता है तब उसमें एक और न्यारी अतीन्द्रिय शक्ति कौनसी है कि जिसकी उत्पत्ति के लिये कल्पना करनी पड़े। अर्थात् सहकारी की सहायता से वस्तुस्वरूप ही कार्य को करने वाला है, अतः दृष्टि अगोचर शक्तिनामक कोई भी पदार्थ कार्यनिष्पत्ति में आवश्यक नहीं है।

अब यहां कोई मीमांसक आदि शक्ति के विषय में शंका उपस्थित करते हैं—

"ननु शक्तिमन्तरेण कारकमेव न भवेत्, यथा पादपं छेत्तुमनसा परशुरुद्यम्यते तथा पादुकाद्यप्युद्यम्येत। शक्तेरनभ्युपगमे हि द्रव्यस्वरूपाविशेषात् सर्वस्मात् सर्वदा कार्योदयप्रसङ्गः" ॥

अर्थ—शक्ति के बिना कोई भी पदार्थ किसी का कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि वस्तु में शक्तिनामक कोई भी चीज नहीं है तो जैसे वृक्षको काटने का इच्छुक पुरुष कुठार को उठाता है वैसे ही वह पादुका–खडाऊ आदि को उठा सकता है, क्योंकि पादुका और कुठार कोई पृथक् चीज तो है नहीं, पादुका वस्तु है और कुठार भी वस्तु है। इस प्रकार सभी वस्तुओं से सर्वदा ही सब कार्य होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा?

सो इस प्रकारकी इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं—"तदेतदनुपपन्नम् यत्तावदुपादाननियमादित्युक्तम् तत्रोच्यते नहि वयमद्य किञ्चिदभिनवं भावानां कार्यकारणभावमुत्थापयितुं शक्नुमः किन्तु यथाप्रवृत्तमनुसरन्तो व्यवहरामः। तत्र छेदनादान्वयव्यतिरेकाभ्यां परश्वादेरेवकारणत्वमध्यवगच्छाम इति, तदेव तदर्थिन उपाददमहे न पादुकादीति, न च परश्वादेस्स्वरूपसन्निधाने सत्यपि सर्वदा कार्योदयः स्वरूपवत् सहकारिणामप्यपेक्षणीयत्वात् सहकार्यादिसन्निधानस्य सर्वदा अनुपपत्तेः"

अर्थ—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि कार्योत्पत्ति में उपादान का नियम बतलाया गया है। अतः हम पदार्थों में कोई नया कार्यकारणभाव तो निर्माण कर नहीं सकते, केवल कार्योत्पत्ति में जिस प्रकार से उपादान की प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुसार हम व्यवहार करते हैं। छेदनक्रिया में जिसके साथ उसका अन्वय व्यतिरेक घटित होता है ऐसे उस कुठार को ही कारण माना है, पादुका आदिको नहीं, क्योंकि उसके साथ छेदनक्रिया का अन्वय व्यतिरेक घटित नहीं होता है, यदि कहा जाय कि परशु तो हमेशा से है, अतः हमेशा ही छेदनक्रिया होती रहनी चाहिये सो ऐसी बात नहीं बनती, क्योंकि छेदनक्रिया में परशु स्वरूप के समान सहकारी कारणोंकी भी अपेक्षा हुआ करती है, अतः सहकारी कारण जब मिलेंगे तभी अर्थक्रिया होगी सदा नहीं।

"यदपि विषदहनसन्निधाने सत्यपि मन्त्रप्रयोगात् तत्कार्यादर्शनं तदपि न शक्ति-प्रतिबंधनिबंधनमपि तु सामग्र्यन्तरानुप्रवेशहेतुकम्"।

अर्थ— छेदनक्रिया में जैसी बात है वैसी ही बात विष तथा अग्नि में भी है। अर्थात् विष और अग्निके होते हुए भी जो उनका मरण और दाहरूप कार्य सदा होता हुआ नही देखा जाता है सो उसमें कारण मन्त्रप्रयोग है। वह मंत्रप्रयोग भी विष एवं अग्नि की शक्तिको रोकनेवाला नहीं है, किन्तु उस मन्त्ररूप अन्य ही सामग्री का वहां प्रवेश हो जानेसे उनका दाहादि कार्य नहीं हो पाता है।

"ननु मंत्रेण प्रविशता तत्र किं कृतं न किञ्चित् कृतं, सामग्र्यन्तरं तु संपादितं क्वचिद्धि सामग्री कस्यचित्कार्यस्य हेतुः, स्वरूपं तदवस्थमेवेति चेत्"।

कोई शंकाकार कहे कि मंत्र वहां अग्नि या विष आदि में प्रविष्ट भी हो जाय तो वह वहां क्या कर देता है ? तो उसका उत्तर यह है कि कुछ भी नहीं करता। अन्य सामग्री उपस्थित हुई तो होने दो, उसका कार्य भी अन्य ही रहेगा, किन्तु उस मंत्ररूप सामग्री ने अग्नि का स्वरूप तो नहीं बिगाड़ा है, वह तो जैसी है वैसी है फिर दाह आदि कार्य क्यों नहीं हुआ ?

"यद्येवमभक्षितमपि विषं कथं न हन्यात्, तत्रास्य संयोगाद्यपेक्षणीयमस्तीति चेत् मन्त्राभावोऽप्यपेक्षन्ताम्, दिव्यकरणकाले धर्म इव मंत्रोऽप्यनुप्रविष्टः कार्यं प्रतिहन्ति, शक्तिपक्षेऽपि मन्त्रस्य को व्यापारः। मंत्रेण हि शक्तेर्नाशो वा क्रियते प्रतिबंधो वा ? न तावन्नाश', मंत्रापगमे पुनस्तत्कार्यदर्शनात्, प्रतिबंधस्तु स्वरूपस्यैव शक्तेरिवास्तु, स्वरूप-

स्य किं जातं कार्योदासिन्यमितिचेत्तदितोऽपि समानम्, स्वरूपमस्येव दृश्यमानत्वादिति चेच्छक्तिरप्यस्ति पुन: कार्यदर्शनेनानुमीयमानत्वात्" ।।

अर्थ—अब उपर्युक्त शंका का परिहार किया जाता है—मंत्र आदिक मारण या दाहरूप कार्य होने में अन्य सामग्री को उपस्थित करने वाले होते हैं और उसी से कार्य रुक सा जाता है अतः दाहादि कार्य में ऐसी सामग्री का अभाव होना भी जरूरी है, इस प्रकार की बात नहीं होती तो बिना खाये भी विष क्यों नहीं मरण करा देता ? तुम कहो कि विष मुखादि में प्रविष्ट हुए बिना कैसे मरण कराये ? सो यही बात मंत्रादि के विषय में भी है, दिव्य करना आदि में भी धर्म के समान मंत्र भी कार्य को रोकता है, हम नैयायिक अतीन्द्रिय शक्ति को मानने वाले मीमांसकादि से पूछते हैं कि शक्ति के पक्ष में भी मंत्रादिक क्या काम करते हैं ? मंत्र के द्वारा शक्ति का नाश होता है या उसका प्रतिबंध होता है ? नाश तो होता नही, क्योंकि मंत्र के हटते ही पुन: कार्य होने लग जाता है । प्रतिबंध कहो तो वह शक्ति के प्रतिबंध के समान स्वरूप का प्रतिबध भी हो सकता है । यदि कहा जाय कि स्वरूप का प्रतिबंध तो मंत्र के द्वारा कुछ भी नहीं होता, अर्थात् मन्त्र के द्वारा अग्नि आदि का स्वरूप तो बिगाड़ा नहीं जाता है, सो यही बात शक्ति के विषय में भी है अर्थात् मन्त्र शक्ति को नहीं बिगाड़ता, क्योंकि मन्त्र के हटते ही पुन: कार्य होते देखा जाता है, अतः अतीन्द्रियशक्ति नामका कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता है ।

न खल्वतीन्द्रिया शक्तिरस्माभिरुपगम्यते । यया सह कार्यस्य संबंधज्ञान संभव: ।। १ ।।

अर्थ—"शक्तिः क्रियानुमेया स्यात्" शक्ति क्रिया से जानी जाती है इत्यादि अन्य लोग कहते हैं सो हम नैयायिक शक्ति को अतीन्द्रिय नहीं मानते हैं, वस्तु में जो कुछ है वह सब सामने उपस्थित है, प्रत्यक्ष गम्य है, अतीन्द्रिय कुछ भी स्वरूप नहीं है। अतः शक्ति के साथ कार्य का संबंध जोड़ना व्यर्थ है, अर्थात् कार्य को देखकर शक्ति का अनुमान लगाना, कार्य हेतु से कारण शक्ति का अनुमान करना बेकार है । हम तो "स्वरूपसहकारि सन्निधान मेवशक्तिः" वस्तु स्वरूप और सहकारी कारणों की निकटता इनको ही शक्ति मानते हैं । अन्य अप्रत्यक्ष ऐसी कोई शक्ति सिद्ध नहीं हो पाती है ।

शक्तिविचार का पूर्वपक्ष समाप्त

शक्तिस्वरूपविचारः

✱

ननु वह्निस्वरूपस्याध्यक्षत एव प्रसिद्धेस्तदतिरिक्तातीन्द्रियशक्तिसद्भावे प्रमाणाभावात्कथं तत्रार्थापत्तेः प्रामाण्यम्? निजा हि शक्तिः पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिकमेव तदभिसम्बन्धादेव तेषां कार्यकारित्वात्। अन्त्या तु चरमसहकारिरूपा, तत्सद्भावे कार्यकरणादभावे चाकरणात्। तथाहि–

अर्थापत्ति को जब अनुमान में शामिल कर रहे थे, तब अग्नि की दाहकशक्ति का नाम आया था सो अब शक्ति के विषय में चर्चा प्रवर्तित होती है। इसमें नैयायिक शक्ति के निरसन के लिये अपना पक्ष उपस्थित करते हैं–

नैयायिक—अग्निका स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रसिद्ध हो रहा है, उस स्वरूप को छोड़कर अन्य कोई न्यारी अतीन्द्रिय शक्ति है ऐसा उसका सद्भाव सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। अतः मीमांसक उस शक्ति को ग्रहण करने वाली अर्थापत्ति को किस प्रकार प्रमाणभूत मानते हैं? जब वैसी शक्ति ही नहीं है तब उसको बतलाने वाले अर्थापत्ति में प्रामाण्य कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। वस्तु में जो शक्ति होती है वह उसके निजस्वरूप ही होती है। पृथिवी आदि का पृथिवी आदि रूप होना ही उसकी शक्ति है, उस पृथिवीत्व आदि के संबंध से ही पृथिवी आदि पदार्थ अपने कार्य को करते हैं। कारण में जो अंतिम शक्ति होती है वह चरम सहकारी स्वरूप होती है, उसके होने पर ही कार्य होता है और यह न हो तो कार्य नहीं होता है। इसी बात को उदाहरण देकर वे समझाते हैं—बहुत से तंतु [धागे या डोरे] रखे हैं किन्तु जब तक अन्त के तुंतुओं का संयोग नहीं होता है तब तक वे अपने कार्य को (वस्त्रको) नहीं करते हैं, बस! यही उन तन्तुओंकी शक्ति कहलाती है।

सन्तोपि तन्तवो न कार्यमारभन्ते अन्त्यतन्तुसंयोगं विनेति सैव शक्तिस्तेषाम्। ननु कथमर्थान्तरमर्थान्तरस्य शक्तिः? अनर्थान्तरत्वेपि समानमेतत्-'स एव तस्यैव न शक्तिः' इति। अथ यदि पूर्वेषां सहकार्येव शक्तिस्तर्हि तस्याप्यशक्तस्याकारणत्वादन्या शक्तिर्वाच्येत्यनवस्था; तदयुक्तम्; चरमस्य हि सहकारिणः पूर्वसहकारिण एव शक्तिः इतरेतराभिसम्बन्धेन कार्यकरणात्। स एव समग्राणां भावः सामग्रीति भावप्रत्ययेनोच्यते, तेन सता समग्रव्यपदेशात्।

शंका—अर्थान्तर की शक्ति उससे अर्थान्तर रूप कैसे हो सकती है? अर्थात् पदार्थ की शक्ति पदार्थ से भिन्न है ऐसा कैसे सिद्ध हो सकता है? क्योंकि शक्ति को अर्थान्तर मानने पर यह "पदार्थ की शक्ति" है ऐसा व्यवहार विलुप्त हो जावेगा।

समाधान—तो शक्ति को पदार्थ से अनर्थान्तर-अभिन्न मानने में भी यही प्रश्न आता है, अर्थात् पदार्थ से शक्ति अभिन्न है तो इस पक्ष में यह पदार्थ की शक्ति है ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो पदार्थ रूप ही हो जायगी?

शंका—तन्तु आदि कारणों का जो सहकारी पना है वही उनकी शक्ति है ऐसा माना जाय तो पुनः प्रश्न होते हैं कि वह सहकारी भी शक्त है या अशक्त है? यदि वह अशक्त है तो कार्य का कारण नहीं हो सकता अतः उस अशक्त को शक्त बनने के लिये अन्य शक्ति चाहिये, इस प्रकार मानने पर अनवस्था आती है। अनवस्था दोष का विवेचन टिप्पणीकार ने इस प्रकार किया है—अतीन्द्रिय शक्ति के द्वारा शक्तिमान् का उपकार किया जाता है ऐसा मानने पर शक्ति द्वारा किया गया वह उपकार शक्तिमान से भिन्न होता है तो अनवस्था होगी? क्योंकि उपकार भी शक्तिमान से यदि भिन्न है तो भिन्न होने के कारण यह शक्तिमान का उपकार है ऐसा संबंध सिद्ध नहीं होता है, यदि क्रियमाण वह भिन्न उपकार शक्तिमान के साथ अपना संबंध सिद्ध करने के लिये उपकारान्तर को करता है तो पुनः यह प्रश्न होता है कि शक्त होकर या अशक्त होकर वह उपकार उपकारान्तर को करता है? अशक्त होकर उपकारान्तर का करना शक्य नहीं। यदि शक्य होकर वह उपकार शक्तिमान के साथ स्वसंबंध की सिद्धि के लिये उपकारान्तर को करता है, ऐसा मानो तो जिस शक्ति से स्वयं उपकार शक्त हुआ है वह शक्ति भी उस उपकार से भिन्न है कि अभिन्न है, यदि भिन्न है तो "उपकार की यह शक्ति है" ऐसा कहना शक्य नहीं, क्योंकि वह उससे भिन्न है। यदि शक्ति भी उपकार के साथ अपना संबंध स्थापित करने के लिये उप-

किञ्च, असौ शक्तिर्नित्या, अनित्या वा स्यात् ? नित्या चेत्सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः । तथा च सहकारिकारणापेक्षा व्यर्थार्थानाम् तल्लाभात्प्रागेव कार्यस्योत्पन्नत्वात् । अथानित्यासौः कुतो जायते ? शक्तिमतश्चेत्; किं शक्तात्, अशक्ताद्वा ? शक्ताच्चेच्छक्त्यन्तरपरिकल्पनातोऽनवस्था स्यात् । अशक्तात्तदुत्पत्तौ कार्यमेव तथाविधात्ततः किन्नोत्पद्येत ? अलमतीन्द्रियशक्तिकल्पनया ।

तथा, शक्तिः शक्तिमतो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? अभिन्ना चेत्; शक्तिमात्रं शक्तिमन्मात्रं

कारान्तर को करती है तो इस प्रकार से बड़ी ही लम्बी अनवस्था उपस्थित हो जाती है ?

समाधान—इस तरह अनवस्था की आशंका अयुक्त है, क्योंकि चरम सहकारी की जो शक्ति है, वह पूर्व सहकारी की ही है, अन्य २ सहकारियों के पारस्परिक संबंध से ही वह शक्ति कार्य का संपादन करती है, इसी इतरेतराभिसंबंधरूप शक्तिका नाम ही "समग्रानां–कारणानां–भावः सामग्री" इस भाव प्रत्ययके अनुसार सामग्री कहा गया है, क्योंकि जब वे सब विवसित कारण मौजूद रहते हैं तभी उन्हें समग्र इस नाम से कहा जाता है । जैन से हम नैयायिक पूछते हैं कि अतीन्द्रिय शक्ति नित्य है कि अनित्य ? नित्य माने तो हमेशा कार्य होता रहेगा, उसकी उत्पत्ति रुकेगी नहीं, इस तरह कार्य होते रहने पर तथा शक्ति को नित्य मानने पर कार्यों को अपनी उत्पत्ति में सहकारी कारणों की अपेक्षा लेना भी व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि पदार्थों के द्वारा होने वाले कार्य सहकारी कारणों के मिलने के पहले ही उत्पन्न हो चुकेंगे ? यदि इस अतीन्द्रिय शक्ति को अनित्य माने तो हम पूछते हैं कि वह अनित्य शक्ति किससे पैदा हुई ? कहो कि शक्तिमान से हुई तो वह शक्तिमान भी शक्त है या अशक्त है ? अर्थात् शक्त शक्तिमान से शक्ति पैदा हुई है ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होगा कि शक्तिमान किससे शक्त हुआ ? इस तरह की कल्पना बढ़ती जाने से अनवस्था दोष आता है । अशक्त शक्तिमान से शक्ति का उत्पन्न होना माना जाय तो कार्य भी अशक्त कारण से क्यों नहीं उत्पन्न होगा ? अर्थात् जैसे अशक्त शक्तिमान से शक्ति पैदा होती है वैसे उसी अशक्त से सीधा कार्य उत्पन्न होता है ऐसा मान लेना चाहिये। इस प्रकार अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं रहती है । किञ्च–वह शक्तिमान से भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि अभिन्न है तो शक्ति ही रहेगी या शक्तिमान ही रहेगा ? क्योंकि दोनों परस्पर में अभिन्न हैं ? यदि शक्ति से शक्ति-

वा स्यात् ? भिन्ना चेत्, 'तस्येयम्' इति व्यपदेशाभावः अनुपकारात् । उपकारे वा तया तस्योपकारः, तेन वाऽस्याः ? प्रथमपक्षे शक्तिमतः शक्त्योपकारोऽर्थान्तरभूतः, अनर्थान्तरभूतो वा विधीयते ? अर्थान्तरभूतश्चेदनवस्था, तस्यापि व्यपदेशार्थमुपकारान्तरपरिकल्पनया शक्त्यन्तरपरिकल्पनात् । अनर्थान्तरभूतोपकारकरणे तु स एव कृतः स्यात् । तथा च न शक्तिमानसौ तत्कार्यत्वाप्रसिद्धतत्कार्यत्वात् । शक्तिमतापि-शक्त्यन्तरान्वितेन, तद्रहितेन वा शक्तेरुपकारः क्रियते ? आद्यपक्षे शक्त्यन्तराणां ततो

मान भिन्न है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो "यह शक्तिमान की शक्ति है" ऐसा संबंध वचन बनेगा नहीं, क्योंकि भिन्न में संबंधरूप उपकार नहीं होता, यदि उपकार होना मान भी लेवें तो कौन किसका उपकार करता है, क्या शक्ति से शक्तिमान का उपकार होता है या शक्तिमान से शक्ति का उपकार होता है ? यदि शक्ति के द्वारा शक्तिमान का उपकार होता है इस तरह का प्रथम पक्ष माना जाय तो बताइये वह उपकार शक्तिमान से अर्थांतरभूत किया जाता है कि अनर्थान्तरभूत किया जाता है ? अर्थातर भूत किया जाता है ऐसा मानो तो अनवस्था होती है, क्योंकि शक्ति ने शक्तिमान का यह उपकार किया है ऐसा संबध सिद्ध करने के लिये—अन्य अन्य उपकार की कल्पना तथा अन्य अन्य शक्ति की व्यवस्था करनी होगी । यदि शक्ति के द्वारा किया गया शक्तिमान का उपकार उससे अनर्थान्तरभूत है ऐसा द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जाय तो शक्तिने शक्तिमान (पदार्थ) को किया ऐसा अर्थ होगा, फिर उस पदार्थको शक्तिमान नहीं कह सकते, क्योंकि वह कार्य करनेमें समर्थ न रहकर स्वयं ही शक्तिका कार्य कहलाने लगा है । शक्तिमान [पदार्थ] द्वारा शक्ति का उपकार किया जाता है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि शक्तिमान अन्यशक्ति से युक्त होकर शक्तिका उपकार करता है या अन्य शक्ति से रहित होकर उसका उपकार करता है, प्रथम पक्ष—अन्य शक्ति से युक्त होकर शक्तिमान शक्ति का उपकार करता है तो वह शक्त्यन्तर भी शक्तिमान से भिन्न है या अभिन्न है यह बताना होगा, दोनों ही पक्षों में वे पहले कहे हुए सब दोष आते हैं अर्थात् शक्तिमान अन्य शक्ति से युक्त होकर शक्ति का उपकार करता है, वह उपकार भिन्न है सो संबंध नहीं बनता और अभिन्न है तो एक ही रहेगा इत्यादि दोष आते हैं तथा अनवस्था दोष भी स्पष्ट दिखायी देता है । दूसरा विकल्प—शक्तिमान शक्ति का उपकार करने में प्रवृत्त होता है तब अन्य शक्ति से रहित होकर प्रवृत्त होता है ऐसा माने तो पहले की शक्ति की कल्पना व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि शक्ति के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है जैसा कि बिना शक्ति के उपकार

भेदः, अभेदो वा ? उभयत्रानन्तरोक्तोभयदोषानुषङ्गोऽनवस्था च। तद्रहितेनानेन शक्तेरुपकारे तु प्राच्यशक्तिकल्पनाप्यपार्थिका तद्व्यतिरेकेणैव कार्यस्याप्युत्पत्तेरुपकारवत् शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदपरिकल्पनायां विरोधादिदोषानुषङ्गः।

तथा, असौ किमेका, अनेका वा ? तत्रैकत्वे शक्तेर्युगपदनेककार्योत्पत्तिर्न स्यात्। अनेकत्वेपि अनेकशक्तिमात्मन्यर्थोऽनेकशक्तिभिर्बिभृयादित्यनवस्थाप्रसङ्ग इति।

अत्र प्रतिविधीयते। किं ग्राहकप्रमाणाभावाच्छक्तेरभावः, अतीन्द्रियत्वाद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तिजनितानुमानस्यैव तद्ग्राहकत्वात्। ननु सामग्र्यधीनोत्पत्ति-

---

उत्पन्न हो जाता है, मतलब-शक्ति रहित जो शक्तिमान अग्नि आदि पदार्थ हैं उनसे जैसे दाहादिरूप उपकारक कार्य होते हैं वैसे ही शक्तिमान भी पहली शक्ति से रहित हुआ ही शक्ति का उपकार रूप कार्य कर लेगा। इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान में भेद मानो चाहे अभेद मानो, दोनों पक्ष में विरोध अनवस्था आदि दोष आते हैं। उस शक्ति के विषय में और भी अनेक प्रश्न उठते है, जैसे कि वह शक्ति एक है कि अनेक यदि एक है तो उससे एक साथ जो अनेक कार्य उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, वे नही होना चाहिये, परन्तु एक ही दीपक एक ही समय में अंधकार विनाश पदार्थ प्रकाश वर्तिकादाह और तैल शोषण आदि अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं। यदि शक्तियां अनेक माने तो भी ठीक नहीं क्योंकि अनेक शक्तियों को जब शक्तिमान् अपने में धारण करेगा तब वहां पर भी यही प्रश्न होगा कि वह शक्तिमान् पदार्थ अनेक शक्तियों को एक शक्ति द्वारा धारण करता है या अनेक शक्ति द्वारा धारण करता है ? यदि वह अनेक शक्तियों द्वारा उन्हें धारण करता है तो अनवस्था आती है अर्थात् शक्तिमान् पदार्थ अनेक शक्तियों को एक ही शक्ति से अपने में धारता है तो ऐसी स्थिति में वे सब शक्तियां एक हो जायेगी, इत्यादि रूप से अनवस्था होगी इसलिये हम नैयायिक अतीन्द्रिय शक्ति को नहीं मानते हैं। अतः वस्तु का जो दिखायी देने वाला स्वरूप है वही सब कुछ है।

जैन—आप नैयायिक शक्ति का अभाव मानते हो सो उसका ग्राहक प्रमाण नहीं है इसलिये या वह अतीन्द्रिय है इसलिये ? ग्राहक प्रमाणका अभाव होनेसे शक्ति को नहीं मानते ऐसा प्रथमपक्ष कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि उसका ग्राहक प्रमाण मौजूद है जो इस प्रकार से है—अतीन्द्रिय शक्ति है क्योंकि उसके कार्य की अन्यथानुपपत्ति है

कत्वात्कार्याणां कथ तदन्यथानुपपत्तिर्यतोऽनुमानात्तत्सिद्धिः स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्; यतो नास्माभिः सामग्र्याः कार्यकारित्व प्रतिषिध्यते, किन्तु प्रतिनियतायास्तस्याः प्रतिनियतकार्यकारित्वम् अतीन्द्रियशक्तिसद्भावमन्तरेणासम्भाव्यमित्यसावप्यभ्युपगन्तव्या। कथमन्यथा प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिसन्निधानेप्यग्निः स्फोटादिकार्यं न कुर्यात् सामग्र्यास्तत्रापि सद्भावात्? तेन ह्यग्नेः स्वरूपं प्रतिहन्यते, सहकारिणो वा? न तावदाद्यः पक्षः क्षेमङ्करः; अग्निस्वरूपस्य तदवस्थतयाध्यक्षेणैवाध्यवसायात्। नापि द्वितीयः; सहकारिस्वरूपस्याप्यगुल्यग्निसंयोगलक्षणस्याविकलतयोपलक्षणात्। अतः शक्तेरेवानेन प्रतिबन्धोभ्युपगन्तव्यः।

अर्थात् यदि शक्ति न होती तो उसके द्वारा जो कार्य होते हैं वे नहीं होते, इस अनुमान प्रमाण से शक्ति का ग्रहण होता है।

शंका—कार्यों की उत्पत्ति तो सामग्री से होती है, फिर वह अन्यथानुपपत्ति कौनसी है कि जिससे शक्ति की अनुमान के द्वारा सिद्धि की जा सके? मतलब यह है कि कार्य तो सामग्री से होता है शक्ति से नहीं?

समाधान—यह कथन अयुक्त है हम जैन सामग्री से कार्य होने का निषेध नहीं करते हैं किन्तु प्रतिनियत निश्चित किसी एक सामग्री से प्रतिनियत निश्चित कोई एक कार्य होता हुआ देखकर अतीन्द्रिय शक्ति का सद्भाव हुए बिना ऐसा हो नहीं सकता, इस प्रकार अतीन्द्रिय शक्ति की सिद्धि करते हैं। सभी को ऐसा ही मानना चाहिये। यदि ऐसा न माना जाय तो बताइये कि प्रतिबंधक मणि, मंत्र आदि के सन्निधान होने पर अग्नि अपने स्फोट आदि कार्य को क्यों नहीं करती? सामग्री तो सारी की सारी मौजूद है? प्रतिबंधक मणि आदि के द्वारा अग्नि का स्वरूप नष्ट किया जाता है अथवा सहकारी कारणों का विनाश किया जाता है? अग्नि का स्वरूप नष्ट किया जाता है, ऐसा कहना तो कल्याणकारी नहीं होगा, क्योंकि अग्नि का स्वरूप तो प्रत्यक्ष से वैसा का वैसा दिखायी ही दे रहा है। दूसरा पक्ष—अग्नि के सहकारी कारणों का प्रतिबंधक मणि आदि के द्वारा नाश किया जाता है ऐसा कहना भी गलत है, सहकारी अर्थात् अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला अंगुली और अग्नि का संयोग अर्थात् दियासलाई का अंगुली से पकड़कर जलाना अथवा अन्य किसी पंखा आदि साधन से ईन्धन को प्रज्वलित करना आदि सभी सहकारी कारण वहां जलती हुई अग्नि के समय दिखायी दे रहे हैं तब कैसे कह सकते हैं कि प्रतिबंधक मणि आदि ने सहकारी

ननु चानेन नाग्नेः सहकारिणो वा स्वरूपं प्रतिहन्यते, किन्तु स्वभाव एव निवर्त्यते, अतः स्फोटादिकार्यस्यानुत्पत्तिः प्रतिबन्धकमणिमन्त्राद्यभावस्यापि तदुत्पत्तौ सहकारित्वात् तदभावे तदनुत्पत्तेः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; उत्तम्भकमणिसन्निधाने कार्यस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न खलु तदा प्रतिबन्धकमण्याद्यभावोस्ति प्रत्यक्षविरोधात्। ननु यथाग्निः प्रतिबन्धकमण्याद्यभावसहकारी स्फोटादिकार्यं करोति, एवं प्रतिबन्धकमण्यादिः उत्तम्भकमण्याद्यभावसहकारी तत्प्रतिबन्ध करोति, अतो न

का नाश किया है। इसलिये ऐसा ही मानना चाहिये कि प्रतिबंधक मणि मंत्रादि के द्वारा अग्नि की शक्ति ही नष्ट की गयी है।

नैयायिक—प्रतिबंधक मणि आदि के द्वारा न तो अग्नि का स्वरूप ही नष्ट किया जाता है और न सहकारी स्वरूप का नाश किया जाता है, किन्तु अग्निका जो स्वभाव है वही उस समय हटा दिया जाता है, इसी कारण से उस अग्नि से स्फोट आदि कार्य नहीं हो पाते तथा प्रतिबंधक मणिमंत्र आदि का जो अभाव है वह भी स्फोट आदि के उत्पत्ति में सहकारी बन जाता है क्योंकि प्रतिबंधक के अभाव हुए बिना स्फोटादि कार्य उत्पन्न नही हो पाते हैं?

जैन—यह कथन बिना सोचे किया है क्योंकि प्रतिबंधक के अभाव से सहकृत हुई अग्नि अपना स्फोटादि कार्य करती है ऐसा यदि माना जावे तो उत्तंभक मणि के सन्निधान में अग्नि के कार्य रूप जो स्फोट आदि होते हैं वे नहीं हो सकेंगे। क्योंकि उस समय प्रतिबंधक मणि आदिका अभाव नहीं है, यदि माने तो प्रत्यक्ष विरोध आता है।

शंका—जिस प्रकार अग्नि प्रतिबंधक मणि आदि के अभाव से सहकृत होकर अपना स्फोट आदि कार्य को करती है, उसी प्रकार प्रतिबंधक मणि आदि भी उत्तंभक मणि के अभाव से सहकृत होकर हो स्फोट आदि कार्य के प्रतिबंधक होते हैं, [स्फोटादि को नहीं होने देना रूप कार्यको करते हैं] अतः उस उत्तंभक मणिके सन्निधान में कार्य की अनुत्पत्ति नहीं रहती [अर्थात् कार्य की उत्पत्ति होती है]।

समाधान—अच्छा जैसा तुम कहते हो वैसा ही सही किन्तु यह तो कहो कि प्रतिबंधक और उत्तंभक मणि मंत्रादि के अभाव में अग्नि अपना कार्य करती है कि नहीं करती? यदि उत्तर विकल्प कहा कि नहीं करती है तो ऐसे कहने में प्रत्यक्ष से विरोध आता है अर्थात् कोई मणि मंत्र नहीं है तो भी अग्नि अपना कार्य करती ही है।

तत्सन्निधाने कार्यस्यानुत्पत्तिरिति । अस्तु नामैतत्; तथापि-प्रतिबन्धकोत्तम्भकमणिमन्त्रयोरभावेऽग्निः स्वकार्यं करोति, न वा ? न तावदुत्तरः पक्षः; प्रत्यक्षविरोधात् । प्रथमपक्षे तु कस्याभावः अग्नेः सहकारी-तयोरन्यतरस्य, उभयस्य वा ? न तावदुभयस्य; अन्यतराभावे कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । अन्यतरस्य चेत्किं प्रतिबन्धकस्य, उत्तम्भकस्य वा ? प्रतिबन्धकस्य चेत्; स एवोत्तम्भकमण्यादिसन्निधाने कार्यानुत्पादप्रसङ्गः तदा तस्याभावाप्रसिद्धेः । उत्तम्भकस्य चेत्; अत्राप्ययमेव दोषः । न चाभावस्य

प्रथम विकल्प-प्रतिबंध और उत्तंभक के अभाव में अग्नि अपना कार्य करती है ऐसा कहो तो हम पूछते हैं कि इनमें से किसका अभाव अग्निका सहकारी बना उन दोनोंमें से किसी एक का या दोनोंका ? यदि दोनोंका अभाव अग्निका सहकारी है ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि दोनों के अभाव जब नहीं है केवल एक का ही अभाव है तब अग्नि का कार्य रुक जाने का प्रसंग प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा होता नहीं । यदि दोनों अभावों में से कोई एक अभाव अग्निका सहकारी है ऐसा पक्ष ग्रहण किया जाय तो प्रश्न होगा कि दोनों में से किसका अभाव कारण है, प्रतिबधक का अभाव कि उत्तंभक का अभाव ? प्रतिबंधकका अभाव अग्निका सहकारी है ऐसा माने तो वही पहले का दोष आयेगा कि उत्तंभक मणि आदि के सद्भाव में अग्नि कार्य उत्पन्न नही होगा ? क्योंकि उस समय प्रतिबंधक के अभाव की असिद्धि है । उत्तंभक का अभाव अग्निका सहकारी है ऐसा कहो तो गलत होगा, फिर तो उत्तंभक की मौजूदगी में जो अग्नि कार्य दिखायी देता है वह नहीं दिखायी देगा । आपके यहां अभाव कार्यका सहकारी बन भी नहीं सकता, क्योंकि वह सर्वथा अभावरूप है, यदि कार्यकारी है तो अवश्य ही वह भावरूप हो जावेगा, भावका अर्थात् पदार्थ का लक्षण तो यही है कि अर्थक्रिया को करना, कार्य को करना और कोई भाव का लक्षण नही होता है ।

भावार्थ—नैयायिक अतीन्द्रिय शक्ति को नहीं मानते हैं, आचार्य उनको समझा रहे हैं कि प्रत्येकपदार्थ में जो कार्य की क्षमता रहती है वह दृष्टिगोचर नहीं होती है, वस्तुका स्वरूप मात्र शक्ति नहीं है और वह स्वरूप भी पूरा प्रत्यक्ष गोचर नहीं हुआ करता, वस्तुका स्वरूप ही कार्य करता हो तो अग्नि जल रही है उस वक्त किसी मांत्रिक ने अग्नि स्तंभक मंत्र से अग्नि की दाह शक्तिको रोक दिया तब वह अग्नि पहले के समान प्रज्वलित [धधकती] हुई भी जलाती नहीं सो वहां अग्निका कुछ बिगड़ता नहीं, तो कौन सी बात है जो जलाती नहीं । अतः सिद्ध होता है कि अग्निके बाहरी स्वरूप से पृथक् ही एक शक्ति है । उत्तंभक मणि मन्त्र और प्रतिबंधक मणि

कार्यकारित्वं घटते भावरूपतानुषङ्गात्, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात्परमार्थसतो लक्षणान्तराभावात्।

कश्चास्याभावः कार्योत्पत्तौ सहकारी स्यात्-किमितरेतराभावः, प्रागभावो वा स्यात्, प्रध्वंसो वा, अभावमात्रं वा? न तावदितरेतराभावः; प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिसन्निधानेप्यस्य सम्भवात्। नापि प्रागभावः; तत्प्रध्वंसोत्तरकाल कार्योत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्। नापि प्रध्वसः प्रतिबन्धकमण्यादिप्रागभावावस्थायां कार्यस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च भावादर्थान्तरस्याभावस्य सद्भावोस्ति, तस्यानन्तरमेव

मंत्र क्रमशः अग्निकी शक्ति को प्रकट करनेवाले और रोकनेवाले होते हैं। इन मणि आदि का अभाव अर्थात् प्रतिबंधक मणि आदिका अभाव मात्र अग्नि का सहकारी नहीं है। प्रतिबंधक का अभाव नहीं हो तो भी अग्निका कार्य देखा जाता है। नैयायिक अभावको तुच्छाभावरूप मानते हैं अतः प्रतिबंधक का अभाव अग्निका सहकारी है ऐसा वे कह भी नहीं सकते, यदि कहते हैं तो अभाव को जैनके समान भावरूप [पदार्थ रूप] माननेका प्रसंग आवेगा। जो अर्थक्रिया को करता है वही वास्तविक भाव या पदार्थ होता है। इस प्रकार अग्निकी शक्ति अतीन्द्रिय है यह उपर्युक्त प्रतिबंधक मणि आदि के उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है।। आप नैयायिक से हम जैनका प्रश्न है कि प्रतिबंधकका अभाव कार्यकी उत्पत्ति में सहकारी माना गया है, वह कौनसा अभाव है, इतरेतराभाव, प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अथवा अभाव सामान्य? इतरेतराभाव सहकारी है ऐसा कहना शक्य नही, क्योंकि इतरेतराभाव [एक का दूसरे में अभाव जो होता है वह] रहने मात्रसे कोई कार्य में सहायता नहीं पहुंचती, ऐसा अभाव तो प्रतिबंधक मणि मंत्र आदि के सन्निधानमें भी होता है किन्तु कार्य तो नहीं होता अर्थात् प्रतिबंधक में उत्तंभक का अभाव है वह इतरेतराभाव है वह जब प्रतिबंधक रखा है और उत्तंभक नहीं है ऐसे स्थान पर अग्नि का सहकारी जो इतरेतराभाव बताया गया है वह तो है, किन्तु कार्य स्फोट आदि होते नहीं। इसलिये इतरेतराभाव सहकारी नहीं होता। प्रागभाव भी सहकारी होता नहीं, यदि प्रागभाव सहकारी होगा तो जब प्रागभाव का नाश होता है तब कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सहकारी कारण नष्ट हो गया है। प्रध्वंसाभाव भी सहकारी बनता नहीं, प्रध्वंसाभाव जब नही है ऐसे प्रतिबंधकमणि आदि की जो प्रागभाव अवस्था होती है उस समय कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा, मतलब प्रतिबंधक मणि आदि अभी हुए ही नहीं हैं ऐसे प्रागभाव अवस्था में अग्निकार्य चलता है वह नही होवेगा? क्योंकि प्रध्वंसाभाव होवे तब कार्य करे। सो ऐसा है नहीं तथा

निराकरिष्यमाणत्वात् । अतो निराकृतमेतत्–'यस्यान्वयव्यतिरेकौ कार्येणानुक्रियेते सोऽभावस्तत्र सहकारी सहकारिणामनियमात्' इति ।

कथ चैवंवादिनो मन्त्रादिना कञ्चित्प्रति प्रतिबद्धोऽप्यग्नि: स एवान्यस्य स्फोटादिकार्यं कुर्यात् ? प्रतिबन्धकाभावस्य सहकारिण: कस्यचिदप्यभावात् । न चास्मत्पक्षेऽप्येतच्चोद्यं समानम्, वस्तुनोऽनेकशक्त्यात्मकत्वात्कस्याश्चित्केनचित्कञ्चित् [प्रति] प्रतिबन्धेऽप्यन्यस्याः प्रतिबन्धाभावात् । नाप्यभाव-

---

भावपने को छोड़कर पृथक् अभाव होता नहीं । भाव से सर्वथा पृथक् ऐसा अभावका [तुच्छाभावका] हम आगे खण्डन करनेवाले हैं इसलिये आपका निम्नलिखित कथन निराकृत हुआ कि जिसका अन्वयव्यतिरेक कार्य का अनुकरण करता है वह अभाव उस कार्य में सहकारी होता है । हम जैनका तो यह कहना है कि सहकारी कारणों में यह नियम नहीं कि वे भावरूप ही हों या अभावरूप ही हों, सहकारी कारण तो दोनों रूप हो सकते हैं । नैयायिकने अभाव को सहकारी कारण माना है अर्थात् अग्नि के स्फोट आदि कार्य होने में प्रतिबंधक मणि आदि का अभाव सहकारी कारण है ऐसा जो कहा है वह ठीक नही, देखो ! अग्नि की शक्ति को किसी व्यक्ति विशेष के प्रति जब मंत्रादि से स्तंभित कर दिया जाता है तो उस पुरुष को तो जलाती नहीं किन्तु वही अग्नि उसी समय अन्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो स्फोट जलाना आदि कार्य करती है सो वह किस प्रकार बन सकता है ? क्योंकि सहकारी कारण जो "प्रतिबंधक का अभाव" है वह (प्रागभावादि) नहीं है । [उल्टे वहां तो प्रतिबंधक का सद्भाव है] इसलिये सिद्ध होता है कि प्रतिबंधक का अभाव अग्नि का सहकारी नहीं है । कोई कहे कि जैन के पक्ष में भी यही दोष आते हैं, प्रश्न होते हैं, कि अग्नि की शक्ति को प्रतिबंधक मणि आदि रोकते हैं तो वे सबके प्रति ही क्यों नही रोकते ? इत्यादि सो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि हम जैन तो अग्नि आदि वस्तुओं को अनेक शक्ति वाले मानते हैं, उन अनेक शक्ति में से किसी एक शक्ति को प्रतिबंधक मणि आदि के द्वारा किसी पुरुष विशेष के प्रति रोक दिया जाय तो भी अन्य शक्ति तो रुकती नहीं, अतः अन्य किसी पुरुष आदि के प्रति स्फोट आदि कार्य होते रहते हैं । कार्य की उत्पत्ति में सामान्य से अभावमात्र सहकारी होता है इस पक्ष पर अब विचार किया जाता है । वस्तु से अर्थान्तरभूत (सर्वथा पृथक्) ऐसे अभावका जब खण्डन हो चुका है तब उसमें रहने वाला सामान्य अभाव (अभावमात्र) भी खंडित हो चुका समझना चाहिये तथा नैयायिक के मतानुसार अभाव में समान्य रहता ही नहीं, वह तो द्रव्य गुण कर्म इन

मात्रं सहकारि; वस्तुनोर्यान्तरस्याभावस्याभावे तद्गतसामान्यस्याप्यसम्भवात्। न चाभावस्य सामान्यं सम्भवति, द्रव्यगुणकर्मान्यतमरूपतानुषङ्गात्। ततः प्रतिबन्धकमण्यादिप्रतिहतशक्तिर्वह्निः स्फोटादिकार्यस्यानुत्पादकस्तद्विपरीतस्तूत्पादक इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

ततो निराकृतमेतत् 'कार्यं स्वोत्पत्तौ प्रतिबंधकाभावोपकृतोभयवाद्यविवादास्पदकारकव्यतिरिक्तानपेक्षम्, तन्मात्रादुत्पत्तावनुपपद्यमानबाधकत्वात्, यत्तु यतो व्यतिरिक्तमपेक्षते न तत्तन्मात्रजत्वे-

---

तीनों में रहता है यदि अभाव में सामान्य है तो उसे द्रव्यादिमें से किसी एक रूप मानना पड़ेगा अर्थात् अभाव द्रव्य गुण या कर्म रूप कहलायेगा ? अतः जिस अग्नि की शक्ति प्रतिबंधक मणि आदि के द्वारा प्रतिहत (नष्ट) हुई है वह अग्नि स्फोट दाह आदि कार्य को नहीं करती और जो इससे विपरीत अग्नि है वह स्फोटादि कार्यको करती है ऐसा निर्दोष सिद्धांत स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में कार्यों को उत्पन्न करने के संबंधमें अनेक २ शक्तियां हुआ करती हैं ऐसा सिद्ध होता है इसलिये निम्नलिखित अनुमान प्रयोग गलत ठहरता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति में जो कारण प्रतिबन्धकके अभावसे उपकृत है एवं वादी प्रतिवादी द्वारा अविवादरूपसे स्वीकृत है ऐसे कारण को छोडकर अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं रखता है, (पक्ष) क्योंकि उतने कारण मात्रसे उसकी उत्पत्ति माननेमें कोई बाधा नहीं आती। [हेतु] जो कार्य उतने कारण से अतिरित्त अन्य कारणकी अपेक्षा रखता है तो फिर उसकी निष्पत्ति उतने कारणसे होती भी नहीं उसको उतने कारण मात्रसे मानेंगे तो बाधा आयेगी, जैसे वस्त्रको तन्तु मात्र कारणसे उत्पन्न होना माने तो बाधा आती है, किन्तु यह विवक्षित स्फोट आदि जो कार्य है वह वस्त्र कार्यके समान नहीं है अतः उसमें पूर्वोक्त कारणके अतिरिक्त अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं हुआ करती अब यहां यह उपर्युक्त अनुमान क्यों गलत है इस बातका स्पष्टीकरण करते हैं—

इस अनुमान में हेतु असिद्ध है क्योंकि स्फोट आदि जो अग्निका कार्य परवादी के है वह मात्र प्रतिबंधक के अभाव से नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेमें पहले के कथनानुसार अनेक बाधायें उपस्थित होती हैं। आप नैयायिक ने कहा था कि वस्तु का स्वरूप ही कार्यमें सहकारी है और कोई शक्ति आदि नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति ही नहीं आती इत्यादि, सो ऐसा मानने पर माला स्त्री आदि प्रत्यक्ष से उपलब्ध हुए कारण कलाप को छोड़कर अन्य अदृष्टकी (पुण्य की) प्रतीति नहीं होती अतः उसका

ऽनुपपद्यमानबाधकम् यथा तन्तुमात्रापेक्षया पटः, न च तथेदम्, तस्माद्यथोक्तसाध्यम्' इति; हेतोरसिद्धेः; तन्मात्रादुत्पत्तौ कार्यस्य प्रागुक्तन्यायेनानेकबाधकोपपत्तेः।

स्वरूपसहकारिव्यतिरेकेण शक्तेः प्रतीत्यभावादसत्त्वे वा स्रग्वनितादिदृष्टकारणकलापव्यतिरेकेणादृष्टस्याप्यप्रतीतितोऽसत्त्वं स्यात्, तथा चासाधारणनिमित्तकारणाय दत्तो जलाञ्जलिः। कथं चैवंवादिनो जगतो महेश्वरनिमित्तत्वं सिध्येत्? विचित्रक्षित्यादिदृष्टकारणकलापादेवांकुरादिविचित्र-

---

भी असत्व मानना होगा ? फिर तो आपने इस प्रकार की मान्यता से असाधारण [विशेष] कारणको जलांजलि दी है ऐसा समझना होगा। किंच–यदि आप स्वरूप मात्रको कार्य का उत्पादक मानते हैं तो जगत सृष्टि का कारण ईश्वर है ऐसा आप किस प्रकार से सिद्ध कर सकते हैं ? क्योंकि विचित्र पृथिवी आदि जो कि प्रत्यक्ष से दिखाई दे रहे है उन्हीं कारण कलापों से विचित्र अनेक प्रकार के अंकुर आदि कार्य उत्पन्न होते हुए प्रतीति में आते हैं, फिर उन पृथिवी पर्वत वृक्ष आदि का कर्त्ता एक ईश्वर है ऐसी कल्पना आप सृष्टि कर्त्तावादी क्यों करते हैं ? यदि कहा जाय कि अनुमान से पृथिवी आदि का कारण जो ईश्वर है उसको सिद्ध करते हैं तो यही बात शक्ति में भी घटित कर लेनी चाहिये, देखो–जो कार्य होता है वह असाधारण धर्मवाले कारण (शक्ति) से ही होता है, (साध्य) मात्र सहकारी या इतर कारण से नही होता, जैसे सुख, अकुर आदि में असाधारण कारण [अदृष्ट–पुण्य ईश्वर आदि माने हैं, इन कारणों से सुखादिक होते हैं, मात्र स्त्री या पृथिवी आदि सहकारी कारणों से सुखादिक नहीं होते हैं। ऐसा आप स्वीकार करते हैं–इसी तरह स्फोट आदि समस्त उत्पन्न होते हुए वस्तुभूत कार्य हैं, अतः वे भी असाधारण धर्मवाले कारण से ही उत्पन्न होते हैं। इसतरह यहां तक ग्राहक प्रमाण का अभाव होनेसे शक्ति को नहीं मानते है, इस पर पक्ष का निरसन किया और यह सिद्ध करके बताया कि अनुमान प्रमाण शक्ति का सद्भाव सिद्ध करता है।

भावार्थ—नैयायिक ने शक्ति को नहीं माना है, प्रत्येक कार्य कारणके स्वरूप से और सहकारी मात्र से उत्पन्न होता है, कोई अदृष्ट-अतीन्द्रिय कारण की जरूरत नही होती ऐसा उन्होंने माना है, किन्तु यह मान्यता लौकिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से असत् है, लोक व्यवहारमें अनेक मनुष्य समानरूप से पुष्ट और निरोग भी रहते है किन्तु कार्यभार वहन करने की क्षमता उनमें अलग अलग हुआ करती है, उससे सिद्ध

कार्योत्पत्तिप्रतीतेः। अनुमानात्तस्य तन्निमित्तत्वसाधने शक्तेरप्यत एव सिद्धिरस्तु। तथाहि–यत्कार्यम् तदसाधारणधर्माध्यासितादेव कारणादाविर्भवति सहकारीतरकारणमात्राद्वा न भवति यथा सुखांकुरादि, कार्यं चेदं निखिलमाविर्भाववद्वस्त्विति। एतेनैवातीन्द्रियत्वात्तदभावोऽपास्तः।

यदप्युक्तम्–'पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिकमेव निजा शक्तिः' इत्यादि; तदप्यपेशलम्; मृत्पिण्डादिभ्योपि पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् सहकारीतरशक्तेस्तत्राप्यविशेषात्। अथ न पृथिवीत्वादिमात्रो-

---

होता है कि शरीर की पुष्टता या निरोगता मात्र कार्य के संपादन करने में निमित्त नहीं है और भी अदृष्ट अतीन्द्रिय वीर्यान्तराय का क्षयोपशम आदि रूप कोई शक्ति है जिसके निमित्त से बाह्य में समानता होते हुए भी कार्य करने में अपनी अपनी क्षमता पृथक् पृथक् होती है। यदि बाह्य में स्त्री माला, चंदन आदि पदार्थ ही सुख के कारण हैं तो उन्हीं नैयायिकों द्वारा माना हुआ अदृष्ट नामा पदार्थ असिद्ध हो जाता है। इसलिये सुखादि कार्योंमें तथा पृथिवी अंकुर आदि कार्यों में जैसे अतीन्द्रिय तथा असाधारण कारण पुण्य तथा ईश्वर है उसी प्रकार अग्नि आदि में अतीन्द्रिय शक्ति है, उसके द्वारा जलाना आदि कार्य होते हैं ऐसा सिद्ध हुआ। अब शक्ति अतीन्द्रिय होनेसे असत् है क्या ऐसा दूसरा विकल्प जो पूछा था उसके विषयमें आचार्य एक ही वाक्य में जबाब देते हैं कि जैसे ग्राहकप्रमाण का अभाव होने से शक्ति का अभाव है, यह पक्ष खण्डित हुआ है वैसे ही अतीन्द्रिय होनेसे शक्ति का अभाव है, ऐसा कहना खण्डित होता है। अतीन्द्रिय पदार्थ प्रत्येक मतवालों मे स्वीकार किये ही हैं, आप नैयायिक के यहाँ क्या ईश्वर अदृष्ट आदि अतीन्द्रिय नहीं हैं ? वैसे ही शक्ति अतीन्द्रिय है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये। नैयायिक ने कहा था कि पृथिवी आदि में जो पृथिवीत्व आदि हैं वही उसकी अपनी शक्ति है, अर्थात् पृथिवी में जो पृथिवीपना है, जलमें जो जलत्व है इत्यादि, सो वही पृथिवी आदि पदार्थोंकी निज की शक्ति है इत्यादि। सो यह कथन गलत है क्योंकि ऐसी मान्यता में मिट्टीके पिंड आदि से पट की उत्पत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि सहकारी एवं इतर [उपादानादि] कारणोंकी शक्ति वहां मिट्टी आदि में समान रूपसे मौजूद ही है, कोई विशेषता नहीं है।

शंका—मात्र पृथिवीत्व आदि से युक्त जो पदार्थ हैं, उनका वस्त्र आदि की उत्पत्ति में व्यापार नहीं होता है, जिससे अतिप्रसंग आवे, किन्तु वस्त्र की उत्पत्ति में

पलक्षितानामर्थानां पटाद्युत्पत्तौ व्यापारो येनातिप्रसङ्गः स्यात्, तन्तुत्वाद्यसाधारणनिजशक्त्युपलक्षितानामेव तत्र तेषां व्यापारात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; तन्तुत्वाद्युपलक्षितानां दग्धकुथिताद्यर्थानामपि तज्जनकत्वप्रसङ्गात्। अवस्थाविशेषसमन्वितानां तन्तूनां कार्यारम्भकत्वादयमदोषः; इत्यपि मनोरथमात्रम्, शक्तिविशेषमन्तरेणावस्थाविशेषस्यैवासम्भवात्, अन्यथा दग्धादिस्वभावानामपि तेषां स स्यात्।

यच्चोच्यते-शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि, तत्र किमय द्रव्यशक्तौ, पर्यायशक्तौ वा प्रश्नः स्यात्, भावानां द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात्? तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव अनादिनिधनस्वभावत्वाद्द्रव्यस्य। पर्याय-

---

तो तन्तुत्व आदि असाधारण निज शक्ति से युक्त जो पदार्थ है, उसीका व्यापार होता है, अर्थात् वस्त्रकी उत्पत्ति में पृथिवीत्वादि कारण नहीं होते हैं, किन्तु तन्तुत्व आदि असाधारण शक्तिसे युक्त तन्तु ही कारण होते है ?

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा असाधारण कारण मानने पर भी दोष आता है, यदि तन्तुत्व आदिसे युक्त तन्तु ही वस्त्र के असाधारण कारण हैं, तो जो तन्तु जले हैं, सड़ गये हैं, उनमें भी कार्य करने का प्रसग प्राप्त होता है, क्योंकि तन्तुत्व तो वहा पर भी है।

शंका—अवस्था विशेष से जो युक्त है, ऐसे ही तन्तु वस्त्र रूप कार्यको करते हैं, ऐसा हमने माना है, अतः कोई दोष नहीं है ?

समाधान—शक्ति विशेष को स्वीकार किये बिना अवस्थाविशेष की ही असंभावना है, क्योंकि शक्ति विशेष छोडकर और कोई अवस्था विशेष सिद्ध नहीं होता है। यदि शक्ति विशेष के बिना अवस्था विशेष होता है तो दग्ध–जले आदि अवस्थावाले तन्तु भी परोत्पत्ति में व्यापार करने लगेंगे। नैयायिक ने पूछा कि शक्ति नित्य है, कि अनित्य है इत्यादि ? सो यह प्रश्न द्रव्य शक्तिके विषय में है अथवा पर्यायशक्तिके विषय में है ? क्योंकि पदार्थ द्रव्य शक्ति और पर्याय शक्ति स्वरूप होते हैं। यदि द्रव्य शक्ति के विषय में नित्य अनित्य की चर्चा है तो उसका समाधान यह है कि द्रव्य शक्ति नित्य ही मानी गई है, क्योंकि द्रव्य अनादि निधन होता है। यदि पर्याय शक्तिके विषय में है, क्योंकि पर्यायें सादि सांत (आदि और अंत सहित) हुआ करती हैं। तथा यह बात भी अच्छी तरह से सुनिये कि शक्ति को नित्य मानने पर पदार्थ अपने कार्य को सहकारी कारणों की अपेक्षा लिये बिना ही करेंगे, सो बात नहीं

शक्तिस्त्वनित्यैव सादिपर्यवसानत्वात्पर्यायाणाम् । न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वानुषङ्गः; द्रव्यशक्तेः केवलायाः कार्यकारित्वानभ्युपगमात् । पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः । तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः सहकारिकारणापेक्षा-वैयर्थ्यं वा । कथमन्यथा अदृष्टेश्वरादेः केवलस्यैव सुखादिकार्योत्पादनसामर्थ्ये सर्वदा कार्योत्पादकत्वं सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा न स्यात् ?

है, क्योंकि हम जैन अकेली द्रव्य शक्ति कार्य को करती है ऐसा मानते ही नहीं हैं । देखिये ! पर्यायशक्ति युक्त जो द्रव्य शक्ति होती है, वही कार्य करती है । प्रतीति में भी आता है कि विशिष्ट पर्याय से युक्त जो द्रव्य है, वही कार्यको करता है, अन्य नहीं । द्रव्य की विशिष्ट पर्यायरूप से जो परिणति होती है, वह सहकारी की अपेक्षा लेकर ही होती है, अतः जब पर्याय शक्ति होती है, तब कार्य होता है, अन्यथा नहीं । इसलिये हमेशा कार्य उत्पन्न होने का प्रसंग नहीं आता और सहकारी कारणों की अपेक्षा भी व्यर्थ नहीं जाती, क्योंकि पर्याय शक्ति के लिये सहकारी की आवश्यकता है । यदि पर्यायशक्ति की आवश्यकता नही माने तो अदृष्ट, ईश्वरादि अकेले ही सुख, अंकुर आदि कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाने से सर्वदा कार्य होने का प्रसंग आता है, तथा उन ईश्वरादि की सहकारी कारणादि की अपेक्षा करना भी सिद्ध नहीं होता अतः पर्यायशक्ति युक्त पदार्थ है, ऐसा सिद्ध हो गया । तथा–आपने पूछा था कि शक्त [समर्थ] शक्तिमान से शक्ति उत्पन्न होती है, या अशक्त शक्तिमान से शक्ति उत्पन्न होती है, इत्यादि सो उन प्रश्नों का उत्तर तो यह है कि शक्त-शक्तिमान से ही शक्ति पैदा होती है, तथा ऐसा मानने पर यद्यपि अनवस्था आती है फिर भी ऐसी अनवस्था दोष के लिये नहीं होती क्योंकि यह शक्तिकी परंपरा तो बीजांकुर के समान अनादि प्रवाहरूप मानी गई है । इसी का विवेचन करते हैं । वर्तमान की शक्ति अपने पहले शक्ति युक्त पदार्थ से आविर्भूत होती है, और पदार्थ की शक्ति भी पहले के शक्ति युक्त पदार्थ से आविर्भूत होती है [प्रगट होती है] जैसे पूर्व पूर्व अवस्था युक्त पदार्थोंकी उत्तरोत्तर अवस्था उत्पन्न होती रहती है । नैयायिक यदि शक्तिका प्रादुर्भाव शक्तिमान से होता है, ऐसा मानने में अनवस्थादोषका उद्भावन करते हैं तो उनके यहां पर अदृष्टका [भाग्य का] आविर्भाव होना कैसे सुघटित होगा ? क्योंकि उस अदृष्ट के विषय में भी प्रश्न होंगे कि आत्मा के द्वारा अदृष्ट जो

यदप्यभिहितम् शक्तादशक्ताद्वा तस्याः प्रादुर्भाव इत्यादि; तत्र शक्तादेवास्याः प्रादुर्भावः। न चानवस्था दोषाय; बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य। वर्त्तमाना हि शक्तिः प्राक्तनशक्तियुक्तेनार्थेनाविर्भाव्यते, सापि प्राक्तनशक्तियुक्तेनेति पूर्वपूर्वावस्थायुक्तार्थानामुत्तरोत्तरावस्थाप्रादुर्भाववत्। कथं चैववादिनोऽदृष्टस्याप्याविर्भावो घटते ? तद्ध्यात्मना अदृष्टान्तरयुक्तेनाविर्भाव्यते, तद्रहितेन वा? प्रथमपक्षेऽनवस्था। द्वितीयपक्षे तु मुक्तात्मवत्तस्य तज्जनकत्वासम्भवः।

प्रकट किया जाता है, वह अन्य अदृष्ट से युक्त हुए आत्मा से प्रकट किया जाता है, या बिना अदृष्ट युक्त हुए आत्मा से प्रकट किया जाता है ? यदि अन्य अदृष्ट से युक्त होकर वह आत्मा अदृष्ट को उत्पन्न करता है, तो अनवस्था तैयार है। दूसरा पक्ष-आत्मा अन्य अदृष्ट से युक्त नहीं होते हुए ही अदृष्ट को उत्पन्न करता है, तो मुक्त जीवों की तरह संसारी जीव भी अदृष्ट को उत्पन्न नही कर सकेंगे ? तथा आप यदि शक्ति और शक्तिमान में परंपरारूप अनादिपना मानने में अनवस्था दोष देते हैं तो ईश्वर संपूर्ण कार्योंका कर्त्ता है, ऐसा कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि इस विषय में भी शक्ति और शक्तिमान् जैसे प्रश्न होंगे अर्थात् ईश्वर यदि अदृष्ट रूप सहकारी कारण से रहित होकर कार्य करता है तो संपूर्ण कार्य एक समय में उत्पन्न हो जाना चाहिये ? क्योंकि कार्यो के करनेमें उसे अन्य सहकारी कारणों की जरूरत तो है नहीं जिससे कि कार्य रुक जाय। इस दोष से बचने के लिए यदि अदृष्ट रूप सहकारी कारण युक्त होकर वह महेश्वर कार्यों का उत्पादक होता है, ऐसा माना जाये तो वे सहकारी कारण भी अन्य सहकारी कारणों से सहित होकर ही महेश्वर द्वारा किये जावेंगे। इस तरह ऊपर ऊपर सहकारी की अपेक्षा बढ़ती जाने से अनवस्था आयेगी।

पूर्व पूर्व अदृष्टरूप सहकारी कारणों से युक्त होकर आत्मा और महेश्वर उत्तर उत्तर अदृष्ट के सम्पूर्ण कार्य विशेष को करते हैं, ऐसा माने तो संपूर्ण पदार्थ भी पूर्व पूर्व शक्ति से समन्वित होकर ही आगे आगे की शक्ति को उत्पन्न करते हैं, ऐसा भी मान लेना चाहिये, व्यर्थके दुराग्रह से क्या लाभ ? आपने जो शंका करी थी कि शक्तिमान से शक्ति भिन्न है कि अभिन्न है। इत्यादि सो ऐसी शंका भी अयुक्त है, क्योंकि हम स्याद्वादियों ने शक्ति को शक्तिमान से कथंचित भिन्न भी माना है। शक्तिमान से शक्ति भिन्न है वह किस अपेक्षा से है, यही अब प्रगट करते हैं-शक्तिमान् से शक्ति भिन्न है, क्योंकि शक्तिमान के प्रत्यक्ष होनेपर भी शक्तिका प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर वह शक्ति कार्य की अन्यथानुपपत्ति से ही जानी जाती है। [यदि शक्ति नहीं

किञ्च, कथं वा महेश्वरस्याखिलकार्यकारित्वम् ? सहकारिरहितस्य तत्कारित्वे सकलकार्याणामेकदैवोत्पत्तिप्रसङ्गात् । तत्सहितस्य तत्कारित्वे तु तेपि सहकारिणोऽन्यसहकारिसहितेन कर्त्तव्या इत्यनवस्था । पूर्वपूर्वादृष्टसहकारिसमन्वितयोरात्मेश्वरयोः उत्तरोत्तरादृष्टाखिलकार्यकारित्वे निखिलभावानां पूर्वपूर्वशक्तिसमन्वितानामुत्तरोत्तरशक्त्युत्पादकत्वमस्तु, अलं मिथ्याभिनिवेशेन ।

यच्चान्यदुक्तम्–शक्तिः शक्तिमतो भिन्नाऽभिन्ना वेत्यादि; तदप्ययुक्तम्; तस्यास्तद्वतः कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । शक्तिमतो हि शक्तिर्भिन्ना तत्प्रत्यक्षत्वेप्यस्याः प्रत्यक्षत्वाभावात्, कार्यान्यथानुपपत्त्या तु प्रतीयमानासौ । तद्वतो विवेकेन प्रत्येतुमशक्यत्वादभिन्नेति । न चात्र विरोधाद्यवतारः; तदात्मकवस्तुनो जात्यन्तरत्वात् मेचकज्ञानवत्सामान्यविशेषवच्च ।

होती तो अमुक कार्य निष्पन्न नहीं होता, यही कार्यान्यथानुपपत्ति है] शक्तिमान पदार्थ से वह शक्ति अभिन्न इस अपेक्षा से है कि वह पृथकरूप से दिखाई नहीं देती है । इस प्रकार स्याद्वाद के अभेद्य किले से सुरक्षित यह शक्तिमान और शक्ति की व्यवस्था अखंडित रहती है, इसमें विरोध आदि दोषोंका प्रवेश तक भी नहीं हो पाता है, क्योंकि अपने गुणों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रूप मानी गई वस्तु पृथक ही जाति की होती है, अर्थात् वस्तु न सर्वथा भेदरूप ही है और न सर्वथा अभेद रूप ही है । वह तो मेचक ज्ञानके समान अथवा सामान्य विशेष के समान अन्य ही जाति की होती है । तथा नैयायिक ने कहा है कि एक शक्तिमान में एक ही शक्ति रहती है, या अनेक शक्तियां रहती है–इत्यादि, सो उस पर हम आपको बताते हैं कि पदार्थ में अनेक शक्तियां रहा करती हैं, देखो ! कारण अनेक शक्ति युक्त होते हैं, क्योंकि वे अनेक कार्यों को करते हैं, जैसे घटादि पदार्थ अनेक शक्तियुक्त होने से ही अनेक कार्यों को करते हैं । अथवा विचित्र–नाना प्रकार के कार्य जो होते हैं वे कारणों के विचित्र शक्ति भेद से ही होते है, क्योंकि वे विचित्र [अनेक] कार्य हैं, जैसे भिन्न भिन्न पदार्थोंके कार्य भिन्न भिन्न ही हुआ करते हैं । इसी विषय का और भी खुलासा करते हैं । कारणों में शक्ति भेद हुए विना कार्यों में नानापना हो नहीं सकता, जैसे रूप रस, गंधादि ज्ञानों में होता है, अर्थात् जिस प्रकार ककड़ी आदि पदार्थ में रूप आदि के ज्ञान होते हैं, वे ककड़ी के रूप रस आदि स्वभावों के भेद होने से ही होते हैं, ककड़ी में अलग अलग रूप रसादि स्वभाव न हो तो उनका अलग अलग ज्ञान कैसे होता ? क्षण स्थिति वाले एक ही दीपक आदि से भी बत्ती जलना, तैल समाप्त करना आदि अनेक कार्य उत्पन्न होते हैं, वे शक्तियों के भेद बिना कैसे होते ? यदि

यत्पुनरुक्तमेकानेका वेत्यादि, तत्रार्थानामनेकैव शक्तिः । तथाहि-अनेकशक्तियुक्तानि कारणानि विचित्रकार्यत्वान्नार्थवत् । विचित्रकार्याणि वा कारणशक्तिभेदनिमित्तकानि तत्त्वाद्विभिन्नार्थकार्यवत् । न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत्, यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मादपि प्रदीपादेर्भावाद् वर्त्तिकादाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि तच्छक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा रूपादेर्नानात्वं न स्यात् । चक्षुरादिसामग्रीभेदादेव हि तज्ज्ञानप्रतिभासभेदः स्यात्, कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादिस्वभावरहितमेकमनशमेव स्यात् । चक्षुरादिबुद्धौ प्रतिभासमानत्वाद्रूपादेः कथं कर्कटिकादिद्रव्यस्य

शक्ति भेद बिना होते तो उनमें रूप आदि का नानापना नहीं होता, फिर तो चक्षु आदि सामग्री के भेद मात्र से ही रूपादि ज्ञानों में भेद प्रतिभास होता है, प्रतिभासके आलंबनभूत ककड़ी आदि पदार्थ तो रूप आदि स्वभाव से दहित एक अनंश मात्र ही हैं ऐसा मानना होगा । कहने का अभिप्राय यह हुआ कि यदि कारणों में भेद हुए बिना कार्यों में भेद होना माना जाय तो ककड़ी आम अमरूद आदि पदार्थों में रूप रस, गन्ध वर्णादिका भेद तो है नहीं, सिर्फ चक्षु, रसना आदि इन्द्रियों के भिन्न भिन्न होनेसे रूप रसादि न्यारे न्यारे ज्ञान होते हैं, ऐसा गलत सिद्धान्त मानना पड़ेगा ।

शंका—चक्षु आदि से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानों में रूप आदि का तो प्रतिभास होता है, फिर ककड़ी आदि द्रव्यको उनसे रहित कैसे माना जाय ?

समाधान–तो फिर तैल शोष आदि अनेक कार्य अनुमान ज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं, अतः पदार्थों में नाना शक्तियां हैं भी यह प्रतीति में आता है, फिर पदार्थ नाना शक्तियों से रहित है ऐसा कैसे माना जा सकता है । अर्थात् नहीं माना जा सकता ।

शंका—चक्षु आदि इन्द्रियजन्य ज्ञानों में साक्षात् प्रतिभासित होनेवाले रूप रस आदि स्वभाव ही परमार्थ सत् है [वास्तविक है] अनुमान ज्ञानमें प्रतीत होनेवाली शक्तियां वास्तविक नहीं है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने से तो अदृष्ट ईश्वर आदि में अवास्तविकता का प्रसंग होगा ? क्योंकि ईश्वरादि भी साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञानमें प्रतीत नहीं होते, सिर्फ अनुमान से ही जाने जाते हैं ।

तद्रहितत्वमिति चेत् ? तर्हि तैलशोषादिविचित्रकार्यानुमानबुद्धौ शक्तिनानात्वस्याप्यर्थानां प्रतीतेः कथं तद्रहितत्वं स्यात् ? प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादय एव परमार्थसन्तो न त्वनुमानबुद्धौ प्रतिभास-

---

शंका—दीपक आदि एक ही द्रव्य में जो कार्य का नानापना है वह बत्ती आदि सहकारी सामग्री के नानापना के कारण है, अर्थात् प्रदीपादिक में दाहशोष आदि नाना कार्य होते हुए देखने में आते हैं, वे सहकारी नाना होनेसे देखने में आते हैं, न कि दीपक के शक्तियोंके स्वभाव भेदोंसे ?

समाधान—यह भी बिना सोचे कहना है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो रूप आदि स्वभावों का ही अभाव हो जायेगा, फिर तो ऐसा कहा जा सकता है कि ककड़ी आदि द्रव्यों में चक्षु आदि सामग्री के भेद होने से ही रूप आदि का पृथक-पृथक प्रतिभास होता है न कि निजीरूप रसादि स्वभावके कारण। इस प्रकार के बड़े भारी दोषों से छुटकारा पाने के लिये प्रमाण प्रतीत रूपादिकों के समान शक्तियों का अपलाप करना युक्ति युक्त नहीं है, अर्थात् जैसे रूप रस आदि अनेक स्वभाव वाला पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार कार्यों में अनेकपना दिखाई देने से उनके कारणों की शक्तियों में नानापना मानना चाहिये।

विशेषार्थ—इस शक्ति स्वरूप विचार नामक प्रकरण में पदार्थो की अतीन्द्रिय शक्ति की सिद्धि करते समय श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बहुत ही अकाट्य तर्क और उदाहरणों द्वारा नैयायिकादि परवादियों को समझाया है, जैन सिद्धांत में सम्मत शक्ति क्या है यह बहुत ही विशद रीति से टीकाकार ने उदाहरणों द्वारा समझाया है, अतीन्द्रिय शक्ति क्या है इसके लिये अग्नि का उदाहरण बहुत ही सुंदर और स्पष्ट है, बाहर में लाल पीला दिखायी देने वाला अग्नि का रूप मात्र ही स्फोट आदि कार्यों का करता है ऐसा जो नैयायिक का मत है वह जब विचार में आता है तो शतशः खण्डित हो जाता है। जब कोई मांत्रिक या अन्य पुरुष उस अग्नि की शक्ति को मंत्र या मणि आदि से कीलित करता है, रोक देता है तब वह अग्नि बाहर में वैसी की वैसी धधकती हुई भी स्फोट (सुरंग लगाकर पत्थर आदि को फोड़ना, तोप चलाना) दाह आदि कार्य को नहीं कर पाती है ? इसीसे सिद्ध होता है कि अग्नि का बाहरी स्वरूप मात्र जलाना आदि कार्यों को नहीं करता, किन्तु कोई एक उसमें ऐसी अलक्ष्य अतीन्द्रिय शक्ति है कि जिसके द्वारा ये कार्य सम्पन्न होते हैं। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ में

घटित किया जा सकता है, बाहर में पठन अभ्यास आदि समान होते हुए भी कोई विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होता है और कोई नहीं । गेहूं में गेहूं का ही अंकुर उत्पन्न होना मिट्टी से घड़ा ही बनना आदि आदि कार्य अपने अपने कारणों की अलग अलग शक्तियों के अनुमापक हो रहे हैं । 'शक्तिः क्रियानुमेया स्यात्'' शक्ति मात्र कार्य की अन्यथानुपपत्ति से जानी जाती है । इन अग्नि आदि संपूर्ण पदार्थों की शक्तियां नित्य भी हुआ करती है और अनित्य भी, द्रव्यशक्ति नित्य है और पर्याय शक्ति अनित्य है, द्रव्य पर्यायात्मक ही वस्तु होती है, द्रव्य अनादि निधन है, अतः उसकी शक्ति नित्य है, पर्याय सादि सांत है, अतः उसकी शक्ति अनित्य है, अकेली द्रव्य शक्ति से कार्य निष्पन्न नहीं होता, पर्याय शक्ति से युक्त जब द्रव्य शक्ति होती है तब कार्य होता है । इस कथन से सिद्ध होता है कि उपादान निमित्त से निरपेक्ष नहीं होता अनेक सहकारी निमित्त कारण कलाप से युक्त जब द्रव्य शक्ति या उपादान हो जाता है तब यह कार्य को करता है, यहां तक विवाद का कोई खास प्रसंग नहीं है, किन्तु पर्याय शक्ति में जो अनेक सहकारी निमित्त हैं वे सभी अपने आप मिलते हैं या स्वतः उपस्थित होते है ? यह प्रश्न है, जब साक्षात् बुद्धि पूर्वक अनेक सहकारी सामग्री को जुटाकर कार्य करते हैं तो कैसे कह सकते हैं कि सभी कारण कलाप स्वतः उपस्थित हो जाते हैं, सर्वथा सभी कारण अपने आप मिलते हैं और कार्य निष्पन्न हो जाता है । ऐसा सर्वथा एकान्त वाद प्रतीति का अपलाप करने वाला है, संसार में बहुत से कार्य बुद्धि पूर्वक होते हैं और बहुत से अबुद्धि पूर्वक । कार्यों में भी चेतन के कार्य और अचेतन के कार्य अन्तर्भूत हैं । अचेतन कार्य अपने कारण समूह से निष्पन्न होते हैं, उसमें किसी किसी में चेतन की प्रेरकता रहती है । दोनों चेतन अचेतन (जीव अजीव) के कार्य सर्वथा निमित्त के स्वयं हाजिर होने से नहीं होते, किन्तु उनमें बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करने से होने वाले कार्य भी हैं । यह तो निश्चित है कि उपादान के बिना अर्थात् द्रव्य शक्ति के बिना या पर्याय शक्ति के बिना कार्य नहीं होते हैं, किन्तु पर्याय शक्ति का जो सहकारी कारण कलाप है वह सर्वथा अपने आप उपस्थित नहीं होता । जो अनित्य है तो उसको कारण चाहिये और सभी कारण अपने आप नहीं जुड़ते, पुरुषार्थ का मतलब भी यही है कि पुरुष से जो होवे । सहकारी कारण भी यदि एक होता अर्थात् पर्यायशक्ति में जो सहकारी की अपेक्षा है वह यदि एक ही होता तब

वर्त्तिकादिसहकारिसामग्रीभेदात्तद्दाहादिकार्यनानात्वं न पुनस्तच्छक्तिस्वभावभेदात्; इत्यप्यविचारि-

तो कुछ अपने आप उपस्थित होने की बात भी कहते किन्तु पर्याय शक्ति के सहकारी कारण अनेक हैं। एक बात और विशेष लक्ष देने योग्य है कि द्रव्य में एक ही प्रकार की शक्ति नहीं है "तत्रार्थानामनेकैव शक्तिः" अर्थात् पदार्थोंमें अनेक प्रकार की शक्तियां हैं। पर्याय शक्ति को जैसे सहकारी कारण या निमित्त मिलता है वैसा ही कार्य प्रगट होता है। प्रवचनसार गाथा २५५ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

रागो पसत्थभूदो वत्थु विसेसेण फलादि विवरीदं।
णाणाभूमि गदाणिह बीजणिह सस्स कालम्हि ॥२५५॥

अर्थ—प्रशस्त राग या शुभोपयोग एक रूप होकर भी वस्तु विशेष के कारण (व्यक्ति-पुरुष विशेष के निमित्त से) विपरीत फल देनेवाला होता है। जैसे कि बीज समान होते हुए भी पृथक पृथक उपजाऊ शक्ति वाली भूमि के निमित्त से उन्हीं बीजों से पृथक पृथक ही फसल आती है। अर्थात् क्षेत्र में जितनी उपजाऊ शक्ति है, उतना ही अधिक धान्य की पैदास होगी। यह हुआ दृष्टान्त, दार्ष्टान्त प्रशस्त रागका है, सो वह भी उत्तम मध्यम जघन्य पात्र के कारण अर्थात् सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के कारण सही और विपरीत फल देनेवाला हो जाता है, सम्यग्दृष्टि के तो वर्तमान में विपुल पुण्य बंधका कारण और परंपरा से मोक्ष का कारण होता है, इससे विपरीत मिथ्यादृष्टि के मात्र पुण्यका कारण होता है, और परंपरा से संसार में रुलाता है। इस गाथा से सिद्ध होता है, कि बीज भूत उपादान में एक ही समय में अनेक शक्तियां विद्यमान हैं, जैसा निमित्त मिलेगा वैसी एक मात्र शक्ति प्रगट होगी, और शेष शक्तियां यों ही रहेगी। उपादान समान रूपसे होनेपर भी निमित्त पृथक पृथक होने से पृथक पृथक ही कार्य प्रगट होता है। यह सिद्धान्त उपर्युक्त गाथा कथित बीज और भूमिके उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, मेघ से पानी समान ही सर्वत्र बरसता है, किन्तु अलग अलग भूमि वृक्ष, नीम, आम, इक्षु आदि का निमित्त पाकर अलग अलग कडुआ या मीठे रूप परिणमन कर जाता है। उस मेघ जलमें एक साथ एक समय में कडुआ मीठा आदि अनेक रूप परिणमन करने की शक्तियां अवश्य ही थी, जिसके कारण यह कडुआ या मीठे आदि रूप परिणमन कर गया। उसमें यह कहना कि नीम के वृक्ष पर पड़े हुए जलमें मात्र कडुए रस रूप परिणमन की ही शक्ति

तरमणीयम्; रूपादेरप्यभावप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं कर्कटिकादिद्रव्ये चक्षुरादिसामग्रीभेदाद्रूपा-

थी, अन्य रूप नहीं थी सो यह कथन हास्यास्पद है। जब कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कह रहे कि एक ही प्रकार का बीज अनेक भूमिका निमित्त पाकर अनेक रूप परिणमन करता है, तब उपादान में एक प्रकार की ही परिणमन की शक्ति है, यह कहना कैसे सत्य हो सकता है अर्थात् नहीं। एक दुकानदार अपने दुकान पर बैठा है। उसके अन्दर हंसना, रोना, चिन्ता करना, उदास होना आदि सब प्रकार के भाव होने की योग्यता है, कोई भी एक हंसने रोने रूप पर्याय एक समय में प्रगट होगी, किन्तु निश्चित् एक यही होगी ऐसा नियम नही है, विदूषक आदि हंसी का दृश्य सामने से निकलेगा तो वह पुरुष हंसने लगेगा, करुणापूर्ण दीन दुःखी आदमी दिखेगा तो वह रो पड़ेगा, घर की कुछ बुरी खबर सुनेगा या पदार्थों के भाव घटने का समाचार सुनेगा तो चिन्ता करने लगेगा इत्यादि। अतः यह निश्चित होता है कि पर्याय शक्तिका प्रगट होना सहकारी के आधीन है। यदि पर्याय शक्ति का निश्चित रूपसे प्रगट होना है, अर्थात् निश्चित ही कार्य को करना है, तो चारों पुरुषार्थ व्यर्थ ठहरते हैं, हमारी आगामी व्यञ्जन पर्याय निश्चित् है तो हम किसलिये अच्छा या बुरा काम करेंगे? जैसा आगे होना होता है, वैसा अपने को होना ही पड़ता है। यह भंयकर नियतिवाद ईश्वरवाद से भी अधिक कष्टदायी है, ईश्वरवादके चक्कर से तो ईश्वर की उपासना कर छूट सकते हैं, किन्तु इस नियतिवाद–जैसा होना है वैसा ही होगा के चक्कर से किसी प्रकार भी छुटकारा नहीं, वह तो अथाह सागर की भंवर है। नियति के प्रवाह में घूमते हुए हम सर्वथा पुरुषार्थहीन, हाथ पैर, मुख मन, बुद्धि सबसे हीन हैं, सब हिलना, धोना, खाना, सोचना, नियति देवी के अधीन है, कोई किसी को कहता नहीं कि तुम यह काम करो। यह काम तुमने क्यों किया, बालकों ने बर्तन फोड़ दिया, विद्यार्थी ने अभ्यास नहीं किया, यहां तक किसी ने अमुक व्यक्ति को मार डाला, सब माफ है। क्योंकि उस समय उस पुरुष से वैसा हो होना था? मांस बेचने वाले पशु पक्षी को मारने वाले पापी हिंसक क्यों हैं? वे तो नियति के अनुसार जैसा होना था, उसीके अनुसार कार्य कर रहे हैं? कहां तक लिखें? कोई पुरुष को हाथ पैर बांधकर मुख में कपड़ा देकर अंधेरी कोठड़ी में बंद कर देने से भी अधिक भयंकर नियतिवाद–जैसी उपादान की योग्यता होती है–द्रव्य शक्ति होती है वैसा निमित्त-पर्यायशक्ति हाजिर होता है। इतनी पुरुषार्थ हीनता की बात उपादान की मुख्यताकी

दिप्रत्ययप्रतिभासभेदो, न पुना रूपाद्यनेकस्वभावभेदादिति । तन्न प्रमाणप्रतिपन्नत्वाद्रूपादिवच्छक्तीनामपलापो युक्त इति ।

ओट लेकर कोई वर्तमान के जैनाभासी करते हैं और ऊपरसे अपने को अनंत पुरुषार्थी अनंत पुरुषार्थ को करनेवाले—बतलाते हैं ? यह तो साक्षात् स्ववचनबाधित बात है ? जब उपादान के अनुसार निमित्त हाजिर होगा, और कार्य अपने आप होगा, तब हमने क्या किया ? अनंतपुरुषार्थ कौनसा हुआ ? इस उपादान निमित्त विषयक वास्तविक सिद्धांत पर श्री प्रभाचन्द्राचार्यने महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है । द्रव्यशक्ति, पर्यायशक्ति आदि का विवेचन उनकी अनेक मिथ्याधारणाओं को दूर करता है । वे अतीन्द्रिय शक्तियां अनेक हैं एवं पदार्थों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं । इसप्रकार शक्ति संबंधी वर्णन करके अंत में नैयायिक को भी अतीन्द्रिय शक्ति मानने के लिये बाध्य किया है ।।

*** शक्ति स्वरूपविचार समाप्त ***

शक्तिस्वरूपविचार का सारांश

नैयायिक—वस्तु का जो स्वरूप है वही सब कुछ है, वही कार्य करने में समर्थ है, अतः जैन आदि प्रतिवादी अतीन्द्रिय शक्ति को कार्य करने में कारण मानते हैं वह व्यर्थ है, अतीन्द्रिय शक्ति को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसका अतीन्द्रिय विषय ही नहीं है । अनुमान प्रमाण भी अविनाभावी लिंग से होगा और अतीन्द्रिय शक्ति के साथ हेतु का अविनाभाव संबंध है या नहीं वह कैसे जाने ? इसी तरह अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी शक्ति को ग्रहण नहीं करते हैं । प्रमाण के द्वारा ग्रहण न होने पर भी आपके कहने से उस

शक्ति को मान लेवे तो उसके विषय में पुन: प्रश्न होते हैं कि वह शक्ति नित्य है या अनित्य ? नित्य है तो पदार्थ सदा ही कार्य करते बैठेंगे ? यदि अनित्य है तो वह अनित्य शक्ति किससे उत्पन्न होगी ? शक्ति से शक्ति होगी या शक्तिमान से ? शक्तिमान से कहो तो अनवस्था आती है । अशक्त से शक्ति उत्पन्न हुई कहो तो जैसे अशक्त से शक्तिरूप कार्य उत्पन्न हुआ, वैसे सभी पदार्थ शक्ति रहित होकर ही कार्य करते हैं ऐसा क्यों नहीं मानते ? व्यर्थ ही शक्ति की जो कि नेत्रादि से दिखायी नहीं देती कल्पना करते बैठते हैं । तथा वह शक्ति एक है या अनेक ? एक है तो उस एक शक्ति को धारण करने वाला पदार्थ एक साथ अनेक तरह के कार्य नहीं कर सकेगा, तथा एक में अनेक शक्तियां मानो तो भी बहुत से प्रश्न खड़े होंगे कि वह एक पदार्थ अनेक शक्तियों को एक स्वभाव से धारण करता है या अनेक स्वभावों से ? एक स्वभाव से धारेगा तो वे सारी शक्तियां एकमेक हो जावेगी तथा अनेक स्वभावों से धारेगा तो वे अनेक स्वभाव किसी अन्य से धारण किये जायेंगे और इस तरह अनवस्था आयेगी । तथा शक्तिमानसे शक्ति भिन्न है या अभिन्न यह भी सिद्ध नहीं हो पाता अत: अतीन्द्रिय शक्तिकी कल्पना करना व्यर्थ है ?

जैन—यह प्रतिपादन अयुक्त है, अतीन्द्रिय शक्तिको सिद्ध करनेवाला अनुमान प्रमाण मौजूद है अत: कोई भी प्रमाण शक्तिका अस्तित्व सिद्ध नहीं करता ऐसा कहना असत्य है, उसी अनुमान प्रमाण को बनाते हैं—प्रतिनियत मिट्टी, सूत्र [धागे] आदि पदार्थोंमें प्रतिनियत ही कार्य करने की शक्ति हुआ करती है [पक्ष] क्योंकि उन मिट्टी आदि पदार्थों से प्रतिनियत घट आदि कार्य ही संपन्न होते हैं, (हेतु) उनसे हर कोई कार्य नहीं हो पाता । इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें अपने योग्य ही कार्य करने की क्षमता देखकर अलक्ष्य शक्तिका सद्भाव सिद्ध होता है । स्याद्वादी जैन ने इस शक्ति को शक्तिमान पदार्थसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न माना है, द्रव्यदृष्टिसे शक्तिमान से शक्ति अभिन्न है और पर्यायदृष्टिसे शक्तिमान से शक्ति भिन्न है, अर्थात् जगत में यावन्मात्र पदार्थ हैं वे द्रव्य पर्यायात्मक हैं । उनमें जो द्रव्यशक्ति है वह हमेशा रहती है और पर्याय शक्ति सहकारी सामग्रीसे उत्पन्न होती है, अत: अनित्य है । पर्याय शक्ति हमेशा मौजूद नहीं रहती इसलिये जब वह पर्याय शक्ति नहीं होती तब कार्य नहीं होता, इसप्रकार शक्ति कथंचित् नित्य (द्रव्यकी) और कथंचित् अनित्य (पर्यायकी) है । पदार्थमें शक्तियां अनेक हुआ करती हैं । अनेक शक्तियोंको धारण

करनेके लिये अनेक स्वभाव चाहिये इत्यादि प्रश्न एकांत पक्षको बाधित कर सकते हैं अनेकान्त पक्षको नहीं, क्योंकि शक्तिमान पदार्थ से शक्तियां अभिन्न स्वीकार की गयी है अतः अनेक शक्तियोंको एक ही पदार्थ भली प्रकारसे धार लेता है, देखा भी जाता है कि एक ही दीपक नाना पदार्थ एक साथ अनेकों कार्य करने की क्षमता रखता है– तेल शोष, दाह, प्रकाश इत्यादि कार्यों की एक साथ अन्यथानुपपत्ति (यदि शक्तियां अनेक नहीं होती तो ये तेल शोषादि अनेक कार्य नहीं हो सकते थे) से ही दीपक में अनेक शक्तियोंका सद्भाव सिद्ध होता है। दीपक की तरह अन्य सभी पदार्थों में घटित करना चाहिये।

शक्ति किससे पैदा होती है ? ऐसा परवादीके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है– शक्तिमानसे शक्ति पैदा होती है, शक्तिमान अपने पूर्व शक्ति से सशक्त होता है, इस तरह शक्तिसे सशक्त और पुनः उस सशक्त शक्तिमानसे शक्ति अनादि प्रवाहसे उत्पन्न होती रहती है, जैसे बीजसे अंकुर और पुनः अकुरसे बीज अनादि प्रवाहसे उत्पन्न होते रहते हैं। स्वयं परवादी के यहां भी इस प्रकार का अनादि प्रवाह माना है अदृष्ट से अदृष्टांतर अनादि प्रवाह से आत्मा में उत्पन्न होता रहता है ऐसा वे भी कहते हैं।

पदार्थोंमें अतीन्द्रिय शक्तिका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये अग्निका उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त होगा–किसी स्थान पर अग्नि जल रही है उस अग्निको प्रतिबंधक मणि मंत्र आदि से रोका जाता है तब वह पूर्ववत् जलती रहने पर भी स्फोट आदि कार्योंको नहीं कर पाती, उस समय उसका स्वभाव हटाया जाता है ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि जिस पदार्थ या व्यक्तिके प्रति स्तंभन किया गया है उसी को नहीं जलाती, अन्यको जलाती भी है, यदि बाहर में दिखायी देने वाला लाल स्वरूपसे धधकते रहना इत्यादि मात्र अग्निका स्वरूप माना जाय तो वह स्वरूप प्रतिबंधक मणि या मंत्र के सद्भाव में भी रहता है, किन्तु उस प्रतिबंधक के सद्भाव में स्फोट आदि कार्य तो नहीं होते सो ऐसा क्यों ? प्रतिबंधक मंत्र मणि आदिने किसको रोका है ? बाहरी स्वरूप तो ज्यों का त्यों है ? अतः कहना पड़ता है कि प्रतिबंधक मणि आदिने अग्निके अतीन्द्रिय शक्तिका स्तंभन किया है। इस अग्निके उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थका बाहरी स्वरूप ही सब कुछ नहीं है, अकेला बाह्य

स्वरूप कार्य करने में समर्थ नहीं है अपितु कोई अलक्ष्य, अतीन्द्रिय (इन्द्रियों द्वारा ग्रहण में नहीं आने वाला) स्वरूप शक्ति अवश्य है जिसकी सहायतासे पदार्थ कार्य करनेमें समर्थ हो जाया करते हैं। अलक्ष्य-अतीन्द्रिय होनेके कारण शक्तिको न माना जाय तो संसार में ऐसे बहुत से पदार्थ हैं कि जिनको पर वादियों ने भी अतीन्द्रिय माना है, अदृष्ट आत्मा, ईश्वर आदि पदार्थ अतीन्द्रिय हैं किन्तु उन्हें नैयायिकादि परवादी स्वीकार करते ही हैं, ठीक इसी प्रकार पदर्थोंकी अतीन्द्रिय शक्तिको भी स्वीकार करना चाहिये इसको स्वीकार करनेमें कोई बाधा नहीं आती, उलटे नही स्वीकार करनेमें ही अनेक बाधायें आती हैं। इत्यलं विस्तरेण।

* शक्तिस्वरूपविचार का सारांश समाप्त *

अर्थापत्तेः पुनर्विवेचनं

❋

यत्पुनरर्थापत्त्यर्थापत्तेरुदाहरणं वाचकसामर्थ्यान्नित्यत्वज्ञानमुक्तम्; तदप्ययुक्तम्; वाचकसामर्थ्यस्य तत्प्रत्यनन्यथाभवनासिद्धेः। निराकरिष्यते चाग्रे नित्यत्वं शब्दस्येत्यलमतिप्रसङ्गेन।

याप्यभावार्थापत्तिः-जीवंश्चैत्रोऽन्यत्रास्ति गृहेऽभावादिति; तत्रापि किं गृहे यत्तस्य जीवनं तदेव गृहे चैत्राभावस्य विशेषणम्, उतान्यत्र? प्रथमपक्षे तत्राभावस्य विशेष्यस्यासिद्धिः, यदा हि

जब आचार्य मीमांसकादि प्रवादी द्वारा मान्य अर्थापत्ति प्रमाणका अनुमान प्रमाणमें अन्तर्भाव कर रहे थे तब अतीन्द्रिय शक्ति के विषयमें चर्चा हुई, नैयायिक अतीन्द्रिय शक्तिको नहीं मानते अतः जैनाचार्यने उसको अनुमानादिप्रमाणद्वारा भली प्रकार सिद्ध किया। अब अर्थापत्ति का जो अधूरा विषय रह गया था उसका पुनः विवेचन करते हैं-अर्थापत्तिके छः भेद बताये थे-प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति १, अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति २, आगमपूर्विका अर्थापत्ति ३, उपमानपूर्विका अर्थापत्ति ४, अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति ५, और अभावपूर्विका अर्थापत्ति ६, उनमें से प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान पूर्वक होने वाली अर्थापत्तियों का तो अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भाव होता है, ऐसा प्रकट कर आये हैं। अब अर्थापत्ति पूर्विका अर्थापत्ति का निरसन करते हैं-अर्थापत्ति पूर्वक होने वाली अर्थापत्ति का उदाहरण दिया था कि शब्द में पहले अर्थापत्ति के द्वारा वाचकत्व की सामर्थ्य सिद्ध करना और पुनः उसी शब्दमें नित्यत्व सिद्ध करना सो यह अर्थापत्ति का वर्णन अयुक्त है, क्योंकि शब्द में जो वाचक सामर्थ्य है, उसका नित्यत्व के साथ कोई अकाट्य संबंध नहीं है, अर्थात् नित्यत्वके विना वाचक सामर्थ्य न हो ऐसी बात नहीं है। हम जैन आगे प्रकरणानुसार शब्द की नित्यताका खण्डन करनेवाले हैं। इसलिये अर्थापत्ति पूर्वक होनेवाली अर्थापत्ति सिद्ध नहीं होती है, तथा-अभावपूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण दिया था कि "जीवंश्चैत्रोऽन्यत्रास्ति गृहेऽभावात्" जीवत चैत्रनामा पुरुष अन्यत्र है, क्योंकि उसका घर में अभाव है, सो इस उदाहरण में प्रश्न होता है, कि चैत्र का घर में जो जीवन है, वही घर में चैत्रा-

चैत्रो गृहे जीवति कथं तदा तत्र तदभावो येनासौ तेन विशेष्येत ? यदा च तत्र तदभावो, न तदा तत्र तज्जीवनमिति । द्वितीयपक्षे तु विशेषणस्यासिद्धिः, न खलु चैत्रस्यान्यत्र यज्जीवनं तदर्थापत्त्युदयकाले तथाविधप्रदेशविशेषणत्वेन कुतश्चित्प्रतीयते अर्थापत्तेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । येनैव हि प्रमाणेन तज्जीवनं प्रतीयते तेनैव तत्सद्भावोपि । न ह्यप्रतिपन्ने देवदत्ते तद्धर्मो जीवनं प्रत्येतुं शक्यम् अतिप्रसङ्गात् । न चाप्रतीतस्य विशेषणत्वमत एव । अर्थापत्त्यैव तत्सिद्धावितरेतराश्रयः—सिद्धे हि तया तस्यान्यत्र जीवने तद्विशेषितात्तत्प्रदेशाभावादर्थापत्त्युदयः, ततश्च तत्सिद्धिरिति ।

भाव का विशेषण है, अथवा बहिर्जीवन चैत्राभाव का विशेषण है ? प्रथम पक्ष माने तो उसमें अभावरूप विशेष्यकी असिद्धि होती है, कैसे सो बताते हैं—जब चैत्र घर में जी रहा है, तब उसका वहा अभाव कैसे कहा जा सकता है जिससे कि यह चैत्राभाव रूप विशेष्यका विशेषण कहा जा सके ? तथा जब घर में चैत्र का अभाव है, तब वहां उसका जीवन हो नहीं सकता है । दूसरा पक्ष—यदि चैत्रका घर से जो बहिर्जीवन है, वह चैत्राभाव का विशेषण है ऐसा माना जाय तो यह विशेषण असिद्ध होता है, क्योंकि चैत्रका जो घर से बाहर अन्यत्र जीना है वह अर्थापत्ति के उत्पन्न होते समय उस प्रकार के देश विशेषण रूपसे किसी प्रमाण के द्वारा नहीं जाना जाता है, यदि जाना जाता है तो फिर अर्थापत्ति ज्ञानकी जरूरत ही नहीं रहती है, कैसे सो ही बताते हैं–जिस प्रमाण द्वारा चैत्रका बहिर्जीवन प्रतिभासित होता है, उसी प्रमाण द्वारा चैत्रका सद्भाव भी प्रतिभासित होगा । क्योंकि ऐसा नहीं होता है कि देवदत्त को तो नहीं जाना जाय और उसका जीवन स्वरूप धर्म जान लिया जाय । यदि देवदत्त के जाने विना उसका जीनारूप धर्म जाना जा सकता है, तो मेरु को जाने विना भी उसका वर्ण-रंग जानने मे आना चाहिये, अतः यह मानना चाहिये कि जो प्रतीत नहीं होता है, उसमे विशेषणता नहीं बनती यदि ऐसा हठाग्रह करोगे तो वही अति प्रसंग दोष उपस्थित होगा । यदि अर्थापत्ति के द्वारा ही चैत्रका अन्यत्र जीवन जाना जाता है, ऐसा कहो तो इस मान्यता में अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि जब अर्थापत्ति से चैत्रका अन्यत्र जीना सिद्ध हो जाय तब उस विशेषण से विशेषित घर में जीने के अभाव से अर्थापत्ति की उत्पत्ति होगी और उसके द्वारा फिर चैत्रका बहिर्जीवन सिद्ध होगा । इस तरह दोनों ही असिद्ध हो जाते हैं ।

शंका— चैत्रका जीना निश्चित होकर उसके गृहाभावका विशेषण नहीं बना

अथ न निश्चितं सञ्जीवनं तद्ग्रहाभावविशेषणं येनाय दोषः, किन्तु 'यदि गृहेऽसन् जीवति तदान्यत्रास्ति' इत्यभिधीयते; तर्हि संशयरूपत्वात्तस्याः कथं प्रामाण्यम् ? या तु प्रमाणं सानुमानमेव। पञ्चावयवत्वमप्यत्र सम्भवत्येव। तथाहि–जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽभावो बहिस्तत्सद्भावपूर्वकः जीवतो गृहेऽभावत्वात् प्राङ्गणे स्थितस्य गृहे जीवदभाववत्। यद्वा, देवदत्तो बहिरस्ति गृहासंसृष्टजीवनाधारत्वात्स्वात्मवत्। कथं पुनर्देवदत्तस्यानुपलभ्यमानस्य जीवनं सिद्धं येन तद्धेतुविशेषणमित्यसत्;

करता जिससे कि यह अन्योन्याश्रय नामका दोष दिया जा सके। यहां तो इतना ही जाना जाता है कि घरमे न होकर यदि जीता है तो अन्यत्र है।

समाधान—इसतरह माने तो संशयास्पद ज्ञान सिद्ध होता है, ऐसे संशयभूत अर्थापत्तिमें प्रामाण्य सिद्ध होना किसप्रकार शक्य है ? यदि कोई अन्य अर्थापत्ति प्रमाणभूत हो भी तो वह अनुमान प्रमाण ही कहलायेगी ! इस अर्थापत्तिनामसे माने गये आपके ज्ञान पंच अवयवपना भी घटित होता है, देखिये–जीवंत देवदत्ताका घरमें जो अभाव है, वह बहिःसद्भाव पूर्वक है, [पक्ष] क्योंकि जीवंत रहते हुए भी घरमें अभाव है [हेतु] जैसे प्रांगण में स्थित देवदत्तका जीवंत रहते हुए भी गृहाभ्यन्तरमें उसका अभाव रहता है [दृष्टांत] दूसरा अनुमान प्रयोग भी उपयुक्त है कि–देवदत्त बाहर गया है [पक्ष] क्योंकि घरमें असंयुक्त जीवनाधारपना है [हेतु] जैसे स्वात्मस्वरूप होता है (जैसे स्वात्मस्वरूप घरमें असयुक्त जीवनाधार रूप होता है)।

शंका—जब कि घरमें देवदत्त उपलब्ध नहीं हो रहा है तो फिर वह जीवित है यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? जिससे वह अभावरूप हेतुका विशेषण हो सके ?

समाधान—यह प्रश्न ठीक नहीं है। क्योंकि हमने जो ऐसा कहा है वह प्रसंग साधन को आश्रित करके कहा है।

विशेषार्थ—"साध्य साधनयोर्व्याप्यव्यापकभाव सिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीय को यत्र प्रदर्श्यते, तत्प्रसंगसाधनम्" प्रसंगसाधनका लक्षण–ऐसा है कि साध्य और साधन में व्याप्य व्यापक भाव सिद्ध होनेपर जब कहीं कोई पुरुष मात्र व्याप्य को स्वीकार कर लेता है तो उसे व्यापक को भी स्वीकार करना चाहिये ऐसा जहां आपादन किया जाता है वह प्रसंग साधन है। यहां अनुमान में जीवंत देवदत्त

प्रसङ्गसाधनोपन्यासात् ।

का जो घर में अभाव है वह बाहर में सद्भाव पूर्वक कहा गया है, यह साध्य है [व्याप्य है] क्योंकि जीते हुए भी घर में उसका अभाव है यह साधन है [व्यापक है] जब बाहर में सद्भाव पूर्वक ही घर में उसका अभाव है, इतना व्याप्य मान लिया गया है (अर्थापत्ति प्रमाणवादी मीमांसकने) तो इसके साथ व्यापक–जीते हुए ही उसका घर में अभाव है ऐसा माना हुआ ही कहलायेगा, इस प्रकार मीमांसक की मान्य अर्थापत्ति में पृथक प्रमाणता का निरसन हो जाता है । क्योंकि पूर्वोक्त युक्तियों द्वारा उसका अनुमान में अन्तर्भाव होना सिद्ध होता है ।

अर्थापत्ति पुनर्विवेचन समाप्त

अभावस्य प्रत्यक्षादावन्तर्भावः

यच्च निषेध्याधारवस्तुग्रहणादिसामग्रीत इत्याद्युक्तम्; तत्र निषेध्याधारो वस्त्वन्तरं प्रयोगिसंसृष्टं प्रतीयते, असंसृष्टं वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; प्रतियोगिसंसृष्टवस्त्वन्तरस्याध्यक्षेण प्रतीतौ तत्र तदभावग्राहकत्वेनाभावप्रमाणप्रवृत्तिविरोधात्। प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्; प्रतियोगिनः सत्त्वेपि तत्प्रवृत्तेः। द्वितीयपक्षे तु अभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनोऽभावप्रतिपत्तेः। अथ प्रतियोग्यसंसृष्टतावगमो वस्त्वन्तरस्याभावप्रमाणसम्पाद्यः; तर्हि तदप्यभावप्रमाणं प्रतियोग्यसंसृष्टवस्त्व-

---

अभाव प्रमाण का वर्णन करते हुए मीमांसक ने कहा था कि निषेध्य के आधारभूत वस्तु के ग्रहण करने आदि रूप सामग्री से तीन प्रकार का अभाव प्रमाण उत्पन्न होता है वह अभाव प्रमाण घट पट आदि पदार्थों के अभाव को सिद्ध करता है, इत्यादि सो वह कथन अयुक्त है, कैसे? सो अब इसी विषय पर विचार किया जाता है–निषेध्य [निषेध करने योग्य] वस्तु का आधारभूत जो भूतल रूप वस्तु है वह प्रतियोगी से [घट से] संसर्गित प्रतीत होती है अथवा असंसर्गित? भूतल रूप वस्तु घट संसर्गित प्रतीत होती है तो ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि यदि प्रतियोगी घट के संसर्ग से युक्त भूतल प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है तो वहां उस घट के अभाव को ग्रहण करने वाले अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होने में विरोध आता है। यदि प्रवृत्ति करेगा तो उस में प्रमाणता नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि प्रतियोगी जो घट है उसके रहते हुए भी उस घट का निषेध करने में वह प्रवृत्त हुआ है। दूसरा पक्ष–"प्रतियोगी से असंसृष्ट भूतल प्रतीत होता है" ऐसा कहो तो अभाव प्रमाण व्यर्थ होगा? क्योंकि प्रत्यक्ष से ही प्रतियोगी के (घट के) अभाव की प्रतीति हो रही है।

शंका—भूतल का जो प्रतियोगी से असंसृष्टपन है उसका अवगम अभाव प्रमाण के द्वारा होता है।

न्तरग्रहणे सति प्रवर्त्तेत, तदसंसृष्टतावगमश्च पुनरप्यभावप्रमाणसम्पाद्य इत्यनवस्था। प्रथमाभावप्रमाणात्तदसंसृष्टतावगमे चान्योन्याश्रयः।

प्रतियोगिनोपि स्मरणं वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य, असंसृष्टस्य वा? यदि संसृष्टस्य; तदाऽभावप्रमाणाप्रवृत्तिः। अथासंसृष्टस्य; ननु प्रत्यक्षेण वस्त्वन्तरासंसृष्टस्य प्रतियोगिनो ग्रहणे तथाभूतस्यास्य स्मरणं स्यान्नान्यथा। तथाभ्युपगमे च तदेवाभावप्रमाणवैयर्थ्यं 'वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता' इत्यादिग्रन्थविरोधश्च। वस्तुमात्रस्याध्यक्षेण ग्रहणाभ्युपगमे प्रतियोगीतरव्यवहाराभावः।

समाधान—तो फिर वह अभावप्रमाण घट के संबंध से रहित भूतल के ग्रहण होनेपर ही प्रवृत्त होगा, और उसमें घट की असंसृष्टता का ज्ञान अन्य दूसरे अभाव प्रमाण से जाना जायेगा। इस तरह अभाव प्रमाणों की कल्पना करने से अनवस्था होगी। यदि प्रथम अभाव प्रमाण से ही घट की असंसृष्टता का ज्ञान होना कहोगे, तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा प्रथम अभाव प्रमाण से प्रतियोगी के संबंध से रहितपने का भूतल में ज्ञान होगा और उस ज्ञान के होनेपर प्रथम अभाव प्रमाण की उत्पत्ति होगी इस प्रकार उभयासिद्धि होगी। अभाव प्रमाण की सामग्री में प्रतियोगी का स्मरण होना भी एक कारण कहा गया है सो वस्त्वन्तर से संसृष्ट हुए प्रतियोगी का स्मरण अभाव का कारण होता है या उससे असंसृष्ट हुए प्रतियोगी का स्मरण अभाव का कारण होता है? वस्त्वन्तर–भूतल से संसृष्ट हुए प्रतियोगी का स्मरण अभाव प्रमाण का कारण होता है ऐसा कहो तो अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी? [क्योंकि भूतल जब प्रतियोगी से संसृष्ट प्रतीत हो रहा है तब अभाव प्रमाण के द्वारा उसका अभाव कैसे किया जा सकता है] भूतल से असंसृष्ट हुए प्रतियोगी का स्मरण अभाव का कारण होता है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो प्रत्यक्ष के द्वारा वस्त्वन्तर से असंसृष्ट प्रतियोगी का ग्रहण होनेपर ही उस तरह के प्रतियोगी का स्मरण हो सकता है अन्यथा नही। यदि इस तरह प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतियोगी से असंसृष्टपने का ज्ञान हो जाता है तो अभावप्रमाण व्यर्थ ठहरता है और आपके ग्रन्थोक्त वाक्य की असिद्धि भी होगी कि–"वस्तुके असंकरताकी सिद्धि अभावप्रमाणके प्रामाण्य पर समाश्रित है" (अर्थात् अभावप्रमाणको प्रामाणिक माननेपर ही वस्तुओंका परस्परका असांकर्य सिद्ध होगा, अभावप्रमाण ही एक वस्तुका दूसरे वस्तुमें अभाव सिद्ध करता है इत्यादि)।

यदि चानुभूतेपि भावे प्रतियोगिस्मरणमन्तरेणाभावप्रतिपत्तिर्न स्यात्, तर्हि प्रतियोग्यप्यनुभूत एव स्मर्तव्यो नान्यथा अतिप्रसङ्गात्। तदनुभवश्चान्यासंसृष्टतयाऽभ्युपगन्तव्यः, तस्याप्यन्यासंसृष्टताप्रतिपत्तिस्ततोऽन्यत्र प्रतियोगिस्मरणात् तत्राप्ययमेव न्याय इत्यनवस्था। अथ प्रतियोगिनो भूतलस्य स्मरणाद् घटस्यान्यासंसृष्टता प्रतीयते, तत्स्मरणाच्च भूतलस्य तदेतरेतराश्रयः; तथाहि–न यावद्घटासंसृष्टभूभागप्रतियोगिस्मरणाद् घटस्य भूतलासंसृष्टताप्रतिपत्तिर्न तावत्तत्स्मरणाद्भूतलस्य घटासंसृष्टताप्रतिपत्तिः, यावच्च भूतलस्य घटासंसृष्टता न प्रतीयते न तावत्तत्स्मरणेन घटस्येति। ततोऽन्यप्रतियोगि-

---

शंका—प्रत्यक्ष द्वारा सिर्फ वस्तु मात्रका [भूतलका] ग्रहण होता है [अन्यका नहीं]।

समाधान—इस तरह स्वीकार करने पर तो प्रतियोगी और इतर अर्थात् घट और भूतलका व्यवहार ही समाप्त होगा। दूसरी बात यह विचारणीय है कि यदि प्रत्यक्ष के द्वारा भूतल को जान लेने पर भी प्रतियोगी के स्मरण हुए बिना घट के अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती ऐसा स्वीकार करे तो प्रतियोगी [घट] भी अनुभूत होने पर ही तो स्मरण करने योग्य हो सकेगा, अन्यथा नहीं यदि बिना अनुभूत किये को स्मरण करने योग्य मानेंगे तो अतिप्रसंग आयेगा। प्रतियोगी का अनुभव भी अन्य की असंसृष्टता से होना मानना पड़ेगा, फिर उस घट के अनुभव की प्रतिपत्ति भी अन्य जगह के प्रतियोगी के स्मरण से होवेगी। उसमें भी पूर्वोक्त न्याय रहेगा इस तरह अनवस्था आती है।

शंका—अनवस्था को इस प्रकार से हटा सकते हैं, प्रतियोगी भूतल के स्मरण से घटकी अन्य असंसृष्टता का ज्ञान होगा और उस स्मरणसे भूतलकी अन्य असंसृष्टता का ज्ञान होगा।

समाधान—इस तरह मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, उसी को बताते हैं जब तक घट में असंसृष्ट भू भाग में प्रतियोगी के स्मरण से घट की भूतल के साथ असंसृष्टता है ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होगी तब तक उस स्मरणसे भूतलमें घटकी असंसृष्टता है ऐसी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी, और जब तक भूतल में घट असंसृष्टता प्रतीतिमें नहीं आयेगी तब तक उसके स्मरणसे घटसे असंसृष्ट भू भाग प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अतः इन दोषोंको दूर करनेके लिये ऐसा मानना चाहिये कि अन्य प्रतियोगी के स्मरणके बिना ही प्रत्यक्ष द्वारा अभावांश जाना जाता है, जैसे भावांश जाना जाता है। भूतल से रहित

स्मरणमन्तरेणाभावांशो भावांशवत्प्रत्यक्षोऽभ्युपगन्तव्यः । भूतलासंसृष्टघटदर्शनाहितसंस्कारस्य च पुनर्घटासंसृष्टभूभागदर्शनानन्तरं तथाविधघटस्मरणे सति 'अस्यात्राभावः' इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञानमेव । यदा तु स्वदुरागमाहितसस्कारः साङ्ख्यस्तथाऽप्रतिपद्यमानः तत्प्रसिद्धसत्त्वरजस्तमोलक्षणविषयनिदर्शनोपदर्शनेन अनुपलब्धिविशेषतः प्रतिबोध्यते तदाप्यनुमानमेवेति क्वाभावप्रमाणस्यावकाशः ? ततोऽयुक्तमुक्तम्-'न चाध्यक्षेणाभावोऽवसीयते तस्याभावविषयत्वविरोधात्, नाप्यनुमानेन हेतोरभावात्' इति ।

[अकेले] घटको देखनेसे जिसको संस्कार उत्पन्न (धारणा ज्ञान) हुआ है ऐसे पुरुष को जब कभी घट रहित मात्र भू भाग दिखाई देता है तब उस पुरुषको पहले देखे हुए उस प्रकारके घटका स्मरण होता है और "यहांपर इस स्मृतिमें स्थित घटका अभाव है" इसतरहका प्रतिभास होता है सो यह प्रत्यभिज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं । सांख्य इसप्रकारके वस्तुके अभाव के ज्ञानको सत्य नहीं मानता क्योंकि उनके आगममें सबको सद्भाव रूप ही माना है अभावरूप नहीं, सो इस कुआगमके संस्कार के कारण सांख्य अभावका प्रत्यक्ष ज्ञान होना स्वीकार नहीं करता तब उन्हींके मतमें प्रसिद्ध ऐसे सत्व, रज, तम संबंधी दृष्टांत देकर समझाया जाता है कि "जिस प्रकार सत्वमें रजोगुणकी एवं तमोगुणकी अनुपलब्धि है [अभाव है] उसी प्रकार इस भूतलपर घट नहीं है" इत्यादि सो इसप्रकार सांख्यको समझानेके लिये अनुमानप्रमाण द्वारा अभावांशका ग्रहण किया जाता है । इसतरह प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमान द्वारा अभावांशका ग्रहण होना सिद्ध हो जाता है अतः मीमांसकका निम्नलिखित वाक्य असत है कि—"प्रत्यक्ष द्वारा अभावका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वह अभावको विषय ही नहीं करता अनुमान द्वारा भी अभावका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि हेतुका अभाव है" ।

दूसरी बात यह है कि-अभाव प्रमाण से यदि अभाव का ग्रहण होता है तो उससे केवल अभाव की ही प्रतिपत्ति होगी प्रतियोगी की निवृत्ति की प्रतिपत्ति तो होगी नहीं ।

शंका—अभाव की प्रतिपत्ति से घटाभाव जाना जायगा ?

समाधान— अच्छा तो बताइये कि वह जो प्रतियोगी की निवृत्ति है वह प्रतियोगी के स्वरूप से सबद्ध है कि असंबद्ध है ? प्रतियोगी के स्वरूप से संबद्ध है ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि भाव और अभाव में तादात्म्यादि संबंध बनते नहीं हैं इस

किञ्च, अभावप्रमाणेनाभावग्रहणे तस्यैव प्रतिपत्तिः स्यान्न प्रतियोगिनिवृत्तेः । अभावप्रतिपत्तेस्तन्निवृत्तिप्रतिपत्तिश्चेत्; सा किं प्रतियोगिस्वरूपसम्बद्धा, असम्बद्धा वा ? न तावत्सम्बद्धा; भावाभावयोस्तादात्म्यादिसम्बन्धासंभवस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अथासम्बद्धा; तर्हि तत्प्रतिपत्तावपि कथं प्रतियोगिनिवृत्तिसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? तन्निवृत्तेरप्यपरतन्निवृत्तिप्रतिपत्त्यभ्युपगमे चानवस्था ।

यच्च 'प्रमाणपञ्चकाभावः, तदन्यज्ञानम्, आत्मा वा ज्ञाननिर्मुक्तोऽभावप्रमाणम्' इति त्रिप्रकारतास्येत्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; यतः प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वात्कथं प्रमेयाभाव परिच्छिन्द्यात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात् ? अथ प्रमाणपञ्चकाभावः प्रमेयाभावविषयं ज्ञानं जनयन्नुपचारादभावप्रमा-

---

बात को हम आगे कहने वाले हैं। प्रतियोगी की निवृत्ति प्रतियोगी के स्वरूप से असंबद्ध है ऐसा द्वितीय पक्ष कहो तो उसके जान लेने पर भी प्रतियोगी की निवृत्ति कैसे सिद्ध होगी ? अतिप्रसंग आता है ।

उस प्रतियोगी की निवृत्ति की प्रतिपत्ति अन्य प्रतियोगी की निवृत्ति से जानी जायगी ऐसा माने तो अनवस्था होती है । मीमांसक ने अभाव प्रमाण का कथन करते हुए कहा था कि अभाव प्रमाण, प्रमाण पंचक का अभाव रूप, तदन्यज्ञान रूप, और ज्ञान निर्मुक्त आत्मारूप इस प्रकार से तीन तरह का होता है, सो यह वर्णन अयुक्त है, क्योंकि प्रमाणपंचकाभाव रूप जो अभाव है वह तो निरुपाख्य (निःस्वभाव) है, अतः वह प्रमेय के अभाव को कैसे जान सकता है ? जानना तो ज्ञान का धर्म है । यदि कहा जावे कि प्रमाण पंचकाभाव प्रमेयाभाव विषय वाले ज्ञान को उत्पन्न करता है इसलिये उपचार से उसको अभाव प्रमाण नाम से कहा जाता है ? सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव अवस्तु है उससे प्रमेयाभाव विषयक ज्ञान पैदा होना असंभव ही है, वस्तुभूत जो पदार्थ है वही कार्य को उत्पन्न कर सकता है, अवस्तुरूप पदार्थ नहीं, क्योंकि अवस्तु सर्व प्रकार की शक्ति से रहित होती है, जैसे गधे के सींग। यदि उसमें (प्रमाणपंचकाभाव में) कार्य की सामर्थ्य है तो वह सद्भाव रूप पदार्थ ही कहलायेगा, क्योंकि यही परमार्थभूत वस्तुका लक्षण है–अन्य कुछ लक्षण नहीं है । जिसमें सत्ताका समवाय हो वह परमार्थभूत वस्तु है ऐसा लक्षण करना गलत है । क्योंकि उसका आगे हम समवाय के निराकरण करनेवाले प्रकरण में निषेध करने वाले हैं । यह भी जरूरी नहीं है कि जहां पर प्रमाणपंचकाभाव है [पांचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं है] वहां पर अवश्य प्रमेय के अभावका ज्ञान उत्पन्न होता ही है । क्योंकि परके मनोवृत्ति विशेषोंके साथ अनैकान्तिकता आती है । किञ्च

णमुच्यते; न; अभाव स्यावस्तुतया तज्ज्ञानजनकत्वायोगात् । वस्त्वेव हि कार्यमुत्पादयति नावस्तु, तस्य सकलसामर्थ्यविकलत्वात्खरविषाणवत् । सामर्थ्ये वा तस्य भावरूपताप्रसक्तिः, तल्लक्षणत्वात्परमार्थसतोलक्षणान्तराभावात्, सत्तासम्बन्धादेस्तल्लक्षणस्य निषेत्स्यमानत्वात् । न च यत्र प्रमाणपञ्चकाभावस्तत्रावश्य प्रमेयाभावज्ञानमुत्पद्यते; परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् ।

किञ्च, प्रमाणपञ्चकाभावो ज्ञातः, अज्ञातो वा तज्ज्ञानहेतुः स्यात् ? ज्ञातश्चेत्कुतो ज्ञप्तिः ? तद्विषयप्रमाणपञ्चकाभावाच्चेत्; अनवस्था । प्रमेयाभावाच्चेदन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि प्रमेयाभावे प्रमाणपञ्चकाभावसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च प्रमेयाभावसिद्धिरिति । अज्ञातस्य च ज्ञापकत्वायोगः "नाज्ञातं

प्रमेयाभावरूप ज्ञानको उत्पन्न करने वाला वह प्रमाणपंचकाभाव जाना हुआ होकर प्रमेयाभाव के ज्ञानका हेतु होता है अथवा नहीं जाना हुआ होकर हेतु होता है ? यदि जाना हुआ होकर हेतु होता है तो वह किस प्रमाण से जाना गया होता है ? यदि कहा जाय कि प्रमाणपंचकाभाव को विषय करनेवाला जो अभाव प्रमाण है उसके द्वारा प्रमाणपंचकाभाव जाना जाता है, तो इस तरह मानने में अनवस्था आवेगी । यदि इस दोष से बचने के लिये कहा जाय कि वह प्रमाणपंचकाभाव प्रमेयाभाव से जाना जाता है तो अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है, क्योंकि प्रमेयाभाव सिद्ध होने पर प्रमाणपंचकाभाव सिद्ध हो सकेगा । और उसके सिद्ध होनेपर प्रमेयाभाव सिद्ध होगा । दूसरा पक्ष—प्रमाणपंचकाभाव अज्ञात रहकर प्रमेयाभाव के ज्ञानका हेतु होता है, सो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि "नाज्ञातं ज्ञायकं नाम" इस नियम के अनुसार जो अज्ञात होता है वह किसी का ज्ञायक नहीं होता है ऐसा बुद्धिमानों द्वारा माना गया है । अन्यथा अतिप्रसंग होगा । यद्यपि इन्द्रियां अज्ञात रहकर ज्ञानका हेतु हुआ करती हैं किन्तु वे ज्ञान के प्रति कारक हेतु हैं न कि ज्ञापक अतः कोई विरोध नहीं आता ।

शंका—प्रमाणपचकाभाव भी प्रमेयाभावके ज्ञानका कारक हेतु माना है अतः कोई विरोध नहीं है ।

समाधान—प्रमाणपंचकाभाव सकल सामर्थ्य से रहित है अतः वह कारक हेतु बन नहीं सकता । इसलिये निम्नलिखित कथन असत ठहरता है कि—

जब प्रत्यक्षादिप्रमाण सद्भावांशको ग्रहण कर लेते हैं, तब कभी अभाव अंश को जानने की इच्छा होनेपर अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है, क्योंकि अभावांशको जाननेमें प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रवृत्त नहीं होते ॥१॥

ज्ञापकं नाम" [ ] इति प्रेक्षावद्भिरभ्युपगमात्, अन्यथातिप्रसङ्गः। अक्षादेस्तु कारकत्वादज्ञातस्यापि ज्ञानहेतुत्वाविरोधः। न चास्यापि कारकत्वात्तद्धेतुत्वाविरोधः; निखिलसामर्थ्यशून्यत्वेनास्य कारकत्वासम्भवादित्युक्तत्वात्। ततोऽयुक्तमुक्तम्—

> "प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो गृह्यते यदा।
> व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते॥"
>
> [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १७] इति।

द्वितीयपक्षे तु यत्तदन्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव, पर्युदासवृत्त्या हि निषेध्याद् घटादेरन्यस्य भूतलादेर्ज्ञानमभावप्रमाणाख्यां प्रतिपद्यमानं तदन्या(न्य)भावलक्षणाभावपरिच्छेदकमिष्टमेव। तृतीयपक्षे तु

अभावप्रमाणका द्वितीयभेद था "तदन्यज्ञान" सो यह ज्ञान तो प्रत्यक्षप्रमाण स्वरूप ही है, देखिये! पर्युदासवृत्ति द्वारा निषेध्यभूत घटादिसे अन्य भूतल आदि पदार्थका ज्ञान होता है उसे आपने अभाव प्रमाण नामसे स्वीकार किया है सो यह तदन्यज्ञान नामा अभावप्रमाण अभावका परिच्छेदक होता ही है किन्तु यह ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण स्वरूप ही है।

भावार्थ—तत् अन्य ज्ञान अर्थात् घटसे अन्य जो भूतल है उसका ज्ञान अभाव प्रमाण कहलाता है ऐसा मीमांसकका कहना है सो यह ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्षके कोटीमें जाता है, इसीका खुलासा करते हैं—कोई पुरुष पहले तो घट सहित भू भाग को देखता है फिर कभी घट रहित भू भागको देखता है तो उसे जो घटसे अन्य जो मात्र भू भाग है उसका ज्ञान होता है वह अभावप्रमाण है ऐसी मीमांसक की मान्यता है सो यद्यपि इसमें घटका प्रतिषेध है किन्तु यह पर्युदास प्रतिषेध है अर्थात् घटका अभाव है तो भूभागका सद्भाव है, इसतरहके पर्युदासात्मक अभावका ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही होता है अतः उसे पृथक प्रमाण मानना व्यर्थ है।

तृतीय पक्ष—अभावप्रमाण के बताते हुए कहा था कि आत्मा का ज्ञानसे विमुक्त होना—तीसरे अभावप्रमाणका लक्षण है, इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा ज्ञान से निर्मुक्त होता है सो सर्वथा निर्मुक्त होता है कि कथंचित् निर्मुक्त होता है? सर्वथा कहो तो स्ववचन विरोध आता है जैसा कि "माता में वन्ध्या" मेरी माता वन्ध्या है इसमें स्ववचन विरोध आता है, क्योंकि आत्मा यदि सर्वथा ज्ञान से रहित हुआ है तो वह अभाव को कैसे जानेगा? जानना तो ज्ञानका धर्म है। यदि आत्मा

किमसौ सर्वथा ज्ञाननिर्मुक्तः, कथञ्चिद्वा ? तत्राद्यविकल्पे 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत्स्ववचनविरोधः । सर्वथा हि यद्यात्मा ज्ञाननिर्मुक्तः कथमभावपरिच्छेदकः ? परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मत्वात् । परिच्छेदकत्वे वा कथमसौ सर्वथा ज्ञाननिर्मुक्तः स्यात् ? अथ कथञ्चित्; तथाहि-'अभावविषयं ज्ञानमस्यास्ति निषेध्यविषयं तु नास्ति' इति, तर्हि तज्ज्ञानमेवाभावप्रमाणं स्यान्नात्मा । तच्च भावान्तरस्वभावाभावग्राहकतयेन्द्रियैर्जनितत्वात्प्रत्यक्षमेव । ततो निराकृतमेतत्-"न तावदिन्द्रियेणैषा" इत्यादि, "वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता" इत्यादि च; तस्या प्रत्यक्षादिप्रमाणत एव प्रसिद्धेः । कथं ततोऽभावपरिच्छित्तिरिति चेत्; कथं भावस्य ? प्रतिभासाच्चेदितरत्र समानम् । न खलु प्रत्यक्षे-

---

किसी विषय को जान रहा है तो वह सर्वथा ज्ञान निर्मुक्त कैसे हुआ । कथंचित् ज्ञान निर्मुक्त है ऐसा दूसरा पक्ष मानो तो इसका अर्थ होता है कि आत्माको अभाव विषयक ज्ञान तो है किन्तु निषेध्य विषयक ज्ञान नहीं है, तो इसप्रकार की मान्यता में अभाव विषयक ज्ञान ही अभावप्रमाण कहलायेगा, आत्मा नहीं । तथा च—वह ज्ञान भावांतर स्वभाव रूप अभाव का ग्राहक होनेके कारण इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ है, अतः प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप ही है । इस प्रकार अभाव प्रमाण का यह तीसरा भी भेद निराकृत हो जाता है । इसलिए मीमांसक ने जो ऐसा कहा है कि—

"न तावदिन्द्रियेणैषा"...इन्द्रिय द्वारा यह ज्ञान नही होता इत्यादि तथा "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्य समाश्रिता" वस्तुओं के परस्पर असंकीर्णताकी सिद्धि अभावप्रमाणके प्रामाण्य पर निर्भर है इत्यादि, सो यह सब खंडित हुआ समझना, क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाण से ही अभाव का ग्रहण होना सिद्ध हो चुका है ।

शंका— प्रत्यक्षादि प्रमाण अभाव को किस प्रकार जान सकेंगे ?

समाधान—जैसे वे भावांश को जानते हैं वैसे ही वे अभावांश को जानेंगे ? अर्थात् आप मीमांसक से जब कोई ऐसा पूछे कि प्रत्यक्षादि प्रमाण भावांश को किस प्रकार जानते हैं ? तो आप कहोगे कि उसका प्रतिभास होता है अतः वे उसे जानते हैं, तो इसी तरह अभावांश का भी प्रतिभास होता है, अतः वे अभावांशको भी जानते हैं । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—अन्य से संसृष्ट हुए अर्थको अर्थात् घट के संबंध से रहित हुए भूतल को पहले तो प्रत्यक्ष प्रमाण जाने और पीछे अभाव प्रमाण घट से असंसृष्ट भूतल को जाने ऐसी क्रमिक प्रतीति नहीं होती, किन्तु पहले से ही अन्य से असंसृष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष में प्रतिभास हो जाता है । अन्य से असंसृष्ट पदार्थ के ज्ञान

एणान्यसंसृष्टः प्रथमतोऽर्थोऽनुभूयते, पश्चादभावप्रमाणादन्यासंसृष्ट इति क्रमप्रतीतिरस्ति, प्रथममेवान्यासंसृष्टस्यार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात्। न चान्यासंसृष्टार्थवेदनादन्यत्तदभाववेदनं नाम।

एतेनैतदपि प्रत्युक्तम् "स्वरूपपररूपाभ्याम्" इत्यादि; सर्वैः सर्वदोभयरूपस्यैवान्तर्बहिर्वाऽर्थस्य प्रतिसंवेदनात्, अन्यथा तद्भावप्रसङ्गात्।

यदप्युक्तम्-"यस्य यत्र यदोद्भूतिः" इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; न ह्यनुभूतमनुद्भूतं नाम। नापि जिघृक्षाप्रभवं सर्वज्ञानम्; इन्द्रियमनोमात्रभावे भावात्तदभावे चाभावात्तस्य।

से उसके अभाव का ज्ञान पृथक तो है नहीं मतलब घट से रहित भूतल का ज्ञान ही तो घट के अभाव का ज्ञान है, और वह अभाव प्रत्यक्ष से ही ज्ञात हो चुका है, अब उसे जानने के लिये अभाव प्रमाण की क्या आवश्यकता है। तथा "स्वरूपपररूपाभ्यां ......इत्यादि कारिकोक्त विषय निराकृत हुआ समझना चाहिये।

इसमें कहा गया है कि स्वरूप और पररूप से वस्तु सद् और असद् रूप है, उसमें से सद्रूप को प्रत्यक्षादि प्रमाण जानता है और असद्रूप को अभाव प्रमाण जानता है, सो यह कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी प्रमाण हमेशा ही सद् असद् दोनों स्वरूप वाली अन्तर्बहि वस्तु को जानते हैं-अर्थात् अंतरंग वस्तु जीव और बहिरंग जड़ पदार्थ इनके सद् और असद् अंशों को प्रत्येक प्रमाण जानता है, यदि ऐसा जानना नहीं हो तो उसके अभाव होने का प्रसंग प्राप्त होगा। और भी कहा था कि—

"यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा चोपजायते।
वेद्यतेऽनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते ॥ १ ॥

सदसदात्मक वस्तुमें जिस अंशकी जहां, जब अभिव्यक्ति होती है तथा उसे जानने की जब इच्छा होती है, तब उसीका अनुभव प्रमाण के द्वारा होता है और उस प्रमाण को वही नाम दिया जाता है ॥ १ ॥ इत्यादि सो यह सब प्रलाप मात्र है क्योंकि जब वस्तुका प्रत्यक्ष में अनुभव हो जाता है तो फिर उसमें अनुद्भूत अंश क्या रह जाता है कि जिसे जानने के लिये अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति हो। तथा जितने ज्ञान होते हैं वे सभी इच्छापूर्वक ही होते हैं ऐसा नियम नहीं है, ज्ञानमें तो इन्द्रिय और मनका नियम है इन्द्रियां और मनके होनेपर ज्ञान होता है और उनके अभाव होनेपर

यच्चान्यदुक्तम्-"मेयो यद्वदभावो हि" इत्यादि; तत्र 'भावरूपेण प्रत्यक्षेण नाभावो वेद्यते' इति प्रतिज्ञा अन्यासंसृष्टभूतलग्राहिणा प्रत्यक्षेण निराक्रियते अनुष्णोऽग्निप्रतिज्ञावत् । 'भावात्मके यथा मेये' इत्याद्यप्ययुक्तम्; अभावादपि भावप्रतीतेः; यथा गगनतले पत्रादीनामधःपाताभावाद्वाय्वोरिति । भावाच्चाग्न्यादेः शीताभावस्य प्रतीतिः सकलजनप्रसिद्धा । 'यो यथाविधः स तथाविधेनैव गृह्यते' इत्यभ्युपगमे चाभावस्य मुद्गरादिहेतुत्वाभावः स्यात् । शक्यं हि वक्तुम्-यो यथाविधः स तथाविधेनैव क्रियते यथा भावो भावेन, अभावश्चाभावः, तस्मादभावेनैव क्रियते । प्रत्यक्षबाधा चान्यत्रापि समाना ।

नहीं होता [यहां पर सिर्फ इन्द्रिय और मन को ही ज्ञानका हेतु माना है वह लौकिक दृष्टिसे या मति और श्रुतज्ञान की अपेक्षा से माना है, आगे के अवधिज्ञानादिक अन्य मत में नहीं माने हैं, अतः उसको गौण करके यह कथन किया है] अभाव प्रमाण के विषय में जो यह कारिका "मे यो यद्वदभावो हि" इत्यादि प्रस्तुत की थी वह भी ठीक नहीं है, इस कारिकाका आशय भी पूर्वोक्त रीत्या निराकृत हुआ समझना चाहिये ।

आप मीमांसकों की यह प्रतिज्ञा [या हठाग्रह] है कि सद्भावरूप प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अभाव नही जाना जाता है सो यह अग्नि ठण्डी है, इस प्रतिज्ञा के समान निराकृत हो जाती है, क्योंकि अन्य से असंसृष्ट जो भूतल है उसको जाननेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण है यह सिद्ध हो चुका है । "भावात्मके यथा मेये" इत्यादि वाक्यों में यह सिद्ध करनेका प्रयास किया था । सद्भावात्मक प्रमेयको सद्भावात्मक प्रमाण जानता है और अभावात्मक अप्रमेयको अभावात्मक प्रमाण जानता है सो भी अयुक्त सिद्ध हो चुका है । देखिये ! अभावसे भी सद्भावकी प्रतीति होती है ।

जैसे-आकाश में वायु है, क्योंकि पत्ते आदि का नीचे गिरने का अभाव है इत्यादि अनुमानमे अभावात्मक हेतु से सद्भावात्मक पदार्थ की प्रतीति होती हुई देखी जाती है, तथा कभी भाव हेतु से भी अभाव जाना जाता है, जैसे शीतका अभाव है क्योंकि अग्निका सद्भाव है । इस तरह भाव हेतु से अभाव की और अभावरूप हेतुसे भाव की सिद्धि होना सर्वजन प्रसिद्ध ही है । जो जैसा होता है वह वैसे ही प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, ऐसा स्वीकार किया जाय तो अभावके कारण भावरूप लाठी आदि माने गये हैं वे गलत ठहरेंगे । अर्थात् लाठी के द्वारा फूट जाने से घटका अभाव हुआ ऐसा कह नहीं सकेंगे ? उस विषयमें भी कह सकते हैं कि जो जैसा भावरूप या

यदप्यभिहितम्–'प्रागभावादिभेदाच्चतुर्विधश्चाभावः' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः स्वकारणकलापात्स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावाः समुत्पन्ना नात्मानं परेण मिश्रयन्तितस्यापरत्वप्रसङ्गात् । न चान्यतोऽव्या(तो व्या)वृत्तस्वरूपाणां तेषां भिन्नोऽभाऽवांशः सम्भवति । भावे वा तस्यापि पररूपत्वाद्भावेन ततोपि व्यावर्तितव्यमित्यपरापराभावपरिकल्पनयानवस्था । अतो न कुतश्चिद्भावेन व्यावर्त्तितव्यमित्येकस्वभावं विश्वं भवेत्, परभावाभावाच्च व्यावर्त्तमानस्यार्थस्य पररूपताप्रसङ्गः ।

यदि चेतरेतराभाववशाद् घटः पटादिभ्यो व्यावर्त्तेत, तर्हीतरेतराभावोपि भावादभावान्तराच्च प्रागभावादेः किं स्वतो व्यावर्त्तेत, अन्यतो वा ? स्वतश्चेत्; तथैव घटोप्यन्येभ्यः किन्न व्यावर्त्तेत ?

अभाव रूप होता है, वह उसी भाव या अभाव रूप हेतु के द्वारा किया जाता है जैसे भावरूप मिट्टीसे भावरूप घट किया जाता है, अभाव तो अभावरूप हुआ करता है अतः उसको अभाव के द्वारा ही किया जाता है ? यदि कहा जाय कि इस तरह की मान्यता में प्रत्यक्ष बाधा आती है तो "अभाव प्रमाण द्वारा अभावांश ग्रहण किया जाता है" ऐसा मानने में भी प्रत्यक्ष बाधा आती है । उभयत्र समान बात है । इसप्रकार अभाव को जानने के लिए प्रत्यक्षादिप्रमाणसे पृथक कोई एक प्रमाण चाहिये ऐसा मीमांसक का कहना खंडित हुआ ।

मीमांसकने यह भी कहा था कि प्रागभाव आदि के भेद से अभाव चार प्रकार का है इत्यादि । सो यह केवल कथन मात्र है । क्योंकि अपने अपने स्वभावमें स्थित जो भाव हैं वे अपने कारणसमूह से उत्पन्न हुए हैं वे अपने को अन्य से मिश्रित नहीं करते, अन्यथा वे पर भी अन्य परसे मिश्रित होंगे ? परसे व्यावृत्तिस्वरूपवाले पदार्थों का अभावांश उनसे भिन्न नहीं रहता है, उन्हींमें रहता है।

यदि पदार्थोंसे अभावांश भिन्न रहना संभव है तो वह परपदार्थ रूप हुआ ? फिर वह परपदार्थ भी सद्भाव रूप होगा, अतः वहां से उस अभाव को हटाना पड़ेगा, इस तरह से तो अनवस्था दोष आवेगा । इस अनवस्था की आपत्ति से बचने के लिये पदार्थ को किसी से भी व्यावृत्त स्वरूप नहीं माना जाय तो सारा विश्व एक स्वभाव वाला हो जायगा और इस तरह से पर भावका अभाव होनेसे व्यावर्तमान जो पदार्थ हैं उसमें पररूपता का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । यदि घट इतरेतराभाव द्वारा पट आदि अन्य वस्तुओं से व्यावृत्त होता है ऐसा मानते हैं तो प्रश्न होता है कि इतरेतराभाव से जैसे घट से पट और पट से घट व्यावृत्त होता है वैसे ही स्वयं इत-

अन्यतश्चेत्; किमसाधारणधर्मात्, इतरेतराभावान्तराद्वा ? असाधारणधर्माभ्युपगमे स एव पटादिष्वपि युक्तः। इतरेतराभावान्तराच्चेत्; बहुत्वमितरेतराभावस्यानवस्थाकारि स्यात्।

किञ्च, इतरेतराभावोप्यसाधारणधर्मेणाव्यावृत्तस्य, व्यावृत्तस्य वा भेदकः ? यद्यव्यावृत्तस्य; किं नैकव्यक्तेर्भेदकः ? अथ व्यावृत्तस्य; तर्हि घटादिष्वपि स एवास्तु भेदकः किमितरेतराभावकल्पनया ?

किञ्च, अनेन घटे पटः प्रतिषिध्यते, पटत्वसामान्यं वा, उभयं वा ? प्रथमपक्षे किं पटविशिष्टे

रेतराभाव अन्य पदार्थ से एवं प्रागभाव आदि से व्यावृत्त होता है वह स्वतः होता है या अन्य किसी निमित्त से ? यदि वह स्वतः ही व्यावृत्त होता है तो जैसे वह इतरेतराभाव अपने आप अन्यभाव से और प्रागभाव आदि से व्यावृत्त है वैसे ही घट भी स्वयं पर पदार्थोंसे व्यावृत्त होता है ऐसा प्रतीतिसिद्ध सिद्धान्त मानने में क्या आपत्ति है। यदि इतरेतराभाव अन्य निमित्तसे व्यावृत्त होता है ऐसा माना जाय तो वह अन्य निमित्त क्या है ? असाधारण धर्म है या दूसरा इतरेतराभाव है ? यदि असाधारण धर्म से इतरेतराभाव अपने आपको अन्य प्रागभावादिकों से जुदा करता है तो वही बात घट पट आदि पदार्थों में भी मान लेनी चाहिये, अर्थात् घट पट आदि पदार्थ भी अपने २ असाधारण धर्म के कारण ही अन्य २ पदार्थों से व्यावृत्त होते हैं, उन्हें परस्पर में व्यावृत्त कराने के लिए इतरेतराभावकी क्या आवश्यकता है। यदि द्वितीय पक्ष कहा जाय कि इतरेतराभाव को दूसरा इतरेतराभाव प्रागभाव आदिसे व्यावृत्त कराता है तो बहुत सारे इतरेतराभाव इकट्ठे हो जावेंगे और इसतरह की कल्पना से अनवस्थाव्याघ्री मुख फाड़े खड़ी हो जावेगी।

किञ्च—इतरेतराभाव असाधारण धर्मसे व्यावृत्त हुए पदार्थका भेदक होता है अथवा अव्यावृत्त हुए पदार्थका भेदक होता है ? अव्यावृत्तका भेदक मानें तो एक (घट) व्यक्ति का भेदक क्यों नहीं होगा ? और व्यावृत्त हुए पदार्थ का भेदक है तो घट, पट गृह वृक्ष आदि सभी पदार्थों में भी वही असाधारण धर्म ही भेद करानेवाला है ऐसा मानना चाहिये, व्यर्थ ही इतरेतराभाव की कल्पना से क्या लाभ ? किञ्च-इतरेतराभाव के द्वारा घट में पटका निषेध किया जाता है कि पटत्व सामन्यका निषेध किया जाता है अथवा दोनों का निषेध किया जाता है ? प्रथम पक्ष—इतरेतराभाव घट में पट का निषेध करता है ऐसा कहा जावे तो हम पूछते हैं कि पट विशिष्ट घट

घटे पटः प्रतिषिध्यते, पटविविक्ते वा ? न तावदाद्यः पक्षो युक्तः; प्रत्यक्षविरोधात्। नापि द्वितीयः; तथाहि-किमितरेतराभावादन्या घटस्य पटविविक्तता, स एव वा विविक्तताशब्दाभिधेयः ? भेदे; तयैव घटे पटाभावव्यवहारसिद्धेः किमितरेतराभावेन ? अथ स एव तच्छब्दाभिधेयः; तर्हि यस्मादभावात्पटविविक्ते घटे पटाभावव्यवहारः सोन्योऽभावः, विविक्तताशब्दाभिधेयश्चान्य इत्येकस्मिन्वस्तुनीतरेतराभावद्वयमायातम्।

किञ्च, 'घटे पटो नास्ति' इति पटरूपताप्रतिषेधः, सा किं प्राप्ता प्रतिषिध्यते, अप्राप्ता वा ? प्राप्तायाः प्रतिषेधे पटेपि पटरूपताप्रतिषेधः स्यात् प्राप्तेरविशेषात्। अप्राप्तायास्तु प्रतिषेधानुपपत्तिः, प्राप्तिपूर्वकत्वात्तस्य। न ह्यनुपलब्धोदकस्य 'अनुदकः कमण्डलुः' इति प्रतिषेधो घटते। अथान्यत्र

में या पटरहित घट में पटका निषेध किया जाता है, पट विशिष्ट [पट सहित] घटमें पट का निषेध किया जाता है ऐसा कहना तो प्रत्यक्ष विरोधी बात होगी। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, इसी बात को बताते हैं-घट में जो पटकी विविक्तता है वह इतरेतराभाव से अन्य है अथवा इतरेतराभाव ही पट विविक्तता शब्दसे कहा जाता है ? घट में जो पट विविक्तता है वह इतरेतराभाव से न्यारी ही कोई चीज है ऐसा प्रथम पक्ष माना जाय तो उसी विविक्तता से घट में पट के अभाव का व्यवहार हो जायगा। इतरेतराभाव के मानने की क्या आवश्यकता है ? दूसरा पक्ष-घट की पटविविक्तता ही इतरेतराभाव है ऐसा कहो तो जिस अभाव से पट रहित घट में पटके अभाव का व्यवहार होता है वह अभाव और विविक्तता शब्दसे कहा गया अभाव इसतरह दो अभाव एक ही वस्तु में माननेका प्रसंग आता है। दूसरी बात यह है कि घटमें पट स्वरूप का निषेध करते हैं सो वह उस घट में प्राप्त हुआ है इसलिये करते हो अथवा प्राप्त नहीं होने पर करते हो ? यदि प्राप्त हुए पटका प्रतिषेध करेंगे तो पट में प्राप्त हुई पट रूपता का भी निषेध होने का प्रसंग प्राप्त होगा ? कोई विशेषता नहीं रहेगी।

द्वितीय पक्ष—घटमें पटका स्वरूप प्राप्त हुए विना ही उसका निषेध करते हैं तो ऐसा निषेध हो नहीं सकता, क्योंकि निषेध प्राप्ति पूर्वक ही होता है, देखो ! जिसने जलको उपलब्ध ही नहीं किया ऐसे कमंडलुमें यह कमंडलु जल रहित है ऐसा जलका निषेध नहीं कर सकते।

शंका—अन्यत्र प्राप्त हुए पट रूपता का अन्यत्र प्रतिषेध किया जाता है ?

प्राप्तमेव पटरूपमन्यत्र प्रतिषिध्यते; तत्रापि समवायप्रतिषेधः, संयोगप्रतिषेधो वा ? न तावत्समवायप्रतिषेधः; रूपादेरेकत्र समवायेन सम्बद्धस्यान्यत्र वस्त्वन्तरेऽन्योन्याभावतोऽभावव्यवहारानुपलम्भात्। संयोगप्रतिषेधोप्यनुपपन्नः; घटपटयोः कदाचित्संयोगस्यापि सम्भवात्। अथ पटेन संयोगरहिते घटे पटप्रतिषेधो न तत्संयोगवति। नन्वेवं पटसंयोगरहितत्वमेवाभावोस्तु, न त्वन्यस्मादभावात्पटसंयोगरहिते घटे पटाभाव इति युक्तम्। तन्न घटे पटप्रतिषेधो युक्तः।

नापि पटत्वप्रतिषेधः; तस्याप्येकत्र सम्बद्धस्यान्यत्र सम्बन्धाभावादेव प्रतिषेधानुपपत्तेः।

समाधान—अन्यत्र किया गया पटरूपता का प्रतिषेध भी दो तरह का हो सकता है, समवाय स्वरूप पटरूपताका प्रतिषेध और सयोगस्वरूप पटरूपताका प्रतिषेध। अब इनमें से समवायस्वरूप पटरूपताका प्रतिषेध करना तो शक्य नहीं होगा, क्योंकि एक वस्तु में समवाय संबधसे संबद्ध हुए रूप रस आदिका अन्य वस्तु में इतरेतराभाव द्वारा अभाव किया गया हो ऐसा उपलब्ध नहीं होता। संयोगस्वरूप पटरूपता का घटमें निषेध किया जाता है ऐसा दूसरा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि कभी कभी घट और पटका संयोग होना संभव है।

शंका—पटके संयोगसे रहित जो घट है उसमें पट का निषेध करते हैं न कि पट संयोगयुक्त घटमें ?

समाधान—इस तरह स्वीकार करनेपर तो पटके संयोग से रहित होना ही अभाव है ऐसा सिद्ध हुआ, "पटसंयोग रहित घटमें इतरेतराभावसे पटका अभाव होता है" ऐसा तो सिद्ध नहीं हुआ ? अतः घटमें इतरेतराभाव द्वारा पटका प्रतिषेध किया जाता है ऐसा प्रथम पक्ष अयुक्त सिद्ध होता जाता है।

इतरेतराभाव से घट में पटत्व सामान्य का प्रतिषेध किया जाता है, सो ऐसा द्वितीय पक्ष भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि एक जगह संबद्ध हुए पटत्व सामान्यका अन्य जगह संबंध नहीं होनेसे प्रतिषेध नहीं कर सकते। घटमें पट और पटत्व सामान्य दोनोंका प्रतिषेध इतरेतराभावसे किया जाता है ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, इस पक्षमें भी पहले कहे हुए अशेष दोष आते हैं।

किंच, इतरेतराभाव का ज्ञान होने के बाद घट का ज्ञान होता है कि घट ज्ञान के बाद इतरेतराभाव का ग्रहण-ज्ञान होता है ? आद्य पक्ष इतरेतराभाव के ज्ञान के बाद घट का ज्ञान होता है। ऐसा स्वीकार किया जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता

नाप्युभयप्रतिषेधः; प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्गात् ।

किञ्च, इतरेतराभावप्रतिपत्तिपूर्विका घटप्रतिपत्तिः, घटग्रहणपूर्वकत्वं वेतरेतराभावग्रहणस्य ? आद्यपक्षेऽन्योन्याश्रयत्वम्; तथाहि–'इतरेतराभावो घटसंबन्धित्वेनोपलभ्यमानो घटस्य विशेषणं न पदार्थान्तरसम्बन्धित्वेन, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं स्यात् । घटसम्बन्धित्वप्रतिपत्तिश्च घटग्रहणे सत्युपपद्यते । सोपि व्यावृत्त एव पटादिभ्यः प्रतिपत्तव्यः । ततो यावत्पूर्वं घटसम्बन्धित्वेन व्यावृत्तेरुपलम्भो न स्यान्न तावद्व्यावृत्तिविशिष्टतया घटः प्रत्येतुं शक्यः, यावच्च पटादिव्यावृत्तत्वेन न प्रतिपन्नो घटो न तावत्स्वसम्बन्धित्वेन व्यावृत्तिं विशेषयति इति ।

अथ घटग्रहणपूर्वकत्वमितरेतराभावग्रहणस्य; अत्राप्यभावो विशेष्यो घटो विशेषणम् । तद्ग्रहणं च पूर्वमन्वेषणीयम् "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यभिधानात् ।

है, अब इसीका खुलासा करते हैं—इतरेतराभाव जब विवक्षित घट के संबंध रूप से उपलब्ध होगा तभी वह उसका विशेषण बनेगा कि यह इतरेतराभाव इस घट का है, अन्य पदार्थ के संबंध रूप से उपलब्ध होता हुआ इतरेतराभाव उस विवक्षित घटका विशेषण तो बन नहीं सकता; यदि बनता तो सभी सबके विशेषण हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं, तथा यह इतरेतराभाव घट संबंधी है ऐसा ज्ञान भी तभी होगा जबकि घट का ग्रहण होगा, और घट ग्रहण भी तभी होगा कि जब वह पटादि पदार्थों से व्यावृत्त हुआ प्रतीत होगा । इसलिये जब तक इतरेतराभाव की घट के संबंधपने से उपलब्धि नहीं होगी तब तक व्यावृत्ति विशेष से घटका जानना शक्य नहीं होगा, और जब तक यह घट अन्य पट आदि से व्यावृत्त है ऐसा जानना नहीं होगा, तब तक घट संबंधी इतरेतराभाव की विशेषणता सिद्ध नहीं होगी ।

दूसरापक्ष—घट ग्रहण के बाद इतरेतराभाव ग्रहण होता है ऐसा माने तो अब यहां अभाव विशेष्य बना और घट विशेषण हो गया, अतः घट विशेषण को पहले जानना जरूरी है क्योंकि "नागृहीत विशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" विशेषण के अगृहीत रहने पर विशेष्य का ग्रहण नहीं होता है, ऐसा नियम है । जब घट को पहले ग्रहण करेंगे तो वह पट आदि पदार्थों से व्यावृत्त हुआ ग्रहण में आयेगा कि अव्यावृत्त हुआ ग्रहण में आयेगा ? पट आदि पदार्थों से अव्यावृत्त घट ग्रहण में आता है ऐसा मानो तो उस घट की घट रूपता सिद्ध नहीं होती है । यदि पटादि से व्यावृत्त हुए बिना ही घट की घटरूपता सिद्ध होती है तो पट आदि सभी पदार्थ भी अन्य घट आदि पर

तत्रापि घटो गृह्यमाणः पटादिभ्यो व्यावृत्तो गृह्यते, अव्यावृत्तो वा ? तत्र न तावत्पटादिभ्योऽव्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपता घटते, अन्यथा पटादेरपि तथैव पटादिरूपताप्रसङ्गादभावकल्पनावैयर्थ्यम् । अथ तेभ्यो व्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपताप्रतिपत्तिः प्रार्थ्यते; तत्रापि किं कतिपयपटादिव्यक्तिभ्योऽसौ व्यावर्त्तते, सकलपटादिव्यक्तिभ्यो वा ? प्रथमपक्षे कुतश्चिदेवासौ व्यावर्त्तेत, न सकलपटादिव्यक्तिभ्यः । द्वितीयपक्षेपि न निखिलपटादिभ्योऽस्य व्यावृत्तिर्घटते, तासामानन्त्येन ग्रहणासम्भवात् । इतरेतराश्रयत्वं च, तथाहि–'यावत्पटादिभ्यो व्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपता न स्यान्न तावद् घटात्पटादयो व्यावर्त्तन्ते, यावच्च घटाद्वयावृत्ताना पटादीनां पटादिरूपता न स्यान्न तावत्पटादिभ्यो घटो व्यावर्त्तते इति ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित्पटादिभ्यो घटस्य व्यावृत्तिः, घटान्तरात्तु कथमसौ व्यावर्त्तते इति

पदार्थ से व्यावृत्त हुए बिना अपने अपने पटादिरूप सिद्ध हो जायेंगे ? फिर तो अभाव की कल्पना करना ही व्यर्थ है । इस आपत्ति से बचने के लिये दूसरा पक्ष स्वीकार करते हो कि घट की घटरूपता अन्य पट आदि से व्यावृत्त होने पर जानी जाती है तो पुनः शंका होती है कि घट अन्य से व्यावृत्त हुआ है वह कतिपय पट आदि से व्यावृत्त हुआ है अथवा संपूर्ण पट आदि से व्यावृत्त हुआ है ? यदि कतिपय पट आदि से व्यावृत्त है तो उतने से ही पृथक कहलायेगा, सभी पदार्थों से तो अव्यावृत्त ही रहेगा । दूसरा विकल्प–संपूर्ण विश्वके पट गृह आदि पदार्थों से यह घट व्यावृत्त है ऐसा कहना तो शक्य नहीं, क्योंकि पट आदि पदार्थ अनंत हैं, उनका ग्रहण होना असंभव है । तथा इस प्रकार से मानने में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है, इसीका खुलासा करते है–जब तक पटादि से व्यावृत्त घट की घट रूपता घटित नहीं होती तब तक घट से पट प्रभृति पदार्थ व्यावर्त्तित नहीं होंगे और जब तक घट से व्यावृत्त पट आदि की पट आदि रूपता सिद्ध नही होगी तब तक पट आदि से वह घट व्यावृत्त नहीं हो सकेगा । इस प्रकार दोनों ही अव्यावृत्त रहकर असिद्ध अवस्था में पड़े रहेंगे । अच्छा ! हम आप मीमांसक के आग्रह से मान लेवें कि जैसे चाहें वैसे कैसे भी पट आदि से घट की व्यावृत्ति हो जाती है; किन्तु इस बात का निर्णय करना है कि अन्य घट से विवक्षित घट की व्यावृत्ति कैसे होगी (घट अपने को अन्य घटों से कैसे पृथक् करता है) घट पने से या अघटपने से, यदि घटपने से घट व्यावृत्त होता है तो इसका मतलब तो यह हुआ कि एक विवक्षित घट, संपूर्ण घट व्यक्तियों से पृथक् होता हुआ घटपने को लेकर व्यावृत्त हो गया ? फिर तो सारे ही अन्य घट विचारे अघट रूप ही बन

सम्प्रधार्यम्-किं घटरूपतया, अन्यथा वा ? यदि घटरूपतया; तर्हि सकलघटव्यक्तिभ्यो व्यावर्त्तमानो घटो घटरूपतामादाय व्यावर्त्तत इत्यायातम् अघटत्वमन्यासां घटव्यक्तीनाम् । अथाघटरूपतया; तत्किमघटरूपता पटादिवद् घटेप्यस्ति ? तथा चेत्; तर्हि यो व्यावर्त्तते घटान्तरादघटत्वेन घटस्तस्याघटत्वं स्यात् । तच्च विप्रतिषिद्धम्-यद्यघटो घटः, कथं घटः ? तस्मान्नार्थादर्थान्तरमभावः ।

ननु चाभावस्यार्थान्तरस्यानभ्युपगमे कथं तन्निमित्तको व्यवहारः ? तथाहि-किं घटावष्टब्धं भूतलं घटाभावो व्यपदिश्यते, तद्रहितं वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः । द्वितीयपक्षे तु नाममात्रं

जायेंगे ? दूसरी बात अघट रूप से व्यावृत्त होता है, ऐसा माने तो क्या पट, गृह, वृक्ष आदि पदार्थों के समान घट में भी अघट रूपता है ? यदि है तो जो घट अन्य घट जाति से अघटत्व के द्वारा व्यावृत्त होता है वह स्वयं अघट रूप बन गया सो यह विरुद्ध बात है अर्थात् यदि घट स्वयं अघट है तो वह किस प्रकार घट नाम पायेगा ? अतः यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ से पृथक् कोई अभाव नामा वस्तु नहीं है । वह पदार्थ रूप ही है ।

मीमांसक—यदि अभाव को भिन्न पदार्थरूप नहीं माना जाय तो उस अभाव के निमित्त से होनेवाला लोक व्यवहार कैसे सिद्ध होगा, अर्थात् "यह नहीं है इसका अभाव है" इत्यादि व्यवहार कैसे बनेगा ? हम आप जैन से पूछते हैं कि घट से व्याप्त भूतल को घट का अभाव कहते हैं अथवा घट से रहित भूतल को घटका अभाव कहते हैं ? प्रथम पक्ष-घट से व्याप्त भूतल को घट का अभाव कहेंगे तो प्रत्यक्ष से ही विरोध दिखाई दे रहा है । दूसरा पक्ष-घट रहित भूतल को घट का अभाव कहते हैं तो नाम मात्र का भेद हुआ, जैन अभाव को घट रहित नाम देते हैं और हम घटाभाव विशिष्टत्व नाम रखते हैं ?

जैन—यह कथन गलत है, घट से अवष्टब्ध भूतल को घटका अभाव माने तो प्रत्यक्ष विरोध आता है ऐसा जो कहा है, उसमें हमारा यह प्रश्न है कि भूतल घटाकार है क्या ? जिससे "घट नहीं होता है" इस तरह कहने में प्रत्यक्ष विरोध आवे ।

भावार्थ—घट से व्याप्त भूतल को घटाभाव कहते हैं ऐसा कहें तो क्या बाधा है ? घट और भूतलका तादात्म्य तो है नहीं, भूतल तो घटाकार है नहीं और इसीलिये तो यह भूतल घट नहीं है ऐसा कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि घट से

भिन्नेत-घटरहितत्वम्, घटाभावविशिष्टत्वमिति; तदप्यसाम्प्रतम्; यतः किं घटाकारं भूतलं येन 'घटो न भवति' इत्युच्यमाने प्रत्यक्षविरोध स्यात्. यद्भू तलं तद्घटाकाररहितत्वाद्घटो न भवत्येव। ननु यद्यपि भूतलान्नार्थान्तरं घटाभावः, तर्हि घटसम्बद्धेपि भूतले घटो नास्ति' इति प्रत्ययः स्यात्, न चैवम्, ततो यथा भूतलादर्थान्तरं घटस्तथा तदभावोपीति; तदप्यसारम्; घटासम्भविभूतलगतासाधारणधर्मोपलक्षित हि भूतल घटाभावो व्यपदिश्यते। घटावष्टब्ध तु घटभूतलगतसंयोगलक्षणसाधारणधर्मविशिष्टत्वेन तथोत्पन्नमिति न 'अघट भूतलम्' इति व्यपदेशं लभते। तन्नेतरेतराभावो विचारक्षमः।

व्याप्त भूतल घटाभाव है इस वाक्य का अर्थ जिस पृथिवी के भाग पर घड़ा रखा है वह स्थान, सो उस स्थान का घट के साथ तादात्म्य संबंध तो है नहीं, जिससे घट रखे हुए स्थान को घटाभाव नाम से पुकारा न जाय। भूतल तो घटाकार है नही, इसलिये वह घट नहो और घट नही है तो उसको घटाभाव नाम दिया तो कोई बाधा नहीं आती है।

मीमांसक—भूतल से पृथक् कोई घटका अभाव नहीं है ऐसा मानते हैं तो जहां जिस भूमि भागमें घट रखा है वहां भी, "घट नही है" इस प्रकार ज्ञान होना चाहिये ? किन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये जैसे घटको भूतल से न्यारा माना गया है, वैसे घट का अभाव भी पृथक्—न्यारा स्वीकार करना होगा ?

जैन—यह कथन असार है, घट में नहीं पाये जाने वाले भूतल गत असाधारण धर्म से युक्त भूतल को घटाभाव [घटका अभाव इस नाम से] कहते हैं। जो भूतल घट युक्त वह घट और भूतल में होनेवाले संयोग लक्षण साधारण धर्म से युक्त है। अतः उसको अघट भूतलं "घट रहित भूतल" ऐसा नहीं कहते। इस प्रकार मीमांसक का इतरेतराभाव सिद्ध नहीं होता है। तथा उसका लक्षण, उसका उपयोग उसको ग्रहण करने वाला अभाव प्रमाण सारे ही असिद्ध हैं]।

मीमांसक का माना गया प्रागभाव भी ठीक नहीं है प्रागभाव भी पदार्थ से पृथक् नहीं है, प्रमाण से ऐसा प्रतीत ही नहीं होता है कि पदार्थ पृथक् हो और उसका प्रागभाव पृथक् हो।

मीमांसक—अनुमान से प्रागभाव को पृथक् सिद्ध करके बताते हैं—अपने उत्पत्ति के पहले घट नहीं था इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह असत् विषय वाला

नापि प्रागभावः; तस्याप्यर्थादर्थान्तरस्य प्रमाणतोऽप्रतिपत्तेः। ननु स्वोत्पत्तेः प्राग्नासीद् घटः' इति प्रत्ययोऽसद्विषयः, सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, यस्तु सद्विषयः स न सत्प्रत्ययविलक्षणो यथा 'सद्द्रव्यम्' इत्यादिप्रत्ययः, सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायं तस्मादसद्विषयः इत्यनुमानात्ततोऽर्थान्तरस्य प्रागभावस्य प्रतीतिरित्यपि मिथ्या; 'प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिः' इति प्रत्ययेनानेकान्तात्। तस्याप्यसद्विषयत्वेऽभावानवस्था। अथ 'भावे भूभागादौ नास्ति घटादिः' इति प्रत्ययो मुख्याभावविषयः, 'प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वसादिः' इति प्रत्ययस्तूपचरिताभावविषयः, ततो नानवस्थेति; तद-

---

है [अभाव-विषयवाला है] क्योंकि सत् रूप ज्ञान से विलक्षण है, जो सत् को विषय करता है वह सत् के ज्ञान से विलक्षण नहीं होता, जैसे "सद् द्रव्यं" द्रव्य सत् रूप है, इत्यादि प्रत्यय सत् प्रत्यय से विलक्षण नहीं होते हैं, यह जो प्रत्यय है वह सत् प्रत्यय से विलक्षण है, अतः असत् विषयवाला है, इस पंचावयव पूर्ण अनुमान के द्वारा पदार्थ से पृथकभूत प्रागभाव की सिद्धि होती है ?

जैन—यह अनुमान मिथ्या है, आपका "सत्प्रत्यय विलक्षणत्वात्" सत् के ज्ञानसे विलक्षण है, ऐसा जो हेतु है वह अनैकान्तिक दोष युक्त है, देखिये प्रागभाव आदि में प्रध्वंसाभाव नहीं है ऐसा ज्ञान होता है, वह तो असत् विषयवाला नहीं है किन्तु सत् प्रत्यय से तो विलक्षण है ? यदि इस प्रत्यय को भी असत् विषयवाला ही माने तो अभावों की अनवस्था आती चली जायगी। भावार्थ–प्रागभाव आदि में प्रध्वंसाभाव आदि नहीं हैं ऐसा नास्ति का ज्ञान है वह सत् से तो विलक्षण है, किन्तु असत् विषयवाला तो नहीं है, अतः जो सत् से विलक्षण होता है वह ज्ञान असत् विषयवाला ही होता है ऐसा अविनाभाव बनता नहीं, इसलिये "सत्विलक्षणत्वात्" हेतु अनैकान्तिक हो जाता है।

मीमांसक—आपने जो हेतु को अनैकान्तिक कहकर अनवस्था का दोष दिया है वह ठीक नहीं है, बात ऐसी है कि सद्भाव रूप भूमि भाग आदि में जो "घट नहीं" ऐसा ज्ञान होता है वह तो मुख्य रूप से ही अभाव को विषय करनेवाला है, किन्तु प्रागभाव आदि में "प्रध्वंसाभाव आदि नहीं है" ऐसा जो ज्ञान होता है वह उपचरित अभाव को विषय करनेवाला है, इस प्रकार अभाव में अंतर होने से अनवस्था दोष नहीं आता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है इस तरह से प्रागभावादि में होनेवाले अभाव को

प्ययुक्तम्; परमार्थतः प्रागभावादीनां साङ्कर्यप्रसङ्गात् । न खलूपचरितेनाभावेनान्योन्यमभावानां व्यतिरेकः सिद्ध्येत्, सर्वत्र मुख्याभावकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तम्-'न भावस्वभावः प्रागभावादिः सर्वदा भावविशेषणत्वात्' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; हेतोः पक्षाव्यापकत्वात्, 'न प्रागभावः प्रध्वंसादौ' इत्यादेरभावविशेषणस्याप्यभावस्य प्रसिद्धेः । गुणादिनानेकान्ताच्च; अस्य सर्वदा भावविशेषणत्वेपि भावस्वभावात् । 'रूपं पश्यामि' इत्यादिव्यवहारे गुणस्य स्वतन्त्रस्यापि प्रतीतेः सर्वदा भावविशेषणत्वाभावे 'अभावस्तत्त्वम्' इत्यभावस्यापि स्वतन्त्रस्य प्रतीतेः शश्वद्भावविशेषणत्वं न स्यात् । सामर्थ्यात्तद्विशेष्यस्य द्रव्यादेः सम्प्रत्ययात्सदास्य भावविशेष-

---

उपचरित मानेंगे तो उन प्रागभावादि में सांकर्य हो जायगा, प्रागभाव में प्रध्वंसाभाव का अभाव उपचार से है तो इसका मतलब परमार्थसे वे दोनों एक हैं ? जो अभाव उपचरित है उसके द्वारा अभावों की परस्परकी पृथक्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। यदि उपचरित अभाव से परस्पर की पृथक्ता सिद्ध होती है तो मुख्य अभाव को मानना बेकार ही है ।

मीमांसक ने कहा था कि–भाव स्वभाववाले जो पदार्थ होते हैं वे प्रागभाव आदि रूप नहीं होते, क्योंकि वे सर्वदा-हमेशा भाव विशेषण रूप हैं "सो यह कथन अयुक्त है" "सर्वदा भाव विशेषणत्वात् हेतुपक्ष में अव्यापक है, कैसे सो ही बताते हैं– प्रागभाव प्रध्वंसाभावादि में नहीं है" इत्यादि अनुमान वाक्यों में अभाव भी अभाव का विशेषण होता है, ऐसा सिद्ध होता है । तथा सर्वदा भाव विशेषणत्वात् हेतु गुण आदि के साथ भी अनैकान्तिक हो जाता है । क्योंकि गुण सर्वदा भाव विशेषण रूप होने पर भी भाव स्वभाव वाले हैं । रूपको देखता हूँ, इत्यादि जो वचन व्यवहार होता है, उसमें गुणों की स्वतंत्रता भी आती है अर्थात् उस समय वे गुण विशेष्य भी बन जाते हैं । सर्वदा भाव विशेषण का अभाव होनेपर भी "अभाव तत्व है" इत्यादि वाक्य में अभाव की स्वतंत्रतासे भी प्रतीति होती है (इस वाक्य में अभाव विशेषण बना है न कि भाव) अतः भाव ही विशेषण होता है ऐसा हमेशा का नियम नहीं बनता ।

मीमांसक—अपने अभाव को विशेषण रूप सिद्ध करने के लिये "अभावस्तत्त्वम्" अभाव तत्त्व है, ऐसा उदाहरण दिया है, किन्तु उस वाक्य से अभाव में विशेष्यत्व है ऐसा सिद्ध नहीं होता, वहां तो सामर्थ्य से द्रव्य विशेष्यका ही बोध होता है अर्थात् "अभाव तत्व है" किसका है ? घटका है ऐसा अर्थ निकलता है ।

णत्वे गुणादेरपि सर्वदा भावविशेषणत्वमस्तु, तद्विशेष्यस्य द्रव्यस्य सामर्थ्यतो गम्यमानत्वात् ।

किञ्च, प्रागभावः सादिः सान्तः परिकल्प्यते, सादिरनन्तः, अनादिरनन्तः अनादिः सान्तो वा ? प्रथमपक्षे प्रागभावात्पूर्वं घटस्योपलब्धिप्रसङ्गः, तद्विरोधिनः प्रागभावस्याभावात् । द्वितीयेपि तदुत्पत्तेः पूर्वमुपलब्धिप्रसङ्गस्तत एव । उत्पन्ने तु प्रागभावे सर्वदानुपलब्धिः स्यात्तस्यानन्तत्वात् । तृतीये तु सदानुपलब्धिः । चतुर्थे पुनः घटोत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिः स्यात्, सकलकार्याणामुत्पत्स्यमानानां प्रागभावस्यैकत्वात् ।

जैन—तो फिर आपको गुण आदि में भी सिर्फ सर्वदा भाव विशेषणपना मानना होगा । विशेष्य द्रव्यकी तो सामर्थ्य से ही प्रतीति होगी ? भावार्थ–अभाव है किसका ? घटका है, ऐसा आप अभाव के विषय में अभाव को विशेष्य न मानकर द्रव्य को ही विशेष्य रूप स्वीकार करते हो वैसे ही गुण हैं किसके ? द्रव्य के, इस प्रकार द्रव्य में ही विशेष्यत्व है ऐसा मानना चाहिये । अब हम जैन मीमांसक से प्रागभाव के विषय में प्रश्न करते हैं–आप लोग प्रागभाव को सादि सांत मानते हैं, कि सादि अनत, अथवा अनादि अनंत, या अनादि सांत, सादि सांत मानते हैं तो प्रागभाव के पहले घटकी उपलब्धि होने लगेगी, क्योंकि घटका विरोधी प्रागभाव का अभाव है ? दूसरा पक्ष–सादि अनंत प्रागभाव है ऐसा मानते हैं तो प्रागभाव के उत्पत्ति के पहले घटकी उपलब्धि होगी, क्योंकि घटका विरोधी जो प्रागभाव है वह सादि है [अभी उत्पन्न नहीं हुआ है] तथा जब प्रागभाव उत्पन्न हो जायगा तब घट कभी उपलब्ध नहीं होगा, क्योंकि अब प्रागभाव हटनेवाला है नहीं, वह तो अनंत है । तीसरा पक्ष–प्रागभाव अनादि अनंत है सो तब तो कभी भी घट उपलब्ध ही नहीं होगा ? क्योंकि घट का विरोधी प्रागभाव हमेशा ही मौजूद है । चौथा पक्ष–प्रागभाव अनादि सांत है ऐसा मानें तो प्रागभाव के अभाव में घटकी उत्पत्ति होनेपर जैसे घट की उत्पत्ति होगी वैसे साथ ही अशेष कार्योंकी उपलब्धि भी हो जावेगी ? क्योंकि उत्पन्न हो रहे सभी कार्योंका प्रागभाव एक है ।

मीमांसक—प्रागभाव एक नहीं है किन्तु जितने कार्य हैं उतने ही प्रागभाव हैं उनमें से एक का प्रागभाव नष्ट होने पर भी उत्पन्न हो रहे शेष पदार्थों के प्रागभाव अभी नष्ट नहीं हुए हैं, अतः घटकी उत्पत्ति के साथ ही सभी कार्यों की उपलब्धि नहीं हो पाती है ?

ननु यावन्ति कार्याणि तावन्तस्तत्प्रागभावाः, तत्रैकस्य प्रागभावस्य विनाशेपि शेषोत्पत्स्यमानकार्यप्रागभावानामविनाशान्न घटोत्पत्तौ सकलकार्योपलब्धिरिति; तर्ह्यनन्ताः प्रागभावास्ते किं स्वतन्त्राः, भावतन्त्रा वा ? स्वतन्त्राश्चेत्कथं न भावस्वभावाः कालादिवत् ? भावतन्त्राश्चेत्किमुत्पन्नभावतन्त्राः, उत्पत्स्यमानभावतन्त्रा वा ? न तावदादिविकल्पः; समुत्पन्नभावकाले तत्प्रागभावविनाशात् । द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान्; प्रागभावकाले स्वयमसतामुत्पत्स्यमानभावानां तदाश्रयत्वायोगात्, अन्यथा प्रध्वंसाभावस्यापि प्रध्वस्तपदार्थाश्रयत्वप्रसङ्गः । न चानुत्पन्नः प्रध्वस्तो वार्थः कस्यचिदाश्रयो नाम अतिप्रसङ्गात् ।

जैन—ऐसा है तो प्रागभाव अनंत हो गये ? अब वे प्रागभाव स्वतन्त्र हैं कि भाव तंत्र (परतंत्र-पदार्थ के आश्रित) हैं सो बताइये ? यदि अनंत प्रागभाव स्वतंत्र हैं तो वे भाव स्वभाव वाले कैसे नहीं कहलायेंगे ? अर्थात् वे भी काल आदि पदार्थों के समान सद्भाव रूप हो जायेंगे । दूसरा पक्ष–वे अनत प्रागभाव भावतंत्र हैं (पदार्थों में आश्रित हैं) ऐसा माने तो प्रश्न है कि उत्पन्न हुए पदार्थों के आश्रित हैं, अथवा उत्पत्स्यमान [आगे उत्पन्न होने वाले] पदार्थों के आश्रित हैं ? उत्पन्न हुए पदार्थों के आश्रित हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थ के उत्पत्ति काल में प्रागभाव का नाश हो जाता है । दूसरा पक्ष–प्रागभाव उत्पत्स्यमान पदार्थों के आश्रित है ऐसा कहना भी श्रेयस्कर नहीं है, प्रागभाव के समय में जो स्वयं असत् रूप हैं ऐसे उत्पत्स्यमान पदार्थ प्रागभाव के लिये आश्रयभूत नहीं हो सकते हैं यदि आश्रयभूत हो सकते हैं तो प्रध्वंसाभाव का भी आश्रय नष्ट हुआ पदार्थ हो सकता है ? किन्तु जो उत्पन्न नहीं हुआ है तथा नष्ट हो चुका है ऐसा पदार्थ किसी का भी आश्रयभूत नहीं हो सकता है । भावार्थ यह है कि नष्ट एवं अनुत्पन्न पदार्थ आश्रय देने वाले होंगे तो नष्ट हुआ अथवा नहीं बना हुआ स्तंभ, महल का आश्रय देने वाला हो जायगा ऐसा अतिप्रसंग आता है ।

शंका—प्रागभाव को एक ही संख्या में माना जाय, एक ही प्रागभाव घट आदि विशेषण के भेद से भिन्न रूप उपचरित किया जाता है कि घटका प्रागभाव है पटका प्रागभाव है इत्यादि । तथा उत्पन्न हुए पदार्थ के विशेषणपनेसे उसका नाश होने पर भी उत्पत्स्यमान पदार्थ के विशेषणपने से वह अविनाशी है, अतः उस प्रागभाव को नित्य भी कहते हैं। भावार्थ–अभिप्राय यह है कि पदार्थ के निमित्त से प्रागभाव में भले ही भेद करो किन्तु वह एक ही है । उत्पन्न हुए पदार्थ का प्रागभाव नष्ट हो

अर्थैक एव प्रागभावो विशेषणभेदाद्भिन्न उपचर्यते 'घटस्य प्रागभावः पटादेर्वा' इति, तथोत्पन्नार्थविशेषणतया तस्य विनाशेप्युत्पत्स्यमानार्थविशेषणत्वेनाविनाशान्नित्यत्वमपीति । नन्वेवं प्रागभावादिचतुष्टयकल्पनानर्थक्यम् सर्वत्रैकस्यैवाभावस्य विशेषणभेदात्तथा भेदव्यवहारोपपत्तेः । कार्यस्य हि पूर्वेण कालेन विशिष्टोर्थः प्रागभावः, परेण विशिष्टः प्रध्वंसाभावः, नानार्थविशिष्टः स एवेतरेतराभावः, कालत्रयेप्यत्यन्तनानास्वभावभावविशेषणोऽत्यन्ताभावः स्यात्, प्रत्ययभेदस्यापि तथोपपत्तेः, सत्त्वैकत्वेपि द्रव्यादिविशेषणभेदात्प्रत्ययभेदवत् । यथैव हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकत्वं सत्तायाः तथैवासत्प्रत्ययाविशेषलिङ्गाभावाच्चाभावस्यापि । अथ 'प्रागनासीत्' इत्यादिप्रत्ययविशेषाच्चतुर्विधोऽभावः; तर्हि प्रागासीत्पश्चाद्भविष्यति सम्प्रत्यस्तीति कालभेदेन, पाटलिपुत्रेस्ति

जाय, किन्तु उसको नष्ट हुआ नहीं मानते, क्योंकि आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थों का प्रागभाव नष्ट नहीं हुआ है।

जैन—ऐसा कहने पर तो प्रागभाव आदि चार भेद मानना भी व्यर्थ ठहरेगा, सब जगह एक अभाव ही विशेषण के भेद से भेद वाला मान लिया जायगा, जैसे प्रागभाव में एक होते हुए भी भेद व्यवहार [पटका प्रागभाव घटका प्रागभाव ऐसा भेद] कर सकते हैं वैसे ही एक ही अभाव को मानकर विशेषण के भेद से भेद का उपचार कर सकते हैं अब इसी का विवेचन करते हैं—कार्य के पूर्व काल द्वारा विशिष्ट जो पदार्थ है उसको प्रागभाव कहना, कार्य के उत्तर काल द्वारा जो विशिष्ट है उसको प्रध्वंसाभाव, अनेक पदार्थ संबंधी विशिष्ट अभाव इतरेतराभाव और तीनों कालों में अत्यन्त भिन्न रहना है स्वभाव जिसका ऐसा भाव विशेषण रूप अत्यन्ताभाव है ऐसा मानना पड़ेगा तथा प्रागभावका ज्ञान, प्रध्वंसाभावका ज्ञान ऐसे ज्ञानके भेद भी उपचार जैसे मानसे मानने होंगे। परमतमें सत्ता एक होते हुए भी द्रव्य की सत्ता इत्यादि विशेषण के भेद से सत्ता में भेद माने जाते हैं अथवा जिस प्रकार विशेषणोंके भेदसे ज्ञानमें भेद माना जाता है। जिस प्रकार "यह है यह है" इत्यादि सद् रूप ज्ञान की अविशेषता होने से एवं विशेष लिंगके अभाव होनेसे सत्ताको एक रूप माना जाता है, उसी प्रकार "यह नहीं है यह नहीं है" इत्यादि असत् रूप ज्ञानकी अविशेषता होनेसे एवं विशेष लिंगका अभाव होनेसे अभाव को भी एक रूप मानना चाहिये?

शंका—"पहले नहीं था" इत्यादि वाक्य भेद के कारण अभाव को चार प्रकार का माना जाता है?

चित्रकूटेस्तीति देशभेदेन, द्रव्यं गुणः कर्म चास्तीति द्रव्यादिभेदेन च प्रत्ययभेदसद्भावात्प्राक्सत्तादयः सत्ताभेदाः किन्नेष्यन्ते ? प्रत्ययविशेषात्तद्विशेषणान्येव भिद्यन्ते तस्य तन्निमित्तकत्वान्न तु सत्ता, ततः सैकैवेत्यभ्युपगमे अभावभेदोपि मा भूत्सर्वथा विशेषाभावात्।

अथाभिधीयते—'अभावस्य सर्वथैकत्वे विवक्षितकार्योत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे सर्वत्राभावस्याभावानुषङ्गात्सर्वं कार्यमनाद्यनन्तं सर्वात्मकं च स्यात्; तदप्यभिधानमात्रम्; सत्त्वैकत्वेपि समानत्वात्। विवक्षितकार्यप्रध्वंसे हि सत्ताया अभावे सर्वत्राभावप्रसङ्गः तस्या एकत्वात्, तथा च सकल-

---

समाधान—तो फिर सत्ता में यही बात कहनी होगी देखिये पहले था, पीछे होगा, अभी है, इस प्रकार काल भेद से भेद, पाटलीपुत्र में है, चित्रकूट में है, इत्यादि देश के भेद से भेद, द्रव्य है, गुण है, कर्म है, इत्यादि द्रव्य के भेद से भेद इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से सत्ता में भेद हैं ऐसा भी मानना चाहिये ? द्रव्यादिकारणों का भेद तो मौजूद ही है ? तथा स्वय सत्ता में भी "पहली सत्ता" पीछे की सत्ता इत्यादि भेद होना संभव है अतः सत्ता के भेद क्यों नहीं माने जाते हैं।

मीमांसक—द्रव्यादि कारण विशेष से उस सत्ता के मात्र विशेषण ही भिन्न भिन्न हो जाते हैं, क्योंकि द्रव्यादि विशेष विशेषणोंके निमित्त है। किन्तु सत्ता में ऐसी बात नहीं है, अर्थात् सत्ता में विशेषणों के निमित्त का अभाव है अतः सत्ता एक ही है ?

जैन—तो फिर यह बात अभाव के विषय में भी लागू होगी ? अभाव में भी प्रागभाव आदि भेद नहीं मानने चाहिये ? कोई विशेषता नहीं है।

मीमांसक—अभाव को सर्वथा एक रूप मानने में आपत्ति है, देखो ! विवक्षित कोई एक कार्य उत्पन्न होने में प्रागभावका अभाव होनेपर सब जगह अभाव का अभाव हो जायगा ? और फिर सभी कार्य अनादि और अनंत हो जायेंगे, तथा वे कार्य सर्वात्मक सर्व रूप हो जायेंगे। अर्थात् प्रागभाव नहीं है तो कार्य अनादि हुआ प्रध्वंसाभाव नही माने तो कार्य अनंत होगा, तथा इतरेतराभाव नहीं है तो कार्य सब रूप एकमेक होवेगा।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, सत्ता में एकत्व मानने पर भी यही आपत्ति आयेगी उसी को बताते हैं—विवक्षित एक कार्य नष्ट होने पर उसके सत्ता का अभाव हो गया तो सर्वत्र सभी का अभाव हो जायगा क्योंकि सत्ता एक है, तथा एक जगह की

शून्यता। अथ तत्प्रध्वंसेपि नास्याः प्रध्वंसो नित्यत्वात्, अन्यथार्थान्तरेषु सत्प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्; तदन्यत्रापि समानम्, समुत्पन्नैककार्यविशेषणतया ह्यभावस्याभावेपि न सर्वथाऽभावः भावान्तरेप्यभावप्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। यथा चाभावस्य नित्यैकरूपत्वे कार्यस्योत्पत्तिर्न स्यात् तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वात्, तथा सत्ताया नित्यत्वे कार्यप्रध्वंसो न स्यात् तस्यास्तत्प्रतिबन्धकत्वात्। प्रसिद्धं हि प्रध्वंसात्प्राक्प्रध्वंसप्रतिबन्धकत्वं सत्तायाः, अन्यथा सर्वदा प्रध्वंसप्रसङ्गात् कार्यस्य स्थितिरेव न स्यात्। यदि पुनर्बलवत्प्रध्वंसकारणोपनिपाते कार्यस्य सत्ता न ध्वंसं प्रतिबध्नाति, ततः पूर्वं तु बलवद्विनाशकारणोपनि-

---

सत्ता नष्ट होते ही सब जगह की सत्ता समाप्त हो जायगी। इस तरह सत्ताके समाप्त होने से सकल शून्यता आयेगी।

मीमांसक—कार्य के नष्ट होने पर भी सत्ता का नाश नहीं होता है क्योंकि सत्ता नित्य है। यदि सत्ता को नित्य नहीं मानेंगे तो एक जगह की सत्ता नष्ट होने पर अन्य पदार्थों की सत्ता नष्ट होती तो उनमें सत् का ज्ञान नहीं होता?

जैन—यह बात अभाव में भी घटित होगी। इसी को बताते हैं–विशेषण रूप एक कार्य उत्पन्न होने पर तत् संबंधी अभाव नष्ट तो हो जाता है, किन्तु सर्वथा अभाव का अभाव नहीं होता, यदि सर्वथा सब अभाव का अभाव हो जाता तो कभी भी अभाव की प्रतीति नहीं होती तथा जिस प्रकार आप कहते हैं कि अभाव को एक एवं नित्य मानेंगे तो, कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी क्योंकि सर्वदा रहने वाला अभाव तो कार्य का प्रतिबंधक ही होगा? सो यही बात सत्ता के विषय में है–सत्ता को भी एक और नित्य मानते हैं तो कार्य का नाश कभी नहीं होगा, क्योंकि सत्ता नाश की प्रतिबंधक है। प्रसिद्ध बात है कि नाश के पहले सत्ता नाश का प्रतिबंध करती है, यदि सत्ता नाश को नहीं रोकती तो हमेशा प्रध्वंस होने से, कार्य स्थिर रहता ही नहीं? यदि कोई कहे कि जब नाश का बलवान कारण उपस्थित होता है तब सत्ता कार्य के नाश को नहीं रोक सकती, लेकिन उसके पहले नाश का बलवान कारण नहीं आने से तो नाश को रोकती ही है? अतः पहले भी कार्य के नाश होवे का प्रसंग बताया था वह नहीं आ पाता है इत्यादि, सो यही बात अभाव में भी घटित होनी चाहिये? क्या वहां यह न्याय काक भक्षित है? देखो! अभाव को भी सत्ता के समान एक सिद्ध करे–जब कार्य का बलवान उत्पादक उपस्थित हो जाता है तब अभाव मौजूद है तो भी वह कार्य की उत्पत्ति को नहीं रोकता किन्तु जब कार्य की

पाताभावात् प्रतिबध्नात्येवातो न प्रागपि प्रध्वंसप्रसङ्गः इत्येतदन्यत्रापि न काकैर्भक्षितम्, अभावोपि हि बलवदुत्पादककारणोपनिपाते कार्यस्योत्पादं सन्नपि न प्रतिरुणद्धि, कार्योत्पादात्पूर्वं तूत्पादककारणाभावात्तं प्रतिरुणद्ध्येव, अतो न प्रागपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गो येन कार्यस्यानादित्वं स्यात्।

तन्न प्रागभावोपि तुच्छस्वभावो घटते किन्तु भावान्तरस्वभावः। यदभावे हि नियमतः कार्योत्पत्तिः स प्रागभावः, प्रागनन्तरपरिणामविशिष्टं मृद्द्रव्यम्। तुच्छस्वभावत्वे चास्य सव्येतरगोविषाणादीनां सहोत्पत्तिनियमवतामुपादानसङ्करप्रसङ्गः प्रागभावाविशेषात्। यत्र यदा यस्य प्राग-

---

उत्पत्ति के पहले यदि बलवान कारण नहीं रहता तब तो कार्य की उत्पत्ति को रोकता ही है। इसीलिये तो पहले भी कार्य की उत्पत्ति हो जाने का प्रसंग बताया था वह नही आता है एवं कार्यके अनादि हो जानेका दोष भी नहीं आता। भावार्थ–जैसे सत्ता एक और होकर भी सर्वदा कार्य होना या प्रध्वंस नहीं होता इत्यादि दोष नहीं आते हैं ऐसा मीमांसक का कहना है सो इसी तरह अभाव को एक और नित्य मानने में कोई दोष नहीं आने चाहिये ? जिस प्रकार सत्ता बनी रहती है और कहीं नाश या अभाव होता रहता है उसी प्रकार अभाव बना रहता है और कहीं कार्य की उत्पत्ति या सत्ता बनी रहती है ऐसा समान न्याय सत्ता और अभाव के विषय होना चाहिये, सत्ता में वे पूर्वोक्त युक्तियां लागू हो और अभाव में वे युक्तियां घटित नहीं हो, सो उन युक्तियों को कौवों ने खा लिया है क्या ? जिससे सत्ता की बात अभाव में लागू न होवे इस प्रकार मीमांसकादि परवादी का अभिमत प्रागभाव तुच्छस्वभाववाला सिद्ध नही होता है किन्तु भावांतर स्वभाववाला ही सिद्ध होता है।

अब यहां पर स्याद्वादीके अभिमत भावांतर स्वभाव वाले प्रागभावका लक्षण किया जाता है–"यद भावे हि नियमतः कार्योत्पत्तिः स प्रागभाव ,प्रा गनंतर परिणाम विशिष्टं मृद्द्रव्यम्" जिसके अभाव होनेपर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति होती है वह प्रागभाव कहलाता है, इसके लिये जगत प्रसिद्ध उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि घट रूप कार्योत्पत्ति पहले अनंतर समयवर्ती परिणाम से [स्यात आदि से] विशिष्ट जो मृद् द्रव्य [मिट्टी] है वह घटका प्रागभाव है। प्रागभावको तुच्छ स्वभाव वाला मानते हैं तो जिनका एक साथ उत्पन्न होने का नियम है ऐसे गायके दांये बांये सींग आदि पदार्थों के उपादानोंका संकर हो जावेगा, क्योंकि उन सबका प्रागभाव एक ही है (तुच्छाभाव एक रूप होता है) कोई विशेषता नहीं है।

भावाभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरित्यप्ययुक्तम्; तस्यैवानियमात् । स्वोपादानेतरनियमात्तन्नियमेऽप्यन्योन्याश्रयः ।

प्रध्वंसाभावोपि भावस्वभाव एव, यद्भावे हि नियता कार्यस्य विपत्तिः स प्रध्वंसः, मृद्द्रव्यानन्तरोत्तरपरिणामः । तस्य हि तुच्छस्वभावत्वे मुद्गरादिव्यापारवैयर्थ्यं स्यात् । स हि तद्व्यापारेण घटादेर्भिन्नः, अभिन्नो वा विधीयते ? प्रथमपक्षे घटादेस्तदवस्थत्वप्रसङ्गात् 'विनष्टः' इति प्रत्ययो न स्यात् । विनाशसम्बन्धाद् 'विनष्टः' इति प्रत्ययोत्पत्तौ विनाशतद्वतोः कश्चित्सम्बन्धो वक्तव्यः-स हि तादात्म्यलक्षणः, तदुत्पत्तिस्वरूपो वा स्यात्, तद्विशेषणविशेष्यभावलक्षणो वा ? तत्र न तावत्तादा-

---

मीमांसक—जहां पर, जब जिसके प्रागभावका अभाव होता है वहां पर तब उसकी उत्पत्ति होती है, इस तरह हम मानते हैं अतः उपादानों में संकरता नहीं होती ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, उसी प्रागभावका तो नियम नहीं बन पाता है [अर्थात् तुच्छस्वभाववाला प्रागभाव जब जहां पर इत्यादि रूपसे कार्योत्पत्तिका नियमन नहीं कर पाता है] ।

मीमांसक—स्वका उपादान और स्वका अनुपादान का जो नियम होता है उस नियमसे प्रागभाव का नियम सिद्ध हो जायगा ?

जैन—इसतरह माने तो अन्योन्याश्रय दोष आता है–अर्थात् सव्य विषाण [दांया सींग] के उपादान का नियम सिद्ध होनेपर सव्यके प्रागभावका नियम सिद्ध होगा, और प्रागभाव नियम सिद्ध होवे तो सव्यविषाण के उपादानका सिद्ध होगा ।

अब प्रध्वंसाभाव का लक्षण बताते हैं–प्रध्वंसाभाव नामका अभाव भी भावांतर स्वभाववाला है, "यद् भावे हि नियता कार्यस्य विपत्तिः स प्रध्वंसः, मृद्द्रव्यानंतरोत्तर परिणामः" जिसके होनेपर नियमसे कार्यका नाश हो जाया करता है वह प्रध्वंस [प्रध्वंसाभाव] कहलाता है, जैसे मृद् द्रव्य (रूप घटकार्यका) का अनंतर उत्तर परिणाम (कपाल) यदि यह प्रध्वंस तुच्छ स्वभाववाला होता तो उसको करनेके लिये मुद्गर [लाठी] आदि के व्यापारकी जरूरत नहीं पड़ती । घट आदि कार्यका मुद्गरादिके व्यापार द्वारा जो प्रध्वंस किया जाता है वह घटादिसे भिन्न है कि अभिन्न है ? प्रथम पक्ष–घटका प्रध्वंस घटसे भिन्न है ऐसा कहेंगे तो घटादि वस्तु

त्म्यलक्षणोसौ घटते; तयोर्भेदाभ्युपगमात् । नापि तदुत्पत्तिलक्षणः; घटादेस्तदकारणत्वात्, तस्य मुद्गरादिनिमित्तकत्वात् । तदुभयनिमित्तत्वाददोषः; इत्यप्यसुन्दरम्; मुद्गरादिवद्विनाशोत्तरकालमपि घटादेरुपलम्भप्रसङ्गात् । तस्य स्वविनाशं प्रत्युपादानकारणत्वान्न तत्काले उपलम्भः; इत्यप्यसमीचीनम्; अभावस्य भावान्तरस्वभावताप्रसङ्गात् तं प्रत्येवास्योपादानकारणत्वप्रसिद्धेः । तयोर्विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धः; इत्यप्यसत्; परस्परमसम्बद्धयोस्तदसम्भवात् । सम्बन्धान्तरेण सम्बद्धयोरेव हि विशेषणविशेष्यभावो दृष्टो दण्डपुरुषादिवत् । न च विनाशतद्वतोः सम्बन्धान्तरेण

पूर्ववत् अवस्थित रहनेसे "घट नष्ट हो गया" इसतरहकी प्रतीति नहीं हो सकेगी । यदि विनाशके संबंधसे "विनष्ट हुआ" ऐसा प्रतिभास होता है, इसप्रकार माना जाय तो विनाश और विनाशवानमें कौनसा संबंध है इस बातको बतलाना होगा ? बताइये कि वह संबंध तादात्म्य स्वरूप है या तदुत्पत्ति स्वरूप है, अथवा उनका विशेषण विशेष्य-भाव वाला है ? विनाश और विनाशवानमें तादात्म्य संबंध तो होता नहीं, क्योंकि आपने उन विनाश, विनाशवानमें भेद स्वीकार किया है । तदुत्पत्ति स्वरूप संबंध भी नहीं बनता, क्योंकि घटादि पदार्थ उसके [नाशके] अकारण है, उस नाशके कारण तो मुद्गरादिक हैं ।

शंका— मुद्गरादिक तथा घटादिक दोनों ही नाशके कारण मान लेवें फिर कोई दोष नहीं आयेगा ?

समाधान—यह बात भी असत है, यदि मुद्गरादिके समान घट आदिक भी नाशके कारण माने जायेंगे तो नाश होनेके बाद मुद्गरादिके समान घटादिक भी उपलब्ध होने थे ? अभिप्राय यह है कि घटके नाशका कारण मुद्गर है और घट भी है ऐसा माने तो घटका नाश होनेके बाद मुद्गर [लाठी] तो दिखाई देती है किन्तु घट दिखाई नहीं देता, सो उसे भी दिखाई देना था ? क्योंकि उसे मुद्गर के समान ही नाश का कारण मान लिया ।

शंका—घट अपने नाशके प्रति उपादान कारण हुआ करता है अतः नाशके समय उपलब्ध नहीं होता ?

समाधान— यह कथन असमीचीन है, यदि परवादी इसतरह मानते हैं तो उन्हें अभावको भावांतर स्वभाववाला स्वीकार करना होगा । भावांतर स्वभाव

सम्बद्धत्वमस्तीत्युक्तम् । तत्र तद्व्यापारेण भिन्नो विनाशो विधीयते । अभिन्नविनाशविधाने तु 'घटादिरेव तेन विधीयते' इत्यायातम्; तच्चायुक्तम्; तस्य प्रागेवोत्पन्नत्वात् ।

ननु प्रध्वंसस्योत्तरपरिणामरूपत्वे कपालोत्तरक्षणेषु घटप्रध्वंसस्याभावात्तस्य पुनरुज्जीवनप्रसङ्गः; तदप्यनुपपन्नम्; कारणस्य कार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात् । कार्यमेव हि कारणोपमर्दनात्मकत्वधर्माधारतया प्रसिद्धम् ।

वाले अभाव के प्रति ही उपादान कारण की आवश्यकता हुआ करती है [तुच्छ स्वभाववाले अभावके प्रति नहीं] ।

विनाश और विनाशवानका [प्रध्वंस और घटका] विशेषण विशेष्यभाव संबंध है ऐसा तीसरा विकल्प भी असत् है, देखिये ! विनाश और विनाशवान परस्परमें संबद्ध तो है नहीं, परस्परमें असंबद्ध रहनेवाले पदार्थोंका विशेषण विशेष्यभाव संबंध होना असंभव है । देखा जाता है कि संबंधांतरसे परस्परमें संबद्ध हुए पदार्थोंमें ही विशेषण विशेष्यभाव पाया जाता है, जैसा कि दण्डा और पुरुषमें पाया जाता है । ऐसा विनाश और विनाशवानमें संबंधांतर से संबद्धत्व होना अशक्य है, इस बातको समझा दिया है अतः मुद्गरादि के व्यापार द्वारा किया जानेवाला घटका नाश घटसे भिन्न रहता है ऐसा प्रथम पक्ष खंडित होता है । द्वितीय पक्ष—मुद्गरादि व्यापार द्वारा किया जानेवाला घट विनाश घटसे अभिन्न है ऐसा माने तो उस व्यापार ने घट ही किया इसतरह ध्वनित होता है, सो यह सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि घट तो मुद्गरादि व्यापार के पहले ही उत्पन्न हो चुका है ।

शंका—यदि मृद् द्रव्यादि के उत्तर परिणाम स्वरूप प्रध्वंस हुआ करता है ऐसा मानेंगे तो कपाल होनेके बाद आगामी क्षणोंमें घट प्रध्वंसका अभाव हो चुकता है अतः घटका पुनरुज्जीवन (पुनः उत्पन्न होनेका) का प्रसंग प्राप्त होगा ?

समाधान—यह शंका व्यर्थ की है, देखिये ! जो कारण रूप पदार्थ होता है वह कार्यका उपमर्दक नहीं हुआ करता, अपितु कार्य ही कारण का उपमर्दक होता है, यह नियम सर्वजन प्रसिद्ध है ।

भावार्थ—घटका प्रध्वंस घटका उत्तर क्षणवर्त्ती परिणमन जो कपाल है उस रूप माना जाय तो कपालके उत्तर क्षणों में घट पुनः उत्पन्न हो जायगा ? ऐसी पर-

यच्च कपालेभ्योऽभावस्यार्थान्तरत्वं विभिन्नकारणप्रभवतयोच्यते; तथाहि-'उपादानघटविनाशो बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागतः संयोगविनाशादेवोत्पद्यते, उपादेय-कपालोत्पादस्तु स्वारम्भकावयवकर्मसंयोगविशेषादेवाविर्भवति' इति; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; अस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वात्। केवलमन्यप्रतारितेन भवता परः प्रतार्यते, तस्मादन्धपरम्परापरित्यागेन बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापाराद् घटाकारविकलकपालाकारमृद्द्रव्यो-त्पत्तिरभ्युपगन्तव्या अलं प्रतीत्यपलापेन।

वादीने शंका की तब आचार्य ने कार्यकारण का एक बहुत सुन्दर सिद्धांत बताकर उस शंकाका निरसन कर दिया है कि कार्य ही कारणका उपमर्दन करता है, कारण कार्य का उपमर्दन नहीं कर सकता। बीज रूप कारण का उपमर्दन करके अंकुर रूप कार्य उत्पन्न होता है, किन्तु अंकुरका उपमर्दन करके बीज उत्पन्न नहीं होता है, मिट्टी का उपमर्दन कर घट बन जाता है किन्तु घटका उपमर्दन कर मिट्टी नहीं बनती। उपमर्दन का अर्थ है पूर्व स्वरूपको बिगाड़कर तत्काल अन्य स्वरूपको धारण करना। यह दूसरी बात है कि अंकुर बड़ा पौधा हुआ फिर उसमें बाल आकर बीज उत्पन्न हुए किन्तु जैसे तत्काल कारणका उपमर्दन कार्योत्पत्ति होती है वैसे कार्यका उपमर्दन करके तत्काल कारण उत्पन्न नहीं होता है। अतः घट से प्रध्वंसरूप कपाल तो हो जाता है, किन्तु कपाल से घट नहीं बनता है।

परवादी के यहां कहा जाता है कि कपालों से भावांतर स्वभाव वाला अभाव हुआ करता है, क्योंकि वह विभिन्न कारण से उत्पन्न होता है। अब यहां इसी प्रध्वं-सादि की प्रक्रिया को बताया जाता है—बलवान पुरुष द्वारा प्रेरित हुए मुद्गरादि के अभिघात से घटके अवयवों मे क्रिया (हलन चलन) उत्पन्न होती है, उस क्रिया से अवयवोंका विभाजन होता है, उससे संयोगका विनाश होता है और उससे उपादान भूत घटका नाश हो जाता है, इसतरह विनाश अर्थात् प्रध्वस होनेका क्रम है, पुनश्च, स्व आरभक अवयवोंमें क्रिया, क्रियासे संयोग विशेष और उससे उपादेयभूत कपाल का उत्पाद होता है, यह उत्पादका क्रम है। किन्तु यह प्रध्वंसादिका क्रम विना सोचे ही प्रतिपादित किया जाता है, इस प्रक्रियाको सुनकर ऐसा लगता है कि अन्य द्वारा प्रतारित (ठगाये गये) किये आप परको प्रतारित करते रहते हैं? अर्थात् प्रतीति का अपलाप करके प्रध्वंस और उत्पादके विषयमें विपरीत मान्यतायें कर रखी हैं जिससे स्वयं वंचित हुए हैं और दूसरों को भी वंचित कर रहे हैं। अतः इस अंधपरंपरा का

'क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति' इत्याद्यप्यभावस्य भावस्वभावत्वे सत्येव घटते, दध्यादिविविक्तस्य क्षीरादेरेव प्रागभावादितयाध्यक्षादिप्रमाणतोऽध्यवसायात् । ततोऽभावस्योत्पत्तिसामग्र्याः विषयस्य चोक्तप्रकारेणासम्भवान्न पृथक्प्रमाणता । इति स्थितमेतत्प्रत्यक्षेतरभेदादेव द्वे एव च प्रमाणमिति ।

(कुशास्त्र की मान्यता का) त्याग करके ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि बलवान पुरुष द्वारा प्रेरित हुए मुद्गर आदि के व्यापार से मिट्टी द्रव्यका घटाकारसे विफल होकर कपालाकार उत्पाद हो जाना ही प्रध्वंस नामका अभाव है, अब प्रतीति का अपलाप करनेसे बस हो ।

अभावके विषयमें वर्णन करते हुए परवादीने कहा था कि दूधमें दही आदि नहीं होते उसका कारण अभाव ही है इत्यादि, सो यह कथन तब घटित होगा कि जब अभावको भावांतरस्वभाव वाला माना जाय, दही आदि की अवस्थासे रहित जो दूध आदि पदार्थ है वही प्रागभावादिरूप कहा जाता है प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा इसी तरह निश्चय होता है, अतः अभाव प्रमाणके उत्पत्ति की सामग्री एवं विषय दोनों ही पूर्वोक्त प्रकारसे संभावित नहीं होनेसे उस अभाव प्रमाणकी पृथक् प्रमाणता सिद्ध नहीं होती वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्हित होता है ऐसा निर्णय हो गया । इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से ही प्रमाण दो प्रकार ही सिद्ध होता है । अर्थात् प्रमाण के दो ही भेद हैं अधिक नहीं हैं एवं वे दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप ही हैं अन्य प्रकारसे दो भेद नहीं हो सकते ऐसा निश्चितरूप से सिद्ध होता है ।

अभावप्रमाणका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें अंतर्भाव करनेका वर्णन समाप्त

अभावप्रमाण का प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्भाव करने का सारांश

मीमांसक अभावप्रमाण सहित छः प्रमाण मानता है, अभाव प्रमाण का लक्षण—पहले वस्तु के सद्भाव को जानकर तथा प्रतियोगी का स्मरण कर इन्द्रियों की अपेक्षा बिना नहीं है, इस प्रकार मन द्वारा जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण कहलाता है, पहले घटको देखा पुनः खाली पृथ्वीको देखकर उस घट की याद आयी,

तब किसी इन्द्रिय के बिना सिर्फ मनसे घट नहीं, ऐसा ज्ञान होता है वह अभावप्रमाण है, सो इसमें प्रश्न होता है कि वह जो भूतल दिखाई पड़ता है वह घट रहित दिखता है या सहित ? घट रहित दिखता है ऐसा कहो तो वह प्रत्यक्षप्रमाण से ही दिखता है अर्थात् आँख से देखकर ही घट नहीं, ऐसा ज्ञान हुआ फिर अभावप्रमाण काहे को माने ? तथा घट सहित भूतल देखा है तो उस घट के अभाव को अभाव प्रमाण कर नही सकता। अतः जैसे वस्तुका अस्तित्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे जाना जाता है वैसे नास्तित्व भी प्रत्यक्षादि से जाना जाता है ऐसा मानना चाहिये। कभी यह अभाव प्रत्यभिज्ञानका विषय भी होता है तथा अनुमान का भी। अभाव प्रमाणके तीन भेद भी इन्हीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों में शामिल होते हैं, देखिये प्रमाणपंचकाभाव, तदन्यज्ञान और ज्ञान निर्मुक्त आत्मा इन तीन अभाव प्रमाणों में से प्रमाणपंचकाभाव तो निःस्वभाव होनेसे प्रमाण का विषय ही नहीं है तथा यह नियम नहीं है कि जहां पाचों प्रमाणप्रवृत्त न हों वहां प्रमेय ही न हो। दूसरा अभाव प्रमाण तदन्य रूप है तद् मायने घट उससे अन्य जो भूतल उसका ज्ञान सो ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्ष से ही हो जाता है अतः दूसरा अभाव प्रमाण का भेद भी कैसे बने। तथा तीसरा अभावप्रमाण ज्ञान रहित आत्मा है, यह तो बिलकुल गलत है ज्ञान रहित आत्मा कभी होता ही नहीं यदि आत्मा ज्ञान रहित हो जाय तो अभाव को भी कैसे जानेगा ? परवादीके इतरेतराभाव आदि के लक्षण भी ठीक नहीं है और लक्षण सिद्ध हुए बिना लक्ष्य सिद्ध नहीं होता है। आपके यहां इतरेतराभावको वस्तु से सर्वथा भिन्न माना है अतः उसके द्वारा वस्तुओं की आपसमें व्यावृत्ति कैसे हो ? इतरेतराभावसे घट अन्य पटादि पदार्थों से व्यावृत्त होता है सो खुद इतरेतराभाव दूसरे अभावों से कैसे व्यावृत्त होगा ?

अन्य इतरेतराभाव से कहे तो अनवस्था आती है। तथा इतरेतराभाव से घटमें पटका निषेध किया जाता है या पटत्वका या दोनों का निषेध किया जाता है इस बात को आपको बतलाना होगा, घटमें पटका निषेध करता है ऐसा कहो तो पट रहित घटमें या पट सहित घटमें ? पट रहित घटमें इतरेतराभाव पटका निषेध करता है ऐसा कहो तो यह बताओ कि घटका पट रहितपना और इतरेतराभाव इनमें क्या भेद है ? कुछ भी नहीं। तथा घट में पट नहीं है, ऐसा जाना जाता है वह घट में पटके स्वरूप को जानने के बाद जाना जाता है या बिना जाने ? दोनों तरह की मान्यता में बाधा आती है।

इतरेतर भाव घट को अन्य पटादि से पृथक् करता है सो जगत के सभी पदार्थों से पृथक् करता है या कुछ थोड़े पदार्थों से पृथक् करता है सभी से व्यावृत्त करना तो शक्य ही नहीं क्योंकि वस्तु तो अनंत है उनको हटाने में पार हो नहीं आयेगा। कुछ थोड़े पदार्थों के हटाने से तो काम नहीं चलेगा, क्योंकि जो हटाने से शेष बचे पदार्थ हैं उनका तो घट में निषेध नहीं हुआ ? अतः उनरूप घट हो जायेगा। इस तरह मीमांसक का इतरेतराभाव का स्वरूप गलत है। जैन के यहां तो इतरेतराभाव हर वस्तु में स्वतः माना है अर्थात् वस्तुमें ऐसी एक विशेषता या धर्म है कि जिसके कारण वह वस्तु अपने को अन्य अनंत सजातीय वस्तु से हटाती है अतः जैनके यहां उपर्युक्त दोष नहीं आते हैं।

परवादी के यहां प्रागभावका स्वरूप भी गलत बताया है, वह भी घटादि पदार्थों से पृथक् रहकर नास्तितता का बोध कराता है "घट उत्पत्ति के पहले नहीं था" यह प्रागभावका काम है मतलब यह सत से विलक्षण असत का ही ज्ञान कराता है, ऐसा आप एकांत मानते हैं किन्तु जो सत से विलक्षण हो, वह असत का ही विषय हो सो यह बात नहीं है। देखो प्रागभाव में प्रध्वंस नहीं ऐसा कहते हैं, यहां सत विलक्षण ज्ञान तो है, किन्तु वह असत विषय वाला नहीं है तथा वह प्रागभाव को अनादि अनंत माने तो कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी, अनादि सान्त माने तो एक घटके उत्पन्न होने में प्रागभाव का अभाव होते ही सारे जगत के कार्य उत्पन्न हो पड़ेंगे ? क्योंकि प्रागभाव एक है। प्रागभावको सादि अनत माने तो घट उत्पत्ति के पहले भी घट दिखाई देगा क्योंकि उसके विरोधी प्रागभावका अभाव है, सादि सांत कहे तो यही दोष है। जितने कार्य उतने प्रागभाव माने तो अनंत प्रागभाव स्वतंत्र रहते हैं कि पदार्थ में रहते हैं यह बताना होगा ? स्वतंत्र रहते हैं तो प्रागभाव भाव स्वभाव वाले हुए ? जैसे कालादि द्रव्य हैं वैसे प्रागभाव भी सद्भाव रूप हुए (किन्तु यह आपको इष्ट नहीं है) प्रागभाव भाव पदार्थ के आधीन है ऐसा कहा जाय तो प्रश्न होगा कि उत्पन्न हुए पदार्थ के आधीन हैं या आगे उत्पन्न होने वालों के ? उत्पन्न हुए पदार्थ में प्रागभाव रहता है ऐसा कहो तो बनता नहीं, क्योंकि प्रागभाव का अभाव करके ही पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। आगे उत्पन्न होने वाले के आधीन माने तो कैसे बने क्योंकि जो खुद हैं नहीं वह अन्य को क्या आश्रय देगा ? अतः जिसके अभाव होने पर नियम से कार्य होता है वह प्रागभाव है जैसे कि घट उत्पत्ति के पहले स्थास कोष आदि अवस्था

घटका प्रागभाव हैं ऐसा स्याद्वादीका निर्दोष लक्षण प्रागभावलक्ष्य को सिद्ध कर देता है। प्रध्वंसाभाव वह है—जिसके होने पर नियम से कार्य का नाश होता है। जैसे घटका पहला रूप स्थासादि है उसके बाद घट और उसका उत्तर परिणाम कपाल है। आप सर्वथा तुच्छाभाव रूप प्रध्वंसाभाव मानते हैं ऐसे प्रध्वंस को करने के लिए [अर्थात् घट के कपाल होने में] लाठी आदि की जरूरत नहीं रहती है। यह भी बताओ कि प्रध्वंस हुआ सो घट से भिन्न या अभिन्न ? भिन्न हुआ है ऐसा कहो तो उससे घटका कुछ बिगड़ने वाला नहीं प्रध्वंस तो अलग पड़ा है। अभिन्न है तो उस प्रध्वंस ने घट को ही किया ? नाश और नाशवान (घट) में तादात्म्य या तदुत्पत्ति संबंध हो नहीं सकता, जिससे कि उस भिन्न प्रध्वस को घटमें जोड़ा जाय। घट का नाश और कपाल के उत्पत्ति की प्रक्रिया आपके यहां बड़ी विचित्र है—बलवान पुरुष के द्वारा प्रेरित लाठी से अवयवों में क्रिया होती है, क्रिया से अवयवों का विभाजन होता है और उससे घटका नाश होता है ऐसा आपका कहना है सो असंभव है, तथा स्व आरंभक अवयवों में क्रिया होना उस क्रिया से संयोग विशेष होकर कपाल का उत्पाद होता है, सो यह भी गलत है, घटका प्रध्वंस और कपालका उत्पाद तो यही है कि लाठीके चोट आदिसे मिट्टी द्रव्यका घटाकारसे विकल होकर कपालाकार बन जाना इसी तरह का प्रध्वंसादि प्रतीति में आया करता है। अतः अभाव प्रमाण के उत्पत्ति की सामग्री आदि की सिद्धि नहीं होने से वह पृथक् प्रमाणरूप से सिद्ध न होकर प्रत्यक्षादि प्रमाण रूप ही सिद्ध होता है।

* सारांश समाप्त *

*

विशदत्वविचारः

**

तत्राद्यप्रकारं विशदमित्यादिना व्याचष्टे—

विशदं प्रत्यक्षम् ।। ३ ।।

विशदं स्पष्टं यद्विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् । तथा च प्रयोगः—विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षम् यथाऽनुमानादि, प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशद-ज्ञानात्मकमिति ।

प्रमाण की संख्या का निर्णय होने के बाद अब प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण श्री माणिक्यनंदी आचार्य के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है—

सूत्र—विशदं प्रत्यक्षम् ।। ३ ।।

सूत्रार्थ—विशद-स्पष्ट-ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है, जो ज्ञान स्पष्ट होता है वही प्रत्यक्ष है, अनुमानप्रयोग–विशदज्ञानस्वरूप प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है, जो विशदज्ञानात्मक नहीं होता वह प्रत्यक्ष भी नहीं होता, जैसे अनुमान आदि विशद नहीं हैं अतः वे प्रत्यक्ष भी नहीं हैं, प्रत्यक्ष यहां साध्य है अतः उसमें विशदज्ञानात्मकता सिद्ध की गई है ।

प्रत्यक्षप्रमाण का यह लक्षण अन्य बौद्ध आदि के द्वारा माने हुए प्रत्यक्ष का निरसन कर देता है, जैसे बौद्ध कहता है कि अकस्मात्-अचावक धूम के देखने से जो ऐसा ज्ञान होता है कि यहां अग्नि है वह प्रत्यक्ष है, तथा जितने भी पदार्थ सद्भाव रूप या कृतक रूप होते हैं वे सब क्षणिक हैं, अथवा जितने भी धूमयुक्त स्थान होते हैं वे सब अग्नि सहित होते हैं इत्यादि रूप जो व्याप्तिज्ञान है वह यद्यपि अस्पष्ट है फिर भी बौद्धों ने उसे प्रत्यक्ष माना है, सो इन सब ज्ञानों में प्रत्यक्षपना नहीं है यह बात प्रत्यक्ष के इस विशदत्वलक्षण से साबित हो जाती है, यदि बौद्ध अस्पष्ट अविशद ज्ञानको भी प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं तो फिर अनुमान ज्ञानमें भी प्रत्यक्षता का प्रसङ्ग आने से प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाणों की मान्यता नहीं बनती है,

अनेनाऽकस्माद्धूमदर्शनात् 'वह्निरत्र' इति ज्ञानम्, 'यावान् कश्चिद् भावः कृतको वा स सर्वः क्षणिकः, यावान् कश्चिद्धूमवान्प्रदेशः सोऽग्निमान्' इत्यादि व्याप्तिज्ञानं चास्पष्टमपि प्रत्यक्षमाचक्षाणः प्रत्याख्यातः; अनुमानस्यापि प्रत्यक्षताप्रसङ्गात् प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं स्यात् ।

किञ्च, अकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निरत्रेत्यादिज्ञाने सामान्यं वा प्रतिभासेत, विशेषो वा ? यदि सामान्यम्; न तर्हि प्रत्यक्षम्, तस्य तद्विषयत्वानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा 'प्रमाणद्वैविध्यं प्रमेयद्वैविध्यात्' इत्यस्य व्याघातः, सविकल्पकत्वप्रसंगश्च । विशेषविषयत्वे ततः प्रवर्त्तमानस्यात्र सन्देहो न

इस प्रकार की मान्यता में तो एक प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध होता है, फिर प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण बौद्ध ने मान्य किये हैं वे संगत नहीं बैठते ।

किञ्च—जब अकस्मात् धूम के दर्शन से ऐसा ज्ञान होता है कि यहां पर अग्नि है तब इस ज्ञान में सामान्य अग्नि प्रतिभासित होती है ? कि विशेष अग्नि प्रतिभासित होती है ? यदि सामान्य झलकता है तब तो उसको प्रत्यक्ष कह नहीं सकेंगे, क्योंकि आपके यहां प्रत्यक्ष का विषय सामान्य नही माना है । यदि ऐसा मानो तो प्रमेयद्वैविध्य से प्रमाणद्वैविध्य मानने का सिद्धान्त गलत ठहरता है । अर्थात् पहिले बौद्ध ने कहा था कि प्रमाण दो प्रकार का इसलिये मानना पडता है कि सामान्य और विशेष के भेद से प्रमेय दो प्रकार का है । सो यहां यदि प्रत्यक्ष का विषय सामान्य भी मान लिया जाय तो विशेष तो प्रत्यक्षज्ञान का विषय पहिले से ही मान्य कर लिया गया है और अब उसका विषय सामान्य भी मान लिया तो इस तरह दोनों प्रमेयों को जब प्रत्यक्ष ने ही जान लिया तो प्रमाण की संख्या दो न होकर एक ही रह जायगी । तथा प्रत्यक्ष यदि सामान्य को विषय करेगा तो वह निर्विकल्पक न रहकर सविकल्पक बन जायगा । जो आपको इष्ट नहीं है । दूसरा पक्ष—अकस्मात् धूमदर्शन से होनेवाला अग्निका ज्ञान विशेष को ग्रहण करता है ऐसा माना जाय तो जब धूम से अग्निका ज्ञान हुआ और तब वह यदि विशेषको (अग्नि संबंधी) जानता है तो उसको जाननेवाले पुरुष को ऐसा संशय ही नहीं होना चाहिये कि यहां जो अग्नि है वह घास की है अथवा पत्तों की है ? जैसे कि निकट में जलती हुई अग्नि में संदेह नहीं हुआ करता । कहीं पर भी निकट की अग्निको देखनेवाले पुरुषको संदेह होता हुआ नहीं देखा है, यदि निकटवर्त्ती अग्नि आदि पदार्थमें संदेह की संभावना है तो शब्द या लिंगसे अग्नि आदि को जानते हुए पुरुषको भी संदेहकी संभावना होगी ?

स्यात् 'तार्णो वाऽग्निः पार्णो वा' इति सन्निहितवत् । न खलु सन्निहितं पावकं पश्यतस्तत्र सन्देहोऽस्ति । सन्देहे वा शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रति(ती)यतोऽप्यसौ स्यात् । तथा चेदमसङ्गतम्-"शब्दाल्लिङ्गाद्वा विशेषप्रतिपत्तौ न तत्र सन्देहः" [ ] इति । तन्नेदं प्रत्यक्षम् । किं तर्हि ? लिङ्गदर्शनप्रभवत्वादनुमानम् । 'दृष्टान्तमन्तरेणाप्यनुमानं भवति' इत्येतच्चाग्रे वक्ष्यते ।

व्याप्तिज्ञानं चास्पष्टत्वेनाप्रत्यक्षं व्यवहारिणां सुप्रसिद्धम् । व्यवहारानुकूल्येन च प्रमाणचिन्ता प्रतन्यते "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० ३।५] इत्यादिवचनात् । न च तेषां सर्वे क्षणिका

इसतरह शब्द और लिङ्ग से होनेवाले ज्ञान में यदि संशय रहना स्वीकार करोगे तो आपका ही यह वाक्य "शब्द से अथवा लिङ्ग से वस्तु का विशेष धर्म जान लेनेपर उसमें सशय नहीं रहता है" असत्य हो जावेगा ? इसलिये अकस्मात् धूमदर्शन से होनेवाला अग्निका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहलाता, किन्तु हेतु से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञान अनुमान कहलाता है । दृष्टान्त का अभाव होने से यह अनुमानरूप नहीं हो सकता ऐसा कहो तो हम आगे यह कहनेवाले हैं कि अनुमान विना दृष्टान्त के भी होता । जो कोई धूमवान् होता है वह अग्निवान् होता है ऐसा जो व्याप्तिज्ञान है; वह अस्पष्ट होने से अप्रत्यक्ष यह बात तो सर्वव्यवहारी लोगों में भी प्रसिद्ध है । व्यवहार की अनुकूलता से ही तो प्रमाण के विषय में विमर्श होता है । इसी बात को आपके ग्रन्थमें लिखा है "प्रामाण्यं व्यवहारेण" प्रमाण में प्रमाणता व्यवहार से आती है । इत्यादि, तथा जो व्यवहारी पुरुष हैं वे समस्त क्षणिकपदार्थों को तथा कृतक पदार्थोंको धूम आदि को एवं अग्नि आदिको स्पष्ट ज्ञानका विषय नहीं मानते हैं । यदि ये सब पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय माने जावें तो फिर अनुमानप्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहती ? क्योंकि जब सब व्याप्य और व्यापक एक साथ ही स्पष्टरूप से निश्चित हो जाते हैं तब उस पुरुषको अनुमान द्वारा जानने के लिए कुछ बाकी रहा ही नहीं है कि जिसे वह अनुमान से अब सिद्ध करे । यदि पदार्थ के प्रत्यक्ष होनेपर भी अनुमानकी आवश्यकता पड़ती है तो योगियोंको भी अनुमानकी आवश्यकता होनी चाहिये ? वे भी प्रत्यक्ष से पदार्थों को जानने के बाद अनुमान का सहारा लेने लगेंगे ? निश्चित हुए पदार्थ में समारोप–संशय–विपर्यय और अनध्यवसाय होने का भी विरोध है । निश्चित हो और फिर उसमें समारोप हो ऐसा कहना तो विरुद्ध ही है ।

शंका—प्रत्यक्ष प्रतिभासित अर्थ में तत्काल तो समारोप नहीं होता; किन्तु

भावा: कृतका वाऽग्न्यादयो धूमादयो वा स्पष्टज्ञानविषया इत्यभ्युपगमोऽस्ति, अनुमानानर्थक्यप्रसङ्गात् । सर्वं हि व्याप्यं व्यापकं च स्पष्टतया युगपन्निश्चिन्वतो न किञ्चिदनुमानसाध्यम् अन्यथा योगिनोप्यनुमानप्रसङ्गः । निश्चिते समारोपस्याप्यसम्भवो विरोधात् । कालान्तरभाविसमारोपनिषेधकत्वेनानुमानस्य प्रामाण्ये क्वचिदुपलब्धदेवदत्तस्य पुनः कालान्तरेऽनुपलम्भसमारोपे सति यदनन्तरं तत्स्मरणादिकं तदपि प्रमाणं भवेत् । तन्न व्याप्तिज्ञानमप्यस्पष्टत्वात् प्रत्यक्षं युक्तम् ।

ननु चास्पष्टत्वं ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा ? यदि ज्ञानधर्मः; कथमर्थस्यास्पष्टत्वम् ? अन्यस्यास्पष्टत्वादन्यस्यास्पष्टत्वेऽतिप्रसङ्गात् । अर्थधर्मत्वे कथमतो व्याप्तिज्ञानस्याप्रत्यक्षताप्रसिद्धिः ?

कालान्तर में हो सकता है, अतः आगे आनेवाले समारोप का निषेधक होने से अनुमान में प्रमाणता मानी गई है ।

समाधान—तो ऐसे कथन के अनुसार आपको स्मरणादि ज्ञानों में भी प्रमाणता मानना पड़ेगी, जैसे–किसी पुरुष को कहीं पर देवदत्त की उपलब्धि हुई फिर कालान्तर में उसके ज्ञान में समारोप नहीं आया, और उसी देवदत्त का उसे स्मरणादिरूप ज्ञान हुआ है तो उस ज्ञान को भी आपको प्रमाण मानना चाहिये ? (बौद्धों ने स्मरणादि ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है इसलिये उन्हें स्मरणादि को प्रमाण मानने की बात कही गई है) अतः अस्पष्ट होनेसे व्याप्ति ज्ञानको प्रत्यक्ष मानना ठीक नहीं है ।

बौद्ध—आप अस्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह रहे हो सो यह अस्पष्टता ज्ञान का धर्म है अथवा पदार्थ का धर्म है ? यदि ज्ञान का धर्म मानो तो उससे पदार्थ में अस्पष्टता कैसे कहलावेगी ? यदि अन्य की अस्पष्टता को लेकर अन्य किसी में अस्पष्टता मानी जावे तो अतिप्रसंग आवेगा ? [दूरवर्ती वृक्ष की अस्पष्टता को लेकर निकटवर्ती पदार्थ में भी अस्पष्टता मान लेनी पड़ेगी] यदि अस्पष्टता पदार्थ का धर्म है ऐसा दूसरा पक्ष अंगीकार किया जाये तो उस पदार्थ की अस्पष्टता से व्याप्तिज्ञान में अस्पष्टता किस प्रकार आयेगी । यदि इस तरह अन्यके धर्मसे अन्यमें अस्पष्टता आ सकती है तो व्यधिकरण नामा दोष [साध्यका अधिकरण भिन्न और हेतुका अधिकरण भिन्न हो उस हेतु को व्यधिकरण दोष युक्त कहते हैं] से दूषित हेतु द्वारा साध्य सिद्धि माननी होगी ? इसतरह तो यह महल सफेद है क्योंकि कौवा काला है, इसप्रकार का व्यधिकरण हेतु भी महल में धवलता का गमक हो जावेगा, अतः पदार्थ की अस्पष्टता से ज्ञान में अस्पष्टता मानना युक्तियुक्त नहीं है ?

व्यधिकरणाद्धेतो साध्यसिद्धौ 'काकस्य कार्ष्ण्याद्धवलः प्रासादः' इत्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्पष्टत्वेपि समानत्वात्। तदपि हि यदि ज्ञानधर्मस्तर्हि कथमर्थे स्पष्टता अतिप्रसङ्गात्? विषये विषयिधर्मस्योपचाराददोषेऽत एव सोन्यत्रापि मा भूत्। संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः स्पष्टतावत्। तस्याः विषयधर्मत्वे सर्वदा तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्कुतः प्रतिभासपरावृत्तिः? न चास्पष्टसंवेदनं निर्विषयमेव, संवादकत्वात्स्पष्टसंवेदनवत्। क्वचिद्विसंवादात्सर्वत्रास्य विसंवादे स्पष्टसंवेदनेपि तत्प्रसङ्गः। ततो नैतत्साधु —

जैन—यह कथन विना विचारे किया है, क्योंकि जैसा आपने अस्पष्टत्व के विषय में प्रतिपादन किया है वैसा स्पष्टत्व के विषय में भी कहा जा सकता है, इसी को बताया जाता है, हम भी आपसे यह प्रश्न कर सकते हैं, बताइये! स्पष्टता पदार्थका धर्म है या ज्ञानका? यदि ज्ञानका धर्म है तो वह पदार्थमें कैसे आया? इस तरह माने तो अतिप्रसंग आयेगा।

शंका—विषय में विषयी के धर्म का उपचार करके कह दिया जाता है कि पदार्थ में स्पष्टता है; सो ऐसा कहने से कोई दोष नहीं है।

समाधान—सो ऐसी ही बात अस्पष्टत्व धर्म में भी मान लेनी चाहिये अर्थात् अस्पष्टत्व ज्ञान का धर्म है, किन्तु वह पदार्थ में उपचरित कर लिया जाता है अतः कोई दोष नहीं है। अस्पष्टता ज्ञानका ही धर्म है जैसा स्पष्टता ज्ञान का धर्म है। यदि अस्पष्टता पदार्थ का धर्म है ऐसा माना जाय तो पदार्थ सर्वदा अस्पष्ट ही प्रतिभासित होगा, क्योंकि ऐसा प्रतिभासित होना पदार्थ का धर्म है। तथा ऐसा होने पर उसमें स्पष्टता अस्पष्टता के प्रतिभास का जो परिवर्तन होता रहता है वह भी कैसे होगा?

मतलब यह है कि अस्पष्टत्व पदार्थका धर्म है ऐसा माना जाता है तो पदार्थ कभी दूर से अस्पष्ट प्रतीत होता है और कभी निकट से स्पष्ट प्रतीत होता है सो ऐसा जो उसमें प्रतिभास का परिवर्तन होता है वह कैसे हो सकेगा? क्योंकि वह तो एक अस्पष्ट धर्मयुक्त है। तथा ऐसा भी नहीं कह सकते कि अस्पष्टताको विषय करनेवाला ज्ञान निर्विषय है, क्योंकि अस्पष्टता को विषय करनेवाले ज्ञान में संवादकपना है, जैसा कि स्पष्टता को विषय करनेवाले ज्ञान में है, [तात्पर्य यह है कि अस्पष्टता को विषय करनेवाला ज्ञान भी अपने द्वारा जाने गये विषय में प्रवृत्ति कराने रूप अर्थक्रियावाला

"बुद्धिरेवातदाकारा तत उत्पद्यते यदा ।
तदाऽस्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः ।।"
[प्रमाणवार्त्तिकालं० प्रथमपरि०]

द्विचन्द्रादिप्रतिभासेपि तद्वयवहारानुषङ्गाच्च । स्पष्टप्रतिभासेन बाध्यमानत्वादस्य निर्विषयत्व-मन्यत्रापि समानम् । यथैव हि दूरादस्पष्टप्रतिभासविषयत्वमर्थस्याराल्स्पष्टप्रतिभासेन बाध्यते तथा सन्निहितार्थस्य स्पष्टप्रतिभासविषयत्वं दूरादस्पष्टप्रतिभासेन, अविशेषात् ।

होता है] यदि कहीं २ अस्पष्टता को विषय करनेवाले ज्ञानमें विसंवादकता देखी जाती है, इसलिये इस ज्ञानको सर्वत्र विसंवादी माना जाय तो स्पष्टता को विषय करने वाले ज्ञान में भी कहीं २ विसंवादकता देखी जाती है अतः उसे भी विसंवादी मानने का प्रसंग प्राप्त होगा, इस प्रकार स्पष्टता को और अस्पष्टता को विषय करनेवाले दोनों ही ज्ञानों में संवादकता और विसंवादकता समानरूप से ही है । इसलिये बौद्धके प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में जो कहा गया है वह असत् ठहरता है—

"जब पदार्थ से अतदाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, तब अस्पष्ट प्रतिभासका व्यवहार जगत् में माना जाता है ।। १ ।।

इस कारिका के प्रकरणमें बौद्ध यह कहना चाहते हैं कि स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व पदार्थ के धर्म हैं किन्तु जब ज्ञान पदार्थके आकारवाला उत्पन्न न होकर अतदाकार वाला उत्पन्न होता है तब उस ज्ञानको अस्पष्ट ज्ञान है ऐसा कहने लग जाते हैं इत्यादि, सो यह कथन उन्हींके मतसे बाधित होगा, देखिये ! जो ज्ञान अतदाकारसे उत्पन्न होता है वह अस्पष्टपने से व्यवहृत होता है ऐसा कहेंगे तो द्विचंद्र आदि के ज्ञान अस्पष्ट प्रतिभास वाले मानने पड़ेंगे ? किन्तु बौद्धने इन द्विचन्द्रादिके ज्ञान को स्पष्टत्व रूपसे व्यवहृत किया है ।

बौद्ध—द्विचन्द्र आदि का ज्ञान तो आगे जाकर स्पष्ट प्रतिभास से बाधित होता है, अतः इस ज्ञानको हम निर्विषय मानते हैं ?

जैन—यही बात स्पष्ट ज्ञान में भी घटित हो जावेगी, अर्थात् जिस प्रकार दूर से पदार्थका जो अस्पष्ट प्रतिभास होता है वह निकट से होनेवाले स्पष्ट प्रतिभास से बाधित होता है, वैसे ही निकटवर्ती पदार्थका प्रतिभास दूर से होनेवाले अस्पष्ट-प्रतिभास से बाधित होता ही है । इस तरह दोनों में समानता है ।

ननु विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात्तत्र स्पष्टास्पष्टत्वव्यवहारे विषयिणोपि ज्ञानस्य तद्धर्मता-सिद्धिः कुतः ? स्वज्ञानस्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्याम्, स्वतो वा ? प्रथमपक्षेऽनवस्था । द्वितीयपक्षे त्वविशेषेणाखिलज्ञानानां तद्धर्मताप्रसङ्गः; इत्यप्यसमीचीनम्; तत्रान्यथैव तद्धर्मताप्रसिद्धेः । स्पष्टज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषाद्धि क्वचिद्विज्ञाने स्पष्टता प्रसिद्धा, अस्पष्टज्ञानावरणादिक्षयोपशमविशे-षात्त्वस्पष्टतेति । प्रसिद्धश्च प्रतिबन्धकापायो ज्ञाने स्पष्टताहेतू रजोनीहाराद्यावृता(ता)र्थप्रकाश-स्येव तद्वियोगः ।

अक्षात्स्पष्टता इत्यन्ये, तेषां दविष्ठपादपादिज्ञानस्य दिवोलूकादिवेदनस्य च तत्प्रसङ्गः ।

बौद्ध—विषयी [ज्ञान के] धर्म का विषय (पदार्थ) में उपचार करने से वहां स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व का व्यवहार होता है–अर्थात् ज्ञान स्पष्ट है तो पदार्थ स्पष्ट है ऐसा कहा जाता है और ज्ञान अस्पष्ट है तो पदार्थ अस्पष्ट है ऐसा कह दिया जाता है, यदि ऐसा माना जाय, तो विषयी जो स्वयं ज्ञान है उसमें वे स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व धर्म कहां से आये ? अपने को ग्रहण करनेवाले ज्ञानके स्पष्टत्व और अस्पष्टत्वसे आते हैं ? या स्वतः ही आते हैं ? प्रथमपक्ष में अनवस्था दोष आता है । द्वितीय पक्ष में समानरूप से सभी ज्ञानों में उन दोनों ही स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व धर्मोंके आने का प्रसंग प्राप्त होता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है । हम जैन ज्ञान में स्पष्टता और अस्पष्टता दूसरी तरह से ही मानते हैं । इसी बातको खुलासारूप में समझाते हैं–स्पष्टज्ञानावरण कर्म के और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशमविशेष से किसी ज्ञान में स्पष्टता और अस्पष्टज्ञानावरणादिकर्मों के क्षयोपशम से किसी ज्ञान में अस्पष्टता आती है । ऐसा सुप्रसिद्ध अक्षय सिद्धान्त है, कि प्रतिबंधक जो आवरण कर्म है उसका अपाय होने से ज्ञान में स्पष्टता आती है । जिस प्रकार रज-धूलि आदि के नाश होनेपर पदार्थ में स्पष्टता–निर्मलता आती है ।

अन्य जो मीमांसक हैं वे ज्ञान में स्पष्टता इन्द्रियों से आती है ऐसा मानते हैं, किन्तु ऐसा मानने पर दूरवर्ती वृक्ष आदि के ज्ञान और दिन में उल्लू आदि के ज्ञान सब ही स्पष्ट बन बैठेंगे । क्योंकि ज्ञान में स्पष्टता का कारण इन्द्रियां तो वहां हैं ही ।

शंका—उन वृक्षादिक के ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली जो इन्द्रियां हैं वे प्रति-

तदुत्पादकाक्षस्यातिदूरदेशदिनकरकरनिकरोपहतत्वाददोषोयमिति; अत्राप्यक्षस्योपघातः, शक्तेर्वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; तत्स्वरूपस्याविकलस्यानुभवात् । द्वितीयपक्षे तु योग्यतासिद्धिः; भावेन्द्रियाख्यक्षयोपशमलक्षणयोग्यताव्यतिरेकेणाक्षशक्तेरव्यवस्थितेः । तल्लक्षणाच्चाक्षात्स्पष्टत्वाभ्युपगमेऽस्मन्मतप्रसिद्धिः ।

आलोकोप्येतेन तद्धेतुः प्रत्याख्यातः । ततः स्थितमेतद्विशदज्ञानस्वभावं प्रत्यक्षमिति ।

ननु किमिदं ज्ञानस्य वैशद्यं नामेत्याह अव्यवधानेनेत्यादि ।

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।। ४ ।।

दूरदेश और सूर्य की किरणों द्वारा उपहत हो जाती हैं, अतः इन्द्रियों से अस्पष्ट ज्ञान होता है ।

समाधान—अच्छा तो इनमें भी एक बात यह बताओ कि सूर्यकिरणादिक के द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियों का घात होता है, अथवा उनकी शक्ति का घात होता है ? इन्द्रियों का घात होता है ऐसा कहा जाये तो वह विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि इन्द्रियों का स्वरूप तो उस ज्ञान के समय में वैसे का वैसा ही दिखाई देता है । दूसरे पक्ष–शक्ति का घात होता है ऐसा कहा जाये तो योग्यता की सिद्धि होती है, क्योंकि भावेन्द्रिय जिसका नाम है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशम होने को योग्यता कहते हैं इस योग्यता को छोड़कर अन्य कोई इन्द्रियशक्ति सिद्ध नहीं होती है । ऐसी इस क्षयोपशमरूप इन्द्रिय से यदि ज्ञान में स्पष्टता का होना मानते हो तब तो जैनमत की मान्यता की ही प्रसिद्धि होती है ।

इन्द्रियों के समान प्रकाश भी ज्ञान में स्पष्टता का कारण नहीं होता है ऐसा समझना चाहिये, इसलिये यह निश्चय हो जाता है कि विशदज्ञान स्वभाव वाला प्रत्यक्षप्रमाण होता है ।

अब यहां पर कोई पूछता है कि ज्ञान में विशदता क्या है ? तब आचार्य इसका उत्तर इस सूत्र द्वारा देते हैं—

सूत्र—प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।। ४ ।।

सूत्रार्थ—अन्य ज्ञानों का जिसमें व्यवधान न पड़े ऐसा जो विशेष आकारादि का जो प्रतिभास होता है, वही वैशद्य है । यहां प्रतीत्यन्तर से व्यवधान नहीं होना

तुल्यजातीयापेक्षया च व्यवधानमव्यवधानं वा प्रतिपत्तव्यं न पुनर्देशकालाद्यपेक्षया। यथा 'उपर्युपरि स्वर्गपटलानि' इत्यत्रान्योन्यं तेषां देशादिव्यवधानेपि तुल्यजातीयानामपेक्षाकृता प्रत्यासत्तिः सामीप्यमित्युक्तम्, एवमत्राप्यव्यवधानेन प्रमाणान्तरनिरपेक्षतया प्रतिभासनं वस्तुनोऽनुभवो वैशद्यं विज्ञानस्येति।

नन्वेवमीहादिज्ञानस्यावग्रहाद्यपेक्षत्वादव्यवधानेन प्रतिभासनलक्षणवैशद्याभावात्प्रत्यक्षता न स्यात्; तदसारम्; अपरापरेन्द्रियव्यापारादेवावग्रहादीनामुत्पत्तेस्तत्र तदपेक्षत्वासिद्धेः। एकमेव चेदं

कहा है वह तुल्यजातीय की अपेक्षा से व्यवधान का निषेध करने के लिये कहा है। देशकाल आदि की अपेक्षा से नहीं। जैसे–ऊपर ऊपर स्वर्ग पटल होते हैं, इसमें वे स्वर्ग के पटल परस्परके देश व्यवधान से स्थित हैं, किन्तु तुल्यजातीय अन्य पटलोंकी अपेक्षा वे अन्तरित नहीं हैं।

मतलब—स्वर्ग में एक पटल के बाद ऊपर दूसरा पटल है, बीच में कोई रचना नहीं है, किन्तु वे पटल अंतराल लिये हुए तो हैं ही, उसी प्रकार जिस ज्ञानमें अन्य तुल्यजातीय ज्ञानका व्यवधान नहीं है–ऐसे दूसरे ज्ञान की सहायता से जो निरपेक्ष है और जिसमें विशेषाकार का प्रतिभास हो रहा है ऐसा ज्ञान ही विशद कहा गया है, तथा यही ज्ञान की विशदता है जो अपने विषय को जानने में अन्य ज्ञान की सहायता नहीं चाहना, और जिसमें पदार्थका प्रतिभास विशेषाकाररूप से होना?

शंका—ईहा आदि ज्ञानों में अवग्रह आदि ज्ञानों की अपेक्षा रहती है, अतः अव्यवधान रूप से जो प्रतिभास होता है वह वैशद्य है ऐसा वैशद्य का लक्षण उन ईहादिज्ञानों में घटित नहीं होता है, अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे कहलावेंगे?

समाधान—यह कथन निस्सार है। क्योंकि अवग्रहादि ज्ञानोंकी उत्पत्ति अन्य अन्य इन्द्रियोंके व्यापार से होती है, इसलिये ईहादिकी उत्पत्तिमें अवग्रह आदि की अपेक्षा नहीं पड़ती है।

मतलब यह है कि ये अवग्रहादि भेद मूलभूत मतिज्ञान के हैं और वह मतिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। अतः अवग्रहादिरूप अतिशयवाला तथा अन्य २ चक्षु आदि इन्द्रियोंके व्यापार से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान स्वतन्त्ररूप से अपने विषय में प्रवृत्ति करता है, इसलिये यहां पर भी (ईहादिरूप मतिज्ञान में भी) प्रमाणान्तर का व्यवधान नहीं होता है। परन्तु अन्य जो अनुमानादि ज्ञान हैं वे लिंग-

विज्ञानमवग्रहाद्यतिशयवदपरापरचक्षुरादिव्यापारादुत्पन्नं सत्स्वतन्त्रतया स्वविषये प्रवर्त्तते इति प्रमाणान्तराव्यवधानमत्रापि प्रसिद्धमेव। अनुमानादिप्रतीतिस्तु लिङ्गादिप्रतीत्यैव जनिता सती स्वविषये प्रवर्त्तते इत्यव्यवधानेन प्रतिभासनाभावान्न प्रत्यक्षेति। ततो निरवद्यमेवंविधं वैशद्यं प्रत्यक्षलक्षणम्, साकल्येनाखिलाध्यक्षव्यक्तिषु सम्भवेनाव्याप्त्यसम्भवदोषाभावात्। अतिव्याप्तिस्तु दूरोत्सारितैव अप्यध्यक्षत्वानभिमते क्वचिदप्येतल्लक्षणस्यासम्भवात्।

समन्धकारादौ ध्यामलितवृक्षादिवेदनमप्यध्यक्षप्रमाणस्वरूपमेव, संस्थानमात्रे वैशद्याविसंवादित्वसम्भवात्। विशेषांशाध्यवसायस्त्वनुमानरूपो, लिङ्गप्रतीत्या व्यवहितत्वान्नाध्यक्षरूपतां प्रति-

---

ज्ञान आदि की अपेक्षा लेकर ही स्वविषय में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए इनमें अव्यवधान से प्रतिभास का अभाव होनेसे प्रत्यक्षता का अभाव है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का यह वैशद्य लक्षण निर्दोष है, संपूर्ण प्रत्यक्षप्रमाणों में पाया जाता है, अतः इसमें अव्याप्ति और असंभव दोषों का अभाव है। अतिव्याप्ति नामका दोष तो दूर से ही हट गया है क्योंकि जो प्रत्यक्ष नहीं है उनमें कहीं पर भी इस प्रत्यक्षलक्षण का सद्भाव नही पाया जाता है। अंधकार आदि में जो अस्पष्टरूप से वृक्षादि का ज्ञान होता है वह भी प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूप ही है क्योंकि सामान्यपने से संस्थानमात्र में तो वैशद्य और अविसंवादित्व मौजूद है। वृक्षादिका जो विशेषांश है उसका निश्चय तो अनुमानज्ञान रूप होगा, उस विशेषांश ग्राहक ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कहेंगे, क्योंकि उसमें लिङ्गज्ञान का व्यवधान है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—

जैसे किसी व्यक्ति ने अतिदूर देश में पहिले तो किसी पदार्थका सामान्य आकार जाना, उसे जानकर वह फिर इस प्रकार से विशेष का विवेचन करता है कि जो ऐसे आकारवाला होता है वह वृक्ष होता है या हस्ती होता है या पलाल कूटादि होता है, क्योंकि इस प्रकार के आकार की अन्यथा अनुपपत्ति है। इस तरह उत्तरकाल में वह अनुमान के द्वारा विशेष को जानता है, फिर जैसे २ वह पुरुष आगे २ बढ़ता हुआ उस पदार्थके प्रदेश के पास जाता है तब स्पष्ट रूप से जान लेता है। आगे आगे बढ़ने पर और प्रदेश के निकट आते जाने पर संस्थान आदि के ज्ञान में जो तरतमता आती जाती है उसका कारण विशदज्ञानावरणी कर्म का तरतमरूप से अपगम होना है।

विशेषार्थ—निकटवर्ती वृक्ष के जानने में भी किसी को उस वृक्षका अतिस्पष्ट ज्ञान होता है, किसी को उससे कम स्पष्ट ज्ञान होता है, तथा अन्य को उससे भी कम

पद्यते । अतिदूरदेशे हि पूर्वं संस्थानमात्रं प्रतिपद्य 'अयमेवंविधसंस्थानविशिष्टोर्वो वृक्षो हस्ती पलाल-कूटादिर्वा एवंविधसंथानविशिष्टस्वान्यथानुपपत्तेः' इत्युत्तरकालं विशेषं विवेचयति । तरतमभावेन तत्प्रदेशसन्निधाने तु संस्थानविशेषविशिष्टमेवार्थं वैशद्यतरतमभावेनाध्यक्षत एव प्रतिपद्यते, विशदज्ञानावरणस्य तरतमभावेनैवापगमात् ।

ननु च परोक्षेपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञादिस्वरूपसंवेदनेऽस्याध्यक्षलक्षणस्य सम्भवादतिव्याप्तिरेव;

स्पष्ट ज्ञान होता है । अथवा-एक ही व्यक्तिको उसी वृक्षका कभी तो स्पष्टज्ञान होता है, कभी अतिस्पष्ट ज्ञान होता है, जबकि वह वृक्ष वैसे का वैसा ही निकटवर्त्ती है, सो ऐसी ज्ञानों में यह वैशद्य की तरतमता विशदज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की तरतमता के कारण हुआ करती है ।

शंका—परोक्षभूतस्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि के स्वरूपसंवेदन में भी यह प्रत्यक्ष का लक्षण चला जाता है, अतः प्रत्यक्ष का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष युक्त है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि उन ज्ञानोंका जो स्वरूपसंवेदन है वह परोक्ष नहीं है क्योंकि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होनेवाले इन क्षायोपशमिक ज्ञानोंका जो स्वरूपसंवेदन है, वह अनिन्द्रिय जो मन है उसकी प्रधानता से उत्पन्न होता है, इसलिये वह मानस प्रत्यक्ष इस नाम से कहा जाता है जैसा कि सुख आदि का स्वरूपसंवेदन प्रत्यक्ष नामसे कहा जाता है । ज्ञानों में जो प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसा व्यपदेश होता है वह बाहिरी पदार्थोंको ग्रहण करने की अपेक्षा से होता है । अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान जब बाहिरी घट पट आदि पदार्थों को जानने में प्रवृत्त होते हैं तब उनमें से किसी को प्रत्यक्ष और किसी को परोक्ष ऐसे नाम से कहते हैं । क्योंकि बाहिरी पदार्थों के ग्रहण में प्रमाणान्तर का व्यवधान और अव्यवधान के कारण वैशद्य और अवैशद्य दोनों होना संभव है जिस ज्ञानमें पदार्थ को ग्रहण करते समय प्रमाणान्तर का व्यवधान पड़े वह ज्ञान परोक्ष और जिसमें व्यवधान न पड़े वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहा गया है, किन्तु अपने स्वरूप को ग्रहण करने में [अपने आपको जानने में] अन्य ज्ञानों का व्यवधान नहीं पड़ता है, अतः वे सभी ज्ञान स्वसंवेदन की अपेक्षा तो प्रत्यक्ष ही हैं ।

विशेषार्थ— यहां पर प्रत्यक्ष का लक्षण "विशदं प्रत्यक्षम्" ऐसा किया है, और वैशद्य का लक्षण अन्य प्रमाण का व्यवधान हुए बिना पदार्थ का ग्रहण होना

इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; तस्य परोक्षत्वासम्भवात्, क्षायोपशमिकसंवेदनानां स्वरूपसंवेदनस्यानिन्द्रियप्रधानतयोत्पत्तेरनिन्द्रियाध्यक्षव्यपदेशसिद्धेः सुखादिस्वरूपसंवेदनवत् । बहिरर्थग्रहणापेक्षया हि विज्ञानानां प्रत्यक्षेतरव्यपदेशः, तत्र प्रमाणान्तरव्यवधानाव्यवधानसद्भावेन वैशद्येतरसम्भवात्, न तु स्वरूपग्रहणापेक्षया, तत्र तदभावात् ।

ततो निर्दोषत्वाद्वैशद्यं प्रत्यक्षलक्षणं परीक्षादक्षैरभ्युपगन्तव्यं न 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्'

कहा है, वैशद्य में भी तरतमता स्वीकार की है । क्योंकि विशद ज्ञानावरण के क्षयोपशम में तरतमता पाई जाती है । अतः एक ही पदार्थ को ग्रहण करते समय एक ही स्थान पर रहे हुए पुरुषों के ज्ञानों में पृथक् २ रूप से वैशद्य की हीनाधिकता देखी जाती है । तथा एक व्यक्ति को भी उसी निकटवर्ती विवक्षित पदार्थ का ज्ञान विशद, विशदतर, विशदतम समय भेद से होता हुआ देखा जाता है । सो वह भी विशदज्ञानावरण के क्षयोपशम की हीनाधिकता होने के कारण ही होता है । एक खास बात यह है कि स्मृति आदि परोक्ष कहे जाने वाले ज्ञान भी स्वस्वरूप के संवेदन में प्रत्यक्ष कहलाते हैं ऐसा श्री प्रभाचन्द्र आचार्य कहते हैं एवं उन ज्ञानों को प्रत्यक्ष मानने में वे हेतु देते हैं कि इन ज्ञानों में अपने आपको जानने में अन्य प्रमाणों का व्यवधान नहीं पड़ता है अतः वे भी स्वग्रहण में प्रत्यक्ष नाम पाते हैं । जैसे—सुखादिक का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष कहलाता है वैसे सारे के सारे स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और आगम सभी ज्ञान अपने आपको संवेदन करने में अन्य तीनों का व्यवधान नहीं रखते हैं, अतः वे सब मानस प्रत्यक्ष कहलाते हैं । किन्तु जब वे स्मृति आदि ज्ञान बाहिरी पदार्थ को ग्रहण करने में प्रवृत्त होते हैं तब उन्हें परोक्ष कहते हैं । क्योंकि तब उनमें प्रमाणान्तर का व्यवधान पाया जाता है । किन्तु प्रत्यक्षनाम से स्वीकार किया हुआ प्रमाण स्व और अन्य घट पट आदि पदार्थों को प्रमाणान्तर के व्यवधान हुए बिना ही जानता है, अतः हमेशा ही वह प्रत्यक्ष नाम से कहा जाता है । प्रत्यक्ष प्रमाण का यह "विशदं प्रत्यक्षं" लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीनों ही दोषों से रहित है । इस लक्षण के द्वारा बौद्ध आदिके सिद्धान्त में संमत व्याप्तिज्ञान आदि में मानी गई प्रत्यक्षप्रमाणता का खंडन हो जाता है । स्पष्टत्व [विशदत्व] धर्म पदार्थ का है ऐसा बौद्धों का कहना है सो उनके इस कथन को आचार्य ने अच्छी तरह से निरस्त किया है । यदि स्पष्टत्व या अस्पष्टत्व पदार्थ का धर्म होता तो उसी पदार्थ का कभी स्पष्ट ज्ञान और कभी अस्पष्टज्ञान होता है वह कैसे होता ? अतः स्पष्टत्व हो चाहे अस्पष्टत्व

[न्यायसू० १।४] इत्यादिकं तस्याव्यापकत्वादतीन्द्रियप्रत्यक्षे सर्वज्ञविज्ञानेऽस्यासत्त्वात् । न च 'तन्नास्ति' इत्यभिधातव्यम्; प्रमाणतोऽनन्तरमेवास्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात् । तथा सुखादिसंवेदनेप्यस्यासत्त्वम् । न हीन्द्रियसुखादिसन्निकर्षात्तज्ज्ञानमुत्पद्यते; सुखादेरेव स्वग्रहणात्मकत्वेनोदयादित्युक्तम् । चाक्षुषसंवेदने चास्यासत्त्वम्; चक्षुषोर्थेन सन्निकर्षाभावात् ।

हो दोनों ही ज्ञानके धर्म हैं । और वे अपने २ स्पष्टज्ञानावरण और अस्पष्टज्ञानावरण के क्षयोपशम से होते हैं । इस प्रकार विशदज्ञान के विषय का आचार्य ने युक्तिपुरस्सर विशद वर्णन किया है ।

इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण का यह "विशदं प्रत्यक्षं" लक्षण सर्वथा निर्दोष है ऐसा जब सिद्ध हो चुका तब इस लक्षण को सभी परीक्षाचतुर पुरुषों को स्वीकार करना चाहिये, इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बंध से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है ऐसा नहीं मानना चाहिये, क्योंकि इस लक्षण में अव्याप्ति आदि दोष आते हैं । जैसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप सर्वज्ञके ज्ञानमें "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न" यह प्रत्यक्ष का लक्षण घटित नहीं होता यदि कोई ऐसी आशंका करे कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नामका कोई ज्ञान ही नहीं है अत: हमारा संमत प्रत्यक्षलक्षण सदोष नहीं होता है ? सो भी बात नहीं है, क्योंकि "अतीन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है" इस बात को हम जैन आगे निकट में ही सिद्ध करनेवाले हैं ।

"इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्षप्रमाण उत्पन्न होता है" ऐसा माननेमें सर्वज्ञज्ञान के समान सुख आदि के ज्ञान में भी अव्याप्ति होती है, क्योंकि सुख आदि का संवेदन भी इन्द्रियार्थ के सन्निकर्षसे उत्पन्न नहीं होता है । कोई कहे कि इन्द्रिय और सुख के सन्निकर्ष से वह सुखसंवेदन उत्पन्न होता है सो बात भी सर्वथा गलत है । क्योंकि सुखसंवेदन तो स्वग्रहणरूप से ही उत्पन्न होता है । इस बात का खुलाशा हम पहिले परिच्छेद में कर चुके हैं । तथा यह लक्षण चाक्षुष ज्ञान के साथ भी अव्याप्त है क्योंकि चक्षुका पदार्थके साथ सन्निकर्ष नहीं होता है । इस प्रकार "विशदं प्रत्यक्षम्" प्रत्यक्षका यही एक लक्षण निर्दोष रूपसे सिद्ध होता है ।

* विशदत्वविचार समाप्त *

❖

विशदता के विचार का सारांश

विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। विना किसी अन्य प्रमाण की सहायता लिये वस्तु को स्पष्ट जानना विशदता है। बौद्ध लोग अचानक धूम देखकर होनेवाले अग्निके ज्ञान में प्रत्यक्षता मानते हैं, व्याप्तिज्ञान को भी प्रत्यक्ष माननेवाले बैठे हैं; किन्तु ये ज्ञान प्रत्यक्ष नही हैं, क्योंकि एक तो ये अपने अपने विषयों को जानने में अन्य प्रमाणोंका सहारा लेते हैं और दूसरे वे अस्पष्ट प्रतिभास वाले हैं।

बौद्ध—यह अस्पष्टता पदार्थ का धर्म है या ज्ञान का ? ज्ञान का धर्म है तो वह अस्पष्टता पदार्थ में कैसे आयी ? पदार्थ का धर्म कहो तो उससे ज्ञान क्यों अस्पष्ट [परोक्ष] कहलाया ? इसलिये उस अस्पष्टता के कारण अनुमान या व्याप्तिज्ञान को परोक्ष कहना असिद्ध है ?

जैन—यह कहना ठीक नहीं क्योंकि यही बात स्पष्टता में भी लगा सकते हैं, स्पष्टता ज्ञान का धर्म है तो पदार्थ स्पष्ट कैसे हुआ ? और पदार्थ का धर्म स्पष्टता है तो ज्ञान स्पष्ट कैसे हुआ इत्यादि ? सो बात ऐसी है कि चाहे स्पष्टता हो चाहे अस्पष्टता–दोनों ही ज्ञान के धर्म हैं। स्पष्टज्ञानावरण के क्षयोपशम से स्पष्ट ज्ञान पैदा होता है और अस्पष्टज्ञानावरण के क्षयोपशम से अस्पष्ट ज्ञान पैदा होता है। जिन ज्ञानों में यह स्पष्टता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है और जिन ज्ञानों में अस्पष्टता है वे परोक्ष हैं। कोई २ अन्य मत वाले "ज्ञान में स्पष्टता इन्द्रियों से आती है" ऐसा मानते है किन्तु यह ठीक नहीं, क्योकि यदि इन्द्रियों से ज्ञान में स्पष्टता होती तो दूरवर्ती पदार्थ का ग्रहण स्पष्ट क्यों नहीं होता, इन्द्रियां तो हैं ही ? यदि कहा जाय कि ऐसी ही योग्यता है ? तो यह योग्यता ज्ञानमें हो सकती है, अपने २ ज्ञानावरणके क्षयोपशम से स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, इसी को योग्यता कहते हैं। इसप्रकार जो विना सहारे वस्तु को स्पष्ट जाने वह प्रत्यक्ष प्रमाण है यह सिद्ध हुआ।

**

चक्षुसन्निकर्षवादका पूर्वपक्ष

प्रमाण का विवेचन करते समय सन्निकर्ष ही प्रमाण है ऐसा नैयायिकों ने सिद्ध किया था, उस सन्निकर्षप्रमाणवाद में कोई दूषण उपस्थित करे कि सन्निकर्ष अर्थात् छूकर ही ज्ञान होता है तो चक्षु के द्वारा भी छूकर ज्ञान होना चाहिये ? किन्तु ऐसा होता नहीं है ? सो अब यहां सप्रमाण चक्षु को भी प्राप्यकारी सिद्ध करके बताते हैं—"प्राप्तार्थ प्रकाशकं चक्षुः बाह्येन्द्रियत्वात् स्पर्शनेन्द्रियवत्" अर्थात् चक्षु पदार्थों को स्पर्श करके ही रूप का ज्ञान कराती है क्योंकि वह भी एक बाह्य इन्द्रिय है, जैसे कि स्पर्शन इन्द्रिय बाह्य इन्द्रिय है, अतः वह छूकर ही स्पर्शका ज्ञान कराती है। हमारे यहां नियम है कि "इन्द्रियाणां वस्तु प्राप्यप्रकाशकारित्वम्" स्पर्शन आदि पांचों ही नहीं किन्तु मनरूप इन्द्रिय भी वस्तु को सन्निकर्ष करके अर्थात् अपने २ विषय के साथ भिड़करके ही ज्ञान पैदा कराती हैं, यदि चक्षु पदार्थों को विना स्पर्श किये ही जानने वाली होती तो भित्ति [दिवाल] आदि से व्यवहित पदार्थों को भी ग्रहण कर लेती ? क्योंकि जानने योग्य वस्तु को छूने की तो उसे आवश्यकता रही नहीं। "अप्राप्यकारित्वे तु न कुड्यादेरावरणसामर्थ्यमस्ति" अर्थात् चक्षु अप्राप्यकारी है तो दिवाल आदिक उसका आवरण कर नहीं सकती। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि चक्षु यदि पदार्थ को छूकर जानती है तो छूने के लिए वह बाहर पदार्थ के पास कहां जाती है ? सो उसका उत्तर यह है कि यह दिखाई देनेवाली चक्षु छूकर नहीं जानती किन्तु इसी के भीतर रश्मि [किरणें] रहती हैं–वे पदार्थ को छूती हैं, वास्तविक चक्षु तो वही है, यह गोलक तो मात्र उसका अधिष्ठान है। कोई कहे कि गोलक चक्षु में रश्मिचक्षु है तो वह उपलब्ध क्यों नहीं होती ? तो उसका कारण यह बतलाया है कि उस रश्मिचक्षु का तेज अनुद्भूत रहता है, देखिये—किरणें चार प्रकार की होती हैं "चतुर्विधं च तेजो भवति" उद्भूतरूपस्पर्शं यथा आदित्यरश्मिः, उद्भूतरूपं अनुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपरश्मिः, उभयं च प्रत्यक्षम्, रूपस्य उद्भूतत्वात्। उद्भूतस्पर्शं अनुद्भूतरूप यथा-वारि स्थितं तेजः अनुद्भूतरूपस्पर्शं यथा नायन तेजः" (न्यायवार्तिक अध्याय ३ सूत्र ३६), तेज चार प्रकार का है प्रथम तो वह है कि जिसमें रूप और स्पर्श दोनों प्रकट रहते हैं जैसे सूर्य किरणें, दूसरा वह है कि जिसमें रूप प्रकट हो और स्पर्श अप्रकट हो जैसे दीपक की किरणें, तीसरा वह है कि जिसमें स्पर्शगुण तो प्रकट हो और रूपगुण

अप्रकट हो जैसे उष्ण जलमें स्थित तेजो द्रव्य । जल में स्थित तेजोद्रव्य का स्पर्शगुण तो प्रगट है और रूपगुण अप्रकट है । चौथा तेजो द्रव्यका प्रकार नेत्र में पाया जाता है, क्योंकि उसमें न रूप ही प्रकट है और न स्पर्श ही प्रकट है । चक्षु किरणें प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं हैं तो भी अनुमान से उनकी सिद्धि होती है । जैसे चन्द्रमा का उपरला भाग और पृथिवीका नीचे का भाग अनुमान से सिद्ध होता है । यही बात न्यायवार्तिक अध्याय ३ सूत्र ३३–३४ में कही है ।

"नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥३४॥ यत् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते तदनुमानेनोपलभ्यमानं नास्ति इत्ययुक्तम्, यथा चन्द्रमसः परभागः, पृथिव्याश्चाधोभागः प्रत्यक्षलक्षण प्राप्तावपि न प्रत्यक्षं उपलभ्यते, अनुमानेन चोपलब्धं न तौ न स्तः । किं अनुमानं ? अर्वाग् भागवदुभय प्रतिपत्तिः, तथा चक्षुषस्य रश्मेः कुड्याद्यावरण मनुमानं संभवतीति ॥

अर्थ—जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होवे वह अनुमान से भी उपलब्ध नही होता ऐसी बात तो है नहीं अर्थात् प्रत्यक्ष से पदार्थ नहीं दिखाई देने से उनका अभाव है ऐसा नहीं कह सकते, ऐसे पदार्थ तो अनुमान से सिद्ध होते हैं । जैसे चन्द्रमा का उपरिमभाग और पृथिवी का नीचे का भाग प्रत्यक्ष से नहीं दिखने पर भी उसकी अनुमान से सत्ता स्वीकार की जाती है । उसी प्रकार चक्षु में किरणें प्रत्यक्ष से दिखने में नहीं आती फिर भी उन किरणों को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया जाता है । अर्थात् चक्षु प्राप्यकारी नही होती तो दिवाल आदि से उसका आवरण नहीं होता । मतलब—चक्षु से विना छुए ही देखना होता तो रुकावटरहित भित्ति आदि से अन्तर्हित पदार्थ का भी देखना होना चाहिये था, किन्तु ऐसा होता नहीं इसलिये मालूम पड़ता है कि अवश्य ही चक्षु किरणें पदार्थ को छूकर जानती हैं [देखती हैं] और भी कहते हैं—

"यस्य कृष्णसारं चक्षुः तस्य सन्निकृष्ट विप्रकृष्टयोस्तुल्योपलब्धिप्रसंगः । कृष्णसारं न विषयं प्राप्नोति, अप्राप्यविशेषात्, सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्योपलब्धिः प्राप्नोति ? (न्यायवार्तिक पृ. ३७३ सूत्र ३०) अर्थात्—जो मात्र इस काली गोलकपुतली को ही चक्षु मानते हैं उनके मत के अनुसार तो दूर और निकटवर्त्ती पदार्थ समानरूप से स्पष्ट ही दिखयी देना चाहिये, तथा दूरवर्ती पदार्थ भी दिखाई देना चाहिये, क्योंकि चक्षुको उन्हें छूने की आवश्यकता तो है नहीं । जब यह कृष्णवर्ण चक्षु अपने विषयभूत जो रूपवाले पदार्थ हैं, उन्हें छूती नहीं है, तब क्या कारण है कि दूर और निकट का

समानरूप से ज्ञान नहीं होता, इस प्रकार चक्षु को अप्राप्यकारी मानने से दूर और निकटवर्त्ती पदार्थों की रूपप्रतीति में जो भेद दिखाई देता है वह सिद्ध नहीं हो सकता, अतः चक्षु को प्राप्यकारी ही मानना चाहिये। अन्त में एक शंका और रह जाती है कि यदि चक्षु पदार्थ को छूकर जानती है तो काच आदि से ढके हुए पदार्थ को कैसे देख सकती है, क्योंकि जिस प्रकार दिवाल आदि के आवरण होने से उस तरफ के पदार्थ दिखाई नहीं देते हैं वैसे ही काच या अभ्रक आदि से अंतरित पदार्थ भी नहीं दिखाई देने चाहिये, सो इस प्रश्न का उत्तर "अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः" ४६ ।। न काचोऽभ्रपटलं वा रश्मिं प्रतिबध्नाति, सोऽप्रतिहन्यमानोऽर्थेन संबंध्यते–न्यायवार्तिक पृ० ३८२ सूत्र ४६" इस प्रकार से दिया गया है अर्थात् वे काच आदि पदार्थ चक्षु-किरणों का विघात नहीं करते हैं, अतः उनके द्वारा अन्तरित वस्तु को चक्षु देख लेती है। मतलब–काच आदि से ढके हुए पदार्थ को देखने के लिए जब चक्षुकिरणें जाती हैं तब वे पदार्थ उन किरणों को रोकते नहीं–अतः उन काच आदिका भेदन करते हुए किरणें निश्चित ही उस वस्तु का सन्निकर्ष कर लेती हैं। इस प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियों के समान चक्षु भी सन्निकर्ष करके ही पदार्थ के रूप का ज्ञान कराती है यह सिद्ध हुआ "यदि चक्षु पदार्थ को स्पर्श करके जानती है तो अपने में ही लगे हुए अंजन सुरमा आदि को क्यों नहीं देखती" ऐसी शंका होवे तो उसका समाधान यह है कि यह जो कृष्णवर्ण गोलक चक्षु है वह तो मात्र चक्षु इन्द्रिय का अधिष्ठान है–आधार है। कहा भी है–"यदि प्राप्यकारि चक्षुर्भवति अथ कस्मादञ्जनशलाकादि नोपलभ्यते ? नेन्द्रियेण संबंधात् । इन्द्रियेण संबद्धा अर्था उपलभ्यन्ते न चाञ्जनशलाकादीन्द्रियेण संबद्ध अधिष्ठानस्यानिन्द्रियत्वात्, रश्मिरिन्द्रियं नाधिष्ठानं, न रश्मिनाञ्जनशलाका संबद्धा इति", (न्यायवार्तिक पृ० ३८५) अर्थात्–चक्षु प्राप्यकारी है तो वह अञ्जनशलाका आदि को क्यों नहीं ग्रहण करती ? तो इसका यह जवाब है कि उस काजल आदि का चक्षु इन्द्रिय से संबंध ही नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रियां तो सम्बद्ध पदार्थों को ही जानती है, अञ्जनशलाका आदि इन्द्रिय के अधिष्ठान में ही संबद्ध हैं। रश्मिरूप चक्षु ही वास्तविक चक्षु है और उससे तो अञ्जन आदि संबंधित होते नहीं इसीलिये उनको चक्षु देख नहीं पाती है। इस प्रकार चक्षु प्राप्यकारी है, पदार्थों को छूकर ही रूप को देखती है यह बात सिद्ध होती है।

*** पूर्वपक्ष समाप्त ***

चक्षुःसन्निकर्षवादः

*

यथोच्यते—स्पर्शनेन्द्रियादिवच्चक्षुषोपि प्राप्यकारित्वं प्रमाणात्प्रसाध्यते। तथा हि-प्राप्तार्थ-प्रकाशकं चक्षुः बाह्येन्द्रियत्वात्स्पर्शनेन्द्रियादिवत्। ननु किमिदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम-बहिरर्थाभिमुख्यम्, बहिर्देशावस्थायित्वं वा ? प्रथमपक्षे मनसानेकान्तः; तस्याप्राप्यकारित्वेपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्येन बाह्येन्द्रियत्वसिद्धेः। द्वितीयपक्षे त्वसिद्धो हेतुः; रश्मिरूपस्य चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वस्य

श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण का विवेचन करते हुए अन्तमें कहा है कि प्रमाण का लक्षण सन्निकर्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि चक्षु का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। तब नैयायिक चक्षु इन्द्रिय भी अपने विषय के साथ भिड़कर ही उसका ज्ञान कराती है इस बात को सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रस्तुत करते हैं—"चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं बाह्येन्द्रियत्वात् स्पर्शनेन्द्रियादिवत्" इस अनुमान के द्वारा वे सिद्ध करते हैं–कि चक्षु पदार्थ से भिड़कर ही अपने विषय का ज्ञान कराती है, क्योंकि वह बाह्येन्द्रिय है, जो बाह्येन्द्रिय होती है वह अपने विषय का ज्ञान उसके साथ भिड़कर ही कराती है जैसे कि स्पर्शन आदि इन्द्रियां सो इस अनुमान से चक्षु अपने विषय के साथ सन्निकृष्ट होकर ही उसका ज्ञान कराती है ऐसा सिद्ध होता है।

जैन—अच्छा तो यह बताईये कि आप बाह्येन्द्रिय किसे कहते हैं ? क्या बाहिरी पदार्थ के प्रति इन्द्रियों का अभिमुख होना बाह्येन्द्रियत्व है अथवा बाहिरी भाग में उनका अवस्थित होना बाह्येन्द्रियत्व है ? प्रथम पक्ष की मान्यता के अनुसार मन के साथ व्यभिचार आता है, क्योंकि मन अप्राप्यकारी होने पर भी बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने के प्रति अभिमुख होता है अतः उसमें भी बाह्येन्द्रियपना मानना पड़ेगा ? पर वह बाह्येन्द्रिय है नहीं, कहने का अभिप्राय यह है कि जो बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने के अभिमुख हो वह बाह्येन्द्रिय है ऐसा बाह्येन्द्रिय का लक्षण करके उसमें

भवतानभ्युपगमात्। गोलकान्तर्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयस्त्वन्मते प्रसिद्धाः। गोलकरूपस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायिनो हेतुत्वे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनात्कालात्ययापदिष्टत्वम्।

न च बाह्यविशेषणेन मनो व्यवच्छेद्यम्, न हि तत् सुखादौ संयुक्तसमवायादिसम्बन्धं व्याप्तौ च सम्बन्धसम्बन्धमन्तरेण ज्ञानं जनयति रूपादौ नेत्रादिवत्। अथासौ सम्बन्ध एव न भवति; तर्हि नेत्रादीनां रूपादिभिरप्यसौ न स्यात्, तस्यापि सम्बन्धसम्बन्धत्वात्। तथा चेन्द्रियत्वाविशेषेपि मनोऽप्राप्तार्थप्रकाशकं तथा बाह्येन्द्रियत्वाविशेषेपि चक्षुः किं नेष्यते? अथात्र हेत्वभावात्तन्नेष्यते; अन्य-

---

प्राप्यपना सिद्ध करना चाहो तो मन के साथ हेतु अनैकान्तिक होता है, क्योंकि मन बाह्यपदार्थ को ग्रहण तो करता है किन्तु साध्य जो प्राप्यकारीपना है वह उसमें नहीं है। अतः हेतु साध्य के विना अन्यत्र भी रह जाने से अनैकान्तिक दोषवाला हो जाता है। दूसरा पक्ष—बाहिरीभाग में स्थित होना बाह्येन्द्रियत्व है ऐसा मानो तो हेतु असिद्ध दोषयुक्त होता है, क्योकि आपने रश्मिरूप चक्षु का बाह्यदेश में अवस्थित होना नहीं माना है, नैयायिक के मत में तो गोलक (चक्षु की गोल पुतली) के अन्दर भाग में रहे हुए तेजोद्रव्य के आश्रय में रश्मि (किरणें) मानी हैं। बाहर देश में अवस्थित गोलक चक्षु को हेतु बनाते हो तब तो उसका पक्ष प्रत्यक्ष बाधित होने से कालात्ययापदिष्ट हेतु होता है (जिस हेतु का पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित होता है वह हेतु कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है) "बाह्येन्द्रियत्वात्" इस हेतु में प्रयुक्त बाह्य विशेषण द्वारा मनका व्यवच्छेद करना भी शक्य नहीं, क्योकि सुखादिके साथ संयुक्त समवायादि सबंध हुए विना एवं व्याप्तिके साथ संबंध हुए बिना मन ज्ञानको पैदा नहीं करता, जैसे रूपादिके साथ नेत्रादिका संबंध हुए बिना नेत्रादि इन्द्रियां ज्ञानको पैदा नहीं करती, ऐसा आपने माना है, इससे सिद्ध होता है कि मन भी पदार्थसे संबद्ध होकर ज्ञानका जनक होता है।

भावार्थ—मनके द्वारा जो ज्ञान होता है वह भी सन्निकर्ष से ही होता है, (संयुक्तसमवायनामा सन्निकर्ष से आत्मा में सुखादिक का अनुभवज्ञान होता है) तथा संबंध-संबंध के विना [मन का आत्मा से संबंध और आत्मा का अशेष साध्य साधनों के साथ संबंध ऐसा संबंध संबंध हुए विना] व्याप्तिका ज्ञान नहीं होता, इस प्रकार नैयायिक ने स्वयं माना है, इससे सिद्ध होता है कि मनभी जब प्राप्यकारी होकर रूप आदि विषयों को नेत्र के समान छूकर ही ज्ञान पैदा करता है तो फिर "बाह्येन्द्रियत्वात्" हेतुपद में प्रयुक्त हुए बाह्य शब्द से मन का व्यवच्छेद कैसे हो सकता है?

अपि 'इन्द्रियत्वात्' इति हेतुः केन वार्येत ? ततो मनसि तत्साधने प्रमाणबाधनमन्यत्रापि समानम् । चक्षुश्चात्र धर्मित्वेनोपात्तं गोलकस्वभावम्, रश्मिरूपं वा ? तत्राद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा; अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशे एवास्योपलम्भात्, अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्योपलम्भः स्यात् । अथ रश्मिरूपं चक्षुः; तर्हि धर्मिणोऽसिद्धिः । न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, अर्थवत्तत्र तत्स्वरूपाप्रतिभासनात्, अन्यथा विप्रतिपत्त्यभावः स्यात् । न खलु नीले नीलतयानुभूयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते ।

मनके इस सयुक्त समवाय आदि संबंध को हम सबंध रूप मानते ही नहीं हैं ?

जैन—तो फिर नेत्रादिका भी रूपादि पदार्थके साथ संयुक्तादि संबंध नहीं मानना चाहिये ? क्योंकि वह भी संबंध संबंधरूप है ।

अतः इन्द्रियपना समान होते हुए भी जैसे मन अप्राप्त होकर पदार्थ को जानता है वैसे ही बाह्येन्द्रियपना समान होते हुए भी चक्षु इन्द्रिय अप्राप्त होकर पदार्थ को जानती है, ऐसा मानना चाहिये ?

नैयियाक—चक्षुमें "बाह्येन्द्रियत्वात्" यह हेतु पाया जाता है अतः उसमें हम अप्राप्तार्थप्रकाशकता नहीं मानते हैं ?

जैन—यह बात भी उचित नही है, क्योंकि जब इन्द्रियत्वात् ऐसा हेतु दिया जायगा तब मन में भी प्राप्तार्थप्रकाशता कैसे रोकी जा सकेगी, अर्थात्—"मनः प्राप्तार्थप्रकाशकं इन्द्रियत्वात् त्वतिन्द्रियवत्" मन प्राप्तार्थप्रकाशक है क्योंकि वह इन्द्रिय है, जैसे स्पर्शनेन्द्रिय है, इस अनुमान में इन्द्रियत्त्व हेतु दिया है वह स्पर्शन इन्द्रिय की तरह मन को भी प्राप्यकारी सिद्ध कर देगा, तो फिर इस युक्तियुक्त बात को कैसे रोका जा सकता है । यदि कहा जाय कि मन में प्राप्तार्थ प्रकाशता प्रमाण से बाधित होती है ? तो नेत्र में भी प्राप्तार्थप्रकाशनता प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित होती है, चक्षु और मन में समान ही बात है । नैयायिक ने जो प्राप्तार्थप्रकाशतारूप साध्य में चक्षुको पक्ष बनाया है सो किस चक्षु को पक्ष बनाया है ? क्या गोलक स्वभाववाली चक्षु को या किरणरूप चक्षु को ? यदि गोलकरूप चक्षु को पक्ष बनाया जाता है तो पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा दिखाई दे रही है, क्योंकि गोलक चक्षु तो अपने स्थान पर ही स्थित रहती है, यदि वह पदार्थ को प्राप्त करने जाती तो चक्षु के प्रदेश—पलकें आदि गोलक (पुतली) रहित प्रतीत होने चाहिये । यदि कहा जावे कि किरणरूप चक्षु को पक्ष बनाया है तो वह पक्ष (धर्मी) अभी असिद्ध ही है, क्योंकि नेत्र किरणें प्रत्यक्ष से साक्षात् दिखायी

किञ्च, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षं भवन्मते । न चार्थदेशे विद्यमानैस्तैरपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षोऽस्ति यतस्तत्र प्रत्यक्षमुत्पद्येत, अनवस्थाप्रसङ्गात् ।

अथानुमानात्तेषां सिद्धिः; किमत एव, अनुमानान्तराद्वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः—अनुमानोत्थाने ह्यतस्तत्सिद्धिः, अस्याश्चानुमानोत्थानमिति । अथानुमानान्तरात्तत्सिद्धिस्तदानवस्था, तत्राप्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धिप्रसङ्गात् ।

यदि च गोलकान्तर्भूतात्तेजोद्रव्याद्बहिर्भूता रश्मयश्चक्षुःशब्दवाच्याः पदार्थप्रकाशकाः; तर्हि गोलकस्योन्मीलनमञ्जनादिना संस्कारश्च व्यर्थः स्यात् । अथ गोलकाद्याश्रयपिधाने तेषां विषयं प्रति

नहीं देती, जिस तरह प्रत्यक्ष से पदार्थ का प्रतिभास होता है उस तरह उनका कोई स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता है । यदि किरणें वहां दिखती तो यह विवाद ही क्यों होता, कि कौनसी चक्षु प्राप्तार्थप्रकाशक है इत्यादि, जैसा कि नीलरूप से प्रतिभासित हुए नील पदार्थ में कोई भी पुरुष विवाद नहीं करता है ।

दूसरी बात यह है कि आप नैयायिक के मत में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा माना गया है सो पदार्थ के स्थान पर विद्यमान उन किरणों के साथ अन्यपुरुष के नेत्र का सन्निकर्ष तो होता नहीं है कि जिससे वहां प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हो जाय यदि पदार्थ के निकट स्थित किरणों के साथ अन्य पुरुष के नेत्र का सन्निकर्ष होकर उनका प्रत्यक्ष होना मानो तो अनवस्था होगी ।

नैयायिक—नेत्र किरणों की यदि प्रत्यक्ष से सिद्धि नहीं होती तो भले न हो, अनुमान से तो उनकी सिद्धि होती है ।

जैन—ठीक है, किन्तु कौन से अनुमान से सिद्धि होती है क्या—"प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षु बाह्येन्द्रियत्वात् स्पर्शनेन्द्रियवत्" इसी प्रथम अनुमान से अथवा अन्य कोई दूसरे अनुमान से ? प्रथम अनुमान से मानो तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, प्रथम अनुमान के प्रवृत्त होने पर अर्थात् चक्षु में प्राप्यकारीपना सिद्ध होने पर उसके द्वारा किरणों की सिद्धि होगी और किरणों की सिद्धि होने पर प्रथम अनुमान का उत्थान होगा । दूसरापक्ष अन्य अनुमान से किरणों की सिद्धि होती है ऐसा मानते हो तो अनवस्थादोष आवेगा, क्योंकि उस अन्य अनुमान में भी दूसरे अनुमान की और उसमें भी अन्य अनुमान की अपेक्षा आती ही जायगी, इस तरह मूलभूत किरणें तो असिद्ध ही रह जावेंगी । यदि कहा जावे कि नेत्र की पुतली में तेजोद्रव्य (अग्नि) रहता है

गमनासम्भवात्तदर्थं तदुन्मीलनम्, घृतादिना च पादयोः संस्कारे तत्संस्कारो भवति स्वाश्रयगोलक-संस्कारे तु नितरां स्यात् इत्यस्यापि न वैयर्थ्यम्; तदापि गोलकादिलग्नस्य कामलादेः प्रकाशकत्वं तेषां स्यात्। न खलु प्रदीपकलिकाश्रयास्तद्रश्मयस्तत्कलिकावलग्नं शलाकादिकं न प्रकाशयन्तीति युक्तम्।

न चात्र चक्षुषः सम्बन्धो नास्तीत्यभिधातव्यम्; यतो व्यक्तिरूपं चक्षुस्तत्रासम्बद्धम्, शक्तिस्वभावं वा, रश्मिरूपं वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः; व्यक्तिरूपचक्षुषः काचकामलादौ सम्बन्धप्रतीतेः।

सो उस तेजोद्रव्य से किरणे बाहर निकलती हैं, उन्हीं को हम चक्षु कहते हैं और उनके द्वारा ही पदार्थ का प्रकाशन होता है तो गोलकरूप नेत्र का उन्मीलन करना अंजन आदि से उसका संस्कार करना ये सब क्रियाएँ बेकार होवेंगी ? [क्योंकि देखने का काम तो अन्य ही कोई कर रहा है।]

नैयायिक—नेत्र का खोलना तो इसलिये करना पड़ता है कि यदि नेत्र नहीं खोलेगे तो किरणें पदार्थ के पास वहां से निकल कर जा नहीं सकेगी, तथा अंजन संस्कार की बात कही सो जब पैरों में घृत आदि की मालिश करने से नेत्र में संस्कार (ज्योति बढ़ना) होता देखा जाता है तब अपने आश्रय भूत गोलक का संस्कार होने से किरणों में विशेष ही संस्कार होगा, इसलिये गोलक का अंजनादि से संस्कार करना भी व्यर्थ नहीं ठहरता है।

जैन—यदि ऐसी बात है तो गोलकादि में लगे हुए कामलादिरूप मैल का उन्हें प्रकाशन करना चाहिये ? ऐसा तो होता नहीं है कि प्रदीपकलिकाश्रित रश्मियां अपने में लगी हुई शलाका-(कालामैल आदि) का प्रकाशन न करती हों, किन्तु करती ही हैं। कोई कहे कि कामला आदि के साथ चक्षु का संबंध नहीं है, अतः उन्हें वे प्रकाशित नहीं करती हैं, सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि उस कामलादि के साथ कौनसी चक्षु असंबद्ध है ? क्या गोलकरूप चक्षु या शक्तिस्वभावरूप चक्षु, या रश्मिरूप चक्षु ? प्रथम पक्ष में प्रत्यक्ष से विरोध आता है, क्योंकि प्रत्यक्ष से ही गोलकरूप चक्षु का काचकामलादि रोग के साथ संबंध दिखाई देता है। दूसरा पक्ष लेकर यदि ऐसा कहो कि शक्तिरूप चक्षु से काचकामलादि असंबद्ध है तो वह शक्ति-रूप चक्षु गोलकचक्षु से भिन्न स्थान में रहता है अथवा उसी गोलक के स्थान में रहता है ? यदि भिन्न देश में शक्तिरूप चक्षु रहती है ऐसा कहो तो गलत है, क्योंकि इस

द्वितीयपक्षेपि तच्छक्तिरूपं चक्षुर्व्यक्तिरूपचक्षुषो भिन्नदेशम्, अभिन्नदेशं वा ? न तावद्भिन्नदेशम्; तच्छक्तिरूपताव्याघातानुषङ्गान्निराधारत्वप्रसङ्गाच्च । न ह्यन्यशक्तिरन्याधारा युक्ता । तद्देशद्वारेणार्थोपलब्धिप्रसङ्गश्च । ततोऽभिन्नदेशं चेत्; तत्तत्र सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा ? सम्बद्धं चेत्; बहिरर्थवत्स्वाश्रयं तत्सम्बद्धं चाञ्जनादिकमपि प्रकाशयेत् । असम्बद्धं चेत्कथमाधेयं नाम अतिप्रसङ्गात् ?

अथ रश्मिरूपं चक्षुः, तस्यापि काचकामलादिना सम्बन्धोस्त्येव । न खलु स्फटिकादिकूपिकामध्यगतप्रदीपादिरश्मयस्ततो निर्गच्छन्तस्तत्संयोगिना न सम्बद्धास्तत्प्रकाशका वा न भवन्तीति प्रती-

---

तरह मानने से तो यह गोलक की शक्ति है ऐसा कहना गलत ठहरेगा, तथा ऐसी शक्ति निराधार भी हो जावेगी ।

अर्थात्—गोलक से शक्तिचक्षु न्यारी है तो प्रथम तो यह गोलक की शक्ति है इस तरह का संबंध ही नहीं बन सकता, दूसरे निराधारपने का प्रसंग आता है, क्योंकि वह अपने आधार से भिन्न है तथा अन्य की शक्ति अन्य के आधार रहे ऐसा बनता भी नहीं है । यदि शक्ति अन्य आधार में रहती है ऐसा मान लिया जावे तो जहां वह रहती है उसी स्थान पर पदार्थ की उपलब्धि देखनारूप कार्य संपन्न होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, वह कार्य तो गोलकरूप चक्षु के स्थान पर ही होता है । व्यक्ति रूप चक्षु के अभिन्न प्रदेश में शक्तिरूप चक्षु रहती है ऐसा दूसरा पक्ष मानो तो प्रश्न होता है कि वह शक्तिरूप चक्षु गोलक में संबद्ध है अथवा असंबद्ध है, यदि संबद्ध है तो जैसे वह शक्ति चक्षु बाहर के पदार्थों को प्रकाशित करती है वैसे ही उसे गोलक में संबद्ध हुए अंजन आदि को भी प्रकाशित करना चाहिये, सो क्यों नहीं करती । गोलक में शक्तिरूप चक्षु असंबद्ध रहती है ऐसा कहो तो अतिप्रसङ्ग होगा, "उसमें रहती है और असंबद्ध है" यह बात ही असंबद्ध है । ऐसे असंबद्ध में आधेयता मानोगे तो सह्याचल विंध्याचल का आधेय बन जायगा, असंबद्धता तो दोनों में है ही, ऐसे पृथक् पृथक् पदार्थों में आधार और आधेयभाव नहीं होता है ।

रश्मिरूप चक्षु का काचकामलादि से संबन्ध नहीं है, ऐसा तीसरा पक्ष कहो तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि रश्मिरूप चक्षु का भी उस काच कामलादि से संबंध है । इसीका खुलासा करते हैं—स्फटिक या काच आदि की कूपिका के [चिमनी के] भीतर रखे हुए दीपक आदि की किरणें बाहर निकलती हुई उस कूपिकामें लगे हुए केशर या अन्य कोई पदार्थ से संबन्ध नहीं करती हों या उन्हें प्रकाशित नहीं करती

तम्। तथा चाञ्जनादेः प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धेः परोपदेशस्य दर्पणादेश्च तदर्थस्योपादानमनर्थकमेव स्यात्।

किञ्च, यदि गोलकान्निःसृत्यार्थेनाभिसम्बद्ध्यार्थं ते प्रकाशयन्ति; तर्ह्यर्थं प्रति गच्छतां तैजसानां रूपस्पर्शविशेषवतां तेषामुपलम्भः स्यात्, न चैवम्, अतो दृश्यानामनुपलम्भात्तेषामभावः। अथादृश्यास्तेऽनुद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वात्; न; अनुद्भूतरूपस्पर्शस्य तेजोद्रव्यस्याप्रतीतेः। जलहेम्नोर्भासुर-

---

हों ऐसी बात प्रतीत नहीं होती, अर्थात् उन्हें प्रकाशित करती ही हैं। उसी तरह गोलक रूप कूपिकामें रखी हुई किरण रूपी दीपिका से जब किरणें निकलती हैं तब वे गोलक के साथ संलग्न हुए काचकामलादि दोष रूप पदार्थ को छूती हैं और उन्हें प्रकाशित करती हैं, ऐसा मानना होगा ? फिर तो आंख में लगे हुए अंजन आदि की प्रत्यक्ष से ही प्रतीति हो जावेगी ? अतः अन्य व्यक्तिको पूछने की जरूरत नहीं होगी कि मेरी आंखों में काजल ठीक २ लग गया है क्या ? एवं लगे हुए अजन आदि को देखने के लिये दर्पण आदि को लेने की क्या आवश्यकता होगी, अर्थात् कुछ नहीं। किन्तु यह सब होता तो है, अतः किरणचक्षुका पदार्थ से सबंध होना मानना युक्तियुक्त नहीं है।

किञ्च—यदि वे किरणें गोलकचक्षु से निकलकर और पदार्थ के साथ संबंधित होकर उस पदार्थ को प्रकाशित करती हैं तो फिर उस पदार्थ की तरफ जाती हुई उन भासुररूपवाली और उष्णस्पर्शवाली किरणों की उपलब्धि होनी चाहिये, अर्थात् वे दिखनी चाहिये, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है अतः दृश्य होकर भी उनकी उपलब्धि नहीं होने से उन किरणों का अभाव ही है।

नैयायिक—वे किरणें अदृश्य हैं, क्योंकि इनमें रूप और स्पर्श की अनुद्भूति है।

जैन—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि जिसका रूप और स्पर्श दोनों ही अनुद्भूत [अप्रकट] हों ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य उपलब्ध नहीं होता है, अर्थात् तेजोद्रव्य हो और वह अनुद्भूत रूप स्पर्शवाला हो ऐसी बात प्रतीति में नहीं आती।

नैयायिक—गरम जल और पिघले हुए स्वर्ण में क्रमशः भासुररूप और उष्णस्पर्श की अनुद्भूति तेजोद्रव्य के रहते हुए भी प्रतीत होती है अर्थात् जलमें भासुर रूप अप्रकट है और स्वर्ण में उष्णस्पर्श अप्रकट रहता है।

रूपोष्णस्पर्शयोरनुद्भूतिप्रतीतिरस्तीत्यसम्यक्; उभयानुद्भूतेस्तत्राप्यप्रतिपत्तेः। दृष्टानुसारेण चादृष्टार्थकल्पना, अन्यथातिप्रसङ्गात्। तथाहि-रात्रौ दिनकरकराः सन्तोपि नोपलभ्यन्तेऽनुद्भूतरूपस्पर्शत्वाच्चक्षूरश्मिवत्। प्रयोगश्च-मार्जारादीनां चक्षुषा रूपदर्शनं बाह्यालोकपूर्वकम् तत्त्वाद्दिवाऽस्मदादीनां तद्दर्शनवत्। ननु मार्जारादीनां चाक्षुषं तेजोस्ति, तत एव तत्सिद्धेः किं बाह्यालोककल्पनयेत्यन्यत्रापि समानम्। ननु यथा यद्दृश्यते तथा तत्कल्प्यते, दिवास्मदादीनां चाक्षुषं सौर्यं च तेजो विज्ञानकारणं

जैन—यह कथन असत् है, क्योंकि दोनों को [भासुररूप और उष्णस्पर्शकी] अनुद्भूति जल और सुवर्ण में नहीं पायी जाती है। भावार्थ—यदि दोनों की दोनों पदार्थ में अनुद्भूति पायी जाती तो यह माना जा सकता है कि तेज सद्रव्य होने पर भी किरणों में इन दोनों की अनुद्भूति है अतः वे न दिखती हैं और न स्पर्श करने में आती हैं। परन्तु ऐसा है नहीं गरम जलमें उष्ण स्पर्श और सुवर्ण में भासुररूप पाया जाता है अतः इनका दृष्टांत देना घटित नहीं होता।

तथा दृष्ट पदार्थ के अनुसार ही अदृष्ट अर्थ की कल्पना होती है, ऐसा न माना जावे तो अतिप्रसंग होगा, इसका खुलासा करते हैं—कि दिनकर की किरणें रात्रि में हैं, फिर भी वे उपलब्ध नहीं होती हैं, क्योंकि उनका रूप और स्पर्श उस समय अप्रकट रहता है, जैसे नेत्र किरणों के होनेपर भी उनका रूप स्पर्श अप्रकट रहता है इनके सद्भाव का व्यापक अनुमान इस प्रकार है—रात्रि में बिलाव आदि पशुओं के नेत्र द्वारा रूप का दर्शन होता है-अर्थात् उन्हें रूप दिखाई देता है उसका कारण बाहर का प्रकाश है, क्योंकि जो पदार्थ के रूप का दर्शन होता है वह ऐसे ही होता है जैसे कि हम लोगों को दिन में पदार्थों का देखना बाह्य प्रकाश पूर्वक होता है? अतः इस प्रकार के अतिप्रसंग द्वारा रात्रि में सूर्य की किरणों का होना मानना पड़ेगा।

नैयायिक—बिलाव आदि को जो रात्रि में दिखता है वह तेजोचक्षु द्वारा दिखता है क्योंकि उनके नेत्र तेजोद्रव्यरूप होते हैं, अतः उस तेज के प्रभाव से ही वे रात्रि में देखने का कार्य करते हैं, उनका वह देखना बाह्यालोकपूर्वक नहीं है। इसलिये उन्हें बाह्यप्रकाश की जरूरत नहीं पड़ती है।

जैन—तो फिर हम मनुष्यादि को भी बाह्यप्रकाश की जरूरत नहीं होनी चाहिये, क्योंकि हमारी आंखें भी तेजोद्रव्यरूप हैं?

दृश्यते तत्तथैव कल्प्यते, रात्रौ तु चाक्षुषमेव, अतस्तदेव तत्कारणं कल्प्यते । ननु किं मनुष्येषु नायनरश्मीनां दर्शनमस्ति ? अथानुमेयास्ते; तर्हि रात्रौ सौर्यरश्मयोप्यनुमेयाः सन्तु । न च रात्रौ तत्सद्भावे नक्तञ्चराणामिव मनुष्याणामपि रूपदर्शनप्रसङ्गः; विचित्रशक्तित्वाद्भावानाम् । कथमन्यथोलूकादयो दिवा न पश्यन्ति ? यथा चात्रालोकः प्रतिबन्धकः, तथान्यत्र तमः । ततो यथानुपलम्भान्न सन्ति रात्रौ भास्करकरास्तथान्यदा नायनकरा इति ।

एतेन 'दूरस्थितकुडयादिप्रतिफलितानां प्रदीपरश्मीनामन्तराले सतामप्यनुपलम्भसम्भवात्

नैयायिक – जैसा देखा जाता है वैसा माना है, दिन में हम लोगों को बाह्य-पदार्थ के ज्ञान का कारण नेत्र संबंधी तेज और सूर्य संबंधी तेज दोनों ही होते हैं अतः वे उसी तरह से माने जाते हैं, रात्रि में जो बिलाव आदि प्राणी देखने का कार्य करते हैं उसमे तो चक्षु किरणें मात्र कारण है, अतः रात्रिमे उसी को कल्पना करते हैं सूर्य किरणों की नहीं ।

जैन—क्या आपको मनुष्यों में नेत्र संबंधी किरणें दिखाई देती हैं ?

नैयायिक—किरणें प्रत्यक्ष से तो दिखाई नहीं देती पर अनुमान से उनकी सिद्धि होती है ।

जैन—तो फिर रात्रि में सूर्यकिरणों की भी अनुमान से सिद्धि कर लेनी चाहिये ? यदि तुम कहो कि रात्रि में सूर्यकिरणें अनुमेय मानी जावे (उनका सद्भाव स्वीकार किया जावे) तो नक्तंचर बिलाव उल्लू आदि के समान हम मनुष्यों को भी पदार्थ का रूप दिखाई देना चाहिये था ? सो उसका जवाब यह है कि पदार्थों की शक्तियां विचित्र हुआ करती हैं, इसीलिये रात्रि में सूर्यकिरणें रहती हुई भी नक्तंचरों को तो ज्ञानका कारण होती हैं मनुष्यों को नहीं । यदि पदार्थों में विचित्र शक्तियां नहीं हो तो दिन में उल्लू आदि को क्यों नहीं दिखता ? जिस प्रकार उल्लू आदि को दिन में देखने नें बाधक प्रकाश है, उसी प्रकार रात्रि में मनुष्यों को देखने में बाधक अंधकार है । इस सब कथन से यह निश्चित हुआ कि जिस प्रकार उपलब्धि नहीं होने से रात्रि में सूर्य किरण नहीं है उसी प्रकार नेत्र की किरणें दिनरात दोनों में भी उपलब्ध नही होने से नहीं हैं ऐसा ही मानना चाहिये । यहां नैयायिक ऐसा कहना चाहें कि दूरवर्ती दिवाल आदि में प्रतिबिंबित हुई दीपक की किरणें दीपक से लेकर दिवाल तक के अन्तराल मे रहती तो हैं फिर भी वे वहां उपलब्ध नहीं होती अतः

तैरनुपलम्भो व्यभिचारी; इत्यपि निरस्तम्; आदित्यरश्मीनामपि रात्रावभावासिद्धिप्रसङ्गात्।

अथोच्यते—चक्षुः स्वरश्मिसम्बद्धार्थप्रकाशकम् तैजसत्वात्प्रदीपवत्। ननु किमनेन चक्षुषो रश्मयः साध्यन्ते, अन्यतः सिद्धानां तेषां ग्राह्यार्थसम्बन्धो वा ? प्रथमपक्षे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, नरनारीनयनानां प्रभासुररश्मिरहितानां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वम्। अथादृश्यत्वात्तेषां न प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य। नन्वेवं पृथिव्यादेरपि तत्सत्त्वप्रसङ्गः; तथा हि–पृथिव्यादयो रश्मिवन्तः सत्त्वादिभ्यः प्रदीपवत्। यथैव हि तैजसत्वं रश्मिवत्तया व्याप्तं प्रदीपे प्रतिपन्नं तथा सत्त्वादिकमपि।

अनुपलंभ हेतुसे चक्षु किरणों का अभाव सिद्ध होता है ऐसा कथन व्यभिचरित होता है, अर्थात् दोवाल और दीपक के अन्तराल मे दीपक की किरणे होती हुई भी उपलब्ध नही होती वैसे पदार्थ की तरफ जाती हुई चक्षु किरणें अंतराल में उपलब्ध नहीं होती हैं ? सो यह कथन गलत है क्योंकि इस तरह के कथन से तो रात्रि में सूर्य की किरणों का भी अभाव नहीं मानने का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् सूर्यकिरणों का रात्रि में भी सद्भाव है ऐसा मानना पड़ेगा।

नैयायिक—"चक्षुः स्वरश्मिसंबद्धार्थप्रकाशकम् तैजसत्वात् प्रदीपवत्" चक्षु अपनी किरणों से सबद्ध हुए पदार्थ का प्रकाशन करती है क्योंकि वह तैजस है (तेजोद्रव्य से बनी है) जैसा दीपक तेजोद्रव्यरूप है, अतः अपनी किरणों से संबद्ध हुए पदार्थ का प्रकाशन करता है।

जैन—इस अनुमान के द्वारा आप क्या सिद्ध करना चाहते हो ? चक्षु की किरणें सिद्ध करना चाहते हो या अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध हुई उन किरणों का संबंध ग्राह्यपदार्थ के साथ सिद्ध करना चाहते हो ? प्रथम पक्ष के अनुसार यदि आप चक्षु की किरणें सिद्ध करना चाहो तो पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, क्योंकि स्त्री-पुरुषों के नेत्र भासुररश्मियों से (किरणों से) रहित ही प्रत्यक्ष से प्रतीति में आते हैं, अतः जब पक्ष ही प्रत्यक्ष से बाधित है तो उसमें प्रवृत्त हुआ जो हेतु (तैजसत्व है) है वह कालात्ययापदिष्ट होता है, [जिस हेतुका पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित होता है वह हेतु कालात्ययापदिष्ट कहलाता है]।

नैयायिक—नयनकिरणें अदृश्य हैं, अतः पक्ष में (चक्षु में) प्रत्यक्ष बाधा नहीं आती ?

अथ तेषां तत्साधने प्रत्यक्षविरोधः; सोन्यत्रापि समान इत्युक्तम् ।

ननु मार्जारादिचक्षुषोः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते रश्मयः तत्कथं तद्विरोधः ? यदि नाम तत्र प्रतीयन्तेऽन्यत्र किमायातम् ? अन्यथा हेम्नि पीतत्वप्रतीतौ पटादौ सुवर्णत्वसिद्धिप्रसङ्गः । प्रत्यक्षबाधनमुभयत्रापि ।

किञ्च, मार्जारादिचक्षुषोर्भासुररूपदर्शनादन्यत्रापि चक्षुषि तैजसत्वप्रसाधने गवादिलोचनयोः कृष्णत्वस्य नरनारीनिरीक्षणयोर्धावल्यस्य च प्रतीतेरविशेषेण पार्थिवत्वमाप्यत्व वा साध्यताम् । कथं

जैन—इस तरह अदृश्यता की युक्ति देकर चक्षु में जबरदस्ती किरणें सिद्ध की जायेंगी तो पृथिवी आदि में भी किरणों का सद्भाव मानना होगा, देखो–पृथिवी आदि पदार्थ किरणयुक्त हैं क्योंकि वे सत्त्व आदिरूप हैं, जैसे दीपक । इसीका खुलासा करते हैं–दीपकमें तैजसत्वकी किरणपनेके साथ जैसे व्याप्ति देखी जाती है वैसे सत्वादिके साथ भी व्याप्ति जाती है अतः ऐसा कह सकते हैं कि जहां सत्व है वहां किरणें भी हैं ? इसतरह पृथिवी आदिमें किरणोंका सद्भाव सिद्ध होवेगा ।

नैयायिक—पृथिवी आदि में किरणों को सिद्ध करने में तो प्रत्यक्ष से विरोध आता है ?

जैन—तो ऐसा ही नेत्र में किरणों को सिद्ध करने में प्रत्यक्षसे विरोध आता है ।

नैयायिक—बिलाव आदि के नयनों में तो किरणें प्रत्यक्ष से प्रतीत होती हैं तो फिर उनका प्रत्यक्ष से विरोध कैसे हो सकता है ?

जैन—यदि बिलाव आदि के नयनों में किरणें दिखती हैं तो इससे मनुष्यादि के नयनों में क्या आया ? यदि वहां हैं तो मनुष्यादि के नयनों में भी होना चाहिये, ऐसी बात तो नहीं । यदि अन्यत्र देखी गई बात दूसरी जगह भी सिद्ध की जाय तो सुवर्ण में प्रतीत हुआ पीलापन वस्त्र आदि में भी सुवर्णत्व की सिद्धि का प्रसंग कारक होगा । प्रत्यक्ष बाधा की बात कहो तो वह दोनों में समान ही है, अर्थात् सुवर्ण का पीलापन देख वस्त्र में कोई सुवर्णत्व की सिद्धि करे तो वह प्रत्यक्ष से बाधित है । वैसे ही बिलाव, उल्लू, शेर आदि की आंखों में किरणों को देखकर उन्हें मनुष्यों के नेत्रों में भी सिद्ध करो तो यह भी प्रत्यक्ष से बाधित है । यदि बिलाव उल्लू आदि के

च प्रभासुरप्रभारहितनयनानां तैजसत्वं सिद्धं यतः सिद्धो हेतुः ? किमत एवानुमानात्, तदन्तराद्वा ? आद्यविकल्पेऽन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि तेषां रश्मिवत्त्वे तैजसत्वसिद्धिः, ततश्च तत्सिद्धिरिति ।

अथ 'चक्षुस्तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' इत्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धिः; न; अत्रापि गोलकस्य भासुररूपोष्णस्पर्शरहितस्य तैजसत्वसाधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, 'न तैजसं चक्षुः तमःप्रकाशकत्वात्, यत्पुनस्तैजसं तन्न तमःप्रकाशकं यथालोकः' इत्यनुमानबाधा च । प्रसाधयिष्यते च 'तमोवत्' इत्यत्र तमसः सत्त्वम् । प्रदीपवत्तैजसत्वे चास्यालोकापेक्षा न स्यादुष्णस्पर्शादितयोपलम्भश्च

नेत्रों में भासुररूप देखकर मनुष्यादि के नेत्र में भी तैजसत्व सिद्ध करते हो तो गाय आदि के नेत्र में कालेपन की और स्त्री पुरुषों के नेत्रों में धवलपने की प्रतीति द्वारा सामान्यतः सभी के नेत्रोंमें पार्थिवपना या जातीयपना भी सिद्ध करना चाहिये ? आप प्रभाभासुर रहित नेत्रों में तैजसपना किस प्रकार सिद्ध करते हैं कि जिससे तैजसत्व हेतु सिद्ध माना जाय, क्या तैजसत्व हेतुवाले इसी अनुमान से तैजसत्व हेतु को सिद्ध करते हो कि किसी अन्य अनुमान से ? यदि इसी तैजसत्व हेतुवाले अनुमानसे सिद्ध करते हैं तो अन्योन्याश्रय दोष आता है क्योंकि मनुष्योंके नेत्रों में किरणपना सिद्ध हो तब तो तैजसत्व हेतु की सिद्धि हो और तैजसत्व हेतु की सिद्धि होने पर नेत्रों में किरणपना सिद्ध हो, इस तरह एक की सिद्धि एक के आधीन होने से अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है ।

नैयायिक—चक्षु में तैजसत्व अनुमानान्तर से सिद्ध करते हैं, वह इस प्रकार से है—"चक्षु तैजस है क्योंकि वह रूप रस आदि गुणों में से मात्र एक रूप को ही प्रकाशित करती है, जैसे दीपक रूपादि किरणों में से एक रूपको प्रकाशित करने से तैजस माना जाता है ।

जैन—यह अनुमान भी ठीक नहीं है, आप यहां भासुररूप और उष्णस्पर्श रहित गोलक को पक्ष बनाकर उसमें तैजसत्व की सिद्धि करते हो तो उसमें प्रत्यक्ष बाधा आती है । तथा चक्षु तैजस नहीं है क्योंकि वह अन्धकार को प्रकाशित करती है, जो तैजस होता है वह अंधकार का प्रकाशक नहीं होता, जैसा कि आलोक, इस अनुमान प्रमाण से भी पक्ष और हेतु में बाधा आती है । यदि कहा जाय कि अंधकार तो प्रकाशाभावरूप है वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है तो हम आपको आगे सिद्ध करके बतायेंगे कि अंधकार भी प्रकाश के समान वास्तविक सत्त्व युक्त एक स्वतन्त्र पदार्थ है । यदि

स्यात्, न चैवम्, तदपेक्षतया मनुष्यपारावतबलीवर्दादीनां धवललोहितकालरूपतयानुष्णस्पर्शस्वभावतया चास्योपलम्भात् । तन्न गोलकं चक्षुः ।

नाप्यन्यत्; तद्ग्राहकप्रमाणाभावेनाश्रयासिद्धत्वप्रसङ्गाद्धेतोः । 'रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्' इति हेतुश्च जलाञ्जनचन्द्रमाणिक्यादिभिरनैकान्तिकः । तेषामपि पक्षीकरणे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, सर्वो हेतुरव्यभिचारी च स्यात् । न च जलाद्यन्तर्गतं तेजोद्रव्यमेव रूपप्रकाशकमित्यभिधातव्यम्; सर्वत्र दृष्टहेतुवैफल्यापत्तेः । तथा च दृष्टान्तासिद्धिः, प्रदीपादावप्यन्यस्यैव तत्प्रकाशकस्य

दीपक के समान नेत्र तैजस है तो उन्हें प्रकाश की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये और उष्णस्पर्श आदि रूप से उनकी उपलब्धि होनी चाहिये थी, किन्तु उनमें ऐसा कुछ भी उपलब्ध नहीं होता, मनुष्य कबूतर बैल आदि प्राणियों को तो पदार्थ को देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, तथा उनकी आंखें धवल, कृष्ण, अनुष्णस्पर्शस्वभाववाली उपलब्ध होती हैं । अतः उस गोलकचक्षुको धर्मी बनाकर उसमें तैजसत्व सिद्ध करना शक्य नहीं है ।

यदि रश्मिरूप चक्षुको पक्ष बनावें तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपके उस रश्मि चक्षुको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः हेतु आश्रयासिद्ध होगा [जिस हेतुका आश्रय असिद्ध हो उसे आश्रयासिद्ध कहते हैं] रूपादि में से एकरूप को ही प्रकाशित करता है ऐसा जो आपने हेतु दिया है वह जल, अंजन, चन्द्रमा, माणिक्यरत्न और काच आदि के साथ अनैकान्तिक हो जाता है, क्योंकि जलादि पदार्थ तैजस न होकर भी केवल रूप को ही प्रकाशित करते हैं । यदि कहा जाय कि हम जलादिक को भी पक्ष के अन्तर्गत ही मानेंगे तो पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित होता है, तथा इस तरह तो कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकेगा, सभी हेतु अव्यभिचारी होवेंगे । यदि नैयायिक की ऐसी मान्यता हो कि जल, अंजन, रत्न आदि में तेजोद्रव्य रहता है और वही रूपको प्रकाशित करता है सो वह भी नहीं बनता, क्योंकि इस तरह मानने पर तो अपने २ कार्योंके प्रति जो साक्षात् कारण देखे जाते हैं वे सब व्यर्थ कहलावेंगे । [मतलब–जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष से देखने में आता है वह इस मान्यता के अनुसार कारण नहीं माना जाकर और कोई दूसरा कारण मानना पड़ेगा क्योंकि जल आदि में रूप का प्रकाशन जल से ही हो रहा है तो भी उसको कारण न मानकर तेजोद्रव्य को कारण माना जा रहा है] तथा इस प्रकार मानने

कल्पनाप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षबाधनमुभयत्र । निराकरिष्यते च "नार्थालोकौ कारणम्" [परी० २।६] इत्यत्रालोकस्य रूपप्रकाशकत्वम् ।

किञ्च, रूपप्रकाशकत्वं तत्र ज्ञानजनकत्वम् । तच्च कारणविषयवादिनो घटादिरूपस्याप्य-

---

में और भी एक आपत्ति यह आवेगी कि दृष्टांत असिद्ध हो जावेगा, अर्थात् जब जल आदि में रूप प्रकाशन करनेवाला जल से न्यारा कोई दूसरा पदार्थ है तो इसी तरह से दीपक में भी अपने रूपको प्रकाशन करनेवाला कोई न्यारा पदार्थ ही होगा, ऐसी कोई कल्पना कर सकता है, तुम कहो कि दीपक में अन्य कोई पदार्थ उसके रूप को प्रकाशित करनेवाला है ऐसा माना जाय तो प्रत्यक्ष से बाधा आती है ? तो फिर जल में अन्य कोई रूपको प्रकाशित करने वाला है ऐसी मान्यता में भी तो प्रत्यक्ष से बाधा आती है । तथा आपका (नैयायिक का) जो यह हठाग्रह है कि रश्मिरूप प्रकाश ही रूप को प्रकाशित करता है सो हम इसका आगे इसी परिच्छेद के "नार्थालोकौ कारणं" इत्यादि ६वें सूत्र की टीका में निराकरण करनेवाले हैं ।

किञ्च—तैजस चक्षु या जल में रहने वाला जो तेजोद्रव्य रूप को प्रकाशित करता है ऐसा आप (नैयायिक) मान रहे हैं सो रूप प्रकाशकत्व का अर्थ होता है उस पदार्थ के रूपका ज्ञान उत्पन्न करना । सो कारण विषयवादी [जो कारण ज्ञानको पैदा करता है वही उस ज्ञानका विषय होता है ऐसा मानने वाले] आपके यहां रूप प्रकाशकत्व हेतु, घट आदि के साथ व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि जो रूपप्रकाशक होता है वह तैजस होता है सो ऐसा घट आदि में नहीं है, घटादि पदार्थ [घटादि का रूप] रूप प्रकाशक तो है [रूपज्ञान को पैदा तो कर देता है] पर वह तैजस नहीं है, अतः "रूप प्रकाशकत्वात्" यह हेतु साध्याभाव में भी रहने के कारण व्यभिचारी हो जाता है ।

नैयायिक— उस रूपप्रकाशकत्व हेतु में एक "करणत्वे सति" ऐसा विशेषण जोड़ देने पर वह व्यभिचरित नहीं होगा, अर्थात् तैजस चक्षु है क्योंकि करण होकर वह रूप आदि में से एकरूप का ही प्रकाशन करता है" इस अनुमान से व्यभिचार का निवारण हो जावेगा ?

जैन—यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि इसमें भी प्रकाश और पदार्थ के सन्निकर्ष के साथ और चक्षु तथा रूप के संयुक्त समवाय संबंध के साथ यह करण विशेषण युक्त रूप प्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक होता है ।

स्तीत्यनेन हेतोर्व्यभिचारः । 'करणत्वे सति' इति विशेषणेप्यालोकार्थसन्निकर्षेण चक्षूरूपयोः संयुक्तसमवायसम्बन्धेन चानेकान्तः । 'द्रव्यत्वे करणत्वे च सति तत्प्रकाशकत्वात्' इति विशेषणेपि चन्द्रादिनानेकान्तः ।

किञ्च, द्रव्यं रूपप्रकाशकं भासुररूपम्, अभासुररूपं वा ? प्रथमपक्षे उष्णोदकसंसृष्टमपि तत् तत्प्रकाशकं स्यात् । अनुद्भूतरूपत्वान्नेति चेत्, नायनरश्मीनामप्यत एव तन्माभूत् । तथा दृष्टत्वादि-

---

विशेषार्थ— नैयायिक सन्निकर्ष और संयुक्त समवायादि को ज्ञान का कारण मानते हैं । ये सन्निकर्षप्रमाणवादी हैं, सो जो ज्ञान का करण हो वह तैजस हो ऐसा तो रहा नहीं, सन्निकर्ष और संयुक्त समवाय संबंध ये ज्ञान में करण रूप तो पड़ते हैं पर वे तैजसरूप नहीं हैं । अतः "करणत्वे सति रूप प्रकाशकत्वात्" यह सविशेषण हेतु व्यभिचरित हो जाता है ।

नैयायिक—सविशेषण हेतु को जो आपने व्यभिचरित प्रकट किया है सो उस व्यभिचार का निवारण "द्रव्यत्वे करणत्वे च सति तैजसत्वात्" इतना और विशेषण लगाकर हो जाता है, क्योंकि सन्निकर्षादिक गुण हैं, द्रव्य नहीं, अतः चक्षु तैजस है, क्योंकि करण और द्रव्य होता हुआ वह रूप आदि में से एक रूप का ही प्रकाशन करता है, इस तरह से सुधारा गया यह तैजसत्व हेतु सन्निकर्ष के साथ व्यभिचारी नहीं होगा ।

जैन—सो ऐसा मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस मान्यता के अनुसार हेतु चन्द्र आदि के साथ अनेकान्तिक हो जाता है, चन्द्रमा में करणत्व और द्रव्यत्व दोनों विशेषण हैं और वह रूपादि में से एक रूप मात्र का ही प्रकाशन करता है फिर भी चन्द्र तैजस नहीं है, अतः जो करण एवं द्रव्य होकर रूप का प्रकाशन करने वाला हो वह तैजस ही होगा ऐसा कहा गया हेतु भी अनैकान्तिक दोष युक्त ठहरता है ।

किञ्च—आप नैयायिक का कहना है कि तेजोद्रव्य रूप को प्रकाशित करता है, सो कौनसा तेजोद्रव्य रूप को प्रकाशित करता है ? भासुररूपवाला तेजोद्रव्य कि अभासुररूपवाला तेजोद्रव्य ? प्रथमपक्ष-भासुररूपवाला तेजोद्रव्य रूप को प्रकाशित करता है ऐसा कहो तो गर्म जल में मिला हुआ तेजोद्रव्य भी रूप को प्रकाशित करने वाला होना चाहिये ?

त्यप्यनुत्तरम्; संशयात्, न हि तत्र निश्चयोस्ति ते तत्प्रकाशका न गोलकमिति । अनुद्भूतरूपस्य तेजोद्रव्यस्य दृष्टान्तेपि रूपप्रकाशकत्वाप्रतीतेः । तथाच, न चक्षू रूपप्रकाशकमनुद्भूतरूपत्वाज्जलसंयुक्तानलवत् । द्वितीयपक्षेपि उष्णोदकतेजोरूपं तत्प्रकाशक स्यात् । न हि तत्तत्र नष्टम्, 'अनुद्भूतम्' इत्यभ्युपगमात् । उद्भूतं तत्तत्प्रकाशकमित्यभ्युपगमे रूपप्रकाशस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायी तस्यैव कार्यो

नैयायिक—गर्म जल में मिले हुए तेजोद्रव्य का भासुररूप अनुद्भूत है, अतः वह रूप को प्रकाशित नहीं करता है ।

जैन—इसी प्रकार नेत्र की किरणों का तेजोद्रव्य भी अनुद्भूत भासुररूप वाला है, अतः वह भी रूप को प्रकाशित करने वाला नहीं होना चाहिये ।

नैयायिक—नेत्र का तेजो द्रव्य अनुद्भूत भासुररूप वाला होता हुआ भी रूप को प्रकाशित करने वाला प्रतीत हो रहा है, अतः उसमें तो रूप प्रकाशकत्व है ही ।

जैन—इस विषयमें संशय है, क्योंकि अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका है कि किरण चक्षु ही रूप का प्रकाशव करती है, गोलक चक्षु नहीं । तथा आपने अनुमान को प्रस्तुत करते समय दीपक का दृष्टान्त दिया है सो उस दृष्टान्त में यह बात नहीं है कि वह अनुद्भूतरूप वाला तेजोद्रव्य से निर्मित होकर रूप का प्रकाशन करता हो । फिर तो ऐसा अनुमान प्रयोग होगा कि चक्षु रूपका प्रकाशन नहीं करती, क्योंकि वह अनुद्भूतरूप वाली है, जैसे जलमें स्थित अग्नि । दूसरा पक्ष मानो तो उष्णजलमें स्थित तेज का जो रूप है वह रूपका प्रकाशक है ऐसा स्वीकार करना होगा ।

वहां पर उस तेजस का रूप नष्ट हो गया हो सो भी बात नहीं है, क्योंकि उष्ण जल में तेजसका रूप अनुद्भूत है ऐसा आपने माना है । जिसमें भासुररूप उद्भूत रहता है वह तेजोद्रव्य रूपको प्रकाशित करता है ऐसा स्वीकार करो तो उद्भूत तेजोरूप ही रूप प्रकाशन का कर्त्ता सिद्ध होगा, क्योंकि उसी के साथ रूपप्रकाशन कार्य का अन्वय व्यतिरेक सिद्ध होता है, तेजोद्रव्य के साथ नहीं । जैसे-देवदत्त के निकट पशु, बालक या स्त्री आदि आते हैं तो उसमें हेतु देवदत्त के गुण मंत्र आदि हैं, उसी गुण के साथ पशु, स्त्री आदि के आगमन का अन्वय व्यतिरेक बनता है, अतः वह देवदत्त के गुणका कार्य है, न कि देवदत्त का । इस प्रकार सिद्ध होनेपर "चक्षुस्तैजसं द्रव्यत्वे करणत्वे च सति रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्" अनुमान के हेतु का

न द्रव्यस्य । न खलु देवदत्तं प्रति पश्वादीनामागमनं तद्‌गुणान्वयव्यतिरेकानुविधायि देवदत्तस्य कार्यम् । ततो 'द्रव्यत्वे सति' इति विशेषणासिद्धिः ।

किञ्च, सम्बन्धादेरिवाऽतैजसस्यापि द्रव्यरूपकरणस्य कस्यचिद्रूपज्ञानजनकत्वं किन्न स्यात्, विपक्षव्यावृत्तेः सन्दिग्धत्वादतैजसत्वे रूपज्ञानजनकत्वस्याविरोधात् ? तदेवं तैजसत्वासिद्धेर्नातश्चक्षुषो रश्मिवत्त्वसिद्धिः ।

अथान्यतः सिद्धानां रश्मीनां ग्राह्यार्थसम्बन्धोनेन साध्यते; न; अन्यतः कुतश्चित्तेषामसिद्धेः, प्रत्यक्षादेस्तत्साधकत्वेन प्राक्प्रतिषिद्धत्वात् । तथा चेदमयुक्तम्–"धत्तूरकपुष्पवदादौ सूक्ष्माणामप्यन्ते महत्त्वं तद्रश्मीनां महापर्वतादिप्रकाशकत्वान्यथानुपपत्तेः ।" [ ] इति; स्वरूपतोऽसिद्धानां

विशेषण "द्रव्यत्वे सति" जो दिया है वह असिद्ध होता है [मतलब–तेजोद्रव्य रूप का प्रकाशक नहीं रहा, उसका प्रकाशक तो तेजोद्रव्य का गुण ही रहा] नैयायिक सन्निकर्ष, समवाय आदि को भी ज्ञान का करण मानते हैं, सो सन्निकर्ष समवाय आदि अतैजस है, जैसे ये अतैजस होकर भी रूप प्रकाशन का करण हैं वैसे कोई द्रव्य रूप करण [गोलकादि] अतैजस होकर भी रूपज्ञानका जनक होवे तो इसमें क्या बाधा है ? कुछ भी नहीं । इसप्रकार "तैजसत्वात्" हेतुका विपक्षसे व्यावृत्त होना सदेहास्पद है, क्योंकि अतैजस पदार्थ भी रूपज्ञानके जनक होते हुए देखे जाते हैं, अतैजसमें रूपज्ञानजनकत्वका कोई विरोध नहीं है, इस तरह तैजसत्व हेतु संदिग्धासिद्ध होनेके कारण उस हेतु द्वारा चक्षुकी किरणें सिद्ध करना अशक्य है ।

द्वितीयपक्ष–अन्य प्रमाण से सिद्ध हुए चक्षु किरणों में तैजसत्वहेतु द्वारा ग्राह्यार्थ संबंध [रूपको छूकर जानना] सिद्ध किया जाता है ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योंकि अन्य किसी प्रमाणसे चक्षु किरणें सिद्ध नहीं होती, प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण चक्षु किरणों के प्रसाधक नहीं हो सकते ऐसा हम निश्चित कर आये हैं । चक्षुकिरणों का अस्तित्व सिद्ध नहीं होनेके कारण नैयायिकका निम्न लिखित कथन अयुक्त होता है कि "धतूरे के पुष्पके संस्थान के समान चक्षु किरणें शुरुमें सूक्ष्म आकार होकर अंतमें विस्तृत हो जाती हैं, क्योंकि महान पर्वत आदि का प्रकाशन अन्यथा हो नहीं सकता था" इत्यादि, सो जब इन चक्षु किरणोंका स्वरूप ही असिद्ध है तब उनके विस्तृतत्व आदि धर्मोंका व्यावर्णन करना श्रद्धामात्र है । इसप्रकार किरणरूप चक्षु सिद्ध नहीं है और गोलक चक्षु में प्राप्यकारिता प्रत्यक्षबाधित है सो अब नैयायिक किस चक्षु में प्राप्तार्थप्रकाशकत्व सिद्ध करते हैं ?

तेषां महत्त्वादिधर्मस्य श्रद्धामात्रगम्यत्वात् । ततो रश्मिरूपचक्षुषोऽप्रसिद्धेर्गोलकस्य च प्राप्यकारित्वे प्रत्यक्षबाधितत्वात्कस्य प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं साध्येत ? यदि च स्पर्शनादौ प्राप्यकारित्वोपलम्भाच्चक्षुषि तत्साध्येत; तर्हि हस्तादीनां प्राप्तानामेवान्याकर्षकत्वोपलम्भादयस्कान्तादीनां तथा लोहाकर्षकत्वं किन्न साध्येत ? प्रमाणबाधान्यत्रापि ।

अथार्थेन चक्षुषोऽसम्बन्धे कथं तत्र ज्ञानोदयः ? क एवमाह-'तत्र ज्ञानोदयः' इति ? आत्मनि ज्ञानोदयाभ्युपगमात् । न चाप्राप्यकारित्वे चक्षुषः सकृत्सर्वार्थप्रकाशकत्वप्रसङ्गः; प्रतिनियतशक्तित्वा-

---

नैयायिक—स्पर्शनादिरूप इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व देखा जाता है अतः चक्षु में भी इन्द्रियत्व होने से प्राप्यकारित्व सिद्ध करते हैं।

जैन—तो फिर हस्त आदि में प्राप्त होकर अन्य पदार्थों का धरना उठाना एवं खींचना आदि कार्य होता हुआ देखकर चुंबक पाषाण में भी लोहेको उठाना खीचनादि कार्य प्राप्त होकर होता है ऐसा क्यों न सिद्ध किया जाय ? तुम कहो कि चुंबक छूकर लोहे को खींचता है ऐसा मानने में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, तो वैसे ही चक्षु में प्राप्यकारित्व मानने में प्रत्यक्ष बाधा आती है, प्रत्यक्ष बाधा तो दोनों में समान है।

नैयायिक—यदि पदार्थ के साथ चक्षु का संबंध न माना जाय तो वहां ज्ञान का उदय कैसे होगा ?

जैन—वहां पर ज्ञानका उदय होता है ऐसा कौन कहता है हम जैन तो आत्मा में पदार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा स्वीकार करते हैं। यदि कोई ऐसी शंका करे कि चक्षु को अप्राप्यकारी माना जाय तो उसके द्वारा एक साथ सब पदार्थों का ज्ञान होने का प्रसंग आवेगा ? सो ऐसी शंका करना बेकार है, क्योंकि पदार्थों में प्रति नियत शक्तियां हुआ करती हैं, जो पदार्थ जहां पर जिस कार्य के करने मे योग्य होता है वही उस कार्य को किया करता है यह बात अभी आगे कहने वाले हैं। आप कार्य कारण में अत्यन्त भेद मानते हैं, उस स्थिति में आपसे कोई यदि ऐसा प्रश्न करे कि जब "कार्य और कारण अत्यन्त भिन्न होते हैं तब कोई भी विवक्षित कार्य जैसे अपने कारण से भिन्न है वैसे अन्य सभी कारणों से भी भिन्न है; अतः सभी कार्य एक ही कारण से क्यों नहीं होवेंगे ? अथवा चक्षु से किरणें निकल कर फैलती हैं तो लोक के अन्ततक वे क्यों नहीं फैलती हैं" । तो ऐसे प्रश्न का उत्तर आपको भी यही देना होगा

द्भावानाम् । 'य एव यत्र योग्यः स एव तत्करोति' इत्यनन्तरमेव वक्ष्यते । कार्यकारणयोरत्यन्तभेदेऽर्थान्तरत्वाविशेषात् 'सर्वमेकस्मात्कुतो न जायेत' इति, 'रश्मयो वा लोकान्त कुतो न गच्छन्ति' इति चोद्ये भवतोपि योग्यतैव शरणम् ।

किञ्च, चक्षू रूपं प्रकाशयति संयुक्तसमवायसम्बन्धात्, स चास्य गन्धादावपि समान इति तमपि प्रकाशयेत् । तथा चेन्द्रियान्तरवैयर्थ्यम् । योग्यताऽभावात्तत्प्रकाशने सर्वत्र सैवास्तु, किमन्तर्गडुना सम्बन्धेन ? यदि चायमेकान्तश्चक्षुषा सम्बद्धस्यैव ग्रहणमिति; कथं तर्हि स्फटिकाद्यन्तरितार्थ-

---

कि उनमें ऐसी ही योग्यता है दूसरी बात यह है कि संयुक्त समवाय संबंध से चक्षु रूप को प्रकाशित करती है ऐसा नैयायिक कहते हैं सो जैसे चक्षुका रूपके साथ संबंध है वैसे गन्ध आदिके साथ भी है इसलिये चक्षुको गन्धादिका भी प्रकाशन करना चाहिये ? इस तरह चक्षु द्वारा गन्धादि सब विषयोंका प्रकाशन हो जानेपर अन्य इन्द्रियोंको मानना व्यर्थ ही ठहरेगा ।

नैयायिक—गंधादिको प्रकाशित करनेकी चक्षु में योग्यता नहीं है, अतः उनका प्रकाशन नहीं कर सकती ।

जैन—बस ! फिर सर्वत्र उसी योग्यताको ही स्वीकार करना चाहिये, अंतर्गडु सदृश [अन्दरका फोड़ा-केन्सरादि] इस सन्निकर्ष संबंधसे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं । चक्षु पदार्थ का संबंध करके ही ग्रहण करती है ऐसा एकांत माना जाय तो वह स्फटिक, काच आदिसे अंतरित पदार्थका ग्रहण किसप्रकार कर सकेगी ? क्योंकि उस पदार्थ को ग्रहण करने के लिए जाती हुई चक्षुकी किरणोंका स्फटिकादि अवयवी से प्रतिबंध होगा ?

नैयायिक—चक्षु किरणों द्वारा स्फटिकादि अवयवीका नाश हो जाता है अर्थात् चक्षु किरणें उन स्फटिकादिको नष्ट करके अंदर जाकर पदार्थका ग्रहण कर लेती हैं अतः प्रतिबंध नहीं होता है ।

जैन—ऐसी बात है तो स्फटिकादिसे अंतरित जो पदार्थ था उसको देखते समय स्फटिकादिकी उपलब्धि नहीं होनी चाहिये ? तथा उस स्फटिकादिके ऊपर रखे हुए पदार्थ गिर जाने चाहिये ? क्योंकि उनके आधारभूत स्फटिकादि अवयवीका नाश हो चुका है ? स्फटिकादि अवयवीके नष्ट होनेपर उसके बिखरे हुए परमाणु तो उस

ग्रहणम्। तद्रश्मीनां तं प्रति गच्छतां स्फटिकाद्यवयविना प्रतिबन्धात्। तैस्तस्य नाशितत्वाददोषे तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये स्फटिकादेरुपलम्भो न स्यात्। तस्योपरि स्थितद्रव्यस्य च पातप्रसक्तिः आधारभूतस्यावयविनो नाशात्। न हि परमाणवो दृश्याः कस्यचिदाधारा वा; अवयविकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्। अवयव्यन्तरस्योत्पत्तेरदोषे तदा तद्व्यवहितार्थानुपलम्भप्रसङ्गः। न चैवम्, युगपत्तयोर्निरन्तरमुपलम्भात्। अथाशु व्यूहान्तरोत्पत्तेर्निरन्तरस्फटिकादिविभ्रमः; तदभावस्याप्याशु प्रवृत्तेरभावविभ्रमः किन्न स्यात्? भावपक्षस्य बलीयस्त्वमित्ययुक्तम्; भावाभावयोः परस्परं स्वकार्यकरणं प्रत्यविशेषात्।

पदार्थको आधार दे नहीं सकते न वे दिखाई देने योग्य है, यदि परमाणु दृश्य और आधारभूत माने जायेंगे तो अवयवीकी कल्पना करना व्यर्थ ठहरता है।

नैयायिक—चक्षु किरणों द्वारा उस अवयवीके नष्ट होते ही अन्य अवयवी उत्पन्न हो जाता है अतः उपर्युक्त कहे हुए दोष नहीं आते हैं।

जैन—ऐसा कहोगे तो उस नवीन उत्पन्न हुए स्फटिकादि अवयवी से अंतरित हो जाने के कारण पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकेगी, किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि एक साथ ही स्फटिक और पदार्थ दोनों ही सतत् उपलब्ध होते हैं।

नैयायिक—प्रथम स्फटिकादि के नष्ट होते ही उसी क्षण अतिशीघ्रता से दूसरे स्फटिकादिकी–उत्पत्ति हो जाती है, अतः सततरूप से स्फटिकादि की उपलब्धि का भ्रम हो जाया करता है?

जैन—तो फिर उस स्फटिक आदि अवयवीसे निर्मित डब्बी का शीघ्र अभाव होने से अभाव की कल्पना को ही भ्रम रूप क्यों न माना जाय।

नैयायिक–अभाव की अपेक्षा भाव बलवान् होता है, अतः स्फटिक आदि का अभाव ग्रहण में नहीं आकर स्फटिक आदि का सद्भाव ही ग्रहण में आता है?

जैन–यह कथन अयुक्त है, क्योंकि भाव और अभाव दोनों ही समानरूप से बलवान् हैं, अतः वे अपने २ कार्य को बराबर करते ही हैं।

किञ्च–यदि नेत्ररश्मियां पदार्थ को छूकर जानती हैं और स्फटिक के अन्तर्गत पदार्थ को आवरण करने वाले उस स्फटिक आदि का भेदन कर जान लेती हैं इत्यादि; सिद्धांत माना जाता है तो प्रश्न होता है कि मलिन जल में रखे हुए पदार्थ को वे क्यों

कथं च समलजलान्तरितार्थस्योपलम्भो न स्यात् ? ये हि तद्रश्मयः कठिनमतितीक्ष्णलोहाऽभेद्यं स्फटिकादिकं भिन्दन्ति तेषां जलेऽतिद्रवस्वभावे काऽक्षमा ? अथ नीरेण नाशितत्वान्न ते तद्भिन्दन्ति; र्तांह स्वच्छजलव्यवस्थितस्याप्यनुपलम्भप्रसङ्गः । योग्यताङ्गीकरणे सर्वं सुस्थम् । ततः प्रोक्तदोषपरिहारमिच्छता प्रतीतिसिद्धमप्राप्यकारित्वं चक्षुषोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

तथाहि-'चक्षुरप्राप्तार्थप्रकाशकमत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वात्, यत्पुनः प्राप्तार्थप्रकाशकं तदत्यास-

---

नही जानती देखती ? जब वे चक्षुकिरणें कठोर-प्रतितीक्ष्ण लोहे से भी अभेद्य स्फटिकादिका भेदन कर सकती हैं तो अतिद्रव कोमल स्वभाववाले जल का भेदन करने में कैसे असमर्थ हो सकती हैं ? यदि कहा जावे कि चक्षुकिरणें जल के द्वारा नष्ट हो जाती हैं, अतः वे उसका भेदन नही कर पाती हैं, तो फिर उन किरणों के द्वारा स्वच्छजल में स्थित पदार्थ का भी ग्रहण नहीं होना चाहिये, यदि कहा जाय कि किरणों में ऐसी ही योग्यता है कि वे मैले जल में जाकर तो नष्ट हो जाती हैं और स्वच्छजलमें नष्ट नहीं होती हैं तो ऐसी योग्यता के अङ्गीकार करने पर तो सब बात ठीक होगी । भावार्थ—अप्राप्यकारी होकर भी चक्षु अपनी योग्यता के बल से ही अपने योग्य विषय को प्रकाशित करती है, संपूर्ण पदार्थों को नहीं, जिसके जानने देखने की उसमें योग्यता होती है वह उसी रूपको देखती है अन्य को नहीं । इस तरह योग्यताको मानने से सब बात ठीक हो जाती है, कोई दोष भी नहीं आता । इस प्रकार पूर्वोक्त दोषों को (स्फटिक अंतरित पदार्थको फोड़कर उसे छूना और मैले जलको फाड़ नहीं सकना इत्यादि को) दूर करना चाहते हैं तो चक्षु में प्रतीतिसिद्ध अप्राप्यकारित्व ही स्वीकार करना चाहिये । अतः चक्षु पदार्थ को अप्राप्त होकर प्रकाशित करती है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह अतिनिकटवर्ती पदार्थ को प्रकाशित नहीं करती है (हेतु), जो प्राप्त अर्थ का प्रकाशक होता है वह अतिनिकटवर्ती पदार्थ का प्रकाशक देखा गया है जैसे कर्ण आदि इन्द्रियां, चक्षु निकटवर्ती पदार्थ को प्रकाशित नहीं करती, अतः वह अप्राप्तार्थ प्रकाशक ही है, इस प्रकार के अनुमान से चक्षु में अप्राप्यकारिता सिद्ध होती है । इस अनुमान में दिया हुआ "अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि काच, कामला [काचबिन्दु, पीलिया] आदि अत्यन्त निकटवर्ती वस्तुको चक्षु प्रकाशित नहीं करती यह बात पहिले ही सिद्ध कर आये हैं ।

नैयायिक—यह अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु साध्यसम होनेसे असिद्ध है,

न्नार्थप्रकाशकं दृष्टं यथा श्रोत्रादि, अत्यासन्नार्थाप्रकाशकं च चक्षुस्तस्मादप्राप्तार्थप्रकाशकम्' इति । न चायमसिद्धो हेतुः; काचकामलाद्यत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वस्य चक्षुषि प्रागेव प्रसाधितत्वात् । ननु साध्या-विशिष्टोयं हेतुः, 'पर्युदासप्रतिषेधे हि यदेवस्याप्राप्यकारित्वं तदेवात्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वम्' इति । प्रसज्यप्रतिषेधस्तु जैनैर्नाभ्युपगम्यते अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; प्रसङ्गसाधनत्वादेतस्य । श्रोत्रादौ हि प्राप्यकारित्वात्यासन्नार्थप्रकाशकत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ सत्यां परस्य व्यापकाभावे-

---

क्योंकि इस हेतु का जो अवयव पद "अप्रकाशकत्वात्" है सो इसमें नकार "न प्रकाशकत्वं अप्रकाशकत्वं" ऐसा नञ् समासरूप है, यह समास पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध के भेद से दो प्रकार का है, सो इस "न" को आप यदि पर्युदास रूप नञ् समास स्वीकार करते हो तब जो मतलब अप्राप्यकारी इस साध्य पद का होता है वही अत्यासन्नार्थ-अप्रकाशकत्व इस हेतु पद का होता है, सो यही साध्य के समान हेतु कहलाया और यदि अप्रकाशकत्व में नकार का अर्थ प्रसज्यप्रतिषेध सर्वथा-निषेध करनेरूप लेते हो तो जैन को यह इष्ट नहीं है, क्योंकि आप अभाव को तुच्छाभावरूप नहीं मानते हैं, यदि मानेंगे तो अपसिद्धान्त का प्रसंग प्राप्त होता है ।

जैन—यह सारा कथन अयुक्त है, यह हमारा अनुमान प्रसङ्ग साधन के लिये है, इसी का विशेष विवेचन करते हैं—कर्ण आदि इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व का और अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व का व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध हो गया था, उसके सिद्ध होने पर जो नैयायिक को इष्ट चक्षु में व्यापक का अभाव (अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व का अभाव) करना इष्ट है सो उसके द्वारा अनिष्ट प्राप्यकारित्वरूप जो व्याप्य है उसका अभाव भी सिद्धकर देना, इस अनुमान का प्रयोजन है । अतः हेतुका साध्यसम होना दोषास्पद नहीं है । तथा यह अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक और विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि यह हेतु विपक्षमें अथवा उसके एकदेश में प्रवृत्त नहीं होता ।

भावार्थ—जैन का यह अनुमान प्रमाणका प्रयोग है कि "चक्षुः अप्राप्तार्थप्रकाशकं अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्वात्" इस अनुमान में साध्य अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व है, उसका अर्थ वस्तु को प्राप्त किये (छूये) विना—प्रकाशित करना [जानना] है, तथा हेतु अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व है इसका अर्थ निकटवर्ती पदार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकना ऐसा है, सो ये दोनों साध्यसाधन समान से हो जाते हैं, अतः नैयायिक ने हेतु को साध्यसम कहा है, सो इस पर आचार्य कहते हैं कि हमने जो इस अनुमान का प्रदर्शन

ष्टयाऽत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वलक्षणयाऽनिष्टस्य प्राप्यकारित्वलक्षणव्याप्याभावस्यापादानमात्रमेवानेन विधीयते, इत्युक्तदोषाप्रसङ्गः । नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा; विपक्षस्यैकदेशे तत्रैव वाऽस्याऽप्रवृत्तेः ।

न च स्पर्शनेन प्राप्यकारिणाप्यत्यासन्नस्याभ्यन्तरशरीरावयवस्पर्शस्याप्रकाशनादनैकान्तः; अस्य तत्कारणत्वेन तदविषयत्वात् । स्वकारणव्यतिरिक्तो हि स्पर्शादिः स्पर्शनादीन्द्रियाणां विषयः; तत्रैवाभिमुख्यसम्भवेनामीषां प्रकाशनयोग्यतोपपत्तेः । कथमन्यथैकशरीरप्रदेशान्तरगतस्पर्शनेन तत्प्रदे-

---

किया है उसे आपको प्रसंग साधनरूप समझना चाहिये, प्रसंगसाधन का लक्षण "परेष्ट्याऽनिष्टापादनं प्रसंगसाधनम्" अर्थात् परके इष्ट को लेकर उसी के द्वारा परका अनिष्ट सिद्ध करना । प्राप्यकारित्व और अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व ये दोनों ही कर्ण आदि इन्द्रियों में पाये जाते हैं अर्थात् कर्ण आदि चार इन्द्रियां वस्तु को प्राप्त करके जानती हैं और अत्यासन्नार्थ को भी जानती हैं, इन दोनोंका व्याप्यव्यापकभाव कर्णादि इन्द्रियों में देखा जाता है । जब चक्षु की बात आई तो नैयायिक ने प्राप्तार्थप्रकाशकतारूप जो व्याप्य है उसे तो चक्षुमें माना पर इसका व्यापक जो अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व है उसे नहीं माना इसलिये आचार्य ने उनसे कहा कि यदि चक्षु में अत्यासन्नार्थप्रकाशनता मानना अनिष्ट है तो प्राप्तार्थप्रकाशकत्व वहां नहीं रह सकेगा, क्योंकि व्यापक के अभाव में उसके व्याप्य धर्म का भी अभाव देखा जाता है, जैसा वृक्षत्व के अभाव में वटत्व का भी अभाव हो जाता है जब चक्षु में अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व (अतिनिकटवर्त्ती नेत्रांजनादि को प्रकाशित करना) नहीं पाया जाता है तब प्राप्तार्थप्रकाशनत्व रूप व्याप्य कैसे पाया जा सकता है ? इसप्रकार प्रसंग साधनद्वारा चक्षु में अप्राप्यकारित्व सिद्ध किया गया है ।

नैयायिक—प्राप्यकारी स्पर्शनेन्द्रिय भी अतिनिकटवर्त्ती शरीरके अभ्यन्तर के अवयवोंके स्पर्शका प्रकाशन नहीं कर पाती, अतः जो प्राप्यकारी हो वह अति निकट के पदार्थ का प्रकाशन करता ही है ऐसा कहना अनैकान्तिक होता है ।

जैन—शरीरके अभ्यतरवर्ती अवयव स्पर्शनेन्द्रिय कारण है अतः उसका प्रकाशन नहीं करती, स्पर्शनादि इन्द्रियोंका स्पर्शादि जो विषय है वह उनके स्वकारणों से पृथक होता है, तभी तो उन विषयों की तरफ अभिमुख होकर इन्द्रियां उनका प्रकाशन किया करती हैं । यदि ऐसी बात नहीं होती तो शरीरके एक प्रदेशमें होने वाली स्पर्शनेन्द्रियद्वारा उसी शरीरके अन्य प्रदेश का स्पर्श किस प्रकार प्रकाशित किया जा सकता था ?

शान्तरमतः स्पर्शः प्रकाश्येत ? न च कामलादयोऽञ्जनादयो वा चक्षुषः कारणं येन तेषामप्यनेन न्यायेन प्रकाशनं न स्यात्, स्वसामग्रीतस्तत्सन्निधानात्प्रागेवास्योत्पन्नत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टोयम्; प्रत्यक्षस्य पक्षाबाधकत्वेन प्रागेव समर्थनात्, आगमस्य च तद्बाधकस्यासम्भवात् । नापि सत्प्रतिपक्षः; विपरीतार्थोपस्थापकानुमानानां प्रागेव प्रतिव्वस्तत्वादिति । तथा, 'चक्षुर्गत्वा नार्थेनाभिसम्बद्धयते इन्द्रियत्वात्स्पर्शनादीन्द्रियवत्' इत्यनुमानाच्चास्याप्राप्यकारित्वसिद्धिः । अर्थस्य च तद्देशागमने प्रत्यक्षविरोध इति ।

नैयायिक—जैसे स्पर्शनेन्द्रिय अपने अभ्यन्तरके अवयवके स्पर्श को प्रकाशित नहीं कर पाती वैसे ही चक्षुरिन्द्रिय अपने अभ्यन्तरके कामलादिदोष या नेत्रांजनादिको प्रकाशित नही कर पाती है ?

जैन—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे शरीर के अभ्यंतरके अवयव स्पर्शनेन्द्रियके कारण हैं वैसे कामलादि चक्षुके कारण नहीं हैं, चक्षुरिन्द्रिय तो कामलादि के सन्निधिके होनेके पहले से ही अपने कारण कलाप द्वारा उत्पन्न हो चुकी है। इस प्रकार अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक दोषसे निर्मुक्त है ऐसा निश्चित् हुआ । तथा यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है ।

क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से इसके पक्ष में बाधा नहीं है, ऐसा हम पहिले ही समर्थन कर आये हैं । आगमप्रमाण तो इस पक्ष में बाधा देता ही नहीं है । तथा—यह हेतु सत्प्रतिपक्ष दोषवाला भी नहीं है. सत्प्रतिपक्ष दोष उसे कहते हैं कि जिस हेतु को या उसके साध्यको दूसरा प्रमाण विपरीत सिद्ध कर देवे सो ऐसे विपरीत अर्थ को उपस्थित करनेवाले जो भी "तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्राप्यकारि चक्षुः" इत्यादि अनुमान हैं, उनका हम जैनों ने पहिले ही अच्छी तरह से निरसन कर दिया है । अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतुवाले अनुमान से जैसे चक्षु में अप्राप्यकारित्व सिद्ध होता है वैसे ही चक्षु जाकर पदार्थ के साथ संबद्ध नहीं होती, क्योंकि वह इन्द्रिय है, जैसे स्पर्शनादि इन्द्रियां जाकर पदार्थों के साथ सबद्ध नही होती हैं, इस अनुमान के द्वारा भी चक्षु में अप्राप्यकारित्व निश्चित होता है, इस तरह किरण चक्षु गोलक चक्षु से निकलकर पदार्थ के पास जाती है ऐसा नैयायिकका कहना निराकृत हुआ, इन्द्रिय प्रदेश के पास पदार्थ आते हैं ऐसा मानना तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है, इसलिये यह सिद्धांत अबाधित सिद्ध हुआ कि न इन्द्रियाँ पदार्थ के पास जाती हैं, और

न पदार्थ इन्द्रियोंके पास आते हैं किन्तु दोनों यथा स्थान रहकर इन्द्रिय द्वारा पदार्थका ज्ञान हो जाया करता है। इसप्रकार नैयायिक का चक्षु सन्निकर्षवाद खंडित होता है।

*** चक्षुसन्निकर्षवाद का प्रकरण समाप्त ***

चक्षुसन्निकर्षवादके खण्डन का सारांश

नैयायिक इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होकर ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा मानते हैं, स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियां पदार्थ के साथ संयोग प्राप्त करती हैं, उन पदार्थों में रूपादिगुणों का समवाय है, उनसे संबंधित होकर उनका ज्ञान पैदा होता है, तथा मन आत्मासे संयोग करता है और आत्मा पदार्थ से संबंधित है ही क्योंकि वह व्यापक है, अतः यहां भी सन्निकर्ष होना संभव है, इस तरह जो छूकर ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसा उनके यहां प्रत्यक्ष का लक्षण है।

आचार्य ने प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण "विशदं प्रत्यक्षं" ऐसा कहा है, यदि सन्निकर्ष को प्रत्यक्षप्रमाण माना जाय तो वह लक्षण चक्षु और मन में नहीं पाया जाता, अतः अव्याप्ति दोष युक्त है, तथा योगी प्रत्यक्ष में अव्यापक है, सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि सन्निकर्ष प्रत्यक्षप्रमाण माना जाय तो सर्वज्ञका अभाव होगा, क्योंकि इन्द्रियां छूकर जानती हैं और पदार्थ हैं अनन्त, उन सबका सन्निकर्ष होना संभव नहीं, ऐसी हालत में न सबका पूरा छूना होगा न जीव सर्वज्ञ होगा, अतः निश्चय होता है कि चक्षु पदार्थ को विना छुए ही जानती है।

नैयायिक—चक्षु भी पदार्थ को छूकर ही जानती है, क्योंकि वह बाह्य इन्द्रिय है [बाहर दिखाई देनेवाली इन्द्रिय है] जो बाह्य इन्द्रिय होती है वह छूकर ही पदार्थ को जानती है जैसे स्पर्शनेन्द्रिय।

जैन—यह अनुमान गलत है, क्योंकि हेतु बाधित पक्षवाला है, हम पूछते हैं कि आप चक्षु किसे कहते हैं? गोल गोल जो आंख में पुतली है उसे, या और किसी को? गोलक चक्षु तो पदार्थ को छूती ही नहीं, अगर माना जाय तो प्रत्यक्ष बाधा है, क्योंकि हमारे नेत्र बिना स्पर्श किये ही वस्तु के वर्ण को ग्रहण करते हुए स्पष्ट प्रतीति में आते हैं।

नैयायिक—दूसरी एक किरणरूप चक्षु है वह जाकर पदार्थ का स्पर्श करती है।

जैन—यह किरण चक्षु ही अभी प्रसिद्ध है तो उससे पदार्थ का छूना वगैरह तो दूर ही रहा हम तो पहिले आपसे यही पूछते हैं कि—रश्मिचक्षु को आप किस प्रमाण से सिद्ध करते हैं क्या इसी अनुमान से या किसी दूसरे अनुमान से ? यदि इसी अनुमान से कहो तो अन्योन्याश्रय है। और दूसरे अनुमान से कहो तो अनवस्था दोष आता है। तथा—आंखों से किरणें बाहर जाकर पदार्थ को जानती है तो आंख में अंजन लगाना आदि व्यर्थ है। किरणें जब आंख से बाहर निकलती हैं तब प्रत्यक्ष दिखनी चाहिये, रूप और स्पर्श तो उनमें है ही ? तुम कहो कि उनका रूप अप्रकट है, सो क्या ऐसा तेजोद्रव्य आपको कहीं दिखाई देता है कि जिसमें रूप प्रगट न हो ?

आपका कहना है कि बिल्ली आदि जानवरों की आंखों में तो किरणें स्पष्ट दिखाई देती हैं, अतः मनुष्यादि के नेत्रों में भी उनकी कल्पना करी जाती है, सो यह सब कथन गलत है, क्योंकि ऐसा अन्य एक जगह देखा गया स्वभाव सब जगह लागू करोगे तो महान् दोष आयेंगे। फिर तो कोई कहेगा कि रात्रि में सूर्य की किरणें होते हुए भी उपलब्ध नहीं होती हैं मतलब अप्रकट रहती हैं। जैसे कि मनुष्योंके नेत्रों में किरणें अप्रकट रहती हैं। सो ऐसी मान्यता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। प्रत्यक्ष बाधा दोनों पक्षों में है, अर्थात् सूर्य किरणें जैसे रात में नहीं दिखती वैसे ही नेत्र किरणें भी तो नहीं दिखती, फिर सूर्य किरणे तो न मानना और नेत्र किरणें मानना यह तो कोरा पक्षपात है।

आपके यहां इन्द्रियां पृथक् पृथक् पृथिवी आदि से उत्पन्न हुईं मानी गईं हैं सो यह बात भी गलत है। चक्षु तेजोद्रव्य (अग्नि) से बनती है यह बात आप रूप-प्रकाशकत्व हेतु से सिद्ध करते हैं, किन्तु यह हेतु व्यभिचारी है। अर्थात्—चक्षु तैजस है क्योंकि वह रूपादि गुणों में से सिर्फ रूप को ही प्रकाशित करती है, जैसा कि दीपक, सो यह अनुमान सदोष है। क्योंकि हेतु अनैकान्तिक दोष वाला है माणिक्यादि रत्नों द्वारा यह हेतु व्यभिचरित होता है वह इस प्रकार से कि वे रत्न रूप प्रकाशक तो हैं पर तेजोद्रव्य नहीं है पृथ्वीद्रव्य हैं।

तथा—चक्षु यदि छूकर पदार्थको जाने, तो उसी पदार्थ में रहे हुए रसादिकों को क्यों नहीं जानें ? क्योंकि सब रसादिकों को उसने छू तो लिया ही है। यदि चक्षु छूकर ही रूपको [पदार्थ को] जानती है तो स्फटिकमणि की डिब्बी के भीतर रखी

हुई वस्तु को आंख नहीं जान सकेगी, क्योंकि किरणों का प्रवेश वहां हो नहीं सकेगा। यदि कहा जाय कि स्फटिक का भेदन कर वे अंदर घुस जाती हैं तो फिर उन्हें गंदे पानी के भीतर घुसकर वहां की वस्तु को भी देख लेना चाहिये ? यदि कहा जाय कि वे पानी के संपर्क से समाप्त हो जाती हैं तो फिर स्वच्छ पानी में स्थित पदार्थ वे कैसे ग्रहण करती हैं ? यदि कहा जाय कि उनमें ऐसी ही योग्यता है तो फिर ऐसा ही क्यों न मान लिया जाये कि आंखें विना छुए ही रूप की प्रकाशक होती हैं।

आंखें यदि स्पर्श करके रूप को जानती हैं तो खुद आंख में स्थित काचकामलादि रोग को तथा अंजन आदि को सबसे पहिले उन्हें जानना चाहिये ? फिर क्यों उन्हें देखने के लिये दर्पणादि लिया जाता है और क्यों वैद्य आदि द्वारा उनका निरीक्षण कराया जाता है ?

अतः इन सब आपत्तियों से यदि बचना चाहते हैं तो आंख को तेजोरूप नहीं मानना चाहिये और न उसे प्राप्यकारी ही स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा आपमें "नैयायिक" इस नामकी सार्थकता नहीं हो सकती है।

अतः जैन मान्यता के अनुसार चक्षु अप्राप्यकारी ही सिद्ध होती है। देखिये–चक्षु अप्राप्त होकर ही पदार्थ को प्रकाशित करती है, क्योंकि वह अत्यन्त निकटवर्त्ती वस्तुको ग्रहण नहीं करती, "चक्षुः अप्राप्तार्थप्रकाशकं अत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वात्" इस अनुमान में जो आपने हेतु में साध्यसम होने का दोष प्रकट किया है वह गलत है क्योंकि हमने इसे प्रसंग साधनरूप से स्वीकार किया है। प्रसंगसाधन का लक्षण "परेष्टयाऽनिष्टा पादन प्रसङ्ग साधनम्" ऐसा कहा है। कर्ण आदि इन्द्रियां प्राप्त होकर ही निकटवर्ती पदार्थ को जानती हैं, अतः प्राप्य का और अत्यासन्नार्थ प्रकाशकत्वका इन दोनों का व्याप्य व्यापक भाव है। अर्थात् प्राप्यकारो व्याप्य है और अत्यासन्नार्थ प्रकाशकत्व व्यापक है। अब यहां नेत्र में आप व्याप्य जो प्राप्यकारित्व है उसे तो मानते हो और व्यापक जो अत्यासन्नार्थ प्रकाशकत्व है उसे स्वीकार नहीं करते हो सो यह कैसे ? व्याप्य तो व्यापक के साथ रहता है। अतः हमारा ऐसा कहना है कि जब चक्षु अत्यासन्नार्थ प्रकाशक नहीं है तब उसमें प्राप्यकारित्व भी नहीं है। इस तरह चक्षु बिना छुए ही पदार्थ को प्रकाशित करतो है–जानती है यह बात सिद्ध हुई।

चक्षुसन्निकर्षवाद के खंडन का सारांश समाप्त

सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष

*

तथोक्तप्रकारं प्रत्यक्षं मुख्यसांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारेण द्विप्रकारम् । तत्र सांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारस्योत्पत्तिकारणस्वरूपे प्रकाशयति—

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ।। ५ ।।

विशदं प्रत्यक्षमित्यनुवर्तते । तत्र समीचीनोऽबाधितः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहार. संव्यवहारः, स प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । नन्वेवंभूतमनुमानमप्यत्र सम्भवतीति तदपि

अब यहांपर सांव्यवहारिक प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण और विवेचन किया जाता है। प्रारम्भ में प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण और विवेचन किया गया है। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, उन भेदों में से पहिले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षप्रमाण की उत्पत्ति का कारण और उसके स्वरूप को बतलाने के लिए श्री माणिक्यनन्दी सूत्र रचना करते हैं—

सूत्र—इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ।। ५ ।।

सूत्रार्थ—इन्द्रियों और मन से होनेवाले एकदेश प्रत्यक्ष (विशद) ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

"विशदं प्रत्यक्षम्" इस सूत्र का संदर्भ चला आ रहा है। "सं" का अर्थ है समीचीन अबाधित, इस तरह अबाधित प्रवृत्ति और निवृत्तिलक्षणवाला जो व्यवहार है उसका नाम संव्यवहार है यही संव्यवहार है प्रयोजन जिसका वह सांव्यवहारिक है।

शंका—इस प्रकार का लक्षण तो अनुमान में भी संभावित है अतः वह भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जावेगा ?

समाधान—इस शंका का निरसन करने के लिए ही सूत्रकार ने "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः" ऐसा कहा है, मतलब-जो ज्ञान इन्द्रियों और मन से होता है, [हेतु से नहीं होता] वह एक देश सांव्यवहारिक प्रत्यक्षप्रमाण है। अन्य हेतु आदि से होनेवाले अनुमानादि को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं कहा गया है। इस तरह एक

सांव्यवहारिकं प्रत्यक्ष प्राप्नोतीत्याशङ्कापनोदार्थम्–'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः' इत्याह। देशतो विशदं यत्तत्प्रयोजन ज्ञानं तत्सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युच्यते नान्यदित्यनेन तत्स्वरूपम्, इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमित्यनेन पुनस्तदुत्पत्तिकारणं प्रकाशयति।

तत्रेन्द्रियं द्रव्यभावेन्द्रियभेदाद्द्वेधा। तत्र द्रव्येन्द्रियं गोलकादिपरिणामविशेषपरिणतरूपरसगन्धस्पर्शवत्पुद्गलात्मकम्, पृथिव्यादीनामत्यन्तभिन्नजातीयत्वेन द्रव्यान्तरत्वासिद्धितस्तस्य प्रत्येकं तदारब्धत्वासिद्धेः। द्रव्यान्तरत्वासिद्धिश्च तेषां विषयपरिच्छेदे प्रसाधयिष्यते। भावेन्द्रियं तु लब्ध्युप-

---

देश विशद होना यह इस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का स्वरूप कहा गया है। तथा यह इन्द्रियां एवं मन से होता है ऐसा जो कहा है वह उसकी उत्पत्ति का कारण प्रकट करने के लिये कहा है।

इन्द्रियों के दो भेद हैं—एक द्रव्येन्द्रिय और दूसरी भावेन्द्रिय। नेत्र की पुतली या कान की शष्कुली आदि रूप परिणत एवं रूप, रस, गंध, स्पर्श युक्त जो पुद्गलों का स्कन्ध है वह द्रव्येन्द्रिय है।

भावार्थ—द्रव्येन्द्रिय के भी दो भेद हैं—निवृत्ति और उपकरण पुनः—निवृत्ति के भी बाह्यनिवृत्ति और आभ्यन्तर निवृत्ति ऐसे दो भेद हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों के आकाररूप जो आत्मा के कुछ प्रदेशों की रचना बनती है वह आभ्यन्तर निवृत्ति है, और उन्हीं स्थानों पर चक्षु रसना आदि का बाह्याकार पुद्गलों के स्कन्ध की रचना होना बाह्यनिवृत्ति है। इनमें से आभ्यन्तर निवृत्ति आत्मप्रदेशरूप है, अतः वह पौद्गलिक नहीं है। उपकरण के भी दो भेद हैं—आभ्यन्तर उपकरण और बाह्य उपकरण, नेत्र में पुतली आदि की अन्दर की रचना होना आभ्यन्तर उपकरण है और पलकें आदिरूप बाह्य उपकरण हैं, मतलब—जो निवृत्ति का उपकार करे वह उपकरण कहलाता है। "उपक्रियते निवृत्तिः येन तत् उपकरणं" ऐसा उपकरण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।

यौग—नैयायिक वैशेषिकों ने इन्द्रियों में पृथक् २ पृथिवी आदि पदार्थ से उत्पन्न होने की कल्पना की है, अर्थात् पृथिवी द्रव्य से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति की कल्पना की है, जलद्रव्य से रसनेन्द्रिय की, अग्निद्रव्य से चक्षु इन्द्रिय की, वायुद्रव्य से स्पर्शनेन्द्रिय की, और आकाशद्रव्य से कर्णेन्द्रिय की उत्पत्ति की कल्पना की है। सो सब से पहिले यह बात है कि एक आकाश को छोड़कर पृथिवी आदि चारों पदार्थ एक ही

योगात्मकम् । तत्राऽऽवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः, तदभावे सतोप्यर्थस्याप्रकाशनात्, अन्यथातिप्रसङ्गः । उपयोगस्तु रूपादिविषयग्रहणव्यापारः, विषयान्तरासक्ते चेतसि सन्निहितस्यापि विषयस्याग्रहणात्तत्सिद्धिः । एवं मनोपि द्वेधा द्रष्टव्यम् ।

पुद्गल द्रव्यात्मक हैं, इनकी कोई भिन्नजातियां नहीं हैं और न इनके परमाणु ही अलग अलग हैं। तथा दूसरी बात इन्द्रियों में भी इसी एक पृथिवी से ही यह घ्राणेन्द्रिय निर्मित है ऐसा नियम नहीं है सारी ही द्रव्येन्द्रियां एक पुद्गलद्रव्यरूप हैं, पृथिवी जल आदि नौ द्रव्यों का जो कथन यौग करते हैं उनका आगे चौथे परिच्छेद में निरसन होनेवाला है । पृथिवी आदि पदार्थ साक्षात् ही एक द्रव्यात्मक–स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णात्मक दिखायी दे रहे हैं । न ये भिन्न २ द्रव्य हैं और न ये भिन्न २ जाति वाले परमाणुओं से निष्पन्न हैं तथा–न इन्द्रियों की रचना भी किसी एक निश्चित पृथिवी आदि से ही हुई है । अतः यौग का इन्द्रियों का कथन निर्दोष नहीं है ।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं–लब्धि और उपयोग । ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से पदार्थ को ग्रहण करने की अर्थात् जानने की शक्ति का होना लब्धि कहलाती है। आवरण कर्म के क्षयोपशम को लब्धि समझना चाहिये । इसी लब्धि (क्षयोपशम) के अभाव में मौजूद पदार्थ का भी जानना नहीं होता है । यदि इस लब्धि के विना भी पदार्थ का जानना होता है ऐसा माना जावे तो चाहे जो पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने का अतिप्रसंग आता है ।

भावार्थ—सूक्ष्म अन्तरित आदि पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने में नहीं आते हैं । अतः यह मानना चाहिये कि सूक्ष्मादि पदार्थों को ग्रहण न कर सकने के कारण उनमें उस जाति की लब्धि–शक्ति नहीं है । इसी का नाम योग्यता है । इसी योग्यता के कारण इन्द्रियों में विषय भेद है । तथा प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व का भेद है । इसी कारण अनेक पदार्थ जानने के योग्य होते हुए भी उनमें से हम अपने २ क्षयोपशम के अनुसार कुछ २ को ही जान सकते हैं । अन्य मत बौद्ध आदि के द्वारा माने गये तदुत्पत्ति तदाकार आदि का खण्डन या सन्निकर्षादिक का खण्डन करने में जैन इसी क्षयोपशमरूप लब्धि के द्वारा सफल होते हैं । रूपादि विषयों की तरफ आत्मा का उन्मुख होना उपयोगरूप भावेन्द्रिय है । यह उपयोग यदि अन्यत्र है तो निकटवर्ती पदार्थ भी जानने में नहीं आते हैं । मतलब–जब हमारा उपयोग अन्य

ततः "पृथिव्यप्तेजोवायुभ्यो घ्राणरसनचक्षुःस्पर्शनेन्द्रियभावः" [ ] इति प्रत्याख्यातम्; पृथिव्यादीनामन्योन्यमेकान्तेन द्रव्यान्तरत्वासिद्धेः, अन्यथा जलादेर्मुक्ताफलादिपरिणामाभावप्रसक्तिरात्मादिवत्। न चैवम्, प्रत्यक्षादिविरोधात्।

अथ मतम्-पार्थिवं घ्राणं रूपादिषु सन्निहितेषु गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वान्नागकर्णिकाविमर्दककरतलवत्; तदप्यसङ्गतम्; हेतोः सूर्यरश्मिभिरुदकसेकेन चानेकान्तात्। दृश्यते हि तैलाभ्यक्तस्या-

---

किसी विषय में होता है तब हमको बिलकुल निकट के शब्द, रूप आदि का भी ज्ञान नहीं हो पाता है इसीसे उपयोगरूप भावेन्द्रिय सिद्ध होती है।

मनके भी दो भेद हैं–द्रव्यमन और भावमन। भावार्थ–हृदय स्थान में अष्टपत्रयुक्त कमल के आकार का द्रव्यमन है। यह मनोवर्गणाओं से निर्मित है। नो इन्द्रियावरण के क्षयोपशम तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से जो विचार करने की शक्ति प्रकट होती है उसे भावमन कहा गया है। इस प्रकार इन्द्रियां और मनका यह अबाधित लक्षण समझना चाहिये। इन लक्षणों से नैयायिक आदि के द्वारा माने गये इन्द्रियों के लक्षण [एवं कारण] खण्डित हो जाते हैं। "पृथिव्यप्तेजोवायुभ्यो घ्राणरसनचक्षुस्पर्शनेन्द्रियभावः" अर्थात् पृथिवी से घ्राण, जल से रसना, अग्नि से चक्षु और वायु से स्पर्शनेन्द्रिय उत्पन्न होती है, सो ऐसा कहना गलत हो जाता है, क्योंकि पृथिवी आदि पदार्थ एकान्त से भिन्न द्रव्य नहीं हैं। यदि पृथिवी जल आदि सर्वथा भिन्न २ द्रव्य होते तो जल से पृथिवीस्वरूप मोती कैसे उत्पन्न होते, अर्थात् नहीं होते, जैसे आत्मा सर्वथा पृथक् द्रव्य है तो वह अन्य किसी पृथिवी आदि से उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु जलसे मोती चन्द्रकान्त स्वरूप पृथिवी से जल, सूर्यकान्त मणि से (पृथिवी से) अग्नि उत्पन्न होती हुई देखी जाती है। अतः पृथिवी, जल आदि पदार्थोंको पृथक द्रव्यरूप मानना प्रत्यक्ष से विरुद्ध पड़ता है।

नैयायिक—अनुमान से सिद्ध होता है कि घ्राण आदि इन्द्रियां भिन्न २ द्रव्य से बनी हैं। देखो–घ्राणेन्द्रिय पृथिवी से बनी है, क्योंकि वह रूप आदि विषयों के निकट रहते हुए भी सिर्फ गन्ध को ही प्रकाशित करती है–जानती है। जैसे–नागचंपक पुष्प के बीचभाग को–कर्णिका को मर्दन करने वाले हाथों में गन्ध प्रकट होती है।

जैन—यह कथन असंगत है, क्योंकि रूप आदि के रहते हुए भी सिर्फ गंध को वह प्रकट करती है" यह हेतु सूर्य किरणों और जल सिंचन के साथ अनैकान्तिक होता है। तद्यथा–जैसे तेल का मालिस किया हुआ कोई पुरुष है, उसके शरीर पर

बित्यमरीचिकाभिर्गन्धाभिव्यक्तिर्भूमेस्तूदकसेकेनेति । 'आप्यं रसनं रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाभि-व्यञ्जकत्वाल्लालावत्' इत्यत्रापि हेतोर्लवणेन व्यभिचारः, तस्यानाप्यत्वेपि रसाभिव्यञ्जकत्वप्रसिद्धेः । 'चक्षुस्तैजसं रूपादिषु सन्निहितेषु रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत्' इत्यत्रापि हेतोर्माणिक्याद्युद्योतितेनानेकान्तः । 'वायव्यं स्पर्शनं रूपादिषु सन्निहितेषु स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्तोयशीतस्पर्शव्यञ्जकवाय्ववयविवत्' इत्यत्रापि कर्पूरादिना सलिलशीतस्पर्शव्यञ्जकेनानेकान्तः ।

पृथिव्यप्तेजःस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वाच्चास्य पृथिव्यादिकार्यत्वानुषङ्गो वायुस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वाद्वायुकार्यत्ववत् । चक्षुषश्च तेजोरूपाभिव्यञ्जकत्वात्तेजःकार्यत्ववत् पृथिव्यप्समवायिरूपव्यञ्जकत्वात्पृथिव्य-

---

सूर्य किरणे पड़ती हैं तो उनके निमित्त से उस शरीर में गंध आने लगती है—वहां गंध प्रकट होती है, तथा पृथिवी पर जल से जब सिंचन किया जाता है तो गंध प्रकट होती है, अतः पृथिवी से ही गन्ध प्रकट हो सो बात नहीं। नैयायिक का रसनेन्द्रिय के लिये अनुमान है–"आप्यं रसनं रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् लालावत" रसना–जल से बनती है–क्योंकि रूप आदि विषय निकट रहते हुए भी वह केवल रस को ही प्रकट करती है जैसे लाला, सो वह हेतु भी सेंधा लवण के साथ व्यभिचरित होता है क्योंकि सेधा लवण जल से निर्मित नहीं है तो भी जल को प्रकट करता है।

"चक्षु अग्नि से बनी है क्योंकि वह रस आदि के सन्निहित होते हुए भी रूप मात्र को ही प्रकाशित करती है", जैसे दीपक मात्र रूप को प्रकाशित करता है। सो यहां का हेतु भी माणिक्य रत्न आदि के द्वारा व्यभिचरित होता है क्योंकि वह माणिक्य तैजस नहीं होते हुए भी केवल रूप को ही प्रकाशित करता है। इसी प्रकार यह कथन भी कि स्पर्शनेन्द्रिय वायु से बनी है क्योंकि रूपादि के रहते हुए भी वह एक स्पर्श को ही प्रकाशित करती है–जैसे जल में होने वाला शीतस्पर्श, वायुरूप अवयवी के द्वारा प्रकट होता है। यहां पर भी हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि कपूर आदि पृथिवी के द्वारा भी जल में का शीतस्पर्श प्रकट किया जाता है। अतः वायु से ही शीतस्पर्श प्रकट हो सो बात नहीं। इस प्रकार इन इन्द्रियों के जो कारण माने हैं उनमें व्यभिचार आता है अतः इनको एक पुद्गल रूप द्रव्य से बनी हुई मानना चाहिये।

तथा स्पर्शनेन्द्रिय सिर्फ वायु के ही स्पर्श को प्रकट करती है सो बात नहीं है, पृथिवी जल और अग्नि के स्पर्श को भी प्रकट करती है। फिर तो स्पर्शनेन्द्रिय पृथिवी, जल और अग्नि का भी कार्य है ऐसा मानना चाहिये ? क्योंकि वायु का स्पर्श

प्कार्यत्वप्रसङ्गः । रसनस्य चाप्यरसाभिव्यञ्जकत्वादप्कार्यत्ववत् पृथिवीरसाभिव्यञ्जकत्वात्पृथिवीकार्यत्वप्रसङ्गः ।

'नाभसं श्रोत्रं रूपादिषु सन्निहितेषु शब्दस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्' इति चाऽसाम्प्रतम्; शब्दे नभो-

---

प्रकट करती है अतः वह वायु से निर्मित है तो पृथिवी आदि के स्पर्श को प्रकट करने वाली होने से वह पृथिवी आदि से निर्मित भी मानी जायगी ?

तथा—चक्षु अग्नि के रूप को प्रकाशित करती है अतः अग्नि से निर्मित है ऐसा माना जाये तो चक्षु पृथिवी जलादिक के रूप को भी प्रकाशित करती है, अतः वह पृथिवी आदि से निर्मित है ऐसा भी स्वीकार करना चाहिये । रसनेन्द्रिय जल के रस को प्रकट करती है अतः वह जल का कार्य है तो वह पृथिवी आदि के रस को भी प्रकट करती हुई देखी जाती है इसलिये पृथिवी आदि का कार्य है ऐसा भी मानना चाहिये ।

कर्णेन्द्रिय आकाश से बनी है इसके लिये नैयायिक का ऐसा अनुमान है—"नाभसं श्रोत्रं रूपादिषु सन्निहितेषु शब्दस्यैवाभिव्यंजकत्वात्" कर्ण इन्द्रिय आकाश से बनी है, क्योंकि वह रूप आदि के रहते हुए भी सिर्फ शब्द को ही प्रकट करती है सो यह अनुमान भी पहले के समान ही गलत है । आप नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानकर आकाश निर्मित कर्ण से उसका ग्रहण होना बताते हैं सो दोनों ही बातें—[कर्ण का आकाश से उत्पन्न होना और शब्द आकाश का गुण है] असत्य हैं । क्योंकि आकाश अमूर्त्त है उसका गुण मूर्तिक इन्द्रिय द्वारा गृहीत नहीं हो सकता, इत्यादि विषय को हम आगे शब्द में आकाश गुणत्व का खण्डन करते समय स्पष्ट करने वाले हैं । नैयायिक ने इन अनुमानों का निरसन होने से शब्द के विषय में और भी जो अनुमान दिया है कि—शब्द स्वसमानजातीयविशेषगुणवाली इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, क्योंकि वह सामान्य विशेषरूप होनेपर बाह्य एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है, अथवा दूसरा हेतु कि बाह्य एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने पर अनात्मा का विशेष गुणरूप होनेसे शब्द स्वसमान जाति के विशेष गुणवाली इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, जैसे रूप आदि स्वसमानजाति के विशेष गुणवाली इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं ।

भावार्थ—शब्द अपने समान जाति का जो आकाश है उसका गुण है, अतः

गुणत्वस्याग्रे प्रतिषेधात् । तत्श्चेदमप्ययुक्तम्–"शब्दः स्वसमानजातीयविशेषगुणवतेन्द्रियेण गृह्यते सामान्यविशेषवत्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वे सत्यनात्मविशेषगुणत्वाद्वा रूपादिवत्" [ ] इति । ततो नेन्द्रियाणां प्रतिनियतभूतकार्यत्वं व्यवतिष्ठते प्रमाणाभावात् ।

अपने ही समान जातिरूप आकाश से बनी हुई जो कर्णेन्द्रिय है उसके द्वारा उसका ग्रहण होता है, बाह्य एक ही इन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण होने से तथा आत्मा का गुण नहीं होने से भी उसका अपनी सजातीय इन्द्रिय से ग्रहण होता है ऐसा सिद्ध होता है । कर्णेन्द्रिय आकाश से बनी है, अतः आकाश के विशेष गुण स्वरूप शब्द को वह जानती है । अथवा शब्द आकाश का गुण है अतः आकाश निर्मित कर्णेन्द्रिय द्वारा उसका ग्रहण होता है । ऐसा नैयायिकादि का कहना है, किन्तु यह सब व्यावर्णन और इसकी पुष्टि के निमित्त दिये गये अनुमान सब असिद्ध हैं ऐसा पूर्वोक्तरूप से सिद्ध हो जाता है ?

इस प्रकार नैयायिकों का यह निश्चितपृथिवी आदि से निश्चित–घ्राणेन्द्रियादि की उत्पत्ति होती है ऐसा जो प्रतिनियत कार्यवाद है वह युक्तिशून्य होने से या युक्तिसंगत न हो सकने से निरस्त हो जाता है । जैनोंने प्रतिनियत एक पुद्गल से सभी द्रव्येन्द्रियों की रचना होती है ऐसा जो माना है वही युक्तिसंगत निर्दोष है । द्रव्येन्द्रियों की रचना में भावेन्द्रियां सहायभूत हैं भावेन्द्रियों के अभाव में द्रव्येन्द्रियां स्वकार्य करने में असमर्थ रहती हैं । अतः ये भावेन्द्रियां ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशमरूप सिद्ध होती हैं । इस तरह इन इन्द्रियों एवं मन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है और एकदेश पदार्थ को स्पष्ट जानता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है ऐसा प्रेक्षादक्षवादी और प्रतिवादियों को स्वीकार करना चाहिये । इस प्रकार सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष का वर्णन समाप्त हुआ ।

उपसंहार—परीक्षामुखनामा ग्रन्थ की रचना श्री माणिक्यनंदी आचार्य ने ईसाकी आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में की थी जिसमें कुल सूत्र संख्या २१२ हैं [प्रकारान्तर से २०७ सूत्र भी गिने जाते हैं] तदनंतर दसवीं शताब्दी में श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने उन सूत्रों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण दीर्घकाय टीका रची । अब वर्त्तमानमें बीसवीं शताब्दीमें उस दीर्घकाय संस्कृत टीका का राष्ट्रभाषानुवाद [हिन्दी] करीब पच्चीस हजार श्लोक प्रमाणमें मैंने [आर्यिका जिनमतिने] किया, संपूर्ण भाषानुवादका प्रकाशन एक खण्ड में होना अशक्य था अतः तीन खडमें विभाजन

प्रतिनियतेन्द्रिय योग्यपुद्गलारब्धत्वं तु द्रव्येन्द्रियाणां प्रतिनियतभावेन्द्रियोपकरणभूतत्वान्यथानुपपत्तेर्घटते इति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ।

❀ इति श्री प्रमेयकमल मार्त्तण्डस्य प्रथम खण्डः समाप्तः ❀

हुआ । प्रस्तुत प्रथम खंडमें परीक्षामुख के कुल १८ सूत्र आये हैं । संस्कृत टीका का तृतीयांश [४००० श्लोक प्रमाण] एवं भाषानुवादका साधिक तृतीयांश [करीब ६००० श्लोक प्रमाण] अन्तर्निहित हुआ है । इसमें अज्ञान एवं प्रमादवश कुछ स्खलन हुआ हो उसका विद्वज्जन संशोधन करें । श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमाण के विषयमें जो विविध मान्यतायें दी हैं अर्थात् प्रमाण का लक्षण क्या है, प्रमाण में प्रमाणता किससे आती है, प्रमाण की कितनी संख्या है ? इत्यादि विषयों पर बहुत ही अधिक विशद विवेचन किया है उन्होंने भारत में प्रचलित सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध, चार्वाक, वेदांत आदि दर्शनोंका प्रमाणके बारेमें जो अभिप्राय है अर्थात् प्रमाणके लक्षण में मतभेद है उन सबके प्रमाण लक्षणोंका युक्ति पूर्ण पद्धतिसे निरसन किया है । और जिनमत प्रणीत प्रमाणका लक्षण निर्दोष अखण्डित सिद्ध किया है । प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के तृतीयांश के राष्ट्रभाषानुवाद स्वरूप इस प्रथम भागमें प्रथम ही मंगलादि संबंधी चर्चा है, फिर प्रमाण का लक्षण करके मतांतरके कारक साकल्यवाद सन्निकर्षवाद, इन्द्रियवृत्तिवाद, ज्ञातृव्यापारवाद, इत्यादि करीब ३२ प्रकरणों का समावेश है ।

इसप्रकार विक्षेपणी कथा स्वरूप इस न्याय ग्रन्थका अध्ययन करके आत्म भावों में स्थित विविध मिथ्याभिनिवेशोंका परिहार कर निज सम्यग्दर्शन को परिशुद्ध बनना चाहिये ।

❀ श्री प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का प्रथम भाग समाप्त ❀

अथ प्रशस्ति

प्रणम्य शिरसा वीरं धर्मतीर्थप्रवर्त्तकम् ।
तच्छासनान्वयं किञ्चिद् लिख्यते सुमनोहरम् ॥१॥
नभस्तत्वदिग्वीराब्दे कुन्दकुन्द गणी गुणी ।
संजातः संघनायको मूलसंघप्रवर्त्तकः ॥२॥
आम्नाये तस्य संख्याताः विख्याताः सुदिगंबराः ।
प्राविरासन् जगन्मान्याः जैनशासनवर्द्धकाः ॥३॥
क्रमेण तत्र समभूत् सूरिरेकप्रभावकः ।
शांतिसागर नामा स्यात् मुनिधर्मप्रवर्त्तकः ॥४॥
वीरसागर आचार्यस्तत्पट्टे समलंकृतः ।
ध्यानाध्ययने रक्तो विरक्तो विषयामिषात् ॥५॥
अथ दिवंगते तस्मिन् शिवसिन्धुर्मुनीश्वरः ।
चतुर्विधगणैः पूज्यः समभूत् गणनायकः ॥६॥
तयोः पार्श्वे मया लब्धा दीक्षा संसारपारगा ।
आकरी गुणरत्नानां यस्यां कायेऽपि हेयता ॥७॥ [विशेषकम्]
प्रशमादिगुणोपेतो धर्मसिन्धुर्मुनीश्वरः ।
आचार्यपद मासीनो वीरशासनवर्द्धकः ॥८॥
आर्या ज्ञानमती माता विदुषी मातृवत्सला ।
न्यायशब्दादिशास्त्रेषु धत्ते नैपुण्य माञ्जसम् ॥९॥
कवित्वादिगुणोपेता प्रमुखा हितशासिका ।
गर्भाधावक्रियाहीना मातैव मम निश्छला ॥१०॥
नाम्ना जिनमती चाहं शुभमत्यानुप्रेरिता ।
यया कृतोऽनुवादोयं चिरं नन्द्यात् महीतले ॥११॥

इति भद्रं भूयात् सर्व भव्यानां

❋

परीक्षामुखसूत्र

प्रथमः परिच्छेदः

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पंलघीयसः ।। १ ।।

१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम् ।

२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।

३ तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ।

४ अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ।

५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।

६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ।

७ अर्थस्येव तदुन्मखतया ।

८ घटमहमात्मना वेद्मि ।

९ कर्मवत्कर्तृ करण क्रिया प्रतीतेः ।

१० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।

११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थं मध्यक्ष मिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ।

१२ प्रदीपवत् ।

१३ तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।

द्वितीयः परिच्छेदः

१ तद् द्वेधा ।

२ प्रत्यक्षेतरभेदात् ।

३ विशदं प्रत्यक्षम् ।

४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।

५ इंद्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ।

६ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।

७ तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञान वन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।

८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ।

९ स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।

१० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ।

११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरण मतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।

१२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ।

तृतीयः परिच्छेदः

१ परोक्षमितरत् ।

२ प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञान तर्कानुमानागमभेदम् ।

३ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।

४ स देवदत्तो यथा ।

५ दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञा-

नम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ।

६ यथा स एवायं देवदत्तः ।

७ गोसदृशो गवयः ।

८ गो विलक्षणो महिषः ।

९ इदमस्माद्दूरम् ।

१० वृक्षोऽयमित्यादि ।

११ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञान मूहः ।

१२ इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।

१३ यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।

१४ साधनात्साध्यविज्ञान मनुमानम् ।

१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।

१६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ।

१७ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ।

१८ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ।

१९ तर्कात्तन्निर्णयः ।

२० इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।

२१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा-स्यादित्यसिद्धपदम् ।

२२ अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं माभूदितीष्टाबाधितवचनम् ।

२३ न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ।

२४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।

२५ साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।

२६ पक्ष इति यावत् ।

२७ प्रसिद्धो धर्मी ।

२८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये ।

२९ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।

३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ।

३१ अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ।

३२ व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।

३३ अन्यथा तदघटनात् ।

३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

३५ साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ।

३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।

३७ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ।

३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ।

३९ तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ।

४० व्यक्तिरूपंच निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापितद्विप्रतिपत्तावनवस्थान स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ।

४१ नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ।

४२ तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मणि साध्यसाधने सन्देहयति ।

४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।

४४ न च ते तदङ्गे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ।

४५ समर्थनं वा वरं हेतुरूप मनुमानावयवोवाऽस्तु साध्ये तदुपयोगात् ।

४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं तत् त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ

नवादेऽनुपयोगात् ।

४७ दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ।

४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय-दृष्टान्तः ।

४९ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।

५० हेतुरूपसंहार उपनयः ।

५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।

५२ तदनुमानं द्वेधा ।

५३ स्वार्थपरार्थभेदात् ।

५४ स्वार्थमुक्तलक्षणम् ।

५५ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।

५६ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।

५७ स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ।

५८ उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।

५९ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्य-कारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।

६० रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छ-द्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र साम-र्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।

६१ न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ।

६२ भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टो-द्बोधौ प्रतिहेतुत्वम् ।

६३ तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।

६४ सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थाना-त्सहोत्पादाच्च ।

६५ परिणामी शब्दः कृतकत्वात् य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः कृतकश्चायं तस्मात् परि-णामी यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः कृतकश्चायं तस्मात् परिणामी ।

६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ।

६७ अस्त्यत्रच्छाया छत्रात् ।

६८ उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्

६९ उदगाद् भरणिः प्राक् तत एव ।

७० अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ।

७१ विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ।

७२ नास्त्य शीतस्पर्श औष्ण्यात् ।

७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।

७४ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।

७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।

७६ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।

७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्श-नात् ।

७८ अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव-व्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भ-भेदात् ।

७९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ।

८० नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ।

८१ नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुप-लब्धेः ।

८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ।

८३ न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिको-दयानुपलब्धेः ।

८४ नोदगादभरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव ।

८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ।

८६ विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्य-कारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ।

८७ यथाऽस्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति-निरामयचेष्टानुपलब्धेः ॥

८८ अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्ट संयोगाभावात् ।

८९ अनेकान्तात्मक वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ।

९० परम्पराया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ।

९१ अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ।

९२ कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ।

९३ नास्त्यत्र गुहाया मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ।

९४ व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ।

९५ अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ।

९६ हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्ति ग्रहण विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।

९७ तावता च साध्यसिद्धिः ।

९८ तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्तः ।

९९ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।

१०० सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।

१०१ यथा मेर्वादय. सन्ति ।

चतुर्थः परिच्छेदः

१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।

२ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति स्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।

३ सामान्यं द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।

४ सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषुगोत्ववत् ।

५ परापरविवर्तव्यापि द्रव्य मूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।

६ विशेषश्च ।

७ पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।

८ एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मानि हर्षविषादादिवत् ।

९ अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ।

पंचमः परिच्छेदः

१ अज्ञाननिवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।

२ प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ।

३ यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जह्रात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।

षष्ठः परिच्छेदः

१ ततोऽन्यत्तदाभासम् ।

२ अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।

३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।

४ पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादि ज्ञानवत् ।

५ चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ।

६ अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद् वह्नि विज्ञानवत् ।

७ वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ।

८ अतस्मिंस्तदिति ज्ञान स्मरणभासम्, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ।

९ सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेनसदृशं यमलकवदित्यादिप्रत्यभिज्ञानाभासम् ।

१० असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, यावांस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा ।

११ इदमनुमानाभासम् ।

१२ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः।

१३ अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः।

१४ सिद्धः श्रावणः शब्दः।

१५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।

१६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।

१७ अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत्।

१८ प्रेत्यासुखप्रदोधर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्।

१९ शुचि नरा शिरः कपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्ख-शुक्तिवत्।

२० माता मे बन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्य गर्भत्वात्प्रसिद्ध बन्ध्यावत्

२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः।

२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः।

२३ अविद्यमानसत्ताकः परिणामीशब्दश्चाक्षुषत्वात्।

२४ स्वरूपेणासत्वात्।

२५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात्।

२६ तस्य बाष्पादिभावेन भूतसङ्घाते सन्देहात्।

२७ सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतत्वात्।

२८ तेनाज्ञातत्वात्।

२९ विपरीतनिश्चिता बिना भावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्।

३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।

३१ निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्।

३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्।

३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्।

३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात्।

३५ सिद्धे प्रत्यक्षादि बाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।

३६ सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्।

३७ किञ्चिदकरणात्।

३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात्।

३९ लक्षण एवासौ दोषोव्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्ष दोषेणैव दुष्टत्वात्।

४० दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः।

४१ अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत्।

४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम्।

४३ विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात्।

४४ व्यतिरेकेऽसिद्ध तद् व्यतिरकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत्।

४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम्।

४६ बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता।

४७ अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति।

४८ धूमवांश्चायमिति वा।

४९ तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति।

५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात्।

५१ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्।

५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः।

५३ अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च।

५४ विसंवादात्।

५५ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।

५६ लोकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।

५७ सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ।

५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।

५९ तर्कस्येवव्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम्-अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।

६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।

६१ विषयाभासः सामान्य विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।

६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकारणाच्च ।

६३ समर्थस्य करणेसर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।

६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।

६५ स्वयमसमर्थस्या कारकत्वात्पूर्ववत् ।

६६ फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।

६७ अभेदे तद् व्यवहारानुपपत्तेः ।

६८ व्यावृत्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।

६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।

७० तस्माद्वास्तवो भेदः ।

७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ।

७२ समवायेऽतिप्रसंगः ।

७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च

७४ संभवदन्यद्विचारणीयम् ।

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥

इति परीक्षामुखसूत्रं समाप्तम् ।

कतिपय विशिष्ट शब्दोंकी परिभाषा

अनुमान—साधनसे होने वाले साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं, अर्थात् किसी एक चिह्न या कार्यको देखकर उससे संबंधित पदार्थका अवबोध करानेवाला ज्ञान अनुमान कहलाता है। जैसे दूरसे पर्वतपर धुआं निकलता देखा, उस धुंएको देखकर ज्ञान हुआ कि "इस पर्वतपर अग्नि है, क्योंकि धूम दिखायी दे रहा है" इत्यादि स्वरूप वाला जो ज्ञान होता है वह अनुमान या अनुमान प्रमाण कहलाता है।

अनुमेय—अनुमानके द्वारा जानने योग्य पदार्थको अनुमेय कहते हैं

अन्यथानुपपत्ति—साध्यके बिना साधनका नहीं होना, अथवा इसके बिना यह काम नहीं हो सकता, जैसे बरसातके बिना नदी में बाढ़ नहीं आना इत्यादि।

अर्थसंवित्—पदार्थके ज्ञानको अर्थसंवित कहते हैं।

अहंप्रत्यय—"मैं" इस प्रकारका अपना अनुभव या ज्ञान होना।

अदृष्ट—भाग्य, कर्म, पुण्य इत्यादि अदृष्ट शब्दके अनेक अर्थ हैं, वैशेषिक इस अदृष्टको आत्माका गुण मानते हैं।

अगौण—मुख्य या प्रधानको अगौण कहते हैं।

अन्तर्व्याप्ति—जिस हेतुकी सिर्फ पक्षमें व्याप्ति हो वह अन्तर्व्याप्ति वाला हेतु कहलाता है।

अन्योन्याश्रय—जहां पर दो वस्तु या धर्मोंकी सिद्धि एक दूसरेके आश्रयसे हो वह अन्योन्याश्रय या इतरेतराश्रय दोष कहलाता है।

अश्वविषाण—घोड़ेके सींग (नहीं होते हैं)

असाधारण अनैकान्तिक—"विपक्षसपक्षाभ्यां व्यावर्त्तमानो हेतुरसाधारणैकान्तिक." जो सपक्ष और विपक्ष दोनोंसे व्यावृत्त हो वह असाधारण अनैकान्तिक नामा सदोष हेतु है, यह हेत्वाभास यौगने स्वीकार किया है।

अद्वैत—दो या दो प्रकारके पदार्थोंका नहीं होना।

अनवस्था—मूल क्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम्।
वस्त्वनंतेऽप्यशक्तौ च नानवस्थाविचार्यते ॥ १ ॥

अर्थात् जो मूल तत्वका ही नाश करती है वह अनवस्था कहलाती है, किन्तु जहां वस्तु के अनंतपनेके कारण या बुद्धिके असमर्थताके कारण जानना न हो सके वहां अनवस्था नहीं मानी जाती

है। मतलब जहांपर सिद्ध करने योग्य वस्तु या धर्मको सिद्ध नहीं कर सके और आगे आगे अपेक्षा तथा प्रश्न या आकांक्षा बढ़ती ही जाय, कहीं पर ठहरना नहीं होवे वह अनवस्था नामा दोष कहा जाता है।

अतीन्द्रियः—चक्षु आदि पांचों इन्द्रियों द्वारा जो ग्रहणमें नहीं आवे वे पदार्थ अतीन्द्रिय कहलाते हैं।

अणुमनः—परमाणु बराबर छोटा मन (यह मान्यता योग की है)

अन्वयव्याप्ति—जहां जहां साधन-धूमादि हेतु हैं वहा वहां साध्य-अग्नि आदिक हैं, ऐसी साध्य और साधन की व्याप्ति होना।

अन्वय निश्चय—अन्वयव्याप्तिका निर्णय होना।

अदृश्यानुपलभ—नेत्र के अगोचर पदार्थ का नहीं होना।

अनुवृत्त प्रत्यय—गौ-गौ इस प्रकार का सदृश वस्तुओंमें समानता का अवबोध होना।

अर्थ प्राकट्य—पदार्थ का प्रगट होना-जानना।

अर्थ क्रिया—वस्तुका कार्यमें आ सकना, जैसे घटकी अर्थक्रिया जल धारण है।

अनधिगतार्थग्राही—कभी भी नहीं जाने हुये पदार्थको जाननेवाला ज्ञान।

अदुष्ट कारणारब्धत्व—निर्दोष कारणोसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान।

अर्थजिज्ञासा—पदार्थों को जाननेकी इच्छा होना।

अपौरुषेय—पुरुष द्वारा नहीं किया हुआ पदार्थ।

अत्यताभाव—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप कभी भी नहीं होना, सर्वथा पृथक रहना अत्यंताभाव कहलाता है।

अनाधेय—"आरोपयितुमशक्यः" जिसका आरोपण नहीं किया जा सकता उसे अनाधेय कहते हैं।

अप्रहेय—"स्फोटयितुमशक्यः" जिसका स्फोट नहीं कर सकते।

आत्मपरोक्षवाद—कर्त्ता आत्मा और करण ज्ञान ये दोनों सर्वथा परोक्ष रहते हैं किसी भी ज्ञान या प्रमाण द्वारा जाने नहीं जाते हैं, आत्मा ज्ञानके द्वारा अन्य अन्य पदार्थोंको तो जान लेता है किन्तु स्वयं को कभी भी नहीं जानता, ऐसी मीमांसक के दो भेदों में (भाट्ट और प्रभाकर) से प्रभाकरकी मान्यता है।

आत्मख्याति—अपनी ख्याति [विपर्यय ज्ञानमें अपना ही आकार रहता है ऐसा विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं।]

इतरेतराभाव—'स्वभावाद् स्वभावान्तर व्यावृत्तिः–इतरेतराभावः" अर्थात् एक स्वभाव या गुण, धर्म, अथवा पर्यायकी अन्यस्वभावादि से भिन्नता है वह इतरेतराभाव कहलाता है।

इन्द्रियवृत्ति—चक्षु आदि इन्द्रियोंका अपने विषयों की ओर प्रवृत्त होना इन्द्रियवृत्ति है और वही प्रमाण है ऐसा सांख्य कहते है।

इष्ट प्रयोजन—ग्रंथमें कथित विषय इष्ट होना।

उत्तभकमणि—अग्निको दीप्त करानेवाला कोई रत्न विशेष।

कारक साकल्य—कारक साकल्य–कर्त्ता, कर्म आदि कारकोंकी पूर्णता होना कारक साकल्य कहलाता है, नैयायिक ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक जो भी सामग्री है उसको कारक साकल्य कहते हैं और उसीको प्रमाण मानते हैं।

खर विषाण— गधेके सींग (नहीं होते)

खर रटित—गधेका चिल्लाना, रेंकना खर रटित कहलाता है।

खपुष्प—आकाशका पुष्प (नहीं होना)

ग्राह्य-ग्राहक—ग्रहण करने योग्य पदार्थ ग्राह्य और ग्रहण करनेवाला पदार्थ ग्राहक कहलाता है।

चक्रक दोष—जहां तीन धर्मोंका सिद्ध होना परस्परमें अधीन हो, अर्थात एक असिद्ध धर्म या वस्तुसे दूसरे धर्म आदिकी सिद्धि करना और उस दूसरे असिद्ध धर्मादि से तीसरे धर्म या वस्तु की सिद्धि करनेका प्रयास करना, पुनश्च उस तीसरे धर्मादि से प्रथम नंबरके धर्म या वस्तुको सिद्ध करना, इस प्रकार तीनोंका परस्परमें चक्कर लगते रहना, एक की भी सिद्धि नहीं होना चक्रक दोष हैं।

चोदना—सामवेद आदि चारों वेदोंको चोदना कहते हैं।

चित्राद्वैत—ज्ञानमें जो अनेक आकार प्रतिभासित होते हैं वे ही सत्य हैं, बाह्यमें दिखायी देनेवाले अनेक आकार वाले पदार्थ तो मात्र काल्पनिक हैं ऐसा बौद्धोंके चार भेदोंमें से योगाचार बौद्धका कहना है यही चित्राद्वैत कहलाता है, चित्र-नाना आकारयुक्त एक अद्वैत रूप ज्ञान मात्र तत्व है और कुछ भी नहीं है ऐसा मानना चित्राद्वैतवाद है।

चक्षुसन्निकर्षवाद—नेत्र पदार्थोंको छूकर ही जानते हैं, सभी इन्द्रियोंके समान यह भी इन्द्रिय है अतः नेत्र भी पदार्थका स्पर्शकरके उसको जानते हैं, यह चक्षुसन्निकर्षवाद कहलाता है, यह मान्यता नैयायिककी है।

ज्ञेय-ज्ञायक—जानने योग्य पदार्थ ज्ञेय कहलाते हैं और जानने वाला आत्मा ज्ञायक या ज्ञाता कहलाता है।

ज्ञातृ व्यापार—ज्ञाताकी क्रियाको ज्ञातृव्यापार कहते हैं।

ज्ञानांतरवेद्य ज्ञानवाद—ज्ञान स्वयं को नहीं जानता उसको जाननेके लिये अन्य ज्ञानकी आवश्यकता रहती है, ऐसी नैयायिककी मान्यता है।

तदुत्पत्ति—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध मानते हैं, तत्-पदार्थ से उत्पत्ति-ज्ञानकी उत्पत्ति होना तदुत्पत्ति कहलाती है।

तदाकार—ज्ञानका पदार्थके आकारको धारण करना, यह भी बौद्ध मान्यता है।

तदध्यवसाय—उसी पदार्थको जानना जिससे कि ज्ञान उत्पन्न हुआ है और जिसके आकार को धारण किये हुए है, यह तदध्यवसाय कहलाता है. यह सब बौद्ध मान्यता है।

तादात्म्य संबंध—द्रव्योंका अपने गुणोंके साथ अनादिसे जो मिलना है-स्वतः ही उस रूप रहना, एवं पर्यायके साथ मर्यादित कालके लिये अभेद रूपसे रहना है ऐसे अभिन्न संबंधको तादात्म्य संबंध कहते हैं। (अर्थात वस्तुमें गुण स्वत: ही पहलेसे रहते हैं ऐसा जैनका अखंड सिद्धांत है। वस्तु प्रथम क्षणमें गुण रहित होती है और द्वितीय क्षणमें समवाय से उसमें गुण आते हैं ऐसा नैयायिक वैशेषिक मानते हैं, जैन ऐसा नहीं मानते हैं।

तथोपपत्ति—साध्यके होनेपर साधनका होना। उस तरहसे होना या उसप्रकारकी बात घटित होना भी तथोपपत्ति कहलाती है।

दीर्घशष्कुली भक्षण—बड़ी तथा कड़ी कचौड़ीका खाना।

द्विचन्द्र वेदन—एक ही चन्द्रमें दो चन्द्रका प्रतिभास होना।

द्वैत—दो या दो प्रकारकी वस्तुओंका होना।

धारावाहिक ज्ञान—एक ही वस्तुका एक सरीखा ज्ञान लगातार होते रहना, जैसे यह घट है, यह घट है, इस प्रकार एक पदार्थका उल्लेख करनेवाला ज्ञान।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष—नाम, जाति आदिके निश्चयसे रहित जो ज्ञान है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा बौद्ध कहते हैं।

निषेधृ—अमुक वस्तु नहीं है इसप्रकार निषेध करनेवाला ज्ञान।

निषेध्याधार—निषेध करने योग्य घट पट आदि पदार्थ हैं उनका जो आधार हो उसे निषेध्याधार कहते हैं।

प्रमाण—अपनेको और परको निर्णय रूपसे जानने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, अथवा सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण—विशद-स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण—अस्पष्ट ज्ञान।

प्रमाण सम्प्लव—"एकस्मिन् वस्तुनि बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्तिः प्रमाण संप्लवः" अर्थात एक ही विषयमें अनेक ज्ञानोंकी जाननेके लिये प्रवृत्ति होना प्रमाण संप्लव कहलाता है।

प्रमेय—प्रमाणके द्वारा जानने योग्य पदार्थ।

प्रमाता—जाननेवाला आत्मा।

प्रमिति—प्रतिभास या जानना।

प्रसग साधन—"परेष्टयाऽनिष्टापादनं प्रसंग साधनं" अर्थात् अन्य वादी द्वारा इष्ट पक्षमें उन्हीं के लिये अनिष्टका प्रसंग उपस्थित करना प्रसंग साधन कहलाता है।

प्रधान या प्रकृति—साख्य द्वारा मान्य एक तत्व, जो कि अचेतन है, इसीके इन्द्रियादि २४ भेद हैं।

पुरुष—सांख्यका २५ वां तत्व, यह चेतन है इस चेतन तत्वको सांख्य अकर्त्ता एवं ज्ञान शून्य मानते हैं।

प्रत्यासत्ति—निकटता को प्रत्यासत्ति या प्रत्यासन्न कहते हैं।

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक—समझाने योग्य विषय अथवा जिसको समझाया जाता है उन पदार्थ या शिष्यादिको प्रतिपाद्य कहते हैं, तथा समझाने वाला व्यक्ति-गुरु आदिक या उनके वचन प्रतिपादक कहलाते हैं।

पर्युदास—"पर्युदासः सदृक् ग्राही" पर्युदास नामका अभाव उसको कहते है जो एक का अभाव बताते हुए भी साथ ही अन्य सदृश वस्तुका अस्तित्व सिद्ध कर रहा हो।

प्रसज्य—"प्रसज्यस्तु निषेधकृत्" सर्वथा अभाव या तुच्छाभावको प्रसज्य अभाव कहते हैं।

परोक्षज्ञान वाद—ज्ञान सर्वथा परोक्ष रहता है अर्थात स्वयं या अन्य ज्ञान के द्वारा बिलकुल ही जानने में नहीं आ सकता ऐसा मीमांसक मानते हैं अतः ये परोक्षज्ञानवादी या ज्ञानपरोक्षवादी कहलाते हैं।

प्रतिबंधक मणि—अग्निके दाहक शक्तिको रोकनेवाला रत्न विशेष।

प्रतियोगी—भूतलमे (आदिमें) स्थित कोई वस्तु विशेष जिसको पहले उस स्थान पर देखा है।

प्रमाण पचकाभाव—प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति, उपमा और आगम इन पांच प्रमाणोंको मीमासक विधि-यानी अस्तित्व साधक मानते हैं इनका अभाव प्रमाण पंचकाभाव कहा जाता है।

प्रागभाव—जिसके अभाव होनेपर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति हो "यदभावे नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः सः प्रागभावः" प्रागनंतर परिणाम विशिष्ट मृद् द्रव्यम्।। अर्थात् मिट्टी आदिमें घटादि कार्यका अभाव रहना, प्राग् पहले अभावरूप रहना प्रागभाव है। जैसे घट के पूर्व स्यास आदि रूप मिट्टी का रहना है वह घटका प्रागभाव कहलाता है।

प्रध्वंसाभावः—"यद्भावे नियमतः कार्यस्यविपत्तिः स प्रध्वंसः, मृद् द्रव्यानंतरोत्तर परिणामः" जिसके होनेपर नियमसे कार्यका नाश होता है वह प्रध्वंस कहलाता है, जैसे घट रूप कार्यका नाश करके कपाल बनता है, मिट्टी रूप द्रव्यका अनंतर परिणाम घट था उस घटका उत्तर परिणाम कपाल है, यह घट कार्यका प्रध्वंस है।

ब्रह्माद्वैत—विश्वके संम्पूर्ण पदार्थ एक ब्रह्म स्वरूप हैं, अन्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ घट, जीव आदि पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब ब्रह्म की ही विवर्त हैं ऐसा ब्रह्माद्वैतवादी की मान्यता है।

बाधाविरह—बाधा का नहीं होना।

बहिर्व्याप्ति—जिस हेतुकी पक्ष और सपक्ष दोनों में व्याप्ति हो वह बहिर्व्याप्तिक हेतु कहलाता है।

भूयोदर्शन—किसी वस्तुका बार बार देखा हुआ या जाना हुआ होना।

भूतचैतन्यवाद—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार पदार्थोंसे आत्मा या चैतन्य उत्पन्न होता है ऐसा चार्वाकका कहना है, इसीके मतको भूतचैतन्यवाद कहते हैं।

योगज धर्म—प्राणायाम, ध्यानादिके अभ्याससे आत्मामें ज्ञानादि गुणोंका अतिशय होना।

युगपत वृत्ति—एक साथ होना या रहना।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति—एक साथ अनेक ज्ञानोंका नही होना।

रजत प्रत्यय—चांदीका प्रतिभास होना।

लिंग—हेतुको लिंग कहते हैं चिह्न को भी लिंग कहते है।

लिंगी—अनुमानको लिंगी कहते हैं, जिसमें चिह्न हो वह पदार्थ लिंगी कहलाता है।

लघुवृत्ति—शीघ्रतासे होना।

विवर्त—पर्यायको विवर्त कहते है।

व्यंग्यव्यञ्जक—प्रगट करने योग्य पदार्थ व्यंग्य कहलाते हैं, और प्रगट करनेवाला व्यञ्जक कहलाता है।

व्याप्य-व्यापक—व्यापक तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठ मेव च" अर्थात जो उस विवक्षित वस्तुमें है और अन्यत्र भी है वह व्यापक कहलाता है, और जो उसी एक विवक्षित में ही है वह व्याप्य कहा जाता है, जैसे वृक्ष यह व्यापक है और नीम, आम आदि व्याप्य हैं।

वाच्य-वाचक—पदार्थ वाच्य हैं और शब्द वाचक कहलाते हैं, इन पदार्थ और शब्दों का जो संबंध है उसे वाच्य वाचक संबंध कहते हैं।

विषयाकार धारित्व—घट आदि पदार्थ ज्ञानके विषय कहलाते हैं, उनके आकारोंको ज्ञान अपनेमें धारण करता है ऐसा बौद्ध मानते हैं, इसीको विषयाकार धारित्व कहते हैं।

व्यवसाय—ज्ञानमें वस्तुका निश्चायकपना होना व्यवसाय कहलाता है।

व्यतिरिक्त—पृथक या भिन्न।

व्यतिरेक व्याप्ति—जहां जहां अग्नि आदि साध्य नहीं हैं वहां वहां धूम आदि साधन भी नहीं हैं, इसप्रकार साध्यके अभावमें साधनके अभावका अविनाभाव होना या दिखलाना व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है।

व्यतिरेक निश्चय—व्यतिरेक व्याप्तिका निश्चय या निर्णय होना।

विशद विकल्प—"यह घट है" इत्यादि रूपसे स्पष्ट निश्चय होना।

विधातृ—"यह वस्तु मौजूद है" इस प्रकार अस्तिरूप वस्तुका जो ज्ञान होता है उस ज्ञानको विधातृ या विधायक ज्ञान कहते हैं।

विज्ञानाद्वैतवाद—जगतके संपूर्ण पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं, ज्ञानको छोड़कर दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है ऐसा बौद्ध कहते हैं, इसीको विज्ञानाद्वैतवाद कहते है।

शून्याद्वैत—चेतन अचेतन कोई भी पदार्थ नहीं है सब शून्यस्वरूप है बौद्धका एक भेद माध्यमिकका कहना है, इसीको शून्याद्वैत कहते है।

शब्दाद्वैत—सपूर्ण पदार्थ तथा उनका ज्ञान शब्दमय है, शब्दब्रह्मसे निर्मित है, शब्दको छोड़कर अन्य कुछ भी नही है ऐसा भर्तृहरि आदि परवादीका कहना है।

शक्यानुष्ठान—ग्रन्थमें जिसका प्रतिपादन किया जायगा उसका समझना तथा आचरणमें लाना शक्य है ऐसा बताना शक्यानुष्ठान कहलाता है।

समवाय—वैशेषिक छह पदार्थ मानते हैं उन छह पदार्थोंमें समवाय एक पदार्थ है।

समवाय संबंध—द्रव्यका अपने गुणोंके साथ जो संबंध है वह समवाय संबंध है, द्रव्योंको गुणों से पृथक नहीं होने देना उसका काम है द्रव्योंकी उत्पत्ति प्रथम क्षणमें निर्गुण हुआ करती है और द्वितीय क्षणमें उसमें समवाय नामा पदार्थ गुणोंको संबंधित कर देता है ऐसी वैशेषिककी मान्यता है।

समवायी—आत्मा आदि द्रव्य, जिनमें समवाय आकर गुणोंको जोड़ देता है वे द्रव्य समवायी कहे जाते हैं।

समवेत—द्रव्योंमें जो गुण जोड़े गये हैं वे गुण समवेत कहलाते हैं।

संयोग-संबंध—दो पदार्थोंका या द्रव्योंका मिलना।

सबंधाभिधेय—ग्रन्थमें वर्णन करने योग्य जो विषय हैं उनका संबंध बतलाना।

सन्निकर्ष—पदार्थके छूनेको सन्निकर्ष कहते हैं, चक्षु आदि सभी इन्द्रियां पदार्थोंको छूकर ज्ञान कराती हैं ऐसा वैशेषिकका कहना है। इन्द्रियों द्वारा पदार्थोंका जो छूना है वह सन्निकर्ष है और वही प्रमाण है ऐसा वैशेषिकके प्रमाणका लक्षण है।

संवाद प्रत्यय—अपने पूर्ववर्त्ती ज्ञानका समर्थन करनेवाला ज्ञान।

स्मृतिप्रमोष—स्मृतिका नहीं होना, नष्ट होना स्मृति प्रमोष है, प्रभाकर (मीमांसक) विपर्यय ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप मानते हैं।

साकार ज्ञानवाद—ज्ञान पदार्थके आकार होता है, जो साकार ज्ञान है वही प्रमाणभूत है ऐसा बौद्ध कहते हैं।

सव्येतर गोविषाण—गायके दांये बांये सींग।

हेतु—साध्यके साथ जिसका अविनाभावी संबंध है उसको हेतु कहते हैं।

हेत्वाभास—जिसका साध्यके साथ अविनाभावी संबंध नहीं है वह हेत्वाभास है, उसके असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, और अकिञ्चित्कर ऐसे चार भेद हैं।

भारतीय दर्शनोंका अति संक्षिप्त परिचय—

जैन दर्शन

जैन दर्शन में सात तत्व माने है—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जिसमें चैतन्य पाया जाता है वह जीव है, चेतनतासे रहित अजीव है (इसके पांच भेद हैं-पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) जीवके विकारी भावोंसे कर्मोंका जीवके प्रदेशोंमें आना आस्रव है, उन कर्मोंका जीव प्रदेशोके साथ विशिष्ट प्रकारसे निश्चित अवधि तक सबद्ध होना बंध कहलाता है, परिणाम विशेषद्वारा उन कर्मोंका आना रुक जाना संवर है। पूर्व सचित कर्मोंका कुछ कुछ झड जाना निर्जरा है और संपूर्ण कर्मोंका जीवसे पृथक होना मोक्ष कहलाता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इसप्रकार छह मूलभूत द्रव्य हैं। उपर्युक्त साततत्वोंमें इन छह द्रव्योका अंतर्भाव करें तो जीव तत्वमें जीव द्रव्य और अजीव तत्वमें पुदगल, धर्म, अधर्म आकाश और काल अंतर्निहित होते है, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पांच तत्व जीव और अजीव स्वरूप पुदगल मय जड़ तत्व जो कर्म है इन दोनोंके सयोग से बनते हैं। चेतना स्वरूप जीव द्रव्य है, पुद्गल अर्थात् दृश्यमान जड़ द्रव्य।

धर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलके गमन शक्तिका सहायक अमूर्त्त द्रव्य। अधर्म द्रव्य-जीव और पुदगलके स्थिति का हेतु। सम्पूर्ण द्रव्योंका अवगाहन करानेवाला आकाश है और दिन, रात, वर्ष आदि समयोंका निमित्त भूत अमूर्त काल द्रव्य है।

प्रमाण संख्या—मुख्य दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों प्रमाण ज्ञान स्वरूप ही है, आत्माके जिस ज्ञानमें विशदपना [स्पष्टता] पाया जाता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अविशदपना [अस्पष्टता] जिसमें पाया जाता है वह परोक्ष प्रमाण है। इसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञानादि भेद हैं।

इन प्रमाणोंमे प्रामाण्य [सत्यता] अभ्यस्तदशामें स्वतः अनभ्यस्तदशा में परसे आया करती है।

जगत मे यावन्मात्र कार्य होते हैं उनके प्रमुख दो कारण हैं, निमित्त और उपादान, जो कार्योत्पत्ति में सहायक हो वह निमित्त कारण है और जो स्वयं कार्य रूप परिणमे वह उपादान कारण है जैसे घट रूप कार्य का निमित्त कारण कुंभकार, चक्र आदि है और उपादान कारण मिट्टी है। कारण से कार्य कथंचित् भिन्न है, और कथंचित अभिन्न भी है। प्रत्येक तत्व या द्रव्य अथवा पदार्थ अनेक अनेक [अनत] गुण धर्मोंको लिये हुए हैं और इन गुण धर्मोंका विवक्षानुसार

प्रतिपादन होता है इसीको अनेकान्त-स्याद्वाद कहते हैं, वस्तु स्वयं अपने निजी स्वपरूपसे अनेक गुणधर्म युक्त पायी जाती है, उसका प्रकाशन स्याद्वाद (कथंचितवाद) करता है। बहुत से विद्वान अनेकान्त और स्याद्वादका अर्थ न समझकर इनको विपरीत रूपसे मानते हैं, अर्थात् वस्तुके अनेक गुण धर्मोंको निजी न मानना तथा स्याद्वाद को शायद शब्दसे पुकारना, किन्तु यह गलत है, स्याद्वादका अर्थ शायद या संशयवाद नहीं है, अपितु किसी निश्चित एक दृष्टिकोणसे (जो कि उस विवक्षित वस्तुमें संभावित हो। वस्तु उस रूप है और अन्य दृष्टिकोणसे अन्य स्वरूप है, स्याद्वाद अनेकान्त का यहां विवेचन करे तो बहुत विस्तार होगा, जिज्ञासुओंको तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदिमूल ग्रन्थ या स्याद्वाद-अनेकान्त नामके लेख, निबंध, ट्रेक्ट देखने चाहिये।

सृष्टि—यह संपूर्ण विश्व (जगत) अनादि निधन है अर्थात् इसकी आदि नही है और अंत भी नहीं है, स्वयं शाश्वत इसी रूप परिणमित है, समयानुसार परिणमन विचित्र २ होता रहता है, जगत रचना या परिवर्त्तनके लिये ईश्वर की जरूरत नही है।

पूर्वोक्त पुद्गल—जड़ तत्वके दो भेद हैं, अणु या परमाणु और स्कंध दृश्यमान, ये विश्वके जितने भर भी पदार्थ हैं सब पुद्गल स्कंध स्वरूप हैं, चेतन जीव एवं धर्मादि द्रव्य अमूर्त-अदृश्य पदार्थ हैं। परमाणु उसे कहते हैं जिसका किसी प्रकार से भी विभाजन न हो, सबसे अंतिम हिस्सा जिसका अब हिस्सा हो नहीं सकता, यह परमाणु नेत्र गम्य एवं सूक्ष्मदर्शी दुर्बीन गम्य भी नहीं है। स्निग्धता एवं रूक्षता धर्म के कारण परमाणुओं का परस्पर संबंध होता है इन्हींको स्कंध कहते हैं। जैन दर्शनमें सबका कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर नहीं है, स्वयं प्रत्येक जीव अपने अपने कर्मोंका निर्माता एवं हर्त्ता है, ईश्वर भगवान या आप्त कृतकृत्य, ज्ञानमय, हो चुके हैं उन्हें जीवके भाग्य या सृष्टि से कोई प्रयोजन नही है।

मुक्ति मार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप मुक्ति का मार्ग है, समीचीन तत्त्वोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, मोक्षके प्रयोजनभूत तत्त्वोंका समीचीन ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, पापाचरण के साथ साथ संपूर्ण मन वचन आदि की क्रियाका निरोध करना सम्यक्चारित्र है, अथवा प्रारंभदशामें अशुभ या पापारूप क्रिया का (हिंसा, झूठ आदिका एवं तीव्र राग द्वेषका) त्याग करना सम्यक् चारित्र है। इन तीनोंको रत्नत्रय कहते हैं, इनसे जीवके विकारके कारण जो कर्म है उसका आना एवं बँधना रुक जाता है।

मुक्ति—जीवका संपूर्ण कर्म और विकारी भावोंसे मुक्त होना मुक्ति कहलाती है, इसीको मोक्ष, निर्वाण आदि नामोंसे पुकारते हैं। मुक्तिमें अर्थात् आत्माके मुक्त अवस्था हो जानेपर वह शुद्ध बुद्ध, ज्ञाता द्रष्टा परमानंदमय रहता है, सदा इसी रूप रहता है, कभी भी पुनः कर्म युक्त नहीं होता। अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य से युक्त आत्माका अवस्थान होना, सर्वदा निराकुल होना ही मुक्ति है।

जैन दर्शन में—जगतके विषयमें, आत्माके विषय में, कर्म या भाग्यके विषयमें अर्थात् पुण्य पाप के विषयमें बहुत बहुत अधिक सूक्ष्मसे सूक्ष्म विवेचन पाया जाता है, इन जगत आदिके विषयमें जितना गहन, सूक्ष्म, और विस्तृत कथन जैन ग्रन्थोंमें है उतना अन्यत्र अंशमात्र भी दिखायी नहीं देता। यदि जगत् या सृष्टि अर्थात् विश्वके विषयमें अध्ययन करना होवे तो त्रिलोकसार, तत्त्वार्थ-सूत्र, लोक विभाग आदि ग्रन्थ पठनीय हैं। आत्मा विषयक अध्ययनमें परमात्मप्रकाश, प्रवचनसार समयसारादि ग्रन्थ उपयुक्त हैं। कर्म-पुण्य पाप आदिका गहन गंभीर विवेचन कर्मकांड (गोम्मटसार) पंचसग्रह आदि अनेक ग्रन्थोंमें पाया जाता है। विश्वके संपूर्ण व्यवहार संबंधमें एवं अध्यात्मसंबंधमें अर्थात् लौकिक जीवन एवं धार्मिक जीवनका करणीय कृत्योंका इस दर्शनमे पूर्ण एवं खोज पूर्ण कथन पाया जाता है। अस्तु।

बौद्ध दर्शन

यह दर्शन क्षणिकवाद नाम से भी कहा जा सकता है क्योंकि प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ समूल चूल नष्ट होकर सर्वथा नया ही उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध ने माना है। इनके चार भेद हैं। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। वैभाषिक बाह्य और अभ्यंतर दोनों ही (दृश्य जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा) पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान गम्य हैं, वास्तविक हैं। ऐसा मानता है। सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थों को मात्र अनुमान-गम्य मानता है। योगाचार तो बाह्य पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। मात्र विज्ञान तत्त्व को सत्य मानता है अतः इसे विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं। माध्यमिक न बहिरंग पदार्थ मानता है और न अन्तरंग पदार्थ को ही। सर्वथा शून्य मात्र तत्त्व है ऐसा मानता है। इन सभी के यहां क्षणभगवाद है। बौद्ध ने दो तत्त्व माने हैं। एक स्वलक्षण और दूसरा सामान्य लक्षण। सजातीय और विजातीय परमाणुओं से असंबद्ध, प्रतिक्षण विनाशशील ऐसे जो निरंश परमाणु हैं उन्हीं को स्वलक्षण कहते हैं, अथवा देश, काल और आकार से नियत वस्तु का जो स्वरूप है-आसाधारणता है वह स्वलक्षण कहलाता है।

सामान्य—एक कल्पनात्मक वस्तु है। सामान्य हो चाहे सदृश हो, दोनों ही वास्तविक पदार्थ नहीं है।

प्रमाण—अविसंवादक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं उसके दो भेद हैं अर्थात् बौद्ध प्रमाण की संख्या दो मानते हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान। कल्पना रहित (निश्चय रहित) अभ्रान्त ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और व्याप्तिज्ञान से सम्बन्धित किसी धर्म के ज्ञान से किसी धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण कहलाता है। प्रमाण चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमान हो सभी साकार रूप ज्ञान है। ज्ञान घट आदि वस्तुसे उत्पन्न होता है उसी के आकार को धारण करता है और उसी को जानता है। इसी को "तदुत्पत्ति, तदाकार, तदध्यवसाय" ऐसा कहते हैं।

प्रामाण्य (प्रमाण का फल) प्रमाण रूप ही है। चार आर्य सत्य दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इनका बोध होना चाहिये। तथा पांच स्कंध–रूपस्कंध, वेदनास्कंध, सज्ञास्कंध, संस्कारस्कंध और विज्ञानस्कंध इनकी जानकारी भी होनी चाहिये, क्योंकि इनके ज्ञान से मुक्ति का मार्ग मिलता है। मुक्ति के विषय में बौद्ध की विचित्र मान्यता है, चित्त अर्थात् आत्मा का निरोध होना मुक्ति है। दीपक बुझ जाने पर किसी दिशा विदिशा में नहीं जाकर मात्र समाप्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व समाप्त होना मुक्ति है। "प्रदीप निर्वाण वदात्म निर्वाणम्" नैयायिकादि ने तो मात्र आत्मा के गुण ज्ञान आदिका अभाव मुक्ति में स्वीकार किया है किन्तु बौद्ध ने मूल जो आत्म द्रव्य है उसका ही अभाव मुक्ति में माना है उनकी मान्यता है कि पदार्थ चाहे जड़ हो चाहे चेतन प्रतिक्षण नये-नये उत्पन्न होते हैं पूर्व चेतन क्षणो संतान को पैदा करते हुए नष्ट हो जाता है जब तक इस तरह से संतान परम्परा चलती है तब तक संसार और जहाँ वह रुक जाती है वहीं निर्वाण हो जाता है। सृष्टि के विषय में बौद्ध लोग मौन हैं। बुद्ध से किसी शिष्य ने इस जगत के विषय में प्रश्न किया तो उन्होंने कहा था कि सृष्टि कब बनी? किसने बनायी? अनादि की है क्या? इत्यादि प्रश्न तो बेकार ही हैं? जीवों का क्लेश, दुःख से कैसे छुटकारा हो इस विषय में सोचना चाहिये। प्रतीत्य समुत्पाद, अन्यापोहवाद, क्षण भंगवाद, आदि बौद्धों के विशिष्ट सिद्धान्त हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का दूसरा नाम सापेक्ष कारणवाद भी है। अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति। शब्द या वाक्य मात्र अन्य अर्थ की व्यावृत्ति करते हैं, वस्तु को नहीं बताते। जैसे किसी ने 'घट" कहा सो घट शब्द घट को न बतलाकर अघट की व्यावृत्ति मात्र करता है इसी को अन्यापोह कहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण विनाशशील है यह क्षण भंगवाद है। इत्यादि एकान्त कथन इस मत में पाया जाता है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन या नैयायिक मत में १६ पदार्थों का (तत्वों का) प्रतिपादन किया है, प्रमाण प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान इन पदार्थों का विस्तृत वर्णन न्याय वार्तिक आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रमाण प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इस प्रकार भी संक्षेप से तत्त्व माने जाते हैं,

प्रमाण संख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, आगम इस प्रकार नैयायिक ने चार प्रमाण माने हैं। प्रमाकरणं-प्रमाणं, अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं, कारक साकल्य प्रमा का करण है अतः प्रमाण माना गया है।

प्रामाण्य वाद—प्रमाण में प्रमाणता पर से ही आती है क्योंकि यदि प्रमाण में स्वतः ही प्रामाण्य होता तो यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है ऐसा संशय नहीं हो सकता था।

कार्य कारण भाव—न्याय दर्शन में कार्य भिन्न है और कारण भिन्न है, यह सिद्धांत सांख्य से सर्वथा विपरीत है। अर्थात् सांख्य तो कारण कार्य में सर्वथा अभेद ही मानते हैं और नैयायिक सर्वथा भेद ही, अतः सांख्य सत्कार्य वादी और नैयायिकादि असत्यकार्यवादी नाम से प्रसिद्ध हुए।

कारण के तीन भेद हैं—

(१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण (३) निमित्त कारण

सामान्य से तो जो कार्य के पहले मौजूद हो तथा अन्यथा सिद्ध न हो वह कारण कहलाता है। समवाय सम्बन्ध से जिसमें कार्य की उत्पत्ति हो वह समवायी कारण कहलाता है, जैसे वस्त्र का समवायी कारण तन्तु (धागा) है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारण होता है उसे असमवायी कारण कहते हैं, जैसे तन्तुओं का आपस में सयोग हो जाना वस्त्र का असमवायी कारण कहलायेगा। समवायी कारण और असमवायी कारण से भिन्न जो कारण हो उसको निमित्त कारण समझना चाहिये। जैसे वस्त्र की उत्पत्ति में जुलाहा तुरी, वेम, शलाका, ये सब निमित्त कारण होते हैं।

सृष्टि कर्तृत्व वाद—यह संसार ईश्वर के द्वारा निर्मित है, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीर आदि तमाम रचनायें ईश्वराधीन है, हां इतना जरूर है कि इन चीजों का उपादान तो परमाणु है, दो परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है, तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। चार त्रस रेणुओं के संयोग से चतुरेणु की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार आगे आगे जगत की रचना होती है। परमाणु स्वतः तो निष्क्रिय है, प्राणियों के अदृष्ट की अपेक्षा लेकर ईश्वर ही इन परमाणुओं की इस प्रकार की रचना करता जाता है। मतलब निष्क्रिय परमाणुओं में क्रिया आरम्भ कराना ईश्वरेच्छा के अधीन है, ईश्वर ही अपनी इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, और प्रयत्न शक्ति से जगत रचता है।

परमाणु का लक्षण—घर में छत के छेद से सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं तब उनमें जो छोटे-छोटे कण दृष्टि गोचर होते हैं वे ही त्रस रेणु हैं, और उनका छटवां भाग परमाणु कहलाता है परमाणु तथा द्वयणुक का परिमाण अणु होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता और महत् परिणाम होने से त्रसरेणु प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

ईश्वर—ईश्वर सर्वशक्तिमान है जगत तथा जगत वासी आत्मायें सारे के सारे ही ईश्वर के अधीन हैं। स्वर्ग नरक आदि में जन्म दिलाना ईश्वर का कार्य है, वेद भी ईश्वर कृत हैं-ईश्वर ने रचा है।

मुक्ति का मार्ग—जो पहले कहे गये प्रमाण प्रमेय आदि १६ पदार्थ या तत्त्व हैं उनका ज्ञान होने से मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या का नाश होता है। मिथ्याज्ञान के नाश होने पर क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म, और दुखों का नाश होता है। इस प्रकार इन मिथ्याज्ञान आदि का अभाव करने के

जिसे का तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह मोक्ष या मुक्ति का मार्ग (उपाय) है।

मुक्ति—दुख से अत्यन्त विमोक्ष होने को अपवर्ग या मुक्ति कहते हैं, मुक्त अवस्था में बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन नौ गुणों का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है नैयायिक का यह मुक्ति का आवास बड़ा ही विचित्र है कि जहाँ पर आत्माके ही खास गुण जो ज्ञान और सुख या आनन्द हैं उन्ही का वहां अभाव हो जाता है। अस्तु।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने हैं, उनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय ये छः तो सद्‌भाव हैं और अभाव पदार्थ अभावरूप ही है।

द्रव्य—जिसमें गुण और क्रिया पायी जाती है, जो कार्य का समवायी कारण है उसको द्रव्य कहते हैं। इसके नौ भेद हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन।

गुण—जो द्रव्य के आश्रित हो और स्वयं गुण रहित हो तथा संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण न हो वह गुण कहलाता है। इसके २४ भेद हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण वेग, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार।

कर्म—जो द्रव्य के आश्रित हो गुण रहित हो तथा संयोग विभाव का निरपेक्ष कारण हो वह कर्म है। उसके ५ भेद हैं उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन।

सामान्य—जिसके कारण वस्तुओं में अनुगत (सदृश) प्रतीति होती है वह सामान्य है वह व्यापक और नित्य है।

विशेष—समान पदार्थों में भेद की प्रतीति कराना विशेष पदार्थ का काम है।

समवाय—अयुतसिद्ध पदार्थों में जो सम्बन्ध है उसका नाम समवाय है। गुण गुणी के सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं।

अभाव—मूल में अभाव के दो भेद हैं-संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। दो वस्तुओं में रहने वाले संसर्ग के अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। अन्योन्याभाव का मतलब यह है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है। संसर्गाभाव के तीन भेद हैं, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव। इनमें अन्योन्याभाव जोड़ देने से अभाव के चार भेद होते हैं। वैशेषिक दर्शन में वेद को तथा सृष्टि को नैयायिक के समान ही ईश्वर कृत माना है, परमाणुवाद अर्थात् परमाणु का लक्षण, कारण कार्य भाव आदि का कथन नैयायिक सदृश ही है।

प्रमाण संख्या—प्रमाण के तीन भेद माने हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम। वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं प्रमाण में प्रामाण्य पर से आता है।

मुक्ति का मार्ग—निवृत्ति लक्षण धर्म विशेष से साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा द्रव्यादि छह पदार्थों का तत्व ज्ञान होता है और तत्त्व ज्ञान से मोक्ष होता है।

मुक्ति—बुद्धि आदि के पूर्वोक्त नौ गुणों का विच्छेद होना मुक्ति है। ऐसा नैयायिक के समान मुक्ति का स्वरूप इस दर्शन में भी कहा गया है नयायिक और वैशेषिक दर्शन में अधिक सादृश्य पाया जाता है, इन दर्शनों को यदि साथ ही कहना हो तो यौग नाम से कथन करते हैं।

सांख्य दर्शन

सांख्य २५ तत्त्व मानते हैं। इन २५ में मूल दो ही वस्तुएं हैं-एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृति के २४ भेद हैं। मूल में प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त के भेद से दो भागों में विभक्त है। व्यक्त के ही २४ भेद होते हैं। अर्थात् व्यक्त प्रकृति से महान (बुद्धि) उत्पन्न होता है महान से अहंकार, अहंकार से सोलह गण होते हैं वे इस प्रकार हैं-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। वाग्, पाणि, पाद पायु, और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। रूप, गन्ध, स्पर्श, रस, शब्द ये पांच तन्मात्रायें कहलाती हैं। इस प्रकार ये पन्द्रह हुए और सोलहवां मन है। जो पांच रूप आदि तन्मात्रायें हैं उनसे पंचभूत पैदा होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इस प्रकार प्रकृति या अपर नाम प्रधान के २४ भेद हैं, पच्चीसवां भेद पुरुष है, इसी को जीव आत्मा आदि नामों से पुकारते हैं। यह पुरुष प्रकृति से सर्वथा विपरीत लक्षण वाला है अर्थात् प्रकृति में जड़त्व, अविवेक, त्रिगुणत्व, विकार आदि धर्म रहते हैं और इनसे विपरीत पुरुष में चेतनत्व, विवेक, त्रिगुणातीतत्व, अविकारीत्व आदि धर्म रहते हैं। यह पुरुष कूटस्थ नित्य है, इसमें भोक्तृत्व गुण तो पाया जाता है किन्तु कर्तृत्व गुण नहीं पाया जाता।

कारण कार्य सिद्धान्त—यौग दर्शन से सांख्य का दर्शन इस विषय में नितान्त भिन्न है, वे असत् कार्य वादी हैं, ये सत्कार्यवादी हैं। कारण में कार्य मौजूद ही रहता है, कारणद्वारा मात्र वह प्रकट किया जाता है ऐसा इनका कहना है। किसी भी वस्तु का नाश या उत्पत्ति नहीं होती किन्तु तिरोभाव आविर्भाव (प्रकट होना और छिप जाना) मात्र हुआ करता है। सत्कार्य वाद को सिद्ध करने के लिए सांख्य पांच हेतु देते हैं—

प्रथम हेतु—यदि कार्य उत्पत्ति से पहले कारण में नहीं रहता तो असत् ऐसे आकाश कमल की भी उत्पत्ति होनी चाहिये।

द्वितीय हेतु—कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान को ग्रहण किया जाता है जैसे तेल की उत्पत्ति के लिए तिलों का ही ग्रहण होता है, बालुका का नहीं।

तृतीय हेतु—सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। अपितु प्रतिनियत कारण से ही होती है, अतः कारण में कार्य पहले से ही मौजूद है।

चतुर्थ हेतु—समर्थ कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है असमर्थ से नहीं।

पंचम हेतु—यह भी देखा जाता है कि जैसा कारण होता है। वैसा ही कार्य होता है। इस तरह इन हेतुओं से कारणका कार्य में सदा रहना सिद्ध होता है।

सृष्टि क्रम—प्रकृति (प्रधान) और पुरुष के संसर्ग से जगत् की सृष्टि होती है। प्रकृति जड़ है। और पुरुष निष्क्रिय है। अतः दोनों का संयोग होने से ही सृष्टि होती है। इस सांख्य दर्शन में सबसे बडी आश्चर्य कारी बात तो यह है कि ये लोग बुद्धिको (ज्ञान को) जड़ मानते हैं, आत्मा चेतन तो है किन्तु ज्ञान शून्य है।

प्रमाण सख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण होते हैं "इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्" इन्द्रियों के व्यापार को सांख्य प्रमाण मानते हैं। प्रामाण्य वाद के विषय में इनका कहना है कि प्रमाण हो चाहे अप्रमाण हो दोनों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही आता है। ईश्वर के विषय में इनमें मतभेद है। प्राचीन सांख्य निरीश्वर वादी थे अर्थात् एक नित्य सर्व शक्तिमान ईश्वर नामक कोई व्यक्ति को नही मानते थे, किन्तु अर्वाचीन सांख्य ने नास्तिकपने का लांछन दूर करने के लिए ईश्वर सत्ता को स्वीकार किया। यों तो चार्वाक और मीमांसक को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञको स्वीकार किया है। किन्तु जैनेतर दार्शनिकों ने उसको सर्वशक्तिमान, संसारी जीवों के कार्योंका कर्त्ता आदि विकृत रूप माना और जैन ने उसको अनंत शक्तिमान, कृतकृत्य और सम्पूर्ण जगत का ज्ञाता दृष्टा माना है न कि कर्त्ता रूप अस्तु। सांख्य ने मुक्ति के विषयों में अपनी पृथक् ही मान्यता रखी है। मुक्ति अवस्था में मात्र नहीं अपितु संसार अवस्था में भी पुरुष (आत्मा) प्रकृति से (कर्मादि से) सदा मुक्त ही है। बंध और मुक्ति भी प्रकृति के ही होते है। पुरुष तो निर्लेप ही रहता है। पुरुष और प्रकृति में भेद विज्ञान के होते ही-पुरुष प्रकृति के संसर्गजन्य आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से छूट जाता है। प्रकृति (कर्म) एक नर्तकी के समान है, जो रंग स्थल में उपस्थित दर्शकोंके सामने अपनी कला को दिखा कर हट जाती है। वह एक बार पुरुष के द्वारा देखे जाने पर पुनः पुरुष के सामने नहीं आती। पुरुष भी उसको देख लेने पर उपेक्षा करने लगता है, इस प्रकार अब सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता अतः मोक्ष हो जाता है, इसलिये प्रकृति और पुरुष के भेद विज्ञान को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष अवस्था में मात्र एक चैतन्य धर्म रहता है। ज्ञानादिक तो प्रकृति के धर्म हैं। अतः मोक्ष में वैशेषिकादि के समान ही ज्ञानादिका अभाव सांख्यने भी स्वीकार किया है।

सर्वज्ञ को नहीं मानने वाले मीमांसक और चार्वाक हैं उनमें से यहां मीमांसक मत का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है मीमांसक मत में वेद वाक्यों का अर्थ क्या होना चाहिये इस विषय को लेकर

भेद हुए हैं जो "अग्निष्टोमेन यजेत्" इत्यादि वेद वाक्य का अर्थ भावना परक करते हैं। उन्हें भाट्ट कहते है। जो नियोग रूप करते हैं वे प्रभाकर और जो विधि रूप अर्थ करते हैं वे वेदान्ती कहलाते हैं। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। जबकि ईश्वर कर्त्ता मानने वाले नैयायिकादि दार्शनिक वेद को ईश्वर कृत स्वीकार करते हैं। मीमासक चूंकि ईश्वर सत्ता को नहीं मानते अतः सृष्टि को अनादि निधन मानते हैं। इस जगत का न कोई कर्त्ता है और न कोई हर्त्ता है। शब्द को नित्य तथा सर्वव्यापक मानते हैं क्योंकि वह नित्य व्यापक ऐसे आकाश का गुण है। शब्द की अभिव्यक्ति तालु आदि के द्वारा होती है न कि उत्पत्ति, जिस प्रकार दीपक घट पट आदि का मात्र प्रकाशक (अभिव्यंजक) है। उसी प्रकार तालु आदि का व्यापार मात्र शब्द को प्रगट करता है, न कि उत्पन्न करता है।

तत्त्व संख्या—मीमांसक के दो भेदों में से भाट्ट के यहाँ पदार्थ या तत्त्वों की संख्या ५ मानी हैं-द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य और अभाव। प्रभाकर आठ पदार्थ मानता है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। द्रव्य नामा पदार्थ भाट्ट के यहाँ ग्यारह प्रकार का है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, तम और शब्द। इसमें से तम को छोड़ कर १० भेद प्रभाकर स्वीकार करता है।

प्रमाण संख्या—भाट्टकी प्रमाण संख्या छः है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम और अभाव। प्रभाकर अभाव को छोड़कर पांच प्रमाण स्वीकार करता है।

प्रामाण्यवाद—सभी मीमांसक प्रमाणों में प्रामाण्य सर्वथा स्वतः ही रहता है ऐसा मानते हैं। अप्रामाण्य मात्र पर से ही आता है। मीमांसक सर्वज्ञ को न मान कर सिर्फ धर्मज्ञ को मानते हैं अर्थात् वेद के द्वारा धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान हो सकता है किन्तु इनका साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। मुक्ति के विषय में भी मीमांसक इतना ही प्रतिपादन करते हैं कि वेद के द्वारा धर्म आदि का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु आत्मा में सर्वथा रागादि दोषों का अभाव होना अशक्य है तथा पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान होना भी अशक्य है। कोई-कोई मीमांसक दोषों का अभाव आत्मा में स्वीकार करके भी सर्वज्ञता को नहीं मानते हैं, इनके वेद या मीमांसाश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में स्वर्ग का मार्ग ही विशेष रूपेण वर्णित है। यज्ञ, पूजा, जप, भक्ति आदि स्वर्ग सुख के लिये ही प्रतिपादित हैं "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य इसी बात को पुष्ट करते हैं। इनका अन्तिम ध्येय स्वर्ग प्राप्ति तक सीमित है, अस्तु। इस प्रकार वेद को माननेवाले प्रमुख दर्शन नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसक हैं, इनके आवांतर भेद और भी हैं जैसे वेदांती शब्दाद्वैतवादी, शांकरीय, भास्करीय इत्यादि. इन सबमें वेद प्रामाण्यकी मुख्यता है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक का कहना है कि न कोई तीर्थंकर है न कोई वेद या धर्म है। कोई भी व्यक्ति पदार्थ को तर्क से सिद्ध नहीं कर सकता। ईश्वर या भगवान भी कोई नहीं है। जीव-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है और मरने के बाद शरीर के साथ भस्म होता है, अतः जीवन का लक्ष्य यही है कि—

यावत् जीवेत् सुख जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमनं कुतः ॥१॥

जब तक जीना है तब तक सुख से रहे। कर्ज करके खूब घी आदि भोग सामग्री भोगे! क्योंकि परलोक में जाना नहीं, आत्मा यह शरीर रूप ही है पृथक नहीं, शरीर यहीं भस्म होता है उसी के साथ चैतन्य भी समाप्त होता है, पुनर्जन्म है नहीं। चार्वाक के यहाँ दो ही पुरुषार्थ हैं अर्थ और काम। परलोक स्वर्ग नरक आदि कुछ नहीं, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदि नहीं हैं, जब जीव जन्मता है तो पृथ्वी आदि से एक चैतन्य शक्ति पैदा हो जाती है। जैसे आटा, गुड़, महुआ आदि से मदिरा में मदकारक शक्ति पैदा होती है। धर्म नामा कोई तत्त्व नहीं है। जब परलोक में जाने वाला आत्मा ही नहीं है तो धर्म किसके साथ जायेगा? धर्म क्या है इस बात को समझना भी कठिन है। जीवनका चरम लक्ष्य मात्र ऐहिक सुखों की प्राप्ति है। चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। जिस वस्तु का चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञान होता है वही ज्ञान और वस्तु सत्य है, बाकी सब काल्पनिक। अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। जब आत्मा ही नहीं है तब सर्वज्ञ भी कोई नही है, न उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म है। ज्ञान तो शरीर का स्वभाव है आत्मा का नहीं, ऐसा इस नास्तिकवादी का कहना है, इसीलिये इसको भौतिकवादी, नास्तिकवादी, लौकायत नामों से पुकारते हैं। वर्तमान में प्रायः अधिक संख्या में इसी भौतिक मत का प्रचार है।

शुद्धिपत्रम्

पृ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१०	प्रभाव	प्रभा
११	१६	उपादान	उपादेय
११	२३	द्वारा हुआ	द्वारा कहा हुआ
१५	११	उन उन	उन
२२	१६	अच्छा बताईये	×
२३	३	आस्या	अस्या
३८	५	नम	नभ
३६	१	तया	तत्र
३६	११	अर्न्येया	अम्यादि
४३	१६	गर्वादि	गंधादि
४४	३	साधकतमत्वता	साधकतमत्वता
४६	११	यौग	यौग्य
४७	१२	बननें	बतानें
५०	२१	जानी	जावेगा
५३	२०	घर	घट
५७	१७	विशेष तुम कहो	विशेष कहो
६६	४	विरोधे	अविरोधे
७४	७	घव	घट
८१	१७	गाहिका	ग्राहका
८८	१८	विकल्पमात्र	×
६०	७	तद्व	तद् द्वय
१०६	१०	विकल्प अर्थात्	विकल्प्य अर्थात्
१०६	१५	विकल्प आदि	विकल्प्य आदि
११७	६	समाम्नीता	समाम्नाता
१२४	११	उसमें	उसके
१३०	४	विकल	विकल
१३४	४	सव	सर्व
१३४	१५	पदार्थो मे	×
१३८	१३	पदार्थमालामे	×
१४०	१	क य	कस्य

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४०	१३	हाथमें रखी हुई वस्तुका	हाथादिका
१४१	१	सवेद्य	संवेद्यः
१६२	२	तु तद्भाव	तु तदभाव
१६३	१४	क्यों नहीं आता ?	क्यों आता ?
१७०	११	परतः	परतः
१८०	२५	इवाशूनां	इवांशूनां
१८१	१७	द्वायुवीयो	द्वायुर्वायो
१८६	७	तद्नतार्थ	तद्गतार्थ
१८८	२१	आमोहित किया	कहा
१६८	२५	जीवसिद्ध	जीवसिद्धि
१६६	१०	या देखे जाते हैं ?	×
१६६	१६	यह कथन	×
२२७	४	लादि	नीलादि
२२८	४	तदग्राहक	तद् ग्राहक
२२८	५	तदग्राहक	तद् ग्राहक
२६३	४	नीति ।	निति ।
२७३	१५	मत	मन
२७४	१७	होता	होना
३०७	२४	आदिक है	आदि कहे
३१०	३	तेभ्यस्चैतम्	तेभ्यश्चैतन्यम्
३५०	५	तत्तस्यत्येपि	तत्तस्वेऽपि
३५०	१६	अपनापन अदृष्टमें	अदृष्टमें
३५६	११	आयु	आम्र
३६०	२६	बनावेगा	बतावेगा
३७८	२	स्यादृष्टा स्या	स्यादृष्टस्या
३७८	५	चादृष्टस्यापि	न चादृष्टस्यापि
३८८	५	दात्मनोशक्तात्	दात्मनोऽशक्तात्
३६५	३	योस्तयो	यो स्तयोः
४०३	१८	गुणैश्च	गुणैरप
४०४	१२	प्रोक्तय	प्रोक्त्य
४०४	१७	तात्या	नान्या

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०५	३	देव	मेव
४१४	१७	होना	नहीं होना
४१५	१७	यदि ऐसा प्रामाण्य है	×
४२५	७	सशयात्मा	संशयात्मा
४३५	२६	अभय	उभय
४५४	१	सङ्गः	प्रसङ्गः
४८४	१८	सध्याचल	सह्याचल
४६१	१५	सास्वाविमान	सास्नामान्
५१८	२५	अनुपत्वमात्रसे	अनुपलम्भमात्रसे
५२०	२	उपमान	अभाव
५२१	४	अनुमान	उपमा
५२२	२५	छेदनादान्वय	छेदनादावन्वय
५२२	२७	अनपपत्तेः	अनुपपत्तेः
५३८	२५	हैं, क्योकि	हैं, तो वह अनित्य है क्योकि
५५३	२	सशयरूपत्वा	संशयरूपत्वा
५५५	१	प्रयोगि	प्रतियोगि
५६३	१०	काटिकोक्त	कारिकोक्त
५६३	१८	भस्य	यस्य
५७४	२५	अपने	आपने
५७५	१३	अनादि सात,	अनादि सात ?
५७७	२०	जैसे मानसे	से
५८०	३	भावात्रं	भावात्त
५८०	२३	स्यात	स्यात्
५८१	१४	और स्वका	और परका
५८५	५	विफल	विनाश
६०४	१०	चक्षुषस्य	चक्षुषः
६०८	६	मनके इस	नैयायिक-मनके इस
६०८	१७	त्वतिन्द्रियवत्	त्वगिन्द्रियवत्
६१७	६	जातीयपना	जलीयपना
६१७	१९	रूपादि किरणों में से	रूपादिमेंसे
६३३	११	इन्द्रियातिन्द्रिय	इन्द्रियानिन्द्रिय

❋